सावरकर समग्र

स्वातंत्र्यवीर

विनायक दामोदर सावरकर

'सावरकर' शब्द साहस, शौर्य, पराक्रम और राष्ट्रभक्ति का पर्याय है। क्रांतिकारी इतिहास के स्वर्गिम पृष्ठों पर अंकित स्वातंत्र्यवीर सावरकर का समूचा व्यक्तित्व अप्रतिम गुणों से संपन्न था। मातृभूमि की स्वतंत्रता के लिए प्राण हथेली पर रखकर जूझनेवाले महान् क्रांतिकारी; जातिभेद, अस्पृश्यता व अंधश्रद्धा जैसी सामाजिक बुराइयों को समूल नष्ट करने का आग्रह करनेवाले महान् द्रष्टा; 'गीता' के कर्मयोग सिद्धांत को अपने जीवन में आचरित करनेवाले अद्भुत कर्मयोगी; अनादि-अनंत परमात्मा का प्राणमय प्रस्फुरण स्वयं के अंदर सदैव अनुभव करते हुए अंदमान जेल की यातनाओं को धैर्यपूर्वक सहनेवाले महान् दार्शनिक, अपने तेजस्वी विचारों से सहस्रों श्रोताओं को झकझोर देने और उन्हें सम्मोहित करनेवाले अद्भुत वक्ता तथा कविता, उपन्यास, कहानी, चरित्र, आत्मकथा, इतिहास, निबंध आदि विभिन्न विधाओं में उच्च कोटि के साहित्य की रचना करनेवाले प्रतिभाशाली साहित्यकार थे स्वातंत्र्यवीर विनायक दामोदर सावरकर।

स्वतंत्रता-संग्राम एवं समाज-सुधार जैसे क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण कार्य करनेवाला व्यक्ति उच्च कोटि का साहित्यकार भी हो, यह अपवाद है—और इस अपवाद के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं वीर सावरकर।

भारतीय वाङ्मय में उनके साहित्य का अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है; किंतु वह अधिकांश मराठी में उपलब्ध होने के कारण इस महान् साहित्यकार के अप्रतिम योगदान के बारे में अन्य भारतीय भाषाओं के पाठक अधिक परिचित नहीं हैं।

वीर सावरकर के चिर प्रतीक्षित समग्र साहित्य का प्रकाशन हिंदी जगत् के लिए गौरव की बात है।
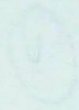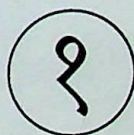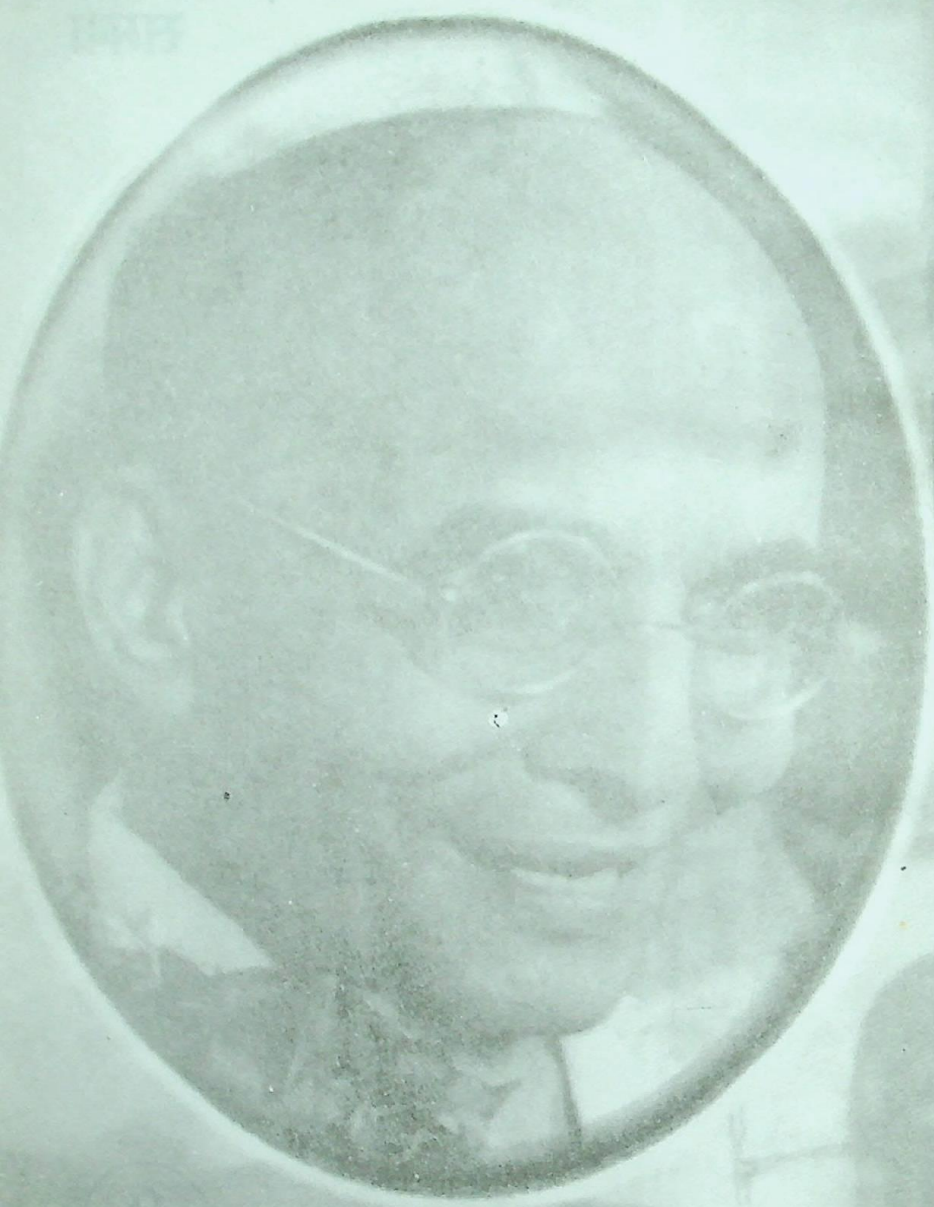
सावरकर समग्र

सावरकर समग्र

स्वातंत्र्यवीर

विनायक दामोदर सावरकर

प्रभात प्रकाशन, दिल्ली

विनायक दामोदर सावरकर : संक्षिप्त जीवन परिचय

श्री विनायक दामोदर सावरकर भारतीय स्वाधीनता-संग्राम के एक तेजस्वी तथा अग्रणी नक्षत्र थे। 'वीर सावरकर' शब्द साहस, वीरता, देशभक्ति का पर्यायवाची बन गया है। 'वीर सावरकर' शब्द के स्मरण करते ही अनुपम त्याग, अदम्य साहस, महान् वीरता, एक उत्कट देशभक्ति से ओतप्रोत इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठ हमारे सामने साकार होकर खुल पड़ते हैं।

वीर सावरकर न केवल स्वाधीनता-संग्राम के एक तेजस्वी सेनानी थे अपितु वह एक महान् क्रांतिकारी, चिंतक, सिद्धहस्त लेखक, कवि, ओजस्वी वक्ता तथा दूरदर्शी राजनेता भी थे। वह एक ऐसे इतिहासकार भी थे जिन्होंने हिंदू राष्ट्र की विजय के इतिहास को प्रामाणिक ढंग से लिपिबद्ध किया तो '१८५७ के प्रथम स्वातंत्र्य समर' का सनसनीखेज व खोजपूर्ण इतिहास लिखकर ब्रिटिश शासन को हिला डाला था।

इस महान् क्रांतिपुंज का जन्म महाराष्ट्र के नासिक जिले के ग्राम भगूर में चितपावन वशीय ब्राह्मण श्री दामोदर सावरकर के घर २८ मई, १८८३ को हुआ था। गाँव के स्कूल में ही पाँचवीं तक पढ़ने के बाद विनायक आगे पढ़ने के लिए नासिक चले गए।

लोकमान्य तिलक द्वारा संचालित 'केसरी' पत्र की उन दिनों भारी धूम थी। 'केसरी' में प्रकाशित लेखों को पढ़कर विनायक के हृदय में राष्ट्रभक्ति की भावनाएँ हिलोरें लेने लगीं। लेखों, संपादकीयों व कविताओं को पढ़कर उन्होंने जाना कि भारत को दासता के चंगुल में रखकर अंग्रेज किस प्रकार भारत का शोषण कर रहे हैं। वीर सावरकर ने कविताएँ तथा लेख लिखने शुरू कर दिए। उनकी रचनाएँ मराठी पत्रों में नियमित रूप से प्रकाशित होने लगीं। 'काल' के संपादक श्री परांजपे ने अपने पत्र में सावरकर की कुछ रचनाएँ प्रकाशित कीं, जिन्होंने तहलका मचा दिया।

सन् १९०५ में सावरकर बी.ए. के छात्र थे। उन्होंने एक लेख में विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का आह्वान किया। इसके बाद उन्होंने अपने साथियों के साथ मिलकर विदेशी वस्त्रों की होली जलाने का कार्यक्रम बनाया। लोकमान्य तिलक इस कार्य के लिए आशीर्वाद देने उपस्थित हुए।

सावरकर की योजना थी कि किसी प्रकार विदेश जाकर बम आदि बनाने सीखे जाएँ तथा शस्त्रास्त्र प्राप्त किए जाएँ। तभी श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा ने सावरकर को छात्रवृत्ति देने की घोषणा कर दी। ९ जून, १९०६ को सावरकर इंग्लैंड के लिए रवाना हो गए। वह लंदन में 'इंडिया हाउस' में ठहरे। उन्होंने वहाँ पहुँचते ही अपनी विचारधारा के भारतीय युवकों को एकत्रित करना शुरू कर दिया। उन्होंने 'फ्री इंडिया सोसाइटी' की स्थापना की।

सावरकर 'इंडिया हाउस' में रहते हुए लेख व कविताएँ लिखते रहे। वह गुप्त रूप से बम बनाने की विधि का अध्ययन व प्रयोग भी करते रहे। उन्होंने इटली के महान् देशभक्त मैझिनी का जीवन-चरित्र लिखा। उसका मराठी अनुवाद भारत में छपा तो एक बार तो तहलका ही मच गया था।

१९०७ में सावरकर ने अंग्रेजों के गढ़ लंदन में १८५७ की अर्द्धशती मनाने का व्यापक कार्यक्रम बनाया। १० मई, १९०७ को 'इंडिया हाउस' में सन् १८५७ की क्रांति की स्वर्ण जयंती का आयोजन किया गया। भवन को तोरण-द्वारों से सजाया गया। मंच पर मंगल पांडे, लक्ष्मीबाई, वीर कुँवरसिंह, तात्या टोपे, बहादुरशाह जफर, नानाजी पेशवा आदि भारतीय शहीदों के चित्र थे। भारतीय युवक सीने व बाँहों पर शहीदों के चित्रों के बिल्ले लगाए हुए थे। उनपर अंकित था —'१८५७ के वीर अमर रहें'। इस समारोह में कई सौ भारतीयों ने भाग लेकर १८५७ के स्वाधीनता-संग्राम के शहीदों को श्रद्धांजलि अर्पित की। राष्ट्रीय गान के बाद वीर सावरकर का ओजस्वी भाषण हुआ, जिसमें उन्होंने सप्रमाण सिद्ध किया कि १८५७ में 'गदर' नहीं अपितु भारत की स्वाधीनता का प्रथम महान् संग्राम हुआ था।

सावरकर ने १९०७ में '१८५७ का प्रथम स्वातंत्र्य समर' ग्रंथ लिखना शुरू किया। इंडिया हाउस के पुस्तकालय में बैठकर वह विभिन्न दस्तावेजों व ग्रंथों का अध्ययन करने लगे। उन्होंने लगभग डेढ़ हजार ग्रंथों के गहन अध्ययन के बाद इसे लिखना शुरू किया।

ग्रंथ की पांडुलिपि किसी प्रकार गुप्त रूप से भारत पहुँचा दी गई। महाराष्ट्र में इसे प्रकाशित करने की योजना बनाई गई। 'स्वराज्य' पत्र के संपादक ने इसे प्रकाशित करने का निर्णय लिया; किंतु पुलिस ने प्रेस पर छापा मारकर योजना में बाधा डाल दी। ग्रंथ की पांडुलिपि गुप्त रूप से पेरिस भेज दी गई। वहाँ इसे प्रकाशित कराने का प्रयास किया गया; किंतु ब्रिटिश गुप्तचर वहाँ भी पहुँच गए और ग्रंथ को प्रकाशित न होने दिया गया। ग्रंथ के प्रकाशित होने से पूर्व ही उसपर प्रतिबंध लगा दिया गया। अंततः १९०९ में ग्रंथ फ्रांस से प्रकाशित हो ही गया।

ब्रिटिश सरकार तीनों सावरकर बंधुओं को 'राजद्रोही' व खतरनाक घोषित कर चुकी थी। सावरकर इंग्लैंड से पेरिस चले गए। पेरिस में उन्हें अपने साथी याद आते। वह सोचते कि उनके संकट में रहते उनका यहाँ सुरक्षित रहना उचित नहीं है।

अंततः वह इंग्लैंड के लिए रवाना हो गए।

१३ मार्च, १९१० को लंदन के रेलवे स्टेशन पर पहुँचते ही सावरकर को बंदी बना लिया गया और ब्रिक्स्टन जेल में बंद कर दिया गया। उनपर लंदन की अदालत में मुकदमा शुरू हुआ। न्यायाधीश ने २२ मई को निर्णय दिया कि क्योंकि सावरकर पर भारत में भी कई मुकदमे हैं, अतः उन्हें भारत ले जाकर वहीं मुकदमा चलाया जाए। अंततः २९ जून को सावरकर को भारत भेजने का आदेश जारी कर दिया गया।

१ जुलाई, १९०९ को 'मोरिया' जलयान से सावरकर को कड़े पहरे में भारत रवाना किया गया। ब्रिटिश सरकार को भनक लग गई थी कि सावरकर को रास्ते में छुड़ाने का प्रयास किया जा सकता है। अतः सुरक्षा प्रबंध बहुत कड़े किए गए। ८ जुलाई को जलयान मार्सेल बंदरगाह के निकट पहुँचने ही वाला था कि सावरकर शौच जाने के बहाने पाखाने में जा घुसे। फुरती के साथ उछलकर वह पोर्ट हॉल तक पहुँचे और समुद्र में कूद पड़े।

अधिकारियों को जैसे ही उनके समुद्र में कूद जाने की भनक लगी कि अंग्रेज अफसरों के छक्के छूट गए। उन्होंने समुद्र की लहरें चीरकर तैरते हुए सावरकर पर गोलियों की बौछार शुरू कर दी। सावरकर सागर की छाती चीरते हुए फ्रांस के तट की ओर बढ़ने लगे। कुछ ही देर में वह तट तक पहुँचने में सफल हो गए किंतु उन्हें पुनः बंदी बना लिया गया।

१५ सितंबर, १९१० को सावरकर पर मुकदमा शुरू हुआ। सावरकर ने स्पष्ट कहा कि भारत के न्यायालय से उन्हें न्याय की किंचित् भी आशा नहीं है, अतः वह अपना बयान देना व्यर्थ समझते हैं।

२३ दिसंबर को अदालत ने उन्हें ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध षड्यंत्र रचने, बम बनाने तथा रिवॉल्वर आदि शस्त्रास्त्र भारत भेजने आदि आरोपों में आजन्म कारावास की सजा सुना दी। उनकी तमाम संपत्ति भी जब्त कर ली गई।

२३ जनवरी, १९११ को उनके विरुद्ध दूसरे मामले की सुनवाई शुरू हुई। ३० जनवरी को पुनः आजन्म कारावास की सजा सुना दी गई। इस प्रकार सावरकर को दो आजन्म कारावासों का दंड दे दिया गया। सावरकर को जब अंग्रेज न्यायाधीश ने दो आजन्म कारावासों का दंड सुनाया तो उन्होंने हँसते हुए कहा, 'मुझे बहुत प्रसन्नता है कि ईसाई (ब्रिटिश) सरकार ने मुझे दो जीवनों का कारावास दंड देकर पुनर्जन्म के हिंदू सिद्धांत को मान लिया है।'

कुछ माह बाद महाराजा नामक जलयान से सावरकर को अंदमान भेज दिया गया। अंदमान में उन्हें अमानवीय यातनाएँ दी जाती थीं। कोल्हू में बैल की जगह जोतकर तेल पिरवाया जाता था, मूँज कुटवाई जाती थी। राजनीतिक बंदियों पर वहाँ किस प्रकार अमानवीय अत्याचार ढाए जाते थे, इसका रोमांचकारी वर्णन सावरकरजी ने अपनी पुस्तक मेरा आजीवन कारावास में किया है।

सावरकरजी ने अंदमान में कारावास के दौरान अनुभव किया कि मुसलमान वॉर्डर हिंदू बंदियों को यातनाएँ देकर उनका धर्म-परिवर्तन करने का कुचक्र रचते हैं। उन्होंने इस अन्यायपूर्ण धर्म-परिवर्तन का डटकर विरोध किया तथा बलात् मुसलिम बनाए गए अनेक बंदियों को हिंदू धर्म में दीक्षित करने में सफलता प्राप्त की। उन्होंने अंदमान की कालकोठरी में कविताएँ लिखीं। 'कमला', 'गोमांतक' तथा 'विरहोच्छ्वास' जैसी रचनाएँ उन्होंने जेल की यातनाओं से हुई अनुभूति के वातावरण में ही लिखी थीं। उन्होंने 'मृत्यु' को संबोधित करते हुए जो कविता लिखी वह अत्यंत मार्मिक व देशभक्ति से पूर्ण थी।

सावरकरजी ने अंदमान कारागार में होनेवाले अमानवीय अत्याचारों की सूचना किसी प्रकार भारत के समाचारपत्रों में प्रकाशित कराने में सफलता प्राप्त कर ली। इससे पूरे देश में इन अत्याचारों के विरोध में प्रबल आवाज उठी। अंत में दस वर्ष बाद १९२१ में सावरकरजी को बंबई लाकर नजरबंद रखने का निर्णय किया गया। उन्हें महाराष्ट्र के रत्नागिरी स्थान में नजरबंदी में रखने के आदेश हुए।

'हिंदुत्व', 'हिंदू पदपादशाही', 'उ:श्राप', 'उत्तरक्रिया', 'संन्यस्त खड्ग' आदि ग्रंथ उन्होंने रत्नागिरी में ही लिखे।

१० मई, १९३७ को सावरकरजी की नजरबंदी रद्द की गई।

नजरबंदी से मुक्त होते ही सावरकरजी का भव्य स्वागत किया गया। अनेक नेताओं ने उन्हें कांग्रेस में शामिल करने का प्रयास किया; किंतु उन्होंने स्पष्ट कह दिया, 'कांग्रेस की मुसलिम तुष्टीकरण की नीति पर मेरे तीव्र मतभेद हैं। मैं हिंदू महासभा का ही नेतृत्व करूँगा।'

३० दिसंबर, १९३७ को अहमदाबाद में आयोजित अखिल भारतीय हिंदू महासभा के अधिवेशन में सावरकरजी सर्वसम्मति से अध्यक्ष चुने गए। उन्होंने 'हिंदू' की सर्वश्रेष्ठ व मान्य परिभाषा की। हिंदू महासभा के मंच से सावरकरजी ने 'राजनीति का हिंदूकरण और हिंदू सैनिकीकरण' का नारा दिया। उन्होंने हिंदू युवकों को अधिक-से-अधिक संख्या में सेना में भरती होने की प्रेरणा दी। उन्होंने तर्क दिया, 'भारतीय सेना के हिंदू सैनिकों पर ही इस देश की रक्षा का भार आएगा, अत: उन्हें आधुनिकतम सैन्य विज्ञान की शिक्षा दी जानी जरूरी है।'

२६ फरवरी, १९६६ को भारतीय इतिहास के इस अलौकिक महापुरुष ने इस संसार से विदा ले ली। अपनी अंतिम वसीयत में भी उन्होंने हिंदू संगठन व सैनिकीकरण के महत्त्व, शुद्धि की आवश्यकता पर प्रकाश डाला। भारत को पुन: अखंड बनाए जाने की उनकी आकांक्षा रही।

ऐसे वीर पुरुष का व्यक्तित्व और कृतित्व आज भी हमारे लिए पथ-प्रदर्शक का काम करने में सक्षम है।

—शिवकुमार गोयल

वीर सावरकर (सबसे दाएँ) : (बाएँ से) भाइयों—डॉ. नारायण एवं श्री गणेश तथा
भाभी श्रीमती शांताबाई एवं पत्नी श्रीमती यमुनाबाई के साथ

विनायक दामोदर सावरकर

वीर सावरकरजी की अर्द्धांगिनी श्रीमती यमुनाबाई
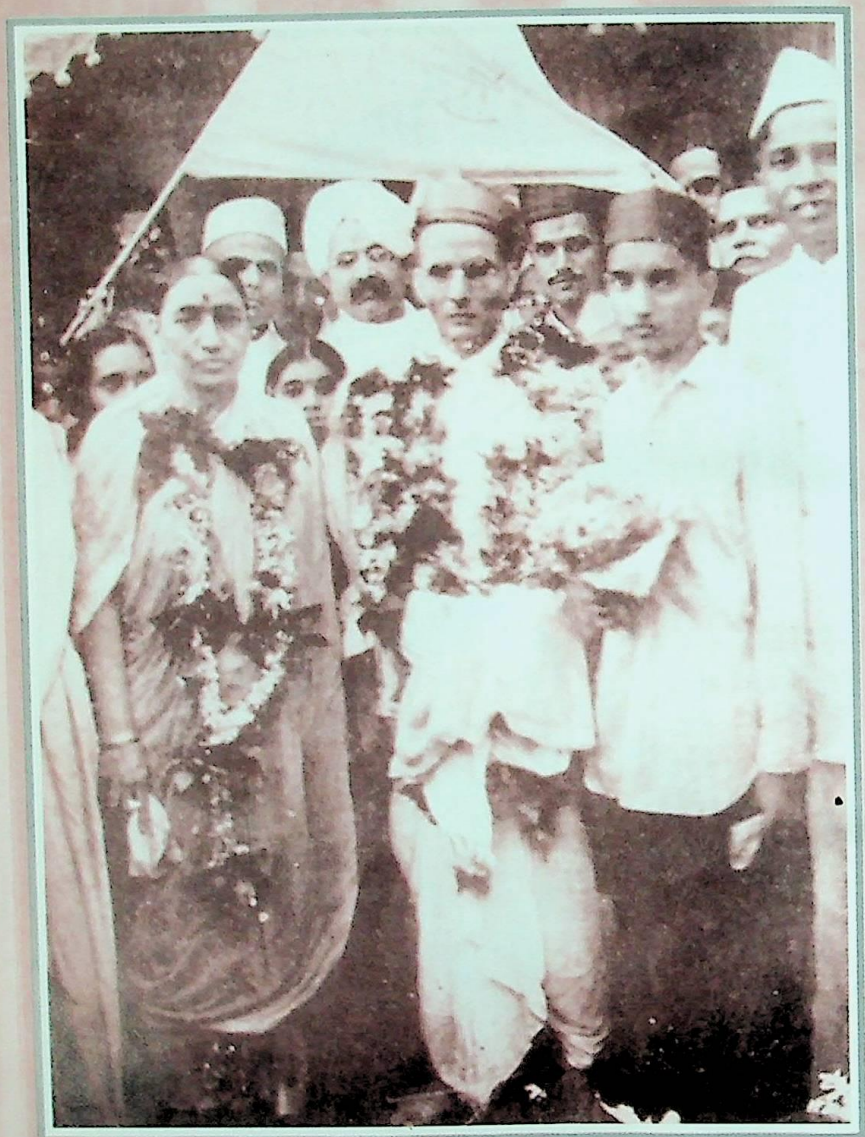
अपने जन्म-दिवस की साठवीं वर्षगाँठ के अवसर पर सावरकर
अपनी पत्नी, पुत्र व भतीजे के साथ

सावरकर समग्र

प्रथम खंड

पूर्व पीठिका, भगूर, नाशिक
शत्रु के शिविर में
लंदन से लिखे पत्र

द्वितीय खंड

मेरा आजीवन कारावास
अंदमान की कालकोठरी से
गांधी वध निवेदन
आत्महत्या या आत्मार्पण
अंतिम इच्छा पत्र

तृतीय खंड

काला पानी
मुझे उससे क्या? अर्थात् मोपला कांड
अंधश्रद्धा निर्मूलक कथाएँ

चतुर्थ खंड

उ:शाप
बोधिवृक्ष
संन्यस्त खड्ग
उत्तरक्रिया
प्राचीन अर्वाचीन महिला
गरमागरम चिवड़ा
गांधी गोंधल

पंचम खंड

१८५७ का स्वातंत्र्य समर
रणदुंदुभि
तेजस्वी तारे

षष्टम खंड

छह स्वर्णिम पृष्ठ
हिंदू पदपादशाही

सप्तम खंड

जातिभंजक निबंध
सामाजिक भाषण
विज्ञाननिष्ठ निबंध

अष्टम खंड

मैझिनी चरित्र
विदेश में भारतीय स्वतंत्रता संग्राम
क्षकिरणे
ऐतिहासिक निवेदन
अभिनव भारत संबंधी भाषण

नवम खंड

हिंदुत्व हिंदुत्व का प्राण
नेपाली आंदोलन
लिपि सुधार आंदोलन
हिंदू राष्ट्रदर्शन

दशम खंड

कविताएँ
भाषा-शुद्धि लेख
विविध लेख

अनुवाद :

प्रो. निशिकांत मिरजकर, डॉ. ललिता मिरजकर,
डॉ. हेमा जावडेकर, श्री वामन राव पाठक, श्री काशीनाथ जोशी,
श्री शरद दामोदर महाजन, श्री माधव साठे, सौ. कुसुम तांबे,
सौ. सुनीता कुट्टी, सौ. प्रणोति उपासने

संपादन :

प्रो. निशिकांत मिरजकर, डॉ. श्याम बहादुर वर्मा,
श्री रामेश्वर मिश्र 'पंकज', श्री जगदीश उपासने,
श्री काशीनाथ जोशी, श्री धृतिवर्धन गुप्त, श्री अशोक कौशिक

मार्गदर्शन :

श्री त्रिलोकीनाथ चतुर्वेदी, डॉ. हरींद्र श्रीवास्तव,
श्री शिवकुमार गोयल

भूमिका

स्वातंत्र्यवीर विनायक दामोदर सावरकर एक अभूतपूर्व व्यक्तित्व था। भारतीय स्वतंत्रता के लिए हथेली पर सिर रखकर जूझनेवाले युयुत्सु क्रांतिकारी; भारतीय एकात्मता को स्थापित करने हेतु 'हिंदुत्व' की नई व्याख्या करते हुए इस नई संकल्पना के अनुसार भारत को हिंदूराष्ट्र बनाने का संकल्प रखनेवाले प्रखर विचारक; जातिभेद, अस्पृश्यता तथा अंधश्रद्धा आदि समाज पुरुष के शरीर को दुर्बल बनानेवाले व्याधियों पर विशुद्ध वैज्ञानिक विचार प्रणाली का इलाज कराने का आग्रह करनेवाले महान् द्रष्टा; 'गीता' के कर्मयोग का प्रत्यक्ष आचरण करनेवाले अद्‌भुत कर्मयोगी; अनादि-अनंत परमात्मा का प्राणमय प्रस्फुरण अपने अंतरंग के भीतर अनुभव करते हुए अंदमान जेल की यातनाओं को धैर्य से सहनेवाले वास्तविक दार्शनिक; सहस्रावधि श्रोताओं का ध्यान आकृष्ट करके अपने तेजस्वी विचारों से उन्हें सम्मोहित करनेवाले प्रभावशाली वक्ता; कविता, उपन्यास, कहानी, चरित्र, आत्मकथा, इतिहास, निबंध आदि विभिन्न विधाओं में उत्तुंग साहित्य-रचना करनेवाले प्रतिभाशाली साहित्यकार आदि विविध पहलुओं से यह व्यक्तित्व संपन्न था। भारतीय संस्कृति का शिल्प सुगठित करने में जिन महामानवों का योगदान महत्त्वपूर्ण है उनमें से अग्रणी हैं स्वातंत्र्यवीर विनायक दामोदर सावरकर।

विशेषत: यह घटना एकांतिक अपवाद रूप है कि स्वतंत्रता-संग्राम, समाज-सुधार एवं तत्त्वजिज्ञासा जैसे क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण कार्य करनेवाला व्यक्ति एक उच्च कोटि का साहित्यकार भी हो। सावरकरजी का साहित्य न केवल उनके अन्य क्षेत्रों में किए गए महनीय कार्य के वाहक रूप, बल्कि स्वयं अपने आपमें साहित्य-निर्मिति की दृष्टि से भी लक्षणीय है। 'भारतीय साहित्य' की प्रतिष्ठापना के लिए भारत की विभिन्न भाषाओं में साहित्य रचना करनेवाले साहित्यकारों का योगदान कारक बना हुआ है। सावरकर द्वारा रचित मराठी साहित्य का स्थान इसमें महत्त्वपूर्ण है। सावरकर रचित साहित्य का अनुसंधान किए बिना केवल मराठी साहित्य का ही

नहीं अपितु 'भारतीय साहित्य' का भी आलेख संपूर्ण नहीं हो सकता।

फिर भी सावरकरजी का बहुतांश साहित्य केवल मराठी में उपलब्ध होने के कारण 'भारतीय साहित्य' के इस महान् साहित्यकार के प्रातिभ योगदान के बारे में अन्य भाषिक भारतीय पाठक परिचित नहीं हैं। सावरकर की कुछ एक साहित्यक कृतियों का हिंदी में अनुवाद पहले हो चुका है; परंतु उनमें से कुछ अब उपलब्ध नहीं हैं, और कुछ अनुवादों में मूल कृति का साहित्यिक स्वरूप ठीक से रूपांतरित नहीं हो सका है। अनेक प्रतिकूल परिस्थितियों तथा आपदाओं का सामना करने के बाद वीर सावरकर के समग्र साहित्य का हिंदी में प्रकाशन करने का संकल्प आज संपन्न हो रहा है।

स्वातंत्र्यवीर सावरकर की आत्मकथा उनके सारे साहित्य में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। सावरकर का जीवन भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। किसी विद्युल्लता की भाँति संपूर्ण राष्ट्र की तमोमय निष्क्रियता को चकाचौंध करनेवाला यह तेजस्वी जीवन था। परिणामस्वरूप, इस जीवन की विभिन्न अवस्थाओं, उनमें निहित तूफानी गतिविधियों तथा उनमें समाविष्ट रोमांचकारी प्रसंगों के बारे में भारतीय पाठकों के मन में तीव्र उत्कंठा होना स्वाभाविक है। सावरकर की आत्मकथा एक दुर्दम्य क्रांतिकारी के चरित्र के गठन का दीप्तिमान आलेख है। विशेषत: 'मेरा आजीवन कारावास' में सावरकरजी ने अपनी उम्रकैद की सजा घोषित होने से लेकर उसकी समाप्ति तक के अनुभवों का जो वर्णन किया है, वह पूरे भारतीय साहित्य में एकमेवाद्वितीय है। इन अनुभवों को शब्दांकित करते समय सावरकरजी ने अपनी यातनाओं का चित्रण अत्यंत संक्षेप में किया है और वहाँ की कठिन परिस्थिति के दौरान उद्भूत विचारों का, विकारों का तथा भावनाओं का आलेख प्रस्तुत करने पर ध्यान केंद्रित किया है। परिणामत: इस आत्मकथा का स्वरूप आत्मान्वेषण करनेवाला बन गया है और इसमें सावरकरजी का तेजस्वी व्यक्तित्व उजागर हुआ है। प्रतिभावान साहित्यकार, एक के बाद एक विलक्षण संकटों का सामना करनेवाला निग्रही देशभक्त, प्रखर राजनीतिक विचारों का उद्गाता, बुद्धिनिष्ठ समाज-सुधारक, विज्ञाननिष्ठ विचारक, निर्भय क्रांतिकारी, उत्कट बंधु-प्रेमी आदि विभिन्न पहलुओं से समृद्ध व्यक्तित्व इस आत्मकथा में सहज रूप से निखर आया है।

सावरकर द्वारा रचित कविता से विश्व के किसी भी कवि की काव्यकृति की तुलना नहीं हो सकती। क्योंकि सावरकरजी की काव्य-रचना के प्रेरणा-स्रोत उनके ऊर्जस्वल जीवन में निहित हैं, तथा जिन प्रतिकूल परिस्थितियों में और जिस निष्ठा से उन्होंने कविता का सृजन किया, वह केवल अतुलनीय ही नहीं बल्कि

अकल्पनीय है। पचास वर्षों के आजीवन कारावास की सजा का आघात धैर्य से सहते हुए, बिना कागज-कलम की सहायता से, किसी नुकीले पत्थर से अथवा काँटे से अंदमान की अपनी कोठरी की दीवारों पर कविता की पंक्तियाँ लिखना और उन्हें कंठस्थ कर पुनः मिटा देना, और इस प्रकार शतावधि पंक्तियों की रचना करना मात्र चमत्कार ही कहा जा सकता है। मातृभूमि के वियोग में अनुभूत भावाकुलता, नृशंस दमन को सहने के लिए प्रस्फुरित निर्धार, मातृभूमि की दास्य शृंखलाओं को तोड़ने के लिए कठोर निश्चय, स्वतंत्रता की बलिवेदी पर पूरे परिवार की बलि चढ़ाने की दुर्दम्य आकांक्षा आदि भावों का उत्कट चित्रण सावरकरजी ने अपनी कविताओं में किया है। सावरकर कभी देवी स्वतंत्रता का स्तोत्र गाते हैं, कभी अपनी पुरातन संस्कृति की महिमा शब्दांकित करते हैं तो कभी शिवाजी, बाजीराव आदि वीर पुरुषों का स्तवन करते हैं। 'कमला' जैसे खंड काव्य में उन्होंने प्रणय के रंगों को भी रँगाया है; परंतु कुल मिलाकर ओजस्विता ही सावरकर की कविता का प्रकृत धर्म रहा है।

सावरकरजी ने दो उपन्यास लिखे हैं—'काला पानी' और 'मुझे उससे क्या'। इनमें से दूसरा उपन्यास भारतीय इतिहास के एक अचर्चित, परंतु अत्यंत भीषण कांड पर आधारित है। केरल में मोपलाओं के आतंक से आतंकित, आहत और उत्पीड़ित हिंदू समाज का चित्रण इस उपन्यास में है। अत्याचारों की बर्बरता के साथ-साथ यह उपन्यास तत्कालीन हिंदू समाज की उस मानसिकता को भी तीव्रता से उजागर करता है, जिसके तहत अपने आसपास के अन्याय के प्रति उदासीनता तथा अकर्तव्यता का रुख अपनाया जाता है जब तक कि उस अन्याय के पाशवी पंजे स्वयं अपने गले तक न पहुँच जाएँ। 'काला पानी' सावरकरजी के अपने अंदमानवाले अनुभवों पर आधारित है। अंदमान का यातनामय सेल्युलर जेल, वहाँ का सुंदर परंतु भीषण प्राकृतिक वातावरण, वहाँ की आदिम जनजातियाँ आदि का प्रलयकारी चित्रण इस उपन्यास में है। अंदमान के यथार्थ जीवन को चित्रित करनेवाला यह पहला भारतीय उपन्यास है। रोमहर्षक तथा भावोत्कट कथाशिल्प के साथ-साथ यह उपन्यास मनुष्य की कार्यशीलता और तितिक्षा तथा नियति की कठोरता तथा अनिवार्यता के बारे कुछ मूलभूत प्रश्नों को उपस्थित करता है। अतः उसका स्थान केवल रोचक कहानी के स्तर पर ही नहीं अपितु गंभीर जीवन-दृष्टि के परिप्रेक्ष्य में भी भारतीय उपन्यासों के बीच महत्त्वपूर्ण है।

उपन्यासों की तुलना में सावरकर लिखित कहानियों का मूल्य साहित्यिक दृष्टि से सामान्य है। ये सारी-की-सारी कहानियाँ बोधप्रद हैं। स्वयं सावरकर इनको 'अंधश्रद्धा निर्मूलक गोष्ठी' कहते हैं। जाहिर है कि इन कहानियों की रचना जीवनांतर्गत

विशिष्ट भावसत्य को शब्दांकित करने हेतु नहीं, अपितु अंधश्रद्धा के निर्मूलन का संदेश प्रभावी रूप में वितरित करने हेतु की गई है। रोचक निवेदन शैली, सावेश प्रतिपादन और नर्म उपरोध आदि गुणों के कारण अपना निर्मित उद्देश्य साध्य करने में इन्हें सफलता भी प्राप्त है।

सावरकर के नाटकों की भी यही स्थिति है। मराठी नाटक की अभिवृद्धि में नाटककार सावरकर का विशेष लक्षणीय योगदान है, उनके द्वारा लिखित नाटक उनके व्यक्तित्व की ओजस्विता से दीप्तिमान् है।

इसके विपरीत, सावरकर के निबंधों का योगदान मराठी वैचारिक निबंध के परिप्रेक्ष्य में महत्त्वपूर्ण है। गद्य साहित्य विधा निबंध विचारों की तथा संरचना की तेजस्विता से किस हद तक दीप्तिमान बन सकती है, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण सावरकर के निबंधों में पाया जाता है।

चरित्र और इतिहास लेखन की विधाओं में भी सावरकर की कलम ने महान् कृतियों का निर्माण किया है। उनके द्वारा लिखित 'मैझिनी का चरित्र' और सन् १८५७ में घटित 'प्रथम भारतीय स्वातंत्र्य युद्ध का इतिहास' भावपूर्ण तथा ऊर्जस्वल सत्य प्रस्तुति का आदर्श है।

सावरकर द्वारा रचित समग्र साहित्य इस तथ्य का प्रमाण है कि यह महान् देशभक्त, धैर्यशील क्रांतिकारी तथा विज्ञाननिष्ठ समाज-सुधारक एक अत्यंत प्रतिभावान साहित्यकार भी था। उनके समग्र साहित्य का अध्ययन उनके व्यक्तित्व की संपूर्णता का आकलन करने के लिए जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही भारतीय साहित्य की स्थिति-गति का आलेख स्थापित करने के लिए महत्त्वपूर्ण है। इसी अध्ययन-मूल्य को ध्यान में रखते हुए यहाँ सावरकर का समग्र साहित्य हिंदी में प्रकाशित हो रहा है।

विनायक दामोदर सावरकर एक महान् द्रष्टा थे। स्वयंपूर्ण बलशाली भारत उनका प्रातिभ स्वप्न था। जब तक वह जीवित थे तब तक उनका प्रत्येक श्वास-उच्छ्वास इसी स्वप्न के चिंतन में कार्यरत होता रहा। समसामयिक अन्य विचारधाराओं के नेताओं के प्रति अपने निबंधों में सावरकरजी ने जो भी कठोर रुख अपनाया है, कभी-कभी विषाक्त उपरोधपूर्ण शैली का आश्रय किया है, उसका संदर्भ केवल प्रासंगिक है। कई समसामयिक समस्याओं, विचारधाराओं तथा नेताओं के बारे में सावरकरजी के विचारों से आज हम सहमत नहीं हो सकते। फिर भी इन विचारों के पीछे सावरकर के मन में देशहित की जाज्वल्य धारणा ही थी, इसके बारे में कोई संशय नहीं है। उस समय का सही ऐतिहासिक चित्र पाने के लिए तथा विभिन्न विचारधाराओं के आपसी टकराव का तथा मंथन का ब्योरा पाने

के लिए ऐसे विचारों का भी एक विशिष्ट अध्ययन मूल्य है। ऐसे केवल प्रासंगिक संदर्भों को छोड़कर राष्ट्र के अभ्युदय के लिए सावरकरजी ने साहित्य सृजन के माध्यम से जो दिशाएँ सूचित की हैं, उनका चिंतन हमारे राष्ट्र के लिए अत्यंत लाभदायी हो सकता है।

—संपादक

अनुक्रम

ॐ
अथ-आह

प्रकरण–१

क्या लिखूँ?

क्या लिखूँ? ये जो सारे इष्ट-मित्र और देशबंधु कह रहे हैं और मेरा मन भी बीच-बीच में मुझे लिखने के लिए कोंचता है, तो क्या अपनी स्मृतियाँ, अपना वह जीवनवृत्त लिख डालूँ—एक बार?

मनुष्य या समाज के लिए स्मृति उपयुक्त ही रहती है, परंतु वास्तव में देखें तो स्मृति के सदृश विस्मृति भी एक ईश्वरीय कृपा ही है। मनुष्य या समाज के लिए कुछ स्मृतियाँ ऐसी होती हैं, जिन्हें याद रखने की अपेक्षा भूलना अधिक हितकर होता है; पर कई को इस जन्म की स्मृतियों से संतोष नहीं होता और वे पूर्वजन्म की स्मृतियों को भी खोजने के लिए योग-सिद्धि का मार्ग अपनाते हैं। परंतु सचमुच देखें तो केवल इस जन्म की सारी-की-सारी स्मृतियाँ भी यदि हमारा पीछा करती रहीं तो उन्हें सहन करना चेतन मन के लिए संभव नहीं है; फिर यदि उपचेतन मन की सात या सत्तर पूर्वजन्मों की स्मृतियाँ सतत भीड़ लगाए रहीं तो प्राणों को कितनी घुटन होगी! उन सत्तर जन्मों की सत्तर माताओं का लाड़, विमाताओं की चुगलखोरी, खेल या गृहस्थी में खोए हुए गुड्डे-गुड़िया, शिक्षकों की छड़ी, काटनेवाले बिच्छू, अधूरी रह गई आशाएँ, वे रोग, वे भोग, वे अपमान, वे मोहभंग, वे झगड़े-झंझट और फिर उनका स्मरण, पुनः-पुनः स्मरण, अर्थात् विगत दुःखों का कोयला फिर-फिर घिसना!!

भगवान् बुद्ध द्वारा कथित उनके पूर्वजन्म की थोड़ी-बहुत स्मृतियाँ लिखकर रखी हुई हैं जो श्रौत साहित्य के रूप में उपलब्ध हैं। उन जातक कथाओं का कैसा विस्तार हुआ है! और यदि भगवान् बुद्ध अपने सभी पूर्वजन्मों की समस्त कथाएँ कहते लिखवाने की कृपा करते, तब उन ग्रंथों के कारण पूरी पृथ्वी ही ग्रंथालय बन जाती; फिर भी उनके लिए वह पर्याप्त नहीं होती। कारण यह है कि किसीके भी पूर्वजन्म अगणित होने से स्मृतियों के खंड भी तो असंख्य ही होते!!

यह तो एक बुद्ध भगवान् की बात हुई। परंतु यदि प्रत्येक जन्म में हुआ मनुष्य, जैसे आजकल हमारे कुछ थियोसोफिस्ट मित्रों को अपने पूर्वजन्म की स्मृतियाँ हो आती हैं, वैसे ही सकल स्मृतियाँ ताजा करने लगा और दुर्दैव से उन सबको लिख-छापकर प्रकाशित भी करवाने लगा तो संपूर्ण मनुष्य जाति की केवल इसी पीढ़ी के औसतन एक सौ पचास करोड़ लोगों में से प्रत्येक के असंख्य जातक होंगे। उनको पढ़ने की बात तो दूर, केवल उनकी संख्या सुन-सुनकर चक्कर आने लगें। पौराणिक परंपरा के अनुसार कहें तो रक्तबीज दानवों जैसे हर गुजरे क्षण की स्मृति का रक्त-बिंदु एक-एक स्मृति-दानव को जन्म देता है। पौराणिक परिभाषा में ही यदि कहें तो स्मृति के इसी अत्याचार से लोगों का परित्राण करने हेतु क्षण का वह बिंदु गिरते ही निगल लेने के लिए है। देवी विस्मृति ने अवतार लिया, इसलिए सबकुछ ठीक हो गया। निस्संदेह स्मृति के सदृश विस्मृति भी ईश्वरीय कृपा ही है।

प्राचीन इतिहास अर्थात् समाज की आदिम स्मृतियाँ न मिलना हमारे लिए कभी-कभी बहुत चिंता का कारण बन जाता है। इतिहास किस तरह पढ़ा जाए, यह विवेक जब तक समाज में जाग्रत नहीं होता, तब तक उसका कुछ भाग विस्मृत हो जाना ही क्या हितकर नहीं है? क्योंकि आज रावण की लंका कौन-सी है, यह यदि ऐतिहासिक निश्चितता से कहा जाने लगे तो उस देश के वासियों के मन में हम आर्यों के प्रति द्वेष उत्पन्न नहीं होगा और पुराने झगड़े का कोयला घिसकर एक नया झगड़ा तैयार नहीं किया जाएगा, यह कौन कह सकता है? यह कोरी कल्पना नहीं है। उसी रामायण-कथा की स्मृति के कारण हम आर्य आज भी बंदरों से लाड़ करते हैं; उसके लिए मनुष्य को कष्ट भी हो जाए तो कोई बात नहीं। अभी एक स्थान का समाचार है कि बंदर को मुक्त कराने के लिए दंगा हुआ और कई आदमी मारे गए। यह एक तरह से सुग्रीव और राम के बीच हुई संधि का सम्मान करना ही तो है! उत्तर ध्रुव से आर्य हिंदुस्थान में आए, यह उपपत्ति सुनते ही स्वयं को अनार्य माननेवालों ने तथाकथित आर्य मानी जानेवाली जातियों को 'पश्चात् हिंदू' और स्वयं को 'आदि द्रविड़', 'आदि हिंदू' कहना शुरू किया या नहीं! फिर उस प्राचीन काल की जानकारी पौराणिक लुका-छिपी का स्वाँग उतारकर एकदम सही स्वरूप में प्रकट हो गई जान कौन मूल में अनार्य, कौन आर्य, कौन असुर, कौन दनुज, कौन हूण, कौन द्रविड़ आदि की सच्ची बातें घर-घर अकस्मात् ज्ञात हो जाएँ तो आज कितना हो-हल्ला मच जाएगा! कितने ही ब्राह्मण शुद्धकृत शक या मघ निकलेंगे, क्षत्रिय हूण निकलेंगे! ससुराल पक्ष आर्य, तो मायका नागवंशी या पैशाच निकल आएगा।

जो हो गया, सो हो गया! अब पिछला भूल जाओ!! यह वाक्य कहते ही कितने टूटे स्नेह फिर जुड़े हैं आज तक, कितने ही अनुतप्त प्रणय पुनः अनुरक्त हुए

हैं। निस्संदेह स्मृति जैसी विस्मृति भी एक ईश्वरीय कृपा ही है।

यदि ईश्वरप्रदत्त इन दो परस्पर विरुद्ध कृपाओं का उपयोग तारतम्य से किया जाता है तो ये दोनों ही मानव-जीवन के लिए उपयुक्त सिद्ध होती हैं; परंतु यदि हम सर्वदा पिछली बातों का ही स्मरण करते रहे या उन्हें भूलते रहे तो अपना जीवन अधिक दु:सह या असह्य हो जाएगा।

इस तारतम्य से देखने पर यह प्रश्न उठता है कि अपनी स्मृतियों को सार्वजनिक रूप से ग्रथित करना सार्वजनिक हित में है या नहीं? यह व्यक्तिपरक प्रश्न नहीं है, क्योंकि व्यक्ति को जो स्मृतियाँ सुखावह या हितावह लगती हैं, वह उन्हें तब तक फिर-फिर दोहराने के लिए स्वतंत्र है, जब तक उनसे किसीको कोई पीड़ा न हो। व्यक्ति से आगे परिवार, कुल या वंश से संबंधित स्मृतियों का क्रम आता है। कहा जाता है, चीन में ऐसी प्रथा है कि मृत व्यक्ति का केवल नामोल्लेख ही श्राद्ध के दिन नहीं किया जाता, वरन् उसके चरित्र की संक्षिप्त कथा भी कही जाती है, जिसे सारा परिवार सुनता है। इस तरह वहाँ परिवार का इतिहास सुरक्षित किया जाता है। वह पारिवारिक महत्त्व का होता है। उसके छपाने-पढ़ाने जैसा साहित्यिक अर्थ कुछ नहीं होता। यह भी सच ही है कि सामान्य जीवनक्रम में हजारों आदमी एक जैसे ही जीते हैं। जन्म, रोग, विवाह, संतति, मृत्यु एवं उससे संबंधित क्षुधा-शांति, भाव-भावना, सब एक समान है। ऐसे किसी एक चरित्र की पोथी, उसमें उल्लिखित नाम विशेष बदलने पर किसी भी अन्य व्यक्ति का चरित्र-चित्रण बन सकता है। ऐसे चरित्र परिवार-हित में परिवार के पास ही रहें; हाँ, कदाचित् कभी अनुवंशशास्त्र के शोधकर्ताओं के लिए उसका उपयोग हो। इतना ही उसका सार्वजनिक उपयोग हो सकता है।

व्यक्तिगत या पारिवारिक सीमा तक फैले चरित्रों की बात छोड़कर जिस किसी जीवन से किसी राष्ट्र या मनुष्य जाति के जीवन के धागे बँधे हैं, ऐसे सार्वजनिक व्यक्ति के चरित्र और स्मृतियों का प्रश्न आता है। ऐसे व्यक्ति का जीवन लाखों व्यक्तियों के जीवन का संकलित सार ही होता है। कभी-कभी तो ऐसा कोई एक जीवन पूरी पीढ़ी का इतिहास हो जाता है। अशोक या आल्फ्रेड दि ग्रेट का चरित्र निकालते ही उस पीढ़ी के इतिहास से पन्ने-के-पन्ने ही मानो फाड़कर फेंके-से लगते हैं। सामान्य रूप में ऐसा कहा जा सकता है कि लोक-जीवन पर जिनके जीवन का परिणामकारक प्रभाव किसी तरह पड़ा है, उनकी स्मृतियाँ ही सार्वजनिक प्रसिद्धि के लिए और सार्वजनिक हित में चिरस्मरणीय रहती हैं, और इसीलिए राष्ट्र या मानव के सामयिक साहित्य में उन्हें यथाप्रमाण स्थान प्राप्त करने का अधिकार होता है। ऐसे लोगों द्वारा यदि अपनी जीवन-स्मृतियाँ या आत्म-चरित्र सार्वजनिक

हित में ग्रथित कर प्रकाशित किए जाते हैं तो वे लोक-जिज्ञासा और वाङ्मय की सहनशीलता का अनुचित लाभ लेने के दोष के भागी न होकर अपनी आकांक्षा और ध्येय, प्रयत्न और पराक्रम, न्यूनता और पूर्णता की जानकारी जैसी संपत्ति अगली पीढ़ी के हितार्थ उसके हाथों में सौंप जाने का, अपने सार्वजनिक जीवन का अंतिम श्रेयस्कर कर्तव्य ही पूरा करते हैं।

मेरी जीवन-स्मृतियाँ उपर्युक्त तीन वर्गों में से अंतिम वर्ग में आती हैं, तभी उन्हें वैयक्तिक मृत्यु के साथ ही विस्मृति की राख में नष्ट न करके लोक-स्मृति के संग्रहालय में सुरक्षित रखने का प्रयास करना उचित होगा। पर क्या ये उस वर्ग की हैं?

मनुष्य-मात्र को अपनी कर्म-कथा, अपनी शेखी बघारने के अनुकूल जो भाग मिले, उसे कहने का मोह रोक पाना कठिन होता है। उस मोह को यथासंभव विवेक से दबाकर ममत्वशून्य दृष्टि से मैं अपने आत्म-चरित्र का समालोचन जब-जब तटस्थता से करता हूँ, तब-तब मुझे लगता है कि मेरा जीवन जब से मुझे ज्ञात है, वह भारतीय राष्ट्र के सार्वजनिक जीवन से संबद्ध है। इतना ही नहीं, बाद के काल में तो मेरा निजी जीवन राष्ट्रीय जीवन का एक प्रमुख और परिणामकारक घटक बनता चला गया है। मेरे लिए गौरवास्पद वयस्क पीढ़ी के अनेक राष्ट्रीय नेताओं से मेरा संबंध रहा। मेरे समकालीन लाखों तरुणों पर मेरे विचारों, प्रयासों और साहचर्य का अप्रत्यक्ष या प्रत्यक्ष ऐसा परिणाम होने के कारण कि मुझे अपने जीवन में अनेक बड़े-बड़े राष्ट्रीय आंदोलनों में प्रमुख भूमिका निभाने का अवसर बार-बार मिलने से मेरे चरित्र की बनावट और रचना किस-किस तरह से होती गई, इसका मेरे द्वारा वर्णित वृत्तांत उस काल के राष्ट्रीय इतिहास की रचना के लिए उपयोगी ही है। मेरी स्मृतियाँ केवल मेरे अकेले चरित्र तक सीमित नहीं हैं, उनमें तो पूरी दो-तीन पीढ़ियों का जीवन प्रतिबिंबित होता है। और यह भी कि यदि मैं न कहूँ तो संभवतः उनके गुप्त कार्य और उत्कट राष्ट्रसेवा तथा महनीय त्याग की जानकारी भी लोगों को नहीं होगी। ऐसे अनेक लोकसेवकों, त्यागियों, शूरों और साधु पुरुषों की स्मृतियों को प्रत्यक्ष में सम्मानित कर उनके प्रति कृतज्ञता का ऋण अंशतः उतारने का काम भी मेरी स्मृतियों के प्रकाशन से होगा। इतना ही नहीं, जिस सशस्त्र क्रांति की अति जाज्वल्य और भव्य राष्ट्रीय भवितव्यता के आंदोलन से मेरा संबंध विशेष रूप से रहा था, उस उत्थान-काल के इतिहास का बहुत सारा भाग लोगों के लिए अज्ञात है। बंगाल के बहुत से देशभक्तों ने काफी-कुछ कहा है, फिर भी शेष बहुत सारा भाग कहनेवाला कोई विशेषज्ञ अब नहीं रहा। कुछ थे, वे कह नहीं सके। विरोधी शक्ति ने तो सशस्त्र क्रांतिकारी उत्थान की स्मृति को समूल नष्ट करने के

लिए हर एक मुँह को बंद करने का बीड़ा ही उठा रखा था। ऐसे समय में उस इतिहास पर अपनी स्मृतियों के आधार पर यथासंभव प्रकाश डालना एक राष्ट्रीय कर्तव्य ही है। यह कर्तव्य भी ऐसा अत्याज्य है कि केवल उसी एक कार्य के लिए अपनी स्मृतियाँ अपने साथ ही नष्ट होने देना अनुचित होगा।

उसमें भी मेरा चरित्र मूलतः कुछ ऐसे आकस्मिक, अद्‌भुत, क्षुब्ध करनेवाली विद्युत् तंतुओं से बुना हुआ है और कँपानेवाले सुख-दुःख के रंगारंग से उसकी कुछ ऐसी सजावट हुई है कि केवल उसकी मनोबेधकता के लिए ही साहित्य में उसका होना आवश्यक है।

चूँकि इस तरह मेरी सुधियाँ-स्मृतियाँ कम-से-कम एक-दो पीढ़ियों को तो मनोबेधक, उद्‌बोधक लगे बिना नहीं रहेंगी, इसलिए मैं उन्हें लिखने का निश्चय कर रहा हूँ। यदि एक-दो पीढ़ियों के बाद सार्वजनिक साहित्य में उसकी अनुपयोगिता सिद्ध हो जाती है तो काल स्वयं ही उसे निकाल फेंकने का काम कर लेगा। इसका कारण यह है कि जैसे व्यक्ति के जीवन की एक काल-मर्यादा होती है, वैसे ही उस व्यक्ति के पीछे बची उसकी जीवन-स्मृतियों की भी होती है। व्यक्ति हो या व्यक्ति-स्मृतियाँ हों, पृथ्वी का अवकाश नवीन का सृजन करने के लिए निर्जीव और अनुपयोगी पुराने को नष्ट करने का कार्य करता ही रहता है।

सार्वजनिक उपयोग के लिए यदि स्मृतियाँ प्रकाशित करते हैं तो वे जैसी घटित हुईं, वैसी ही पूरी-की-पूरी प्रकाशित करना प्रामाणिक लेखक का कर्तव्य है। लोगों में शेखी बघारने के लिए केवल उपयुक्त भाग ही प्रकाशित करना मिथ्याचार है। लोकप्रियता की इच्छा लोकहितपरकता का सच्चा सूत्र नहीं है। इसका कारण यह है कि मनुष्य का शरीर उसके सहज या प्राप्त सब रोग-भोग का, संश्लिष्ट संघर्ष का समन्वित परिणाम होता है। इसलिए उसका हर कृत्य भी उसके तथ्यकथित गुणावगुणों के संश्लिष्ट संघर्ष का, उसकी पूर्ण भावनाओं का सम्मिश्र प्रतिफलन होता है। किसीको अच्छे लगनेवाले उसके गुण के उत्कर्ष में दूसरे को बुरे लगनेवाले उसके अवगुणों का सान्निध्य या सहकार्य भी होता ही है और उसके अवगुण उसके गुणों के बीजों का क्वचित् अपरिहार्य गौण रूपांतर भी होते हैं। जिसे भूसा कहकर फटक दिया जाता है, उसीके संरक्षण में, जिसे दाना कहकर उठाया जाता है, वह पलता-बढ़ता है। त्याज्य मल-मिट्‌टी का खाद गुलाब के फूल के लुभावने रंग, सुंदरता और सुगंध का एक अपरिहार्य घटक होता है। यदि हम गुलाब के फूल के विकास का समग्र रहस्य समझना चाहें तो उसकी जड़ों से कली तक, खाद-मिट्‌टी, सड़ी-गली पत्ती, उसके काँटे और डाली, टहनी सहित उसके सारे अंग-प्रत्यंगों, सब गौण उत्पादों पर भी विचार करना होगा। उनकी उपस्थिति और महत्त्व

को भी जानना होगा। मनुष्य के लिए भी वैसा ही है। उसकी रचना-प्रक्रिया को यदि सचमुच समझना हो तो उसके केवल उस भाग की महत्ता गाने से कोई लाभ नहीं होगा, जिसे उसकी महानता समझा जाता है। वह नख-शिख से जैसा था, वैसा ही उसे सामने रखा जाना चाहिए। वही छाया-चित्रकार श्रेष्ठ होता है, जो मनुष्य का वैसा ही चित्र लेता है, जैसा वह है—न अधिक सरस, न अधिक नीरस। इसलिए क्रॉम्वेल ने अपने चित्रकार को जताकर कहा था—'मैं जैसा हूँ, वैसा ही चित्रित करो, एक भी झुर्री मत छोड़ना।'

सूक्ष्मता से देखा जाए तो क्रॉम्वेल के व्यक्तित्व और कृतित्व में उसके तेज के बराबर ही झुर्रियों का भी महत्त्व था।

आत्मवृत्त कहनेवाले को अपना संपूर्ण चरित्र, स्वयं को या अन्यों को जो भाग अच्छा लगता है, वही नहीं, बल्कि कहने योग्य भली-बुरी सब स्मृतियाँ यथावत् कहनी चाहिए, यद्यपि उपर्युक्त कारणों से शास्त्रत: और तत्त्वत: यही उचित है, फिर भी आज तक जिन-जिन महान् व्यक्तियों ने आत्म-चरित्र लिखे, उनके लिए इस नियम का यथावत् पालन कभी तो संभव नहीं हुआ और कभी उचित नहीं लगा। इसका कारण यह है कि सत्य परिस्थिति से सापेक्ष हो जाता है, सीमित हो जाता है। मेरी रुचि अपने लोक-जीवन से जुड़ी हुई है। इसीलिए कहने योग्य अच्छी-बुरी सारी बातें निस्संकोच और निर्भयता से जैसी हैं, वैसी ही कहने योग्य होते हुए भी जिस समाज-स्थिति में और विशेषत: राजनीतिक परिस्थिति में मुझे यह आत्मकथन लिखना पड़ रहा है, उसके कारण अपनी उस रुचि को अंशत: दबाना पड़ रहा है। इसका एक कारण और भी है। हमसे जिन व्यक्तियों का संबंध रहा है, उनसे अनुमति लिये बिना उनकी बातों को प्रकट करना उनके साथ विश्वासघात हो सकता है। जब तक सज्जनों के सत्य का दुरुपयोग करने से दुष्ट चूकते नहीं हैं, तब तक व्यवहार की बेड़ियाँ तोड़कर स्वतंत्रता से विचरण करना सत्य के लिए दुर्घट होगा। ऐसे पेंच में फँसे हम आत्मवृत्त लिखने के पूर्व इतनी ही प्रतिज्ञा कर सकते हैं कि वे स्मृतियाँ हमें जैसी स्मरण होंगी, वैसी ही कहेंगे और उनको 'लोक छंदानुवर्ती' करने के लिए उनमें रंग नहीं भरेंगे। जैसे स्पष्ट स्मरण आनेवाली स्मृतियों में भी कभी-कभी अस्पष्ट स्मृत या पूर्ण विस्मृत स्मृतियों को मानकर चलना पड़ता है, वैसे ही हम मानकर चलेंगे और आज जिन स्मृतियों को कह नहीं पा रहे हैं, उन मनोरंजक स्मृतियों पर पड़ा गोपनीयता का परदा भी आगे-पीछे कभी एकाध प्रसंग से हटा देंगे।

□

प्रकरण–२

सन् १८५७ के बाद की राजनीति

मेरे क्रांतिकारी राजनीतिक जीवन का अंकुरण, विकास और कार्यक्रम मेरे जन्म के पूर्व की राजनीतिक उथल–पुथल और परिस्थितियों का एक परिणाम था, प्रतिक्रिया या अनुक्रिया थी। विशेषतः ब्रिटिश सत्ता हिंदुस्थान में प्रस्थापित होने के बाद उसे उखाड़ फेंककर हिंदुस्थान की राजनीतिक स्वतंत्रता फिर से स्थापित करने के लिए राज्यक्रांति के जो–जो छोटे–बड़े प्रयास हुए, उनकी परंपरा को आवश्यक अनुपात में समझ लेने के सिवाय, उसका समालोचन किए बिना, मेरे क्रांतिकारी राजनीतिक जीवन के गठन और उसमें निहित घटनाओं का कार्य–कारण भाव पूरी तरह ग्रहण नहीं किया जा सकता और उसका मूल्य–मापन भी यथाप्रमाण नहीं किया जा सकता।

रणजीत सिंह का राज्य जीत लेने पर पंजाब प्रांत जब ब्रिटिश सत्ता के अधीन हुआ, तब सारे हिंदुस्थान पर ब्रिटिशों का सचमुच एकसूत्री शासन चालू हो गया। ब्रिटिशों की उस दासता से अपनी मातृभूमि को मुक्त कराने के लिए हिंदुस्थान के क्रांतिकारियों का पहला सशस्त्र प्रयास सन् १८५७ में हुआ। उस प्रयास की उग्रता और विस्तार बढ़ते–बढ़ते एक ऐसे तुमुल युद्ध में बदल गया, जिसे इंग्लैंड और हिंदुस्थान का इतिहास कभी भुला नहीं सकता। वास्तव में उपर्युक्त पूर्वपीठिका या पृष्ठभूमि का समालोचन इसी सन् १८५७ के महान् क्रांतियुद्ध से किया जाना आवश्यक है।

इस क्रांतियुद्ध का समग्र इतिहास एवं विस्तृत समालोचन मैंने अपने War of Indian Independence ('सत्तावनचे स्वातंत्र्यसमर' अर्थात् १८५७ का स्वातंत्र्य–समर) ग्रंथ में पहले ही कर दिया है, उसे पुनः इस ग्रंथ में लिखने का कोई कारण नहीं रहा। अतः १८५७ के उस प्रथम प्रचंड क्रांतियुद्ध के शांत होने के बाद ही, अर्थात् सामान्य रूप से सन् १८६० से मेरे राजनीतिक जीवन की उमंग के आरंभ

अर्थात् सन् १८९५ के अंत तक का जो कालखंड बचता है, उस अवधि में हुए राजनीतिक आंदोलनों एवं क्रांतिकारी सशस्त्र प्रयासों का आवश्यक समालोचन मैं अपने 'आत्मवृत्त' की पृष्ठभूमि एवं पूर्वपीठिका के रूप में पहले कर देना चाहता हूँ।

भारतीय सेना की कायापलट एवं जनपदों का निःशस्त्रीकरण

सन् १८५७ के (प्रथम) स्वतंत्रता-संग्राम में भारतीय क्रांतिकारियों की हार और ब्रिटिशों की जीत के बाद हिंदुस्थान के पैरों में ब्रिटिश साम्राज्य सत्ता की बेड़ियाँ पहले से भी अधिक मजबूती से जकड़ने की पराकाष्ठा में उन्होंने सर्वप्रथम सेना की कायापलट की। जिस-जिस जाति के सैनिक या लोग हिंदुस्थान में ब्रिटिशों के आने के बाद से या सन् १८५७ के उस स्वतंत्रता-संग्राम में उनसे शत्रुत्व लेने या प्राणपर्यंत लड़ने से नहीं डरे, उस-उस जाति के लोगों को ब्रिटिश सेना में यथासंभव भरती न करने का निश्चय किया गया। अत: मराठों को सेना में सहज भरती मिलना बंद हो गया। मराठी चित्तपावन ब्राह्मणों का प्रवेश तो और भी सख्ती से रोका गया। इसके पीछे धारणा यह थी कि उनमें अंग्रेजों के विरुद्ध शत्रुत्व के बीज होते हैं और सन् १८५७ के क्रांतियुद्ध के शीर्ष नेताओं में वे ही लोग थे। किंतु यह वास्तविक कारण न बताकर यह बताया जाता था कि वे सैनिक जाति के नहीं हैं। उन्हें यदि लिया भी जाता, तो धीरे-धीरे असैनिक (Non-Military) या सूची-बाह्य वर्ग (Unlisted Classes) में भेज दिया जाता। सन् १८५७ के संग्राम में जिन पल्टनों ने विद्रोह किया था, उनमें अधिकांशत: उत्तर प्रदेश के पुरबिया ब्राह्मण थे। वे अंग्रेजों से कठोरता से लड़े भी थे। अत: उनका भी सेना में प्रवेश बंद किया गया।

पंजाब के सिख और नेपाल के गोरखा सन् १८५७ के संग्राम में अंग्रेजों के प्रति निष्ठावान रहे। क्रांतिकारियों को पराजित करने में उन सिखों और गोरखा सैनिकों ने बड़ी बहादुरी दिखाई। इसलिए उन्हें सेना में बड़े-बड़े पुरस्कार-सम्मान दिए गए तथा उनको विशेष रूप से भरती किया गया। उसी तरह पठान, बलूच और पंजाबी मुसलमानों की भी भरती सेना में अधिक होती रही। इसका एक कारण सन् १८५७ के संग्राम में उनका अंग्रेजों का साथ देना था। दूसरा कारण यह था कि जिनके रक्त में हिंदू-द्वेष जन्मत: ही समाया हुआ है, ऐसे ये पठान, पंजाबी, बलूच मुसलमानों की सेना हिंदुओं का काँटा निकालने के लिए बिना किसी आशंका के उपयोग में लाई जा सकती थी।

हिंदुस्थान की सेना को इस तरह अपने अनुकूल ढालने के बाद अंग्रेजों ने देश के सारे नागरिकों को नि:शस्त्र कर डाला। इस तरह हिंदुओं के हाथों से शस्त्र-

साधन छीन लेने से अंग्रेजों के विरुद्ध सन् १८५७ की पुनरावृत्ति होने की सारी संभावनाएँ समाप्त हो गईं।

अंग्रेज इतने पर भी नहीं रुके। ब्रिटिश हिंदुस्थान तो नि:शस्त्र हो गया, पर बड़े-बड़े देसी राज्यों के लोग नि:शस्त्र नहीं थे। उन राज्यों के पास अपनी-अपनी संगठित सेनाएँ थीं। अंग्रेजों का रूस जैसा एकाध प्रबल शत्रु हिंदुस्थान पर आक्रमण करे और उसका हिंदुस्थान के थोड़े-से भाग में भी प्रवेश हो जाए तो वह लोगों को शस्त्र दे सकता था। इसलिए केवल सशस्त्र क्रांति के साधन हाथ से छीनकर खाली बैठने की बजाय सशस्त्र क्रांति की इच्छा ही हिंदू लोगों के हृदय से नष्ट कर दी जाए तो क्रांति होने का भय नहीं रहेगा—यह विचार अंग्रेज कूटनीतिज्ञों के मन में पहले से ही था। विजित जनों का मन जीत लेने का उपाय इतिहास में प्रभावी माना गया है। बचपन से ही विजितों की युवा पीढ़ी को विजेताओं के धर्म और संस्कृति में ढालकर उनमें विजेताओं के प्रति प्रेम-भाव जगाने के लिए ऐसी शिक्षा देना, जिससे उन्हें यह लगे कि अपना राज गया, तो अच्छा ही हुआ; विदेशी राज में ही अपना हित है और उसके विरुद्ध कार्य करना अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ी मारने जैसा है। ऐसे सारे विचार विजित लोगों की अगली पीढ़ी में भर देने चाहिए। उनके मन को ही मारकर या भरमाकर उन्हें ऐसा निष्क्रिय बना दें कि अगर किसीने शस्त्र आदि साधन हाथ में दे भी दिए तो क्रांति करने की इच्छा ही उन विजितों के मन में न उपजे। विजित होने की भावना की चुभन भी धीरे-धीरे उनके मन से नष्ट हो जाए और 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा'—ऐसी चापलूसी वे भक्तिभाव से करने लगें। अंग्रेजों का राज थोड़ा स्थिर हो जाने के बाद से मैकाले आदि कूटनीतिज्ञों ने इस कूटभाव से अंग्रेजी शिक्षा और ईसाई मिशनरियों की स्थापना सन् १८५७ के पूर्व ही चालू कर दी थी। सन् १८५७ के क्रांतियुद्ध के बाद धर्मांतरण करानेवाली मिशनरियों की गतिविधियाँ तो काफी हद तक रुक गईं, परंतु सारे हिंदुस्थान में अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार व्यापक स्तर पर बढ़ता गया।

ब्रिटिश राजसत्ता हिंदुस्थान में चिरस्थायी और भयविहीन रहे तथा सन् १८५७ के जैसे सशस्त्र विद्रोह की संभावनाएँ समाप्त हो जाएँ, इसके लिए अंग्रेजों ने जो-जो उपाय किए, उनके परिणाम अलग-अलग प्रांतों पर वहाँ के ऐतिहासिक, सामाजिक और स्वाभाविक भेदों के कारण अलग-अलग ही हुए। इसलिए यहाँ सन् १८६० से १८८४ तक की राजनीतिक परिस्थिति और उसके संदर्भ के प्रवाह में आनेवाले कुछ अन्य उपायों का विश्लेषण अपने अभिप्रेत दृष्टिकोण से मैं प्रांतशः करूँगा।

□

प्रकरण–३

राजनीतिक परिस्थिति का विश्लेषण

(सन् १८६० से १८८४ तक)

बंगाल, मद्रास, आंध्र, कर्नाटक, गुजरात, बिहार और संयुक्त प्रांत

बंगाल

लगभग पाँच सौ वर्षों तक मुसलमानों के राज में असहनीय धार्मिक और सामाजिक अत्याचारों से दबी बंगाली हिंदू जनता अंग्रेजों के आक्रमण का पहले ही कोई सबल विरोध नहीं कर पाई थी। वहाँ की मुसलमान जनता भी अंग्रेजों की तुलना में इतनी दुर्बल, बुद्धिहीन और डरपोक हो गई थी कि एक भी उल्लेखनीय लड़ाई लड़े बिना ही अंग्रेजों ने वह प्रदेश हथिया लिया। सदियों से मुसलिम गुलामी में रह रही बंगाली हिंदू जनता जब सहज ही अंग्रेजों की गुलामी में चली गई, तब उन दो गुलामियों की तुलना करना ही उसके हाथ में रह गया था। मुसलमानों की गुलामी में निरंकुश तानाशाही और असह्य धर्म-छल तुलनात्मक रूप से अंग्रेजी राज में काफी कम हुआ था। इसीलिए नई सरकार बंगाली हिंदुओं को अधिक रास आई। अंग्रेजों के आगे मुसलमानी धर्मोन्माद ढीला पड़ गया। दुर्बलों के आगे अपनी शान बघारनेवाले मुसलमान अंग्रेजों के तलुवे चाटने लगे। इस तरह बंगाल में हिंदू और मुसलमान—दोनों ही अंग्रेजों के सामने भीगी बिल्ली बन गए। स्वतंत्रता-प्राप्ति की महत्त्वाकांक्षा तो दूर, सामान्य राजनीतिक प्रवृत्ति भी बंगाल में कुल मिलाकर अंग्रेजी शासन के पहले दशक में ही समाप्तप्राय हो गई थी।

इसी कारण जब सन् १८५७ के स्वातंत्र्य-युद्ध का प्रचंड दावानल आधे

हिंदुस्थान में भड़क रहा था, तब बंगाली जनता में नाममात्र की भी क्रांति की कोई चिनगारी नहीं भड़की। जिसका प्रचलित नाम 'बंगाल आर्मी' था, उस सरकारी सेना के विभाग में क्रांतिकारी षड्यंत्र हुआ और हिंदुस्थान की अन्य सेनाओं की तरह बंगाल आर्मी भी विद्रोह की राह पर चल पड़ी थी, यह सच है, पर 'बंगाल आर्मी' नाम का वास्तविक अर्थ ज्ञात न होने से अनेक लोगों की यह धारणा बनती है कि बंगाल ने भी सन् १८५७ के संघर्ष में भाग लिया था। यह धारणा गलत है। 'बंगाल आर्मी' का अर्थ कोई बंगाली सैनिक-बहुल सेना का विभाग नहीं था। सेना में सैनिक के रूप में उस समय का बंगाली समाज कभी भरती नहीं होता था। अत: उनकी बंगाली पल्टन कभी नहीं बनी। 'बंगाल आर्मी' नामक सेना वास्तव में अंग्रेजों द्वारा बंगाल में रखा हुआ सैनिक विभाग था। उसमें उत्तर प्रदेश के पुरबिया ब्राह्मण, कुछ पुरबिया मुसलमान और कुछ गैर-बंगाली सैनिक ही भरती थे। उससे बंगाली लोगों का कोई संबंध नहीं था।

बंगाल में जिस समय अंग्रेजी शिक्षा का प्रारंभ हुआ, उस समय मुसलिम समाज ने उस ओर झाँककर भी नहीं देखा। उनके मुल्ला-मौलवी मसजिद में जो कुछ कहते थे, उसीमें वे रँगे रहे। इसलाम का यथासंभव प्रचार, हिंदू-द्वेष और अंग्रेजों के स्वर में स्वर मिलाना—इसके अतिरिक्त अन्य कोई राजनीति बंगाली मुसलमानों में शेष नहीं थी। परंतु बंगाली हिंदू समाज ने अंग्रेजी शिक्षा में बहुत वेग से प्रगति की। इस कारण अंग्रेजों को नई राज-व्यवस्था स्थापित करने के लिए जो दूसरी श्रेणी के अधिकारी और लिपिकों की फौज चाहिए थी, वह मिलती गई। इसके विपरीत अंग्रेजी-शिक्षितों को छोटी-बड़ी जो नौकरियाँ तेजी से मिलती गईं, उसके कारण विद्यालयों-महाविद्यालयों में नामांकन के लिए भगदड़ मची रही। अनेक बंगाली हिंदू युवकों ने सीधे विलायत जाकर ब्रिटिश विश्वविद्यालयों से उपाधियाँ प्राप्त कीं। बड़ी-बड़ी सरकारी नौकरियाँ, वेतन, सम्मान, अधिकार—ये सब उन्हें मिलने लगे। इस तरह अंग्रेजी-शिक्षितों का एक नया वर्ग समाज में उत्पन्न हुआ। डॉक्टर, बैरिस्टर, संपादक, न्यायाधीश प्रभृति लोग उसमें से निकलते रहे। इससे वही वर्ग बुद्धिमान, मानवान और धनवान होता चला गया। समाज का नया नेतृत्व भी उसी वर्ग के हाथों में सहजता से चला गया। अंग्रेजों को यही चाहिए था। जिस कूट उद्देश्य से अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार अंग्रेजों ने चालू किया था, उसके अनुसार ही इस अंग्रेजी-शिक्षित समाज का मन भी अंग्रेजों ने जीत लिया था। अंग्रेजी शासन के कारण इस वर्ग की उन्नति होने से उनमें अंग्रेजी शासन के प्रति अपनापन बढ़ने लगा। यह शासन ऐसा ही बना रहे तो अपना अर्थात् देश का हित है, ऐसी उनकी भावना होती गई। वे राजनिष्ठ से अधिक ब्रिटिशनिष्ठ बन गए थे। समाज में

प्रमुखता, नेतृत्व और मार्ग प्रदर्शकत्व उन्हींको प्राप्त हो जाने से समाज में भी ब्रिटिश राजसत्ता के लिए अपनापन और निष्ठा की पकड़ बढ़ती गई। हम किसी परकीय विजेता के दास हैं, यह वेदना ही मिट गई। इसीलिए कुछ अपवादों को छोड़ दें और सामूहिक भावना की बात सोचें तो राजनीतिक असंतोष या राजनीतिक आंदोलन जैसा कुछ उस समय बंगाल में अस्तित्व में नहीं था। फिर क्रांति या सशस्त्र क्रांति की बात तो संभव ही नहीं थी। उस काल में अंग्रेजों को उस प्रांत से कोई विशेष चिंता नहीं थी।

सन् १८६० से १८८४ तक की अवधि में बंगाल में अंग्रेजी-शिक्षित वर्ग के नेतृत्व में यदि कोई आंदोलन जोर-शोर से चला था तो वह धार्मिक और समाज-सुधार का आंदोलन था। राजा राममोहन राय, टैगोर, केशवचंद्र सेन आदि प्रसिद्ध नेताओं की दो पीढ़ियों के प्रयास से बंगाल में 'ब्रह्मसमाज' का प्रचार, प्रतिष्ठा और प्रभाव बहुत बढ़ गया था। अंग्रेजी पढ़े हिंदू तरुणों में से बहुसंख्य के मन पर ब्रह्मसमाज के धर्ममत और आचार का प्रभाव था। बंगाल के हिंदू-समाज के आंदोलन के कारण धार्मिक, शैक्षणिक एवं सामाजिक जागृति व्यापक स्तर पर बड़े परिमाण में आई और अनेक प्रगामी सामाजिक सुधार हिंदू समाज के गले उतारे गए, यह बात सत्य है। परंतु ब्रह्मसमाज के प्रवर्तक एवं प्रमुख नेताओं से लेकर सर्वसाधारण युवा-से-युवा सदस्यों तक की मनोभूमिका में ब्रिटिश निष्ठा की जड़ें इतनी गहरी उतर गई थीं कि उनका रहन-सहन और आचार-व्यवहार ही नहीं, बल्कि उनके धार्मिक विचार भी पाश्चात्य जूठन और उधार लिया हुआ पाथेय लगे।

परंतु मिशनरियों से अधिक हिंदू समाज की दुर्दशा जब ब्रह्मसमाजी करने लगे—और वह भी हिंदुत्व पर चढ़े कलुष को साफ कर हिंदू समाज को अधिक तेजस्वी तथा ओजस्वी बनाने की अपनत्व-भरी महत्त्वाकांक्षा से प्रेरित होकर नहीं, अपितु हम हिंदू ही नहीं हैं, हमारा ब्रह्मसमाज तो एक नए धर्म का आविष्कार है और हम हिंदू समाज का भाग न होकर एक अलग स्वतंत्र समूह हैं, हिंदू समाज से फूटकर निकल जाने की बेशर्म धमकियाँ देते हुए—तब सनातन हिंदू समाज भी हड़बड़ाकर जागा और ब्रह्मसमाज का कट्टर विरोध करने लगा।

मिशनरी आरंभ से ही ब्रह्मसमाज को बढ़ावा दे रहे थे। हिंदू समाज को ढीला करने का अपना काम ब्रह्मसमाजी हिंदुओं द्वारा होता देखकर मिशनरियों को गुदगुदी होती थी। 'ब्रह्मसमाजी है' का अर्थ था कि वह ब्रिटिशनिष्ठ है। ऐसा विश्वास होने से ब्रिटिश शासन भी बड़े-बड़े ब्रह्मसमाजी नेताओं को मान-मान्यता देता था, समाज के प्रतिनिधि के रूप में उनको गौरवान्वित करता था।

ऐसी स्थिति में ब्रह्मसमाज का प्रभावी विरोध करने का एक ही अस्त्र

सनातनियों के हाथों में था और वह था जाति-बहिष्कार! आज यह अस्त्र पूर्व काल के अनेक आयुधों की तरह ही कुंठित हो गया है और फेंक भी दिया गया है। यह उचित ही है। तब भी उस काल में उस अस्त्र की धार के सामने मैं-मैं कहनेवाले अनेक नकली सुधारक थरथर काँपते थे। इस बहिष्कार की आँधी के चलते ही हिंदुओं के घरों में अशांति फैल गई। नाते-रिश्ते टूटने लगे। यह स्थिति कितने भयानक मोड़ पर जा पहुँची, इसका आकलन करने के लिए कालांतर में उदित उग्र राजनीतिज्ञ के रूप में ख्यात और देशभक्त के रूप में प्रसिद्ध विपिनचंद्र पाल का उदाहरण पर्याप्त है।

विपिनचंद्र पाल की आत्मकथा के अनुसार, बंगाल का लगभग पूरा अंग्रेजी-शिक्षित वर्ग उपर्युक्त सामाजिक एवं धार्मिक संघर्ष में ही भ्रमित और भारित पड़ा था, उसमें प्रभावी राजनीतिक चेतना उत्पन्न ही नहीं हुई थी। पाल बाबू की युवावस्था की कथा भी वैसी ही थी। उनकी युवावस्था का सारा उत्साह, शक्ति और समय ब्रह्मसमाज के प्रचार, आंदोलन और उसके उपपंथों के झगड़ों में नष्ट होता रहा। अपनी आयु के तीस वर्ष तक उन्होंने राजनीति में कोई रुचि नहीं ली थी। हर नए धर्म या पंथ में कुछ काल बाद अपरिहार्य रूप से जो फूट पड़ती है, वैसी फूट ब्रह्मसमाज में भी पड़ी और उपपंथों की स्थापना हुई। पाल बाबू उन उपपंथों में से एक में सक्रिय होकर युवा वय में ही 'ब्रह्मो' हो गए। उस समय ऊपर वर्णित जाति-बहिष्कार की परंपरा आरंभ हो गई थी। तरुण पाल जितने कट्टर ब्रह्मसमाजी थे, उनके पिता उतरती आयु में भी उतने ही कट्टर सनातनी थे। उन्हें अपने इकलौते पुत्र का 'ब्रह्मो' हो जाना जरा भी पसंद नहीं था। उन्होंने उन्हें परिवार और घर से निकाल दिया। इतना ही नहीं, 'उसे और उसकी संतान को भी मेरी मृत्यु के बाद मेरी संपत्ति का उत्तराधिकार नहीं मिलेगा'—ऐसा अपने मृत्यु-पत्र (वसीयतनामा) में साफ-साफ लिख दिया।

विपिन बाबू ने एक विधवा से ब्रह्मसमाजी रीति से विवाह किया था। उसे और उसकी संतान को पाल बाबू के पिता ने एक पैसा भी नहीं दिया। इस कारण विपिन बाबू को दरिद्रता से सतत संघर्ष करना पड़ा। कुछ वर्षों बाद जब उनके पिता ने खटिया पकड़ी, तब मृत्यु-शय्या से उन्होंने विपिन बाबू को अपनी संपत्ति में से कुछ अंश दिया, परंतु अपने इकलौते पुत्र के घर आने पर भी उन कृतनिश्चयी वृद्ध पिता ने मरते-मरते तक उस धर्म-बहिष्कृत पुत्र के हाथ का जरा भी अन्न-जल ग्रहण नहीं किया। सनातनी और समाजियों में जब ऐसा तीव्र संघर्ष चल रहा था, तब एक ओर विधवा विवाह, अंतरजातीय विवाह, समुद्रगमन आदि सामाजिक सुधार विरोध के बावजूद हिंदू समाज में मान्य होते चले गए। दूसरी ओर अपने उपपंथों की

मारामारी से तथा सनातनियों के प्रबल विरोध के कारण ब्रह्मसमाज हतबल, अनुपयोगी और शक्तिहीन होता चला गया। हिंदू समाज में से टूटकर अलग होनेवाले अनेक पंथों की जो गति हुई, वैसी ही गति ब्रह्मसमाज की भी हुई और वह हिंदू समाज में विलीन हो गया। वह सब कैसे हुआ, उसका विवरण यहाँ देना अनुपयुक्त है।

बंगाल का मुखर वर्ग इस तरह ब्रह्मसमाज के अधीन हो जाने से सन् १८८४ तक अधिकतर पूरे मन से ब्रिटिशनिष्ठ ही बना रहा। इस मत के समर्थन में एक ही साक्ष्य प्रस्तुत कर रहा हूँ। चूँकि वह अधिकृत है, इसलिए पर्याप्त भी है। ब्रह्मसमाज के उस काल के प्रमुख पीठाचार्य केशवचंद्र सेन—जिनकी ख्याति बंगाल भर में गूँज रही थी, जिनका शब्द बंगाल का प्रतिनिधि-शब्द माना जाता था—का मत, जिसे ब्रह्मसमाज के उस काल के कट्टर प्रचारक विपिनचंद्र पाल ने अपनी आत्मकथा के पृष्ठ ३१५ पर लिखा है, यहाँ ज्यों-का-त्यों उद्धृत है—Keshava Chandra and his Brahmo Samaj practically left the political field alone. If anything Keshava's politics accepted the British subjection of India as due to the intervention of God's special providence for the salvation of India.

इसका आशय है कि केशवचंद्र सेन और उनके ब्रह्मसमाज ने राजनीति के क्षेत्र में पैर भी नहीं रखा। उनका यदि कोई राजनीतिक सिद्धांत था तो यही कि हिंदुस्थान में स्थापित ब्रिटिश शासन हिंदुस्थान के हित के लिए कृपालु ईश्वर का दिया हुआ विशेष वरदान है।

कुछ मिशनरियों और ब्रिटिश सरकारी अधिकारियों ने ब्रह्मसमाज और उसके नेताओं का जो इतना बड़ा यशोगान उस समय किया, वह यों ही नहीं था। मैंने ऊपर जो लिखा है कि अंग्रेजों ने अंग्रेजी की शिक्षा जिस कूट उद्देश्य से चालू की थी, उनका वह उद्देश्य बंगाल के अंग्रेजी-शिक्षित वर्ग की दो-तीन पीढ़ियों तक तो सचमुच सफल ही रहा।

ब्रह्मसमाज की कला जैसे-जैसे उतरती गई, वैसे-वैसे बंगाल के अंग्रेजी-शिक्षित हिंदू समाज में राजनीतिक भावना जाग्रत होती गई। इस प्राथमिक राजनीतिक जागृति का श्रेय यदि किसीको प्रमुखता से दिया जा सकता है तो वह सुरेंद्रनाथ बनर्जी को दिया जाना चाहिए। बंगाल के आद्य राजनीतिक गुरु देशभक्त सुरेंद्रनाथ बनर्जी ही थे। परंतु उनके पूर्व चरित्र से यही सिद्ध होता है कि अपनी उम्र के तीस वर्षों तक अन्य अंग्रेजी-शिक्षितों की तरह ही उन्हें भी राजनीति का ऐसा ज्ञान नहीं था, आकर्षण तो बिलकुल ही नहीं था।

सुरेंद्रनाथ बीस वर्ष की उम्र को पार करने के पहले ही सन् १८६८ में सिविल

सर्विस की परीक्षा—जो उस समय की सबसे बड़ी परीक्षा मानी जाती थी—के लिए इंग्लैंड गए। तब तक राजनीति से उनका परिचय भी नहीं था। इंग्लैंड में भी पढ़ाई के सिवाय उन्होंने इधर-उधर ताक-झाँक नहीं की। परीक्षा उत्तीर्ण करके वे आई.सी.एस. हो गए। अर्थात् सरकारी नियमानुसार किसी-न-किसी उच्च अधिकारवाले पद पर उनकी नियुक्ति निश्चित थी। वे इसका इंतजार करते रहे, पर उन्हें यह सूचित किया गया कि 'तुमने अपनी वास्तविक आयु छिपाकर और परीक्षा के लिए नियत उम्र तक उसे घटाकर अपराध किया है।'

इस आरोप से मुक्त होने के लिए उन्हें बहुत कष्ट उठाने पड़े। परंतु अंत में वे निर्दोष सिद्ध होकर आरोप-मुक्त हुए। इसके बाद उनकी नियुक्ति बंगाल में सीधे मजिस्ट्रेट के पद पर हो गई। परंतु 'हम गोरों के साम्राज्य में एक 'नेटिव' (देसी) मनुष्य हमारी कुरसी से कुरसी मिलाकर ऐसे बड़े पद पर बैठे' यह बात उस काल के सत्ताभिमानी अंग्रेज अधिकारियों को काँटे की तरह चुभने लगी। उन्होंने शीघ्र ही सुरेंद्रनाथ को घात में लेने के लिए उनके कामकाज में एक चूक को निमित्त बना दिया। उसके आधार पर सरकार ने सुरेंद्रनाथ को अधिकारी पद से अपदस्थ कर दिया और इंडियन सिविल सर्विस की नौकरी के लिए अपात्र घोषित कर दिया।

इस असह्य अपमान और अन्याय के आघात से सुरेंद्रनाथ का स्वाभिमान जाग्रत हुआ। आंग्ल सत्ता द्वारा स्वदेश को पददलित होते हुए देखकर उस राष्ट्रीय अपमान से स्वाभिमान की जो ज्योति सुरेंद्रनाथ के हृदय में नहीं सुलग पाई, वह ज्योति आंग्ल सत्ता द्वारा किए गए वैयक्तिक अपमान से प्रज्वलित हो उठी। इन सब अपमानों का मूल इस देश की राष्ट्रीय दासता में है, यह सत्य उस अपमान से जगी ज्योति के प्रकाश में उन्हें साफ-साफ दिखाई देने लगा और सरकारी नौकरी का रास्ता छोड़ उन्होंने अपने को स्वदेश सेवा के लिए समर्पित करते हुए राजनीति में प्रवेश किया। परंतु उनकी राजनीति किस प्रकार की थी? राज्य की नहीं, राज्यक्रांति की तो बिलकुल नहीं। राज तो अंग्रेजों का ही रहे! उसमें कुछ सुधार हो, इतना ही। कुल मिलाकर शपथपूर्वक कही जा सकनेवाली ब्रिटिशनिष्ठ राजनीति। स्वयं सुरेंद्रनाथ महाशय ने अपनी राजनीति की रूपरेखा आत्म-चरित्र में अनेकशः चित्रित की है।

उस समय ऐसे बंगाली राजनीति के स्वरूप को आज अपने शब्दों में कहने की अपेक्षा उस समय के बंगाली नेताओं की भाषा में कहना अधिक यथातथ्य होगा। इसके लिए तत्कालीन 'गरम' नाम से प्रसिद्ध मुखपत्र—जिसके गरम पक्ष के कारण ब्रिटिश शासन ने उस पत्र पर राजद्रोह का मुकदमा चलाकर उसे बंद करने तक का विचार किया था—ऐसे एक बंगाली वृत्तपत्र में सरकारी आपत्तियों का उत्तर देने के लिए लिखे लेख का एक भाग विपिनचंद्र पाल के आत्म-चरित्र के

पृष्ठ २८१-२८२ पर दिया हुआ है, उसे ही यहाँ उद्धृत कर रहा हूँ। वह बंगाली पत्र लिखता है—

'अंग्रेज हमसे किस तरह की राजनिष्ठा की अपेक्षा करते हैं, वह हमें मालूम नहीं। हमें इतना ही ज्ञात है कि अंग्रेजी शासन हमारे लिए हितकारक होता आया है। किसी भी राज्य में और कभी भी इस देश में ऐसा न्याय, ऐसी शिक्षा और ऐसी शांति का लाभ नहीं हुआ था। बहुत क्या, प्राचीन हिंदू काल में भी आज के ब्रिटिश राज जैसा न्याय, शिक्षा और शांति पूरे देश में नहीं थी! यद्यपि बहुत बातों में हम पिछड़े हैं, फिर भी हम कोई जंगली या निर्बुद्धि लोग नहीं है। अंग्रेजों से अनेक बहुमूल्य लाभ हमें हुए हैं, यह हम जानते हैं। किसी भी विजयी राष्ट्र ने किसी भी विजित राष्ट्र से कदाचित् ही इतना उदार व्यवहार किया हो, जितनी उदारता से ब्रिटिश शासक हमारे देश की प्रजा से व्यवहार कर रहा है। यह सब सच होते हुए भी इसके लिए अंग्रेजों के हाथों कभी पक्षपात नहीं होता या उनके द्वारा दिए वचनों का पालन किया ही जाता है—ऐसा हमें क्या मानना ही चाहिए?

'अंग्रेजी शासन ईश्वरीय वरदान है। स्वयं रामराज्य की अपेक्षा या चंद्रगुप्त, अशोक, विक्रमादित्य, श्रीहर्ष, पुलकेशी आदि हमारे हिंदू सम्राटों के शासन से भी अधिक हितकारी यह परकीय शासन है। अत: इस ब्रिटिश शासन के प्रति राजनिष्ठ रहना और ब्रिटिश सम्राट् का कृपाछत्र हिंदुस्थान पर वैसा ही अभंग रहे, इसकी प्रार्थना करना, कृतज्ञता की दृष्टि से भी अपना नैतिक कर्तव्य है।' सन् १८८४ तक बंगाल के धार्मिक एवं राजनीतिक नेताओं तथा उनके लाखों आंग्ल शिक्षित या अशिक्षित अनुयायियों की यह राजनीतिक निष्ठा थी, यह बात उस समय के बंगाल के प्रतिनिधि, प्रमुख और इसके साक्षी केशवचंद्र सेन, सुरेंद्रनाथ बनर्जी तथा विपिनचंद्र पाल के ऊपर दिए उद्गारों से पूर्णत: सिद्ध होती है। फिर भी कई लोगों को कदाचित् ऐसा लग सकता है कि कहीं ऐसा तो नहीं कि उपरोक्त ढंग से व्यक्त की जानेवाली निष्ठा अंग्रेजी क्रिमिनल कोड की कैंची से बाहर बने रहने के लिए या राजनीति के एक दाँव के रूप में ऊपरी तौर पर प्रदर्शित की जाती हो? तो उस शंका के निवारणार्थ उस समय के प्रसिद्ध नेता विपिनचंद्र पाल का निम्नलिखित साक्ष्य देखें। अपने आत्म-चरित्र में इस शंका के विरुद्ध वे लिखते हैं—

'It was not merely a diplomatic move to save their skin. Educated Indian opinion in those days sincerely wanted the continuance of the British rule. The generation to which they belonged had not completely forgotten the last days of Moghal Empire marked by universal anarchy and disorder. The British

had replaced that reign of terror by a new reign of law. Their professions of loyalty to the British Government were therefore absolutely sincere not withstanding their criticism of the acts and policies of the Indian Government.' (Pal's autobiography, p. 291 to 293).

विपिन बाबू के उपर्युक्त विचार पूर्णत: यथार्थपरक हैं। उस अवधि में उनके स्वयं के विचार भी वैसे ही थे।

परंतु सन् १८६० से १८८४ तक की पीढ़ी की ही बात क्यों करें? मेरी स्वयं की पीढ़ी में ही ब्रिटिश सम्राज्ञी रानी विक्टोरिया अथवा ब्रिटिश सम्राट् 'न: विष्णु: पृथवीपति:' इस शास्त्राधार से कितने ही लोगों द्वारा ईश्वरांश माने जाते रहे। जिन अंग्रेज लोगों ने हमारे ऊपर अनंत उपकार किए, उनका शासन उखाड़ फेंकने की इच्छा करना नैतिक अपराध है, पाप है। अंग्रेजी राज का कृपाछत्र हमपर ऐसा ही अटूट बना रहे, उसीमें हमारा परम कल्याण है—ऐसी निष्ठा रखनेवाले अनगिनत आंग्ल-शिक्षित नए पदवीधारी और पुराने शास्त्री पंडित, नेता तथा अनुयायी, वृद्ध एवं तरुण पूरे हिंदुस्थान में थे। उनमें से कितनों का विचार-परिवर्तन हुआ, इसके अनेक उदाहरण मेरे इस आत्म-चरित्र के आगामी वृत्तांतों में दिखेंगे।

मद्रास, आंध्र, कर्नाटक एवं गुजरात प्रांत

सन् १८६० से १८८४ तक के कालखंड में जो राजनीतिक परिस्थिति बंगाल में थी, वह पंजाब और महाराष्ट्र को छोड़कर मद्रास, आंध्र, कर्नाटक एवं गुजरात प्रांतों के उस कालखंड की राजनीतिक परिस्थिति एवं अंग्रेजी-शिक्षित मानसिकता की सर्वसाधारण रूपरेखा है। सन् १८५७ के स्वातंत्र्य-युद्ध के समय बंगाल की तरह मद्रास, आंध्र, कर्नाटक और गुजरात प्रांतों में राष्ट्रीय ध्येय से अनुस्फूर्त ऐसा क्रांतिकारी उठाव नहीं हुआ। हिंदुस्थान सरकार की सेना में इन सब प्रदेशों के लोगों की गिनने योग्य भरती कभी हुई ही नहीं थी। सन् १८५७ के बाद अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार मद्रास प्रांत में बहुत तेजी से और अन्य प्रांतों में धीरे-धीरे हुआ, परंतु वह बढ़ता ही रहा। इस कारण आंग्ल-शिक्षितों का जो नया वर्ग वहाँ उत्पन्न हुआ, वह भी बंगाल जैसा ही पूरा ब्रिटिशनिष्ठ था। बंगाल में ब्रह्मसमाज जैसी एक प्रबल धार्मिक एवं सामाजिक संस्था का उदय होने से, उसकी चुभन से पूरे बंगाली हिंदू समाज में बड़ी खलबली मची, विचारों में तेजी आई, आचार में कुछ अंश में उपयुक्त सुधार हुए, लेकिन वैसा कोई प्रबल धार्मिक और सामाजिक आंदोलन उस कालखंड में मद्रास, आंध्र, कर्नाटक और गुजरात प्रांतों में नहीं हुआ। सन् १८८४ के आसपास अंग्रेजी-

शिक्षितों में कुछ राजनीतिक जागृति आने लगी। मद्रास में 'महाजन सभा' सन् १८८१ में स्थापित हुई, परंतु उसकी दौड़ भी बंगाल की तरह अधिक-से-अधिक कहें तो ब्रिटिश राज के सुराज तक ही सीमित थी।

बिहार एवं संयुक्त प्रांत

सन् १८५७ के स्वतंत्रता-संग्राम के बाद दिल्ली से नीचे बुंदेलखंड तक तथा बिहार एवं संयुक्त प्रांत की सारी जनता राजनीतिक दृष्टि से अचेतन हो गई थी। लेकिन उसका कारण अलग था। उस प्रचंड क्रांतियुद्ध का रणक्षेत्र यही बना था। स्वदेश एवं स्वधर्म की स्वतंत्रता के लिए उस युद्ध में अंग्रेजों से लड़ते हुए यहीं की जनता ने अपना रक्त, अपनी शक्ति और अपने प्राण इतनी उत्कटता से अर्पित किए थे और उस क्रांतियुद्ध में उनकी पराजय होने के बाद अंग्रेजों ने उनपर इतने अत्याचार किए थे कि लड़ते-लड़ते रणभूमि में मूर्च्छित होकर गिरे हुए किसी वीर की भाँति ही सारा विस्तीर्ण प्रदेश-का-प्रदेश मूर्च्छित पड़ा था। फिर धीरे-धीरे उनकी संतानें अंग्रेजों द्वारा स्थापित विद्यालयों और महाविद्यालयों में अंग्रेजी पढ़ने लगीं। उनको अंग्रेजी सरकार के सेवा विभाग, न्याय विभाग तथा आरक्षी विभाग में नौकरियाँ, अधिकार, पद और उपाधियाँ मिलने लगीं। इस नियत क्रम से अन्य प्रांतों के आंग्ल-शिक्षित वर्ग की तरह संयुक्त प्रांत का यह वर्ग भी विचार एवं आचार से ब्रिटिशनिष्ठ बनता गया जो सन् १८५७ के क्रांतिकाल की पीढ़ी की भव्य भावना से बिलकुल विसंगत, अधिकतर विरोधी था। हर कोई स्वार्थों में खोया हुआ था। आगे फिर जो थोड़ी राजनीतिक जागृति हुई, वह भी पूरी तरह मंद थी।

ब्रिटिशनिष्ठ सुराज के आंदोलनों में बंगाल में जितनी जोश और जान दिखाई देती थी, सन् १८८४ तक इस प्रांत के आंग्ल शिक्षित वर्ग की दुर्बल राजनीतिक हलचल उतनी भी नहीं थी।

□

प्रकरण–४

राजनीतिक परिस्थिति का प्रांतीय विश्लेषण

(सन् १८६० से १८८४ तक)

पंजाब और देसी राज्य

पंजाब

बंगाल, मद्रास इत्यादि प्रदेशों में अंग्रेजी सत्ता अच्छी तरह जम जाने अर्थात् पचास-पचहत्तर वर्ष बीत जाने तक भी पंजाब प्रांत में अंग्रेजी शासन स्थापित नहीं हो पाया था। सन् १८५७ के क्रांतियुद्ध के समय तक पंजाब की स्वतंत्रता का हरण हुए केवल नौ-दस वर्ष बीते थे। इसलिए अंग्रेजों को भी यह डर था कि पंजाब के सिख, जिनका राज कोई नौ-दस वर्ष पूर्व ही उनसे छीना गया था, अब उनके विरुद्ध विद्रोह कर सन् १८५७ के क्रांतिकारियों से मिले बगैर नहीं रहेंगे। क्रांतिकारियों ने भी सिखों को तरह-तरह से समझाया था कि 'अंग्रेजी सत्ता का जुआ' कंधे से उतार फेंकने का ऐसा स्वर्णिम अवसर फिर आनेवाला नहीं है। अंग्रेजों की सारी सेनाएँ हमसे लड़ने दिल्ली, लखनऊ और कानपुर की ओर भेजी गई हैं और पंजाब खुला पड़ा है। अतः तुम्हारी सिख पल्टनें यदि शेष मुट्ठी भर अंग्रेजों पर टूट पड़ेंगी तो पंजाब से अंग्रेजी सत्ता उखाड़ फेंकने में एक सप्ताह भी लगनेवाला नहीं है। इस प्रकार उन्हें सारे हिंदुस्थान से भगाया जा सकेगा।'

उस समय सिखों का कोई नेता नहीं था। जैसे किसी आदमी को अकस्मात् बुद्धिहीनता का दौरा पड़ जाता है, वैसे ही सिख समाज की बुद्धि भी कुंठित हो गई थी। उन्होंने अंग्रेजों से बदला लेकर अपना राज स्थापित तो किया नहीं, उलटे जिन लाखों क्रांतिकारियों ने दिल्ली से नर्मदा तक अंग्रेजी राज उखाड़ फेंका था, अपने उन

राष्ट्र-बंधुओं के पैरों में विदेशी शत्रु की बेड़ियाँ फिर पक्की करने के लिए युद्धभूमि में प्राणों की बाजी लगाकर अंग्रेजों का साथ दिया। अंत में क्रांतिकारियों को पराजित कर अंग्रेजों ने विजय पाई, उन्हें राज मिला, परंतु सिखों को क्या मिला? अंग्रेजी सेना में भरती और ब्रिटिश राज के 'राजनिष्ठ प्रजाजन' अर्थात् एकनिष्ठ दास की पदवी!

उस क्रांतियुद्ध की पराजय के बाद अन्य प्रांतों की तरह ही पंजाब में भी अंग्रेजी सत्ता निरंकुश होकर राज करने लगी। अंग्रेजी शासन की व्यवस्थाएँ चालू हो गईं और उनको चालू रखने के प्रयोजन से अंग्रेजी-शिक्षित लिपिक एवं द्वितीय श्रेणी के अधिकारियों की पूर्ति के लिए अंग्रेजी विद्यालय-महाविद्यालय खुलने लगे। बंगाल तथा मद्रास की पीढ़ियाँ जब अंग्रेजी-शिक्षित हो गए, तब पंजाब के लड़के ए.बी.सी.डी. सीखने लगे। तब तक सारा राजकाज उर्दू-फारसी में चलता था। अतः प्राथमिक शालाओं में मुसलमान शिक्षकों का ही बोलबाला था। बंगाल में जैसे अंग्रेजी पढ़ाने के बहाने हिंदू लड़कों पर ईसाई धर्म के संस्कार डालने के प्रयास मिशनरी शिक्षक करते थे, वैसे ही, अपितु उससे भी अधिक, अनिर्वचनीय और आपत्तिजनक ढंग से ये मुल्ला-मौलवी विद्यालयों और घरों में पढ़ाते समय हिंदू लड़कों पर इसलाम का प्रभाव डालकर उनका मुसलिमीकरण करने का प्रयास करते थे। बंगाल में अंग्रेजी शासन-काल की पहली-दूसरी पीढ़ी के शिक्षित हिंदू तरुणों का झुकाव जैसे ईसाई धर्म की ओर हो जाता था, वैसे ही पंजाब के हिंदू तरुणों का झुकाव मुसलिम धर्म की ओर हो जाता था। पंजाब में अंग्रेजी शिक्षा फैलने के कारण उस अंग्रेजी-शिक्षित हिंदू वर्ग पर बंगाल की तरह ही ब्रह्मसमाज का प्रभाव पड़ेगा, इस आशा से ब्रह्मसमाज ने पंजाब में भी एक शाखा आरंभ की थी। वह (ब्रह्मसमाज) अपने प्रचार में प्रायः हिंदू समाज की निंदा ही करता था, मुसलमानों या ईसाइयों की धार्मिक या सामाजिक पोलें खोलने की उसकी तनिक भी हिम्मत नहीं होती थी। ब्रह्मसमाज की ऐसी पक्षपातपूर्ण और कायरों जैसी हिंदू-निंदा से मुसलमानें एवं ईसाइयों के हाथ मजबूत ही होते थे। इससे हिंदुओं का धैर्य टूटता था। इस प्रकार जहाँ हिंदू समाज की अस्मिता क्षीण होती जा रही थी, वहाँ कैसी राजनीतिक जागृति और क्या अन्य बातें?

ऐसे घोर मानसिक और आत्मिक अंधकार में टटोलते चल रहे पंजाब के हिंदू समाज को मिला अकस्मात्—'मा भीः डरो नहीं'—ऐसा आश्वासन देनेवाला आकाशवाणी-सदृश स्वामी दयानंद सरस्वती का संदेश। निस्संदेह मुसलमानों और ईसाइयों की कैंची में फँसे पंजाब के हिंदू समाज को यदि किसी महापुरुष ने कम-से-कम धार्मिक और सामाजिक संकट से मुक्त कराया तो वह स्वामी दयानंद सरस्वती ही थे। उसमें भी सौभाग्य की बात यह कि दयानंद के आर्यसमाज की सारे

हिंदुस्थान में प्रबल अगुवाई यदि किसीने की, तो वह पंजाब के अंग्रेजी पढ़े-लिखे वर्ग ही थे। रोगी के लिए आवश्यक रामबाण औषधि उसे मिली और वह भी समय पर। पंजाब के संशयात्मा हिंदू समाज के लिए ब्रह्मसमाज मारक था। जमे-जमाए रोग पर वह पुराणोक्त कुपथ्य के समान था। उस परिस्थिति से उसको तारने में आर्यसमाज ही समर्थ हुआ।

ब्रह्मसमाज रूपी भवन का निर्माण परकीय संस्कृति की नींव पर हुआ था, परंतु आर्यसमाज मंदिर स्वकीय संस्कृति की नींव पर खड़ा था। इसलिए एक ओर मुसलमानी प्रचार-आक्रमण और दूसरी ओर अंग्रेजी शिक्षा के स्वत्व-घातक कुसंस्कार—इन दोनों को मार गिराने में सापेक्षतः समर्थ, प्रबल सिद्धांत और अग्रगामी सुधार पर आधारित स्वामी दयानंद का आर्यसमाज ही उस परिस्थिति में पंजाब के हिंदुओं का युगधर्म बनने के योग्य था। परिणाम भी वही हुआ। जिनके भी मन पर आर्यसमाज का प्रभाव पड़ता था, वे हिंदू सिर्फ स्वधर्म ही नहीं, स्वराष्ट्र के भी कट्टर उपासक बन जाते थे। कुल मिलाकर यही कहा जाएगा कि अंग्रेजी पढ़ा-लिखा हिंदू वर्ग आर्यसमाजी हो गया। वह नव चैतन्य से भर गया। उनमें से अनेक प्रमुख लोगों ने स्वधर्म प्रचारार्थ संन्यासी बनकर समाज-सेवा स्वीकार की। बड़ी-बड़ी शिक्षण-संस्थाएँ स्थापित कीं। आर्यसमाज के ऐसे सावेश प्रचार में वहाँ का बुद्धिशील वर्ग तद्रूप और तल्लीन हो गया।

सारे ही हिंदू नेताओं का ध्यान इस धार्मिक आंदोलन में पूरी तरह लग जाने से पंजाब में प्रचलित राजनीतिक जागृति लाने के कार्य में इस वर्ग की ओर से उदासीनता बरती जाने लगी। आर्यसमाज भी धार्मिक और सांस्कृतिक संस्था थी, यह बात सच थी। स्वामी दयानंद के 'सत्यार्थ प्रकाश' में राजनीति भी धार्मिक कर्तव्य ही है। इतना ही नहीं, अपितु स्वराज नीति ही आर्यों की वास्तविक राजनीति है, यह बात स्पष्टता से उस ग्रंथ के एक स्वतंत्र समुल्लास में आदेशित है। इसीलिए पहले से ही अंग्रेजों की दृष्टि आर्यसमाज पर थी। अंग्रेज सरकार के कोप से अपनी संस्था को कोई हानि न हो, ऐसा कोई कारण भी अंग्रेज सरकार को न मिले, इसलिए आर्यसमाज के नेताओं ने पहले ही जताते हुए ऐसा बंधन अपने ऊपर लाद लिया था कि आर्यसमाज केवल धार्मिक और सामाजिक संस्था है, उसका राजनीति से कोई लेना-देना नहीं है। आर्यसमाज के प्रमुख नेताओं से लेकर सामान्य सभासदों तक कोई भी प्रचलित राजनीति में ऐसी भागीदारी न करे जो अंग्रेजी राजसत्ता की दृष्टि में चुभे, यह प्रतिबंध इस समाज ने स्वयं ही स्वीकार किया था।

इस तरह सन् १८६० से १८८४ तक की पंजाब की स्थिति राजनीतिक

दृष्टि से देखें तो कहा जा सकता है कि सिख समाज अपनी ब्रिटिश निष्ठा के कारण ब्रिटिश सेना का भरती-क्षेत्र बन गया था। मुसलिम समाज अवसर मिलते ही हिंदू समाज को तो डंक मारता रहा, पर शक्तिशाली ब्रिटिश सरकार के आगे दीन बना रहा जबकि प्रबुद्ध हिंदू समाज धार्मिक, शैक्षणिक और सामाजिक आंदोलनों में सम्मिलित हुआ और प्रचलित राजनीति से दृढ़तापूर्वक निर्लिप्त बना रहा। परिणामत: सन् १८८४ तक बंगाल में सुरेंद्र बाबू की प्रेरणा से राजनीतिक प्रगति सुराज की माँग तक आ पहुँची थी, जबकि पंजाब में राजनीतिक हलचल भी शुरू नहीं हुई थी।

इसमें एक अपवाद भी था और वह भी 'सौ चोट सुनार की तो एक चोट लुहार की' वाले न्याय की भाँति। इस सारी राजनीतिक उदासीनता का बदला एक ही प्रहार से लेनेवाले गुरु रामसिंह कूका के सन् १८७० से १८७४ तक चले सशस्त्र क्रांतिकारी आंदोलन का वृत्त हम सुसंगत स्थान पर देंगे। यहाँ इतना ही कहना काफी है कि जिस प्रकार मध्य रात्रि के अंधकार में बिजली चमक जाने के बाद भी अँधियारा बना रहता है, उसी प्रकार क्रांति की यह आग क्षण में लगी और क्षण में बुझ गई; पंजाब राजनीतिक अंधकार में वैसा ही सोया रहा।

उस समय पंजाब की राजनीतिक और सामाजिक परिस्थिति की उपर्युक्त रूपरेखा सही है या नहीं, यह देखने के लिए पंजाब के अर्वाचीन राजनीतिक गुरु के रूप में सम्मानित लाला लाजपतराय के आत्म-चरित्र का कुछ भाग यहाँ उद्‌धृत किया जा रहा है—

''मेरे पिताजी बचपन में जिस विद्यालय में पढ़ते थे, उसका मुख्याध्यापक एक कट्टर मुसलमान मौलवी था। सभी (हिंदू) लड़कों पर उसका प्रभाव इतना अधिक था कि उनमें से बहुत से लड़के धर्म-परिवर्तन कर मुसलमान हो गए थे। जिन्होंने खुले रूप में धर्म नहीं बदला, वे भी अपने धर्म पर विश्वास उठ जाने के कारण मन से मुसलमान हो गए थे। मेरे पिताजी दूसरे वर्ग में आते थे। वे दैनिक नमाज पढ़ते थे। 'रोजा' रखते थे। वे हिंदू धर्म और आर्यसमाज के कट्टर शत्रु थे और समाचारपत्रों में उसके विरुद्ध तीखे लेख लिखते थे। मेरी माता सर्वधर्मपरायण सिख परिवार की थीं। मेरी माता को मेरे पिता 'ऐसा करो, वैसा करो, नहीं तो मैं खुल्लमखुल्ला मुसलमान हो जाऊँगा' कहकर डाँटते रहते थे। बचपन में मुझे भी पिताजी ने थोड़ा-बहुत कुरान पढ़ाया। उनकी देखा-देखी मैं भी नमाज पढ़ता था, मुसलमानों के रोजा (उपवास) भी करता था। विद्यालय में मुझे अरबी, फारसी भाषाओं और इसलाम धर्म की शिक्षा दी जाती थी। इन सब बातों से मुझे लगने लगा था कि हिंदू और सिख—दोनों ही धर्ममत अंधविश्वास और मूर्खतापूर्ण किस्से-

कहानियों से ओत-प्रोत हैं।

'सन् १८८२ से पंडित गुरुदत्त से मेरी मित्रता बढ़ने लगी। इस मित्रता से धर्म-संबंधी मेरे विचारों को गति मिली और उन्हें राजनीतिक स्वरूप मिला। जैसे-जैसे यह भावना बलवती होती गई, मैं इसलाम धर्म के संस्कारों से दूर होने लगा।'

इसके पश्चात् पंडित गुरुदत्त के समान ही लाला हंसराज, लाला साईंदास आदि आर्यसमाज के महान् त्यागी विद्वान्, संस्कृतज्ञ और स्वधर्मनिष्ठ नेताओं से लाजपतराय का परिचय हुआ। इससे बाल्यकाल से उनके मन पर जमी धार्मिक पाखंड की काई दूर होती गई। आर्यसमाजी वाङ्मय के अध्ययन से उनको प्राचीन भारतीय इतिहास और वैदिक धर्म के मूल तत्त्वों का सत्य ज्ञान हुआ। मुसलिम और ईसाई उपदेशकों की बातें कितनी निंदनीय होती हैं, यह बात समझ में आने लगी। उनका राष्ट्रीय स्वाभिमान जाग उठा। किसी प्राणलेवा संकट से बचकर पुनर्जन्म होने जैसा आनंद लाजपतराय को प्राप्त हुआ। वे लिखते हैं—'मैं फिर से हिंदू हो गया! पाठक ध्यान दें कि जिसका बचपन मुसलमानी वातावरण में बीता, तरुणाई के प्रारंभ में जो ब्रह्मसमाजी बना, वही मैं पंडित गुरुदत्त, लाला हंसराज आदि की सहायता से प्राचीन आर्य संस्कृति एवं धर्म का भक्त बना! मैं फिर से हिंदू हो गया।

'राष्ट्र की एकता के लिए पूरे भारत में नागरी लिपि और हिंदी भाषा का प्रचार होना आवश्यक है, ऐसा जब मुझे लगने लगा, तब अंबाला में जाकर मैंने उर्दू के विरुद्ध भाषण दिया। पंजाब में उस समय अधिकतर सरकारी कामकाज, बाजार, समाचारपत्र आदि की भाषा उर्दू ही थी। संस्कृत का ज्ञान और नागरी लिपि तो शिक्षित हिंदू वर्ग भी भुला बैठा था—पंडित वर्ग तो नामशेष ही हो गया था। हिंदी भाषा और नागरी लिपि का प्रचार होना चाहिए, यह बात मैंने बड़े आग्रह से व्याख्यान में कही। उसपर टीका हुई। मैंने नागरी वर्णाक्षर सीखना चालू किया। हिंदी पर ही सारा ध्यान केंद्रित करने के लिए मैंने अरबी-फारसी पढ़ना पूरी तरह बंद कर दिया। पंडित गुरुदत्त के प्रोत्साहन से मैंने संस्कृत भी सीखनी चाही, परंतु सीख नहीं पाया।'

पंडित गुरुदत्त की तरह ही लाला साईंदास भी वैदिक धर्म और संस्कृति के कट्टर प्रचारक थे। लाजपतराय लिखते हैं—''लॉर्ड रिपन के सार्वजनिक सत्कार के समय बनारस के पंडितों ने लॉर्ड रिपन की गाड़ी स्वयं खींची, यह सुनकर लाला साईंदास को बहुत दुःख हुआ। पंडितों के इस कृत्य से हिंदू धर्म के मुख पर कालिख लग गई, ऐसा उन्होंने कहा।'

लालाजी आगे लिखते हैं—'कुल मिलाकर परिस्थिति ऐसी होते हुए भी मेरे राजनीतिक विचार अधिक स्पष्ट नहीं थे। आर्यसमाज के मंच से जो व्याख्यान मैंने

उस अवधि में दिए, उनमें मैं ब्रिटिश सरकार की स्तुति करता था। मुसलमानों के अत्याचारों से अंग्रेजों ने हमें मुक्त किया, ऐसा मुझे लगता था। साधारण जनता का भी मत ऐसा ही था। सन् १८८३ से १८८५ के मध्य तक मेरे इन राजनीतिक विचारों में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ; उनमें परिवर्तन होने जैसा कोई अवसर भी नहीं आया।'

बंगाल में अंग्रेजी शासनकाल में राजनीतिक आंदोलन के जन्मदाता जैसे सुरेंद्रनाथ बनर्जी थे, वैसे ही पंजाब के आधुनिक राजनीतिक आंदोलन के आद्य गुरु लाला लाजपतराय थे। उन्होंने अपने आत्म-चरित्र में प्रामाणिकता और स्पष्टता से जो कहा है, उससे सन् १८८४ तक अर्थात् १८७४ में पंडित रामसिंह कूका के अनुयायियों द्वारा अंग्रेजों के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह प्रारंभ करने के दस वर्ष बाद भी यदि स्वयं लाजपतरायजी को ऐसा लगता था कि 'अंग्रेजों का राज ही ठीक है' तो पंजाब की सामान्य जनता और अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों का मन भी वैसा ही था, इसमें क्या आश्चर्य!

देसी राज्य

सन् १८५७ के क्रांतियुद्ध को दबाने के लिए जिस किसी प्रकरण में अंग्रेजों को हार खानी पड़ी, उसमें से पहली मुख्य बात यह थी कि अंग्रेज सरकार भारतीय लोगों के धर्म में प्रत्यक्ष या परोक्ष हस्तक्षेप नहीं करेगी, यह बात अंग्रेज सरकार ने मान ली। जैसे पहले मिशनरियों के प्रचार में अंग्रेज अधिकारी खुला प्रोत्साहन और सुविधा देते थे या स्वयं ही मिशन का कार्य करते थे, वैसा अब अधिकतर बंद हो गया। दूसरी बात यह कि डलहौजी ने दत्तक प्रकरण में हस्तक्षेप कर देसी राज हड़पने की जो जोरदार मुहिम चला रखी थी, वह बंद करके अंग्रेज सरकार ने 'दत्तक अधिकार' मान्य किया तथा यह बात भी स्वीकार की कि देसी राज्यों के अस्तित्व को सहसा चोट नहीं पहुँचाई जाएगी। उसी कारण विशेष आपत्तिजनक विरल प्रकरण छोड़ दें तो अंग्रेज सरकार ने देसी राज्यों का अस्तित्व समाप्त करने का साहस फिर नहीं किया। सन् १८५७ के युद्ध में अंग्रेजों से लड़ने के दौरान हजारों लोगों द्वारा किए गए प्राण-दान के फलस्वरूप ही शेष देसी राज्यों के प्राण बचे। उनको जीवन की नई संधि मिली, मगर प्राण पर बीते हुए उस संकट का जो भयानक प्रभाव देसी राज्यों पर हुआ, उससे ब्रिटिश सत्ता पहले से अधिक प्रबल और सुदृढ़ हो गई। उसने देसी राज्यों के पैरों में इतनी बेड़ियाँ डालीं कि उन महाराजाओं को सार्वदेशिक राजनीतिक प्रश्न पर मुँह खोलने की हिम्मत नहीं हो पाती थी। इतना ही नहीं, अपने राज्य में जनता का किसी राजनीतिक प्रवृत्ति से दूर

का भी संबंध बन सके, ऐसी संस्था या ऐसे शब्द भी कोई न निकाले, इसके लिए अधिकतर राजे-महाराजे स्वयं कड़ी निगरानी रखते थे। ब्रिटिश साम्राज्य के गौरव एवं अपनी अथाह राजनिष्ठा के भव्य प्रदर्शन का कोई भी अवसर वे और उनकी जनता खाली नहीं जाने देते थे। कुछ अपवाद छोड़ दें तो देसी राज्यों में ब्रिटिश-विरोधी राजनीतिक आंदोलन तो क्या, सामान्य स्वराष्ट्र-भक्ति का अंकुर भी नहीं फूट पाया था, यह कहने की आवश्यकता नहीं है।

□

प्रकरण–५

राजनीतिक परिस्थिति का प्रांतीय विश्लेषण

(सन् १८६० से १८८४ तक)

महाराष्ट्र

इस ग्रंथ के लिए हिंदुस्थान के प्रमुख प्रांतों की तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति का आवश्यक अवलोकन करने के बाद अब अंत में महाराष्ट्र की तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति का भी संक्षिप्त अवलोकन करें। महाराष्ट्र को अंत में लेने का कारण यह है कि अन्य प्रांतों में न दिखनेवाली जो अधिकतर राजनीतिक विशेषताएँ महाराष्ट्र में हैं, उनका सीधा संबंध इस ग्रंथ के अगले भाग से है।

बंगाल, मद्रास और अनेक प्रांतों में अंग्रेजी राजसत्ता स्थापित होने के कई शतक पूर्व तक वहाँ मुगलों के अत्याचारों का नंगा नाच हो रहा था। अत: धर्मोच्छेदक एवं तानाशाही मुगल शासन चला गया और सापेक्षत: ठीक–ठाक विधिसम्मत अंग्रेजी राज आया। वहाँ की सामान्य जनता को पहले यह कैसे अच्छा लगा और अंग्रेजों के विरुद्ध असंतोष क्यों नहीं हुआ, यह पहले साधार कहा जा चुका है। परंतु महाराष्ट्र की सामान्य जनता की मन:स्थिति अंग्रेजी राज आने के आरंभ से समूहत: विपरीत थी।

केवल महाराष्ट्र ही नहीं, बल्कि अधिकांश हिंदुस्थान पर अधिकार जमाने के लिए अंग्रेजों को यदि किसी सबल शक्ति से लड़ना पड़ा था तो वह मराठी साम्राज्य ही था। हिंदुस्थान की स्वतंत्रता के लिए अंग्रेजों से प्रखर युद्ध दो हिंदू शक्तियों ने किया था। पहले और लंबे समय तक हिंदुस्थान भर के लिए मराठे लड़े और अंत में केवल पंजाब के लिए हमारे शूर धर्मबंधु सिख लड़े। इन दोनों युद्धों में अधिक संगठित और क्षमतावान ब्रिटिश जीते तथा मराठे और सिख हारे।

उपर्युक्त दोनों युद्धों में सिख तो कुल दस-बीस वर्षों में ही अपने पराभव को इतना भूल गए कि अपना पंजाब राज्य छीन लेनेवाले ब्रिटिशों की सेवा के लिए उन्होंने पूरे मन से अपनी निष्ठा समर्पित कर दी। इसके विपरीत पूर्णता में देखें तो अपने पराभव और ब्रिटिश सत्ता की स्थापना का काँटा मराठों के मन में सतत चुभता ही रहा। महाराष्ट्र की सर्वसामान्य जनता को भी—'ह्या घरांत शिरला प्रबल शत्रु पारखा' (यह घर में घुसा प्रबल शत्रु परदेसी है)—इसका घाव रहा। अपने हाथ में आया हुआ अखिल भारत का प्रभुत्व, प्रस्थापित की हुई हिंदू पदपादशाही इन अंग्रेजों ने देखते-देखते छीन ली, इसकी महाराष्ट्र को मन-ही-मन बड़ी चिढ़ थी। अपने वैभव और पराभव की ताजा स्मृति तब तक किसी भी तरह बुझ नहीं पा रही थी। रामेश्वर से अटक तक मैदान मारते उनके अश्व-दल अभी तक उनको स्वप्न में दिखते थे। सिंधु नदी का पानी पी चुके उनके हजारों विजयी घोड़ों की टापों की ध्वनि अभी भी उनकी नींद उड़ाती थी। ब्रिटिशों से हुआ अपना यह वैर वे भूले नहीं थे। उस वैर के कारण ही सन् १८५७ के क्रांतियुद्ध में नाना साहब, बाला साहब, तात्या टोपे, रानी लक्ष्मी बाई प्रभृति पराक्रमी नेताओं ने रणांगण में उन ब्रिटिशों का रक्त बहाते लगभग तीन वर्ष तक भयंकर लड़ाई लड़ी। उनकी पराजय हुई। उन्हें नि:शस्त्र किया गया। ब्रिटिशों ने उन्हें सेना में भी नहीं लिया। सैनिक परंपरा और सैन्य गुण घटने लगे। दरिद्रता, दुष्काल तथा दुर्दशा के चक्र में वे पिसते रहे। परराज का दु:ख था, पर स्वराज प्राप्त करने का कोई रास्ता दिखाई नहीं दे रहा था। फिर भी मराठी स्वराज और साम्राज्य के समय जिन्होंने बड़े-बड़े पराक्रम किए और मान-सम्मान भोगा, उन राजा-महाराजा, सरदार, जागीरदार, वतनदार, शास्त्री पंडित, गडकरी, मानकरी, शिलेदार, बारगीर इत्यादि लोगों के पुत्र या पौत्र, जो गाँव-गाँव में बिखर गए थे, में से अधिकतर ब्रिटिशों के विरुद्ध मन-ही-मन सुलग रहे थे जिन्होंने स्वराज छीन लिया था। परंतु वे ब्रिटिशों के कड़े शासन में अकर्मण्य, अवश, असंगठित और अवाक् थे।

सारांश यह कि संपूर्ण महाराष्ट्र राज्य पर तो ब्रिटिशों द्वारा पूर्णत: अधिकार कर लिया गया था, परंतु अभी महाराष्ट्र का मन पूर्णत: जीता नहीं गया था।

पराजितों का मन जीतने के लिए अंग्रेजों ने हिंदुस्थान भर में अंग्रेजी शिक्षा एवं मिशनरी-प्रचार की जो योजना बनाई थी, उसका प्रयोग महाराष्ट्र में भी किया गया। परंतु मद्रास, बंगाल आदि प्रांतों में जो प्रयोग अपेक्षा के अनुकूल सफल हुआ, वह महाराष्ट्र में उतना सफल नहीं हुआ। इतना ही नहीं, ब्रिटिशों को दस-बीस वर्षों में ही यह चिंता सताने लगी कि इस योजना से ब्रिटिश-द्रोह बढ़ रहा है।

महाराष्ट्र में अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों का जो नया वर्ग अंग्रेजों ने बनाया,

स्थूल रूप में उसके तीन पक्ष थे।

पहला पक्ष, जैसा बंगाल के प्रकरण में हमने 'ब्रिटिशनिष्ठ पक्ष' वर्णित किया था—उस तरह का अंग्रेजी-शिक्षित महाराष्ट्रीय 'ब्रिटिशनिष्ठ पक्ष' था। स्वराज गया तो यह अच्छा ही हुआ; हिंदुस्थान के कल्याण के लिए ईश्वर ने हमें ब्रिटिश राज वरदान में दिया है। उनकी सत्ता और कृपाछत्र हमपर कम-से-कम तीन-चार शतक तो रहे ही, इसीमें हमारा कल्याण है। हमारे सारे पूर्वज अनाड़ी, धर्म के विषय में अंधविश्वासी और मूर्ख थे। नाना फड़नवीस आज होता तो वह पागल ही माना जाता। सन् १८५७ में हुआ विद्रोह स्वदेश पर पड़ी आपत्ति ही थी। तब के उन अधम विद्रोहियों ने राक्षसी अत्याचार का जो कृतघ्न राजद्रोह किया, उससे हमारे राजनिष्ठ मुँह पर कालिख पुत गई, परंतु क्षमाशील ब्रिटिशों ने हमारे महापापों को क्षमा कर हमारे हाथों में अपनी रानी का घोषणा-पत्र दे दिया। वह हमारा 'मैग्नाकार्टा' है। अंग्रेज न्यायी हैं। हमारा उद्धार कर वे हमें हमारा राज लौटा देंगे। परंतु वे कृपालु होकर वैसा करने की जल्दबाजी न करें।

ये थे वे सूत्र जो वे ईश्वरप्रदत्त व्यवस्था (Providential Dispensation) वाले पक्ष की पाटी पर पूजते थे। वे उसका जाप नित्य करते थे।

उदाहरणार्थ, इस पक्ष के एक धुरंधर राव साहब मंडलीक सन् १८५७ के क्रांतियुद्ध के लिए कहते थे, 'यह जो मूर्खता के कारण विस्फोट हुआ, वह हमारे लिए संकट ही है। राज्य में सुधार करने तथा न्यायाकांक्षी को न्याय देने की व्यवस्था करने की कंपनी की इच्छा है। पर अब इस 'शिपायांच्या बंडामुळे' (सिपाही विद्रोह) से हम कितने पिछड़ जाएँगे, पता नहीं।'

उस समय के दूसरे विद्वान् विनायक कोंडदेव ओक ने सन् १८५७ के विद्रोही सिपाहियों को 'शिपायांच्या बंडामुळे' अनुप्रासयुक्त अभद्र भाषा में 'भंड, गुंड, पुंड' आदि कहा था। रायबहादुर गोपालराव हरि देशमुख ने गणना करके लिखा था—'अंग्रेजों में साधारण व्यक्ति भी हिंदुओं से हजारगुना श्रेष्ठ है।' (मुसलमानों की अपेक्षा वह कितना गुना श्रेष्ठ है, यह कहने की हिम्मत रायबहादुर महोदय को नहीं हुई।) 'वर्तमान में अंग्रेज हिंदुओं से सौगुना चतुर हैं और वह चतुराई हिंदू लोगों को मिले, इसलिए यह देश ईश्वर ने उनके हवाले किया है।' (शतपत्री)। इस तरह विचार करनेवालों के पक्ष में कुछ बड़े विद्वान्, कुछ सच्चे देशभक्त और बाकी पेटू और अवसरवादी डॉक्टर, बैरिस्टर, आई.सी.एस. सरकारी नौकरी के अभिलाषी आदि छुटभैये लोग थे। फिर भी जैसे बंगाल, मद्रास आदि प्रांतों में अधिसंख्य अंग्रेजी-शिक्षित इस ब्रिटिशनिष्ठ पक्ष के थे और उनमें अपवाद कम ही थे, वैसी स्थिति महाराष्ट्र की नहीं थी, उसके बिलकुल विपरीत थी। अंग्रेजी-शिक्षितों में भी

ब्रिटिशनिष्ठ पक्ष अधिक नहीं था। परंतु ब्रिटिश सरकार जान-बूझकर उन्हें तथा उनके द्वारा स्थापित संस्थाओं को, उनके द्वारा प्राप्त आवेदनों को ही सारी जनता के वास्तविक प्रतिनिधि, लोकमत-प्रदर्शक मानती थी, सार्वजनिक समस्याओं में उनके शिष्टमंडलों की ही बात सुनती थी। देना-लेना कुछ नहीं, पर सुन लेना। सरकार के दरबार में उन्हें 'आइए, बैठिए!' कहा जाता था।

उनके पक्ष में पूरी तरह सम्मिलित न होने पर भी नेतृत्व की माला जिसके गले पड़ी और जिसने उसे स्वीकार किया था, उस एक महान् व्यक्तित्व का उल्लेख स्वतंत्र रूप से करना आवश्यक है। उनका नाम था रायबहादुर महादेव गोविंद रानडे। यह बात सच है कि Providential Dispensation (विधिलिखित राजव्यवस्था) शब्द का उच्चारण वे भी बार-बार करते थे। अंग्रेजों का शासन ईश्वर के वरदान रूप में हमें मिला है; वह हमारे हित में ही है, ऐसा वे भी कहते रहते थे। वे ब्रिटिश सेवा में न्यायाधीश के ऊँचे पद पर आसीन थे और वह नौकरी छोड़ना उन्हें उचित नहीं लगता था अथवा राजद्रोही या राजनीतिक कार्यकर्ताओं की काली सूची में उनका पक्ष न आए, इसलिए वह पद छोड़ना नहीं चाहते थे। परंतु हाँ, उपर्युक्त वाक्य उनके केवल मुँह से ही निकलते थे या उसके तार हृदय से भी जुड़े थे, यह निश्चित रूप से आज भी नहीं कहा जा सकता। वह चाहे जो हो परंतु रायबहादुर न्यायमूर्ति रानडे द्वारा ऐतिहासिक, अर्थशास्त्रीय, सामाजिक, धार्मिक एवं विशेषत: राजनीतिक राष्ट्र-जीवन के अंग-प्रत्यंग में नवजीवन का संचार करने के लिए छोटी-बड़ी संस्थाओं की स्थापना कर, उन्हें चलाकर, बिखरे समाज को संगठित कर उसे सक्रियता की ओर अग्रसर करने के लिए जितनी महान् लोक-सेवा की गई, उन उपकारों को महाराष्ट्र ही नहीं, हिंदुस्थान भी कभी भुला नहीं सकता। यहाँ यह बात भी ध्यान में रखने लायक है कि 'ब्रिटिशनिष्ठ' समझे जानेवाले और 'रायबहादुर', 'न्यायमूर्ति' आदि ब्रिटिश अलंकरणों से शोभित रानडे के तार 'सशस्त्र क्रांतिनिष्ठ' वासुदेव बलवंत फड़के से जुड़े थे, यह संशय स्वयं अंग्रेजों को भी हुआ था। इन सबसे उनके Providential Dispensation वादी ब्रिटिशनिष्ठा के अंतरंग पर मर्मभेदी प्रकाश पड़े बिना नहीं रहता।

महाराष्ट्र के अंग्रेजी-शिक्षितों का दूसरा वर्ग उपर्युक्त ब्रिटिशनिष्ठ वर्ग की तुलना में संख्या में अधिक, योग्यता में समान, सच्चे स्वदेशनिष्ठों का वर्ग था। स्वराज चला गया, यह बात उनके हृदय पर चोट करती थी। अंग्रेजी राज भगवान् की करनी न होकर शैतान की करनी है, वह वरदान नहीं, एक भीषण शाप है! देश के पैरों में पड़ी बेड़ियाँ टूटने का असंभव काम यदि संभव हो तो उसीको 'ईश्वरीय वरदान' कहा जा सकता है। यह थी इस पक्ष की भूमिका और यह भूमिका अंग्रेजों

की कूटनीति के अनुसार अंग्रेजी शिक्षा से भी मंद नहीं पड़ी, उलटे अंग्रेजी इतिहास और साहित्य के अध्ययन से इसमें और उफान आया। हिंदुओं की स्वधर्मनिष्ठा हिलाने के लिए मिशनरी लोग बाइबिल की पुस्तकें मुफ्त में बाँटते रहे। विद्यालयों में उसे जबरन पढ़ाते रहे। परंतु इस वर्ग के लोग वही बाइबिल उनके मुँह पर फेंककर उन्हें परेशान करते। हिंदुओं के पुराणों को यदि कोई मिशनरी 'कपोलकल्पित कथा' कहता तो ये लोग बाइबिल के पहले अध्याय 'सृष्टि की उत्पत्ति' से 'यीशू की उत्पत्ति' तक के अध्यायों में वर्णित कुमारी के पुत्र होने तक की सारी कथाएँ कपोलकल्पित सिद्ध कर उलटा उनसे प्रश्न करते थे।

इस प्रकार वे मिशनरियों का मुँह बंद कर देते थे। अंग्रेजी नहीं पढ़े पंडित लोग यह वाक्ताड़न उतने कौशल से नहीं कर पाते थे, क्योंकि बाइबिल उनकी पढ़ी हुई नहीं होती थी। परंतु अंग्रेजी-शिक्षित लोग बाइबिल के साथ फ्रांसीसी क्रांतिकारियों सदृश अन्य ईसाइयों या अन्य बुद्धिवादी अध्येताओं की तरह बाइबिल की सचाई के संबंध में लिखी टीकाओं का भी अध्ययन कर मिशनरियों की खाल खींचने के लिए तैयार रहते थे। स्वधर्म, स्वदेश, स्वभाषा और स्वसंस्कृति के अभिमान से इस वर्ग के हृदय धड़कते रहते थे। अंग्रेजी शिक्षा से बुझ जाने की अपेक्षा वह अधिक ही प्रभावी होता चला गया। उनको यथाशीघ्र समाज में सुधार भी अपेक्षित था। अंग्रेजी शिक्षा से हुए अनेक लाभों को वे नकारते नहीं थे। अपने पूर्वजों के संबंध में तथा प्राचीन इतिहास के बारे में कोई वाहियात निंदा करे तो उसे वैसा ही मुँहतोड़ उत्तर वे देते थे; परंतु वे अपनी न्यूनता, जिसके कारण स्वराज-हानि हुई, को दुर्लक्षित नहीं करते थे।

किसी भी शर्त पर अंग्रेजी शासन की दासता का जुआ अपनी गरदन पर ढोते हुए उनका आभार क्यों माना जाए? क्या ये अंग्रेज कोई देवदूत हैं? या हमने मरी माँ का दूध पिया है? ऐसे सीधे प्रश्न पूछकर और वह अपने लिए हितकर है, ऐसी निष्ठा के विपरीत यह स्वदेशनिष्ठ वर्ग ब्रिटिशनिष्ठ वर्ग के उपदेशों और आचरण की खिल्ली उड़ाया करता था। वे अंग्रेजी राज के कारण होती देश की दुर्दशा, बढ़ती दरिद्रता, अकाल आदि की बातें जनता से कहकर अंग्रेजों के प्रति घृणा उत्पन्न करते। फिर भी अंग्रेजों के राज को सशस्त्र क्रांति से उखाड़ फेंकने का प्रयास करना या सोचना या आकांक्षा रखना हिंदुस्थान जैसे असंगठित और शस्त्रविहीन देश के लिए पापकारक या असमर्थनीय तो नहीं, परंतु मूर्खतापूर्ण एवं आत्मघाती अवश्य लगता था। उक्त परिस्थिति में अंग्रेज सरकार के विरुद्ध लोगों में यथासंभव असंतोष फैलाना, उसके लिए निर्भीक हो जेल भी जाने के लिए तैयार रहना, जगह-जगह सरकार का संगठित विरोध करने का धैर्य और क्षमता जनता में उत्पन्न करना—परंतु

वह विरोध विधान और विधि (Constitutional & Legal) की सीमा का उल्लंघन न करे, हिंदुस्थान भर में ऐसा प्रचंड आंदोलन चलाया जाए तो आज नहीं तो कल संवैधानिक (Constitutional) प्रकृति का ब्रिटिश लोकमत जाग्रत होगा और कुछ तो उनके स्वयं के हित में और कुछ उनके जाति भाइयों द्वारा हिंदुस्थान भर में हो रहे अन्याय से उपजे खेद के कारण ब्रिटिश सरकार हिंदुस्थान की माँगें मानने लगेगी, रानी की घोषणा के अनुसार हिंदुस्थानी जनता से ब्रिटिश नागरिकों की तरह ही समता-बंधुता से व्यवहार करने लगेगी। इतना होने पर फिर भविष्य के बारे में भविष्य में सोच लेंगे, ऐसा कार्यक्रम था दूसरे वर्ग के देशनिष्ठ लोगों का। यही उनके पक्ष का कार्यक्रम, नीति और धुंधला आशावाद था। मन में कुछ भी हो, फिर भी यह स्वेदशनिष्ठ वर्ग 'स्वराज' अर्थात् अंग्रेजी राज नष्ट कर स्थापित किया गया स्वयं का राज इस अर्थ में 'स्वराज' शब्द का अपने लोक-आंदोलन में उच्चारण नहीं करता था, क्योंकि वैसा करना अंग्रेजी दंडविधान की सीमा में उस समय तो सहज ही धकेला जा सकता था। वैधानिक मर्यादा में अपना सारा आंदोलन चले, इसलिए इस पक्ष के नेता बार-बार जोर देकर कहते थे, 'हम बादशाह के उतने ही राजनिष्ठ प्रजाजन हैं, जितने ब्रिटिशवासी। इसलिए झगड़ा राजा द्वारा नियुक्त मंत्रियों, अधिकारियों, सेवकों आदि से है, राजा से नहीं।'

महाराष्ट्र के अंग्रेजी-शिक्षितों का ही तीसरा वर्ग क्रांतिनिष्ठ, सशस्त्र क्रांतिकारी वर्ग था। पहले दोनों वर्गों—ब्रिटिशनिष्ठ या स्वदेशनिष्ठ- में से कोई भी 'हमारा राजा' कहता तो उसका अभिप्राय होता 'राजा? जो ब्रिटिशों का राजा, वह हमारा राजा?'—'घर में घुसे चोर को क्या राजा कहेंगे?' क्रोधपूर्वक ऐसा पूछनेवाले वर्ग का कहीं कोई पता-ठिकाना नहीं था। परंतु जहाँ उनका अस्तित्व न हो, ऐसा स्थान भी नहीं था। जिस सशस्त्र क्रांतिकारी प्रवृत्ति को मार डालने के लिए अंग्रेजों ने अंग्रेजी विद्यालय, महाविद्यालय तथा विश्वविद्यालय खोले, उन्हीं संस्थाओं में इस वर्ग के छिपे क्रांतिकारी रहते थे। प्रत्यक्ष अंग्रेजी सरकार की नौकरी करनेवालों में उनके अनुयायी गुप्त रूप से रहते थे। अंग्रेजों द्वारा आत्मरक्षार्थ बनाई गई विधि की सीमा में ही रहकर बनाए हुए विधि-विधान की मर्यादा का उल्लंघन न करते हुए हम राजनीतिक आंदोलन करेंगे, ब्रिटिशों को झुकाएँगे—उपरोक्त स्वराजवादी दूसरे वर्ग का यह कथन ऐसा था, जैसे दादी की कहानी के राक्षस के प्राण जिस किसी वस्तु में हों, वही वस्तु सुरक्षित रखते हुए उस राक्षस को मारने की आशा करना। क्रांतिनिष्ठ वर्ग इस सोच को मूर्खतापूर्ण मानता था।

ब्रिटिश-निष्ठा उत्पन्न करने के लिए अंग्रेजी की शिक्षा देने की जो नीति ब्रिटिशों ने हिंदुस्थान में चलाई, वह नीति बंगाल, मद्रास आदि में सफल रही,

परंतु महाराष्ट्र के क्रांतिकारी वर्ग पर उस नीति का परिणाम उलटा ही हुआ। उनमें इस विद्या को सीखने से ब्रिटिशनिष्ठा अंकुरित होने की बजाय ब्रिटिश-द्वेष पनपा। हिंदुस्थान की दुर्दशा करनेवाली ब्रिटिशों की कारगुजारियाँ उन्हें ब्रिटिश ग्रंथों से ही अधिक विस्तार से ज्ञात हुईं। अंग्रेजी पढ़ने से उन्हें यूरोप और अमेरिका के स्वतंत्रता-संग्रामों की कथाएँ पढ़ने को मिलीं। इससे उनकी दृष्टि विशाल, उनका ध्येय व्यापक, उनका ज्ञान अधुनातन हो गया। *अंग्रेजी शिक्षा से होनेवाले लाभ आत्मसात् कर वह शिक्षा-व्यवस्था हिंदुस्थान में लागू करने के पीछे अंग्रेजों का जो कूट उद्देश्य था, उसे उन्होंने मार गिराया। अंग्रेजी दाँव उनके ऊपर ही उलट दिया।*

फिर भी यह ध्यान में रखना होगा कि इस वर्ग की यह सशस्त्र क्रांतिनिष्ठा केवल अंग्रेजी शिक्षा से उत्पन्न नहीं हुई थी। अंग्रेजी शिक्षा ने उत्प्रेरक का कार्य अवश्य किया। उनके स्फूर्ति-प्रदाता देव थे श्रीकृष्ण, श्री शिवाजी महाराज और उनकी भवानी तलवार। मुसलिम पादशाही को पदाक्रांत कर हिंदू पदपादशाही को स्थापित करनेवाला मराठों का इतिहास था उनका पंचम वेद। सन् १८५७ के क्रांतियुद्ध के अमर सेनानी नाना साहब, तात्या टोपे, झाँसी की रानी आदि की ताज वीरगाथाओं का गायन यद्यपि अंग्रेजों के कड़े नियंत्रण में असंभव था, फिर भी वे कानो-कान प्रवाहित होती थीं और हृदय में आग सुलगाती थीं। वह क्रांतियुद्ध महाराष्ट्र में भी चलाने की गुप्त मंत्रणा सन् १८५७ में चल रही थी। देर थी, तो महाराष्ट्र में केवल तात्या टोपे की संगठित सेना के घुसने की। निजाम के देशद्रोही विश्वासघात के कारण तात्या टोपे का आगे बढ़ना असंभव हो गया। नर्मदा पार कर जाने के बाद उसे फिर लौटना पड़ा। इससे महाराष्ट्र के उनके अनेक साथी पकड़े गए। त्र्यंबकेश्वर के किलेदार जोगलेकर तथा वैसे ही कुछ बड़ों को फाँसी दे दी गई। फिर भी इस संकट से जो बच गए या वे मराठाजन जो ब्रह्मावर्त या दक्षिण में लड़े या उस कार्य में लगे रहे, वे अब नाना वेश और नाना युक्तियों से महाराष्ट्र में भूमिगत रहकर जीवनयापन कर रहे थे। वे लोग भी गुप्त रूप से इन नव अंग्रेजी-शिक्षित देशभक्तों में संघर्षशील युवकों को यह चेतना दे रहे थे कि मातृभूमि की स्वतंत्रता के लिए अंग्रेजों से पुनः लड़कर देखो।

अंग्रेज इस देश से केवल न्यायबुद्धि से जानेवाले नहीं, उन्हें तो सशस्त्र क्रांति से ही भगाना होगा—यह क्रांतिपक्षवालों का आद्य सिद्धांत था। 'अरे, ऐसी क्रांति असंभव है, वह तुम्हारी मूर्खता है, यूँ ही मरना चाहते हो।' उन्हें ऐसा कुछ उपदेश कोई ब्रिटिशनिष्ठ या स्वदेशनिष्ठ देता तो वे उसका आभार मानते हुए कहते, 'मरण? हमारी मातृभूमि के सिंहासन पर उसका शत्रु चढ़ बैठा हो और हम जीवित

अवस्था में उसे देखें, यही हमें मरण से अधिक दु:खदायी लगता है। संभव हो अथवा असंभव, हम सफल हों या विफल, अपनी शक्ति से जितना हो सकेगा, उतना प्रतिशोध तो हम लेंगे ही। प्रतिशोध लेते समय जो मरण आएगा, वह इस पौरुषहीन जीवन की तुलना में हमें अधिक आकर्षित करेगा, क्योंकि सफल क्रांति की आग हुतात्माओं की जलती चिता की आग से ही भड़कती है। हम अपना कर्तव्य पूरा करेंगे, चाहे कोई अन्य हमारे पीछे आए या न आए!'

□

प्रकरण–६

अंग्रेजों की छावनी में

(सन् १८६० से १८८४ तक)

अब तक सन् १८५७ के क्रांतियुद्ध के बाद की हिंदुस्थानी जनता की राजनीतिक मन:स्थिति एवं आंदोलनों की बात प्रांतानुसार की। उसी समय हिंदुस्थान पर स्वामित्व स्थापित करनेवाले अंग्रेज सत्ताधारियों की छावनियों में कौन से विचार-प्रवाह चल रहे थे, अब इसपर भी थोड़ा सा विचार करें।

उस समय अंग्रेज राजकर्ताओं के दो गुट थे। पहला और बहुसंख्यक गुट केवल डंडाशाही का पक्षधर था। सन् १८५७ के क्रांतियुद्ध में अंग्रेजों द्वारा संपादित महान् विजय का नशा इस गुट के अधिकारियों के सिर चढ़कर बोल रहा था। उन्हें भारतीय जनता झाड़ की पत्ती लगती थी। वे गर्जना करते—हमने हिंदुस्थान जीता है तलवार की धार से और उसकी रक्षा भी हम तलवार के बल पर ही करेंगे। हम शासक हैं और हिंदुस्थान हमारा पद-दलित दास है। भारतीय लोगों के मन में हम विजेता अंग्रेजों के लिए प्रेम हो या द्वेष; उन दुर्बलों के दिलों में हमारे विरुद्ध चोरी-चोरी कुछ हलचल हो या और कुछ, उसकी चिंता हमें नहीं है। हम जो कहेंगे, वह नीति और जो चलाएँगे, वह रीति। उसके विरुद्ध ये टूँ-टाँ कुछ भी न करें, नहीं तो हम उन्हें कीड़े-मकोड़ों की तरह मसल देंगे। हिंदुस्थान पर ब्रिटिशों का राज बनाए रखना हो तो हमारा शासन ऐसा कड़ा चाहिए, जैसे तलवार पर फौलाद का चढ़ा पानी।

'तलवार से राज्य जीते जाते हैं, यह सच होते हुए भी तलवार की धार पर उनकी रक्षा हमेशा नहीं होती।' अंग्रेज शासक वर्ग का दूसरा गुट, जो अल्पसंख्यक होने पर भी अनुभवी और राजकाज में वर्षानुवर्ष के घुटे-मँजे कूटनीतिज्ञों का गुट था, डंडाशाही गुट को समझाते हुए कहता था, 'पराजितों द्वारा ब्रिटिशों के विरुद्ध

आंदोलन करते ही उसे नष्ट कर डालने की दंडशक्ति तो ब्रिटिशों की कलाई में होनी ही चाहिए। परंतु विजेता राज करता रहे, यह भाव पराजितों के मन में आए—ऐसा जादू चलाकर उनपर राज करने के साथ ही यथासंभव उनका मन भी जीतने की कार्यवाही करते रहना, हिंदुस्थान जैसे विस्तीर्ण देश पर ब्रिटिशों का शासन चिरकाल तक बनाए रखने का सरल और सस्ता उपाय है। लॉर्ड डलहौजी द्वारा चलाई गई डंडाशाही के कारण मराठों और सिखों से लड़ते समय जितना ब्रिटिश रक्त सौ वर्ष में भी नहीं बहा, उतना दो वर्ष के अंदर सन् १८५७ के क्रांतियुद्ध ने बहाया। इसे हमें इतनी जल्दी नहीं भूलना चाहिए!'

इस दूसरे गुट के अंग्रेज कूटनीतिज्ञों की नीतियों के अनुसार सन् १८५७ का क्रांतियुद्ध समाप्त होने पर भारतीय लोगों का मन जीतने के लिए अंग्रेज शासकों ने अंग्रेजी पढ़ाने आदि के जो उपाय किए, उसकी चर्चा पिछले प्रकरणों में हमने की है। उन उपायों का कुछ परिणाम उनकी नीति के अनुसार हुआ और ब्रिटिश शासन का सहयोग पूरे मन से करनेवाला ब्रिटिशनिष्ठ भारतीय वर्ग सभी प्रांतों में उत्पन्न हुआ। सामान्य जनता की क्रांतिकारी-चेतना मृतप्राय होकर इधर-उधर शांत दिख रही थी, यह देखकर अंग्रेज कूटनीतिज्ञों को बहुत शांति मिली थी। उनकी नीति का सुपरिणाम देखकर इंग्लैंड की जनता और शासक वर्ग में इस पक्ष की नीतियों का महत्त्व भी बढ़ गया था। फिर भी इस पक्ष को हिंदुस्थान के संबंध में निश्चिंतता कभी भी नहीं लगती थी। ऊपरी शांति पर उनका विश्वास नहीं था। कहीं 'खट्ट' की ध्वनि होते ही इस पक्ष के कान खड़े हो जाते, वह देखने लगता और कहता कि क्या सन् १८५७ के एक वर्ष पूर्व भी ऐसी ही शांति इस देश में नहीं थी? हम लोग सभी ओर 'सब ठीक है' की रिपोर्ट ही तो भेजा करते थे। इस पक्ष में सन् १८५७ की आग में झुलसे बड़े-बड़े सैनिक और नागर अंग्रेज अधिकारी थे। धीरे-धीरे इस पक्ष का नेतृत्व जिन श्रीयुत् ए.ओ. ह्यूम के पास जानेवाला था, उन्हींकी एक कथा उदाहरणार्थ प्रस्तुत है।

ह्यूम की कुलकथा

सन् १८५७ में १० मई को मेरठ (सं.प्रा.) में क्रांतिकारी सैनिकों ने अंग्रेज सरकार के विरुद्ध विद्रोह किया, वहाँ के अंग्रेज अधिकारियों को काट डाला और एक सप्ताह के अंदर दिल्ली पर चढ़ाई कर भारतीय सेना की सहायता से वहाँ के ब्रिटिश अधिकारियों को तलवार से मौत के घाट उतारकर और दिल्ली जीतकर हिंदुस्थान की स्वतंत्रता की खुली घोषणा कर दी। उसके बाद पूर्व संकेतानुसार एक के बाद एक दूसरे नगरों में विद्रोह होने लगे। ऐसे समय श्रीयुत् ह्यूम इटावा के

मजिस्ट्रेट एवं कलक्टर थे। उन्होंने विद्रोह का समाचार सुनकर, अपने परम विश्वसनीय तथा राजनिष्ठ भारतीय सैनिकों को चुनकर एक संरक्षक टुकड़ी बनाई और असिस्टेंट मजिस्ट्रेट मि. ड्यानियल को वह टुकड़ी सौंपकर इटावा नगर के सारे रास्ते रोक रखने को कहा। इस व्यवस्था के बाद भी कुछ क्रांतिकारी सैनिक, नगर में घुसकर एक मंदिर में ठहरे हुए हैं। पहले के अनुभवों के आधार पर ह्यूम साहब ने सोचा कि मैं आगे आऊँगा तो नगर के अपने राजनिष्ठ भारतीय प्रजाजन मेरी सहायता करने आगे आ जाएँगे। इसी विश्वास से कुछ सैनिकों को लेकर ह्यूम ड्यानियल के साथ उस मंदिर पर आक्रमण करने पहुँचे। वहाँ उन्होंने देखा कि उनके पीछे सहायता के लिए आनेवाले राजनिष्ठ प्रजाजन मंदिर को घेरकर खड़े हैं और उस मंदिर में बैठे क्रांतिकारियों की जय-जयकार कर रहे हैं। उनको भोजन-पानी पहुँचाने का कार्य जोर-शोर से चल रहा है। ह्यूम ने सोचा, कोई बात नहीं। अपने साथ चुने हुए विश्वसनीय सेना के जवान हैं ही। उस टुकड़ी को मंदिर पर हमला करने का कड़ा आदेश देकर ड्यानियल मंदिर की ओर बढ़ा। परंतु उसके पीछे कौन गया? केवल एक भारतीय सैनिक! और मंदिर से क्रांतिकारियों की टुकड़ी ने गोलीबारी आरंभ कर दी। क्षण भर में ही दोनों वहीं ढेर हो गए। यह दृश्य देखते ही ह्यूम साहब ने आज्ञा-भंग करनेवाले भारतीय 'राजनिष्ठ' सैनिकों को लताड़ना भूलकर पलटकर जो भागना आरंभ किया तो अपनी छावनी के तंबू में घुस जाने तक भागते ही रहे।

एक-दो दिन में ही समाचार फैला कि पड़ोस के मैनपुरी और अलीगढ़ नगरों में भी विद्रोह करके नागरिकों ने ब्रिटिश सत्ता से मुक्ति पा ली है और ब्रिटिश लोगों की हालत खराब है। इसी समाचार के साथ इटावा में विद्रोह की खुली घोषणा हो गई। २२ मई को ब्रिटिशों की भारतीय सेना एक हाथ में पलीता और दूसरे हाथ में कृपाण लिये ब्रिटिश छावनी पर टूट पड़ी। उन्होंने कोषागार लूटे, बंदीगृह खोल दिए और अंग्रेज सैनिक, अधिकारी, पादरी, व्यापारी, औरतें, बच्चे—सारे गोरों को चेतावनी दी कि यदि वे तत्काल इटावा छोड़कर चले नहीं गए तो उनका कत्ल कर दिया जाएगा।

इस भीषण अंतिम आदेश को सुनकर अंग्रेज भय से काँपने लगे। अपने बाल-बच्चे लेकर या उन्हें छोड़कर सब भागने लगे, परंतु किस रास्ते जाएँ और कहाँ जाएँ! रास्ते में गोरा मिलते ही 'मारो फिरंगी को' की आवाज उठती। मार-काट होती। भागनेवाले गोरों में भी सबसे कठिन समस्या वहाँ के कलक्टर, मजिस्ट्रेट ह्यूम की थी! उन्हें सब पहचानते थे। अंग्रेजी राज का वही मुख्य अधिकारी था, परतंत्रता का प्रमुख प्रतीक था, इसलिए सबका क्रोध उसपर था। फिर भी चार-पाँच भारतीय सैनिकों को उसपर दया आ गई। उन्होंने 'साहब को दूर भगा देते हैं' कहकर उन्हें

क्रांतिकारियों के कब्जे से ले लिया, पर साहब का रंग गोरा था और गोरे रंग के दिन पूरे हो चुके थे। जीवित रहने के लिए रंग चाहिए था काला। वह कठिन था—काला रंग लगाकर भागते गोरे इसलिए पकड़े जाते कि कहीं बदन पर से काला रंग भागमभाग में छूट जाता तो गोरा तुरंत पहचाना जाता और उसकी या तो दुर्गति होती या वह मारा जाता। अतः ह्यूम साहब के लिए दोहरी सावधानी जरूरी थी। उन्होंने मुँह पर काला रंग लगाया, फिर साड़ी पहनी और उसपर बुरका ओढ़ा। तब वे सैनिक उन्हें बचाने के लिए तैयार हुए और राजमान्य राजेश्री ह्यूम बाई को इस प्रकार गुप-चुप बाहर निकालकर बहुत दूर छोड़ आए। प्राण हथेली पर लिये घूमते साहब को एक अंग्रेज सैनिक टुकड़ी मिली और वे बच गए।

अपने प्राणों पर बन आई इस घटना का जो डर ह्यूम साहब के मन में बैठा, वह जीवन भर उनको बेचैन किए रहा और इसका चिरंतन परिणाम उनकी राजनीति पर भी पड़ा। सन् १८५७ जैसा सशस्त्र क्रांति का संकट अंग्रेजी सत्ता को फिर से न झेलना पड़े, इसके लिए क्या उपाय किए जाएँ—यह चिंता उन्हें हमेशा सताती रही। हिंदुस्थान की जनता की शांति दिखावटी होती है। इस विशाल देश की कोटि-कोटि जनता के भीतर कब किस कारण कोई क्रांति की चिनगारी भड़क जाए, इसका कोई नियम नहीं, यह उनका अनुभवसिद्ध पक्का विचार हो गया था और 'सब ठीक है' कहनेवाले ब्रिटिश अधिकारियों की 'ढोल की पोल' का वे इसीलिए हमेशा विरोध करते थे।

'कौवा बैठे और डाली टूटे' वाली कहावत पंजाब में उसी समय चरितार्थ हुई। जिस पंजाब प्रांत के बारे में सारे ब्रिटिश अधिकारी 'सब ठीक है' कहते थे, वहीं ह्यूम जैसे विचारों के अधिकारियों को जो डर सताता था, वह सच हो गया और सन् १८७२ में ऊपर से शांत दिखाई देती जनता के मन में एक सशस्त्र क्रांति की चिनगारी भड़क उठी।

□

प्रकरण–७

कूका-विद्रोह

आज तक के ज्ञात इतिहास से विदित होता है कि अंग्रेजी सत्ता के विरुद्ध सन् १८५७ के बाद प्रथम महत्त्वपूर्ण सशस्त्र क्रांतिकारी संघर्ष कूका पंथ का ही था। यहाँ उसकी विस्तृत जानकारी देने के लिए स्थान नहीं है। उसका आवश्यक सारांश देना ही पर्याप्त होगा।

सन् १८२४ में जन्मे पंडित रामसिंह कूका ने अपनी तरुणाई में महाराजा रणजीत सिंह की सेना में एक सैनिक के रूप में नौकरी की थी। उस स्वधर्मीय शासन का विध्वंस अंग्रेजों ने किया। इसका इतना दु:ख कूका को हुआ कि वे अन्यों की भाँति अंग्रेजी सेना में भरती नहीं हुए। वे अपने गाँव भैणी आकर धर्मोपदेश करने लगे। शीघ्र ही उनकी ख्याति एक साधु के रूप में फैल गई और उनको गुरु माननेवालों का एक पंथ बन गया। उस पंथ का नाम 'नामधारी पंथ' पड़ गया। उनके उपदेशों में गोवध-निषेध की काफी प्रधानता थी। वे कहते कि कसाई के हाथों कटती गाय को अपने प्राण देकर भी बचाना तुम्हारा धार्मिक कर्तव्य है। शिष्यों को यह उपदेश वे आग्रहपूर्वक देते थे।

ऐसा कहते हैं कि साधु रामदास नामक कोई मराठी साधु उन्हें मिले। उन्होंने गुरु रामसिंह को ऐसा परामर्श दिया कि गोवध-निषेध आदि जिस धर्म-मत को वे प्रतिपादित करते रहते हैं, वह स्वधर्म कार्य स्वराज-स्थापना के बिना नहीं हो सकता। वह परामर्श मन में पैठ जाने के कारण गुरु रामसिंह ने अपने धार्मिक पंथ को अति सावधानी से राजनीतिक रूप देने का उपक्रम किया। पहले उन्होंने अंग्रेजी शासन से केवल नि:शस्त्र असहयोग करने का आदेश दिया और अंग्रेजी न्यायालयों, रेलगाड़ियों और अंग्रेजी शिक्षा देनेवाली संस्थाओं का बहिष्कार आरंभ करवाया। उन्होंने अपने नामधारी या कूका पंथ का एक स्वतंत्र डाक विभाग चालू किया।

उनके इस आंदोलन के कारण पंजाब के अंग्रेजी शासक वर्ग ने सन् १८६४-६५ में उनपर कुछ कड़े बंधन लगाए। परिणामतः प्रकट आंदोलन रोके जाने से यथानियम उसका रूपांतरण गुप्त आंदोलन में हो गया। गुरु रामसिंह ने पंजाब प्रांत के बारह मंडल (जिले) मानकर प्रत्येक पर एक-एक गुप्त मंडलाधिप (कलक्टर) नियुक्त किया। सेना में भी उन्होंने धर्म की आड़ में राजनीतिक प्रचार चालू किया। इसी बीच सन् १८६९ में उनके कुछ नामधारी कूका शिष्यों की टक्कर गायों को काटने के लिए ले जा रहे मुसलिम कसाइयों से हो गई। उनसे झगड़ा होने पर कूकाओं ने उन्हें मार डाला और गाएँ मुक्त करवा दीं। अंग्रेजी शासन ने उन कूकाओं की धर-पकड़ के लिए इधर-उधर दौड़-भाग और मार-पीट चालू करवाई।

अपने पंथ पर आए इस संकट को टालने के लिए रामसिंह कूका ने स्वतः ही उन शिष्यों को आत्मसमर्पण करने का आदेश दिया और सरकार को सूचित किया कि इस घटना का कोई संबंध पंथ से नहीं है। सरकार ने समर्पित शिष्यों को फाँसी दे दी। यह प्रकरण समाप्त होते-होते जनवरी, १८७२ में कुछ मुसलमानों ने एक नामधारी कूका को पकड़ा, मारा-पीटा, उसके सामने एक गाय काटी और उसके रक्त से उस कूका को सिर से पैर तक पोता।

गुरु रामसिंह के दरबार में उस शिष्य ने जब यह कथा कही, तब सैकड़ों कूके क्रोध और संताप से भड़क गए। उन्होंने धर्मशत्रु से तत्काल प्रतिशोध लेने की शपथ ली। गुरु रामसिंह उन्हें 'ठहरो-ठहरो' कहते रहे, परंतु वे सब शस्त्र प्राप्त करने के लिए मालेर कोटला नामक मुसलमानी रियासत की ओर चल पड़े। मलौध का किला जीतकर वहाँ से शस्त्र प्राप्त करके वे सब मालेर कोटला नगर पर टूट पड़े। मालेर कोटला की सहायता अंग्रेजों को करनी ही थी; उन्होंने मेजर कारेन की टुकड़ी भेजी। नामधारी कूका अत्यंत वीरता से लड़े। उनमें से बहुत तो रणक्षेत्र में मारे गए। जो जीवित पकड़े गए, उन साठ-सत्तर नामधारियों को बड़ी ही निर्ममता से नगर के चौक पर तोपों के मुँह से बाँधा गया। तोपें दागी गईं और उनकी काया के चिथड़े-चिथड़े ऊँचे उड़कर चारों ओर बिखर गए। वे धर्मवीर हिंदू जब तोपों के मुँह से बाँधे जा रहे थे, तब भी अपने गुरु रामसिंह की अखंड जय-जयकार कर रहे थे।

गुरु रामसिंह ने अपने शिष्यों द्वारा मालेर कोटला पर हमला बोलते ही तुरंत अंग्रेजी सरकार को लिख भेजा कि मेरा आदेश न माननेवाले और विद्रोह करनेवाले इन लोगों से मैंने गुरु-शिष्य का नाता तोड़ डाला है। परंतु अंग्रेज ऐसी स्वीकारोक्ति को तो माननेवाला था नहीं। उसने उन्हें अचानक पकड़ा और किसी तरह की न्यायिक प्रक्रिया न कर सन् १८१८ के रेगुलेशन के अधीन सीमा-पार ब्रह्म देश भेज दिया। स्वराज की प्राप्ति के लिए अपने प्राण संकट में डालनेवाले उस महान् गुरु का

अंत निर्वासन के बाद उसी कैद में सन् १८८५ में हो गया। उनका नामधारी पंथ अभी भी जीवित है, परंतु केवल एक पंथ के रूप में।

गुरु रामसिंह कूका के सशस्त्र विद्रोह का या नामधारी धर्मवीरों के बलिदान का कोई उल्लेखनीय प्रभाव उस समय पंजाब की जनता पर नहीं पड़ा। अंग्रेजी सेना के सिख सैनिकों या बाहर के सिख समाज की कोई सहानुभूति कूका पंथ से नहीं थी। इसके विपरीत दसवें गुरु गोविंदसिंह के बाद किसी व्यक्ति को 'गुरु' न माना जाए, सिखों के इस धर्ममत के विरुद्ध रामसिंह कूका को उनका पंथ 'गुरु' मानता था और वे भी स्वयं को 'गुरु' मानते थे। इस कारण भी उनपर और उनके नामधारी पंथ पर सिख समाज का रोष था। इस संकुचित दृष्टि के कारण सिखों में नामधारियों के आत्म-बलिदान से कोई लगाव नहीं उपजा। मुसलमान तो कूका पंथ के जन्मजात दुश्मन थे ही। अंग्रेजों के द्वारा कूकाओं का सत्यानाश किया जाना मुसलमानों को इसीलिए अच्छा लगा। वे तो इसे अंग्रेजों का उपकार ही मानने लगे। अंग्रेजी पढ़े-लिखे हिंदू वर्ग की स्थिति क्या थी, यह पूर्व में वर्णित है ही। सारांश यह कि इस सशस्त्र विद्रोह से पंजाब में नई चेतना का किंचित् भी संचार न हुआ, मानो किसी चट्टान पर चिनगारी-भर आ पड़ी हो। चिनगारी स्वयं ही बुझ गई। चट्टान का पत्थर पत्थर ही बना रहा।

पंजाब के बाहर भी इस क्रांतिकारी विद्रोह का कोई सार्वजनिक हल्ला-गुल्ला उस समय नहीं हुआ। धर्मवीर गुरु रामसिंह निर्वासित रहते हुए ब्रह्म देश में ही मर गए, यह हिंदू जाति के दस-पाँच समाचारपत्रों में कदाचित् आया हो, न आया हो। फिर उस घटना पर अग्रलेख या गौरव-प्रकाशन किए जाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। स्वदेश और स्वधर्म के उद्धार हेतु उस महान् व्यक्ति के अलावा रणक्षेत्र में लड़े, मरे या तोपों से उड़ाए गए उनके जिन शूर अनुयायियों ने अपने प्राणों की बलि चढ़ाई, उनके लिए इस देश में उनके देशबंधुओं और धर्मबंधुओं ने सार्वजनिक कृतज्ञता का एक आँसू भी नहीं बहाया। उनके नामधारी पंथ के भावुक शिष्यों में एक ऐसी ममतामयी श्रद्धा आज भी अस्तित्व में है कि गुरु रामसिंह की मृत्यु का समाचार असत्य है और अंग्रेजों ने केवल दुष्टबुद्धि से वह समाचार फैलाया है। वास्तव में हमारा गुरु अभी भी जीवित है।

रामसिंह कूका की वीरगाथा को प्रकाश में लाने का पहला अवसर मुझे मिला। इंग्लैंड जाने के बाद सन् १८५७ के स्वतंत्रता-संग्राम का इतिहास लिखने के उद्देश्य से जब मैं उस समय की अंग्रेजी पुस्तकों, पुस्तिकाओं आदि—जो कुछ मिला, को पढ़ने लगा, तब दो-तीन पुराने लेखों में कूका या नामधारी पंथ के सशस्त्र विद्रोह के बिखरे हुए उल्लेख मुझे दिखे। उन्हें एकत्र करके मैंने रामसिंह के

आंदोलन की सारणी बनाई। 'इंडिया हाउस' में प्रति सप्ताह 'फ्री इंडिया सोसायटी' की ओर से मेरे जो व्याख्यान होते थे, उनमें से एक व्याख्यान में मैंने गुरु रामसिंह और उनके द्वारा सन् १८५७ के बाद अंग्रेजी सत्ता के विरुद्ध किए गए प्रथम सशस्त्र विद्रोह का इतिहास बनाई हुई उस सारणी के आधार पर बताया था।

उपलब्ध जानकारी के अनुसार, गुरु रामसिंह के चरित्र पर पहला सार्वजनिक व्याख्यान मेरे द्वारा इंग्लैंड में दिया गया। उन नामधारी धर्मवीरों को हमने उस सभा में जो सार्वजनिक कृतज्ञता के पुष्प अर्पित किए, वही पुष्पांजलि पहली श्रद्धांजलि थी। तब से मुझे जब-जब अवसर मिला, मैंने संभाषणों, व्याख्यानों और लेखों में गुरु रामसिंह कूका के चरित्र की जानकारी सार्वजनिक रूप से दी। इसी कारण आज हिंदुस्थान में क्रांतिकारियों का अभिमान रखनेवालों द्वारा लिखे गए ऐतिहासिक साहित्य में धर्मवीर और देशवीर कूकाओं के आत्मयज्ञ का कृतज्ञतापूर्ण उल्लेख थोड़ा-बहुत आ गया है।

अंग्रेजी सरकार के अंतस्थ वृत्त में कूका-विद्रोह के कारण बहुत-कुछ हलचल पैदा हुई। डंडाशाही के 'सबकुछ ठीक है' वाले जो अधिकारी थे, उनको मि. ह्यूम के कुटिल और कूटनीति के पक्षवालों ने सुनाना चालू किया—'देखा, हिंदुस्थानी जनता की दिखावटी शांति कैसी होती है? उसका यह प्रत्यक्ष उदाहरण है।'

सौभाग्य से कूकाओं का पहला झगड़ा धार्मिक कारणों से मुसलमानों से ही हुआ। इससे उनकी योजना फूट गई और मुसलमानों की सहानुभूति भी अंग्रेजों को मिल गई, अन्यथा सन् १८५७ के संकट की छोटी पुनरावृत्ति देखने को मिलती या नहीं, यह अतीत के गर्त में समा गया। फिर भी अंग्रेज कूटनीतिज्ञों का अंग्रेजी-शिक्षितों या जिन्हें वे 'अंग्रेजियत के प्रभाववाले' कहते थे, पर विश्वास बना रहा क्योंकि कूका सशस्त्र संघर्ष में सम्मिलित अधिकतर लोग अशिक्षित थे। उलटे उस अंग्रेजी-शिक्षित वर्ग को ही घेरकर और संगठित कर उनके द्वारा सामान्य जनता में ब्रिटिश राजनिष्ठा का प्रचार कराने की योजना बनाई जा रही थी, पर अंग्रेजी-शिक्षित भारतीय वर्ग पर जो विश्वास अंग्रेजों का था, उसे भी दो-तीन वर्षों में ही एक बलवत्तर झटका लगा।

□

प्रकरण–८

क्रांतिवीर वासुदेव बलवंत फड़के

मैंने पहले ही कहा है कि उपर्युक्त अवधि में महाराष्ट्र में अंग्रेजी-शिक्षित वर्ग में ही एक सशस्त्र क्रांतिनिष्ठ पक्ष गठित होकर ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध गुप्त कार्यवाहियाँ करने लग गया था। अंततः उस पक्ष के नेता क्रांतिवीर वासुदेव बलवंत फड़के ने अंग्रेजों द्वारा छीनी गई अपने देश की स्वतंत्रता पुनः प्राप्त करने के लिए सन् १८७८ में स्पष्ट रूप से सशस्त्र क्रांति की घोषणा कर दी।

जिन पाठकों को वासुदेव बलवंत फड़के की सशस्त्र क्रांति का रोमांचक वर्णन विस्तार से जानना हो, वे श्रीयुत् वि.श्री. जोशी द्वारा लिखित प्रसिद्ध मराठी पुस्तक 'वासुदेव बलवंत फड़के यांचे चरित्र' पढ़ें। उसमें सारा इतिहास साधार, साद्यंत तथा सरसतापूर्वक वर्णित है। तथापि यहाँ वासुदेव बलवंत फड़के के चरित्र में से कुछ घटनाओं का उल्लेख आवश्यक है।

वासुदेव बलवंत ने अपना एक आत्म-चरित्र सन् १८७१ के आसपास लिखा था। वे दैनंदिनी (डायरी) भी लिखा करते थे। उन्हें जब सरकार ने पकड़ा, तब उनके सामान में उपर्युक्त दोनों वस्तुएँ मिली थीं। इसके सिवाय उनपर और उनके साथियों पर चले न्यायिक प्रकरण से भी उनके क्रांतिकारी विचार और आचार पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। उपर्युक्त आधार पर वासुदेव बलवंत पर लिखा 'सुशील यमुना' या ऐसे ही किसी नाम का एक उपन्यास मैंने पढ़ा था, ऐसा कुछ स्मरण आता है। वह उपन्यास रायबहादुर महादेव गोविंद रानडे के प्रोत्साहन से लिखा गया था। इसके अतिरिक्त क्रांतिवीर फड़के के सशस्त्र विद्रोह के संबंध में प्रचलित अनेक दंतकथाएँ भी हम बच्चे उस समय के प्रौढ़ों से बड़ी उत्सुकता से सुनते थे। हमारे क्रांतिप्रवण हृदय उस वीरगाथा को सुनकर स्फूर्ति पाते थे। मैं पढ़ने के लिए जब नासिक में आया और अपनी गुप्त संस्था की एक प्रचारात्मक प्रकट शाखा

'मित्र मेला' की स्थापना की, तब उसकी एक बैठक की थी। उक्त बैठक में हमने अपनी क्रांतिकारी गुरु-परंपरा के जो चित्र लगाए थे, उनमें एक चित्र फड़के का भी था जिसे हम एक दरजी की दुकान से लाए थे। दरजी ने वह चित्र बड़े भक्ति-भाव से एक परदे की आड़ में टाँग रखा था।

वासुदेव बलवंत का जन्म सन् १८४५ में हुआ था। जब वे बारह-तेरह वर्ष के थे, तब उत्तरी हिंदुस्थान में सन् १८५७ का क्रांतियुद्ध पूरे जोरों पर था। क्रांतियुद्ध के नाना साहब पेशवा, तात्या टोपे, रानी लक्ष्मीबाई, कुँवर सिंह आदि नेताओं और संग्राम की वीरगाथाओं की चर्चा महाराष्ट्र के हाट-बाजार तथा गली-नुक्कड़ पर कुछ प्रकट और कुछ चुपके-चुपके होती थी। वासुदेव बलवंत के घर में भी उनके पिता तथा चाचा की मित्र-मंडली में उन वीरगाथाओं की चर्चा जोर-शोर से होती थी। समाचार लाने और फिर उसे पूरे जोश से मित्र-मंडली को सुनाने का काम वासुदेव के पिता बलवंत बड़े उत्साह से किया करते थे। बालक वासुदेव तल्लीन होकर पिता के चेहरे की ओर टकटकी लगाकर देखते हुए कथा सुनता था और मन-ही-मन स्वप्न देखा करता था कि बड़ा होने पर अंग्रेजी राज समाप्त कर स्वदेश को स्वतंत्र करवाएगा।

वासुदेव को फिर एक विद्यालय (हाई स्कूल) में अंग्रेजी पढ़ाई गई। विद्यालय छोड़ने के बाद भी वासुदेव अंग्रेजी पढ़ता रहा। उसने उस भाषा का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। वह अंग्रेजी अच्छी तरह बोल भी लेता था। उसने कुछ वर्ष तक इधर-उधर छोटी-मोटी नौकरी की। सन् १८६५ में वह सेना के वित्त विभाग (मिलिटरी फाइनेंस डिपार्टमेंट) में लिपिक हो गया। यह नौकरी पुणे में थी, इसलिए वह पुणे आया और यहीं उसके स्वदेश-भक्ति रूपी इस्पात पर पुणे के राजनीतिक वातावरण की धार चढ़ी।

सरकारी नौकरी करते हुए उनके मन को बेचैन करनेवाली एक व्यक्तिगत घटना भी घटित हुई। उनकी माँ, जो शिरढोण नामक गाँव में रहती थीं और जिन्हें वासुदेव बलवंत बहुत प्रेम करते थे, गाँव में ही अस्वस्थ हो गईं। उनसे तत्काल मिलने जाने के लिए उन्होंने अधिकारियों से अवकाश माँगा, परंतु अनुमति देने में वे अधिकारी टालमटोल करने लगे। यह स्थिति देखकर वे बिना अनुमति के ही पुणे से गाँव चले गए। वहाँ पहुँचे तो उन्हें ज्ञात हुआ कि उनकी माँ का देहावसान हो चुका है। यह सुनकर उनके दुःख का पारावार नहीं रहा। 'मेरी माँ इस जन्म में अब मुझे कभी नहीं दिखेंगी', यह बात उन्हें बहुत चुभी। इसका भी उन्हें बहुत दुःख हुआ कि उनकी माँ अपने अंतिम समय अपने पुत्र का मुँह भी नहीं देख पाईं। वे पुणे लौटे, नौकरी पर गए, किंतु उनका भीषण झगड़ा उस अधिकारी से हुआ, जिसके द्वारा

अनुमति न दिए जाने के कारण वे तत्काल गाँव नहीं जा पाए थे। इस अन्याय के विरुद्ध उन्होंने बंबई सरकार से अपील की। परंतु एक सामान्य लिपिक की बात कौन सुनता? फिर, जब उनकी माँ के वार्षिक श्राद्ध का दिन आया, तब भी उनका अवकाश स्वीकार नहीं हुआ। इससे उन्हें न केवल अत्यधिक दुःख हुआ, अपितु अवकाश न देनेवाली अंग्रेज सत्ता की समस्त राज-व्यवस्था के प्रति ही अत्यधिक घृणा उनके मन में भर गई। अन्याय का बदला किस तरह लिया जाए, उनका संतप्त मन यही सोचने लगा।

वासुदेव बलवंत का मन मूल में ही स्वराष्ट्र-भक्ति एवं स्वराज-निष्ठा से ओत-प्रोत था। उनके संतप्त मन में इस घटना से जैसे तूफान खड़ा हो गया और फिर व्यक्तिगत जीवन से ऊपर उठकर राष्ट्र-जीवन के साथ एकात्मता स्थापित करने का विचार आया। उनका व्यक्तिगत क्रोध उदात्त होकर राष्ट्रीय क्रोध में बदल गया। उन्होंने संकल्प लिया और फिर स्वयं को स्वदेश-सेवा के लिए अर्पित कर दिया। उन्होंने देश को स्वतंत्र कराने के लिए अपना प्राण न्योछावर करने तक की ठानी।

स्वदेश की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करने का निश्चय करते ही वासुदेव बलवंत ने रायबहादुर रानडे के व्याख्यान के कारण सन् १८७२-७३ में उभरे पहले स्वदेशी आंदोलन के लिए स्वयं को समर्पित कर दिया। अनेक लोगों की तरह उन्होंने भी स्वदेशी वस्त्र और अन्य वस्तु उपयोग में लाने का व्रत लिया। वे सरकारी नौकरी पर भी स्वदेशी कपड़ों में ही जाते। इससे भी उनको संतोष न हुआ तो वे स्वदेशी का प्रचार करने के लिए व्याख्यान भी देने लगे। उनके व्याख्यान तीखे होते थे। व्याख्यान के लिए डोंडी भी वे स्वयं पीटते थे। पुणे में गली चौक में थाली पीट-पीटकर वे घोषणा करते—'भाइयो-बहनो, सुनो! आज शनिवार बाड़े के सामने मेरा व्याख्यान है। हमारा देश स्वतंत्र होना चाहिए। अंग्रेजों को भगा देना चाहिए—यह सब कैसे हो, यही मैं अपने व्याख्यान में कहूँगा!!' इन व्याख्यानों के साथ ही युवकों के लिए उन्होंने एक अखाड़े की भी स्थापना की। वे स्वयं बड़े व्यायाम-निपुण थे। उनका शरीर कसा हुआ था। वे घोड़ा दौड़ाते थे। साथ ही खड्ग, खंजर, पटा, पिस्तौल, बंदूक, बरछी आदि शस्त्र चलाने में भी निपुण थे। लोगों को सबकुछ सिखाने का उपक्रम उन्होंने चालू किया। इस अखाड़े में जिन युवकों की भीड़ होती थी, उनमें अधिकतर अंग्रेजी-शिक्षित ही थे। उनके अखाड़े के एक छात्र का नाम था—बाल गंगाधर तिलक।

बिना शस्त्र स्वराज नहीं

'बिना शस्त्र धारण किए स्वराज नहीं मिलेगा'—उनका बार-बार यही कहना

होता था। सन् १८७६-७७ के अकाल से क्रोधित लोगों में लूट, चोरी, डकैती आदि का क्रम तेजी से चल रहा था। उनमें से भील, रामोशी प्रभृति कुछ साहसी जातियों के लोगों को वासुदेव ने अपना साथी बना लिया। धीरे-धीरे दो-तीन सौ सशस्त्र लोगों की मुट्ठी भर सेना उनके पास हो गई। अपनी गुप्त संस्था के गद्रे, साठे आदि सुशिक्षित लोग भी उनके साथ थे। अन्य सुशिक्षित एवं प्रतिष्ठित अनुयायियों द्वारा गुप्त सहायता देने का वचन भी उन्हें प्राप्त हुआ। इस तरह सन् १८७९ के प्रारंभ में सशस्त्र विद्रोह करने का निश्चय उन्होंने किया। उसी के अनुसार 'हमें अंग्रेजों का राज पलटकर हिंदुस्थान में स्वतंत्र लोकसत्तात्मक स्वराज की स्थापना करनी है'—यह सार्वजनिक घोषणा करके वासुदेव बलवंत ने सशस्त्र क्रांति का रणसिंहा फूँक दिया।

ऐसी क्रांतिकारी सेना बनाने के लिए धनवानों से पैसा माँगने पर कोई भी नहीं देता, यह अनुभव जब उन्हें हुआ, तब उन्होंने गाँव-गाँव में छापे मारना प्रारंभ कर दिया। सरकारी कोषागार लूटने का भी उनका विचार था। उनकी टोलियाँ जब डकैती करने लगीं, तब चारों ओर आतंक फैल गया। पुलिस दल भी उनका सामना करने से कतराने लगा। बंबई सरकार ने इस समस्या से निपटने के लिए मेजर ड्यानियल को नियुक्त किया। मेजर अपनी सेना की टुकड़ी लेकर वासुदेव बलवंत को पकड़ने चला। वासुदेव बलवंत घोषणा करते थे—'हम कोई भूखे-नंगे डकैत नहीं हैं, देश के स्वतंत्रता-संग्राम के लिए निकले सशस्त्र क्रांतिकारी हैं!' अंग्रेजी-शिक्षित वर्ग के अनेक सरकारी नौकर, शिक्षक, छात्र, बड़े अधिकारी तथा कुछ समाचारपत्रों के संपादक भी बलवंत से जुड़े हुए थे। वे भी 'फड़के' के लिए लोक-सहानुभूति उत्पन्न करते रहे। इस कारण मेजर ड्यानियल की कुछ चल नहीं पा रही थी। उधर वासुदेव बलवंत का आतंक बढ़ता ही जा रहा था। लोग उन्हें प्यार से 'दूसरा शिवाजी' भी कहने लगे। उनके दल के सैनिक उन्हें 'महाराज' कहते थे। उनकी टोली के एक सदस्य का विशेष उल्लेख यहाँ करना आवश्यक है। उस सदस्य का नाम था—दौलत रामोशी।

सरदार दौलतराव

महाराष्ट्र में 'रामोशी' नामक एक जाति है। इस जाति के बहादुर जवान अधिकतर चोर-डकैतों के दल में घुसे रहते थे। वासुदेव बलवंत की प्रेरणा से उनमें से कितने ही स्वधर्म के अभिमान से देश की स्वतंत्रता के लिए लड़नेवाले स्वयं-सैनिकों की पात्रता पा गए। उन्हीं में से एक था दौलतराव रामोशी। वह वासुदेव बलवंत का इतना तत्त्वनिष्ठ एवं एकनिष्ठ अनुयायी बन गया कि उन्होंने उसको

'सरदार दौलतराव' की उपाधि दी और उसे स्वतंत्रता सैनिकों के एक दल का प्रमुख बना दिया। मेजर ड्यानियल ने पहले उसी का पीछा करना आरंभ किया। मेजर ड्यानियल पीछे-पीछे और दौलतराव लूटमार करते हुए आगे-आगे। यह क्रम लंबा चला। परंतु एक बार एक पहाड़ी, जिसे 'ठिसुबाई की टेकड़ी' कहा जाता था, के पास दोनों का आमना-सामना हो गया। जब लुका-छिपी का दाँव खेलना असंभव लगने लगा, तब सरदार दौलतराव ने ड्यानियल पर गोलियों की वर्षा आरंभ कर दी। ड्यानियल के सैनिक कसे हुए प्रशिक्षित थे। उनके पास गोला-बारूद भी भारी मात्रा में था। गोलीबारी में दोनों ओर के सैनिक हताहत होते-होते दौलतराव की टुकड़ी लगभग समाप्त हो गई। दौलतराव के किसी सहयोगी ने कहा, 'अब हम स्वयं ड्यानियल की शरण में जाएँ—यह उचित है' परंतु उन्होंने उत्तर दिया, 'नहीं, मैं अंग्रेजों के हाथों जीवित पड़नेवाला नहीं।'

लड़ते-लड़ते अकस्मात् ड्यानियल और वे आमने-सामने आ गए। दौलतराव ने शीघ्रता से बंदूक छोड़ पिस्तौल से ड्यानियल पर गोली चलाई, परंतु वह चूक गई, जबकि ड्यानियल की गोली दौलतराव के हृदय में लगी और वे धराशायी हो गए। स्वदेश-स्वातंत्र्यार्थ अंग्रेजों से लड़ते-लड़ते जिन हिंदू वीरों ने **'अभिमुख शस्त्राघाती समरमखामागि राहिले काय'** *(अभिमुख शस्त्राघात पर, समरमख में कभी हटे नहीं थे)* आत्माहुति दी, उनकी नामावली में क्रांतिवीर सरदार दौलतराव रामोशी का नाम शीर्ष पर लिखा जाना चाहिए।

ब्रिटिश शासन की बंबई सरकार को जल्दी ही यह समझ में आ गया कि बात हलकी-फुलकी नहीं है। इसलिए केवल एक मेजर ड्यानियल और उसकी सैनिक टुकड़ी कुछ नहीं कर पाएगी। तब बंबई सरकार ने तीन-चार और अधिकारियों को कर्नल क्रिस्पिन, मेजर फुल्टन, कैप्टन ब्रेन आदि अधिक संख्या में सैनिक देकर फड़के के स्वतंत्रता-संग्राम को रोकने के लिए भेजा। बंबई सरकार ने वासुदेव बलवंत को पकड़ने के लिए बड़ा पुरस्कार भी घोषित किया। इस घोषणा के उत्तर में वासुदेव बलवंत की अपनी सरकार ने भी घोषणा की कि जो कोई बंबई के गवर्नर सर रिचर्ड टेंपल, पुणे के कलक्टर और सेशन जज का सिर काटकर ला देगा, उसे पुरस्कार दिया जाएगा। इस घोषणा-पत्र पर वासुदेव बलवंत का मोटे अक्षरों में बड़ा ही शानदार हस्ताक्षर था और उस हस्ताक्षर के नीचे लिखा था—'पेशवा का नया मुख्य प्रधान—वासुदेव बलवंत फड़के।'

वासुदेव बलवंत ने यह भी घोषणा की कि अब हम हर यूरोपी पर हमला करके देश के शत्रुओं को मारेंगे। सन् १८५७ के संग्राम की पुनरावृत्ति होगी। पूरे देश में संघर्ष होगा।

क्रांतिकारियों का यह घोषणा-पत्र बड़े-बड़े नगरों में दीवारों पर क्रांतिकारियों में से कौन, कब चिपका जाता था, कभी ज्ञात नहीं होता था। वासुदेव बलवंत की सारी धमकियाँ खोखली नहीं होतीं, यूरोपीय बस्तियों में यह आतंक था। इसी समय केशव रानडे आदि क्रांतिकारियों द्वारा पुणे में, जहाँ अंग्रेजों के बड़े दफ्तर थे, दो बाड़ों—विश्रामबाग बाड़ा और बुधवार बाड़ा—को आग लगा दी गई। इन दोनों भवनों में रखे सारे कागज-पत्र जलकर राख हो गए। इस घटना से पुणे पर वासुदेव बलवंत के संभावित आक्रमण की एक अफवाह उड़ी। बंबई में भी यही अफवाह उड़ी। सन् १८५७ के दिनों की आग में झुलसे सारे नगर-ग्रामनिवासी यूरोपीय डर गए। अलग-अलग रहनेवाले यूरोपीय लोगों ने अपने बाल-बच्चे सुरक्षित स्थानों पर भेज दिए। जो समूह में रहते थे, उन्होंने शस्त्र और गोला-बारूद का प्रबंध कर लिया। वासुदेव बलवंत की इस धूमधाम के समाचार देसी अखबारों से देश भर में फैल गए। यही नहीं, इंग्लैंड के 'डेली टेलीग्राफ', 'मॉर्निंग पोस्ट', 'टाइम्स' आदि समाचारपत्रों में भी फड़के फड़कने लगे।

पार्लियामेंट में भी महाराष्ट्र के सशस्त्र विद्रोह को लेकर प्रश्न किए गए। उस समय के समाचारपत्रों की कतरनों को यहाँ उद्धृत करने से ही उस समय की परिस्थिति की कल्पना अधिक स्पष्ट होगी। इसलिए मैं कुछ बानगी नीचे दे रहा हूँ—

ऐंग्लो-इंडियन पक्ष के 'बॉम्बे गजट' में लिखा था—

'The rumours that have been flying about Western India for the past few months have now received ample confirmation. The rumours ascribe to certain members an ambition on their part to renew in Western India those tactics by which Shivaji in days gone by succeeded eventually in sapping the power of the them mighty Mughal Empire. A little of martial law would do Poona a great deal of good. The Mutiny (of 1857) attained its dangerous proportion mainly because we ignored it at the beginning. There should be no mistake of that sort in Poona now.' (Bombay Gazette; 15 May, 1879)

'We are sorry that the Government should be away from the presidency at a time of panic and Bombay was almost panic stricken when it heard on Tuesday last of the dacoity at Palaspe, which is only a few miles from this place.' (Native opinion;

18.5.1879, Bombay.)

'A feeling of extreme uneasiness at the exploits of the decoits is becoming very general. The people in the city and cantonment of Poona are greatly alarmed. Accounts of dacoities continue to be received in nearly all parts of the presidency. Even the Europeans residing in the railway lines are frightened into sending their wives and children away for safety.' (Bombay Gazette; 19.5.1879)

'लंदन टाइम्स' ने भी भारत में उठते बवंडर के समाचार छापते हुए ऐसा मत व्यक्त किया था—'These armed gangs seem to form a part of a regular organization under the command of one Vasudeo Balwant lately a clerk in the Finance Department.'

इसी समाचारपत्र ने एक संपादकीय में लिखा था—'The manifesto sent to the Bombay Governer resembles the insolence of Irish Ribandism. It talks of organizing another Mutiny (of 1857) and invents as its patron a mysterious potentate on whom it bestows the name of Shivaji the Great, founder of Maratha Empire.' (London Times; 19.5.1879)

मद्रास के 'इंडियन डेली न्यूज' ने इसी मई माह में लिखा—'The people of Poona and Satara have a history of dacoits ripening into successful rebellions, a living history repeated in their folk songs. Vasudeo Balwant's true character has not yet been comprehended. If he be capable of half burning the capital of Maharastra and of filling all the country with terror at the expectation of his name, the reward (for his capture) appears to be too small.' आदि-आदि।

कलकत्ता के Statesman ने लिखा है—'It is not strange that the recent incendiarism at Poona should have excited the keenest interest and enxiety throughout the country... where conflagrations have come to be recognised as serious rebellion...' (21.5.1879)

अंत में अंग्रेजी सैनिक दलों के चारों ओर से घेर लेने के बाद मेजर ड्यानियल

ने २० जुलाई को वासुदेव बलवंत और उनके साथियों को पकड़ा। उनपर एवं उनके चुने हुए साथियों पर अंग्रेजों की सरकार के विरुद्ध सशस्त्र युद्ध घोषित करना, डाके डालना आदि के आरोप लगाकर न्यायिक कार्रवाई चालू की गई। कारागृह में वासुदेव बलवंत को कष्ट दिए गए। उन्होंने आत्महत्या का भी प्रयास किया, परंतु वह विफल हुआ। पुणे में न्यायालय के आसपास सैकड़ों लोग उनके दर्शन पाने के लिए खड़े रहते थे। वे सब वासुदेव बलवंत की जय-जयकार भी करते थे। उन दिनों उन्हें कोई विधिज्ञ (वकील) मिलना कठिन था, पर 'जगत् काका' के नाम से ख्यात गणेश वासुदेव जोशी ने वकातलनामा प्रस्तुत किया।

अभियोग चालू हो जाने पर वासुदेव बलवंत ने वकील की सलाह के अनुसार कहा, 'मैंने आत्मवृत्त तीव्र आवेग में लिखा है, वह साक्ष्य के लायक नहीं है। रामोशी डकैती डालते ही हैं, उनको पकड़कर सरकार के सुपुर्द करने हेतु मैंने उनसे मित्रता की। विद्रोह करने का मेरा विचार नहीं था। साक्षीगण पुलिस के डंडे के भय से झूठ बोल रहे हैं।' सरकारी शिकंजे से छूटने के लिए वकील ने जो-जो सिखाया, वह उन्होंने कहा, पर अंत में इस नाटक का निर्वाह नहीं कर पाए और जो कुछ सत्य था, वही उन्होंने कहा—विधिक प्रकरण में साक्षीगणों ने कहा कि वासुदेव बलवंत हमसे कहा करते थे कि 'मुझे ब्रिटिश राज उलटकर हिंदू राज स्थापित करना है।'

स्वयं वासुदेव बलवंत द्वारा लिखा हुआ आत्मवृत्त और दैनंदिनी सरकार की ओर से साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत की गई। वासुदेव बलवंत ने भी अपने अंतिम वक्तव्य में निर्भय होकर उसका अनुवाद किया—उन्होंने कहा, 'ऐ मेरे सर्व हिंदुस्थानवासी बंधुओ! आपके कल्याण के लिए मैंने अपने प्राण झोंक दिए हैं। ऐसा करके मैं कोई विशेष कार्य कर रहा हूँ, ऐसा नहीं है। क्या दधीचि ऋषि ने देवों के कल्याण के लिए अपनी हड्डियाँ निकालकर नहीं दी थीं? वैसे ही मेरे प्राण लेकर ईश्वर आप सबका कल्याण करे, यही उससे मेरी प्रार्थना है।...मेरे देशबंधुओं पर अंग्रेजों द्वारा किए गए नानाविध अत्याचारों पर विचार करते-करते मेरा मन अंग्रेजी सत्ता का नाश करने के लिए मचलने लगा। प्रातःकाल से संध्याकालपर्यंत और रात्रि में तथा नींद में भी मेरा निरंतर वही विचार चलता रहता था। मध्य रात्रि में मैं उठ बैठता और देर तक इसपर विचार करता रहता कि ब्रिटिशों का नाश कैसे किया जा सकता है। जिस भूमि की कोख से मेरा जन्म हुआ, उसीसे सारे जन्मे। वे दाने-दाने के लिए तरसते हुए मरें और हम कुत्ते की तरह पेट भरें, यह मुझसे सहन नहीं होता था। मैंने इसलिए अंग्रेजों के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह छेड़ा, नौकरी पर लात मारी और स्वराज के लिए लूटमार से धन भी एकत्र करने का निश्चय

किया।'''इस तरह अच्छे आधार पर खड़ा छोटा विद्रोह कर अपना राज क्यों न प्राप्त किया जाए। इस तरह सब ओर से सशस्त्र प्रयास होने पर यदि चमत्कार होता तो प्रजासत्तात्मक राज्य की स्थापना का मेरा उद्देश्य पूरी तरह सिद्ध हो जाता। फिर आकाश से स्वयं ईश्वर ही उतरकर अंग्रेजों को बचाता तो बचाता, पर यह न हो सका। मुझे सफलता नहीं मिली, परंतु ईश्वर जानता है, यह सब मैंने देश के लिए किया। ऐ हिंदुस्थानवासी लोगो, मुझसे आपको कोई लाभ न हुआ। मैं अपना उद्देश्य प्राप्त नहीं कर सका, इसके लिए आप मुझे क्षमा करें।'

अभियोग की सारी कार्यवाही के अंत में वासुदेव बलवंत को आजीवन कारावास का दंड दिया गया। इसके बाद विधिक सच-झूठ का सहारा लेकर एक अपील भी उन्होंने की। अपील में उन्होंने कहा था—मैंने विद्रोह कभी किया ही नहीं। मैं तो ब्रिटिश राज का राज्यनिष्ठ नागरिक था। शिवाजी ने भी 'मैं मुसलिम बादशाह का एकनिष्ठ सेवक हूँ' ऐसे स्वाँग कई बार किए थे। उनकी अभ्यर्थना (अपील) अस्वीकार हुई। सरकार ने उन्हें आजीवन कारावास भोगने के लिए 'अदन' भेज दिया।

वहाँ कारावास में रहते हुए इस वीर व्यक्ति ने एक रात हाथ-पैर की बेड़ियाँ तोड़ डालीं, कोठरी के द्वार उखाड़ डाले और कारागृह की दीवार पर चढ़कर भाग गया। प्रातःकाल होते ही इस अद्‌भुत साहस की कथा अधिकारियों ने पढ़ी। तुरंत ही इधर-उधर घोड़े दौड़ाए गए। दौड़कर कई कोस दूर पहुँचे उस क्रांतिकारी वीर को दिन ढलते फिर से पकड़ लिया गया। वह पुनः कारागृह में बंद कर दिए गए। एक-दो वर्षों में उनका वह बलवान शरीर दुर्बल हो गया और सन् १८८३ में वह पराक्रमी देशभक्त तिल-तिलकर कारागृह में ही मर गया।

उनके संबंध में देशवासियों के मन में क्या था, वह उस परिस्थिति में अंग्रेजी कानूनों की भयानक जकड़न में जितना अधिक स्पष्टता से कहा जा सकता था, उतना पूरी सदयता से 'अमृत बाजार पत्रिका' ने कह डाला। उस समाचारपत्र के संपादक ने लिखा है—'Vasudeo Balwant Phadake possesses many of the traits of those high souled men who are now and then sent in this world for the accomplishment of great perposes. ...The noble feelings of a Washington a Tale (of Switzerland) and a Garibaldi animated his breast and if he is not appreciated in this country. ...His heart overflowed with love for India. Whatever he had he was willing to offer for his country, even his life. The every idea of establishing a Republic shows the

unselfish nature of his mind. He had no intention to establish a Raj of his own. ...Forget for a moment that Phadake led bands of dacoits and sought the subversion of British Government and then he stands before you as a being as superior to the common herd of humanity as the Himalayas to the Satpura Range.' (A.B. Patrica; 15.11.1879)

इस सशस्त्र विद्रोह के साठ-सत्तर सदस्यों को काला पानी भेजा गया। कुछ यों ही मर गए। अनेक की गृहस्थी उजड़ गई और आश्चर्य यह कि अंग्रेजों के विरुद्ध छेड़े गए इस सशस्त्र विद्रोह में एक भी अंग्रेज का रक्त नहीं बहा, अंग्रेजों का घर-बार नहीं लूटा गया। इसका कारण मुख्य रूप से यही था कि क्रांतिकारियों का कार्यक्रम ही दिशा भूल गया था। अंशतः इसे 'योगायोग' ही कहा जाएगा।

रामसिंह कूका और वासुदेव बलवंत

सन् १८५७ के बाद १८८४ तक अंग्रेजी शासन के विरुद्ध इन दो उल्लेखनीय क्रांतिकारी व्रिदोहों में स्वरूपतः ही कुछ विभेद था। गलती से ठोकर लगकर फटा हुआ बम और निशाना साधकर फेंका गया बम, इसमें जो भेद होता है, वही भेद इनमें था। अंग्रेजों का विश्वास जिस वर्ग पर था, उस अंग्रेजी-शिक्षित एवं सरकारी सेवक वर्ग में से ही वासुदेव बलवंत और उसके क्रांतिकारी अनुयायी आगे आए। अंग्रेजी राज उलटकर मातृभूमि को स्वतंत्र करने और उस स्वतंत्र हिंदुस्थान में प्रजासत्तात्मक राज की स्थापना करने के लिए हम शस्त्र उठा रहे हैं, ऐसी घोषणा उस समय के भारतीय नेताओं को असभ्य, अभद्र और अवाच्य लगनेवाली थी, पर अंग्रेजों को सर्पदंश की तरह प्राणघातक लगनेवाली विषबुझी भाषा में घोषणा कर वासुदेव बलवंत ने क्रांतिकारी विद्रोह किया था। उसमें भी परिस्थिति ऐसी कि कूका आंदोलन को स्थानीय सहायता और सद्भाव न मिलने के कारण 'तेरी भी चुप, मेरी भी चुप' के बहाने अंग्रेज उस विद्रोह का उल्लेख कहीं न करके छिपाने में सफल हो गए। इस कारण सशस्त्र विद्रोह की परंपरा पंजाब में जड़ नहीं जमा सकी, परंतु महाराष्ट्र में रामोशी, किसान तथा पशुपालकों से लेकर स्वयं को ब्रिटिशनिष्ठ कहलानेवाले बड़े-बड़े और धनवान नेताओं तक ने अपनी-अपनी तरह से वासुदेव बलवंत को देशवीर के रूप में सम्मान और मान्यता दी। इन सब कारणों से इस सशस्त्र विद्रोह का हल्ला-गुल्ला न केवल स्वदेश में, बल्कि विलायत में भी हुआ और इस कारण सशस्त्र क्रांति की परंपरा महाराष्ट्र में जड़ जमा सकी। □

प्रकरण–९

वासुदेव बलवंत का सशस्त्र संघर्ष

(अंग्रेजी सत्ता पर हुई प्रतिक्रिया)

हिंदुस्थान का राजकाज जिन नागर और सैनिक ब्रिटिश अधिकारियों के हाथों रहता था, उनमें से दंडनैतिक वर्ग भी इस क्रांतिकारी विद्रोह से भयभीत हुए बिना न रह सका। राज्य-व्यवस्था को खतरा उत्पन्न हो गया है, यह उनको मानना पड़ा। किंतु सदैव ऐसी हाँक लगाते रहना उस वर्ग के लिए कठिन हो गया था।

अंग्रेज अधिकारियों के दूसरे वर्ग, जो पहले से ही डंडाशाही वर्ग को 'देखो सावधान रहो, नहीं तो फिर सन् १८५७ की भाँति प्राण संकट में पड़ेंगे' कहता आ रहा था, को अपनी दूरदृष्टि की शान बघारने और हिंदुस्थान का राजकाज अपनी कही कूटनीति से चलाने का अवसर वासुदेव बलवंत के सशस्त्र विद्रोह के कारण प्राप्त हुआ। महाराष्ट्र में जिस वर्ग को ब्रिटिशनिष्ठ वर्ग समझते थे, उस अंग्रेजी-शिक्षित वर्ग में ही ब्रिटिश द्रोह पनप रहा है, यह तथ्य सशस्त्र विद्रोह से स्पष्ट हो जाने से सारे ब्रिटिश कूटनीतिज्ञ भयभीत हो गए थे। वह ब्रिटिश द्रोह का छूत अन्य प्रदेशों के ब्रिटिशनिष्ठ अंग्रेजी-शिक्षित वर्ग में न फैल पाए, इसके लिए उन्होंने तत्काल साम-दाम-दंड-भेद का मायाजाल फैलाना शुरू कर दिया। इस ऐंग्लो-इंडियन वर्ग के नेता थे ए.ओ. ह्यूम। इन ह्यूम साहब का चरित्र उनके ही वर्ग के उनके एक साथी ने लिखा है। उस चरित्र में ह्यूम की उस समय की वैचारिक दशा का यह चित्र हमें देखने को मिला है—

'Looking over India during the period with the help of information at his (Hume's) disposal (he had served as chief secretary to the Viceroy) Hume became convinced that concerted action by responsible friends of India was necessary to counteract

the dangerous currents of opinions and to turn the gathering political consciousness of educated Indians into pacific and fruit-ful channels. When Lyton left (1880 A.D.) the country after a term during which famine, frontier wars and administrative Vagaries had combined to produce a mass of ugly feelings, the outlook was exceedingly disquieting...

'Hume realised that the existing Government administered by foreign officials on outocratic lines was dangerously out of tune with the people. There was a great gulf between the foreign beaurocracy self centered on the heights of Simla and the mil-lions living on the plain below. And about the year 1878-79 eco-nomic combined with political troubles were actively at work throughout India. ...While in schools and colleges the leaven of Western education was working among the intellectuals teaching lessons of political History and now it was only through storm and stress that the British people had won for themselves the bless-ings of freedom.

'Hume knew there was imminent risk of a popular out-break of which Indian leaders were blissfully ignorant. The new wine was fermenting in old bottles and that any time the bottles might burst.

'There existed no recognized channel of communication between the rulers and the ruled. The absence of which found the Government imprepared to meet the emergency in 1857.'

उपर्युक्त उद्धरण का अनुवाद देने की आवश्यकता नहीं है। इन अंग्रेज कूटनीतिज्ञों के विचारों के संबंध में हमने पहले जो कहा, वही इसमें कहा गया है। केवल उसे उनके अपने शब्दों का आधार होना चाहिए। इसलिए हमने उपरोक्त उद्धरण दिए हैं। उसमें वासुदेव बलवंत के सन् १८७८-७९ के सशस्त्र विद्रोह और सत्तांतरण का स्पष्ट उल्लेख है। अंग्रेजी सत्ता को वास्तविक डर ऐसे ही सशस्त्र क्रांतिकारी विद्रोह का है। ऐसे साधनों की ओर भारतीय लोगों का ध्यान न जाए, इसलिए उनकी दिशा परिवर्तित करने के लिए क्या-क्या लालच दिए जाएँ, अंग्रेजी सत्ताधिकारियों और कूटनीतिज्ञों की यह चिंता उपर्युक्त उद्धरण में स्पष्ट है। इस

संबंध में अंग्रेजी सलाहकारों के बीच गहन चर्चा के उपरांत यह तात्कालिक गुप्त नीति निश्चित हुई थी कि अंग्रेजी-शिक्षितों एवं सरकारी सेवकों का जो एक ब्रिटिशनिष्ठ, प्रभावी, संपन्न और मुखर वर्ग हिंदुस्थान के सभी प्रांतों में अस्तित्व में है, उसे संगठित करने के लिए उनकी एक अखिल भारतीय संस्था स्थापित की जाए। इस ब्रिटिशनिष्ठ भारतीय संस्था के हाथों से ही जनता में उदित हो रही क्रांतिकारी प्रवृत्ति की पुरानी जड़ें आसानी से खोदकर निकाली जा सकती हैं और नए अंकुर पैदा होना असंभव किया जा सकता है, ऐसा विश्वास अंग्रेजी कूटनीतिज्ञों को हो गया था। अत: इस वर्ग के नेता श्री ह्यूम ने सन् १८८३ में सरकारी सेवा से मुक्त होते ही यह काम अपने हाथों में लिया।

पहले उन्होंने हर प्रांत के ब्रिटिशनिष्ठ भारतीय नेताओं से अपने मन की बात छिपाते हुए विचार-विनिमय किया। उस समय देश में स्थापित हो चुकी या स्थापित हो रही भारतीय राजनीतिक संस्थाओं का भी अनुमान उन्होंने लगाया।

ऐसी संस्थाओं में आयु और कर्तव्य से अग्राधिकार-प्राप्त संस्था थी पुणे की 'सार्वजनिक सभा'। रायसाहब श्री रानडे प्रभृति अनेक अंग्रेजी-शिक्षित बड़े नेताओं ने सन् १८७० में वह राजनीतिक संस्था स्थापित की थी। लोगों में बड़े प्रेम और आदर से 'जगत् काका' कहलाए जानेवाले गणेश वासुदेव जोशी उस सभा के सबसे कर्मठ देशभक्त कार्यकर्ता थे। उनका पूरा जीवन मानो इसी सभा के लिए समर्पित था। वासुदेव बलवंत फड़के भी उस सभा में थे। कोरी भाषणबाजी से अपना मन उचट जाने तक वे उस सभा के सक्रिय कार्यकर्ता थे। वैसे तो वह संस्था विधि की मर्यादाओं में कार्यरत संस्था थी, पर सन् १८७४ में ही उसने एक ऐसा प्रस्ताव पारित किया था, जो उस समय किसी भी कार्यरत राजनीतिक संस्था को नहीं सूझ-सँभल रहा था। प्रस्ताव था कि हिंदुस्थान के प्रतिनिधि ब्रिटिश पार्लियामेंट में लिये जाएँ और भारत का राजकाज उनके विचार से चलाया जाए। इस सार्वजनिक सभा के अनुकरण में बंबई के फीरोजशाह मेहता, तैलंग, तैयबजी आदि तत्कालीन नेताओं ने 'बॉम्बे प्रेसीडेंसी एसोसिएशन' नामक संस्था स्थापित कर राजनीतिक आंदोलन प्रारंभ किया। उसमें भी रानडे का सहयोग था। मद्रास में उसी तरह की संस्था 'महाजन सभा' सन् १८८१ में और बंगाल में सुरेंद्रनाथ बनर्जी के नेतृत्व में 'बंगाल नेशनल लीग' नामक संस्था स्थापित हुई। भविष्य में इन प्रादेशिक संस्थाओं से किसी अखिल भारतीय राजनीतिक संस्था का जन्म होने की संभावना थी। पुणे और बंबई में उसके लिए चर्चाएँ भी शुरू हो गई थीं। सुरेंद्रनाथ बनर्जी ने सन् १८८३ में 'इंडियन नेशनल एसोसिएशन' (Indian National Association) नामक संस्था की स्थापना की। उसकी शाखाएँ हिंदुस्थान भर में खोलने के उद्देश्य से पंजाब का

एक प्रचार-दौरा भी उन्होंने किया था। (बाद में कांग्रेस की स्थापना हो जाने पर वह संस्था कांग्रेस में ही विलीन कर दी गई।)

केवल भारतीय नेताओं की अगुवाई से ऐसी कोई संस्था स्थापित हो, यह बात अंग्रेज कूटनीतिज्ञों को पसंद नहीं थी। वह श्रेय उन्हें स्वयं लेना था और दूसरा यह कि सुरेंद्रनाथ जैसे कितने ही ब्रिटिशनिष्ठ नेता हों, पर थे तो वे भारतीय ही। केवल भारतीय नेताओं के हाथोंवाली संस्था की तुलना में ऐंग्लो-इंडियन अधिकारियों के नियंत्रण की संस्था पर ब्रिटिश राज की स्थिरता बनाए रखने की जिम्मेदारी सौंपना ब्रिटिश अधिकारियों की दृष्टि में अधिक निरापद था। इसलिए सन् १८८४ में ही ह्यूम साहब, जो जल्दी से मिल सकते थे, ने ऐसे सहयोगियों को घेरकर उपरोक्त नीति के आधार पर एक अखिल भारतीय राजनीतिक संस्था स्थापित करने की डोंडी चारों तरफ पिटवा दी। उस संस्था का नाम रखा 'दि इंडियन नेशनल यूनियन' (The Indian National Union) जिसकी मूल प्रतिज्ञा थी—Unswerving loyalty to the Crown. (ब्रिटिश राजमुकुट के प्रति अडिग निष्ठा)।

इस संस्था पर प्रभुत्व बनाए रखने की ब्रिटिश अधिकारियों की इच्छा का विरोध किसी भारतीय नेता ने नहीं किया। हाँ, ब्रिटिश वायसराय द्वारा इस योजना का विरोध हुआ। वह आश्चर्यजनक समाचार मैं आगे दूँगा।

कल तक ब्रिटिश सत्ता के बड़े-बड़े पदों पर आसीन होकर जो ह्यूम शासन चलाते थे, उन्हीं ह्यूम के सेवानिवृत्त होते ही भारतीय प्रजा का पक्ष लेकर लोक-कल्याण के लिए उनके साथ आकर मिलना और भारतीय प्रजा की अगुवाई स्वीकार करने की कृपा करना, ब्रिटिशनिष्ठ अंग्रेजी-शिक्षित भारतीय लोगों के लिए बड़ी उदारवादी घटना थी। इसलिए उन्होंने ऐसे अधिकारियों पर धन्यवाद और अभिनंदन की खूब वर्षा की। इस संस्था के संविधान में ब्रिटिश राजमुकुट के प्रति अडिग निष्ठा की जो धारा ह्यूम साहब की योजना में थी, वह इन भारतीय नेताओं की स्वयं की निष्ठा का पुनरुच्चार ही थी। ह्यूम साहब की ओर से यदि वह धारा न भी जोड़ी जाती तो भारतीय देशभक्त स्वयं ही उसे जोड़ देने का कार्य करते, क्योंकि वह उनकी इच्छा थी, बंधन नहीं।

इस अंतराल में ह्यूम साहब ने अपनी योजना और हमने पहले जिसकी चर्चा की, उसके निहित उद्देश्य के संबंध में सरकार की मंत्रिपरिषद् के उच्च पदासीन अंग्रेजी अधिकारियों और उस समय के वायसराय लॉर्ड डफरिन आदि से गुप्त विचार-विनिमय किया था। इस अखिल भारतीय संस्था का स्वरूप केवल राजनीतिक न होकर सामाजिक भी हो, इस संबंध में गहन चर्चा अंग्रेज कूटनीतिज्ञों ने की थी। परंतु लॉर्ड डफरिन का आग्रह था कि इस संस्था का स्वरूप राजनीतिक

ही होना चाहिए। उसी तरह यह भी निश्चय किया गया कि ह्यूम साहब ने जल्दी-जल्दी में प्रयोग हेतु जिस संस्था की स्थापना की घोषणा की है, उस 'इंडियन नेशनल यूनियन' का विसर्जन कर उन्हीं नीतियों के आधार पर और अधिकाधिक भारतीय नेताओं को लेते हुए तथा उनकी पूरी सहमति प्राप्त करते हुए अखिल भारतीय स्वरूप की एक नई संस्था स्थापित की जाए जिसका नाम 'इंडियन नेशनल कांग्रेस' हो।

वायसराय की प्रेरणा और आशीर्वाद से जन्मी कांग्रेस के आगे-पीछे ब्रिटिश नेतृत्व के हाथों से निकल जाने की संभावना को यथाशक्ति असंभव करने के लिए ह्यूम साहब ने सुझाया कि इस नई संस्था के वार्षिक अधिवेशन में संस्था का अध्यक्ष पद उस प्रांत के गवर्नर को दिए जाने की पद्धति विकसित की जाए, जहाँ अधिवेशन हो। परंतु लॉर्ड डफरिन ने यह योजना स्वीकार नहीं की, क्योंकि उन्होंने इस नई राजनीतिक संस्था की योजना को जिस उद्‌देश्य से प्रेरित किया था, वह उद्‌देश्य इस तरह सीधे-सीधे सरकारी संस्था बनाने से सफल होनेवाला नहीं था। गवर्नर जैसे बड़े अधिकारी संस्था के अध्यक्ष बने रहने पर सामान्य जन यही सोचते कि यह सरकारी संस्था है और फिर भारतीय जनता पर उसका प्रभाव विपरीत पड़ता। यदि उसका अध्यक्ष पद जनता के देशभक्त नेता को दिया जाता है और फिर भी 'ब्रिटिश राज हिंदुस्थान के कल्याण के लिए चिरायु रहे' आदि घोषणाएँ होती रहेंगी, तभी वह भारतीय जनता की अधिक प्रिय संस्था हो पाएगी। दूसरा महत्त्वपूर्ण लाभ यह था कि भारतीय लोगों द्वारा गाए जानेवाले स्तुति-गीत यूरोप, अमेरिका आदि की जनता के आगे गवाकर ब्रिटिश साम्राज्य की वाहवाही दुनिया भर में फैलाना कहीं अधिक सरल होगा। यह किस प्रकार संभव था, इसपर विचार करते हैं।

हर प्रांत के सारे-के-सारे ब्रिटिशनिष्ठ लोगों—जिनमें नेता, सेवानिवृत्त छोटे-बड़े ब्रिटिश और भारतीय अधिकारी, राजनीतिक संस्थाएँ, देश के प्रमुख विधि व्यवसायी, डॉक्टर, संपादक, वित्ताधीश और विद्याधीश थे, ने इस नई संस्था में सम्मिलित होने के वचन दिए। उसका पहला अधिवेशन बंबई में आयोजित करने का दायित्व रानडे, तैलंग, फीरोजशाह आदि वहाँ के मान्य नेताओं ने स्वीकार किया। उसका अध्यक्ष पद किसको दें? किसी शासकीय अधिकारी को नहीं दें, यह बात तो लॉर्ड डफरिन ने पहले ही स्पष्ट कर दी थी। इसीलिए ह्यूम साहब ने स्वयं पीछे रहकर भारतीय नेताओं को आगे किया। उन भारतीय नेताओं ने लॉर्ड डफरिन से निवेदन किया कि नई भारतीय संस्था के पहले अधिवेशन के लिए तो हम बंबई प्रांत के तत्कालीन गवर्नर लॉर्ड रे का ही चयन कर रहे हैं। अतः अपनी

सहमति देने की कृपा करें।

लॉर्ड डफरिन ने फिर से स्पष्ट तौर पर उस अनुरोध को अस्वीकार करते हुए सूचित किया कि जन्म ले रही इस हिंदुस्थानी संस्था का अध्यक्ष पद किसी हिंदुस्थानी व्यक्ति द्वारा ही स्वीकार किया जाना उचित होगा, सरकार यही समझती है। ऐसा क्यों? इस गुप्त विषय पर लॉर्ड डफरिन ने कुछ भी नहीं कहा। परंतु उस हिंदुस्थानी भोली जनता को ऐसा लगा कि ये ब्रिटिश लोकसत्ता की परंपरा के अनुयायी होने के कारण ही हमपर इतना भरोसा कर रहे हैं और यह सोचकर तो वे सब बड़े ही प्रभावित और संतुष्ट थे। भारतीय नेता कह रहे थे कि हमें ब्रिटिश नेतृत्व ही चाहिए। ब्रिटिश वायसराय कह रहे थे—'रहने दें, रहने दें, भारतीय नेतृत्व ही कांग्रेस की शोभा बढ़ाएगा।' इस तरह ह्यूम आदि साहबों का खेल रंग लाने लगा।

सन् १८६० से १८८४ तक के कालखंड में अलग-अलग प्रांतों में राजनीतिक परिवर्तन किस-किस तरह होता गया, यहाँ तक हमने यही बातें विशेषकर कहीं और इस ग्रंथ की पृष्ठभूमि के लिए जो आवश्यक था, उसका विश्लेषण भी किया।

अब हमें इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना से लेकर सन् १८९५ के अंत तक की राजनीतिक परिस्थिति का विश्लेषण करना है।

□

प्रकरण–१०

अखिल भारतीय राष्ट्रीय महासभा की स्थापना

पूर्वोक्त कथन के अनुसार अंग्रेजी कूटनीतिज्ञों की योजनानुरूप रंगभूमि की सजावट पूरी होते ही सन् १८८५ में इंडियन नेशनल कांग्रेस का पहला अधिवेशन बंबई में हुआ। अध्यक्षता बंगाल के श्री व्योमेश चंद्र बनर्जी ने की। प्रारंभ में ही भारत की सम्राज्ञी महारानी विक्टोरिया के प्रति असीम और पूर्ण राजनिष्ठा का प्रदर्शन प्रतिज्ञापूर्वक किया गया—

'We pledge our unstinted and unswerving loyalty to Her Majesty the Queen Victoria, the Empress of India.'

इस पहले अधिवेशन से आगे अनेक वर्षों तक राजनिष्ठा का यह 'श्रीगणेशाय नमः' कहे बिना कांग्रेस पोथी पढ़ ही नहीं पाती थी। जैसा आरंभ, वैसे ही पहले अधिवेशन का अंत भी राजनिष्ठा तथा ह्यूम साहब की जय-जयकार से संपन्न हुआ। पूर्व में स्वयं सरकार के एक उच्च पदाधिकारी रहते हुए अखिल भारतीय महासभा को जन्म देकर तथा उसका नेतृत्व स्वीकार करके ह्यूम साहब ने जो साहस एवं न्यायप्रियता प्रदर्शित की और भारतीय लोगों पर जो उपकार किए, उनके प्रति अपनी कृतज्ञता कांग्रेस मंडप में एकत्र भारतीय प्रतिनिधियों एवं प्रेक्षकों ने Three Cheers for Hume की ध्वनि से मंडप का वह लघु आकाश गुँजाकर व्यक्त की। इस कृतज्ञता-ज्ञापन को स्वीकार करते हुए ह्यूम साहब तत्काल उठ खड़े हुए और कहा, 'देखिए, अब अंत में तीन बार ही नहीं अपितु तीन के तीन गुना और संभव हो तो उसके भी तीन गुना बार (Three times three and if possible three times that) भारत-सम्राज्ञी विक्टोरिया की जय-जयकार करें।' वैसा ही हुआ। आगे भी अनेक वर्षों तक हर कांग्रेस अधिवेशन के अंत में हिंद-सम्राज्ञी या सम्राट् की जय-जयकार प्रतिनिधियों तथा दर्शकों का गला सूखने तक चिल्ला-चिल्लाकर

की जाती रही।

कभी-कभी कांग्रेस के राजनिष्ठ देशभक्तों को ऐसी जय-जयकार के बाद कोई दयालु वायसराय या गवर्नर उनके सूखे गलों को तर करने के लिए शीतल पेय भी पिला देता था। कांग्रेस का दूसरा अधिवेशन कलकत्ता में हुआ था। इस अवसर पर लॉर्ड डफरिन ने कांग्रेस के सभी प्रतिनिधियों को सम्माननीय अतिथि के रूप में आमंत्रित कर एक शानदार उद्यान भोज भी दिया था। उसके बाद मद्रास में आयोजित कांग्रेस अधिवेशन के अवसर पर मद्रास प्रांत के अंग्रेज गवर्नर ने ऐसा ही एक उद्यान भोज देकर प्रतिनिधियों का सम्मान किया था।

ह्यूम साहब को कांग्रेस का महासचिव नियुक्त किया गया। जिन्होंने बड़े-बड़े सत्ता-पदों पर रहकर ब्रिटिशों की ओर से हिंदुस्थान पर निरंकुशतापूर्वक शासन किया था, सेवानिवृत्त होने के बाद उन्हीं ह्यूम, वेडर्बर्न आदि ऐंग्लो-इंडियन लोगों को तब कांग्रेस का अध्यक्ष पद भी दिया जाता था। हिंदुस्थान की तिजोरी से लाखों रुपयों की तो केवल भृति (पेंशन) पचानेवाले ऐंग्लो-इंडियन वर्ग के ये अध्यक्ष कांग्रेस की व्यास-पीठ पर से भाषण देते-देते जब हिंदुस्थान की दीन, दरिद्र एवं अकाल पीड़ित जनता के लिए करुणा से व्याकुल होते थे, तब 'अभिनय हो तो ऐसा' कहते हुए श्रेष्ठ अभिनेता भी मुँह में अँगुली दबा लेता था।

धीरे-धीरे कांग्रेस भी कुछ माँगें करने लगी। भारतीय लोगों को सरकारी विभागों में उच्चाधिकार पदों पर अधिक संख्या में नियुक्त किया जाए, 'कर' कुछ कम किए जाएँ, सरकारी सलाहकार समितियों में कुछ कम ही सही पर भारतीय लोग नियुक्त किए जाएँ, धीरे-धीरे विधिमंडल (धारा सभा) के लिए चाहे अति सीमित परंतु कुछ उपक्रम अवश्य किए जाएँ ताकि उसमें अपने दो-चार प्रतिनिधि भेजने का अधिकार जनता के वरिष्ठ स्तर के लोगों को मिले, ऐसी नितांत सेवाभावी माँगें होती थीं। इस तरह की माँगें कांग्रेस करे और उनमें से किसी नितांत निरापद माँग को ब्रिटिश सरकार ढिंढोरा पीटते हुए स्वीकार करे, यही ब्रिटिश कूटनीति थी। उसी तरह इन माँगों का प्रस्ताव करते समय भारतीय नेतृत्व सरकार की जो कुछ टीका करते, उससे भी कड़ी टीका ह्यूम, वेडर्बर्न आदि हिंदुस्थान के हितैषी, हिंदुस्थानी सरकार की करते थे। उसे सुनकर हमारी भोली-भाली ब्रिटिशनिष्ठ पीढ़ी को लगता कि इन ऐंग्लो-इंडियन नेताओं ने निस्संदेह केवल हिंदुस्थान के हित में ही कांग्रेस की स्थापना की है। बेचारे हमारे लिए स्वयं के अंग्रेज देशबंधुओं से और उनकी सरकार से भी ये लड़ रहे हैं!

कांग्रेस की स्थापना करने के पीछे क्या कूटनीतिक दाँव था, यह प्रकट करने का प्रसंग भी इस अंग्रेज कूटनीतिज्ञ वर्ग पर कभी-कभी आ ही जाता था। एक-दो

उदाहरण देखें। भारतीय नेतृत्व बड़े डरते हुए सरकार पर टीका करते या कोई सामान्य सी माँग प्रस्तुत करते थे, परंतु सरकारी अधिकारियों में ऐसा भी एक तीसमार खाँ डंडाप्रेमी पक्ष था जिसे लगता था कि इन सबसे सरकार की बड़ी अप्रतिष्ठा हो रही है। उनके एक नेता सर आक्लैंड ने कांग्रेस जैसी उपद्रवी संस्था स्थापित कर ब्रिटिश सरकार का वर्चस्व कम करने, भारतीय लोगों में असंतोष का बीज बोने तथा ब्रिटिश हित के विरुद्ध घातक कार्य करने के लिए ह्यूम जैसे लोगों की प्रखर आलोचना की। तब ह्यूम ने उन्हें जो उत्तर दिया, उसे ह्यूम के चरित्र लेखक वेडर्बर्न ने इस प्रकार लिखा है—

'There was no cause for fearing political danger from the congress. ...It is the British Government which has let loose forces which unless wisely guided and controlled must sooner or later involve consequences which are too dangerous to contemplate. And it is to limit and control them and direct them when there is yet time to do so...that this Congress movement was designed.'

उपर्युक्त छद्म वाक्यों का सीधा अर्थ इतना ही है कि हिंदुस्थान में सशस्त्र क्रांति की जो प्रवृत्ति बढ़ रही है, उसे यदि समय पर ही कांग्रेस की ब्रिटिश-निष्ठा की बेड़ियाँ नहीं पहनाई जातीं तो सन् १८५७ जैसे सशस्त्र युद्ध का कोई संकट अंग्रेजी सत्ता को फिर से आ घेरता। उस तरह के सशस्त्र क्रांतिवाद से भारतीय लोगों को विमुख करने के लिए ही तो कांग्रेस का मायाजाल पसारा गया था। ऐसे में उस कांग्रेस से ब्रिटिश शासन को कौन सा भय हो सकता है। उलटे ह्यूम कहते हैं कि It is necessary for the safety of the state. अर्थात् ब्रिटिश सत्ता को हिंदुस्थान में सुरक्षित रखने के लिए ही इसकी आवश्यकता है।

वास्तविक डर तो क्रांतिकारियों से था, कांग्रेस से नहीं

ब्रिटिश लोगों के मन पर उपर्युक्त धारणा को पुष्ट करने के लिए ये हिंदुस्थान के हितचिंतक उस समय एक अर्थपूर्ण उपमा का प्रयोग करते थे। आवरण त्यागकर जब उन्हें अपने हेतु का सत्य रूप प्रकट करना अनिवार्य ही हो जाता, तब वे स्पष्ट रूप से कहते, 'देखो, भाप-यंत्र में भाप को निरंतर बंद करते रहे तो कभी-न-कभी वह भाप, यंत्र फोड़कर बाहर चली आएगी। फिर क्या सारा यंत्र टुकड़े-टुकड़े होने से बचेगा? यदि ऐसा नहीं होने देना है तो अतिरिक्त भाप को नियंत्रण के साथ बाहर निकालने की व्यवस्था करने के लिए एक सुरक्षा-छिद्र (Safety Valve) होना

आवश्यक होता है। वैसी ही बात ब्रिटिश राजयंत्र की है। विदेशी राजकर्ता के विरुद्ध बढ़ते असंतोष को यदि सदा डंडाशाही से दबाना चाहो तो उसका क्रांतिकारी विस्फोट हुए बिना न रहेगा जो पूरे शासन-तंत्र के कब टुकड़े-टुकड़े कर देगा, कहा नहीं जा सकता। वैसा न हो, इसलिए उस असंतोष को मुखर करने का रास्ता बनाए रखना ही चाहिए। धीरे-धीरे बातें करते हुए उस असंतोष को बह जाने देने के लिए एक रास्ता, एक सुरक्षा-छिद्र रखना आवश्यक है। वह सुरक्षा-छिद्र हमने 'इंडियन नेशनल कांग्रेस' के रूप में बनाया है।

एक ओर भारतीय लोगों से कहना कि उनके हित में ही हमने कांग्रेस की स्थापना की है और दूसरी ओर ब्रिटिश लोगों से कहना कि हिंदुस्थान में ब्रिटिश सत्ता चिरकाल तक अबाधित बनी रहे, इसी मुख्य हेतु से हमने कांग्रेस की स्थापना की है। ह्यूम ऐंड कंपनी का ऐसा दोमुँहापन देखकर क्या कांग्रेस के भारतीय देशभक्त क्रुद्ध हुए? नहीं। क्योंकि उस विसंगति में क्रोध आने जैसा कुछ था ही नहीं। ब्रिटिश राज हिंदुस्थान पर चिरकाल तक अकुंठित चलता रहे, क्योंकि.उसीमें हिंदुस्थान का कल्याण है, हो रहा है, होना है, ऐसी उन कांग्रेसी भारतीय देशभक्तों की स्वयं की निष्ठा थी। अत: ब्रिटिश सत्ता दृढ़ करना और हिंदुस्थान का कल्याण करना, ये एक ही सिक्के के दो पहलू थे, एक ही अर्थ के दो वाक्य थे। ह्यूम ने ब्रिटिश सत्ता को दृढ़ करने के लिए ही कांग्रेस की स्थापना की, ऐसा कहने का अर्थ 'भारतीय लोगों के हितार्थ कांग्रेस स्थापित की' ऐसा होता हैं; और भारतीय लोगों के हित में कांग्रेस की स्थापना की—ऐसा कहें तो 'ब्रिटिश सत्ता को दृढ़ करने के लिए कांग्रेस स्थापित की', ऐसा उसका अर्थ होता है। ऐसी पलायन-वृत्ति के उन कांग्रेसी ब्रिटिशनिष्ठ भारतीय देशभक्तों को ह्यूम जैसे ब्रिटिश नेता के दोमुँहे वक्तव्यों की यह विसंगति चुभती तो थी ही नहीं, उलटे वह विरोधाभास अलंकार का उत्तम उदाहरण है, ऐसा ही उनको लगता होगा।

फिर भी कांग्रेस का महासचिव ह्यूम अपने अंधभक्तों के कहे में नहीं रहता था। कांग्रेस में प्रस्तुत प्रस्तावों में ब्रिटिश हितों के विरुद्ध कभी गलती से भी कोई बोला तो ह्यूम आदि उसे वहीं रोक देते थे। कांग्रेस के तीसरे या चौथे अधिवेशन में मद्रास के हिंदी प्रतिनिधि ने यह बात सर्वाधिक आग्रहपूर्वक कही कि जिस विधि के अधीन हिंदुस्थान को नि:शस्त्र किया गया है, वह शस्त्रबंदी अधिनियम रद्द किया जाए और ऐंग्लो-इंडियनों की तरह भारतीय लोगों को भी शस्त्र रखने की अनुमति दी जाए।

यह प्रस्ताव सुनते ही ह्यूम साहब का माथा ठनका। हिंदुस्थान के हितचिंतक की नाटकीय भूमिका को भी वे भूल गए और बड़े रूखे स्वर में बोले, 'सन् १८५७

के काले संकट का अनुभव जिसको हुआ है, ऐसा कोई भी ब्रिटिश नागरिक फिर से भारतीय लोगों को पुनः शस्त्र देने का परामर्श नहीं देगा। यह मान्य होनेवाली बात नहीं है। कांग्रेस को अपनी मर्यादा का ध्यान रखकर ही बोलना चाहिए और ऐसे अनुत्तरदायी प्रस्ताव नहीं लाने चाहिए।'

ह्यूम साहब के मन पर सन् १८५७ का भारी आघात लगा था। इसीलिए वह उक्त प्रस्ताव के विरुद्ध इतना आवेशपूर्वक बोल सके। दूसरे ऐंग्लो-इंडियनों ने क्रोध से कहा कि ब्रिटिश जैसी शक्तिशाली सत्ता तुम्हारे हिंदुस्थान की सब शत्रुओं से रक्षा करने में समर्थ होते हुए तथा देश में शांति और सुव्यवस्था रखने का वचन महारानी द्वारा मैग्नाकार्टा में देने पर शस्त्रों की आवश्यकता ही क्या है? उनके इस क्रोध-भरे प्रश्न का वैसा ही उत्तर देने के लिए वासुदेव बलवंत जैसा कोई व्यक्ति वहाँ होना चाहिए था। पर ह्यूम की कांग्रेस में वैसा दुर्दम्य आदमी कहाँ से मिलता? कांग्रेस का सदस्य तो सभ्य ही हो सकता था। उन सभ्य सदस्यों में से अधिकतर लोगों ने हिंदुस्थान के हितैषी ऐंग्लो-इंडियन लोगों का वह संतप्त प्रश्न 'तुम्हें शस्त्रों की आवश्यकता ही क्या है?' सुनकर जो उत्तर घबराकर दिया, उसका सारांश इतना ही था कि बाघ या वैसे ही जानवर से ढोर-डंगर बचाने, जंगली सुअरों से खेती-फसल और चोर-डाकुओं से घर-द्वार की रक्षा करने के लिए ये शस्त्र चाहिए, अन्यथा हमें इन शस्त्र आदि से क्या लेना? दो-तीन सदस्यों ने कुछ कड़े शब्दों में जो उत्तर दिए, वे भी दयनीय ही थे। जैसे महारानी की घोषणानुसार हम भी ब्रिटिश साम्राज्य के निष्ठावान नागरिक हैं और शस्त्र रखना निष्ठावान नागरिकों का प्राथमिक अधिकार है।

मैग्नाकार्टा की विविध व्याख्याएँ

सन् १८५७ के क्रांतियुद्ध के बाद घोषित पत्रक में ऐसे कुछ दो-चार आश्वासनपरक वाक्य थे कि विक्टोरिया महारानी ने अब ईस्ट इंडिया कंपनी का विसर्जन करके हिंदुस्थान का सारा राजकाज अपने हाथ में ले लिया है। इसलिए उसकी सारी प्रजा से समानता का व्यवहार किया जाएगा और उसका संरक्षण किया जाएगा।

कांग्रेस के अंग्रेज कूटनीतिज्ञों और हमारे ब्रिटिशनिष्ठ भारतीय देशभक्तों ने इन वाक्यों का जो एक से बढ़कर एक भाष्य किया, उनसे उस अवधि के समाचारपत्र और अन्य सामग्री भरी पड़ी है। उन सभी की तर्क-प्रणाली संक्षेपतः यह थी—

चूँकि ब्रिटेन और हिंदुस्थान दोनों की महारानी एक ही है। इसलिए पूरा साम्राज्य ही हम दोनों का सम्मिलित साम्राज्य है। यह सम्मिलित साम्राज्य है,

इसलिए हिंदुस्थान पर विदेशी राज्य है, ऐसा मानना या समझना मूलतः गलत है। उसमें भी महारानी के सन् १८५७ के बाद जारी घोषणा-पत्र में हिंदुस्थान को दिए ताम्रपट में ऐसा स्पष्ट अभिवचन दिया हुआ है कि उसके सब प्रजाजनों से समानता का व्यवहार किया जाएगा। अर्थात् वैधानिक दृष्टि से भारतीय प्रजाजन ब्रिटेन का प्रधानमंत्री भी हो सकेगा, जैसे ब्रिटिश प्रजाजन हमारा गवर्नर या गवर्नर जनरल हो सकता है। अतएव हमारा प्रश्न हिंदुस्थान को स्वराज अथवा स्वातंत्र्य मिलने का नहीं है, वह संवैधानिक दृष्टि से हमें मिला हुआ है ही! अब प्रश्न यही शेष रहता है कि उस विधि के अधीन कार्यवाही हो।

हिंदुस्थान में आनेवाले महारानी के कुछ अधिकारी क्रूर होते थे। जो उपद्रव होता था, वह उनके उस स्वभाव के कारण होता था। उन अधिकारियों के कपटपूर्ण व्यवहार की शिकायत करने, महारानी के और उसके मंत्रिमंडल को बताने के लिए विलायत शिष्टमंडल भेजना, अभी राजकाज चलाने के योग्य नहीं होने के कारण भारतीय लोगों की योग्यता बढ़ाना, अपनी राजनिष्ठा उत्कट और अटल रखना तथा उसे कलंकित करनेवाला सशस्त्र विद्रोह जैसा जघन्य राजद्रोही एवं देशद्रोही अपराध देश में किसीके द्वारा भी किए जाने पर अधिकारियों द्वारा उसका तत्काल अंत करना, इतना ही हमारा मुख्य कार्यक्रम है। एक वाक्य में कहें तो हमारा झगड़ा यहाँ की अफसरशाही से है, ब्रिटिश राजमुकुट से नहीं। हम हिंदुस्थानी लोग सम्राज्ञी या सम्राट् के अति राजनिष्ठ प्रजाजन हैं।

कांग्रेस के उस समय के अधिवेशनों में एक-से-एक वक्ता रानी के उस घोषणा-पत्र की चिंदी लेकर हाथ ऊपर उठाए गर्जना करता—यह देखो हमारा मैग्नाकार्टा। जिसने यह दिया है, वह कोई ऐसा-गैरा नहीं है, वह हैं 'देवीश्री विक्टोरिया सार्वभौमिनी'!!

परंतु वह मैग्नाकार्टा की चिंदी लिखकर देने के लिए ब्रिटिश महारानी को किसने विवश किया? कांग्रेस की उस दीन-दरिद्र वृत्ति या सन् १८५७ के सशस्त्र क्रांतियुद्ध के विकट रण ने? परंतु इस कार्य-कारण का उच्चारण तक कोई वक्ता नहीं करता था। अधिकतर भारतीय नेताओं को उसमें निहित मर्म का पता ही नहीं था। कदाचित् वह जानकारी भी नहीं थी। जिसे यह मर्म की बात ज्ञात थी, वह ह्यूम था। कांग्रेस का ह्यूम सदृश ऐंग्लो-इंडियन नेता उस प्रकरण में धूर्तता से चुप ही रहता था।

दादाभाई नौरोजी का साक्ष्य

उस समय के ईमानदार कांग्रेसी देशभक्तों में दादाभाई नौरोजी सिरमौर थे।

हमारे पारसी देशबंधुओं के लिए यह बात गौरवमयी है कि उनके समाज में उन दो पीढ़ियों में हिंदुस्थान के हित के लिए आजन्म प्रयास करनेवाले दादाभाई नौरोजी, फीरोजशाह मेहता, वाच्छा आदि प्रामाणिक, कर्तव्यशील और महान् देशभक्त हुए। हमने अभी तक हिंदुस्थान के उस समय के वातावरण की और विशेषकर कांग्रेस की ब्रिटिशनिष्ठ मनोवृत्ति का जो विश्लेषण किया है, उसकी वास्तविकता को साक्ष्य से पुष्ट करने के लिए हम उन्हीं दादाभाई नौरोजी का उद्धरण प्रस्तुत करना चाहते हैं। दादाभाई नौरोजी तब तक 'राष्ट्र पितामह' की पदवी से अलंकृत नहीं हुए थे। तब वे उतने वयोवृद्ध और ज्ञानवृद्ध भी नहीं थे, जितने होने के बाद उन्हें ब्रिटिश निष्ठा के फल कड़वे लगने लगे थे। कांग्रेस के जन्म के समय से ही वे एक लोकप्रिय नेता के रूप में हिंदुस्थान भर में जाने जाते थे। अध्यक्ष के नाते उन्होंने कांग्रेस अधिवेशन में अपने भाषण में कहा—

'Our faith in the instinctive love of justice and fair play of the people of the united kingdom is not misplaced...I for one have not the shadow of doubt in dealing with such justice loving and fair minded people as the British. We may rest fully assured that we shall not work in vain. It is this conviction which has supported me against the difficulties. I have never faltered in my faith in the difficulties. I have never faltered in my faith in the British character and have always believed that the time will come when the sentiments of the British nation our Glorious Soverign proclaimed to us in our great character of the proclamation of 1858 will be realized.'

इसका भावार्थ यह है कि 'ब्रिटिश लोगों की स्वाभाविक न्यायबुद्धि पर एवं उनके सभ्यतापूर्ण व्यवहार पर हमने जो निष्ठा प्रकट की है, वह गलत नहीं है। जहाँ तक मेरा संबंध है, मैं कह सकता हूँ कि ब्रिटिशों जैसे न्यायप्रिय और सदाचारी लोगों से व्यवहार करते हुए मुझे कभी भी आशंका नहीं होती। इस निष्ठा से हम जो कार्य कर रहे हैं, वह कार्य विफल नहीं होगा, मुझे ऐसा विश्वास है। इस विश्वास ने ही सारी बाधाओं में मुझे सहारा दिया। ब्रिटिशों के शील से मेरा विश्वास कभी डिगा नहीं। मुझे हमेशा यह विश्वास रहा है कि एक दिन ऐसा आएगा, जब सन् १८५८ के घोषणा-पत्र में हमें दिए गए उस ताम्रपट में, उस मैग्नाकार्टा में, ब्रिटिश राष्ट्र और हमारी कृपावंत सार्वभौमिनी द्वारा उद्घोषित सद्भावना, शुभेच्छा सफल होकर रहेंगी।'

प्रौढ़प्रज्ञ एवं प्रमुख नेता दादाभाई की इस ब्रिटिश निष्ठा की छाप उस समय

की बीस-तीस वर्षीय भावी देशसेवकों की युवा पीढ़ी पर इतनी सुदृढ़ पड़ी कि कुछ वर्ष बाद स्वयं दादाभाई तो उस आशावाद से निराश हो गए, परंतु उनके शिष्यों के मन से ब्रिटिशनिष्ठा की भ्रांति किसी प्रकार भी नष्ट नहीं हो सकी। रानडे और दादाभाई के पट्टशिष्य देशभक्त गोखले का ही उदाहरण देखें। उस समय के और दस-बारह वर्ष बाद जब गोखले प्रौढ़ हो गए तथा कांग्रेस के मान्य नेता के रूप में प्रसिद्ध हो गए, तब उन्होंने अपने 'भारत सेवक समाज' के विधान में जिस प्रतिज्ञा को स्वीकार किया, वह थी—

'The members of this new society frankly accept the British connection as ordained in the inscrutable dispensation of providence for India's good.' अर्थात् इस नई संस्था के सदस्य ईश्वर की कृपा से हिंदुस्थान में स्थापित ब्रिटिश सत्ता को निष्कपटता से स्वीकार करते हैं, क्योंकि उसीमें हिंदुस्थान का कल्याण है।

ऐसे ब्रिटिशनिष्ठ देशभक्तों के नेतृत्व में एवं ब्रिटिश सरकार के प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सहयोग से कांग्रेस की शाखा-प्रशाखा का विस्तार प्रथम दशक में ही सारे हिंदुस्थान में हो गया। 'ब्रिटिशों के उपकार', 'हमारा मैग्नाकार्टा', 'हमारी सम्राज्ञी विक्टोरिया', 'माई-बाप सरकार', 'ब्रिटिश राज ईश्वरीय वरदान', 'हम केवल उसके राजनिष्ठ प्रजाजन', 'ब्रिटिश साम्राज्य चिरायु हो' इत्यादि कांग्रेसी परिभाषाएँ और घोषणाएँ उन ऐंग्लो-इंडियन नेताओं द्वारा पढ़ाई गईं तथा उस समय के भारतीय कांग्रेसी नेताओं और अनुयायियों द्वारा पूरे मन से स्वीकार की गईं। ये सब हिंदुस्थान के हर समाचारपत्र में प्रकाशित होती रहीं। देश के सारे मुद्रणपीठ एवं वाक्पीठ कांग्रेस ने हथिया लिये। ब्रिटिशनिष्ठा की तूफानी बाढ़ से पूरा देश सराबोर हो गया। हिंदुस्थान की एकमात्र प्रतिनिधि एवं मुखर संस्था कांग्रेस ही है, ऐसा ह्यूम जैसे ऐंग्लो-इंडियन कूटनीतिज्ञ नेता गरज-गरजकर दुनिया से कह सकें, ऐसी वस्तुस्थिति उत्पन्न हो गई। कांग्रेस स्वयं को 'केवल यही सर्वमान्य संस्था है', इतना ही कहकर संतुष्ट नहीं होती थी, अपितु सर्वमान्य होने से उसे जितना गौरव होता था, उससे दस गुना अधिक गौरव 'मैं राजमान्य भी हूँ' यह घोषणा करने से होता था। कांग्रेस में जो कोई भी नेता बन जाता, वह कुछ दिन बाद किसी ब्रिटिश शासन के विभाग के उच्चाधिकार पद पर अंग्रेजों द्वारा नियुक्त कर दिया जाता। सर, सी.आई.डी., रायबहादुर आदि कोई-न-कोई मानद अलंकरण सरकार की ओर से उसे दिया जाता रहा। किसी-न-किसी शासकीय समिति या सलाहकार समिति में कांग्रेस के इन ब्रिटिशनिष्ठ नेताओं को लिया जाता था और ब्रिटिशों की ओर से मिलनेवाली इस राजमान्यता के प्रसाद-चिह्नों के संबंध में कांग्रेस बहुत गौरवान्वित होती थी।

हमने कांग्रेस के ऐसे आत्मतुष्ट प्रमुख नेताओं के व्याख्यानों और प्रतिज्ञाओं का जो नमूना ऊपर दिया है, वैसे अनेक भोले वक्तव्यों और राजनिष्ठा के कांग्रेसी प्रस्तावों का कपट पूर्ण उपयोग यूरोप, अमेरिका आदि से जुड़ी ब्रिटिशों की विदेश नीति के राजकाज में ह्यूम जैसे ऐंग्लो-इंडियन कूटनीतिज्ञ किस तरह कर लेते थे, यह भी देखने लायक है।

जिस प्रकार अंग्रेजों ने अन्य देश जीतकर अपना साम्राज्य विस्तृत किया, वैसे ही यूरोप के फ्रांस, ऑस्ट्रिया, रूस आदि देशों ने भी किया था। अंग्रेजों की महत्त्वाकांक्षा इतने से पूरी नहीं हुई। उनका लक्ष्य था कि अन्यों के साम्राज्य नष्ट या संकुचित हों और अपना साम्राज्य भयरहित रहे। अंग्रेजों की इस महत्त्वाकांक्षा के कारण अन्य साम्राज्यों में से किसी में भी वहाँ की पीड़ित जनता या राष्ट्र द्वारा आजादी के लिए विद्रोह करने पर इंग्लैंड उस क्रांतिकारी कार्य का समर्थन अवश्य करता था। ऑस्ट्रिया की दासता से मुक्ति पाने के लिए जब इटली के क्रांतिकारी उठे, तब इंग्लैंड ने उनकी प्रशंसा की और उन्हें 'स्वतंत्रता-प्रेमी' कहा। परपीड़क और दुष्ट ऑस्ट्रियन साम्राज्य नष्ट होना ही चाहिए, यह भी प्रचारित किया। फ्रांस के साम्राज्य में भी उसके गुलाम देश सशस्त्र क्रांति करें, इसके लिए यथासंभव कार्य किया। मैजिनी, कोसूथ, रूस के क्रांतिकारियों आदि को इंग्लैंड में आश्रय दिया और स्वयं ही सारे परतंत्र राष्ट्रों का हिमायती होने का ढिंढोरा जोर-शोर से पीटा, पर हिंदुस्थान के पैर में डाली हुई अपनी गुलामी की बेड़ी रत्ती भर भी ढीली करने के लिए इंग्लैंड तैयार नहीं था।

इंग्लैंड की इस कपटपटुता के विरुद्ध कड़ी टिप्पणी यूरोप तथा अमेरिका के लोग करते थे। यदि इंग्लैंड को विश्व के साम्राज्यों के परतंत्र एवं पीड़ित राष्ट्रों के संबंध में इतनी चिंता है, तो इंग्लैंड अपनी निष्ठुर दासता से सबसे पहले हिंदुस्थान को मुक्त क्यों नहीं कर देता? ऐसी मर्मभेदी टिप्पणी इंग्लैंड के प्रतिस्पर्धी देश किया करते थे। परंतु इंडियन नेशनल कांग्रेस बन जाने के बाद ऐसी प्रखर टीका करनेवालों का मुँह बंद करने का एक सुंदर साधन इंग्लैंड को मिल गया। वास्तव में कांग्रेस की स्थापना का एक उद्देश्य यह भी था। लॉर्ड डफरिन ने कांग्रेस का अध्यक्ष पद किसी भी सरकारी अधिकारी द्वारा स्वीकार न करने की जिस पद्धति का विकास किया, उससे यह आभास अधिक पक्का हो जाता था कि कांग्रेस भारतीय लोगों की गैर-सरकारी स्वतंत्र संस्था है। इसका उपयोग विदेश राजनीति में करना सरल हो जाता था। ब्रिटिश समाचारपत्र, वक्ता, विदेशी प्रतिनिधि, ब्रिटिश पार्लियामेंट के सदस्य एवं ब्रिटिश मंत्री यूरोप और अमेरिका के देशों द्वारा की जानेवाली ब्रिटेन की आलोचना का सीधा उत्तर यों देने लगे थे—'देखिए, कांग्रेस के प्रस्ताव यह दर्शाते हैं कि हिंदुस्थान हमसे अलग होना ही नहीं चाहता। केवल इसीलिए हम वहाँ राज कर

रहे हैं और हिंदुस्थान की सहमति से हिंदुस्थान के हितार्थ वहाँ राज करना हम ब्रिटिशों का नैतिक कर्तव्य है।'

ब्रिटिशों के ऐसे उत्तरों का एक नमूना वेडर्बर्न के भाषण में मिलता है। हिंदुस्थान की तिजोरी से मोटी पेंशन पानेवाले इन साहब ने सन् १९०५ में ग्रीनिच ईथिकल सोसायटी में दिए गए अपने भाषण में कहा—

'While the Italians had always refused to accept the Austrian rule (during the period of their forced subjection) as the national rule boycotted the Austrians so as to make the administration impossible, the Indians on the other hand so far from boycotting the British had offered them their co-operation and accepted British rule as their national rule, while the resolutions of Indian National Congress showed how grievances might be redressed and the people made prosperous and contended, thus making British rule popular, stable and strong.'

सारांश यह कि इटली की जनता ने अपने ऊपर लादे गए ऑस्ट्रिया के शासन को कभी स्वीकार नहीं किया। वह उसे हमेशा परराज, परदासता ही कहती रही। उसने ऑस्ट्रिया के परराज का बहिष्कार कर रखा था। परंतु भारतीय लोगों ने तो हमारी ब्रिटिश सत्ता का बहिष्कार नहीं किया है। इतना ही नहीं, ब्रिटिशों की राजसत्ता को ही उन्होंने 'स्वराज' मानकर स्वीकार किया है। वे स्वयं आगे बढ़कर हमारी ब्रिटिश सरकार से सहयोग कर रहे हैं। भारतीय लोगों की प्रतिनिधि-संस्था इंडियन नेशनल कांग्रेस के प्रस्ताव इसके साक्षी हैं। वे ही यूरोपीय आदि देशों को हिंदुस्थान की ब्रिटिश राजनिष्ठा का पूरा साक्ष्य दे सकते हैं। प्रजा के दुःख दूर करने और लोगों को संपन्न तथा संतुष्ट रखने के कार्य में कांग्रेस का सहकार्य हमें प्राप्त है। कांग्रेस चाहती है कि ब्रिटिश सत्ता इसीलिए लोकप्रिय, प्रबल और अटल रहे।

अर्थात् हिंदुस्थान में ब्रिटिश सत्ता प्रबल और अटल रखना प्रमुख साध्य था। लोगों के सुख और संतोष के लिए अपरिहार्य उठा-पटक करने की नीति ब्रिटिश साम्राज्यवादी निर्लज्जता से बार-बार स्पष्ट करते रहे। फिर भी कांग्रेस के भोले भारतीय नेता उनको हिंदुस्थान के हितचिंतक ही मानते रहे। मैकाले से लेकर ह्यूम तक ने पराजित हिंदुस्थान का मन जीत लेने के लिए, मन मार डालने के लिए जो-जो उपाय सोचे थे, उनमें से अधिकतर सफल होते जा रहे हैं, ऐसा एक समाधान ब्रिटिश कूटनीति को दिखने लगा हो तो उसमें कोई आश्चर्य नहीं। जिसे हिंदुस्थान की राष्ट्रीय सभा (इंडियन नेशनल कांग्रेस) कहा जाता है, वह अपनी खुशी से

हिंदुस्थान की स्वतंत्रता और राजासन छीन लेनेवाली ब्रिटिश सत्ता के सिर पर 'हमारी सम्राज्ञी' कहकर चँवर डुलाने में सुख और सम्मान समझे—यह देखकर यूरोप लज्जित था, परंतु हिंदुस्थान राष्ट्र की प्रतिनिधि कही जानेवाली कांग्रेस को उस दासता का खेद नहीं था। उलटे उसे वह ईश्वरीय वरदान लगता था।

विष भी कभी अमृत हो जाता है

यद्यपि हमारे लोगों की राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा और उसको पाने के लिए आवश्यक सशस्त्र क्रांति की प्रवृत्ति को कुचल देने के लिए ही अंग्रेजों ने इस ब्रिटिशनिष्ठ कांग्रेस की स्थापना की, उसका विस्तार किया, परंतु 'विषमप्यमृतम् क्वचित् भवेत्' (विष भी कभी अमृत हो जाता है) के न्याय से हमारे देश को एक अन्य लाभ अपरिहार्य रूप से मिलने लगा।

कांग्रेस का नाम 'इंडियन नेशनल कांग्रेस' (भारतीय राष्ट्रीय महासभा) रखा गया था। अर्थात् यह भावना उन लोगों में अनुस्यूत थी कि इंडिया-भारत-हिंदुस्थान यह आसेतुहिमालय एक एकप्राण अखंड राष्ट्र है। अलग-अलग प्रांतों की भिन्न-भिन्न भाषा और वेशभूषा के हजारों देशभक्त और विचारवान लोग कांग्रेस के वार्षिक और प्रांतीय अधिवेशनों में जैसे-जैसे बार-बार एक ही राष्ट्र-भावना से एकत्र होने लगे, वैसे-वैसे सामान्य जनता में भी देशभक्ति की भावना गहरी पैठने लगी। हम करोड़ों लोग उस एक ही भारत माँ की संतान हैं, हमारे अलग-अलग प्रांत उस एक ही भारत माता के, अपने अखंड हिंदुस्थान देश के केवल अंग-प्रत्यंग हैं। हमारे राजनीतिक और राष्ट्रीय सुख-दुःख एक ही हैं तथा यदि हम विश्व के अन्य राष्ट्रों की तरह बलवान, सम्मानित राष्ट्र बनना चाहते हैं तो हम सब एक-केंद्र, एकात्म, अखिल भारतीय और अखंड भारतीय ऐसी राजनीतिक एकता भी संपादित करें—हिंदू जगत् में पहले ही अंतर्निहित इस भावना की एक नई लहर देश के इस छोर से उस छोर तक प्रकटतः चलने लगी। परंतु कांग्रेस के अंग्रेजी-शिक्षित नेताओं को लगने लगा कि यह जो अखंड हिंदुस्थान की एकात्मता की प्रबुद्ध अनुभूति और राष्ट्र-एकता की भावना देश भर में अकस्मात् संचरित हुई है, वह अंग्रेजी शिक्षा के कारण है। अर्थात् ब्रिटिशों का राज इस देश पर है, इसलिए पंजाब, बंगाल, मद्रास आदि भिन्न प्रांतों के लोगों में 'हम एक राष्ट्र के लोग हैं' की भावना, जो पहले कभी भी नहीं थी, आज पहली बार उत्पन्न हुई है। उनका पक्का विश्वास था कि भारतीय राष्ट्र-एकता और राज्य-एकता की कल्पना भी ब्रिटिशों के हिंदुस्थान में आने के पूर्व हममें नहीं थी। वह तो ब्रिटिशों की एकछत्र राजसत्ता के ही कारण है, यह उन्हींका उपहार है।

कांग्रेस के हिंदू नेताओं की इस श्रद्धा को अंग्रेज नेता उठाए फिरते थे, यह कहने की आवश्यकता नहीं। अंग्रेज नेता खुले रूप में धमकाते, डराते हुए कहते थे—भारतीय लोगों में राष्ट्रीय एकता की यह भावना यदि आपको सुदृढ़ करनी है तो आपको चाहिए कि ब्रिटिशों के शासन के प्रति निरंतर राजनिष्ठ बने रहें। यदि ब्रिटिश छत्र भंग हुआ तो उसके एकात्म बन गए इस अखंड हिंदुस्थान की राष्ट्रीय एकता के भी टुकड़े हो जाएँगे। आप कोटि-कोटि भारतीय लोगों को देशभक्ति के सूत्र से बाँधे रखने की शक्ति ब्रिटिश सत्ता में है, इसलिए…। परंतु वस्तुस्थिति तो कुछ और ही थी!

□

प्रकरण–११

भारतीय राष्ट्रीय महासभा की नींव में मुसलिम काल–बम

काश कांग्रेसी नेताओं और उनके प्रचारकों ने स्वयं से ही एक आत्म-परीक्षक प्रश्न पूछा होता कि कांग्रेस को हम 'भारतीय राष्ट्रीय महासभा' किनके भरोसे कह रहे हैं? राष्ट्र के नाम कांग्रेस द्वारा आह्वान किए जाते ही—केवल दो-तीन वर्ष में असम से सिंध और कश्मीर से कन्याकुमारी तक के सहस्राधिक देशभक्तों ने जो प्रतिध्वनि दी है और उस राष्ट्रीय पीठ से जुड़ गए हैं, वे कौन हैं? और यह भी कि कांग्रेस के सभा-समारोहों में स्वयं को 'भारतीय' कहनेवाले नेता भी मूल घर के कौन हैं? माननीय परंतु कुछ-एक अपवाद छोड़कर कांग्रेस के स्वदेशभक्त सहस्राधिक अनुयायी थे तो सारे हिंदू ही। उन्हींके भरोसे वह अपने को 'भारतीय राष्ट्रीय महासभा' (इंडियन नेशनल कांग्रेस) कहा सकती है। केवल अंग्रेजी शिक्षा से राष्ट्रीय एकता की भावना जाग्रत हो सकती तो उस समय हिंदुस्थान में हजारों अंग्रेजी-शिक्षित तथा सरकार में ऊँचे पदों पर आसीन मुसलमान विद्यमान थे। फिर उनमें भी भारतीय एकता की भावना जाग्रत होनी चाहिए थी। परंतु क्या वे हजारों मुसलमान उस इंडियन नेशनल कांग्रेस में आए? सर बदरुद्दीन तैयबजी आदि दो-तीन को छोड़ दें तो अंग्रेजी-शिक्षित या अशिक्षित मुसलमान समाज कांग्रेस में क्यों नहीं आया? नहीं आया—इतना ही नहीं, अपितु अंग्रेजी-शिक्षित मुसलिम वर्ग ने ही आगे जाकर सर सैयद अहमद नाम से प्रसिद्ध व्यक्ति के नेतृत्व में कांग्रेस-स्थापना के तुरंत पश्चात् क्या उसके विरोध में अन्य एक मुसलिमपक्षीय संस्था 'दि पैट्रियॉटिक एसोसिएशन' स्थापित नहीं की? और इन अंग्रेजी-शिक्षित मुसलमानों ने सारे मुसलमानों को सूचित करने के लिए क्या यह डोंडी नहीं पिटवाई कि 'कांग्रेस तो हिंदू कांग्रेस

है। मुसलमानो, इसका बहिष्कार करो! कांग्रेस-बहिष्कार!!'

राष्ट्रीय एकता की भावना रक्त में रमी हुई है

अंग्रेजी में दो शब्द हैं—नेशन और स्टेट (Nation and State)। ये दो शब्द राजनीति के दो अलग-अलग भाव दर्शाते हैं। 'राष्ट्र' शब्द की जो व्युत्पत्ति है, वह गौण हो गई है उसे जो रूढ़ार्थ प्राप्त हो गया है, उस अर्थ में वह शब्द 'नेशन' का ही अर्थ व्यक्त कर सकता है। वैसे ही 'स्टेट' अर्थात् राज्य की बात है। इस संकेत से देखें तो राष्ट्रीय संस्था और राज्य संस्था—ये दोनों अंशतः भिन्नार्थक संस्थाएँ हैं। भौगोलिक, ऐतिहासिक, धार्मिक और सांस्कृतिक—प्रिय और पूज्य बंधनों से बँधे तथा भारत में निवास करते हमारे कोटि-कोटि देश-बांधवों के मन में इसीलिए राष्ट्रीय एकता की भावना सहस्राधिक वर्षों से रक्त में मिलती आ रही है। यह हिंदू जगत्—आसेतुहिमालय भारतभूमि की पूजा अपनी पितृ-भू और अपनी पुण्य-भू के रूप में करता आ रहा है। 'उत्तरस्याम् समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्। तद्वर्षं भारतं नाम भारती यत्र संततिः॥' यह हमारे राष्ट्रैक्य की आर्ष व्याख्या है, अंग्रेजी नहीं। अपने इस राष्ट्रैक्य की परिणति राज्य एकता में हो, यह भारत राष्ट्र एकछत्र हो, ऐसी महत्त्वाकांक्षा भी प्राचीन काल से हमारे राष्ट्रीय हृदय में सरसराती रही है। उसकी प्रेरणा से अखिल भरतखंड पर एकछत्र राज्यसत्ता प्रस्थापित कर उसकी राज्य-एकता भी प्राप्त करने के भगीरथ प्रयास प्राचीन काल से हमारी दिग्विजयी सेना और राज्यमंडल करते आ रहे हैं। साम्राज्य संस्था, चक्रवर्तित्व संस्था, राजसूयाश्व-मेधादिक यज्ञ-प्रथा, ये सब उसी प्रयास के द्योतक हैं। हमारे इतिहास के बिलकुल नए (जुड़े) पृष्ठों को देखें तो लगता है कि मुसलमानी पादशाही को उलटकर आसिंधु हिंदुस्थान में हिंदू पदपादशाही की स्थापना करने की प्रबुद्ध महत्त्वाकांक्षा सँजोए मराठी पराक्रम ने वह ध्येय प्राप्त कर ही लिया था। इस विषय का विस्तारपूर्वक लेखन 'हिंदुत्व' ग्रंथ में हमने किया है। जिज्ञासा हो तो उसे वहाँ देख सकते हैं।

महाराष्ट्र साम्राज्य की तत्कालीन विजय से प्रफुल्लित हिंदू-हृदय में उछलती राष्ट्रीय एकता की प्रबल भावना की प्रतिध्वनि उस समय की भाषा में यदि सुननी हो तो गोविंदराव काले और नाना फड़नवीस को—सन् १७९३ के आसपास अर्थात् जब तक महाराष्ट्र राज्य को अंग्रेजों की अँगुली भी नहीं लगी थी—लिखे पत्र के निम्नलिखित वाक्य पढ़ें—

'अटक (सिंधु) नदी के इधर दक्षिण समुद्र तक हिंदुओं का स्थान : तुर्कस्थान नहीं! यह हमारी सीमा पांडवों से विक्रमादित्य तक रक्षित कर उपभोग की गई। फिर राजकर्ता नादान निकले। यवन प्रबल हुए। बाद में शिवाजी महाराज राजकर्ता एवं

धर्मरक्षक हुए। उन्होंने एक कोने में धर्मरक्षण किया। उसके बाद नाना साहब व भाऊ साहब ऐसे प्रचंड प्रतापसूर्य हुए। इससे पहले उन जैसा कभी कोई हुआ ही नहीं। वर्तमान में श्रीमंत के पुण्य प्रताप से एवं राज्यश्री पाटिल बाबा (महादजी शिंदे) की बुद्धि तथा तलवार के पराक्रम से सबकुछ लौटकर घर में आ मिला··· जिस-जिसने हिंदुस्थान में सिर ऊँचा किया—पाटिल बाबा ने वही-वही सिर फोड़ा—जो अप्राप्य था, वह प्राप्त हो गया। अब उसका बंदोबस्त शककर्ता के रूप में करके उपभोग करें। कहीं पुण्याई कम न पड़ जाए और किसीकी दृष्टि न लग जाए, जो बात हुई, उसमें केवल देश या राज्य प्राप्त हुआ। इतना ही नहीं, अपितु वेदशास्त्रों का रक्षण, गो-ब्राह्मण-प्रतिपालन, सार्वभौमत्व भी प्राप्त हुआ। कीर्ति-यश के नगाड़े बजे—इतनी सारी बातें हैं। इस युक्ति को सँभालना!···'

हिंदू जगत् के मन में अखिल भारतीय राष्ट्रीय एकता की भावना इस तरह अंतर्निहित थी। इसीलिए 'इंडियन नेशनल कांग्रेस' (अखिल भारतीय राष्ट्रीय महासभा) नाम सुनते ही हिंदुओं की ममता जाग उठी। यह अपने ही राष्ट्र की संस्था है, ऐसी ममता उनके हृदयों में अपने आप स्फुरित हुई। अपनी मातृभूमि की सेवा करना अपना कर्तव्य है। इस निष्ठा से, किराए का कोई सौदा न करते हुए वे सहस्राधिक हिंदू देशभक्त और देशसेवक उस राष्ट्रीय संस्था के मंच के पास एकत्र होकर खड़े हो गए।

परंतु मुसलमान?

इसके विपरीत कांग्रेसी हिंदू नेताओं के 'आइए! आइए!!' कहकर निवेदन करते रहने पर भी इस अखिल भारतीय राष्ट्रीय महासभा में मुसलमान क्यों नहीं आए? इतना ही नहीं, जन्म से जाति-धर्मनिरपेक्ष रहकर एक राष्ट्र में विलीन हो जाने के कांग्रेस के सिद्धांत से ही मुसलमानों को इतना वैर क्यों था और तत्काल कांग्रेस के विरुद्ध अपनी स्वतंत्र संस्था उन्होंने क्यों बनाई? भोले-भाले कांग्रेसी हिंदू देशभक्त! मुसलमानों की मूल धर्म प्रवृत्ति और उसपर आधारित ऐतिहासिक परंपरा क्या है, इसकी उन अंग्रेजी-शिक्षित कांग्रेसी हिंदू नेताओं में से अधिकतर को कोई जानकारी नहीं थी।

हिंदू-मुसलमानों का सम्मिलित 'भारतीय', 'इंडियन' राष्ट्र जो कांग्रेस का ध्येय था, उन्हें (हिंदू कांग्रेसियों को) प्रामाणिक रूप से पूर्णत: विशुद्ध देशभक्ति का प्रतीक लगता था, परंतु वही मुसलमानों की धर्मनिष्ठा और ऐतिहासिक परंपरा का उपमर्दनकारक था। मुसलमानों के धर्मशास्त्र की दृष्टि से हिंदू-मुसलमानों का 'सम्मिलित' राज्य, यह बात ही मूल में अधर्म और पाप था। विशुद्ध मुसलिम राज्य

ही केवल धर्म्य है, उनकी शरीअत (शास्त्र) के अनुसार सही है। जितना अधिक लाड़-प्यार-भरी भाषा में कांग्रेस मुसलमानों से कहती कि 'हम हिंदू-मुसलमान एक ही देश की संतानें हैं। इसीलिए देशबंधु हैं और एक हिंदू राष्ट्र के नागरिक हैं' मुसलमान उतना ही अधिक उस कथन से चिढ़ने लगा।

मुसलमानों के धर्मशास्त्र के अनुसार जो विशुद्ध मुसलिम राज्य नहीं है, वह भूमि उनका देश हो ही नहीं सकता। उसे 'देश माता' कहना! तौबा! तौबा!! और जिस देश में मुसलिम राज्य भी नहीं, मुसलिम बहुसंख्यक भी नहीं, उलटे केवल गैर-मुसलिमों की अर्थात् मूर्तिपूजक हिंदुओं की प्रचंड बहुसंख्या है, वह देश तो काफिर स्थान, नापाक है। ऐसे देश में बलवानों के सामने मुसलमान भीगी बिल्ली जैसे नरम होकर अवश्य रहेंगे, परंतु डर से, निष्ठा से नहीं। इतना ही नहीं, ऐसे नापाक देश में रहने पर उन्हें एक धार्मिक प्रायश्चित्त भी करना पड़ता है। अक्षरशः 'तौबा' करनी पड़ती है।

मुसलमानों की इस मनोवृत्ति की निंदा या प्रशंसा करने के लिए हम यह वर्णन नहीं कर रहे हैं। वस्तुस्थिति जो है, जैसी है, वही कह रहे हैं। कोई भी मुसलमान विद्वान् इसे नकार नहीं सकता और किसी एक ने इसे नकारा भी, तो धर्मशास्त्र और इतिहास तो कहीं गया नहीं न? उनके ही शास्त्र से उनकी जाँच करनी चाहिए।

मुसलमानों द्वारा अराष्ट्रीय माँगें आरंभ

उपर्युक्त मुसलिम धर्मनीति एवं राजनीति के प्रचारार्थ सर सैयद अहमद के प्रयासों से अलीगढ़ में एक मुसलमानी स्वतंत्र शैक्षणिक संस्था की स्थापना हुई। अंग्रेजी शिक्षा के लाभ लेते हुए भी, उस शिक्षा के कारण हिंदुओं के जातिवंत स्वाभिमान को ठेस पहुँचानेवाली ब्रिटिश छाप 'भारतीयता' का जो 'रोग' हिंदुओं में बढ़ता जा रहा था, वह मुसलमान युवकों में न बढ़े और अंग्रेजी शिक्षा के बावजूद वे अशिक्षित मुसलमान से भी अधिक कट्टर मुसलमान बने रहें, इस विचार से अलीगढ़ की वह संस्था परिपूर्ण थी। यह संस्था कुछ ही समय में हिंदूद्वेषी मुसलिम राजनीति के केंद्र अलीगढ़ मुसलिम विश्वविद्यालय में परिणत हो गई।

तत्पश्चात् मुसलिम संस्था, समाचारपत्र, अधिवेशन आदि साधनों के माध्यम से संयुक्त मुसलिम संघटन का विस्तार करते हुए मुसलिम नेताओं ने सामूहिक रूप से कांग्रेस के विरुद्ध अंग्रेज सरकार का तीव्र प्रतिवाद करना प्रारंभ कर दिया। उनके उस समय के लेखन और भाषण का केंद्रबिंदु यही था कि कांग्रेस हिंदू संस्था है। यदि ब्रिटिश सरकार उसकी शक्ति बढ़ने देगी और हिंदुओं को उच्च अधिकार देगी

तो यहाँ हिंदू राज हो जाएगा। परंतु मुसलमान ऐसे हिंदू राज में रहने के लिए कभी भी तैयार नहीं होंगे। ब्रिटिश राज में हमें भय नहीं है। अत: कांग्रेस की माँगें, उसके नेताओं को दी जानेवाली बड़ी ऊँची नौकरियाँ, सरकारी समितियों में नियुक्तियाँ, राजनीतिक या नागरिक अधिकार इत्यादि देने के पहले हम मुसलमानों के प्रतिनिधियों से सहमति लेकर ही सरकार ऐसा करे। इतना ही नहीं, मुसलमानों के यहाँ के भूतपूर्व शासक होने के कारण उनकी जो विशेषता है और अल्पसंख्यक होने के कारण हमारे संरक्षण का जो विशेष दायित्व सरकार पर है, वह भी ध्यान में रखते हुए राजसेवा विभाग के उच्च पद, नौकरियाँ, प्रतिनिधित्व आदि अधिकार या लाभ सरकार से झगड़नेवाले हिंदुओं की तुलना में हम राजनिष्ठ मुसलमानों को अधिक एवं जातिगत आधार पर भी मिलना चाहिए।

यह कहना अनावश्यक है कि ह्यूम आदि कुछ ब्रिटिश कूटनीतिज्ञों ने जैसे कांग्रेस को उसकी ब्रिटिशनिष्ठ श्रद्धा के साथ उठा रखा था, वैसे ही दूसरे कुछ ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने मुसलिम संस्थाओं के कांग्रेस-विरोध को प्रोत्साहित किया। ब्रिटिश राजनीति के ये दो पक्ष दिखावटी थे। अंदर से उनका उद्‌देश्य एक ही था। ब्रिटिश राज्य की स्थिरता के लिए ब्रिटिशों को इन परस्पर विरोधी भारतीय संस्थाओं की आवश्यकता थी। इस फूट से ब्रिटिश साम्राज्य की दृढ़ता बढ़ती थी।

कांग्रेस का कर्तव्य

यह बात पूर्णत: स्पष्ट है कि हिंदू-मुसलमान में फूट डालने का दोष कांग्रेस के मत्थे नहीं डाला जा सकता। भारतीय राष्ट्रीय महासभा ने अपने सामने जो ध्येय रखा था, वह भौगोलिक राष्ट्रवाद (Geographical Nationality) का था। एक भूभाग में जो रहते हैं, वे सब लोग धर्म-जाति-निरपेक्ष एकराष्ट्र ही होते हैं अथवा होने चाहिए। यूरोप के फ्रांस आदि कुछ देशों के और विशेष रूप से ब्रिटेन के उस समय के एकराष्ट्रीय स्वरूप की देखा-देखी उन्होंने राष्ट्र की यह भौगोलिक व्याख्या की थी—वास्तविकता देखें तो उस बित्ता भर इंग्लैंड में वैसी देशीय राष्ट्रैक्य की भावना अंगीकृत होने के पूर्व—स्कॉटलैंड, इंग्लैंड, वेल्स आदि घटकों के बीच और रोमन कैथोलिक, प्रोटेस्टेंट आदि धर्म पंथों के बीच कितने ही यादवी युद्ध हुए। इनमें इंग्लैंड देश को शताब्दियों तक घिसटते रहना पड़ा था। परंतु इतना गहरा विचार न करते हुए एक देशभूमि ही राष्ट्रीय एकता का घटक होती है—ऐसी एकांगी श्रद्धा से वही व्याख्या कांग्रेस ने हिंदुस्तान के संदर्भ में की। हाँ, एक अर्थ में वह भी अनुचित नहीं थी। वह प्रयोग भी करके देखना आवश्यक था। यहाँ तक इस दिशा से आते हुए एक अर्थ में कांग्रेस गलत राह पर नहीं थी।

'कांग्रेस हिंदुओं की है, हम उसमें नहीं आते—हम मुसलमानों को विशेष अधिकार मिलेंगे, तभी हम उसमें सम्मिलित होंगे।' ऐसा कहने पर कांग्रेस को 'भारतीय राष्ट्रवाद' की अपनी प्रतिज्ञा का पालन करने के लिए यह पक्का उत्तर देना चाहिए था—'अखंड भारत हमारा देश है। वही हमारा राष्ट्र है। उसके सभी नागरिकों को जाति-धर्म-प्रांत-निर्विशेषता से इस भारतीय राष्ट्रीय महासभा में आने का अधिकार है। फिर वह धर्म से हिंदू है या मुसलमान, पारसी या ईसाई, ऐसी पूछताछ करना भी कांग्रेस की मूलभूत प्रतिज्ञा के विरुद्ध है। कांग्रेस में हिंदू-ही-हिंदू हैं, यह आपका कहना हमारी दृष्टि से उचित नहीं है, क्योंकि कुछ ब्रिटिश नागरिकों को छोड़ दें तो कांग्रेस में सम्मिलित जो भी लोग हैं, वे सब भारतीय हैं—इंडियन हैं, इतना ही हमें ज्ञात है। और जो आप स्वयं को मुसलमान कहते हैं, कल यदि कांग्रेस में सम्मिलित होते हैं तो आपको हम सब कांग्रेसी केवल भारतीय, केवल इंडियन ही मानेंगे, इसी नाम से पहचानेंगे, मुसलमान के रूप में नहीं। संपूर्ण भारतीय देशबंधुओं के हित में यह भारतीय राष्ट्रीय महासभा जो कुछ भी अधिकार माँगती है, वे अधिकार (प्राप्त होने पर) समान अंश में, समान नियमन से सब नागरिक भोगेंगे। नागरिकों को न्याय, धर्म स्वातंत्र्य देना-दिलाना इस राष्ट्रीय महासभा का कर्तव्य है—इससे अधिक इसका संबंध धर्म से नहीं होगा। इस प्रतिज्ञा पर विचार कर जिसे कांग्रेस में आना हो, आए अन्यथा न आए।'

परंतु ऐसा सीधा उत्तर न देकर कांग्रेस के भारतीय नेताओं ने मुसलमानों को मुसलमान के रूप में पहचानना और उनका मान-मनौअल करना आरंभ किया। कांग्रेस में हम अधिकतर हिंदू ही हैं, इस संबंध में उनका अपना मन ही उन्हें कचोटने लगा। कांग्रेस के अनेक हिंदू नेता लज्जित होकर कहने और लिखने लगे—'हम पहले भारतीय हैं, बाद में हिंदू हैं!' रायबहादुर रानडे तो इससे भी आगे बढ़कर स्पष्ट घोषणा करने लगे—'मैं हिंदू नहीं, मुसलमान भी नहीं, मैं केवल भारतीय हूँ!' परंतु जैसे-जैसे वे स्वयं को हिंदू कहलाने में लजाने लगे, वैसे-वैसे मुसलमान नेता अपनी संस्था के माध्यम से प्रकट रूप में गरजने लगे—'परंतु हम पहले मुसलमान हैं और बाद में भारतीय!' वे बड़े जोर-शोर से अपना मुसलमानी संगठन बनाने लगे और उसका उत्तर देने में समर्थ हिंदू संगठन बनाने की बात मन में भी लाना ये कांग्रेसी हिंदू राष्ट्रीय पाप समझने लगे। जिस संस्था का या सभा का उद्देश्य भारतीय राष्ट्र की नींव पर आधारित है, वह संस्था या सभा भारतीय राष्ट्रवादी है—फिर उसमें कोई मुसलमान है, नहीं है, ऐसी पक्की तर्कशुद्ध व्याख्या लागू करना छोड़कर कांग्रेस के सच्चे, परंतु राजनीति में प्रज्ञाशून्य देशभक्त स्वयं ही ऐसा कहने लगे कि जिस संस्था या सभा में कोई मुसलमान है

ही नहीं, उसे किस मुँह से 'भारतीय' कहें।

परिणामस्वरूप उन्होंने निश्चय किया कि किसी भी तरह कुछ मुसलमानों को तो कांग्रेस में लाना ही चाहिए। कांग्रेस में जाने के लिए अपने भाव बढ़ गए हैं, यह बात समझने में मुसलमानों को देर नहीं लगी—फिर 'यह' दोगे तो आएँगे, 'वह' दोगे तो आएँगे—ऐसी लूट मचने लगी तो इसमें आश्चर्य की क्या बात! मुसलिम दृष्टि अपनी आत्मनिष्ठ राजनीति चलाने की थी और उसकी तुलना में कांग्रेसी हिंदुओं की कोई राजनीति थी ही नहीं। इसलिए हिंदुत्व भी डूबा और भारतीयता भी डूबी।

सर्वसामान्यत: हमारी जनता की ऐसी समझ है कि लखनऊ समझौते के बाद या खिलाफत आंदोलन के बाद कांग्रेस मुसलमानों की गोद में गई और अपने भारतीय राष्ट्रवाद के ध्येय से हटने लगी। परंतु मुसलमानों से मुसलमान होने के कारण समझौता करने लायक उनकी जातीय धौंस की पूर्ति एक दिन या एक वर्ष में करना संभव नहीं था। अर्थात् उसकी जड़ उसके पूर्व समय में निहित थी। यह जड़ कहाँ है, इसका पता लगाने के लिए मैं कांग्रेस के प्रारंभ से उसके नेताओं के भाषण, लेख, प्रस्ताव प्रभृति तद्संबंधी लेखन पढ़ता चला तो मुझे दिखा कि अखंड हिंदुस्थान के विचार की नींव में धर्म-जाति-प्रांत-निर्विशेष भारतीय राष्ट्र के निर्माण करने हेतु स्थापित 'इंडियन नेशनल कांग्रेस' का प्रारंभ जहाँ से हुआ, उस प्रारंभ में ही कांग्रेस की ओर से होनेवाली मुसलमानों की धार्मिक एवं जातीय मान-मनौवल की जड़ें धँसी हुई हैं। उसमें भी उस समय के धुरंधर कांग्रेसी नेता सुरेंद्रनाथ बनर्जी महोदय का आत्मवृत्त जब मैं इस दृष्टि से ध्यान से पढ़ने लगा तो एक पैराग्राफ में चार-पाँच पंक्तियाँ दिखीं, उनपर न कोई टीप-टाप, न टीका। उसमें कुछ विशेष ध्यान देने योग्य है ही नहीं, ऐसी वृत्ति से सहज भाव से वे पंक्तियाँ लिखी गईं। परंतु मुझे वह लाख रुपए की लगीं। राजनीतिक साहित्य के कोने-किनारे से ऐसी पंक्तियाँ खोजकर उसका भाष्य करके उसके मर्म पर शोध-ज्योति डालने का अग्राधिकार—मैं समझता हूँ—मुझे ही प्राप्त है। वे पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

सन् १८८७ में मद्रास में कांग्रेस का तीसरा अधिवेशन हुआ। उसके संबंध में लिखते हुए देशभक्त सुरेंद्रनाथ बनर्जी अपने आत्म-चरित्र के १०८वें पृष्ठ पर लिखते हैं—

'...The Mohamedan community under the leadership of Sir Sayyad Ahmed had held aloof from the Congress. They were working under the auspices of the 'Patriotic Association' in direct opposition to the national movement. Our critics regarded the

National Congress as a Hindu Congress and the opposition papers described it as such.

'We were straining every nerve to secure the co-operation of our Mohamedan fellow countrymen in this great national work. We sometimes paid the fares of Mohamedan delegates and offered them other facilities.'

भावार्थ यह है कि सर सैयद अहमद के नेतृत्व में मुसलमान समाज कांग्रेस से अलग ही रह रहा था। कांग्रेस के राष्ट्रीय आंदोलन का स्पष्ट विरोध करने के लिए ही (सर सैयद अहमद द्वारा स्थापित संस्था) 'पैट्रियॉटिक एसोसिएशन' के नेतृत्व में मुसलिम समाज काम कर रहा था। हमारे टीकाकार नेशनल कांग्रेस को 'हिंदू कांग्रेस' कहते थे और विरोधी समाचारपत्र भी कांग्रेस को 'हिंदू कांग्रेस' ही लिखते थे। नेशनल कांग्रेस के महान् राष्ट्रीय कार्य में मुसलमान भाइयों का सहयोग प्राप्त करने के लिए हम अपनी ओर से प्रयास करते रहे थे। कभी-कभी तो कांग्रेस अधिवेशन में आने के लिए मुसलमान किराया और अन्य सुख-सुविधाएँ भी पाते थे।

इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि कांग्रेस ने ऐसे किराए के मुसलमानों को केवल इसलिए अपने साथ रखा था कि वे मुसलमान थे। हिंदू-मुसलमान की एकता एवं भारतीय राष्ट्र की समरसता का तमाशा पूरा करके दिखाने के पागलपन से सन् १८८७ के भी पूर्व अर्थात् पहले दो वर्ष से ही कांग्रेस ग्रसित हो चुकी थी। कांग्रेस के हिंदू नेताओं की इस मनोवृत्ति के कारण मुसलमानों को किराए एवं भत्ते के चेक देते-देते ही आगे कोरे चेक, गांधीजी के ब्लैंक चेक देने का प्रसंग आनेवाला था। इस बुद्धिभ्रम के कारण अपने आरंभ से ही इंडियन नेशनल कांग्रेस के हिंदू नेताओं ने मुसलमानों के पैर पकड़ने का काल-बम भारतीय राष्ट्रैक्य की नींव में ही अज्ञानता से रख दिया। उसी काल-बम का यथाकाल विस्फोट होकर अखंड हिंदुस्थान की—भारतीय राष्ट्रैक्य की—धज्जियाँ उड़ जानेवाली हैं—यह किसीने सोचा भी नहीं था।

देशभक्त सुरेंद्रनाथ बनर्जी के आत्म-चरित्र का एक और उद्धरण हमारे उपरोक्त वर्णन का कितना सही समर्थन करता है, इसका नमूना देखें। कांग्रेस के विरोध में स्वतंत्र मुसलिम संगठन स्थापित करनेवाले प्रसिद्ध हिंदूद्वेषी, अलीगढ़ विश्वविद्यालय के सूत्रधार सर सैयद अहमद की मृत्यु होने पर अपने आत्म-चरित्र के पृष्ठ ४९ पर सुरेंद्रनाथ महोदय लिखते हैं—

'...Sir Sayyad's Patriotic Association was started in opposi-

tion to the Congress. ...But let bygones be bygones. Let us not forget the debt of gratitude that Hindus and Mohamedans alike owe to the honoured memory of Sir Sayyad Ahmed. For, the seeds that he sowed are bearing fruits and today the Aligarh College, now raised to the status of a university, is the centre of that culture and enligtenment which had made Islam in India instinct with the modern spirit and along with that patriotic enthusiasm which argues well for the future solidarity of Hindus and Mohamedans!'

भावार्थ यह कि सर सैयद ने कांग्रेस का विरोध करने के लिए 'पैट्रियॉटिक एसोसिएशन' स्थापित की···पर जाने दें, जो हो गया सो हो गया। हम यह न भूलें कि हिंदू और मुसलमान दोनों ही सर सैयद अहमद के ऋणी हैं और इस कारण हम सब कृतज्ञता से उनकी स्मृति का स्मरण करें, क्योंकि उनके बोए बीज अंकुरित हो रहे हैं। वह अलीगढ़ का महाविद्यालय अब एक स्वतंत्र विश्वविद्यालय की ऊँचाई पा चुका है। आज अलीगढ़ उस संस्कृति के ज्ञान-प्रकाश का केंद्र बन गया है। उससे हिंदुस्थान के मुसलमान समाज में आज आधुनिक चेतना का संचार हो रहा है और हिंदू-मुसलमानों की भावी राष्ट्रीय एकता की शुभ सूचना देनेवाले उत्साही देशाभिमान की ज्योति फैल रही है।

सर सैयद जब मरे, तब उनकी उस अलीगढ़ संस्था से शिक्षित कांग्रेसी राष्ट्रीय एकता को नकारनेवाली या हिंदू-द्वेष से ओत-प्रोत मुसलमान तरुणों की एक पीढ़ी शिक्षित होकर निकल चुकी थी। फिर भी उस संस्था के अंतरंग के विषय में बड़े-बड़े हिंदू नेता कितने अज्ञ, अंध और असावधान थे—यह देखें! सुरेंद्र बाबू उपर्युक्त उद्धरण में मुसलमानों की जिस आधुनिक चेतना और देशाभिमान को भोलेपन से 'हिंदू-मुसलिम एकता की शुभ सूचना' समझते थे, वह वास्तव में मुसलिम राज्य आकांक्षा के द्वारा दी गई राष्ट्रभंग की धमकी थी।

इस ग्रंथ के दृष्टिकोण से कहने लायक कांग्रेस की उत्पत्ति और उसकी ब्रिटिशनिष्ठ अवधि अर्थात् सन् १८८५ से १८९५ तक का संक्षिप्त इतिहास ऐसा है। इस इतिहास से यह स्पष्ट है कि सन् १८९५ के पूर्व पाँच-छह वर्ष से जो कुछ राजनीतिक हलचल प्रकट रूप से चल रही थी, उसके मुख्य सूत्र कांग्रेस के हाथ में आ गए थे। उस कांग्रेस को ब्रिटिश निष्ठा की और मुसलिमपरस्ती की दो भूत बाधाओं ने प्रारंभ से ही जकड़ रखा था।

मुसलिम-अनुनय का खुलेआम विरोध कर उसे प्रतिबंधित कर सके, ऐसा

कोई भी हिंदू पक्ष उस अवधि में अस्तित्व में नहीं था। इस कारण कांग्रेस के शरीर में उस रोग के विषाणु अधिकाधिक फैलते चले गए।

ब्रिटिशनिष्ठा की भूत बाधा से उस राष्ट्रीय संस्था को मुक्त कराने का बीड़ा उठाए एक बलवान मांत्रिक उसी समय भारतीय राजनीति के प्रांगण में उतरा था। उसका नाम था—'केसरी' के संपादक महाराष्ट्र-केसरी बाल गंगाधर तिलक!

□

प्रकरण–१२

तिलक-पर्व

सन् १८८५ तक की राजनीतिक स्थिति का अवलोकन करते हुए पाँचवें प्रकरण में 'स्वदेशनिष्ठ' गुट (पक्ष) की नीतिगत ध्येय-धारणा की विशेषताएँ विशद् रूप में वर्णित हैं। यह पक्ष ब्रिटिशनिष्ठ पक्ष का कट्टर विरोधी था। महाराष्ट्र में उसका जन्म हुआ था। उस समय उसका प्रसार भी महाराष्ट्र के बाहर नहीं था। उस समय यह पक्ष कोई संगठित संस्था हो, ऐसा नहीं था। ब्रिटिश सत्ता से कुपित और उस विदेशी सत्ता का वैधानिक रीति से यथासंभव विरोध करते रहनेवाली मनोवृत्ति के एकमेव सूत्र से बँधा हुआ वह स्वदेशनिष्ठों का एक समूह था। इसी अर्थ में उसे 'पक्ष' कहा है। इस स्वदेशनिष्ठ पक्ष का वैचारिक एवं कार्यिक शिविर सशस्त्र क्रांतिनिष्ठ पक्ष की दीवारों से लगा हुआ रहता था। वे दो पक्ष एक न होते हुए भी इतने निकट थे कि उसके अनेक कार्यकर्ता परस्पर के शिविरों में आया-जाया करते थे। इस कारण कौन किस गुट में है, यह ब्रिटिश शासन का गुप्तचर विभाग भी नहीं कह सकता था। इसलिए उसने दोनों को 'ब्रिटिश-विरोधी' नाम की एक ही रस्सी से बाँध रखा था।

सन् १८७४ में विष्णु शास्त्री चिपळूणकर ने जब अपनी 'निबंधमाला' का प्रकाशन प्रारंभ किया, तब उस स्वदेशनिष्ठ मनोवृत्ति द्वारा मानो रणसिंहा ही फूँका गया। उसके निनाद से महाराष्ट्र के रानडे, लोकहितवादी आदि ज्येष्ठ-श्रेष्ठ-ब्रिटिशनिष्ठ नेता एवं प्रार्थना समाज आदि संस्थाओं का विचारपीठ कंपित हुआ। 'बॉम्बे गजट' पत्र ने अंग्रेज सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित करने के लिए यह छापना शुरू किया कि निबंधमाला में ब्रिटिशद्रोही अर्थात् राजद्रोही सामग्री होती है। विष्णु शास्त्रीजी की ऐसी आत्मप्रत्ययी चेतना और चालना से एक-से-एक तरुण, अंग्रेजी-शिक्षित स्वार्थत्यागी, स्वदेशनिष्ठ मंडली कर्मक्षेत्र में उतरी और शास्त्रीजी द्वारा

स्थापित नई स्वावलंबी शैक्षणिक संस्था, वृत्तपत्र संस्था और इतर संस्थाओं में केवल आंशिक वेतन पर काम करने लगी।

ब्रिटिशों की सेवा-चाकरी नहीं करना एवं राजकोप से भयभीत हुए बिना लोगों पर होनेवाले अन्याय की बात कहकर विदेशी सत्ता के संबंध में वैधानिक सीमाओं के अधीन यथासंभव असंतोष फैलानेवाला राजनीतिक आंदोलन चलाना उनका ध्येय हो गया। इसी अखाड़े में से तरुण तिलक आगे आए। महाविद्यालय की परीक्षा से निवृत्त होते ही वे विष्णु शास्त्री से आ मिले। तिलक और उनके आगरकर इत्यादि तरुण साथियों को साथ लेकर विष्णु शास्त्री ने सन् १८८१ में 'केसरी' की स्थापना की।

यद्यपि विष्णु शास्त्री सन् १८८२ में चल बसे, परंतु तिलक, आगरकर आदि ने 'केसरी' पत्र बंद नहीं होने दिया। कोल्हापुर के महाराज पर अत्याचार-संबंधी सारे समाचार 'केसरी' ने छापे। परिणामस्वरूप उनपर अंग्रेजी सत्ता पर की गई टीका संबंधी अभियोग चला और तिलक तथा आगरकर ने कारावास का दंड भोगा। उसके बाद तो 'केसरी' का संपादकत्व और संचालकत्व तिलक के ही हाथ में आ गया। तब से महाराष्ट्र में शक्तिसंपन्न हो रहे 'स्वदेशनिष्ठ' पक्ष का जो अनौपचारिक नेतृत्व तिलक के पास आया, वह अंत तक अटल बना रहा।

इसी बीच जैसाकि पहले वर्णित है, सन् १८८५ में 'इंडियन नेशनल कांग्रेस' की स्थापना हुई। उसकी स्थापना में रायबहादुर रानडे, तैलंग आदि मराठी ब्रिटिशनिष्ठ पक्ष के लोग अग्रगण्य थे। उस समय तरुण तिलकजी का और उनके गुट का राजनीतिक जीवन महाराष्ट्र की सीमा में ही सीमित था। अत: कांग्रेस की स्थापना से उनका कोई संबंध नहीं रहा। परंतु कांग्रेस के 'अखिल भारतीय राष्ट्रीय महासभा'— इस स्वदेशभक्तिपूर्ण सरस नाम और स्वयं प्रकट रूप में स्वीकार किया हुआ राष्ट्रैक्य एवं राज्यैक्य का उच्च और उदात्त ध्येय देखकर महाराष्ट्र का यह स्वदेशनिष्ठ पक्ष अन्य मतभेदों को गौण मानते हुए महाराष्ट्र के ब्रिटिशनिष्ठ गुट के समान उत्सुकता से कांग्रेस में जा मिला। स्वयं तिलक कांग्रेस के बंबई अधिवेशन में अर्थात् १८८९ में पहली बार कांग्रेस में उपस्थित हुए। उसके बाद भी कुछ वर्षों तक तिलक को कांग्रेस में कोई प्रमुखता से पहचानता नहीं था। उनका कार्य कांग्रेस बाह्य महाराष्ट्रीय जनता में ही चल रहा था। उनकी नीतियाँ भी उस अवधि की कांग्रेसी चौखट में नहीं आती थीं। उदाहरणार्थ, सन् १८९३ में और उसके बाद जूनागढ़, बंबई, पुणे, येवले इत्यादि स्थानों पर मुसलमानों ने दंगे किए। तब मुसलमानी बिच्छू का डंक कुचलने के लिए हिंदुओं द्वारा किए गए प्रतिकार का खुला समर्थन करने में, हिंदुओं पर लादे गए मुकदमों से उनको छुड़ाने में और हिंदू पक्ष के लिए निर्भयता से लड़ने में तिलक

तथा उनके स्वदेशनिष्ठ गुट ने अगुवाई की थी। महाराष्ट्र के ब्रिटिशनिष्ठ गुट और स्वयं कांग्रेस ने हिंदुओं के सत्पक्ष का बचाव करने में मुसलमानों के क्रोध के भय से जिस प्रकार की कायर-वृत्ति का परिचय दिया, वैसा तिलक ने नहीं किया। उलटे सार्वजनिक 'शिवाजी उत्सव', सार्वजनिक 'गणेशोत्सव' आदि राष्ट्रीय महोत्सवों की परंपरा प्रचलित कर तिलक और तिलक पक्ष ने महाराष्ट्र में हिंदू संगठन की नींव डाली। तिलक की ऐसी विविध जनसेवा से रानडे, फीरोजशाह मेहता, वाच्छा, गोखले इत्यादि ब्रिटिशनिष्ठ नेताओं के हाथों से महाराष्ट्र का नेतृत्व तेजी से खिसकता चला गया और तिलक नेता बनते गए। इसी लोकप्रियता के बल पर सन् १८९५ में वे बंबई विधानसभा में जन-प्रतिनिधि के रूप में निर्वाचित हुए।

तब तक कांग्रेस के अंग्रेजी या भारतीय नेतृत्व को तिलक के इस कर्तृत्व या महत्त्व की कल्पना नहीं थी। हिंदुस्थान में भी उनके नाम की ख्याति यहाँ-वहाँ ही थी। इस कारण कांग्रेस में महाराष्ट्र का प्रतिनिधित्व ज्येष्ठ पीढ़ी के रानडे आदि लोग ही उस अवधि में किया करते थे। उनका ही यह विचार था कि सन् १८९५ का कांग्रेस अधिवेशन पुणे में आयोजित हो। सुरेंद्रनाथ बनर्जी अध्यक्ष चुने गए। सामाजिक सुधार हो या न हो, यह प्रश्न नहीं था। सामाजिक परिषद् का अधिवेशन कांग्रेस के शामियाने में ही आयोजित हो या न हो, यह बहस पुणे में अच्छी तरह छिड़ गई। कांग्रेस के लिए जो हजारों लोग चंदा देते थे, उनमें विशिष्ट धार्मिक या सामाजिक सुधारों के लिए अनुकूल और प्रतिकूल लोग भी होते थे। उनमें दूसरे प्रतिकूल पक्ष के लोगों की ही संख्या अधिक थी। ये बहुसंख्य चंदादाता चाहते थे कि कांग्रेस के शामियाने में उन्हें नापसंद एवं उनकी धर्म भावना को ठेस पहुँचानेवाली परिषद् को स्थान न दिया जाए। सामाजिक परिषद् के अभिमानी लोग चाहें तो अपने पैसे से स्वतंत्र शामियाना लगाएँ और अपनी सामाजिक परिषद् का आयोजन करें। यह था मुख्य प्रश्न। परंतु अभी तक के सारे कांग्रेस अधिवेशनों में कांग्रेस के मंडप में ही सामाजिक परिषद् आयोजित होती रही थी और किसी भी प्रांत में उसका विरोध नहीं हुआ था। अत: रानडे, गोखले, फीरोजशाह आदि ब्रिटिशनिष्ठ एवं सुधारक नेताओं ने जिद की कि सामाजिक परिषद् कांग्रेस मंडप में ही आयोजित होगी।

यह गुंडागर्दी हम पुणे में नहीं चलने देंगे—इस जिद से स्वदेशनिष्ठ और सनातनी पक्ष ने संगठित होकर आह्वान दिया। इस पक्ष की यह भूमिका न्यायोचित ही थी, इसलिए तिलक ने उसका पक्ष लिया। इस कारण यह वाद पुणे की सीमाएँ लाँघकर महाराष्ट्र-भर में फैल गया और यह आशंका बलवती हो गई कि कांग्रेस का विभाजन हो जाएगा। सारे हिंदुस्थान में यह चर्चा चली कि रानडे या तिलक, इनमें से कौन सही है और कौन गलत? कांग्रेस के निर्वाचित अध्यक्ष सुरेंद्रनाथ बनर्जी के

दबाव में बड़े खेद के साथ न्यायमूर्ति रानडे ने अपना मन कड़ा करके अपनी जिद छोड़ी और यह घोषणा की कि सामाजिक परिषद् का आयोजन कांग्रेस मंडप में नहीं होगा। यह प्रचारित हो गया। वस्तुतः परिषद् का प्रश्न मात्र दिखावा था। उसकी आड़ में महाराष्ट्र के ब्रिटिशनिष्ठ और स्वदेशनिष्ठ या रानडे पक्ष तथा तिलक पक्ष की यह कुश्ती थी। इसमें तिलक पक्ष की जीत होने से महाराष्ट्र और उसके बाहर सारे हिंदुस्थान में तिलक का नाम एक जुझारू नेता के रूप में प्रसिद्ध हो गया।

उस समय के पुराने और प्रसिद्ध कांग्रेसी नेताओं के मध्य हमारा नवागत देशभक्त चमक उठे, ऐसे कुछ गुण-विशेष तिलक में पहले से ही थे। सुरेंद्रनाथ बनर्जी आयु के तीस वर्षों तक शासन के सेवाविभाग में नौकर ही थे। तब तक उन्होंने देशसेवा का नाम भी नहीं लिया था। वह तो राज्यशासन ने उनपर कुछ व्यक्तिगत आरोप लगाए और नौकरी से निकाल दिया। तब वे देशसेवा का कार्य करने की ओर मुड़े। स्वयं दादाभाई नौरोजी तीस-चालीस की आयु तक व्यापार ही करते रहे। न्यायमूर्ति रानडे तो आजन्म ब्रिटिशों के चाकर ही थे। चाकरी के बाद के खाली समय में वे स्वदेश-सेवा के कार्य करते थे। बड़े नेता फीरोजशाह अपने वकीली व्यवसाय से लाखों रुपए कमाने में लगे हुए थे। परंतु युवा तिलक ने विश्वविद्यालय से उपाधि प्राप्त करते ही यह प्रतिज्ञा ली थी कि सरकारी नौकरी नहीं करूँगा। जीवनयापन हेतु आवश्यक धन अर्जित करते हुए शेष जीवन देश-सेवा में अर्पित कर दूँगा।

सुरेंद्रनाथ आदि उस समय के कांग्रेस के ज्येष्ठ और श्रेष्ठ नेताओं की राजनीति मूलतः ब्रिटिशनिष्ठ थी। अर्थात् वे राजनीति की पहली सीढ़ी पर ही खड़े थे। परंतु तिलक की राजनीति का प्रारंभ ही पहली सीढ़ी के बाद की ऊँचाई की स्वदेशनिष्ठ सीढ़ी से हुआ। यहाँ यह भी कहना प्रसंगानुकूल होगा कि सन् १८९५ के बाद नौ-दस वर्ष बीत जाने पर तिलक द्वारा पुरस्कृत राष्ट्रीय और उग्रवादी पक्ष के जो नेता थे, उनमें और तिलक में भी यह विभेद था। जैसे पंडित श्यामजी कृष्ण वर्मा आयु के चालीस वर्ष तक देशी राजा के उच्चपदस्थ चाकर ही थे और व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा के अतिरिक्त दूसरा कोई भी स्वार्थ-त्यागी जनसेवा का क्रियात्मक ध्येय उनके सामने नहीं था। ब्रिटिशनिष्ठा के अतिरिक्त किसी और राजनीतिक निष्ठा की बात उन्होंने नहीं की थी। यद्यपि राष्ट्रीय पक्ष के नेताओं को, आनुप्रासिक होने से, 'लाल-बाल-पाल' कहा जाता था, तथापि लाला लाजपतराय या पाल बाबू दोनों ही नेता तीस-चालीस की आयु तक राजनीति में धड़ल्ले से नहीं कूदे थे। ब्रिटिश राज हिंदुस्थान में है और वह उपकारक है, ऐसी ही उनकी प्राथमिक सोच थी। इस सबकी साधार सविस्तार चर्चा पिछले प्रकरणों में की जा चुकी है।

अर्थात् उपर्युक्त सारे नेताओं की तुलना में तिलकजी का जो उभरता वैशिष्ट्य था, वह अन्य तत्कालीन नेताओं में नहीं था। हमारा यह कथन अन्य लोगों द्वारा की गई देशसेवा की या उनकी कुल योग्यता की न्यूनता दिखाने के लिए नहीं है। उन नेताओं में भी प्रत्येक की अपनी उल्लेखनीय विशेषता थी। उनकी देशसेवा अपने-अपने हिसाब से उत्कट ही थी। जैसे न्यायमूर्ति रानडे के लिए ऊपर कहा गया कि वे सरकारी नौकरी के बाद बचे समय में देशसेवा करते थे, पर इस सच के पीछे का सच यह भी है कि बचे समय में उनके द्वारा की गई देशसेवा इतनी असामान्य थी कि उतनी देशसेवा करने में किसी दूसरे को सात जन्म भी पूरे न पड़ते।

सन् १८९५ में कांग्रेस का अधिवेशन होना निश्चित हुआ। उसके बाद ही यह बहस छिड़ गई कि कांग्रेस मंडप में सामाजिक परिषद् का आयोजन हो या न हो। इस बहस के कारण तिलक का नाम महाराष्ट्र के बाहर पहली बार गूँजा। बहस में एक ओर थे कांग्रेस के पुराने नेता तो दूसरी ओर था एक नवागत युवक। इस नवागत युवक को वे सुप्रतिष्ठित, ब्रिटिशनिष्ठ नेता दुत्कार नहीं पाए। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए ही दोनों ओर के नेताओं के गुण-विशेषों की चर्चा ऊपर करनी पड़ी और इसी क्रम में तिलकजी के अपेक्षाकृत अधिक प्रखर स्वार्थ-त्याग और तेजस्वी राजनीति का उल्लेख करना पड़ा।

उपर्युक्त कथन के अनुसार ही तिलक पक्ष के कारण कांग्रेस के मंडप से सामाजिक परिषद् के बरतन-भाँडे बाहर फेंके जाते ही वह बहस थम गई और सब लोगों की पूरी एकता से कांग्रेस का अधिवेशन पुणे में संपन्न हो गया। इतना ही नहीं, वह आयोजन इतने ठाठ-बाट से हुआ कि उससे पुणे को ख्याति प्राप्त हुई। पूरे देश से वहाँ एकत्र लोगों ने यह भी देखा कि महाराष्ट्र में नेता पद पर तिलकजी ही आसीन हैं। तिलकजी के स्वतंत्र कर्तृत्व की परीक्षा भी उसी अधिवेशन में हुई। दूसरे यह कि ब्रिटिशनिष्ठ लोगों के चंगुल से कांग्रेस को छुड़ाने के लिए जो लड़ाई भविष्य में लड़ी जानी थी, उसका प्रारंभ भी वहीं से हुआ। इसी समय से महाराष्ट्र के इतर प्रांतों में भी उसका प्रसार होने लगा।

□

प्रकरण–१३

वासुदेव बलवंत फड़के के बाद क्या?

जिस सशस्त्र क्रांतिनिष्ठ पार्टी से इंग्लैंड को अन्य सब पार्टियों की तुलना में अधिक भय था, जिस सशस्त्र क्रांतिनिष्ठ मनोवृत्ति को समाप्त करने के मूल उद्देश्य से ब्रिटिश कूटनीतिज्ञों ने कांग्रेस की स्थापना की—उस मनोवृत्ति वाली क्रांतिनिष्ठ पार्टी का इस (सन् १८८५ से १८९५ की) अवधि में क्या हुआ?

कांग्रेस ने पूरे देश में ब्रिटिशनिष्ठा की एक आँधी चला दी—उस आँधी में वह वृक्ष की तरह उखड़कर गिर तो नहीं गया? या कांग्रेस के पीछे दौड़ती लाखों की भीड़ के पैरों के नीचे गिरकर कुचल तो नहीं गया? या वासुदेव बलवंत के सशस्त्र विद्रोह के बाद चले फाँसी या काले पानी के भयंकर दंड और विद्रोह की भयानक विफलता के कारण सशस्त्र क्रांतिवाद के सिद्धांत से उस पक्ष की श्रद्धा लुप्त तो नहीं हो गई और अपने ही शरीर के रक्तक्षय से दुर्बल होते हुए वह गतप्राण तो नहीं हो गया? या स्वदेशभक्ति के रास्ते चलकर धन, सुख, सुरक्षा, पद, अलंकरण आदि के उपभोग का जो एक सरल रास्ता कांग्रेस की ओर जाता था, उसके मोह में वह भी उसी रास्ते तो नहीं चल पड़ा?

ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। सन् १८८३ में अदन में सुलगी चिता पर वीर वासुदेव बलवंत की देह जलकर राख हुई—चिता बुझ गई। परंतु बचे हुए महाराष्ट्रीय क्रांतिकारियों के मन में बैठी स्वतंत्रता की प्रबल आकांक्षा और उसे पाने के लिए सर्वस्व होम करने की अभिलाषा बुझी नहीं। उनके मन में लपटें धधकती ही रहीं। संगठन बचा न था। परंतु व्यक्तिगत तौर पर और गुटों में भारतीय स्वतंत्रता के ध्येय तथा सशस्त्र क्रांतिवाद का प्रचार वे गुप्त रूप से निरंतर करते ही रहे। वह भी नाना वेश में, नाना कारणों से; अप्रत्यक्ष ही नहीं, प्रत्यक्ष में भी करते रहे।

प्रत्यक्ष आंदोलनों में उस समय भारतव्यापी आंदोलन कांग्रेस का ही था।

उसके द्वारा हिंदुस्थान के कोने-कोने में फैलाई गई राष्ट्रीय एकता की चेतना क्रांतिकारियों को सुख तो देती थी। फिर भी ब्रिटिशनिष्ठ मनोवृत्ति से घृणा करने के कारण वे कांग्रेस से दूर ही रहे। दूसरा प्रत्यक्ष आंदोलन था स्वदेशनिष्ठ तिलकपंथियों का; इस पंथ के प्रत्यक्ष आंदोलन से क्रांतिकारियों का हार्दिक संबंध था। तिलकपंथियों के प्रत्यक्ष आंदोलन का फैलाव वैधानिक सीमा तक ही था, परंतु स्वदेशनिष्ठ पक्ष की रूपरेखा, मनोवृत्ति और कार्यक्षेत्र का जो चित्रण पूर्व में किया गया है, वह उनमें अभी भी समाई हुई थी। प्रकट रूप में आंदोलन और मन में सशस्त्र क्रांति की साध रखनेवाले अनेक क्रांतिकारी तिलकपंथी आंदोलनों में भागीदार थे।

अधिक क्या कहें, तिलकजी द्वारा सन् १८९५ तक आयोजित अकाल-निवारण कार्य, हिंदू-मुसलमान दंगे, शिवाजी-जयंती, गणेश उत्सव आदि सामुदायिक आंदोलन और भविष्य के सारे आंदोलनों में जो अनुयायियों की संख्या, उत्साह, कट्टरपन और स्वार्थ-त्याग दिखती थी, उसका मुख्य कारण क्रांतिनिष्ठा ही थी। तिलकजी को इसकी पूरी जानकारी थी।

परंतु प्रत्यक्ष और वैधानिक आंदोलनों में इन क्रांतिकारियों के सहभाग का मुख्य उद्देश्य यह सिद्ध करना था कि ये वैधानिक आंदोलन स्वतंत्रता-प्राप्ति के काम में कितने अधूरे हैं।

प्रबल, प्रखर देशभक्ति और स्वार्थ-त्याग जिनके रग-रग में समाया था और जो क्रांति संस्थाओं में ही शोभा दे सकते थे—ऐसे स्वदेशनिष्ठ लोगों से क्रांतिनिष्ठ गुप्त रीति से पूछते—कहिए, इन वैधानिक आंदोलनों के अंत में क्या अनुभव मिला? जो आंदोलन वैधानिकता की आड़ में चलाए गए, उन आंदोलनों को अंग्रेजों ने कौड़ी के मोल का भी नहीं समझा! उलटे कल वैधानिक लगनेवाले आंदोलनों को आज ब्रिटिशों द्वारा 'अवैधानिक' कहकर आंदोलनकारियों को सरेआम दंडित किया जा रहा था। हम ब्रिटिश सम्राट् के प्रति राजनिष्ठ हैं—ऐसा बार-बार लिखने एवं कहनेवाले हमारे तिलक जैसे नेता को भी ब्रिटिश शासन 'राजद्रोही' ही तो कह रहा है। स्वदेशी का आंदोलन आज वैधानिक है, परंतु कल वे उसी कपड़े पर कर लाद दें, तो उनको वैधानिक आंदोलन चलाकर किस तरह रोका जा सकता है? आज जन-जागृति के लिए जो शिवाजी उत्सव, गणेश उत्सव आयोजित कर रहे हैं, उन्हें अंग्रेजी समाचारपत्र 'राजद्रोह फैलानेवाले' कह रहे हैं। कल उन उत्सवों को 'राजद्रोही' करार दिया जाता है और उनपर प्रतिबंध लगाया जाता है तो सबकुछ समाप्त ही हो जाएगा। कांग्रेस के ब्रिटिशनिष्ठ आंदोलन तो खैर, छोड़ ही दें। वे तो अधोगामी हैं ही। स्वदेशनिष्ठ लोगों के वैधानिक आंदोलन उपयुक्त तो हैं, पर आधे-अधूरे ही हैं, ब्रिटिश राज को उखाड़ फेंकने के लिए तो वे बिलकुल ही बेकार हैं। विधि-निर्माण

करने की क्षमता ही ब्रिटिशों के हाथों से छीननी होगी। आज हमपर ब्रिटिशों का जो शासन है, वह उनके हाथों में शस्त्रशक्ति होने के कारण ही है। अत: उस शस्त्रशक्ति को हतबल करके ऐसी प्रतिशक्ति अर्थात् सशस्त्र क्रांति खड़ी करने के सिवा ब्रिटिशों की दासता से अपनी मातृभूमि को स्वतंत्र करना संभव नहीं है। यह करना संभव हो या असंभव, पर रास्ता वही है और वह रास्ता गुप्त संस्थाओं की गुफाओं से निकलकर रणांगण के लिए जाता है।

प्रत्यक्ष आंदोलनों में श्रम करने के बाद भी ब्रिटिशों का कुछ भी नहीं बिगड़ता—यह देखकर परेशान, स्वदेशनिष्ठ लोगों को क्रांतिकारियों का यह युक्तिवाद भाता था। उनमें से जिनके हृदय चेत जाते थे, वे सशस्त्र क्रांतिवाद के नए अनुयायी बन जाते थे। कुल मिलाकर स्वदेशनिष्ठों के प्रत्यक्ष आंदोलन, अप्रत्यक्ष एवं गुप्त क्रांतिकारी संस्थाओं को नए अनुयायी देनेवाले भरती-क्षेत्र हो गए थे। क्रांतिनिष्ठ पक्ष इसी दृष्टि से उसका उपयोग करता था।

इस तरह होते-हाते सन् १८९५ के आसपास महाराष्ट्र में गुप्त रीति से टोली-टोली में बिखरे हुए उन सशस्त्र क्रांतिकारियों का एक नया संगठन फिर से कार्यक्षेत्र में उतर पड़ा। पूरे हिंदुस्थान में बिजली की तरह कौंधी चापेकर बंधुओं की गुप्त संस्था उसीका प्रकट रूप थी।

उपलब्ध इतिहास से यह दिखता है कि सन् १८९५ के कालखंड तक—हिंदुस्थान की सार्वभौम स्वतंत्रता के लिए, ब्रिटिशों का सशस्त्र प्रतिकार करने के लिए प्रेरित किसी क्रियाशील क्रांतिकारी संस्था या सक्रिय गुट का अस्तित्व महाराष्ट्र के सिवाय किसी भी अन्य प्रांत में नहीं था। महाराष्ट्र में केवल वह क्रांतिकारी परंपरा अखंड चलती रही। सन् १८५७ के क्रांतियुद्ध से स्फूर्ति लेकर वासुदेव बलवंत का सशस्त्र विद्रोह जन्मा। वासुदेव बलवंत की प्रेरणा लेकर चापेकर बंधुओं ने क्रांतिकारी संस्था बनाई। चापेकर तथा रानडे की फाँसी की स्फोटक घटना से मेरा बाल-हृदय सुलग उठा और मैंने उनका क्रांतिकार्य आगे बढ़ाते रहने की प्रतिज्ञा अपने कुल-देवता के सामने की। इस वर्ष के आसपास ही चापेकर के पुण्य स्मरण में लिखे अपने काव्य में इन हुतात्माओं को संबोधित कर मैंने आश्वस्त किया था—

कार्य सोडुनि अपुरे पडता झुंजत? खंति नको! पुढे॥
कार्य चालवू गिरवित तुमच्या पराक्रमाचे आम्ही धडे॥
(खेद न करना अपने आधे छूटे कार्य पर,
पराक्रम के पदचिह्नों पर होंगे हम अग्रसर।)

इस आश्वासन के किंचित् पश्चात् 'अभिनव भारत' का प्रादुर्भाव हुआ!

□□□

भगूर

भगूर

'मेरी स्मृतियाँ' के लेखन के प्रारंभ में ही मुझे यह कहना है कि वास्तव में मुझे अपने जन्म की कोई स्मृति नहीं है।

कुछ स्पष्ट स्मरण लिखते समय जो बातें याद नहीं आ रही हैं, उनको घटित होना मानकर चलना ही पड़ता है और उपर्युक्त कथन इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। अपना जन्म होते कौन देखता-बूझता है। फिर भी उसपर विश्वास करके चलना पड़ता है, नहीं तो आत्म-चरित्र की एक पंक्ति भी लिखी नहीं जा सकती। यहाँ पर आप्त-वाक्य ही प्रमाण होता है। वैसी ही स्थिति माता-पिता की होती है। मेरी यह जननी है और यह जनक हैं, इस भावना का भी प्रमाण यदि केवल आप्त-वाक्य 'प्रत्यक्ष' को ही साक्ष्य मानने का अवलंबन करें तो जीवन असंभव होकर रह जाएगा। दाँत नहीं थे, तब माँ के दूध की धार ही जीवन का आत्यंतिक आधार थी, वैसे ही प्रत्यक्ष की स्मृति होने के पूर्व आप्त-वाक्य ही जीवन का अपरिहार्य आधार होता है। पाला, पानी, आग, नाम इत्यादि सब वस्तुओं के हिताहित गुणधर्म आप्त-वाक्य से ही सिखाए जाते हैं। ऐसा न हो तो प्रत्यक्ष की कठोर वास्तविकता उसे कब का मसल डाले।

ऐसा कहते हैं कि मेरा जन्म सोमवार २८ मई, १८८३ को नासिक तहसील के भगूर गाँव में हमारे कुटुंब के 'पुराने मकान' में हुआ था। मेरे पिता और काका ने एक नया सुंदर मकान बनवाया था, इसलिए पहला मकान पुराना हो गया। प्लेग के आक्रमण और उसके बाद राजकर्ताओं द्वारा कहर ढाने से परिवार और कागज-पत्रों की जो दुर्दशा हुई, उसमें मेरी जन्मपत्री खो गई थी। ग्रहों की कृपा-अवकृपा का कोई भरोसा मुझे प्रारंभ से ही नहीं था। इसलिए मेरी जन्मपत्री मुझसे बिछुड़ी ही रही। परंतु मेरे ज्येष्ठ बंधु गणेश (उपनाम बाबाराव) को प्रारंभ से ही फलित ज्योतिष में रुचि थी। उन्होंने ही हम तीनों भाइयों की जन्म-कुंडलियाँ कहीं से खोजकर निकालीं—वही मैं नीचे दे रहा हूँ।

गणेश दामोदर सावरकर

१० ८
चं. ११
९
७ रा.
१२
६
१ मं. शु. के. ने.
गु. ३
५
२ र.बु. श.
४
ह.
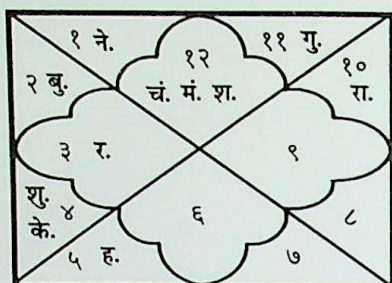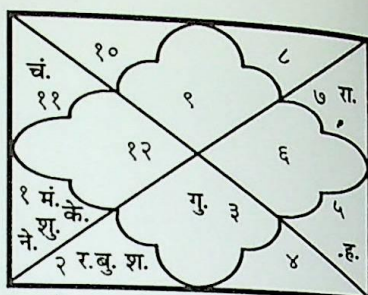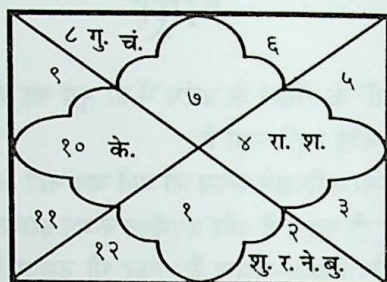
विनायक दामोदर सावरकर

नारायण दामोदर सावरकर

मेरी माँ का नाम राधाबाई और पिता का नाम दामोदर पंत या अण्णाराव था। हम तीनों भाइयों की जन्मतिथियाँ निम्नलिखित हैं—

गणेश दामोदर सावरकर—शक संवत् १८०१ ज्येष्ठ कृष्ण ९ (उत्तर भारत में वैशाख कृष्ण ९) सूर्योदयात् घटी ४७ पल ३६, १३ जून, १८७९। **विनायक दामोदर सावरकर**—शक संवत् १८०५, वैशाख कृष्ण ६ (उत्तर भारत में चैत्र कृष्ण ६) सूर्योदयात् घटी ३९, पल ५५, २८ मई, १८८३। **नारायण दामोदर सावरकर**—वैशाख शुक्ल १५, शक संवत् १८१०, सूर्योदयात् घटी २५, पल ३५, सन् १८८८।

पेशवा काल में, कोंकण की चिपळूण तहसील के गुहागरपेटे गाँव के दो परिवार धोपावकर और सावरकर अपना भाग्योदय करने के लिए उत्तर की ओर बढ़े। जो कुछ भी हुआ हो, पर अंतिम ज्ञात स्थिति यह है कि पेशवा से पुरस्कार में जागीर प्राप्त कर वे भगूर में बस गए। मेरी स्मृति तक वह जागीर हमारे घराने में अव्याहत चल रही थी। मेरे बचपन में 'जागीरदार का पुत्र' ऐसा सम्मान और लाड़ मुझे प्राप्त रहा। अपने प्रजाजनों के बीच जागीरदार के लड़के की शान और ऐंठ बनाए रखने का प्रयास भी मैं किया करता था, ऐसी कुछ धुंधली स्मृति मुझे है। कुछ यह भी स्मरण है कि बैलगाड़ियों पर आम लादकर जब हमारे किसान आते तो उनके श्रम पर मुझे दया आती और ओसारे में बैठकर सुस्ताने का आग्रह मैं उनसे करता।

वे कहते, 'छोटे जागीरदार! आपके काका अगर आ गए तो हमें फटकारेंगे।' मैं इसपर कहता, 'वे क्यों फटकारेंगे? उन्हें आप मेरा नाम बताओ; मैंने बैठाया है, यह बताओ।' मेरे काका आ भी जाते तो ओसारे पर चढ़कर बैठे किसान कहते, 'बापू साहब, हमें छोटे जागीरदार ने बैठाया है—कितना दयावान लड़का है।' यह सुन काका मुसकराते और कहते, 'छोटे जागीरदार ने बैठाया है तो मेरी क्या हिम्मत तुम्हें यहाँ से उठाने की—बैठो, बैठो।'

हम 'सावरकर' कैसे कहलाने लगे, इस बारे में निश्चय से कुछ कह पाना कठिन है। वैसे, कोंकण में भी यह कुलनाम प्रचलित है।

हमारे किसी पूर्वज को संस्कृत विद्वान् के रूप में पेशवा ने सम्मानित किया था और उन्हें पालकी भेंट की थी, ऐसी किंवदंति है। मेरे पिता और काका बचपन में मुझे घर में पड़ी एक बड़ी मोटी तगड़ी बल्ली दिखाकर कहते कि यह उस पालकी का अवशेष है।

मैंने तो खंडोबा के मंदिर की पालकी देखी थी। उसे वर्ष में दो बार सजाकर समारोहपूर्वक निकाला जाता था। अपने घर के कबाड़े में पड़ा वह काष्ठ देखते-देखते जब मैं खो जाता, तो फिर मुझे भी एक सजी-धजी पालकी दिखने लगती, जिसमें एक भव्य पुरुष बड़े सम्मानित ढंग से बैठा हुआ मुझे दिखता। मैं बड़े ही गर्व से फूलकर उस पूर्वपुरुष को नमस्कार करता, उसे साभिमान आश्चर्य से देखता रहता।

'भगूर' गाँव में

लगभग सात-आठ पीढ़ी पहले हमारे पूर्वपुरुष 'हरभट' इस भगूर गाँव में आकर बसे, तब इस गाँव का भाग्य भी उस पालकी-प्राप्त व्यक्तित्व के भाग्य के समान ही जागा। पेशवा राज के उस वैभवशाली काल में इस गाँव में चौदह चौकों के बाड़े बने थे, यह बात मेरे काका मुझे बताया करते थे। गाँव के खंडहरों से मिट्टी खोदते समय कभी कोई एकाध चौक मिलने की बात कहता तो आठ-दस की आयु का मैं दौड़कर वहाँ जाता और वहीं का होकर रह जाता। पहले मिले और नए मिले चौक की गिनती करता। वे चौदह नहीं हो पाते तो अनुमान लगाता कि वे अड़ोस-पड़ोस के घरों के नीचे दबे पड़े होंगे।

हमारे घर के सामने ही खंडहर जैसे स्थान में एक कुआँ था। उसमें एक सुरंग भी है। वहाँ एक नाग देवता खजाने की रक्षा करता हुआ बैठा है—ऐसी लुभावनी दंतकथाएँ मुझे कुएँ तक खींच ले जातीं और मैं उसके किनारे बैठकर यह कल्पना करता रहता कि वह सुरंग, वह नाग, वह खजाना कैसा होगा। परंतु अपने

गाँव की इन अद्भुत रम्य पुराण वास्तु का संशोधन कर महाराष्ट्र के प्रसिद्ध इतिहास संशोधक राजवाडे' की तरह ख्यात होने का सौभाग्य मुझे नहीं मिला।

पेशवा काल में धनी-मानी लोगों के रहने-बसने का यह गाँव था। वहाँ का पानी उत्तम था। हवा-पानी की उत्तमता को परखकर ही अंग्रेजों ने अपनी एक छावनी यहीं पास के 'देवलाली' में बनाई थी। इस गाँव में स्वयं बाजीराव पेशवा का भी आगमन हुआ था, ऐसी किंवदंति है। पर कौन सा पेशवा? पहला या अंतिम? रणधीर या रणभीरु? मेरे गाँव को लाँछन लगानेवाला या गौरव बढ़ानेवाला? दंतकथा अंतिम पेशवा की बात कहती तो मेरा मन आक्रोश से भर उठता। दंतकथा ही कहनी है तो पहले बाजीराव पेशवा की क्यों न कही जाए? यह प्रश्न मेरे बाल-मन को सताता।

मेरे बचपन में उस भगूर गाँव में खंडहर हुई चारदीवारी, महादेव और गणपति का मंदिर तथा खंडोबा की भव्य मूर्ति थी। हरसिंगार का एक पेड़ भी था, जिसपर से फूल उतारने के लिए चढ़े मेरे पिताजी नीचे गिरे थे। रक्त से सने, मूर्च्छित उनको घर लाया गया था—यह चिरस्मरणीय घटना सुनते ही मेरा रोम-रोम सिहर उठता। वैसे ही एक गिरा-पड़ा मठ था तथा गाँव से दूर की छोटी नदी 'दारणा' थी। बचपन में ही माँ की मृत्यु हो जाने के बाद पीने के लिए उसका जल लाने बारह वर्ष की आयु में जब मैं उसके पास जाता तो किनारे के बबूलों की छाया में खड़ा रहता। वहाँ मेरे लिए राह देखते खड़े किसी प्रियजन की समीपता जैसी बबूल के सुवर्ण पुष्पों की वह बिछावन आदि वस्तुएँ तथा उनसे संबंधित ग्रामीण दंतकथाएँ मेरे बाल-मन की कल्पना को बहुत प्रिय लगतीं। आज भी उन सबकी स्मृति कितनी रम्य लगती है।

सामान्य वस्तु भी दिव्य-वैभव-मोहिनी

प्रिय पाठक, आपने इस गाँव का गुंजन पहले ही सुन रखा है। है स्मरण! नहीं? अरे, भूल गए! फिर याद दिलाऊँ क्या? पर शर्त है बालक जैसी। यह किस्सा किसी और को बताना नहीं; नहीं तो कुट्टी हो जाएगी। मेरा एक काव्य (खंड काव्य) है गोमांतक (गोवा)। उसमें एक गाँव है 'भार्गव'—यही तो मेरा भगूर है। उसमें भार्गव गोवावासी है, पर है वह मेरे भगूर का ही कल्पना-चित्र। भार्गव उद्धृत कर रहा हूँ, उसमें भगूर दिख जाएगा—देखिए भार्गव…

थी एक नदी नाम दारका ताप हारका।
प्रतिपच्चंद्रलेखेव तवंगी धवलोदका॥
हर का हरने ताप हलाहल का।
रही जो स्वर्ग जाकर पापक्षालनी आपगा॥

वसुधा भगीरथ सम सम्राट् कुल की।
भगीरथी महत्कार्य करने संतत लगी॥
उस अर्थ में ऐसी महान् न है दारका।
दीनों का तृष्णा सांत्वन पुण्य कार्य कारका॥
गाँव जो तृषित हैं अधिक उनको।
नदी इतनी सी पिलाए जलधार को॥
पयपान कराए शावकों को शेरनी ज्यों।
या हिरनी पिलाए पय अपने शिशु को॥
शोभित है दारका के तट ग्राम एक छोटा।
जैसे पुष्प-गुच्छ बना बन मोगरे का॥
हरित चादर-सी फैली दूर तक कृषि डोले।
हो जैसे सिंधु में द्वीप गाँव ऐसा लगे॥
कृषि गीत 'ए बैला' गूँजे उच्च स्वर।
भोर से ही पुष्पगंध से भरे अंबर॥
बहता कल-कल जल खेत में पूरे।
सुरसाध जलधारा मयूर नृत्य करे॥
प्रकृति की कृपा थी पूर्व से जैसी।
आज भी थी उस ग्राम पर वैसी॥
सुरूप फिर भी जैसे दिखे बीमार-सा।
या तड़ित से जला वृक्ष दिखे जैसा॥
परचक्र के कारण ऐसा हुआ भार्गव गाँव।
था गर्वित कभी, आज उसका मुख म्लान॥
भग्न परकोटे का शेष दरवाजा एक।
कहता ग्राम के पूर्व वैभव की कथाएँ अनेक॥
देवालय महादेव का सन्निध खड़ा जीर्ण-सा।
धर्म केंद्र समाज का मानो अकेला शेष था॥
ग्राम युव-युवतियाँ प्रदक्षिणा इसे देतीं।
गूँथकर माला गिरे चंपा फूल की॥
पड़ोस के मठ में खड़ा पेड़ एक हरसिंगार का।
फूलों से लदता, गर्वित करता, ग्राम को सदा॥
इस हरसिंगार की जो कथा दंतकथा थी।
पूर्व में नारद को स्वयं 'अर्जुन सारथी' ने कही॥

कि भामा रुक्मिणी और रानियाँ दूसरी।
किसी एक के आँगन में हरसिंगार देख न सकतीं॥
हारे हरि रानियों की ईर्ष्या परस्पर से।
चढ़ाया हरसिंगार चरणों पर भृगु के॥
ऋषि ने अपने मठ में दिया उसे रोप।
यही वह हरसिंगार है यह है आरोप॥
दस-पाँच दुकानें बस्ती बीच गाँव की।
खड़िया-पुती शोभित गेरु सजी॥
बड़ा बाजार यही था उस लघु गाँव का।
रँगीलों-मतवालों का स्थान यही सुरम्य था॥
खेत जाते भोर ही देखती दुकानें यहाँ।
नली में भर तेल संध्या ले जाती स्त्रियाँ॥
थोड़ी चलती-चलाती नोन-मिर्च वे लेतीं।
बनिया दूना दाम ले कहे हो गई गलती॥
बड़े पेट का सेठ उसीमें एक था।
दुकानदार थे अनेक साहूकार वह अकेला॥
बच्चे और गरीब कँगले जब भीख वहाँ माँगते।
तब वह क्रोधित हो सेठ सबको वहाँ से हाँकते॥
मारने कँगलों को खड़े होते जब सेठ।
बच्चे भाग जाते बाहर गाँव के ठेठ॥
गाँव में जोड़ न देख अपना नवमल्ल वो।
माँ के चरण छूकर जाता पड़ोस गाँव को॥
सँभलकर रहना—कहती माँ बढ़कर आगे।
कुश्ती का आयोजन जहाँ वहाँ वह सीधा भागे॥
और कुश्ती में दाँव लगा स्पर्धी को चित कर।
जीत कुश्ती लौटता बाँध साफा सिरपर॥
उसका स्वागत करने सब ही तो उमड़ पड़े।
जय-जयकार से उसके गाँव का लघु अंबर फटे॥
ढोल पीटते लोग, चलता पहलवान सीना ताने।
मानो रावण-वध कर राम ही साकेत लौट रहे॥
गाँव में ही है मायका पर नहीं भेजता ससुरा।
पानी पिलाने भैया लाता नदी पर बछड़ा॥

नदी पथ नहीं, मायका है माना अपना।
बहना प्यार करे भैया को उतना॥
पंचायत सभा पंचों की सुलटाने गाँव के विवाद।
सरपंच साहसी गाँव का सुलझाता सारे प्रवाद॥
नित्य, नैमित्तिक धर्म कार्य सब करते।
ग्रामोपाध्याय गाँव के पाप हरते॥
दैवी, भौतिक आपत्ति इस तरह होकर दूर।
निश्चिंत, निष्ठा से किसान करते खेती सुदूर॥
मुकुट पहने सुवर्ण के बालियाँ मानो कह रहीं।
गाँव देह में हैं प्राण और घर-घर में समाधान॥
साल-भर अब होगी हर कमी पूरी।
कुम्हार, तेली, बढ़ई, जुलाहे की बस्ती हरी॥
अपने सब सहायकों का किसान पेट भरे।
अनाज अंश यथा न्याय बाँट उन्हें वो दे॥
वर्ष के लिए लगता अनाज जितना लोगों को।
बाँटकर बचे और संप्रति जिसका काम न हो॥
समुदाय हितार्थ वह सामुदायिक निधि बने।
पटेल मुखिया का वह उससे गाँव खत्ती भरे॥
अकाल का संकट यदि आए भू पर कभी।
करेगी अन्न संपत्ति लोक-पोषण वो भली॥
ग्राम-शासन ऐसा जो हर गाँव होता रहे।
स्वयंपूर्ण लोकतंत्र का लघु रूप फूले-फले॥
पर आसन्न मृत्यु पड़ी व्यवस्था वह ग्राम की।
परराज्य प्रबंध के रास्ते आती पराकृति॥
दुकानें दारू की खुलीं अब बीच बस्ती।
दानवीय कर कर्षण सहन करती खेती॥
इस ऐसी ग्राम संस्था से प्रथिता स्वयंभू अधिक।
प्राण भूत जैसी संस्था थी दूसरी और एक॥
था एक युगस्थायी वटवृक्ष महायशी।
फैलीं जिसकी हवा जड़ें प्रतिवृक्ष-सी॥
आया जो अतिथि जा न लौटकर पाया।
बिना सुने कथा वटवृक्ष की बिना देखे काया॥

कि पूर्व में जिस किसी दिन उस वीरोत्तम भार्गव ने।
सकंप समुद्र को पीछे था हटाया शत योजने॥
उस दिन उस वीर ने विजय-ध्वज के रूप में।
स्थापित किया गाँव और रोपा वटवृक्ष बीच में॥
चौपार उसका हेमाडपंथी बिना चूना कीच।
पूरे अवनि पर नहीं ऐसा मंत्रबद्ध शिला अतीव॥
चौपाल नहीं केवल पीठ यह अखंड चर्चा की।
राजनीति सारी गाँव ठान की घटती यहीं॥
दिन में संथागार और रात में।
रंगभूमि खुली, कोई आए कोई खेले, देखे॥
आते घुमक्कड़ साधू धुनी रमाते यहाँ।
विनय करते बहुत तब कहते लव देश कहाँ॥
चिलम का धुआँ बात-बात पर छोड़ना।
विलायत है बस जरा आगे काशी के कहना॥
अवधूत यह पर प्रेम बधू का देखे।
नए वृक्ष की देख पूजा मत्सर से भरे॥
वृद्ध वटाध्यक्ष की वत्सल छाया जिसपर।
पशु-पक्षियों की छावनी पड़ी रहती निरंतर॥
लुप्त सी है अब गाँव की चावडी फिर भी।
कई-कई राज्याधिकारियों के दिखते शिविर वहीं॥
जैसे जिस दिन दौरे पर कोई आए।
तहसीलदार की गड़बड़ उस दिन हो जाए॥
हर कोई उस रास्ते जाए विलोकने।
डर-डरकर दूर से धूमकेतु हो जैसे॥
पटेल की गलमुच्छें बड़ी रुआबदार।
पटवारी की लेखनी हेरफेर में तैयार॥
खूब बढ़ाते अपना रोब डरते अंदर से।
उस दिन उस गाँव के हर ग्रामीण से॥
लेते मुजरा उस दिन मुंडी झुकाकर जरा।
तहसीलदार के जाते ही पर होते कर्कशा॥
वही मिशन का एक स्कूल नया लगे।
क्रोध उसका करते पंडितजी पुराने॥

टाट-पट्टी खाली इनकी कक्षा है सूनी।
रटते अंग्रेजी उधर बच्चे कक्षा है पूरी॥
कैसे हो कल्याण देश का हरे-हरे।
श्रीगणेश लिखे बिना बच्चे बढ़े चले॥

इस भगूर गाँव के पड़ोस में ही एक छोटा गाँव था 'राहूरी'। वहाँ हमारे कुल की जागीर थी। मेरे कुल में अनेक पुरुष वेदशास्त्रों के ज्ञाता थे। वैसे ही एक पुरुष ने यज्ञदीक्षा भी ली थी, इसलिए हमारे कुल को 'दीक्षित' भी कहा जाता था। मेरी दादी के पिता अपने समय के बड़े वीर थे—वे मकराणी घोड़ों के एक दल के अधिपति थे। इसी दल की सहायता से उन्होंने एक बार डाकुओं को पकड़ा और उनके पास से उनकी प्रमुख देवी की प्रतिमा ले आए। मेरी दादी उसे हमारे कुल में ले आईं। वह अष्टभुजा भवानी की मूर्ति बहुत सुंदर थी, वही हमारी कुल देवी बनीं। उस मूर्ति की प्रखरता की अनेक दंतकथाएँ हमारे घर और गाँव में प्रचलित थीं। परंतु उस मूर्ति को बलि दिए जाने की प्रथा थी। इसलिए उसकी स्थापना गाँव के एक मंदिर में की गई थी। उसकी पालकी प्रतिवर्ष बड़े समारोह से निकाली जाती थी। उस पालकी के भोई कहा करते थे कि हमारा घर आते-आते वह पालकी बहुत भारी हो जाती है और जब हमारे कुल का कोई सदस्य उसके दर्शन कर लेता है तो वह फिर हलकी हो जाती है।

बाद में मेरे पिताजी ने एक नया घर बनाया और वह मूर्ति हमारे घर में ही प्रतिष्ठित की गई। उस अष्टभुजा की सेवा-चाकरी करने में मेरा मन अधिकतर लगा रहता था। मेरे पिताजी नवरात्रि व्रत करते, घी के दीपक और अगरबत्तियाँ जलाए जब वे सप्तशती का पाठ करते और 'या देवी सर्वभूतेषु बुद्धिरूपेण संस्थिता। नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नम:' आदि पढ़ते हुए बार-बार 'नमस्तस्यै-नमस्तस्यै नमो नम:' कहते, तब मैं मंत्रमुग्ध हो जाता और समाधि की स्थिति में पहुँच देहभान भूल जाता। किशोरावस्था का वह संस्कार जब-जब जाग्रत होकर स्मरण हो जाता है, तब-तब मैं रोमांचित हो जाता हूँ। किशोरावस्था में वे लगते थे कितने सुंदर, भावसुंदर! अब वे लगते हैं कितने तत्त्वसुंदर श्लोक!

मेरे पिताजी

मेरे पितामह के दो पुत्र और एक पुत्री, तीन संतानें हुईं। मेरे ताऊ, जिन्हें हम 'बापू काका' कहते, मेरे पिता से चौदह-पंद्रह वर्ष बड़े थे। मेरे पिता का नाम दामोदर पंत था जिन्हें हम सब 'अण्णा' कहते थे। वह अति स्नेहिल और सुजन थे।

उन्हें अति सम्मानपूर्ण संबोधन अच्छे नहीं लगते थे।

हम मराठी लोग अति सम्मान दर्शाने—'अहो', 'जाहो' कहते हैं और यही अपनेपन के संबंधों में स्नेहदर्शी 'अरे', 'ओरे' हो जाता है। मेरे पिता को यही संबोधन अच्छे लगते, जबकि दूसरा कोई जब पिता के प्रति प्रयुक्त ये संबोधन सुनता तो बिगड़ता, हमको समझाता कि पिता को ऐसे संबोधित नहीं किया जाता। वे गठीले शरीर के, गोरे, पर कोमल स्निग्ध चेहरे के थे। उन्होंने नासिक हाई स्कूल से मैट्रिक किया था। उनके शिक्षक उन्हें बुद्धिमान परंतु शैतान छात्र कहते थे। उस युग में मैट्रिक के छात्र महाराष्ट्र में दुपट्टा-साफावाले होते थे। अधिकतर दुपट्टे का उपयोग उसकी गेंद बनाकर कक्षा में ऊँघते छात्रबंधु के सिरपर मारने के लिए होता था। मेरे पिता पर आरोप था कि उन्होंने स्वयं प्रधानाध्यापक पर ही ऐसी गेंद का प्रयोग किया था। वे कविता किया करते थे। मराठी के अनेक नामवंत कवियों की कविताएँ उन्हें कंठस्थ थीं। वे उन्हें बड़े मजे में गा-गाकर हम बच्चों को सुनाते। मुझे भी इसी कारण अनेक पुरानी कविताएँ कंठस्थ हो गई थीं।

मेरे बापू काका

मेरे ताऊ ऊँचे, भरे-पूरे शरीर के व्यायाम-पटु और हम बच्चों से निष्कपट प्रेम करनेवाले व्यक्ति थे। वे कानून के ज्ञाता थे, इसलिए नासिक की वकील मंडली में उनकी यारी-दोस्ती थी। अपने पिताजी के पश्चात् उन्होंने साहूकारी का धंधा किया, बढ़ाया और उसमें नाम कमाया। साहूकारी थी, आम के बाग थे, खेती थी। इसलिए मेरे ताऊ का मित्र-परिवार, जिनमें सरकारी अधिकारी और अन्य बड़े लोग भी थे, गर्मियों में या अन्य अवसरों पर हमारे गाँव चैन-चान के लिए आया करते थे।

मेरी फूफी कोठूर के कानेटकर परिवार में विवाहित थीं। उनके पति मेरे पिता के बहनोई, जिन्हें हम सब धोंडू अण्णा कहते थे, हमारे ताऊ के साथ साहूकारी करते थे। ब्राह्मणों में अगुवा, जागीरदार, अंग्रेजी पढ़े-लिखे साहूकार, कानून के ज्ञाता आदि होने से हमारे घराने का दबदबा आसपास के पाँच-दस गाँवों में था। परंतु दुर्भाग्य से एक गड़बड़ी भी थी। मेरे पिता और ताऊ में गहरी अनबन थी। कभी-कभी तो दोनों में फौजदारी भी हो जाती। बापू काका को न पत्नी थी, न बच्चे। पत्नी जल्द ही चल बसी थीं। इसलिए मुझे अपने ताऊ के प्रति दया आती थी।

साहूकार का घर और गाँव सुनसान होने से चोरी-डकैती से हमारा घर त्रस्त था। परंतु मेरे पिता बहुत वीर थे। चोरों-डकैतों से वे अकेले ही तलवार लेकर भिड़ जाते थे। न रात देखते, न दिन। चोर-उचक्कों से भिड़ जानेवाला उनका एक बहादुर साथी कुत्ता भी था। उस कुत्ते की अनेक दंतकथाएँ हमारे घर में पौराणिक आख्यानों

की तरह कही-सुनी जाती थीं। बैठक पर हजारों रुपए खुले छोड़कर बापू काका को किसी काम से जाना भी पड़ता था, तो कोई डर नहीं था। कुत्ते के रहते उन रुपयों को कोई मजाक में भी हाथ लगाने का साहस नहीं कर सकता था। उस कुत्ते का इतना आतंक था। वह चोरों का शत्रु था, इसीलिए उसे किसीने विष देकर मार डाला था।

बापू काका का मुझपर बहुत स्नेह था। मैं उनका बड़ा लाड़ला बेटा था। कोई भी बड़ा असामी उनके यहाँ आता तो वे मुझे किसी अमूल्य रत्न की तरह उसको दिखाते थे, मेरी प्रशंसा के पुल बाँधते थकते नहीं थे। कितने ही अटपटे नामों से वे मुझे बुलाते थे, कहानियाँ सुनाते थे। वे मुझे दत्तक ही लेना चाहते थे, परंतु मेरे पिता से वैर होने के कारण उनकी वह इच्छा पूरी नहीं हुई।

मैं कोई चौदह-पंद्रह साल का था, जब मैंने भगूर के गणपति उत्सव में एक भाषण दिया था। वही मेरा प्रथम सार्वजनिक भाषण था। उस भाषण को सुनकर मेरे बापू काका इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने मुझे उठाकर सीने से लगाया और चूमा। 'तू हमारे घराने का नाम रोशन करेगा; वाह, क्या भाषण दिया!' आदि बातें वे बड़ी प्रसन्नता से कहते रहे। उनकी मृत्यु-पूर्व की यह अंतिम स्मृति मेरे मन में आती रहती है। इस स्मृति का यहाँ पर उल्लेख करना उनके प्रति मेरी प्रेमपूर्ण श्रद्धांजलि ही है।

मेरी माँ

कोठूर के दीक्षित घराने की वह कन्या। पिता बड़े शास्त्री पंडित थे, परंतु उनका और उनके एकमात्र भाई (मेरे मामा) का लालन-पालन मेरी नानी ने किया। मेरे मामा को कविता रचने में रुचि थी। तरुणाई में वे कुश्ती और व्यायाम में ही लगे रहे। देह से विशाल, रूपवान, तीक्ष्ण बुद्धि, मन से कोमल, दूसरे के सब काम आगे बढ़कर करनेवाले, मेरे मामा ने गीता जैसे ग्रंथ पर भी प्रसादगुणयुक्त कविता लिखी। हम बंधुओं में जो काव्य कला उदित, पल्लवित, पुष्पित, फलित हुई, उसका मूल कारण मातृ-पितृ कुल में इसका होना ही था। इसमें कोई शंका नहीं।

जब मेरी माँ की मृत्यु हुई, तब मैं नौ वर्ष का था। अतः उसके स्वरूप को मैं इतना भुला बैठा हूँ कि यदि वह सामने प्रकट भी हो जाए तो उसे पहचान नहीं सकता। पर उसके संबंध में मैंने जो कुछ सुना और जो कुछ उसकी धुंधली स्मृतियाँ मुझे हैं, उसका ही प्रतिबिंब मेरे काव्य 'गोमांतक' की 'रमा' की भूमिका पर पड़ा है। सुंदर स्वरूप, गोरी, स्वभाव से सुशील और स्नेहिल मन की मेरी माँ थी, यह उसके प्रति कही जानेवाली बातों से मैंने जाना था। संपन्नता का घमंड उसे नहीं था, परंतु उसकी मृत्यु के बाद हमारी संपन्नता घटने लगी। मेरे पिता कहा करते थे, 'वह आई भी लक्ष्मी लेकर, गई भी लक्ष्मी लेकर।' उसके जाते ही लक्ष्मी चली गई। वास्तव में

वही लक्ष्मी थी। मेरे पिता, मेरी माँ पर वास्तव में बहुत मुग्ध थे—

प्रिया उसके जैसी युवती ही वय से।
गृहिणी कर्तव्य करे पर पूर्ण प्रौढ़त्व से।
गृहनिर्मल, रसोई सुरस करे वह नित्य।
प्रियंवदा थी वह सबकी बात थी सत्य॥

बड़ों की साग्रह करे सेवा बच्चे पढ़ाए।
वेतन से अधिक वाणी से सेवक भरमाए।
किसान आते ऋण लेते उसके द्वारे।
रोटी-पानी देकर उनसे बातें मीठी करे॥

अमराई से आम आते पर्वत लगाते घर में।
सुरंग, सुरस, सुस्वादु बीनकर वह पहुँचाती हर घर में।
सुवासिनी आमंत्रित करती सब जात।
आँगन भरता सब लूटती आम॥

माँ के स्तनपान से आम कांचन गौर से।
या स्तनद्वय के मध्य स्तंभित लोभ अनावर से।
किंचित् कुपित कभी होती प्रेम कोमल पति से।
प्राण से प्यारी वह माने जैसे वह माने उसे॥

वेणी बाँधे स्वहस्ते नहलाए भी वह उसे।
लजाती वह कुपित हो क्षणमात्र बात न करे उससे॥

मेरे ताऊ को संतान नहीं थी। मेरी माँ की भी पहली दो संतानें अल्पायु थीं, अतः उसकी तीसरी संतान अर्थात् मेरे बड़े भाई को माँ और नानी का अपार प्यार मिला। उनके जन्म के चार वर्ष बाद मेरा जन्म हुआ। उसके तीन वर्ष बाद मेरी बहन 'माई' और उसके बाद मेरे छोटे बंधु 'बाल' का जन्म हुआ।

मेरे माँ-पिता की तरुणाई की गृहस्थी बहुत आनंद से गुजरी। उनके वे मजे के दिन कैसे बीतते थे, दारणा नदी के पार हमारी जागीर की अमराइयों में वनभोज आदि किस हर्ष और उत्साह से संपन्न होते थे! मेरी माता की दिनचर्या कैसी होती थी! वह कैसी स्नेहिल, कर्तव्यतत्पर और पवित्र थी, इसका कुछ आभास मेरे 'गोमांतक' काव्य की 'रमा' के दर्पण में दिख सकता है—

एक-दूजे का सुख बढ़ाते रमा-माधव रम रहे।
एक उत्तम दूजा अति तो पहिला फीका पड़े॥
यथाकाल सुभाग से रमा रमणी यश पाए।
प्रसवित हुआ एक लाल तनया वंश यश उजाले॥

जन्म होते बालक पर गगन से सुमन वर्षा हुई।
विमानों की भीड़ भारी अंबर में जमी॥
आशीष दे विपुल उसे प्राचीन पूज्य गोत्रज ऋषि।
गंधर्व गगन में गाए न गाए गीत बधाई॥
पुत्रमुख वात्सल्य से चूमने वह लगी।
मानो रमा के हृदय में स्नेह की बिजली भरी॥
कौशल्या के सुख से कम सुखी उसे क्यों गिनें।
सिंहासन पर बैठी महारानी थी इसलिए॥
बाल उसका उसे पुकारे मंजुलता से 'माँ'।
वात्सल्य-अश्रु से तर हो जाए आँचल उसका॥
माता के स्तनपान पिता के प्रिय स्नेह से।
बाल पोषण पाए लोभ हर्षित हुए॥
कान के झुमके झुमकते ठुमकते बाल के।
माँ को कौर खिलाए अपने मुँह से निकाल के॥
घोड़ा खेलते तात को काम पर जाने न दे।
कपड़े छिपाए, दरवाजे बीच खड़ा रहे॥
जैसे-जैसे बढ़ता चला बालक उसका सद्‌गुणी।
श्रेय प्रेय उसे मिलता संयुक्त होकर जीवनी॥
प्रथम प्रसवा स्तनपान कराए शिशु चूमते-चूमते।
नदियाँ सहोदर लेतीं प्रीति नीति उस लोक में॥
भोग ही योग्य है या प्रतिपाल अपत्य का।
गति दे जीवन गंगा को सृष्टि दे नवीनता॥
बाल संगोपन करे नारी पाए जीवन में रम्यता।
जीवन में क्रम आए सुव्रत पालन हो यथा॥
एक-दो पंछियों की सुन तान सुंदर।
भोर ही जग पड़े नित रमा सत्वर॥
झाड़ू-बुहारी स्वयं करे दासी हाथ लगाने न दे।
स्नान कर शुचिर्भू वह शीघ्र स्वयं को करे॥
पिछवाड़े के आँगन में लगाई फुलवारी थी उसने।
देवपूजा हित फूल चुनने वह वहाँ जाया करे॥
फूलों की सुगंध में और उषा के सुरंग में।
तन्मय हो वह सृष्टि कौतुक देख भले॥

फूल चुनते गीत झरता मंजुल उसके कंठ से।
मानो शांति प्रभात की वाणी पाए गीत से॥
पति को धीरे से वह जाग्रत करे।
देश कुशल सब नयनों में नीर भरे॥
तुलसी निकट बैठ वह जाप नित्य किया करे।
बालक उसका वहाँ बैठ देख चुहलबाजी करे॥
पूजा करते उसे लिपटने को बालक मचले।
या अगरबत्ती का उठता धुआँ पड़कने को लपके॥
उष्णोदक से फिर बालक को वह नहलाए।
एक-एक शब्द कहते उससे स्तोत्र पाठ करवाए॥
कमल पंखुड़ी खिलते-खिलते खुलती जैसे।
हृदय उसके अर्थ-ज्ञान खिलता वैसे॥
नमस्कार करवाए देव तुलसी को सती।
कौर मुँह में तनय के बैठाकर देती॥
दूध-भात का कौर साथ उसके अचार।
थाली से जो देती माँ उसका कौन समान॥
वैसी मिठाई मिलती नहीं जीवन में फिर कभी।
स्नेह भी वैसा माँ कर पाती नहीं फिर कभी॥
सुनते क्या जी! बोले रमा मुड़ देखे कहीं।
पति को कुछ कहने अधीर वह हुई॥
जेठ में होंगे पूरे पाँच अपने लाल के।
जन्मदिन मनाए दाल बाटी के ठाठ से॥
टीका-टिप्पणी विरोध उसका न हुआ।
प्रस्ताव उसका पंच-सभा में पारित हुआ॥
वनभोज उस युगल को था बहुत पसंद।
रमा-माधव बुलाते इष्ट मित्र मनाने वसंत॥
नाना पकवान बनाए महिलाओं ने।
शुभ दिन आने पर उन्हें साथ लाए॥
प्रातः से ही मंगल बाजे बजने लगे।
गाड़ियाँ भी आ गईं सजी फूलों से॥
गाड़ियाँ बढ़ीं धक्का सबको लगा।
नर-नारी भिड़े और एक ठहाका लगा॥

खेत, खेती, पशु-पक्षी और पेड़-मेड़।
अक्रम सुंदरता से मार्ग थे भरे-भरे॥
नाम पूछे काम पूछे बालक उत्कंठा-भरा।
ताली बजा, गाल खींच दिखाए वह हरा-भरा॥
खेत छोड़ गाड़ियाँ चलीं, हुई खड़खड़।
पंछी उड़े, गाते मंजुल करते फड़फड़॥
मानुष भी क्या उड़ सके जैसा पंछी उड़े।
प्रश्न बालक का सुन रमा उससे कहे॥
पुत्र नहीं देता देव ऐसे पंख मनुष को।
पर चतुर मानव ने बनाए विमान नापने आकाश को॥

मेरी पहली स्मृति

'अपनी' कहने योग्य मेरी प्रथम स्मृति मेरे सातवें-आठवें वर्ष की है। मेरे पिता का नियम था कि रात्रि का भोजन हो जाने के बाद वे मेरे ज्येष्ठ बंधु से मराठी के किसी एक ग्रंथ का वाचन करवाते थे। मराठी 'ओवी' छंद में लिखे अनेक ग्रंथ, जैसे—'राम विजय', 'हरि विजय', 'पांडव प्रताप', 'शिवलीलामृत', 'जैमिनि अश्वमेध' आदि उन दिनों मराठी घरों में पढ़े जाते थे। ग्रंथ पढ़ा जाता और उसपर मेरी माँ से वे चर्चा करते। ऐसी एक चर्चा का विषय था कि हर कल्प पिछले कल्प का बिलकुल प्रतिरूप रहता है। पिछले कल्प की यथावत् आवृत्ति उसके बाद के कल्प में होती रहती है। दूसरे दिन वे सारी बातें मेरी स्मृति में रहती थीं।

हम दोपहर पाठशाला से घर आया करते थे, फिर कुछ खाना-पीना और बहुत-कुछ माँ से लाड़-लड़ियाव करते। उस दिन कुछ ऐसा हुआ कि मैं घर तो आ गया, पर खाने-पीने की किसी बात पर माँ से रूठ गया। इसीमें छुट्टी का समय बीत गया और माँ से बिना बतियाए-लड़ियाए पाठशाला लौटना पड़ा। बाद में मुझे इस बात का बड़ा खेद हुआ कि रूठा-रूठी में माँ से बतियाने का स्वर्णिम अवसर खो गया और वे बीते क्षण अब जीवन में कभी भी नहीं आएँगे। वे निकल गए तो निकल ही गए।

इतना मैं सोच ही रहा था कि रात्रि की चर्चा स्मरण हो आई और यह समाधान उभरा कि कोई बात नहीं, अगले कल्प में यह दिन फिर आएगा ही, यही मेरी माँ होगी। ऐसे ही पाठशाला की छुट्टी होगी, यही क्षण फिर आएगा। तब अगर रूठा-रूठी नहीं की तो इस खोए हुए सुख का लाभ फिर मिल जाएगा। माँ से फिर लड़ियाव-बतियाव हो जाएगा। परंतु हाय रे! हाय! इतना सोचते यह भी ध्यान में आ

गया कि अगले कल्प में तो आज जैसा ही घटित होगा। अर्थात् उस कल्प में भी रूठने की गलती मैं करूँगा। आज चाहे जैसा दृढ़ निश्चय मैं करूँ, घटेगा तो वही जो आज घटित हुआ, क्योंकि हर पिछले कल्प का प्रतिरूप या छायारूप ही अगला कल्प होता है। यह स्पष्ट है कि उस दिन माँ के मधुर शब्दों से जो मैं वंचित हुआ, वह हुआ। ऐसे उलट-पुलट विचार बिजली की तरह आए-गए। पर जब उसकी सुध आती है, तब मन उदास हो ही जाता है।

मेरा यज्ञोपवीत संस्कार कब हुआ, कैसे हुआ, इसकी कोई सुध मुझे नहीं है, पर माँ की एक सुध अवश्य है। उसका होनेवाला बच्चा पेट में आड़ा हो गया था। रात भर सारे बेचैन थे, मेरे पिता की आँखों में आँसू थे, वे इधर-उधर चक्कर काट रहे थे, रात-ही-रात नासिक से डॉक्टर लाया गया, उसके प्रयास सफल रहे। माँ ने सकुशल प्रसव किया। सब लोग इतने प्रसन्न हुए कि बच्चा मरने का दुःख किसीको हुआ ही नहीं। उस अवधि की एक-दो बातें मेरे बड़े भैया ने मुझे कही थीं। वे बातें बड़े भैया से ही जुड़ी थीं। मेरे पिता अपने बड़े बेटे को अंग्रेजी पढ़ाते, शब्द के अर्थ, स्पेलिंग पूछते, बड़े भैया को आते ही नहीं थे। फिर पिता का आदेश होता—आँगन की पूरी लंबाई में घूमते हुए कान पकड़े उस शब्द का घोंटा लगाओ। बड़े भैया बेचारे पूरी ईमानदारी से वैसा ही करते। परंतु मुझे बड़ा बुरा लगता। मैं यह समझ नहीं पाता कि शब्द घोंटने के लिए कान पकड़ना और चक्कर काटना क्यों जरूरी है? आँगन में तुलसीचौरा था। मैं बड़े भैया को उसके पीछे बैठकर शब्द घोंटने को कहता और स्वयं पहरा देता। पिताजी के आते ही मैं उनको संकेत करता। वे तुलसीचौरे के पीछे से निकलकर कान पकड़े घूमने लगते।

अपने बड़े भैया, जिन्हें हम सब 'बाबा' कहते थे, को इस कानपकड़ी से बचाने के मेरे प्रयास की भरपाई उन्होंने की, पर उससे मेरे प्राण संकट में पड़ गए थे। मेरे पिताजी अनुशासनप्रिय थे। अतः अनुशासन के लिए वे कभी-कभी पिटाई भी कर देते थे। पर मेरे संबंध में उनपर यह प्रत्यक्ष आरोप घर में लगाया जाता कि उनका गुस्सा पक्षपातपूर्ण है। एक बार कुछ ऐसा हुआ कि मुझे दो-चार थप्पड़ लगाने की प्रतिज्ञा उन्होंने की और वे मेरे पीछे पड़ गए। मैं छिपने के लिए अँधेरे कमरे की ओर भागा। बाबा भी वहीं थे, मेरी सहायता करने के लिए वे मेरे पीछे आए। उस कमरे में तिजोरी थी और वह भी खुली हुई। बाबा ने उसे देखते ही मुझे उसमें घुस जाने को कहा—मैं गुडी-मुडी होकर उसमें बैठ गया और बाबा ने तिजोरी बंद कर दी। पिताजी ने कुछ इधर-उधर मुझे खोजा और 'बदमाश कहीं छिप गया' ऐसा बड़बड़ाते वे अपने काम से चले गए। पिताजी के जाते ही बाबा ने तिजोरी खोली, मैं अर्ध बेहोशी में था। बाबा ने घबराकर हल्ला-गुल्ला किया। माँ और दूसरे लोग आए, मुँह

पर पानी के छींटे आदि देकर मुझे होश में लाया गया।

माँ की मृत्यु

सन् १८९२ में हमारे गाँव में बड़ी महामारी फैली। इधर-उधर करते उसने मेरी माँ को धर दबोचा। तब माँ की आयु कोई बत्तीस-तैंतीस वर्ष की होगी। वह एकदम तरुण दिखती थी, यद्यपि चार बच्चों की माँ थी। धन तथा संतति संपन्नता, अत्यधिक प्रेम करनेवाला पति उसे प्राप्त थे, पर नियंता से वह देखा नहीं गया और वह महामारी का शिकार हो गई। वह दिन मुझे स्पष्ट स्मरण है। सुबह से ही उसे दस्त होने लगे, पर उस दिन घर में श्राद्ध या ऐसा ही कुछ कार्य था। इसलिए बड़े धैर्य से उसने रसोई बनाई। फिर दस्त हुआ। नहाकर वह फिर परोसने लगी। तब तक किसीको भी उसकी भनक नहीं थी, पर पंगत वह परोस न पाई। उसे चक्कर आने लगे, वह पुराने घर के देवगृह में आकर पसर गई। फिर वह उठी ही नहीं। पंगत-अंगत धरी रह गई। अण्णा (मेरे पिता) उसे देवगृह से उठाकर बीच के कमरे में ले आए। मामा और नानी के लिए हमारे ननिहाल को तार दिया गया। उपचार शुरू हो गए, पर कोई लाभ न हुआ। शक संवत् १८१४ आषाढ़ शुक्ल प्रतिपदा के दिन उसकी नाड़ी क्षीण होने लगी। हम बच्चों को बड़े-बूढ़ों ने एक-एक करके उसके अंतिम दर्शन कराए। मेरा छोटा भाई बाल पाँच-एक वर्ष का बालक था। क्षीण चैतन्य अवस्था में बाल को देखकर उसकी आँखों से अश्रुधारा बह निकली। उस बच्चे को सँभालने की बात उसने संकेत से कही। बाल माँ-चिपकू था, अब कैसे रहेगा? यह प्रश्न था। तुलसी दल और पूजा की कुप्पी में गंगाजल रखा हुआ था। पिता ने वह दोनों उसके मुख में डाला और वह सुवासिनी साध्वी परलोक सिधार गई। मेरे पिता उस मृत देह के पास बैठे फूट-फूटकर रोए। मेरे पिता और ताऊ के बीच भयंकर वैर था, परंतु मेरी माँ से वैर करे, ऐसा पत्थर-दिल कोई नहीं था। बापू काका ने हम बच्चों को पेट से लगा लिया। राधा, तूने यह क्या किया, अब इन बच्चों का क्या होगा? कैसे होगा? हमारे घर की लक्ष्मी हमें क्यों छोड़ गई? वे रोते-रोते कहते जा रहे थे। पूरा घर शोकग्रस्त हो गया। दोपहर दो बजे दहन-क्रिया समाप्त कर लोग-बाग घर लौट आए, पर माँ नहीं लौटी।

इन घटनाओं की स्पष्ट स्मृति मुझे है। इसके साथ ही मानव-स्वभाव की विचित्रता को दर्शानेवाली एक अन्य सुधि भी है। दाह-क्रिया आदि निपटाकर लोग-बाग लौटे तो भोजन की व्यवस्था राधा काकू ने की। ये हमारे ही संबंध की महिला थीं। मुझे खूब भूख लगी थी और भोजन में रसदार आलू बने थे। वह सब्जी मुझे उस दिन इतनी अच्छी लगी कि वैसी मधुर सब्जी जीवन में फिर कभी चखी हो, ऐसा

स्मरण नहीं है।

माँ के पीछे हम तीन भाई और मेरे बाद की एक बहन—ये चार संतानें थीं। माँ की मृत्यु के बाद मेरे पिता को वह घर काटने जैसा लगने लगा। माँ के लिए ही एक तीनमंजिला मकान पिताजी बनवा रहे थे। उसे तुरत-फुरत पूरा करवाकर पिताजी हम बच्चों को लेकर उस नए घर में चले गए। पुराने घर में हमारे ताऊ अकेले ही रहने लगे। वे साठ के आसपास थे, पर अपना भोजन स्वयं बनाते थे। इधर नए घर में चालीस-बयालीस के मेरे पिताजी खेती, किसानी, साहूकारी, लेन-देन, मुकदमे, झगड़े सँभालते हुए हम बच्चों की देखभाल, रसोई-व्यवस्था आदि देखते। पिताजी के मित्रगण दूसरा विवाह करने के लिए उनपर जोर डालते। उस काल में तो ऐसे विवाह होते ही थे, परंतु हमपर उनका जो अतिशय स्नेह, ममता थी, उस कारण उन्होंने वह विचार मन में आने ही नहीं दिया। बाहर के सारे कामकाज के साथ वे हमारा लालन-पालन माँ से भी अधिक ममता से करते रहे।

वे लोरी गाकर हमें सुलाते, थपकियाँ देकर उठाते, नहलाते, कपड़े पहनाते, रसोई बनाते। बाद में मैं और बड़े भैया भी रसोई आदि में उनका हाथ बँटाते। कामकाज के लिए नौकर-चाकर थे, पर बच्चों के जो काम माँ ही करती हैं, वे सारे काम वे स्वयं ही करते थे ताकि बच्चे माँ की ममता से वंचित न रहें। रात में सोने के पहले अपने सोए हुए बच्चों के सिर-गाल पर हाथ फेरने से उनका न चूकना माँ के न होने की वंचना से हमें मुक्त कर सका। बड़े भैया पिताजी के साथ रसोई बनाते-बनाते उसके विशेषज्ञ बन गए, परंतु मैं उस समय से लेकर आज तक रसोईशास्त्र में विफल ही रहा।

माँ की मृत्यु के बाद छोटे भाई का यज्ञोपवीत हुआ। ऐसे अवसरों पर मेरी नानी, मामी और मामा अवश्य हमारे गाँव आते थे। बड़े भैया सत्रह के हो गए तो उनका विवाह पिताजी ने कर दिया। कन्या त्र्यंबकेश्वर निवासी नानाराव फड़के की भतीजी थी। वह हमारी येसू भाभी बनी। मेरे ही वय की। स्वभाव की इतनी ममतामयी कि हमारे लिए भगिनी ही हो गई। उसकी स्मरणशक्ति अति की हद तक थी, उस छोटे वय में भी उसे पचास-साठ गीत याद थे। गाना भी मधुर। मराठी में रचा प्राचीन और काफी लंबा गजगौरी गीत उसे कंठस्थ था। उस गजगौरी गीत में अद्‌भुत कथाओं को भी पिरोया गया था। जब वह अपनी पल्लेदार आवाज में उस अद्‌भुत और रम्य गीत को गाती तो बस, हम मंत्रमुग्ध हो सो जाते। वह सोया देख हमें चिकोटी काटकर उठाती। आज भी यदि कोई परलोक विद्या की शक्ति मेरे हाथ आ जाए तो मैं उस भाभी को जिलाऊँ और उसके जीते ही मैं उससे कहूँ कि वह गजगौरी पुनः एक बार गाओ न, बहिनी! वह गजगौरी गीत मैं जिद करके अपनी

नानी से भी सुनता था।

मेरे बड़े भैया को अंग्रेजी पढ़ने के लिए नासिक में रखा गया। अण्णा (मेरे पिता) भी कचहरी आदि के काम से नासिक जाते-आते रहते थे। तब भाभी ही हम बच्चों की अभिभावक रहती। मैं उसे और अपनी छोटी बहन को लिखना-पढ़ना सिखाने का प्रयास करता। मैं कविता लिखने लग गया था। भाभी से भी कविता सीखने का आग्रह करता। मेरे आग्रह के कारण वह भी शब्दों की जोड़-तोड़ करने लग गई थी।

समय ने पलटा खाया और येसू बहिनी के पति और मैं, उसका देवर, दोनों को ही काले पानी की सजा हुई। येसू बहिनी पर तिहरी मार पड़ने लगी। एक तरफ सरकारी आतंक था, दूसरी ओर वियोग और तीसरी स्वयं की बीमारी। मृत्यु-शय्या पर वह पड़ गई। ऐसे में मेरे मित्र उससे आग्रह करते रहे कि मेरे चरित्र के एक भाग के रूप में मेरे बारे में वह कुछ लिखे, जिसे अनुकूल समय आने पर छपवाया जा सके। मेरे प्रति उसका अकृत्रिम स्नेह था। अत: उस आग्रह को वह ऐसी जानलेवा परिस्थिति में भी टाल नहीं सकती थी। उसने वे सारी स्मृतियाँ लिखीं। उसमें से उसके द्वारा लिखे हुए कुछ प्रसंग मैं यहाँ ज्यों-का-त्यों उद्धृत कर रहा हूँ। कितनी स्नेहसिक्त सुधियाँ हैं, ये पाठक स्वयं ही देख लें—

'अपने देवरजी को मैंने उनके वय के ग्यारहवें वर्ष के आसपास सबसे पहले देखा। मेरे विवाह में मेरी और उनकी पहचान कैसे हुई, यह बताती हूँ। सुनो! विवाह के पूर्व का समय था। मैं गौरी पर अक्षत चढ़ाने बैठी थी। इतने में ये दो लड़के (मेरे दोनों देवर) आकर विवाहवाले घर के दरवाजे पर खड़े हो गए और उन्होंने पूछा—फड़के का घर यही है क्या? हमारी भाभी कहाँ हैं? ये शब्द सुनते ही मेरी मौसी उनसे पूछती है कि तुम कौन हो और तुम्हारे नाम क्या हैं? नाम क्या हैं, ऐसा पूछते ही मेरे ये देवरजी कहते हैं, ये मेरा छोटा भाई, इसका नाम नारायण दामोदर सावरकर, मेरा नाम विनायक दामोदर सावरकर और हमारे बड़े भैया जिनका आज विवाह है, उनका नाम है गणेश दामोदर सावरकर। सभी ने यह सुना, मेरी माँ और मौसी धन्य-धन्य हो गईं और बोलीं, 'कितने सयाने, बुद्धिमान और स्पष्टवक्ता हैं ये हमारी येसू के देवर।' यह सब मैं बड़े उल्लास से सुन रही थी। मुझे लगा कि मैं उनकी वह स्नेहिल, सुकुमार एवं कोमल मूर्तियाँ देखती ही रहूँ। प्रेम क्या होता है और उसका आनंद क्या होता है, मुझे उस दिन उसकी समझ आई। इतनी बातें होते-होते हमारे देवरजी बोले, 'क्यों जी, विवाह कहाँ होगा? हमारी भाभी किस ओर खड़ी होंगी? मुझे उनके पास खड़े होकर सबकुछ देखना है।'

'मेरी मौसी ने उनसे कहा, 'ऐसे बैठो! इधर ही तुम्हारी भाभी खड़ी रहेगी।'

मुझे यह सुनकर बड़ा अच्छा लगा। देवरजी वहीं मेरे पास ही बैठे। हम वधू-वर जो-जो विधि करते रहे, वे एकटक देखते रहे। चार दिन तक वे बरात के साथ वहीं रहे। पंगतों में जब कभी नवविवाहित भोजन करते, तब वे भाई को आग्रह करते कि भाभी के मुँह में कौर दें। मुझे भी कहते कि भाई के मुँह में कौर दें। पंगतों में दक्षिणा दी जाती, तब वे भाभी को भी दक्षिणा देने का आग्रह दान-दाता से करते, पर मेरी थाली के सामने रखा गया सिक्का तुरंत उठा लेते। कोई पूछता तो कहते, 'वाह! भाभी तो हमारी है।'

'विदा होने के समय मेरी माँ मुझे समझाते हुए कह रही थी, 'दो-चार दिन में ही लौटा ले आएँगे।' देवरजी ने यह सुन लिया और मेरी माँ से बड़प्पन से कहा—'माँजी, आप चिंता न करो। भाभी की आँखें गीली हैं। उसका औषध उपचार कर हम ठीक कर देंगे।'

'रात में बैलगाड़ियाँ चल दीं। मुकाम पर पहुँचते-पहुँचते दिन निकल जाता। रास्ते में एक स्थान पर सूर्योदय हुआ। उसे देख देवरजी ने कहा, 'कितना सुहाना समय है यह! सूर्य की कोमल किरणें आँखों और मन को कितना आनंद दे रही हैं। पर दुःख इस बात का है कि आँख आने के कारण तुम ये सब देख नहीं सकती। देखो, सूर्यादय होते ही मोर कैसे नाच रहे हैं, मृगों की टोली कैसे दौड़ रही है! पर तुम आँखें बंद किए बैठी हो। मैं पानी लाता हूँ, तुम आँखें धो लो।' वे पानी ले आए। मैंने आँखें धोईं। खोली भगूर में आ जाने पर मेरी आँखों को अफीम के गरम पानी से सेंकने के लिए वे मुझे बार-बार कहते, सारी सामग्री मुझे लाकर देते। अपनी गोद में मेरा सिर लेकर स्वयं ही मेरी आँखें उन्होंने सेंकीं भी। घर आने पर पूजन हुआ, मेरा नाम सरस्वती रखा गया। देवरजी ने सबको मिश्री की डली देते हुए मेरे नए नाम का विज्ञापन किया। दो-तीन दिन बाद विवाह धूमधाम से समाप्त हुआ, देवरजी भी अपने कामकाज में लग गए।

'प्रातः उठते ही नहा-धोकर वे पाठशाला जाते। जाते-जाते सबको उनके काम बताते जाते। दस बजे मराठी पाठशाला की छुट्‌टी होते ही जिस किसीको दवा-दारू देना हो, वे स्वयं ही देते। भोजन के बाद हम कुछ खेल रहे होते तो हमारे संग आकर वे भी खेलते। दो बजे फिर पाठशाला जाते। ढाई-तीन बजे पानी पीने की छुट्‌टी में वे घर आते। तब हम सब एक थाली में परोसा दाना-दूना चुगते। उस समय उन्हें बहुत मजाक सूझता। हमारे हिस्से का दाना-दूना छिपाते। उनके भी विवाह की बातें तब चल पड़ी थीं। जिस लड़की से रिश्ता होना था उसका नाम लेकर या उसे मोटी, काली-कलूटी कहकर हम भी उन्हें चिढ़ाते। वे हमारा झोंटा पकड़ ऊपर उठाते और कसमें खाने के बाद ही छोड़ते। फिर उन्हें पाठशाला जाना होता था। पाँच

बजे लौट आते। तब तक उनके संगी-साथी घर के द्वार पर खड़े मिलते। खेलकर आने के बाद भोजन और शय्या, ऐसा उनका कार्यक्रम रहता।

'फिर हलदी-कुंकुम लाया गया। एक गौरी बनाकर उसके आगे दीपक जलाया गया, उसे गजरे से सजाया गया, लेकिन वस्त्र क्या पहनाएँ? इसपर विचार हुआ, बातचीत होती रही। इसी बीच मेरे देवरजी ने स्वयं एक रंगोली बनाई और मुझसे कहा, 'कितनी शानदार रंगोली है! तुम्हें क्या आता है?' मैंने कहा, 'ठीक है! तुम्हारी रंगोली का नाम क्या है?' उन्होंने हँसी करते हुए जवाब दिया, 'टूटा भांडा।' इस पर सब हँस पड़े। फिर उन्होंने कागज की कतरनों की सजावट की। पास-पड़ोस की महिलाओं ने आकर नए लग्न का नामोच्चार किया और जाते समय मुझसे बोलीं, 'इतनी सुंदर कला तुमने कहाँ सीखी?' अब वसंत पूजा होनी थी। देवरजी द्वारा इस संबंध में पूछे जाने पर मामी ने बताया कि उन्होंने पूजा के समय ही गुलाल, हलदी, कुंकुम, नैवेद्य आदि सजाने की कला सीखी। यह सुनकर देवरजी मुझसे बोले, 'तुम भी यह कला सीख लो।' और सारी वस्तुएँ देते हुए नए-नएं ढंग से उन्हें सजाने के लिए कहा।

'ग्यारह वर्ष के थे, पर पुस्तकों पर जैसे टूटे पड़ते थे। हमारा गाँव जैसे कुग्राम ही था, पर चार-पाँच समाचारपत्र आते थे। हर किसीसे समाचारपत्र ले आना, पढ़कर लौटा आना। वैसे ही पुस्तकों का; कहीं पुस्तक दिख जाए तो उसे उनको पढ़ना ही था। एक दिन क्या हुआ—भोजन किया, कुरता पहना और पड़ोसी के यहाँ घड़ी देखने चले गए। वहाँ सारे लोग उन्हें देखकर हँसने लगे, क्योंकि कुरते के नीचे केवल लँगोटी पहन रखी थी। चड्डी पहनना ही भूल गए थे। फिर कोई बहाना ठोंका और चले आए। मुझे ही डाटने लगे कि बताया क्यों नहीं।

'मायके जाकर जब मैं दूसरी बार लौटी तब मंगला गौरी का पूजन था। हम भोजन कर रहे थे। उस दिन हम महिलाएँ भोजन करते समय बोलती नहीं हैं। बहुत सारी लड़कियाँ थीं—सारी नवविवाहिता। ये पंगत परोसने आए। किसको क्या चाहिए, लड़कियाँ संकेत से या फिर अँगुली से भूमि पर लिखकर बतातीं। मुझे लिखना आता ही नहीं है, यह बात उन्हें उस दिन ज्ञात हो गई। भोजन के बाद उन्होंने पूछा, तुम्हें लिखना-पढ़ना नहीं आता? तुम्हें किसीने सिखाया नहीं? अब मैं पढ़ाऊँगा।

'एक-दूसरे को हम देवर-भाभी कहते, पर रिश्ता सगे भाई-बहन जैसा था। सारे खेल-खिलवाड़ में यही भाव रहता। इससे उस वय में हममें बड़ी उन्मुक्तता थी। तीसरी बार दीवाली बाद जब मैं ससुराल लौटी, तब रसोई सँभालनी पड़ी। हमारे यहाँ एक पंडित रसोई बनाया करते थे, वे छुट्टी पर चले गए थे। मुझे रसोई का अनुभव नहीं था। पंडित था तो मैंने उस ओर झाँका भी नहीं था। देवरजी ने मुझे

रसोई बनाना सिखाया। मेहमान भी आते तो हम दोनों मिलकर रसोई बना लेते। मुझे लिखना-पढ़ना नहीं आता, यह बात उन्हें खलती रहती। बार-बार वे मुझे उसके लिए कहते। मेरी आँखें कमजोर थीं। ससुरजी उनसे कहते, क्यों उसे परेशान करते हो? उसकी आँखें ठीक होने दो पहले।

'चौथी बार मैं ससुराल लौटी। देवरजी बारह वर्ष के हो गए थे। सारे कामकाज समय बाँधकर करने लगे थे। बड़े देवीभक्त थे। उसकी पूजा, ध्यान बड़े एकाग्र हो करते। पूजाघर में कोई आया-गया, उनको पता न पड़ता। किशोर वय में इतनी एकाग्रता मैंने कहीं और देखी-सुनी नहीं। पूजा-ध्यान के बाद भोजन करते। फिर अध्ययन के लिए बैठते। जहाँ बैठते, वहाँ माँ काली का एक चित्र लगा था। बार-बार उसे देखते।

'अध्ययन करते-करते थक जाते तो हमारे बीच आ टपकते। मैं अपनी छोटी ननद के साथ चूल्हे-चक्की का या ऐसा ही कोई खेल खेलती होती। वे दो-चार दाँव खेलते, फिर पुस्तकों में खो जाते। कभी दर्पण ले लेते, तरह-तरह की मुखमुद्रा बनाते। कहते, 'ऐसा होता तो' या और मुँह बिगाड़कर 'ऐसा होता तो तुम मुझे धकिया देतीं।' हम कहते, 'नहीं, तब भी नहीं और अब भी नहीं। तुम हमारे प्यारे सलोने देवरजी जो हो।' फिर सब पेट पकड़-पकड़कर हँसते। शौचालय में समाचारपत्र ले जाते, लौटते तो कुत्ते-बिल्ली की आवाज निकालते। पिछवाड़े कछवाई थी, वहाँ बकरियाँ घुस आती थीं, वैसी आवाज निकालते। मैं भगाने दौड़ती तो ये खिलखिला पड़ते। कभी-कभी हम उन्हें बहुत चिढ़ाते, वे हमें पकड़ एक छोटे आले में हमारी मुंडियाँ घुसेड़ देते।

'आप हँसोगे तो हँसो, पर मैं लिखूँगी, उनके अपने अल्हड़पन, उन्मुक्त भाव के खेल-खिलवाड़। हमारे यहाँ एक बड़ा झूला था। हम सारे बच्चों की धमाचौकड़ी उसके इर्दगिर्द चलती। रविवार तो बस! घर सिर पर उठा लेने का दिन। वे झूले पर चढ़कर गीत गाते। उनका एक गीत खास था। उसमें पेशवाई के समय का वर्णन था।

'मेरे एक देवर, ननद बहुत छोटे थे। मेरे समवयस्क। फिर भी समझ और बुद्धि से बड़े। कभी-कभी रुष्ट हो जाते। बोलते नहीं। यह चुप्पी मुझे सहन न होती। मैं क्षमा-याचना करती और बड़ी उदारता से सब भूल-भालकर हम फिर हँसने-बोलने लगते।

'उस समय वे 'पेशवा की बरवर' नामक पुस्तक का वाचन कर रहे थे। उस पुस्तक में सवाई माधवराव का एक चित्र था। उस चित्र को उन्होंने अलग कागज पर चित्रित किया। हम सबको दिखाया, मुझे बहुत अच्छा लगा। सवाई माधवराव पर एक होली-गीत लिखा। हम सबको लिखवाया। घर में ही टँगे बड़े

झूले पर बैठ हम उसे गाते। एक दिन उसी झूले से धड़ाम से गिरे और नीचे लेट गए। आँखें आड़ी-टेढ़ी कर लीं, जीभ बाहर निकाल बुलाने लगे—'ओ भाभी, रे बहना, मैं मरा।' मेरी ननद घबरा गई। मैंने कहा, मजाक कर रहे हैं, घबराने की बात नहीं है तो एकदम बोल पड़े, हाँ-हाँ, किसीके प्राण निकल रहे हैं, फिर भी भाभी के लिए मजाक। बहन-बहन है, भाभी-भाभी; पराई। बहन जैसी अपनी कैसे हो सकती है? मुझे बहुत बुरा लगा। रुलाई फूट पड़ी मेरी। तब उलट गए—अरे, तुम भी कैसी? बहन तो चार दिन बाद ससुराल चली जाएगी। हमेशा तो तुम ही रहोगी और मैं क्या तुम्हें पहचानता नहीं। यह तो मजाक था और तुमने खूब पहचाना। ऐसे बात पलट दी।

'कुछ समय बाद छोटे देवरजी, जिन्हें सब 'बाल' कहते थे, का जनेऊ हुआ और तुरंत की ननद का विवाह। मेरे मायके के गाँव त्र्यंबकेश्वर का ही लड़का था। विवाह भी वहीं होना था। हम सब त्र्यंबकेश्वर गए। मेरे मायके में ही डेरा पड़ा। ये, देवरजी और मैं लौटनेवाले थे, पर हम सब गंगाद्वार देखने गए। ऊँची पहाड़ी पर। देवरजी वहाँ बाल-बाल बचे। उतरते समय सीढ़ियों से न उतरकर सीढ़ियों के कठड़े (रेलिंग) के बाहरी छोर पर से उतरने की होड़ लगी। पचास-एक सीढ़ियाँ उतरे और पैर चूक गया, गिर गए। गिरते-गिरते चिल्लाए, 'भद्रकाली!' 'भद्रकाली' का घोष सुनते ही इधर-उधर से भागे-दौड़े लोग आए। सिर में दो जगह घाव हो गए। रक्त की धार बहने लगी थी। वहाँ एक साधु की कुटिया थी, वहीं जाकर उपचार किया। सिर बाँधने के लिए पट्टी चाहिए थी। त्र्यंबकेश्वर के प्रभारी (प्रबंधक) जोगलेकर वहाँ थे। जरी काम का दुपट्टा ओढ़ा करते थे। तुरंत उन्होंने उसे फाड़ा, लंबी पट्टी निकाली, घाव बाँधे। चार-आठ दिन वहाँ रहकर हम सब 'भगूर' आ गए।

'मई माह बीता। जून से अगली पढ़ाई के लिए देवरजी को नासिक जाना था। मराठी कक्षा पाँच तक वे भगूर में ही पढ़े थे। अगली दो कक्षाओं की पढ़ाई भी उन्होंने वैसे घर पर कर ली थी। नासिक में उन्हें अंग्रेजी की कक्षा तीन में शिवाजी स्कूल में प्रवेश मिला। वहाँ चार महीने बाद ही चौथी कक्षा में चले गए। गणपति उत्सव के दिनों में भगूर लौटे। पिछले दो वर्ष से वे भगूर में गणपति-स्थापना करते रहे थे। साथियों को जमा करते, नए-पुराने गीत उन्हें सिखलाते, स्वाँग करवाते! मराठी में इसे 'मेला करना' कहते हैं। इस वर्ष स्वयं सात-आठ गीत रचे। आयोजन भी बड़ा किया। ससुरजी न रहते तो घर के मूल्यवान कपड़े आदि देकर उन्हें मालदार, चोबदार आदि बनाकर राजदरबार सजाते।

'इनके रचे गीतों में आर्यभूमि के उद्धार की बात अवश्य पिरोई रहती। मराठी

में एक प्रकार का गीत 'फटका' कहलाता है। फटका माने फटकार। जो चेतते नहीं, उनके लिए। देवरजी ने एक ऐसा स्वदेशी का फटका रचा था जो बहुत लोकप्रिय था। गणपति उत्सव की तो जान ही था वह फटका।

'यहाँ मुझे कुछ और भी दिलचस्प बातें स्मरण हो रही हैं। क्रम में तो वे नहीं हैं, आगे-पीछे हो गई हैं, पर अब मैं उन्हें यहीं लिखे दे रही हूँ। कोई जो आगे जाँचेगा, वह ठीक कर लेगा। घर में कभी कोई कारज होता तो बहुत लोग जमा होते। महिलाओं की पंगत बैठती तो तात्या (देवरजी को हम सब तात्या कहने लग गए थे) बाहर जाकर आवाज देते—ॐ भवति भिक्षां देहि। (महाराष्ट्र में भिक्षावृत्ति कर अपनी शिक्षा पूरी करनेवाले छात्र इस तरह की आवाज घर के दरवाजे से देकर भिक्षा प्राप्त करते थे और ऐसे छात्र को 'माधुकरी' कहा जाता था।) इस आवाज से गृहिणी असमंजस में पड़ जाती। सोचती, क्या कोई माधुकरी सच में ही आया है। बाद में मालूम हो गया था, पर एक बार फिर ऐसा ही खिलवाड़ उन्होंने किया तो मेरी ममिया सास ने कहा, 'उसे सच में ही रोटी परोस दो' किसीने उनको रोटी परोस दी तो उन्होंने बड़े-बूढ़ों से शिकायत की—देखो, मुझे माधुकरी कहकर रोटी परोसती हैं। परंतु सारा नाटक सबको ज्ञात था, इसलिए बात हँसी में चली गई।

'वैसे ही गजगौरी गीत का एक किस्सा है। मेरे द्वारा गाया गया यह गीत उन्हें बड़ा प्रिय था। उन्होंने एक दिन आग्रह किया और मैंने उसे गाया। गीत सुनते-सुनते उन्होंने अपनी धोती का पल्लू निकालकर सिर पर लिया और मेरे साथ सुर मिलाया। सभी लोग मजे ले रहे थे। इतने में वे बोले, मेरी गोद भी भरी जाएगी या नहीं। महिलाओं ने कहा, हाँ, भर दो उसकी गोद। फिर क्या था, मेरी ननद ने उनको कुंकुम का टीका किया और चावल-नारियल से उनकी गोद भरी।

'उन्होंने बात बनाकर अपने पिता से कहा, इन सब महिलाओं ने जबरन मेरा टीका किया और गोद भरी। ससुरजी को तात्या की ये चुहलबाजी ज्ञात न थी, इसलिए उन्होंने हमें डाँटा, 'ऐसा ऊधम क्यों करती हो तुम सब उससे।' ससुरजी इतना कहकर गए और तात्या ताली पीट-पीटकर कहने लगे, 'देखो, कैसे बाजी उलट दी, अब आया न मजा!' किसीको इसका बुरा-भला न लगता। उनकी मधुर वाणी और चुहल को सभी चाहते थे।

'कभी-कभी दोनों भाइयों में बात बढ़ जाती। मेरे पति अपने छोटे भाई को मारने दौड़ते तो देवरजी मेरी आड़ में छिप जाते और कहते, ये मेरा सुदृढ़ दुर्ग है। यहाँ आकर मुझे पकड़ने का साहस किसीमें नहीं है। एक बार मेरे पति छोटे भाई के ऐसे व्यवहार पर चिढ़ गए और उन्हें प्याज फेंककर मारने लगे। प्याज के वार से बचने के लिए तात्या चिल्लाए, 'देखो-देखो, बड़े भैया प्याज फेंक-फेंककर भाभी

को मार रहे हैं।' अब तो मेरे पति को चुपचाप बाहर जाना ही था (क्योंकि सौ वर्ष पुराने उस जमाने में पति अपनी पत्नी से खुले में बोल भी नहीं सकता था, छूना आदि तो बहुत दूर था।)

'बकरियाँ घर-आँगन में घुस आतीं, तो देवरजी उनको पकड़ते। मुझे दरवाजा बंद करने को कहते। मैं चूक जाती या डर जाती तो तितलियाँ मुट्ठी में पकड़कर ले आते, मुझे फेंककर मारते। तितलियों से मुझे तब बहुत डर लगता था।

'इसी समय उन्होंने देसी कपड़े पर एक फटका लिखा। नासिक में होनेवाली किसी सभा का समाचार मिलते ही वहाँ जाते। पुस्तकालय उनका प्रिय स्थान था। पढ़ाई में तेज थे ही। पुस्तकों से उनका लगाव बचपन से ही था और ये बात बड़े-बड़ों को आश्चर्य में डालती थी। नासिक के उस समय के बड़े नेता बलवंत खंडोजी पारख थे। वे प्रख्यात कवि भी थे। उन्हें तात्या की फुरती और कविता देख-सुन बड़ा आनंद आता था। वे उन्हें सभा-सम्मेलनों में बुलाकर ले जाते। परिचय करा देते, यहाँ-वहाँ कहते—देखो, क्या प्रतिभाशाली लड़का है! पारख ने तो इनके पिता को यह कहा था, 'देखो, इस बच्चे को बचाओ, इसको नजर लग सकती है।' और सच में ही उन्हें जैसे नजर लग गई। नासिक से पत्र आया, तात्या को ज्वर है, उसे ले जाइए। मेरे ससुरजी गए और उन्हें ले आए। नजर आदि पर उनका बड़ा विश्वास था। उन्होंने नजर उतारने के विविध उपाय किए। पर जल्द कोई लाभ नहीं हुआ। ज्वर में खूब बातें करते—विद्यालय की, राजनीतिक सभा-सम्मेलनों की। तीन हफ्ते बाद ज्वर कम हुआ। फिर घर में ही अध्ययन करते रहे। बाद में नासिक गए। ये सारी बातें उनके चौदहवें वर्ष की है। पढ़ने के साथ लिखना भी उनका चलता रहता। उन्होंने 'सार संग्रह' नाम की एक पुस्तक बना रखी थी। उसमें वे पुस्तकों में पढ़ी उपयोगी जानकारी अपने शब्दों में उतारते थे। नासिक में दोनों भाई अपने हाथ से रसोई बनाते थे। भोजनालय अच्छे नहीं थे, फिर भी बाद में भोजनालयों में जाने लगे। छुट्टी में भगूर आए थे। फिर उन्हें चेचक निकली। पिता ने पुत्र की सेवा-टहल की। फलतः वह संकट जल्दी ही निपट गया। शरीर पर कहीं कोई व्रण भी नहीं रहा।'

भाभी द्वारा लिखे मेरे चरित्र को यहीं छोड़ अपनी बात अब आगे बढ़ाएँ।

मेरे बालसखा

मेरी माँ का देहावसान, उसके बाद नए घर में हमारा प्रवेश अर्थात् दस वर्ष की आयु तक मेरे संगी-साथी कौन थे, इसकी कुछ स्पष्ट सुध मुझे नहीं है। पर इसके बाद मेरे साथ एक संगठित मित्रमंडल रहने लगा, इसका मुझे स्मरण है। वे

राजू दरजीके पुत्र परशुराम दरजी और राजाराम दरजी थे। इन दोनों का मुझसे घर जैसा संबंध था। वे सामान्य-कंगाल स्थिति में थे, परंतु उन्हें मेरे घर की सुस्थिति का कोई लोभ नहीं था। उन दोनों ने आवश्यकतानुसार हमारे घर की सेवा अपने घर से अधिक की। निराकांक्षी स्नेह के प्रतीक उन दोनों को मेरी मित्रता का अभिमान था। ये दोनों भाई हमारे घर खेलने आते। पिताजी जब-जब नासिक जाते, तब-तब रात में हमारे साथ सोने आते। कोई भी रुका काम निपटा देते। उनके भरोसे गहना-लत्ता छोड़ हम कहीं चले जाते। उनके पिता की एक नौटंकी थी। ये दोनों भी लावणी गाने में प्रवीण थे। परशुराम स्त्री-वेश में नचैया बनता था। इस क्षेत्र में वह प्रख्यात था। मेरी संगति में समाचारपत्र आदि पढ़ने का चाव उन्हें लगा और उनके मन-बुद्धि का विकास हुआ। मेरे लड़कपन के राष्ट्रीय आंदोलन और राजनीति में वे प्रमुखता से भाग लेते थे। उनकी नौटंकी के लिए मैंने उन्हें कुछ उपदेशपरक, राजनीतिक लावणियाँ और झगड़े रचकर दिए। मेरी ये रचनाएँ उन्होंने मंच पर उतारीं और मुझ बच्चे को शायर, कविराज आदि कह चलती नौटंकी में सम्मानित किया। तब उस छोटे से गाँव की उस छोटी सी राजसभा का वह बाल कवि (बच्चा शायर) फूलकर कुप्पा हो गया था।

जब मैं बीमार था, तब मेरे वे मित्र मेरी पूरी सेवा रात-दिन करते। हमारे घर पर संकट आए तो वे रो पड़ते थे। हमारा कुछ अच्छा हो तो वे खुश होते, बहुत खुश। मेरे घर में 'राजा और परशा' की इस जोड़ी का लाड़-प्यार बच्चों जैसा ही होता था। पिताजी गाँव से बाहर जाते तो खाने के लिए हम तीनों की पंगत ही बैठती। बचपन से ही मुझे जातिभेद के प्रति आक्रोश था। ये दरजी, मैं ब्राह्मण, यह कल्पना ही मुझे अपमानजनक लगती थी। मुझपर उनके परिवार का भी स्नेह बरसता था। उनकी माँ, भाभियाँ मेरे लिए ताजा भाकर (ज्वार-बाजरे की रोटी), उसपर लहसुन, लाल मिर्च की चटनी रखकर देती थीं और मैं उसे खाता था। उसमें उनका इतना स्नेह भरा होता कि मैं आज भी उसे स्मरण कर भाव-विह्वल हो उठता हूँ। आज सोचता हूँ कि ब्राह्मण जागीरदार का पुत्र उनके घर जीम लेता है, इसका उन्हें कितना अभिमान होता होगा। भगूर में मंगलवार बाजार का दिन होता। उस बाजार में इन दो भाइयों की बीड़ी, माचिस, मिट्टी के तेल की दुकान लगती थी। शाम को उन्हें माँ-बाप जेब-खर्च देते। वे उससे रेवड़ियाँ खरीदते और हमेशा पहली रेवड़ी मुझे ही मिलती। मुझे रेवड़ियाँ बहुत पसंद भी थीं और उन्हें खाते एक छंद हमेशा मेरे मुँह से निकल पड़ता था। भोजन प्रारंभ करने के पहले 'त्रिसुपर्ण' का गायन पिताजी की सीख के कारण मैं करता ही था, रेवड़ियाँ मुँह में रखने के पहले यह छंद उसी स्वभाव से निकलता था—

प्रभु पाते तुम नित्य प्रेम से बरफी-खोये का प्रसाद।
पाऊँ रेवड़ी मैं भी ऐसा दिन क्यों ना होवे एकाध॥

मेरी मित्रमंडली में बचपन से ही जो राजनीतिक तेज खेल रहा था, उसका अंश उनकी अपनी शक्ति के अनुसार उन दोनों लड़कों में भी प्रकाशित हुए बिना न रहा। बाद में नासिक में हम लोगों ने 'अभिनव भारत' संस्था स्थापित कर जो बवंडर खड़ा किया, इन दोनों ने भी अपने गाँव में स्वदेश की स्वतंत्रता का वैसा ही आंदोलन चलाने का प्रयास किया और यथाशक्ति कार्य करते रहे। मेरे कारावास की अवधि में परशुराम की मृत्यु हो गई। राजाराम अवश्य मुझे कारावास से लौटने पर मिला। बचपन में उनका मेरे और मेरे घर के प्रति निष्कपट प्रेम था। आगे वह मेरी कीर्ति और पराक्रम की अद्‌भुतता के कारण आदर-भाव में बदल गया। मैं जब कारावास से छूटकर आया, तब की भेंट में राजाराम ने एक पुराना चित्र मुझे दिखाया। वह वास्तव में दुर्लभ चित्र था। वह चित्र हाथ में लेकर मैंने कहा, 'राजाराम, तुम्हारी दी हुई यह भेंट अनुपम है, मैं इसे ले जाऊँगा।' तब वह बड़े करुणा भाव से बोला, 'यह आपका चित्र मैं आपको भी नहीं दूँगा। यह मेरे देवता का चित्र है। इसपर मैं नित्य सुगंधित फूल चढ़ाता हूँ। यह मैंने तब भी बड़े यत्न से छिपाए रखा था, जब 'अभिनव भारत' और सावरकर से जुड़े हर घर की तलाशियाँ ली जाती थीं, उनको मारा-पीटा और कोठरी में डाला जाता था। यह मैं आपको नहीं दे सकता।' बड़े प्रयास से उसे विश्वास दिलाया, उस चित्र की और प्रतियाँ निकलवाईं और वह उसके देवता का चित्र उसे लौटा दिया। इस प्रसंग के बाद यह मेरा भक्त मित्र अधिक जीवित नहीं रहा। उसका एक छोटा भाई जानकीदास राणूशेर दरजी अभी भी जीवित है और अपनी नाटक-नौटंकी कला में राजे-रजवाड़ों में ख्यात है।

मेरे बचपन का दूसरा दोस्त 'गोपाल' था। मेरी मित्रमंडली में यह मेरा सहकारी भी था। गाँव के पटवारी का यह पुत्र वय में मुझसे बड़ा था। मैं जब चौथी कक्षा में था, तब यह छठी कक्षा में था। उसका घराना योग्यता से संपन्न और परिस्थिति से विपन्न था। उसकी लिखावट बहुत सुंदर थी, इसलिए मैं अपनी कविताएँ बाहर प्रकाशनार्थ भेजने के लिए उसीसे लिखवाता था। परंतु उसे उसका पारिश्रमिक सौंपने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता था। उसे पढ़ने और ज्ञान प्राप्त करने की सहज लालसा थी। इसीलिए हम समाचारपत्रादि साथ-साथ पढ़ते थे। मेरे बचपन के राजनीतिक प्रयासों में मुझे उसका साथ मिलता था। जब मेरे राजनीतिक प्रयास 'अभिनव भारत' के रूप में विशद् हुए, तब भी मेरा यह बालसखा अभिनव बुद्धि, समर्पित देशभक्ति एवं एकनिष्ठ स्नेह का प्रतीक बना रहा। जब मैं

चाहता, मुझे वह साथ देता। अर्थात् राजकोप उसपर भी हुआ। उसके पिता का पटवारी पद छीना गया। घर में दरिद्रता वास करने लगी, पर वह हारा नहीं। कर्तव्यच्युत नहीं हुआ। सन् १९०६ के प्रथम प्रचंड आंदोलन में यदि किसी गाँव का नाम सर्वतोमुखी था, तो वह भगूर था और वह गोपाल के कारण। जब मैं काले पानी भेज दिया गया, तब भी गोपाल ने अपना कार्य चालू रखा और हरिभक्ति परायण गोपालराव आनंदराव देसाई के नाम से महाराष्ट्र में अपने क्षेत्र के एक जीवट कार्यकर्ता के रूप में ख्यात हुआ।

मेरा एक मौसेरा भाई वामन धोपावकर, बालू कुलकर्णी, रावजी और त्र्यंबक दरजी, भिकू बंजारी, बापू, नथू आदि लड़के भी मेरे बचपन के एकनिष्ठ अनुयायी थे। मेरे छोटे भाई का एक मित्र तो उस गाँव का 'हीरा' ही हो गया। वह अब सतारा का प्रसिद्ध डॉक्टर आठवले है। सतारा में 'अभिनव भारत' संस्था का कार्य चलाने के आरोप में डॉक्टर को कारावास का दंड भी मिला।

मेरी पढ़ाई, लिखाई, राजनीतिक आकांक्षा और उस हेतु किए गए सारे प्रयासों का बड़ा चिरस्थायी प्रभाव मेरे बालसखाओं पर पड़ा, अन्यथा वे उसी ग्राम-वातावरण में पड़े रहते। उनकी बुद्धि और शक्ति विकसित हो जाने के कारण उन्होंने पूर्ण सिद्धता अर्जित कर राष्ट्र-कार्य में सहयोग दिया और स्वयं भी यशस्वी हुए। माँ की मृत्यु के बाद राजनीतिक और धार्मिक संस्कारों की ओर मेरी सक्रियता तेजी से बढ़ती गई। छुआछूत से या ऐसे ही कौटुंबिक प्रपंचों से मुझे घृणा थी। बचपन का मेरा प्रिय खेल मंदिर-निर्माण था—लकड़ी के छोटे-बड़े गुट्टे इकट्ठे करना, अपनी मित्रमंडली के साथ मिट्टी की छोटी-छोटी ईंटें बनाना, रावजी दरजी से मूर्ति बनवाना। तब हम बालकों के लिए मंदिर विशाल होते थे। दूसरा प्रिय खेल मूर्तियों को पालकी में रखकर उनकी शोभायात्रा निकालने का था। इसके लिए एक पालकी पिताजी ने बनवा दी थी। श्रावण सोमवार को खूब सजा-धजाकर गाँव में उसे घुमाते। महाराष्ट्र में घर-घर में प्रचलित ग्रंथ हरि विजय, पांडव प्रताप के वाचन का सप्ताह रखते। समाप्ति पर उत्सव करते। इसी वय में पिताजी मुझसे लोकमान्य तिलक का 'केसरी' पढ़वाने लगे थे। वैसे, मेरे प्रिय पत्र बंबई का 'गुराखी', पुणे का 'जगत् हितेच्छु' और 'पुणे वैभवी' थे। ये पत्र जिन-जिनके यहाँ आते थे, उन-उनके घर नियमित जाकर मिन्नतें कर ये समाचारपत्र मैं ले आता था। मित्रों के समक्ष उनका वाचन करके सार्वजनिक करता था। फिर अपने बालसखाओं से चर्चा करता था। हमारे घर में पुरानी पोथियाँ और पुस्तकें थीं। ऊपर टाँड पर वे सब सजाकर रखी रहती थीं। रविवार को छुट्टी के दिन मेरा प्रिय कार्य उन पोथियों, पुस्तकों को टाँड पर से उतारकर उनके कपड़े आदि

खोलकर, फिर से बाँधकर उन्हें पूर्वस्थान पर जमाना था। यह बात अलग है कि इस काम को करते समय पुस्तकों सहित मैं ऊँचाई से गिर पड़ता था। फिर भी मेरी वह अभिरुचि यथावत् थी।

आरण्यक

ऐसे ही एक बार एक संस्कृत पोथी मेरे हाथ लगी। उसमें केवल काली स्याही का प्रयोग न कर लाल तथा हरी स्याही से बड़ा सुंदर रेखांकन किया हुआ था। वह सुंदर पोथी खोलकर मैं पढ़ने लगा। उसकी संस्कृत भाषा कुछ समझ में नहीं आ रही थी। पर पढ़ने में कुछ मजा आया, इसलिए पढ़ता रहा। जैसे कोई अपशकुन घटित हो जाए, ऐसा हुआ। मेरे पिताजी उधर से गुजरे और उन्होंने मुझे वह पढ़ते देखा तो झपट पड़े और मुझसे पोथी छीनते हुए बोले, 'पागल हो गए हो क्या? यह आरण्यक है, इसे घर में पढ़ना नहीं चाहिए, नहीं तो घर अरण्य हो जाएगा।'

उस समय तो उस अर्थवाद से मुझपर एक अस्पष्ट भय के सिवाय क्या प्रभाव पड़नेवाला था! पर आज उस फलश्रुति की दंतकथा कितनी विस्मयकारी लग रही है! उस आरण्यक के और उसके अंत से प्रारंभ होनेवाले उपनिषद् के विचार, जिसे इस संस्कृति की माया के घर में रहना हो, वास्तव में उसे नहीं पढ़ना चाहिए। कम-से-कम निष्ठापूर्वक तो बिलकुल ही नहीं पढ़ना चाहिए, नहीं तो उसी माया के घर को 'जनाकीर्णं मन्ये हुतवह परीतं गृहमिव'—सारा गृह तृष्णा की अग्नि से सुलगा हुआ है, यह मानते हुए उसका त्याग करने को वह प्रवृत्त हो जाएगा और 'सर्वास्ते फासुका भग्ना गृहकूटं च नश्यति' कहते हुए हाथ ऊपर उठाकर रोते हुए किसी गौतम बुद्ध की तरह घर त्यागकर बाहर निकल जाएगा। और ऐसा होने पर घर जंगल हुए बिना कैसे रहेगा, क्योंकि उसके घर 'त्यागेनैकेन अमृतत्वमानसः!

और उसके उस गर्भित अर्थ की वह व्याख्या पूरी तरह धुल-पुछकर उसके शब्द को ही अक्षरशः सत्य माननेवाला विश्वास कितना अंधा है! पानी में देखोगे तो दाँत गिर जाएँगे, ऐसी धमकानेवाली फलश्रुति की तरह ही पिताजी द्वारा कथित आरण्यक पढ़ने पर होनेवाली फलश्रुति भी थी। और मेरी विद्रोही तात्त्विक बुद्धि को वह स्पष्ट अर्थवाही बिजूका दिखाने पर मैं उससे बिना भयभीत हुए देखूँ कि कैसे दाँत गिरते हैं? कहता हुआ बार-बार पानी में झाँककर देखने को आतुर बालक की भाँति आरण्यक के उन रँगे पृष्ठों को बार-बार देखता और पढ़ता। उन्हें केवल पढ़ने से घर जंगल कैसे हो जाएगा। यह मन-ही-मन दोहराता हुआ पाखंड का उपहास किया करता।

प्रथम पृष्ठविहीन इतिहास

उसी टाँड पर रखी एक फटी-सी अंग्रेजी पुस्तक ने मेरे मन पर एक चिरस्थायी परिणाम अंकित किया था। वह पुस्तक A Short History of the World (विश्व का संक्षिप्त इतिहास) थी। तीसरी कक्षा तक की अंग्रेजी मैंने घर पर ही पढ़ ली थी। इतिहास के प्रति मेरी जिज्ञासा बचपन से ही जाग्रत थी। उस पुस्तक का नाम पढ़ते ही मानो कल्याण करनेवाला कोई पारस मेरे हाथ लग गया, ऐसा आनंद मुझे हुआ। मुझे लगा कि इतिहास का सारा खजाना ही मेरे हाथ लग गया। पर उस पुस्तक का प्रथम पृष्ठ ही नहीं था और अंदर की भाषा अंग्रेजी थी। पिताजी को मनाया और उन्होंने नित्य थोड़ा-थोड़ा बताने की बात मान ली। फिर समझ में आया कि वह तो एक खंड मात्र है, पूरा इतिहास नहीं। इस खंड में अरब के इतिहास का प्रारंभ हो रहा था। मैंने पिताजी से पूछा, 'इस पुस्तक में लिखित अरब के इतिहास के पहले क्या था?' पिताजी ने कहा, 'इसका पहला पृष्ठ फटा है, उसमें वह होगा।' वे उस पृष्ठ को खोजने लगे, वह मिला नहीं। मैं उदास हो गया और उसी उदासी में मन में ऐसा प्रश्न उपस्थित हुआ कि वह पृष्ठ मिल भी जाए तो क्या? उसमें भी जहाँ से प्रारंभ किया गया होगा, उसके पहले क्या था, यह प्रश्न तो फिर भी उठेगा ही। प्रथम पृष्ठविहीन यह फटी पुस्तक ही क्या, जिसमें पहला पृष्ठ है, वह इतिहास-पुस्तक भी वास्तव में अधिकतर दूसरे पृष्ठ से ही लिखी होगी।

और यह एक सिद्धांत बन गया। तर्कशास्त्र के अनुमान आदि किसी शास्त्रज्ञ की मुझे उस बाल वय में जानकारी होना संभव नहीं था। फिर भी यह सिद्धांत स्वयंस्फूर्त होकर आया और पट भी गया। मानव का पूर्व इतिहास खोजते चलो तो बंदर तक पहुँचो, बंदर का खोजो तो जीवाणु तक, जीवाणु से वनस्पति तक और उसके भूभाग तक, उसके सूर्य तक, ऐसे कितना ही पीछे-पीछे जाओ, पर हाथ जो लगेगा, उसके पूर्व का कुछ-न-कुछ रह ही जाएगा।

अपनी कविता 'सप्तर्षि' में मैंने यही कहा है कि खंड इतिहास संभव है, पर विश्व-इतिहास का पहला भाग मिलना संभव नहीं। और यह सिद्धांत विश्व-इतिहास की पुस्तक का पहला पृष्ठ खोजते हुए मुझे स्वयंस्फुरित हुआ था—

अन्यों का केवल, जो भौमिक उसका
न संभव सबका
विश्व-इतिहास चाहिए
तेरे चारों ओर घेराव विकलों का

कल्पों के विमान से
या तारों की सीढ़ियाँ चढ़ते
जाए तू ऊँचे-ऊँचे खोजता कितना भी
इतिहास का पहला पृष्ठ नहीं मिलना
नहीं दिखना,
प्रारंभ तेरा दूसरे पृष्ठ से होना
अभिशाप है यह, अभिशाप है।

उस टाँड पर रखी पुस्तकों में महाराष्ट्र के अग्रणी विष्णु शास्त्री चिपळूणकर रचित 'निबंधमाला' थी। वह मैंने कई-कई बार पढ़ी। 'केसरी' के प्रथम वर्ष के अंक और चिपळूणकर के मृत्युलेख के अंक तीसरी मंजिल पर एक खोके में रखे थे, उन्हें भी मैं पढ़ता था। पुराने काव्य इतिहास-संग्रह के अंक भी बहुत पढ़े। महाभारत का अनुवाद 'कथासार' या 'सद्धर्मदीप' नामक मासिक पत्र में छपता था, वह भी मैं पढ़ता था। रात में मेरे पिताजी दूध-शक्कर में भिगोकर रखी रोटियाँ मीड़कर खाते, तब मैं कुछ-न-कुछ अंग्रेजी पढ़ता। मुझे जो अधकचरी अंग्रेजी आने लगी थी, उसके बल पर होमर का 'इलियड' मैं पढ़ता था। मेरे पिताजी अर्थ बताते। उन्होंने उसके पूर्व मेरे बड़े भैया से वह सार्थ पढ़वाया था। मुझे तभी से इसकी रुचि हो गई थी। अग्या मेमनान एवं अकेलिज की बहादुरी की कथाएँ भी भीम-अर्जुन की कथाओं की तरह मुझमें आवेश भरती थीं। पिताजी ने नासिक से लाकर पेशवा और शिवाजी की बखर (इतिहास) मुझे दी थी। उन्हें मैंने कई-कई बार पढ़ा। जो-जो मैं पढ़ता, उसकी चर्चा अपने बाल-मित्रों में अवश्य करता। नासिक के वकील आदि लोग हमारे घर आया करते थे। तब वे मुझसे बड़े लाड़ से मेरे पढ़े पर चर्चा करते। मेरी बहुश्रुतता मेरे वय के अनुपात में बहुत बढ़ी-चढ़ी थी, वे उसकी प्रशंसा करते। उसी समय मैं 'निबंधमाला' की भाषा-शैली की नकल करते हुए लंबे-लंबे वाक्यों में निबंध लिखने का प्रयास करने लगा था। मोरो पंत कवि की अनेक रचनाएँ पिताजी गुनगुनाया करते थे। मैंने भी उनकी कुछ-एक कविताएँ कंठस्थ कर ली थीं और उनका अनुकरण करते हुए मैं मोरो पंत जैसी कविता भी लिख लेता था। 'नवनीत' नामक काव्य-संग्रह की अधिकांश कविताएँ मुझे कंठस्थ थीं। मराठी के दूसरे वरिष्ठ कवि वामन भी मेरे प्रिय थे। अर्जुन और भीम की जोड़ी में मुझे भीम अधिक भाता था। पिताजी से, उनके मित्रों से, अपने मित्रों से मैं बहस करता। अर्जुन के पक्ष में यदि कोई बात करे तो मैं भीम का पक्ष लेता। मैं कहता कि भीम के कहे अनुसार यदि धर्मराज आचरण करते तो पैर का काँटा समय पर ही टूट जाता और महाभारत का भीषणतम संहार टल जाता। द्यूत प्रसंग, कीचक प्रसंग और श्रीकृष्ण

द्वारा दी गई संधि प्रसंग में भीम ने जो मार्ग सुझाया, वही अंत में हुआ, परंतु धक्के खाने के बाद और उसे पहले न मानने के कारण प्रायश्चित्त भोगने पर कृष्ण को भी वही स्वीकार करना पड़ा। मोह अर्जुन को हुआ, भीम को कभी नहीं हुआ। पूरी गीता जो पढ़नी पड़ी, वह अर्जुन की तुलना में भीम के लिए नहीं। मैं अपना पक्ष इस तरह रखता। तब मुझे चिढ़ानेवाले बड़े-बड़े आदमियों के हँसते-हँसते पेट में बल पड़ जाते थे।

कविता की बारहखड़ी

मैंने कविता की बारहखड़ी लिखना अपनी माँ की जीवितावस्था में अपनी आयु के आठवें वर्ष में शुरू किया था। घर में श्रीधर कृत 'हरि विजय' आदि पोथियाँ थीं। उन्हें देख-देखकर मुझे लगता कि मैं भी कोई ग्रंथ, महाकाव्य लिखूँ। मेरी बाल बुद्धि के निश्चय का आकार भी मेरे नन्हें नयनों को संतोष दे, वही होना चाहिए था। माचिस के आकार के कागज के टुकड़े काटकर एक-एक अध्याय के पृष्ठ पतले डोरे से बाँधकर मैंने पहली तैयारी पूरी की। तब सरकंडे की कलम बनानी पड़ती थी। मैं जूझता रहा, चार-छह प्रयासों के बाद मेरी मनभावन कलम बनी। फिर पोथियों में जो होती है, वैसी लाल स्याही से सुंदर चौखटें कागजों पर बनाईं। 'श्री गणेशाय नमः' भी लिखा। अब ग्रंथ लिखने के कार्य की शेष रही बिलकुल सामान्य सी बात—अर्थात् ग्रंथ लिखना, वह जो एक तरफ छूटा तो छूट ही गया। इसका मुख्य कारण यह था कि 'श्री गणेशाय नमः' उस छोटे से कागज पर घिचपिच ही लिख पाया और वह पोथी मेरी कल्पना में जितनी सुंदर थी, वैसी कागज पर अवतरित होने की कल्पना ही पूरी तरह अस्त हो गई। हाँ, एक विचार जिसे शुभ ही कहा जाए, वह यह आया कि पहले अपना लेखन सुंदर सुवाच्य, जमा हुआ बना लूँ और फिर ग्रंथ-लेखन करूँ। और मैंने कविता की बारहखड़ी छोड़ सुंदर लेखन के लिए कलम घिसना चालू कर दिया।

कविता करने की उमंग कितने दिनों तक धूल खाती रही, यह स्मरण नहीं, परंतु दसवें वर्ष के अंत तक मैं कुछ-न-कुछ रचने लगा होऊँगा, क्योंकि ग्यारहवें-बारहवें वर्ष तक मैं ओवी, फटका, आर्या आदि छंदों में काव्य लिखने लग गया था। कितनी ही रचनाएँ मैं करता, छोड़ता और भूल भी जाता। ओवी तो मैं वैसे ही रचता चला जाता, जैस सहज बोलते हैं। उन दिनों महाराष्ट्र में घर-घर में बड़े विशाल झूले हुआ करते थे। वैसे झूलेवाला वह कमरा ही घर का केंद्र हुआ करता था। बच्चों की ही नहीं, सद्य:विवाहिता, अर्धप्रौढ़ा महिलाओं का भी जमघट वहीं रहता। तो ऐसी दस-दस, बारह-बारह कन्याएँ और प्रौढ़ाएँ एक ओर झूले पर और दूसरी ओर मैं

अकेला ओवी रचता और उनपर फेंकता। यह कार्यक्रम मेरी आयु के सत्रह-अठारह वर्ष तक अविराम चलता रहा। जहाँ भी, जब भी कभी कारज हुआ या होता, काव्यप्रेमी महिलाएँ मुझे घेर लेतीं और मेरी काव्य-धारा का अनुपम आनंद लेती हुई मुझे प्रेरित भी करतीं। मराठी में महिलाओं में ओवी को संख्याबद्ध भी किया जाता।

जैसे पहले मेरी ओवी···दूसरी गा माझी ओवी। मैं एक आख्यान प्रसंग लेता और दो सौ तक संख्या कहते मैं ओवी रचता चला जाता या फिर वे सारी एक ओवी कहतीं, मैं उसके प्रत्युत्तर में दूसरी ओवी और वह भी उनकी ओवी का अंतिम शब्द आते-आते रचकर सुना जाता।

मुझे इस क्षेत्र में हराने के षड्यंत्र महिलाएँ और कन्याएँ हर घरेलू कारज के अवसर पर किया करतीं।

परंतु यह बात 'ओवी' की है। आर्या छंद ने किसी अनार्या की तरह अपनी मात्राओं के छल से मेरी बाल-प्रतिभा को परास्त करने में कोई कसर बाकी नहीं छोड़ी। वह सारा लज्जाजनक प्रसंग मैं कथन भी न करता, यदि सत्य कथन की लौकिक स्तुति का लोभ मुझे इतना न लुभाता।

आर्या की माला

आर्या छंद में काव्य रचनेवाला महाराष्ट्र का शीर्ष प्राचीन कवि मोरो पंत होने से 'आर्या पंत की' उक्ति ही महाराष्ट्र में प्रचलित है। मैं ओवी छंद में जैसी सहज रचना कर लेता था, वैसे ही आर्या छंद में भी कर सकता हूँ—यह मेरी धारणा थी। मोरो पंत की आर्या कंठस्थ करके श्रुति के आधार पर अनुमान से मैं रचना भी कर लेता था और उसकी स्तुति भी मेरे बाल वय को देखते हुए होती। परंतु···बात कुछ दूसरी ही थी।

हमारी मराठी पाठशाला के मुख्याध्यापक एक प्रेमी, सहनशील, वृद्ध व्यक्ति थे। उनके राज में घर सब्जी-भाजी देने, संदेश देने-लाने, दोपहर को उनको जरा सी झपकी लग जाए, आँख बंद हो जाए तो अपनी आँखें खुली रखना, ताकि पाठशाला में कोई बाहरी आदमी आए तो भद्द न पिटे—ऐसे विश्वास के काम करने का सम्मान कभी-कभी मुझे मिलता। इतना ही नहीं, जिस सम्मान को प्राप्त करने की होड़ पाँचवीं-छठवीं कक्षा के छात्रों में लगती थी, वह डाक पर मुहर ठोंकने का सम्मान भी मानो किसी राजा ने अपनी राजमुद्रा अपनी अनुपस्थिति में ऐश्वर्ययुक्त गंभीरता से अपने विश्वसनीय मंत्री को सौंपी हो, वैसे मेरे मुख्याध्यापक मुझे सौंपते थे। और वह मुहर या ठप्पा लेकर उन पत्रों पर मारते हुए एक सम्मान-भावना की छाप मेरी मुखमुद्रा पर भी अंकित हो जाती। मेरी इस तरह की उपयुक्तता के कारण

हो या गुरुजी की स्वभावजन्य सहनशीलता के कारण, पर मेरे द्वारा रचित आर्या वे बिना विचलित हुए सुनते और मेरी प्रशंसा करते। कहते, 'शाबाश, ऐसे ही प्रयास करते रहो, यशस्वी कवि हो जाओगे।'

परंतु कुछ दुर्भाग्य से ये पुराने गुरुजी वहाँ से चले गए और उनकी जगह एक नौसिखिए मुख्याध्यापक वहाँ आ गए। तब तक मेरी गणना पाठशाला की माननीय सूची में हो गई थी। अतः अन्य सहपाठियों के मुँह से मेरी माननीयता उनके कान में बार-बार आने लगी। परंतु जाने क्यों उन्हें मेरा यह चढ़ा भाव खलने लगा। मैं करेला भी नीम चढ़ा था, क्योंकि उनसे पहचान होते ही राजनीतिक बहसें भी करने लगा। अतः हर बार वे एक हथौड़ा मारकर मुझे डाँट पिलाया करते—'छोटा मुँह बड़ी बात न किया करो, बैठ जाओ!' फिर भी मेरी आदत सुधरी नहीं और एक बार तो सचमुच ही छोटा मुँह बड़ी बात सिद्ध करनेवाला काम मैं कर बैठा। अर्थात् अपनी आर्या छंद में रची कविताएँ उन्हें दिखाने ले गया। उन्हें देखते ही बड़े तिरस्कार से उन्होंने कहा, 'चले बड़े कवि होने। तुझे गण-मात्रा का भी सऊर नहीं, यूँ ही काला-पीला करना कविता करना नहीं होता। जा-जा, फिर छोटा मुँह बड़ी बात न करना।' मेरी कविताओं की अब तक प्रशंसा करनेवाले मेरे सहपाठी मास्टरजी का ऐसा वाक्य सुनकर मेरा उपहास करते हुए इस तरह हँसे, मानो उन्हें गणमात्रावृत्त के प्रयोग में प्रवीणता प्राप्त हो। इतना ही नहीं, शायद उन्हें ऐसा भी लगा कि कविता करने का पागलपन न कर उन्होंने अपनी बुद्धिमत्ता ही सिद्ध की है।

तब तक मुझे गण, मात्रा आदि शब्दों का एक-एक अर्थ ही ज्ञात था। घर में जब विवाहादि बातों की चर्चा चलती, तब वर-वधू के जिस देवगण, राक्षसगण आदि की पूछताछ होती, वह 'गण' मुझे ज्ञात था। और 'मात्रा' वह जो श्रीगणेश के सिर पर चढ़ती है। वर-वधू की तरह हर आर्या का भी गण ऐसा ही होता है क्या? यह प्रश्न मुझे सताता। वैसे ही सिर पर मात्रा लिये कितने वर्ण आर्या में होने चाहिए, यह प्रश्न भी था। पर गाँव में पूछूँ किससे? वहाँ सर्वज्ञ तो एक मास्टर ही था और ऐसे ही फिर पूछना, माने फिर झिड़की खाना और उसके मुँह से सुनना—'जाओ, छोटा मुँह बड़ी बात न किया करो।'

सच देखा जाए तो वे चाहते तो दस मिनट में मुझे आर्या छंद की मात्रा आदि का रहस्य समझाकर मेरी काव्य-प्रेरणा को प्रोत्साहन दे सकते थे। परंतु वे भी कविकर्मी थे और यदि छात्र भी कविता करने लगे तो मास्टरजी का बड़प्पन क्या और कैसे रहे, इसलिए वे एक तरह से मेरे प्रतिस्पर्धी थे। मेरे बचपन में ही नहीं, प्रौढ़पन में भी मुझे मेरे साहस या स्वातंत्र्य घोषणा और राज्यक्रांति या समाजक्रांति आदि के अभिनव भारतीय साहस में मुझे प्रोत्साहन देनेवाले गुरुजनों का अभाव ही

रहा। इसके विपरीत तेजोभंग और मनोभंग की बेड़ियों से गुरुजनों द्वारा मेरे पैर बाँधकर ही रखे जाते। आगे बढ़ने में सहायक हो सकनेवाली शक्ति अधिकतर गुरुजनों द्वारा पैर में डाली गई बेड़ियाँ तोड़ने में ही व्यय हुई।

फिर बड़े प्रयासों से मैंने गण-मात्रा के नियमों को स्पष्ट करता एक आर्या छंद प्राप्त किया। पर फिर वही ढाक के तीन पात। मैं अपनी रची आर्या को वह नियम लगाकर देखने लगा। मात्रा का अपना अर्थ स्थायी रखते हुए अर्थात् ईकार, ऐकार, ओकारवाले वर्णों को मैं मात्रावाले वर्ण मानकर उन्हें गिनता। मोरो पंत की आर्या की मात्रा भी गिनी, पर नियम कहीं भी ठीक बैठे ही नहीं। ऐसी भी शंका मन में आई कि कहीं ऐसा तो नहीं कि हर आर्या के लिए अलग नियम होता हो। यथासंभव सारी मात्राएँ खोजता रहा। औषध प्रयोग में जो 'मात्रा' काम में आती हैं, केवल वे ही रह गईं। हताशा से भरता गया। काव्य की एक पुस्तक 'वृत्त दर्पण' भी मेरे हाथ लगी, पर दर्पण में तो वह दिखेगा जो अपने पास हो। दस-ग्यारह की आयु का था। अतः दर्पण भी कुछ दिखला न सका।

जाने कैसे सिर धुनते-धुनते मुझे ज्ञात हुआ कि कविता की मात्रा वर्ण के सिर पर नहीं होती। कविता के लघु-दीर्घ भेद को 'मात्रा' कहते हैं। यह ज्ञात होते ही मैंने देखा कि आर्या छंद में रची मेरी अधिकतर रचनाएँ नियमानुकूल ही हैं। मुझे इससे बड़ी सांत्वना मिली, पर आर्या छंद के गण-मात्रा प्रपंच में भी मेरा काव्य-सृजन चलता रहा। आर्या छोड़ अन्य काव्य-प्रकारों में मैं रचना करता। इतना ही नहीं, उन्हें चुपचाप समाचारपत्रों में प्रकाशनार्थ भी भेज देता। संपादक के पास रखी रद्दी की टोकरी भरते-भरते एक दिन मेरी एक रचना 'स्वदेशी की फटकार' सच में ही समाचारपत्र में छपकर आ गई। कितने महत्त्व का दिन था वह! गाँव के मेरे बालसखाओं के बाजार में मेरी कविता की साख जिस तरह एक सामान्य कारण से गिर गई थी, वही इस सामान्य कारण से एकाएक चढ़ भी गई। अब वह रचना निश्चित रूप से कविता ही थी और उसका रचनाकार कवि ही था। अब इसके बाद मैं कवि नहीं हूँ, ऐसा कौन कह सकता है? ऐसा मुझे स्वयं भी लगा, क्योंकि उस गाँव के पूरे जीवन में जिसकी कविता समाचारपत्रों में छपी हो, ऐसा कवि मैं ही था। इसलिए पूरे गाँव में मेरे कवि होने का ढिंढोरा पिट ही गया। अच्छा यह हुआ कि जो कविता 'जगत् हितेच्छु' नामक समाचारपत्र में छपी, वह कविता गाँव के बारह वर्ष के एक बालक की है, यह उन्हें ज्ञात नहीं हुआ था, नहीं तो वह छापी ही न जाती। कविता कैसी है, इससे अधिक इसपर बल देनेवाली पत्रिकाएँ ही अधिक होती हैं कि कवि कौन है।

इसी समय मेरी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा सशस्त्र क्रांति की ओर तेजी से

झुकने लगी थी। उसके पैर मेरी बाल-क्रीड़ाओं के पालने में स्पष्ट दिखने लगे थे। मुसलमानों के धार्मिक अत्याचार और अंग्रेजों के राजनीतिक अत्याचारों की स्पष्ट कल्पना किए बिना ही जो कुछ सूचनाएँ मिलतीं, उन्हींसे उनके प्रति तिरस्कार की भावना मन में उठती, और मेरी यह बाल-भावना अपने बालसखाओं के साथ झूठमूठ की लड़ाइयाँ लड़कर बदला ले लेती। मराठी पाठशाला छूटते ही हमारा दल हाथ में छड़ियाँ लेता और उसे तलवार की तरह घुमाता हुआ चलता; जो भी झाड़ी मिलती, उसकी शामत आ जाती, विशेषकर पीले फूलोंवाली काँटों-भरी एक मुलायम झाड़ी के तो सौ वर्ष पूरे हो जाते। छड़ी की तलवार से उस झाड़ी को काटने के लिए हम इसलिए भी जुड़ते, क्योंकि उस झाड़ी को गाँव में 'विलायती' कहा जाता था। उस विलायती झाड़ी की मुंडी छाँटते समय हमें लगता कि हम प्रत्यक्ष विलायती अंग्रेजों की ही सफाई कर रहे हैं। सन् १८५७ के क्रांतियुद्ध में अंग्रेजों को काटनेवाले विद्रोहियों जैसी उत्कटता से; वह भी उससे बहुत सस्ते में वे लड़ाइयाँ हम लड़ते। राष्ट्रीय बदला लेने की इस काल्पनिक कृति के चलते वास्तविक राष्ट्रीय बदला लेने के लिए अपनी तलवारों का पानी परखने का प्रसंग भी शीघ्र ही आ पहुँचा।

सन् १८९४-९५ में बंबई, पुणे आदि स्थानों पर हिंदू-मुसलिम दंगों की एक बड़ी लहर चली। 'केसरी', 'पुणे वैभव' आदि समाचारपत्रों में उसके समाचार पढ़ने-सुनने की बड़ी उत्सुकता रहती थी उन समाचारपत्रों, जो हमारे गाँव में डाक से आते थे, को लेने डाकघर के पास घंटों खड़ा रहना पड़ता था। मुसलिमों की ओर से दंगे की शुरुआत होकर हिंदुओं की पिटाई होने पर हमें बहुत क्रोध आता। लगता कि ये हिंदू चुप क्यों बैठते हैं? इतने में यदि हिंदुओं की ओर से प्रतिकारस्वरूप मुसलिम मारे जाते तो हमारी टोली का हर्ष आकाश को छूने लगता। देश भर में चल रहे इस घमासान में हमारी छोटी टोली ने यदि भगूर में अपना पराक्रम नहीं दिखाया होता तो हिंदू धर्म का अस्तित्व कहाँ बचता? अत: अपने बालसखाओं को इकट्ठा करके मैंने उन्हें बताया कि इस राष्ट्रीय अपमान का बदला हमें भगूर में भी लेना है और वह इस प्रकार कि गाँव की सीमा के बाहर स्थित एक वीरान मसजिद पर आक्रमण किया जाए। बदला लेने का यही उत्तम मार्ग है। हम बारह-तेरह वर्ष की आयु के लड़कों की टोली नहीं, वीरों का दल एक दिन सायंकाल को उस मसजिद पर आक्रमण करने के लिए छिपते-छिपाते चल दिया। मसजिद तो वीरान थी, उसमें कोई भी नहीं था। संभवत: हमारी विशाल सेना को आता देख शत्रु डरकर पहले ही भाग गया होगा! हमने जी भरकर मसजिद की तोड़-फोड़ करके अपनी बहादुरी के झंडे वहाँ पर गाड़े और शिवाजी की युद्ध-नीति का पूरा-पूरा पालन करते हुए जितनी जल्दी हो सका, उतनी जल्दी वहाँ से पलायन किया। दूसरे दिन यह समाचार

मुसलमान लड़कों को भी मिला। उस गाँव की मराठी पाठशाला के बरामदे में ही लगनेवाली उर्दू पाठशाला के सामने के विस्तृत आँगन में पाठशाला-शिक्षक के आने के पूर्व ही जोरदार लड़ाई हुई। परंतु मुसलमान लड़कों के दुर्भाग्य से उन्हें चाकू, रूल, आलपिनें आदि रण-सामग्री का भंडार पहले ही योजनाबद्ध ढंग से बनाकर रखनेवाला सेनापति न मिलने और हमारी सेना के पास वह सारी युद्ध-सामग्री मेरी सूझबूझ के कारण होने से हिंदुओं की जीत हुई। अंत में संधि हुई, जिसकी पहली शर्त यही थी कि दोनों पक्षों में से कोई भी इसकी सूचना शिक्षक को नहीं देगा।

परंतु दो-तीन मुसलमान लड़कों ने इस पराभव का बदला लेने के लिए मिलकर यह षड्यंत्र रचा कि उस बम्मन के बच्चे को अर्थात् मुझ विनायक को पकड़कर मुँह में गणपति के प्रसाद (मोदक) की जगह एक मछली ठूँसना है। उनका यह दाँव लग नहीं पाया। पर यह समाचार मिलते ही हमारे पक्ष की तैयारी भी बड़े जोर-शोर से होने लगी। मसजिद पर किए गए हमले के समय हमारे धर्मवीरों में जो अशोभनीय ढीलापन देखने में आया था, उसे दूरकर इस सेना को अधिक कार्यक्षम और अनुशासित करने के लिए हमने ढंग से सैन्य प्रशिक्षण लेना प्रारंभ कर दिया।

चूँकि यह आपस की बात है, किसी मुसलमान वाचक को सुनाई न दे, इसलिए इतने धीरे से कह रहा हूँ कि उस मसजिद पर किए गए हमले में कुछ को अपनी नानी-दादी के पुकारने के कारण तुरंत घर जाना जरूरी हो गया। कुछ को उसी समय लघुशंका के लिए बहुत दूर जाना पड़ा और कुछ को जब उनके नेता ने अंदर घुसने का आदेश दिया, तब उन्होंने उनसे प्रतिप्रश्न किया—नेता क्यों न पहले जाए? और जब नेता अंदर गया, तब प्रश्न उछाला गया कि और किसीको अंदर जाने की क्या आवश्यकता है? बाहर भी तो कोई पहरे पर चाहिए। नए पहरेवालों में से कुछ, जिन्होंने पहरा देना कर्तव्य माना था, भाग भी गए।

इन सबके लिए जब मैंने अपने बालसखाओं से कहा तो बड़ी बहस के उपरांत एक सैनिक विद्यालय चलाने की बात कही गई, जिससे अनुशासन और पराक्रम बढ़े। जल्दी ही हम झूठमूठ की लड़ाइयाँ करने लगे। एक पार्टी मुसलमान या अंग्रेज हो जाती और दूसरी हिंदू। नीम की निंबोरी हमारे गोला-बारूद बनते। एक सीमा निश्चित होती, निंबोरी बाँट ली जाती। युद्ध प्रारंभ हो जाता। निंबोरी की मार से बिना डरे बीच की सीमा पर लगा ध्वज जो छीन लाए या दूसरे पक्ष के बाजू में घुसकर उनका गोला-बारूद छीन लाए, वह पार्टी विजयी मानी जाती। अधिकतर मेरी हिंदू पार्टी की ही जीत होती। यदि कभी ऐसा लगता कि जीत अहिंदू पार्टी की होगी, तो मैं देशाभिमान का आह्वान करता और कहता कि वे स्वयं पीछे हटकर हमें

जीत दिलवाएँ, वरना हिंदुओं की पराजय और मुसलमानों या अंग्रेजों की विजय जैसा परिणाम सामने आएगा। वे समझ जाते और पीछे हटकर राष्ट्रहित को ऊँचा रखते। ऐसी किसी भी युक्ति से हिंदुओं की जीत होते ही हमारी पूरी टोली हिंदू-विजय के गीत गाते हुए भगूर के गली-मोहल्ले में शोर मचाते हुए निकल पड़ती।

हमारे सैनिक विद्यालय में जल्दी ही एक घोड़े की आवश्यकता पड़ सकती थी, क्योंकि सैनिक विद्यालय में तैयार हो रहे शिवाजी, तानाजी को घोड़े पर बैठना आना जरूरी था। ऊपर वर्णित मेरे मित्रों में से राजा परशा के यहाँ एक टट्टू था। वह मेलों-ठेलों में किराने की दुकानों का माल ढोने के काम आता था। हमारे बहादुर स्वतंत्रता-सैनिकों का श्यामकर्ण घोड़ा होने का महत् भाग्य उसे मिलना था। अपने माँ-बाप को बिना बताए वे अपने टट्टू को विद्यालय में लाते थे और बारी-बारी हम उसपर चढ़कर अश्वारोहण का अभ्यास करते थे। मैं पहले इसी घोड़े पर बैठा। यद्यपि वह आकार से घोड़ा था, फिर भी उसकी मंद गति के कारण हमारे भावी स्वतंत्रता-संग्राम में वह हाथी-समान भी उपयोग में लाया जा सकता था। उसको दौड़ाने के लिए बार-बार छड़ी मारनी पड़ती थी। इस अनुभव से मैंने छड़ी की संख्या के सूत्र ही बना डाले थे। इतना दौड़ाना है तो इतनी छड़ियाँ। दुर्भाग्य से ऐसे सूत्रों के अनुशासन में चले सभी घोड़े विनयशील नहीं होते, यह मुझे भविष्य के एक खड़तल अनुभव से ज्ञात हुआ, क्योंकि आठ-नौ वर्ष बाद जव्हार राज्य की राजधानी में एक तेज-तर्रार घोड़े पर बैठने का अवसर मुझे अपनी ससुराल में मिला। उस घोड़े को उक्त शास्त्रीय सूत्र के अनुसार जब छड़ियाँ लगाईं तो वह बदमाश घोड़ा जो उड़ा तो अंत में गेंद की तरह हमें दूर फेंकने के बाद ही रुका।

मेरे बड़े भाई साहब को धनुष-बाण चलाने का बड़ा शौक था। एक-दो बार बाण चलाकर कनेर का फूल तोड़ते हुए उन्हें मैंने देखा था। अचूक निशाना लगाने से फूल टूटा या चूक से सही निशाना लग जाने के कारण टूटा, यह कहना कठिन है। परंतु इससे धनुष-बाण चलाने की ईर्ष्या मुझमें अवश्य उत्पन्न हुई। हमारे सैनिक स्कूल के लिए तो यह आवश्यक था ही। अत: उसका भी अभ्यास शुरू हुआ।

पिताजी से कह-कहकर भिल्ल आदि लोगों से तरह-तरह के बाण मैं मँगवाता। फिर धनुष बनाकर ताँत बाँधकर उसको बनाने-बिगाड़ने में हमारा बड़ा मनोरंजन होता। हमारे पिताजी के पास एक बंदूक और तलवार भी थी। बंदूक का उपयोग वे उसमें पानी भर बिल में घुसे साँप मारने के लिए करते थे। वह बंदूक भी दो-चार बार हमने चलाई। मुझे उसका बड़ा ही कौतूहल था। बंदूक, उसके छर्रे आदि देखने और छूने में बड़ा मजा आता था। अपने सैनिक विद्यालय के एक दो साथियों को मैंने उसे चलाना भी सिखाया। हमारे ही पुराने घर की खिड़की से नए

घर में छिपकर बैठे एक उल्लू को मारने एक बार मेरे पिताजी ने वह बंदूक चलाई और जाने क्या-कुछ हो गया, उसके उलटे धक्के से पिताजी घायल हो गए। उस धक्के से मेरे सैनिक विद्यालय के छात्र और प्राचार्य भी घायल हुए और फिर कभी बंदूक को हाथ लगाया हो, यह मुझे स्मरण नहीं।

हमारे घर में एक गुप्ती और एक-दो पुरानी तलवारें भी थीं, जो हमेशा छिपाकर ही रखी जातीं। अपने सैनिक मित्रों को सौ-सौ कसमें देकर मैं बड़ी ही संजीदगी से और बड़ी सावधानी से उन्हें दिखाता था। तीसरी मंजिल पर जाकर मैं उन शस्त्रों को रगड़-रगड़कर साफ करता और फिर छिपाकर रख देता। जीने के नीचे बनाए गए एक गोपनीय स्थान में उन शस्त्रों को छिपाकर मैं रखता।

तेरह-चौदह के मध्य की आयु में कुल-स्वामिनी देवी के प्रति मेरी अपनी भक्ति बहुत अधिक बढ़ गई। यह मूर्ति रुधिरप्रिय है, ऐसी किंवदंति थी। अतः उसे घर में न रखकर खंडोबा के मंदिर में हमारे एक अब्राह्मण पुजारी की सेवा में रखा गया था—इसलिए कि उसे बकरे आदि का भोग मिल सके। उस पुजारी को स्वप्न में देवी का आदेश मिलने लगा कि मुझे घर पहुँचाओ। मेरे पिताजी को स्वप्न में देवी घर में आई हुई दिखती। उस देवी के जाग्रत और तेजस्वी होने के आख्यान पूर्वापर उस गाँव और घर में सुनाए जाने से सबको बड़ा डर लगता था। परंतु पुजारी के आग्रह के कारण अण्णा (मेरे पिताजी) ने उसे घर में ही स्थापित करने की व्यवस्था की। उनके अनेक इष्ट मित्र कहते, 'अरे अण्णा, वह रुधिरप्रिय जाज्वल्य देवी है। अगर कुपित हो गई तो सारा घर भस्म कर देगी। उसे मंदिर में ही रखना ठीक है।' अण्णा कहते, 'अब तो जो होगा, उसीकी मरजी से होगा।'

परंतु मुझे तो वह मातृवत् ही अधिक लगती, वैसी ही ममतामयी, स्नेहिल, कृपालु। मैं अपने बचपन के सुख-दुःख भी उससे कहता। धीरे-धीरे मुझे वह नए घर का सुंदर स्थान, जहाँ यह देवी स्थापित थी, बहुत ही भाने लगा। देवी माँ की पूजा-सेवा और साधना में अधिकाधिक तल्लीन भी रहने लगा। 'पांडव प्रताप', 'हरि विजय' आदि ग्रंथ घर-घर में जैसे प्रचलित थे, वैसा कोई देवी-चरित्र मराठी में नहीं था या मुझे तब तक नहीं मिला था। 'सप्तशती' संस्कृत में थी, उसे पढ़ता, परंतु उससे मन को शांति नहीं मिलती थी। उसी समय समाचारपत्र में पढ़ने को मिला कि 'देवी विजय' नामक ग्रंथ प्रकाशित हो रहा है। मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। पता नहीं, पिताजी मँगवाएँ या नहीं, यह सोचकर एक प्रति देय मूल्य (वी.पी.पी.) से भेजने के लिए मैंने पैसे भेज दिए। ग्रंथ आ गया तो उसका पारायण करने लगा। इस ग्रंथ में जो जानकारी मिली, उसका आधार लेकर अन्य देवी-भक्तों के चरित्रों के साथ प्रताप-शिवाजी को भी जोड़ते हुए एक ग्रंथ 'दुर्गादास विजय' नाम से लिखा

जाए, यह संकल्प भी मन में उभरा और तत्काल उसे ओवीबद्ध करके लिखना आरंभ किया। प्रथम देवी-स्तुति, फिर ग्रंथकार-चरित्र। उसके पश्चात् देवी से हुआ साक्षात्कार। भारत की स्वतंत्रता के लिए ग्रंथकार जो युद्ध करनेवाला था, उसमें सफलता मिलने का आशीर्वाद देवी से प्राप्त करने के लिए एक प्रारंभिक प्रार्थना। यह सब करते चार-पाँच अध्याय, तीन-चार सौ ओवियाँ रच डालीं। मराठी के एक ग्रंथ लेखक श्रीधर स्वामी पंढरपुर के देव-मंदिर में बैठकर ही ग्रंथ-रचना किया करते थे, अर्थात् स्वयं पांडुरंग उन्हें सुनता है, ऐसी जो एक दंतकथा थी, उसका गौरव भी अपने ग्रंथ में हो, इसलिए अध्याय का सृजन होते ही उसे तन्मय चित्त से पढ़कर देवी को सुनाता था। देवी पर नाना प्रकार के फूल हमेशा ही चढ़े रहते थे। उनमें से कोई एक फूल भी मेरे वाचनकाल या उसके बाद लुढ़ककर नीचे आ जाता तो मैं उसे प्रसाद मानता। यह चमत्कार भी ग्रंथ में लिखा जाता और मुझे यह विश्वास होता कि मेरा ग्रंथ भी श्रीधर स्वामी के जैसा ही हो जाएगा। मेरे इस ग्रंथ की कुछ ओवियाँ सच में ही बड़ी उत्तम 'प्रासादिक' स्वरूप की रची गई थीं। उनमें मैंने अंग्रेजों के अत्याचारों का वर्णन 'दैत्य', 'पृथ्वीभार हरण', 'अवतार' आदि से ठेठ पौराणिक भाषा में किया था। मेरे जीवन के प्रभात में ही आत्म-चरित्र लिखने का यह पहला प्रयास था और उसके अनंतर यह दूसरा आयुष्य के तीसरे प्रहर में हुआ।

इससे भी अधिक आश्चर्यजनक चमत्कारों का अनुभव मेरे बालसुलभ, भाव-प्रवण मन को होता। जब ध्यान लगाकर मैं बैठता तो कभी-कभी मुझे प्रत्यक्ष देवी दिखाई देती। देवी के मुख से कही गई बातें सुनाई देतीं; पर वे क्या और कैसी थीं, अब उनका स्मरण नहीं रहा। एक बार मेरी बहन के कान का एक महँगा बाला खेल-खेल के दौरान मेरे हाथ से छिटककर कहीं गुम गया। पिताजी क्रुद्ध होंगे, इसलिए उससे बचने के लिए मैं देवी के सामने जाकर अड़ गया। आँखें बंदकर ध्यान-मुद्रा में बैठ गया। मेरी बंद आँखों को वह आभूषण एक आलमारी के नीचे पड़ा हुआ स्पष्ट दिख गया। पर वहाँ तो हम दस बार पहले ही देख चुके हैं, मन में इस शंका ने जन्म लिया। फिर मुझे एक आवाज सुनाई दी, जैसे कोई कह रहा हो—'अरे! उठ, देख फिर से।' और मुझे उठना पड़ा। भाभी को साथ लेकर मैं उस आलमारी के सामने गया और झुककर उसके नीचे हाथ डाला। आश्चर्य कि मेरे हाथ पर जैसे किसीने वह बाला रख दिया हो। सबके, विशेषकर पिताजी के, आश्चर्य का ठिकाना न रहा। मैं तब उसे दैवी चमत्कार समझता था और उस 'दुर्गादास विजय' ग्रंथ में ऐसे चमत्कार ओवीबद्ध कर लिखता भी था।

परंतु मेरे मन में एक प्रश्न उठने लगा—ये घटनाएँ दैविक हैं या भावनात्मक। मन की एकाग्रता के कारण मन की सुप्त स्मृति जाग्रत हो सुध आ जाती हो, ऐसा

तो नहीं? देवी जिसका दर्शन कराती है, वह अपने ही मनस्मृति का अतिदर्शन तो नहीं? वैसे ही कान में आते शब्द-स्वर अतिश्रवण तो नहीं? जो कुछ भी हो, पर ऐसा होता था।

बालपन से ही मेरी भावना जितनी उत्कट थी, बुद्धि उतनी ही तर्कट थी। मैं वास्तव में इन दो सगी बहनों के मायाजाल में फँसा हुआ था। ये दोनों एक-दूसरी को नीचा दिखाने का खेल खेला करती थीं, मानो इन दोनों का यह परस्पर प्रेम-प्रदर्शन का कोई तरीका हो। देवी के प्रति मेरी सरल और निस्सीम श्रद्धा कब से मेरी बुद्धि की आँख में खटकने लगी, उसे मैं भूल गया। संभावना यह है कि बुद्धि के द्वारा रचे गए षड्यंत्र को जाग्रत मन से भी छिपाया गया हो, पर श्रद्धा के इस सहज आनंद के दूध में नमक की पहली डली मेरे सामने कब डाली गई, उसका स्वच्छ स्मरण मुझे है।

'ईश्वर' हमेशा ही भक्तों का संकट हरता है, ऐसा नहीं है। कई बार वह भक्त की गुहार अनसुनी भी कर देता है, यह तथ्य एक दिन मेरे सामने प्रकट हो गया और मेरी श्रद्धा की मजबूत नींव खिसकने लगी। उस दिन नासिक से कुछ बड़े वकील सावरादिक मेरे बड़ों के इष्ट मित्र अतिथि बनकर हमारे घर आनेवाले थे। वास्तव में वे सारे मेरे पिताजी के मित्र थे और साथ में एक रकम भी लानेवाले थे जो मेरे पिताजी को एक ऋण की साप्ताहिक किश्त के रूप में किसी दूसरे को चुकानी थी। मेरे पिताजी लेन-देन की ये सब बातें मुझसे कहा करते थे, पर वे लोग नहीं आए। पिताजी बहुत उदास हो गए। उनको ऐसा उदास देख मैंने देवी माँ की शरण में जाने की ठानी। बच्चा यही तो करता है! संकट आने पर माँ के पास ही जाता है। देवी के सामने बैठकर उसे मनाने का प्रयास मैं करने लगा। आँखों में आँसू आ गए। ऐसी प्रार्थना मैं 'ओवी' छंद में काव्य रचते हुए ही किया करता था। वैसा ही करता हुआ मैं अपने पिताजी को संकटमुक्त करने की रट देवी के सामने लगाए रहा। क्रोध में देवी से मैंने यह भी कहा कि यदि तुमने आज मेरे पिताजी की लाज नहीं रखी तो मैं यह समझूँगा कि देवी-देवता सब ढकोसला है।

दो दिन हो गए, अतिथि नहीं आए। पिताजी की नजर मुझपर रहती थी। उन्होंने कहा कि ऐसे छोटे-मोटे कार्य के लिए ईश्वर पर भार नहीं डालना चाहिए। रकम लाने के लिए वे स्वयं ही नासिक गए। परंतु रकम देनी नहीं थी। इसलिए वे बड़े लोग आए नहीं थे। आखिर पिताजी बैरंग लौट आए। इससे मेरी उदासी बढ़ गई। मन में आया, ऐसा तो नहीं कि मेरी भक्ति दूसरे भक्तों से कम है या यह कि उन भक्तों के साथ भी ऐसा ही होता है। ईश्वर हमेशा ही भक्त की बातें नहीं मानता। इस संशय के जन्मते ही 'भक्त विजय' ग्रंथ में वर्णित चरित्र मैंने फिर से एक बार पढ़

डाला। अभी तक पोथी में जो कुछ लिखा था, वह सच है या झूठ, इसको परखने का प्रयास नहीं किया था, पर अब मैंने पहली बार—श्रद्धा और संशय से—दोनों ही आँखें खोलकर पोथी पढ़ी।

तब बुद्धि में यह बात आने लगी कि भक्त को जिस किसी संकट से ईश्वर ने उबारा, केवल उन्हीं घटनाओं का वर्णन पोथी में किया गया है और जिन घटनाओं में भक्त की कोई सहायता ईश्वर ने नहीं की, उनको छोड़ दिया गया है। महाराष्ट्र के संतशिरोमणि ज्ञानदेव ने जब समाधि ली, तब उनकी छोटी बहन मुक्ता बाई बहुत दुःखी हुई। उसने अपने इष्ट से बहुत-बहुत विनती की, पर ज्ञानदेव जीवित नहीं हुए। जिस तुकाराम का ब्राह्मणों द्वारा नदी में फेंका गया ग्रंथ उनके इष्ट विट्ठल ने निकाला, उन्हीं भगवान् विट्ठल ने उनके कथा-प्रसंग में एक भयंकर आग लग जाने पर लोगों के प्राण नहीं बचाए। एक गाँव मलेच्छों ने लूटा। तुकाराम ने अपने परम इष्ट विट्ठल से कहा कि ये तो तेरा ही अपयश है, पर साक्षात् ईश्वर ने उस संकट का निवारण नहीं किया। अब तो मैं ऐसे सैकड़ों उदाहरण दे सकता हूँ। चोखामेल नामक एक परम तपस्वी भक्त महाराष्ट्र में हुए हैं। हीन जाति का होने के बावजूद उन्होंने मंदिर में प्रवेश किया। पुजारियों ने उन्हें पकड़कर चट्टान से बाँधा और मृत्युदंड देने को तत्पर हो गए। उस संकट से भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने भक्त को उबारा, ऐसा वर्णन पोथी में है, पर एक बार कुछ हरिद्वेषी मुसलमान उसे उसके साथियों सहित एक दरवाजा बनाने की बेगार के लिए पकड़कर ले गए। वह दरवाजा बनते-बनते गिर गया और उसके नीचे भक्तश्रेष्ठ चोखा अपने साथियों सहित दबकर मर गए, मगर अँगुली पर गोवर्धन उठानेवाले श्रीकृष्ण ने वह गिरता द्वार नहीं रोका। पोथियों में ऐसी घटनाओं का वर्णन भारी उपेक्षा से क्यों किया जाता है? मैं जिन पोथियों को शंकारहित और विश्वसनीय मानता था, उनपर से मेरा इन सब कारणों से विश्वास हिलने लगा।

श्रद्धा की नींव हिलने की घटना

मैं पढ़ता आया था कि अठारह पुराणों की रचना व्यास ने की है। अर्थात् मराठी में रचित 'देवी विजय' ग्रंथ भी व्यासकृत 'देवी भागवत' के आधार पर ही रचित था। परंतु उसे पढ़ा तो देखा कि उसमें वर्णित रामचरित्र में राम और लक्ष्मण सगे भाई नहीं हैं। अन्य पुराणों में तो ये सगे भाई और भरत-शत्रुघ्न सौतेले भाई कहे गए हैं। पहले लगा, पढ़ने-समझने में कुछ गड़बड़ी हो रही है। फिर मूल 'देवी भागवत' देखना चाहा, पर वह तो उस समय अप्राप्त और दुर्लभ था। विभिन्न पुराणों में वर्णित घटना और चरित्र की विसंगतियाँ धीरे-धीरे ज्ञात होने लगीं और यह तथ्य

मन में जम गया कि सारे (अठारहों) पुराण व्यासरचित नहीं हैं। एक ही व्यास की ये सारी रचनाएँ होना असंभव है। सारी पोथियाँ एक जैसी सत्य भी नहीं हैं। यह दृष्टि मिल जाने पर अपने भाई, मामा आदि से और नासिक जाने पर तो मुझसे कई गुना अधिक शिक्षित व्यक्तियों से भी मैं पुराणों को दिखा-दिखाकर वाद-प्रतिवाद किया करता और उनकी भोली श्रद्धा देख चकित भी हो जाता।

महाराष्ट्र में एक और प्रचलित तथा मान्यताप्राप्त लौकिक अर्थात् मराठी भाषा में लिखा ग्रंथ है 'गुरु चरित्र'। वह ग्रंथ भी मेरी संशयी बुद्धि की साढ़े साती के घेरे में जल्दी ही आ गया। उसमें अनेक व्रतों-नियमों का उल्लेख है। पहले मैं उन व्रतों-नियमों का पालन श्रद्धा से करने लगा। फिर उनकी जटिलता असंभव ही नहीं, परस्पर विरुद्ध और निरर्थक भी लगने लगी। फलश्रुतियाँ तो कितनी ही बार विकट होती हैं, यह बात भी समझ में आ गई। तब हमारे सिर घुटे होते थे, उनपर एक चोटी लहराया करती थी। चोटी में गाँठ लगाए रखना आवश्यक नियम था, पर अनेक बार वह खुल जाती और फिर उसमें गाँठ लगाने की सुध नहीं रहती। मेरे बड़े भैया ऐसे अवसर की ताक में रहते थे। मेरी चोटी खुली दिखते ही कहते, 'चोटी खुली रखकर जितने कदम चलोगे, उतनी ब्रह्म-हत्या का पाप लगेगा।' मैं उसका उत्तर वैसा ही टेढ़ा देता। कहता, 'चिंता नहीं। सायं संध्या (शिव-पूजा) के समय शिव का नाम लेते ही सात जन्म के पाप धुल जाएँगे। (सायाह्ने सप्तजन्मनि) और 'गंगा-गंगा' दो-चार बार कहूँगा तो सारे ही पापों से मुक्त हो जाऊँगा। (गंगा गंगेति यो ब्रूयात्...मुच्यते सर्व पापेभ्यो!) मेरे धार्मिक विचारों में होनेवाली इस उथल-पुथल के कारण मेरी ईश्वर-पूजा-भक्ति उतनी श्रद्धा से होना छूट गया। जिन सामान्य चमत्कारों के कारण ईश्वर के प्रति मेरी श्रद्धा बढ़ गई थी, वैसे ही अब वह घटने भी लगी। फिर भी अपने घर की देवी के प्रति मेरी भक्ति टिकी रही।

तत्त्व-जिज्ञासा का सूत्रपात

संशय के अग्निकुंड में मेरी पहली भोली भावनाएँ, जो एक तरह से भूसा ही थीं, जलने का प्रारंभ होते-होते मेरी निष्ठा को उपरोक्त तत्त्व विचारों की पक्की नींव प्राप्त होने का भी सूत्रपात हो गया। यह मेरे ज्येष्ठ बंधु के कारण हुआ। इस क्षेत्र में वे ही मेरे पहले गुरु थे। मेरे पिताजी या अन्य किसीको भी वेदांत विषय में रुचि नहीं थी, अध्ययन या अभ्यास होने की बात तो बहुत दूर थी। परंतु मेरे ज्येष्ठ बंधु इस क्षेत्र में बहुत सक्रिय थे। उनकी आयु यही कोई सत्रह-अठारह साल की थी। केवल वेदांत-संबंधी ग्रंथ पढ़ने तक ही नहीं, योगाभ्यास करने की ओर भी उनकी प्रवृत्ति बढ़ी हुई थी। उन्हें इस विषय के ग्रंथ खरीदने का चाव था। उनके द्वारा खरीदा गया

एक ग्रंथ ग्वालियर के किन्हीं श्री जठार द्वारा लिखित था। ग्रंथ का नाम था—'स्वानंद साम्राज्य'। 'साम्राज्य' शब्द मेरे राजनीतिक विचारों के कारण मेरे निकट का था, बड़े भाई का आग्रह तो था ही और मेरी प्रवृत्ति भी किसी विषय में पीछे रहने की नहीं थी, इसलिए भी मैंने वह ग्रंथ पढ़ा। कुछ प्रकरण तो मुझे अच्छे लगे। परंतु 'माया' शब्द के मायाजाल और 'ब्रह्म' शब्द के ब्रह्म घोटाले ने मुझे उस वय में उक्त विषय से दूर ही किया। अर्थात् ये दूर जाना भी अधिक पास आने जैसा ही था, क्योंकि सबकुछ जानने की मेरी जो प्रबल इच्छा हमेशा ही रही थी, वह मुझे किसी विषय से दूर जाने की अपेक्षा खींचती ही अधिक थी। प्रबल जिज्ञासा और संस्कार की एक आतुर जंजीर मेरी बुद्धि के गले में इसलिए अपने आप ही पड़ गई; और मैं इस विषय के उपांगों पर, अद्‌भुत चमत्कारों पर, सत्य और असत्य को लेकर डींग हाँकते लोग, साधु या भोंदू, पल-पल 'धर्म-धर्म' कहकर फैली रूढ़ियाँ, ईश्वर का अस्तित्व या अनस्तित्व आदि विषयों पर अपने ज्येष्ठ बंधु सहित अन्यों से मेरे वाद-विवाद शुरू हो गए। इस वाद-विवाद में मुझे बड़ा-छोटा कोई सूझता नहीं था। इस वाद-विवाद में यदि कोई ज्ञानी किसी ग्रंथ को उद्‌धृत करता तो वह ग्रंथ खोजकर मैं अवश्य पढ़ता, ताकि उनकी बातों को मैं काट सकूँ। ग्रंथ पढ़ना, चिंतन करना और अपनी बात को सिद्ध करने के लिए उसका उपयोग शस्त्र जैसा करना मेरी आदत-सी हो गई। अर्थात् उस विषय का जो चिरंतन मर्म था, वह मेरे मन में स्वत: पैठता जाता। इन ग्रंथों के पूर्व जब मैं भोली भावना से पोथी-पुराणादि ग्रंथ पढ़ता था, तब उन ग्रंथों में मिलता कल्पना-विलास और रस-भरे आख्यान आँखें मूँदकर पढ़ने में जो समाधान मिलता, वैसा इन ग्रंथों में नहीं मिलता। फिर भी उनके संवाद और प्रयोग मेरी भावना को प्रबुद्ध करते गए।

मुझे लगता है कि चरित्र-लेखन के कालक्रम का पालन न कर संदर्भित विषय की धारा पकड़ते हुए कुछ बातें यहीं कह देना अच्छा है।

बात मेरे ज्येष्ठ बंधु की निकली है तो उसी संदर्भ में बढ़ें। उन्हें साधु-संग बड़ा प्रिय था। कोई भी जटाधारी-अर्धनग्न विभूति रमाया व्यक्ति मिल जाता, तो वे उसके पीछे पड़ जाते। प्रारंभ में जब हम संपन्न थे, तब ऐरे-गैरे साधु-महात्मा की खिलाई-पिलाई अखरने का प्रश्न नहीं था, पर बाद में भी मेरे बड़े भैया उदार मन से किसी साधु-महात्मा को भरपेट दूध, मिठाई, फल आदि भेंट करते ही रहे। उन साधुओं में कुछ सत्पुरुष भी होते ही थे। परंतु अनेक ने मेरे बड़े भैया को उनके भोलेपन का लाभ लेते हुए लूटा ही। ऐसे समय में मैं उनका उपहास कर उन्हें सताता। वे भी खुद को ठगा हुआ मानते, पर फिर कोई जटाधारी मिलते ही उनकी मठिया में पहुँच जाते थे। लौटकर मुझसे अवश्य कहते, 'उनकी बातें भूलो, जिन्हें

तुम चोर-उचक्का कहते थे। ये जो आए हैं, वास्तव में सिद्ध पुरुष हैं। चल, तू भी दर्शन कर ले।''

कभी-कभी मैं चला भी जाता। एक बाबा का स्मरण मुझे है। वे सद्‌प्रवृत्त थे, पर बहुत सामान्य। अंग्रेजी कक्षा में प्रवेश कर मैं नासिक पहुँचा ही था। पंचवटी में स्थित राम धर्मशाला में वे डेरा डाले हुए थे। एक अँधियारे कमरे में उनका पूजा-पाठ चलता था। बीच-बीच में ब्रह्मभोज किया करते थे। उनकी धारणा यह थी कि इस सबके लिए पैसा उनकी इच्छा मात्र से ही ईश्वर पहुँचा देता है। मेरे भैया ने उन्हें गुरु माना था। वे मुझे उनका दर्शन करने हेतु चलने का आग्रह करते। मेरे भैया ने उन साधु बाबा के बारे में मुझे बताया कि वे अर्वाचीन रामदास स्वामी हैं; उन्होंने अंतर्ज्ञान से तेरा परिचय पहले ही प्राप्त कर लिया है और वह परिचय प्राप्त हो जाने पर ही वे बार-बार तुझे लाने के लिए मुझसे कहते हैं। खैर, एक शुभ दिन मैं बाबा के कमरे पर गया। मुझे देखते ही वे बड़े प्रसन्न हो गए, बोले, 'अरे, तू तो बड़ा शुभ लक्षणी है, महान् आत्मा है।' मैंने भी उनका निरीक्षण किया। इधर-उधर से देखा, पर मुझे शिवाजी-निर्माण करने की शक्ति उनमें कहीं दिखाई नहीं दी। मेरी जो प्रबलतम महत्त्वाकांक्षा थी, उसे उनके सामने प्रकट करते हुए मैंने कहा, 'अंग्रेजों की गुलामी से भारत को मुक्ति दिलाने के लिए सशस्त्र युद्ध के सिवाय कोई उपाय नहीं है।' परंतु उन्होंने मुझसे वही कहा जो अन्य साधु बाबा हमेशा कहते रहते थे। वे बोले, 'अभी तू उस ओर बढ़ना छोड़ दे। पहले ईश्वर का अधिष्ठान प्राप्त कर, जो तुझे यहाँ प्राप्त होगा। (मैं समझ गया कि वे चाहते हैं—मैं उनका दास बनकर सारी सेवा-चाकरी करूँ।) ईशकृपा से तेरी सारी इच्छाएँ पूरी हो जाएँगी।'

मैं जान गया कि राजनीति का स्पर्श भी इन्हें नहीं है; ये रामदास स्वामी कैसे हो सकते हैं! यह तो कहते हैं, 'ये तो प्रभु की मरजी है। उनके पाप का घड़ा जब भरेगा, तब उनका भी नाश होगा।' मुझे ये सारे तर्क क्रोधित करते। मैं कहता—चोरों का राज यदि प्रभु की इच्छा है तो उनको राजच्युत करने की हमारी इच्छा क्या राक्षसी इच्छा है? यदि सबकुछ ईश्वर की इच्छा से होता है तो मेरे मन में और हजारों के मन में उठती यह इच्छा भी तो ईश्वर की ही इच्छा है। यह क्या उनके पाप का घड़ा भरने का संकेत नहीं है? पर वे समझें तब ना?

जिस समय का यह वृत्त मैं लिख रहा हूँ, उस समय से ही मेरी प्रवृत्ति क्रांतिकार्य की ओर तेजी से बढ़ने लगी थी। अत: यहाँ उस समय के अपने विचार और तदनुषंगी कार्यों का पूरा वर्णन करना चाहिए। यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि वे क्रांतिकारी विचार और आंदोलन आज भी अनुकरणीय हैं, इसलिए वह लिख रहा हूँ, ऐसा कोई न समझे। क्या, क्यों और कैसे घटित हुआ,

केवल इतना ही यहाँ कहना है। उनमें से किन्हीं या कुल घटनाओं का समर्थन नहीं है यह।

अंग्रेजी शिक्षा का प्रारंभ

भगूर की प्राथमिक पाठशाला में पाँचवीं कक्षा उत्तीर्ण कर लेने के बाद भी घर की कुछ परिस्थितियों के कारण डेढ़-दो वर्ष मैं भगूर में ही रहा, पर अंग्रेजी पढ़ता रहा और अगली दो कक्षाओं का पाठ्यक्रम भी मैंने पूरा कर लिया। गणित विषय में मेरी रुचि नहीं थी। फिर भी महाविद्यालय तक की परीक्षाओं में मैं उस विषय में अनुत्तीर्ण कभी नहीं हुआ। भगूर में मेरे साथ के मारवाड़ी लड़के मौखिक गणित में बहुत प्रवीण रहते थे। उनका व्यवसाय ही था बेचने-खरीदने का। तोला-माशा से लेकर बीस मन तक के हिसाब वे तड़ातड़ करते जाते। मेरा क्षेत्र कविता-लेख आदि का था। मारवाड़ियों के बीच जब कभी मैं फँस जाता, तब वे अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए मौखिक हिसाब की तोप मुझपर दाग देते। मैं उनके प्रश्नों का उत्तर जल्दी नहीं दे पाता तो वे लोग ठहाका लगाकर हँसते और कहते— अरे सावरकर! तुम तो बड़े बुद्धिमान छात्र हो। फिर, यह तो छोटा-मोटा हिसाब है। यह भी कर नहीं पाओगे तो तुम्हारा काम कैसे चलेगा? तुम्हारी कविता और वह अंग्रेजी कैट-मैट से क्या होगा?' बड़ा अपमान होता मेरा। फिर मैं भी तीर छोड़ता— 'आपका लड़का तो मुझसे क्या, न्यायमूर्ति रानडे से भी श्रेष्ठ है, क्योंकि न्यायमूर्ति भी ये हींग-तेल का हिसाब तत्काल नहीं कर सकते। ऐसा करो, अपने लाड़ले को हाई कोर्ट का जज ही बना डालो।'

एक अन्य ऐसी ही रोचक बात मैं यहाँ कहना चाहता हूँ। मेरे निकट के एक संबंधी थे। उनकी बुद्धि वास्तव में बड़ी तीक्ष्ण और विकासशील थी। परंतु उसे छोटे क्षेत्र में ही बंद रहना पड़ा था। फलतः वह बौनी ही रह गई थी। अब ये सज्जन जब-तब अपनी बुद्धि के वैभव का प्रदर्शन करने के लिए नितांत छोटी उपलब्धियों को ही सामने लाते। उन्होंने नासिक तहसील का भूगोल रट रखा था। यह पारंगतता उनके ज्ञान मापने की कसौटी थी। किसीके भी ज्ञान की परख वे इसी कसौटी से करते। नासिक तहसील का भूगोल रट लेते ही उनका छात्र मानो उपाधिधारी हो जाता। वे चाहते थे कि कभी मैं उनकी पकड़ में आऊँ और वे अपनी इस कसौटी से मेरी सारी विद्वत्ता की किरकिरी करें।

जब उनसे किसी धार्मिक या राजनीतिक विषय पर बहस हुई, तब मैं दसवीं कक्षा का छात्र था। उनके तर्क आदि मेरे सामने कैसे टिकते? मैंने अपनी बात की पुष्टि में दुनिया के अनेक देशों और स्थानों का भी उल्लेख किया। वे बहुत चिढ़ गए

और चिल्लाकर बोले, 'बस ! बस ! मुझे भूगोल के पाठ तुमसे सीखने की आवश्यकता नहीं है। विश्व का भूगोल मेरे सामने बघार रहे हो, पर इस क्षेत्र में मेरे कक्षा तीन के छात्र भी तुमसे बहुत भारी हैं।' उन बजरबट्टुओं में से एक को उन्होंने तुरंत कहा— 'पूछ तो इससे भूगोल के दो-एक प्रश्न।' गुरुजी का इतना कहना था कि एक बजरबट्टू ने मेरी ओर एक प्रश्न दाग दिया—'तुम्हें विश्व का भूगोल याद है न! अच्छा तो फिर बताओ, दारणा नदी के किनारे कौन-कौन से गाँव हैं ? या काजवा नदी के किनारे के गाँवों के नाम ही बता दो।' मैं चुप ही रहा और मुसकराने लगा। उस छात्र ने दोनों नदियों के किनारे के गाँवों के नाम तड़ातड़ कह डाले। गुरुजी ने मुझे हर विषय में अनुत्तीर्ण घोषित कर दिया। उनका कहना था कि जिस किसीको दारणा या काजवा नदी के किनारे के गाँवों के नाम ज्ञात नहीं, उसे राजनीति या धर्म की क्या समझ ?

विद्वत्ता-परीक्षण की मूर्खतापूर्ण कसौटी

गाँव खेड़े का जो अनुभव मुझे हुआ और जो उससे अधिक आगे न निकल पानेवाले सभी बी.ए., एम.ए. तक शिक्षित लोगों को होता है, वह मजेदार है। इन ग्रामीणों के किसी कूट प्रश्न पर दुनिया की सारी विद्वत्ता कब बलि चढ़ जाएगी, यह निश्चित नहीं है। कोई भी पढ़ा-लिखा व्यक्ति उनके बीच पहुँचे तो उसे गाँव के सारे अनाड़ियों में से कोई एक सयाना बड़े छद्म विनय से वह कूट प्रश्न पूछता और उसका उत्तर जल्दी नहीं मिलता या मिलता ही नहीं, तो उस पढ़े-लिखे की सारी विद्वत्ता व्यर्थ ठहरा दी जाती।

यदि कोई विद्वान् ज्योतिषी गाँव खेड़े पहुँचेगा और कहेगा कि उसे सौरमंडल तथा ग्रह-नक्षत्रों की गति और संख्या की जानकारी है तो उससे पूछा जाएगा, 'आप इतने दूर के तारों की गिनती कर लेते हो तो पहले मेरे घर की खपरैलों की संख्या तो बताओ।' ऐसे विकट प्रश्न पर वह ज्योतिषी चुप ही रहेगा। दूसरा कोई शेर होकर कहेगा, 'अरे, जो आँखों के सामने के खपरैल नहीं गिन सकता, वह दूर आकाश के तारे गिनने की गप ठोंके! वाह, क्या विद्वत्ता है आपकी! सिल्वर या गिलट के आभूषण जैसे दरिद्रता के दारुण दु:ख को भुलाने के काम आते हैं, वैसे ही अज्ञान के गहन अंधकार में से उपजे विकट प्रश्न ज्ञानीपन का तमगा प्रदान कर अल्पकालिक ही सही, पर सुख तो प्रदान करते हैं और इस दृष्टि से यह ठीक भी है।'

विद्वत्ता की परीक्षा लेने की ऐसी कसौटियाँ केवल गाँव खेड़े में ही दिखती हैं, ऐसा नहीं है। इस विचित्र पद्धति से पहले अनेक राज दरबारों में भी अतिथि विद्वानों की ऐसी ही परीक्षा लेकर उन्हें नीचा दिखाया जाता था। यह तथ्य अनेक प्राचीन

ग्रंथों में मिलता है। कोई विद्वान् जब अपने किसी मत को स्थापित करने या कोई अपराजेय पत्र लेकर निकलता, तब उसके प्रतिद्वंद्वी विद्वान् उससे ऐसे विचित्र प्रश्न पूछकर उसे परास्त करने का प्रयास करते थे, चाहे वह प्रश्न विषय से संदर्भित हो या न हो। शंकराचार्य-मंडन मिश्र के बीच के वाद का प्रतिपाद्य विषय था—कर्मकांड या ज्ञानकांड में से श्रेष्ठ या मोक्षदाता कौन? पर शंकराचार्य से प्रश्न पूछे गए कामशास्त्र के। रेखागणित या बीजगणित के प्रश्नपत्र में उपमा और उत्प्रेक्षा अलंकार में भेद या होमर अंधा था या आँखोंवाला, ऐसे प्रश्न जितने सुसंगत कहे जाएँगे, उतने ही कामशास्त्र के प्रश्न थे। उससे भी कठिन प्रसंगों के बीच से विद्वानों को गुजरना पड़ता रहा है। रामानुजाचार्य के काल में कोई एक विद्वान् अजेय पत्र लेकर दिन में मशाल जलाने निकला था। दिन में मशाल जलाने का अर्थ था चारों ओर अंधकार या ज्ञानांधकार है; उसमें मार्ग प्रदर्शन करने के लिए मुझे मशाल जलानी पड़ रही है।

उस विजयेच्छुक पंडित को विश्व के समस्त चौकड़ों की सूची मुखाग्र सुनानी पड़ती थी, जैसे ब्रह्मदेव के मुँह चार, दिशा चार, वेद चार, पुरुषार्थ चार, आश्रम चार, वर्ण चार, युग चार, दशरथ के पुत्र चार आदि सारी बारहखड़ी सुनानी पड़ती। उसमें से कोई एक भी चौकड़ा वह भूल जाए और परीक्षकों के ध्यान में वह चौकड़ा आ जाए तो उस विजय के इच्छुक पंडित की सारी विद्वत्ता पानी-पानी। उसकी मशालें बुझा दी जाएँ और उसके साथ ही अजेय पत्र प्राप्त करने की उसकी महत्त्वाकांक्षा भी बुझ जाए—एक ओर ऐसे आचार और पोली पंडिताई, तो दूसरी ओर परीक्षा लेने की विचित्र कसौटियाँ।

जैसाकि पूर्व में ही मैंने कहा, अंग्रेजी की दो कक्षाओं का अध्ययन मैंने घर पर पूरा किया था। आयु के तेरहवें वर्ष के आसपास पिताजी ने मुझे आगे की पढ़ाई करने नासिक भेजा। मेरे बड़े भैया बहुत पहले से नासिक में थे। जिस दिन मुझे अपना गाँव भगूर छोड़ना था, उस दिन मेरे बचपन के साथियों और पड़ोसियों को बुरा लगा। मैं भाग्यशाली था कि उस छोटी आयु में भी छोटे-बड़े बहुत स्त्री-पुरुष मुझे प्यार करते थे, मेरे प्रति भक्ति-भाव रखते थे। मुझे भी उनसे बिछुड़ते दुःख हुआ था। कुछ तो मुझे छोड़ने नासिक तक आए थे।

नासिक में तब एक पाठशाला थी 'शिवाजी स्कूल'। पुणे की रानाडे आदि की मंडली ने उसकी स्थापना की थी। पुणे के न्यू इंडिया स्कूल की तरह ही यह भी राष्ट्रीय आदर्शों की पाठशाला है, यह उसके संस्थापक कहा करते थे। पुणे के न्यू इंडिया स्कूल की तरह नासिक का यह शिवाजी स्कूल है, इस बात को कुछ छात्र यूँ कहते थे कि पुणे के स्कूल के संस्थापकों जैसे ही नासिक के स्कूल के

संस्थापक भी नासिक के विष्णु शास्त्री चिपळूणकर होने ही चाहिए। इन सब बातों को सुनकर मैंने उसी नई राष्ट्रीय पाठशाला में जाने का निश्चय किया। एक अन्य कारण यह था कि घर की पढ़ाई के आधार पर किसी दूसरी पाठशाला में मुझे कक्षा तीन में नहीं लिया जाता, जबकि उस राष्ट्रीय स्कूल में मेरी परीक्षा लेकर कक्षा तीन में प्रवेश दिया गया।

नासिक में मैं और मेरे बड़े भाई कानड्या मारुति मंदिर के पास रहते थे। इस मंदिर के पास लड़कों का जमघट लगा रहता था, पर वे सब मुझसे वय और कक्षा में बड़े थे। इतना ही नहीं, उनकी प्रवृत्ति और रुचियाँ भी मुझसे अलग थीं। वे वहाँ यूँ ही खड़े-खड़े बेमतलब की गपें हाँकते थे, नाटक और गाने-बजाने की बातें करते रहते थे। इसका यह अर्थ नहीं कि वे सब-के-सब बदमाश थे। वे सब सामान्य छात्र ही थे, जो कक्षा में पीछे बैठना पसंद करते हैं और उपद्रवप्रेमी होते हैं। उस श्रेणी के खेमे से मेरी प्रवृत्ति अलग थी। अध्ययन, व्यायाम, वाचन आदि में मेरा समय बँटा रहता था। शेष समय में राजनीति पर चर्चा करना मुझे अच्छा लगता था। पर उनमें मुझे ऐसा कोई दिखा नहीं। मुझे तो उन पढ़े-लिखे नागरिकों की तुलना में भगूर के वे ग्रामीण बंधु ही अधिक ज्ञानी, देशभक्त, सत्संगी और राजनीतिक चर्चा के अधिक मर्मज्ञ लगते थे। इसलिए नासिक में कई महीनों तक मेरा मन उदास रहा था। उसमें भी एक बात यह कि पिताजी से मुझे कुछ अधिक लगाव था। वे भी इसी कारण हर पखवाड़े नासिक आते थे। उनके आने की राह तकते मेरी आँखों में आँसू आ जाते थे। वे जब तक रहते, तब तक के दोनों दिन मैं खुश रहता। वे लौटते तो मेरे मन में उथल-पुथल मच जाती। पहले हम दोनों भाई घर में ही रसोई बनाते थे, पर फिर भोजनालय जाने लगे। मेरा स्वभाव बड़ा संकोची था। भोजनालयों में तो बिना माँगे कोई परोसता नहीं, इस कारण कितने ही दिन मैं अधभूखा ही रहता। गंगाराम के उस भोजनालय में हम पैसा भी अधिक देते थे। वहाँ की रोटियाँ भी मुझे अच्छी लगती थीं। खूब खाने को जी करता, पर माँगने में बहुत लज्जा आती। रोटी चाहिए? जब वह चिल्लाकर पूछता तो मेरे मुँह से 'न' ही निकल जाती। परोसिया भी खुश हो जाता। वैसे भी वह मुझे सताना ही चाहता था। भोजनालय की इस दिक्कत का हल मेरे बड़े भैया ने निकाला। उन्होंने मुझे एक प्रसिद्ध हलवाई के यहाँ जलेबियों की बंधी लगवा दी। व्यायाम हो जाने के बाद मैं वहाँ जाकर जलेबियाँ खाता। पर उस समय ब्राह्मणों का इस तरह खुले में हलवाई के यहाँ कुछ खाना निंदनीय समझा जाता था। खानेवाले छिपाकर खाते थे, पर मुझे इसमें कुछ गलत नहीं लगता था। मैं सहपाठियों के बीच अपने इस कार्य का समर्थन करता था। अन्न से जातिच्युत होनेवाले तर्क का सतत उपहास मैं तब भी करता था।

जिस शिवाजी स्कूल में मैं तीसरी कक्षा में भरती हुआ, उसीमें तीन माह बाद कक्षा चार में बैठने लगा। वहाँ के शिक्षकों से मुझे बड़ा स्नेह मिला। मेरी नियमितता, बुद्धि की तीव्रता, बहुश्रुतता से वे प्रभावित थे। हाई स्कूल की प्रावीण्य सूची में मेरा नाम आने की संभावना उन्हें लगती थी। मुझे भी उस स्कूल का अभिमान हो गया था। मैंने भगूर में रची कविताएँ, लेख आदि अपने शिक्षकों को दिखाए। इसकी प्रशंसा मेरे शिक्षकों ने अपने परिचितों से सहज ही की। उस समय नासिक से 'नासिक वैभव' नामक एक समाचारपत्र प्रकाशित होता था। उसके संपादक कोई श्री खरे थे, वे मुखत्यार वकील भी थे। उन्होंने भी जब सुना और देखा तो बड़ी प्रशंसा की। इस प्रोत्साहन के कारण एक लेख लिखने की इच्छा मेरे मन में उठी और मैंने एक लेख 'हिंदू संस्कृति का गौरव' या ऐसे ही किसी शीर्षक से लिखा। वह लेख देखकर वे चकित हो गए; उन्हें लगा कि वह मेरा लिखा नहीं है, पर शिक्षकों ने उसके मेरे होने की पुष्टि की। 'नासिक वैभव' के संपादक इतने प्रसन्न हो गए कि वह लेख उन्होंने संपादकीय के स्थान पर दो अंकों में छापा। लेख के वे तेजस्वी विचार उस सामान्य समाचारपत्र की भाषा में अलग ही दिखाई दिए। उस भाषा-शैली और विचारों का बड़ा प्रभाव समाज पर हुआ। उस लेख की बड़ी पूछ-परख हुई और काफी बड़े लोगों को यह बात ज्ञात हुई कि इस लेख का लेखक शिवाजी स्कूल का एक छोटा छात्र है।

नासिक का एक दूसरा समाचारपत्र था 'लोक-सेवा'। उसके संपादक व मालिक थे प्रसिद्ध नाटककार श्री अनंत वामन बर्वे। शिवाजी स्कूल के संचालक श्री रानडे, जोशी आदि भी पुणे के ही थे। 'लोक-सेवा' पुणे में चलते लोकमान्य तिलक के आंदोलनों का मुखपत्र जैसा ही था। नासिक के गणपति उत्सवों में राष्ट्रीयता की भावना भरने का महत्त्वपूर्ण कार्य श्री बर्वे ने किया था। शिवाजी उत्सव आदि राष्ट्रीय पक्ष के आंदोलनों के भी सूत्रधार वे ही रहते थे। राष्ट्रीय उत्सवों में राष्ट्रीय गीत भी वे गाया करते थे। मैं उन गीतों को बड़ी तल्लीनता से सुनता था। आज भी उनमें से एक-दो गीतों के चरण मैं गुनगुनाता रहता हूँ, इतने प्रभावकारी थे वे गीत।

ये सारे कार्यक्रम नासिक की नदी गोदावरी, जिसे 'गोदा गंगा' या केवल 'गंगा' ही कहा जाता था, के किनारे प्रायः संपन्न होते थे। मेरे सहपाठी गंगा के किनारे जब मटरगश्ती करते घूमते थे, तब मैं अकेला इन राष्ट्रीय कार्यक्रमों में बिन बुलाया मेहमान बनकर घुस जाता और तन्मयता से सब सुनता, आत्मसात् करता। नासिक में आने के दस-बारह माह बाद तक मेरा ऐसा कोई मंडल नहीं बना था। मैं अकेला ही सबकुछ देखते-सुनते मन-ही-मन योजना बनाता रहता था। मेरे शिक्षकों ने श्री बर्वे

से मेरा जो परिचय एक भावी कवि और लेखक के रूप में कराया था, उसका लाभ यह हुआ कि अनेक समारोहों और संस्थाओं में मेरा प्रवेश सुलभ हो गया।

पहला व्याख्यान

नासिक में प्रतिवर्ष आयोजित होनेवाली वाद-विवाद प्रतियोगिता में मुझे भी भाग लेना चाहिए, यह बात श्री बर्वे ने कही। श्री बर्वे के कहने पर मेरा आवेदन विलंब होते हुए भी स्वीकार कर लिया गया। मैंने अपना भाषण लिखकर अपने शिक्षकों को दिखाया। आवेदन के तीसरे दिन ही कार्यक्रम था। इस तरह के आयोजनों में छात्रों के विषय प्राय: निश्चित ही रहते हैं और यदि एक ही विषय पर बोलनेवालों की संख्या अधिक हुई तो पहले दो-तीन प्रतियोगियों के भाषण हो जाने के बाद श्रोताओं के लिए वह चर्वित-चर्वण लगने लगता है। मेरा आवेदन सबसे अंत में दिया गया था। अत: मेरा क्रम सबसे अंत में ही था। सारा कुछ पहले ही सुन चुके और घर जाने की मन:स्थिति बनाए श्रोताओं के सामने मुझे अपना कौशल दिखाना था। पहले के दस-पाँच वाक्यों ने ही श्रोताओं को बाँध लिया। मेरा भाषण उत्तम रहा। सभी ओर से उसकी प्रशंसा की जाने लगी। परीक्षकों ने निर्णय भी तत्काल ही सुनाया और मैं प्रथम घोषित किया गया। निर्णय सुनाने के पहले परीक्षकों में कुछ कानाफूसी हुई। श्री बर्वे ने यह बात भी सबके सामने प्रकट कर दी कि जो भाषण मैंने दिया था, उसका मूल पाठ मुझ जैसे कुमार वय के लड़के का नहीं हो सकता, ऐसा परीक्षकों को लगा था। मूल पाठ को एक तरफ रखकर भी सोचें तो भाषण उत्तम ही रहा। फिर भी वह एक प्रश्न था, जिसका निवारण शिक्षकों ने तथा श्री बर्वे ने किया। उन्होंने कहा, 'हमें ज्ञात है कि कुमार सावरकर उत्कृष्ट लेख लिखते हैं और उनमें से कुछ समाचारपत्रों में प्रकाशित भी हुए हैं। कुमार सावरकर की मोहिनी छवि, अल्पवय और उस अनुपात में किसीकी भी प्रशंसा प्राप्त हो, ऐसी अलंकृत भाषा, शास्त्रशुद्ध निबंध-पद्धति, अस्खलित वक्तृत्व आदि का जो गुण-गौरव आपने किया है, इससे प्रोत्साहन पाकर यह कुमार भविष्य में अधिकाधिक यशस्वी होगा, ऐसा विश्वास किया जा सकता है।'

मैंने वक्तृत्व-कला कैसे सीखी?

भरी सभा में यही मेरा पहला भाषण था। जब मैं छोटा था, तभी मेरी भाषण-प्रवृत्ति के पौधे में पहले चुल्लू भर पानी डालने की दया नासिक की उपरोक्त प्रतियोगिता ने की। अब अनेक विद्वान्, संपादक आदि मुझसे बार-बार कहते हैं कि मैंने यह वक्तृत्व-कला किस तरह सीखी, इस विषय पर मैं एक लेख लिखूँ।

मेरे प्रथम सार्वजनिक भाषण के पूर्व अर्थात् वय के चौदहवें वर्ष के भी पहले भाषण-कला सीखने में मुझे किन-किन साधनों से सहायता मिली, वही संक्षिप्त में लिख डालूँ तो अधिक कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं रहेगी, क्योंकि मेरा ज्ञानार्जन और कार्य-क्षेत्र जैसे-जैसे व्यापक होता गया, वैसे-वैसे वे साधन भी विस्तृत होते गए। उनका विस्तार तो हुआ, पर प्रकार बहुधा वही रहा।

वय के बारहवें-तेरहवें वर्ष में ही मैंने वक्तृत्व-कला विषय पर दो-तीन मराठी पुस्तकें पढ़ी थीं। भाषण का मूल पाठ-निबंध किस तरह लिखा जाए, इसका वर्णन उन पुस्तकों में था—विषय-प्रवेश, विषय-विवेचन, पूर्व पक्ष, उत्तर पक्ष, खंडन, मंडन, संकलन, समापन इत्यादि। इस पद्धति से मैं निबंध लिखता। इससे अलग भी जो निबंध-लेखन के प्रकार भिन्न-भिन्न ग्रंथकारों के हैं, उनका भी प्रयोग करके देखता। पहले इसी क्रम से निबंध लिखना आवश्यक है। जैसे पहले क्रम से सात सुर जानना जरूरी है, वैसे ही यह है। गायक हो जाने के बाद जैसे उन सुरों को उलट-पलटकर रागदारी गाना सरल होता है, वैसे ही विषय-प्रस्तुति का शास्त्र एक बार आत्मसात् हो जाने पर उसमें परिवर्तन करना अच्छा रहता है। बाद की स्थिति में तो लेखक अपनी स्वतंत्र शैली भी विकसित कर लेता है, परंतु निबंध या मूल पाठ-लेखन वास्तव में किसी व्याख्यान का द्वितीय भाग होता है।

भाषण की आत्मा तो भावना होती है। विषय से स्वयं का तादात्म्य महत्त्वपूर्ण है। इसी कारण निबंध या व्याख्यान लिखने की अपेक्षा जब मैं उसे मौखिक रूप से गढ़ता चलता हूँ, तब ही मेरा भाषण सरस होता है, क्योंकि जैसे-जैसे भावना चेतती है, वैसे-वैसे भाषा, गति, आवेश, मुद्राविकार और अभिनय यथावत् सहज प्रकट होने लगता है। परंतु यह तन्मयता जिस भाषा से यथावत् प्रकट होनी है, उस भाषा पर अधिकार होना चाहिए। उस भाषा के शब्द, अलंकार, वचन आदि सब भावना के पीछे-पीछे—अश्व के पीछे चलनेवाले पहिए की तरह सत्वर, सलिल और सहज दौड़ने चाहिए। मैंने बचपन से अनेक कविताएँ, सुभाषित आदि कंठस्थ किए थे। जिस ग्रंथ से मिले, उससे उत्तम-उत्तम वाक्य, वाक्य-समूह मिलते ही लिख लिये थे और अपने निबंधों में उनका यथोचित उपयोग करने का प्रयास मैं करता रहता था। विशेषत: गद्य लिखते समय गद्य को न तोड़ते हुए उसीके प्रवाह में कविताओं के उद्धरणों का अंतर्भाव करने की रुचि मुझमें अधिक ही थी।

भावना, भाषा-शैली, अभिनय-गति आदि से भाषण खिल जाता है, यह बात सत्य होते हुए भी उसे वास्तव में परिणामकारी, प्रबल और दुर्जेय करना हो तो मुख्यत: उस विषय का ज्ञान होते हुए भी अन्य अनेक विषयों की जानकारी का बड़ा संग्रह पास में रहना चाहिए। मैं सोचता हूँ कि मेरे भाषण का जो अमोघ परिणाम

लोगों पर होता था, उसका कारण उस प्रसंग, आयु और विषय की तुलना में सहायक मेरे ज्ञान का बड़ा भंडार ही था। लिखने बैठता, तब 'क्या लिखूँ' की चिंता में कलम का अंतिम सिरा मुँह में डालकर चूसते रहनेवाली स्थिति मेरी कभी नहीं होती थी, उलटा यह होता कि कलम की नोक पर विषय जमघट और धक्का-मुक्की करने लगते थे। उनमें से किसे आगे बढ़ने दूँ और किसे पीछे रहने दूँ, ऐसे चौकीदार की भूमिका ही मुझे करनी पड़ती थी। इन सबका कारण बचपन से विविध विषयों का अथक वाचन, चिंतन और निरीक्षण था।

सारांश यह कि मेरी भाषण-कला की प्रतिभा का तेजस्वी आधार प्रकृतिप्रदत्त ही था। प्रकृतिप्रदत्त प्रतिभा भी अधिकतर प्रयासपूर्वक विकसित होती है और इस दिशा में मैंने अध्ययन, वाचन, चिंतन आदि प्रयत्नाधीन गुणों का संग्रह नित्य ही किया। इसलिए मेरे भाषण में जो ठोस, प्रबल और अजेय परिणाम दिखता है, वह उसीका प्रतिफल है।

संक्षेप में यह कि भाषण-कला के लिए कुछ आवश्यक घटक यद्यपि मुझमें प्रकृतिप्रदत्त ही थे, फिर भी उनका विकास कर, उसे परिशोधित कर, उसे कला का लालित्य प्राप्त कराने के लिए मैंने पूरे प्रयास भी किए। यह बात सच है कि ज्ञान-साधना मैंने ज्ञान-प्राप्ति के लिए ही की थी। व्याख्यानों में जो उसका उपयोग हुआ, वह दूसरा लाभ था। यहाँ यह भी कहना प्रासंगिक होगा कि जैसे काव्य-कला सिखानेवाला बचपन में कोई नहीं मिला था, वैसे ही भाषण-कला का मार्ग प्रदर्शन करानेवाला भी कोई नहीं मिला। इतना ही नहीं, इन दोनों में सहानुभूति से प्रोत्साहन देनेवाला भी कोई नहीं मिला। इसके विपरीत मेरे समवयस्कों ने अपने अरसिक अज्ञान के कारण और समकालीन प्रौढ़ों ने मत्सर भावना से मेरा मनोभंग तथा तेजोभंग करते रहने का ही प्रयास किया। परंतु इस संघर्ष से सुप्त अग्नि की चिनगारियाँ अधिक तेजी से उड़ने लगीं। किशोर वय के बाद भी भाषण-कला की अभिरुचि के कारण मैं डिमास्थेनीस, सिसरो, शेरिडन आदि अंग्रेजी मराठी चरित्रों का और लेखों का अध्ययन करता रहा। कई उद्धरण निकालकर कंठस्थ किए। मैकाले द्वारा लिखित अंग्रेजों के इतिहास की कई व्याख्यान-उपयोगी कंडिकाएँ मैंने बड़े चाव से कंठस्थ की थीं। महाभारत के श्रीकृष्ण के सभापर्व और कर्णपर्व में दिए अमोघ ओजस्वी भाषण मैंने गद्य और पद्य—दोनों में बार-बार पढ़े। मैं स्वयं को ही वे सब सुनाता। मुझे वे बहुत प्रिय थे। उन संभाषणों का हर गुण—उसमें वर्णित कोटिक्रम, तर्क-वितर्क, वह अधिकार, वह भाषा, वह तेज, वह प्रभाव, वह प्रकाश मुझे प्रभावित करता। निस्संदेह श्रीकृष्ण जैसा वाङ्मयी तो केवल श्रीकृष्ण ही था।

मेरे उपर्युक्त प्रथम सार्वजनिक भाषण को अर्थात् मेरे वय के संदर्भ में

जिन्होंने उसे बहुत सराहा, उनमें नासिक के एक आशु कवि, तिलक महाराज के अनन्य भक्त, वहाँ के नेता और वकील बलवंत खंडूजी पारख थे। इस भाषण के कारण उनसे मेरा परिचय हुआ। वे मेरे पिताजी के भी परिचित थे। अत: 'मैं भगूर के सावरकर का पुत्र हूँ' यह जानकर उन्होंने मुझे अतिरिक्त स्नेह दिया। रास्ते में मिल जाते तो मेरे सिर पर प्यार से हाथ फेरते। अपने साथ चल रहे किसी नेता या वकील से कहते, 'यही हमारे मित्र सावरकर का लड़का है। अच्छा, वत्स सावरकर! यह नाम सार्थक करना। जिसका कर (हाथ) गिरते राष्ट्र को सँवारे (सावर का मराठी अर्थ 'सँवारना' ही है), ऐसा सावरकर तू बन।' पारखजी शब्दों के जादूगर थे, बड़े हँसानेवाले वक्ता थे। आशु कवि भी ऐसे कि घटना घटते-घटते उसका आँखों देखा हाल छंदोबद्ध सुनाते जाते। मराठी काव्य का फटका (फटकार) रूप उनको विशेष प्रिय था। अन्य श्लोक जैसी कविताएँ भी वे करते थे।

उनके हास्यमूर्ति होने के कारण पंगतों, बैठकों, सभाओं आदि में उनकी उपस्थिति की चाह सभी को होती थी। उनकी उपस्थिति से अदम्य हास्य का झरना मानो बहता रहता था।

जब मैं नासिक आया तो मुझे अपनी राजनीतिक बौद्धिक प्रवृत्ति का कोई साथी नहीं मिला था। अत: मुझे अकेलेपन की भावना बहुत सताती थी, पर कुछ समय ऐसे निकल जाने के सात-आठ माह बाद ही मैं नासिक के प्रथम श्रेणी के नागरिकों तक से परिचित हो गया। इस कारण मुझे पहले जिनके बीच रहना पड़ा था, उन अज्ञ, अनाड़ी और ऊधमी लड़कों पर भी मेरा दबदबा बन गया। उनमें भी मेरी संगति से मेरी ही प्रवृत्तियाँ धीरे-धीरे विकसित होने लगीं और एक संप्रदाय का बीज अंकुरित होने लगा। इसी समय घर बदलकर तिलभांडेश्वर की गली में वर्तक के मकान के एक कमरे में हम रहने लगे। भोजनालय चालू ही था। इस स्थान पर जिन लोगों से मेरा सरोकार हुआ, वे उस पहले स्थान से अधिक अच्छे स्वभाव, योग्यता और प्रवृत्तिवाले थे। मेरे चरित्र-प्रवाह के कितने ही महत्त्वपूर्ण प्रसंगों और काल से इसी मंडली का बार-बार संबंध आनेवाला है। इसलिए उनके स्वभाव, चरित्र आदि का वर्णन यहाँ नहीं कर रहा हूँ।

प्लेग का प्रकोप

भगूर जाना-आना होता ही रहता था। मुझे चेचक निकल आई तो मैं बहुत दिनों भगूर में ही रहा। बंबई और पुणे में प्लेग का जो दु:खद प्रकोप हुआ, ये वही दिन थे। प्लेग के भयानक स्वरूप और उससे भी अधिक भयानक प्लेग निवारणार्थ सरकारी दमनशाही के वर्णन लोगों को 'केसरी' में पढ़ने के लिए मिलते थे। मेरे

पिताजी मुझसे 'केसरी' का वाचन करवाते थे। उसे सुनने गाँव के बहुत सारे लोग हमारी बैठक में आते थे। जिसे आज प्लेग लगा, वह कल चला गया। घर में एक आदमी को प्लेग होते ही देखते-देखते सारा घर मानो अग्नि की भेंट चढ़ जाता। घर में पाँच-छह लाशें बिछ जाएँ तो कौन किसको उठाए। बाड़े, गली-मोहल्ले, सब जगह कराहने की आवाजें, भागमभाग, रोना-धोना। जो आज दूसरों की लाश उठाते, वे ही दूसरे दिन प्लेग-पीड़ित हो जाते और तीसरे दिन उनका शव कोई तीसरा ढोता। ऐसे में कौन किसका शव उठाए? बच्चे माँ-बाप के शव बिना उठाए भाग जाते। वैसे ही बच्चों के शवों को छोड़कर माँ-बाप भाग जाते। घर में शव है, यह जानते ही सरकारी सिपाही घर में घुस आते। घर शुद्ध करने के बहाने उसे नष्ट करते, लूटते। बचे हुए लोगों को सेग्रेशन-शिविरों में कैद रखा जाता, पर वहाँ भी प्लेग पीछा नहीं छोड़ता, पहुँच ही जाता। घर-द्वार, गली-मोहल्ले में फैले दैवी प्लेग के साथ फैले राजनीतिक प्लेग के भयंकर वर्णन पढ़-सुनकर लोगों के हृदय कंपित हो उठते।

बंबई तथा पुणे में फैले प्लेग के कहर के वर्णन पढ़-सुनकर जिनके शरीर के रोंगटे खड़े हो जाते थे, हमारी बैठक में बैठनेवाले हम भगूर के लोगों में से कई उसी प्लेग के शिकार होनेवाले हैं, वह घर और गाँव भी उजाड़ हो जानेवाला है, यह तब किसे पता था। पुणे में लोग कैसे मरते हैं, यह सुनकर घबरा जानेवाला हर श्रोता—एक-दो अपवाद छोड़कर—उस प्लेग में मर गया। उस एक-दो अपवाद में एक अपवाद मैं स्वयं था। मैं कथावाचक अकेला ही उस कथा को पढ़ने-सुनानेवालों में बचा रहा।

वीर चापेकर और रानडे

बात-बात में हिंदुस्थान भर में आँधी में आग की तरह प्लेग फैल गया। प्लेग-निवारण का सरकारी डंडा भी उसी तरह उसके पीछे-पीछे चला। जगह-जगह दंगे भी हुए, परंतु प्लेग की या प्लेग-निवारक अत्याचार की आँखें न खुलीं। पुणे में तो स्थिति बहुत ही बुरी हुई। सिपाहियों की धींगामुश्ती, बूटों से ठोकर मारना, घर गिराना, जलाना, देवगृह में रखी मूर्तियाँ भी फेंक देना, मरते पति से पत्नी को और माँ से बच्चे को जबरन खींचकर सेग्रेशन के कारावास में भेज देना—इन प्लेग-निवारक टोलियों की धींगामुश्ती दैत्यों के ये अत्याचार सभी लोगों को असह्य और त्रासद लगने लगे। इसका बदला लेने के लिए सन् १८९७ के जून में चापेकर बंधुओं ने रैंड और आयर्स्ट नामक दो अंग्रेज अधिकारियों का वध उनकी तेज दौड़ती बग्घी पर चढ़कर गोली मारकर, कर दिया। यह वध उस रात में किया गया, जिस रात से

सरकारी तौर पर महारानी विक्टोरिया का हीरक उत्सव मनाया जाना था। गोली शासन के मर्म पर लगी। साहसी विद्रोह का अंत:स्थ उद्देश्य सफल हुआ, पर सरकार पागल हो गई। विलायत तक पुणे के ब्राह्मणों का द्वेष और दहशत पहुँच गई। सरकार की रावणी गर्जनाएँ होने लगीं। पुणे के नेताओं की पीठ पर बीच चौक पर बेंत मारने होंगे, ऐसी बातें कही जाने लगीं। उसे उतना ही निडर प्रत्युत्तर 'केसरी' ने दिया। उसने अपने संपादकीय में पूछा—'सरकार का दिमाग तो ठिकाने पर है?' तिलक पकड़े गए। पुणे के दूसरे प्रमुख नेता नातू को सीमा-पार का दंड सुनाकर कारावास में रखा गया। राष्ट्रीय विचारों के अन्य पत्रों के संपादक भी बंद कर दिए गए।

दामोदर पंत और बालकृष्ण पंत चापेकर पकड़े गए। उनके द्वारा प्राप्त जानकारी ने तो आग में घी का काम किया। हिंदुस्थान से ब्रिटिश सत्ता का नामोनिशान मिटाने के लिए चापेकर बंधु वासुदेव बलवंत फड़के के रास्ते पर ही चलने का इरादा रखते थे। ध्येय की उतनी स्पष्टता या षड्यंत्र या कार्यक्रम की व्यापकता इनके पास अभी नहीं थी, पर बंबई स्थित रानी विक्टोरिया की प्रतिमा के मुँह पर कालिख पोतने, उसे जूतों की माला पहनाने आदि राजद्रोही कार्य उन्होंने इसके पहले ही किए थे। इन सब अपराधों के लिए उन्हें फाँसी दी गई। इस समाचार से पूरा देश दुःखी था। तभी दस हजार रुपए लेकर सरकार को चापेकर बंधुओं का नाम बतानेवाले द्रविड़ बंधुओं को चापेकर के तीसरे भाई वासुदेव और उसके एक मित्र रानडे ने दिनदहाड़े पुंणे में मार डाला। इस समाचार से पूरा देश कंपित हो गया। उन्हें भी फाँसी पर चढ़ाया गया, परंतु चापेकर बंधुओं और रानडे को फाँसी दिए जाने के साथ ही उन प्लेग-निवारक नियमों को भी, जिनके कारण लोगों को असह्य कष्ट हुए और जिसका बदला लेने के लिए ही इन तरुणों ने वह अद्‌भुत भीषण कर्म किया, फाँसी पर चढ़ा दिया गया। वे सारे सिपाही भी पुणे से हटा लिये गए। वह कष्टकारी दमनशाही बंद हुई। यदि उपर्युक्त भीषण प्रतिक्रिया के पहले ही वह बंद कर दी जाती, तो? परंतु नहीं की गई। प्रतिक्रिया के बाद ही वह अप्रिय क्रिया हुई। ऐसा ही संयोग बना!

उपर्युक्त अति अद्‌भुत लोमहर्षक घटनाएँ लगातार और इतनी द्रुत गति से घटित हुईं कि मृत शरीर में भी उनके धक्कों से रक्त-संचार की गति तीव्र हो गई होगी। सारा देश अत्याचार से क्रुद्ध हो गया। फिर स्वदेश को स्वतंत्र करने के लिए मुझ जैसे पहले से बेचैन और शिवाजी तथा अन्य पौराणिक वीरों के रंग में रँगे युवक की तो बात ही क्या की जाए?

उपरोक्त घटनाओं का वर्णन मैंने जिन शब्दों में किया है, वास्तव में ये शब्द उन भावों के शतांश भी नहीं हैं जो उक्त घटनाक्रम को पढ़ते हुए मेरे मन में उठते रहे थे।

चापेकर-रानडे का मुकदमा, दंड, फाँसी आदि के वर्णन पढ़ते-पढ़ते समाचारपत्र के अंक मेरी आँखों से झरते आँसुओं से भीग जाते। अन्य कई लोग उनके साहस की प्रशंसा तो करते, पर उनका नाम लेना तो दूर, उन नामों को सुनते हुए भी थरथराते थे। समाचारपत्रों में भी उनके लिए गालियाँ ही लिखी होतीं। उन्हें वे 'देशद्रोही', 'कुल-कलंक' और न जाने क्या-क्या कहते! मैं इससे बहुत उदास और संतप्त हो जाता। मैं खुले रूप से उनका समर्थन करता और उन्हें 'वीर' (शहीद) कहता (तब तक 'हुतात्मा', 'देशवीर' आदि शब्द प्रचलित नहीं थे)। मुझे स्वभाषा की यह कमी बड़ी खलती थी। मैंने उसके लिए अनेक शब्दों की खोज की, परंतु बात बनती नहीं थी। जब मैजिनी के चरित्र का अनुवाद मराठी में किया, तब मैंने नेशनल 'मारटायर' के अर्थ में 'देशवीर' शब्द निश्चित किया। परंतु यह शब्द 'मारटायर' जैसा व्यापक नहीं था। इसलिए मैं बदल-बदलकर धर्मवीर, देशवीर, शास्त्रवीर आदि शब्दों का प्रयोग करता था। उत्तर भारत में प्रचलित 'शहीद' शब्द का भी प्रयोग मैंने किया था, परंतु वह शब्द अरबी भाषा का है, ऐसा ज्ञान होते ही उसका प्रयोग छोड़ दिया। अंदमान के कारागृह में अपने भाई से चर्चा करते समय मुझे 'हुतात्मा' शब्द सूझा और निश्चित ही वह 'मारटायर' शब्द से अधिक उपयुक्त, व्यापक और पवित्रतासूचक होने के कारण मुझे पसंद आ गया और मैंने उसे प्रचलित भी किया।

'केसरी' में उन्हें 'पागल', 'सिरफिरे' कहा जाता—उसे पढ़कर मन कड़वाहट से भर जाता। साभान्य लोगों में 'केसरी' के शब्द ज्यों-के-त्यों, बिना उनके अर्थ पर ध्यान दिए रूढ़ हो जाते थे। इसलिए मैं इन शब्दों का तीव्र विरोध करता था। मैं कहता—वे सिरफिरे, तो तुम मुर्दा। सिरफिरों से ही शत्रु अधिक डरता है। दंडसंहिता के भय से भी उन्हें 'सिरफिरे' कहने की आवश्यकता नहीं थी। दंड के भय से उन्हें 'अच्छे' मत कहो, पर गाली-गलौज क्यों करते हो? लोग अपनी कायरता ढकने के लिए उन्हें 'पागल' या 'सिरफिरे' कहते हैं, जबकि ऐसे ही कृत्य करनेवाले अंग्रेजों, रूसियों, आइरिशों को यही समाचारपत्र और यही लोग 'वीर', 'शहीद' आदि कहकर उनका सम्मान करते थे। ऐसा करने में उन्हें इंडियन पैनल कोड का डर नहीं लगता था।

इसी समय नाटकों में जाने के लिए घर से भागे पुणे के कुछ लड़के एक दिन हमारे घर में घुस गए। गणपति उत्सव में गाए जानेवाले कुछ वीर रसपूर्ण गीत मैंने पहली बार उनसे सुने। चूँकि वे पुणे के थे, इसलिए मैं और भगूर के मेरे मित्र उनसे चापेकर बंधुओं के बारे में अधिकाधिक पूछताछ करते और समाचारपत्रों द्वारा उनको गालियाँ देने की बातों पर लोगों को धिक्कारते, पर उनमें से दो प्रमुख लड़कों लवाटे

और अण्णा ने एक दिन बड़े गोपनीय ढंग से हमें बताया कि यद्यपि तिलकजी 'केसरी' में चापेकर को गालियाँ देते हैं, पर असली बात यह है कि तिलकजी ने ही उन्हें रैंड का खून करने का आदेश दिया था। मुझे मेरे पिता ने यह बात कह रखी थी कि पुणे के लोग बेढंगी गपें हाँकने में प्रवीण होते हैं। वे बात को इस ढंग से कह रहे थे, मानो उस सारे षड्यंत्र के बहुत निकट हों। फिर भी वह समाचार मुझे अच्छा लगा। मैंने मन-ही-मन कहा—ऐसा है तो तिलक जैसे वीर केसरी ने वीर केसरी के अनुरूप ही यह कार्य किया है, पर तुरंत ही लगा, यदि ऐसा है तो 'केसरी' तथा अन्य पत्रों द्वारा चापेकर आदि को 'सिरफिरे' आदि कहना और अधिक अक्षम्य तथा निंदास्पद है। राष्ट्र-कार्य के लिए चापेकर से अपना संबंध अस्वीकार करना, यह युक्ति तिलक जैसे नेता को, वीर सेनापति को, बचाने के लिए प्रयोग करने की छूट हो सकती है। पर यह महान् कार्य है, ऐसा कहकर उस महान् कार्य को करने के लिए पहले स्वयं युवा क्रांतिकारियों को उत्प्रेरित करना और उन वीरों द्वारा उसे कर डालने के बाद अपनी चमड़ी बचाने के लिए टोपी बदलकर उसी कृत्य के लिए उन्हें 'सिरफिरे', 'पागल' कहना, इससे अधिक लज्जास्पद तथा राष्ट्रद्रोही मूर्खता दूसरी और क्या हो सकती है; क्योंकि उन्हें 'सिरफिरा', 'पागल' कहने के बाद दूसरा कोई भी युवा ऐसा करने को मूर्खतापूर्ण मानकर डरेगा और वकील, न्यायमूर्ति, हाइकोर्ट का जज आदि बनना ही उसे देशभक्ति का मृतप्राय, परंतु बड़ा सभ्य और उचित मार्ग लगेगा तथा शत्रुंजयी बलिदान का जीवंत मार्ग पागलपन लगेगा। परिणामत: चापेकर के तेज से चेतना पा रही शत्रुंजय वीरवृत्ति फिर से ठंडी होकर रह जाएगी।

और यह अंतिम विचार ही मुझे बेचैन करने लगा। चापेकर और रानडे अपने देश पर होते अत्याचार का बदला लेते हुए फाँसी पर चढ़ गए। जाते-जाते यदि अपनी प्राण-ज्योति से प्रज्वलित शत्रुंजयवृत्ति के यज्ञ-कुंड में एक के बाद एक समिधा डालते हुए उसे ऐसे ही प्रज्वलित रखना और अंत में स्वतंत्रता के एक महायुद्ध में परिवर्तित करना हो तो यह दायित्व मेरी सीमा तक मुझपर भी क्यों नहीं है? चापेकर का कार्य कोई एक तो आगे बढ़ाए—यदि ऐसा है तो फिर वह मैं क्यों न करूँ, मैं भी उस होमकुंड की समिधा क्यों न बनूँ?

स्वतंत्रता-संग्राम की शपथ

वासुदेव चापेकर और रानडे फाँसी पर चढ़े—अर्थात् एक नाटक का अंतिम दृश्य संपन्न हुआ। यह समाचार मैंने समाचारपत्र में पढ़ा। वे फाँसी के पहले, रात्रि में बड़े सुख से सोए। भोर में उठे, गीता-पाठ किया और 'नैनं छिंदति शस्त्राणि' की गर्जना करते-करते एक-दूसरे के गले मिले और फाँसी पर चढ़ गए। यह सारा वर्णन

जब पढ़ा, तब से कुछ दिनों तक उपर्युक्त सारे प्रश्न रात को नींद में भी मुझसे उत्तर चाहते हुए मुझे सताते रहे। दो-चार दिन इसी अवस्था में बीत जाने के बाद अंत में मैं अपने बचपन के आधार, संकट में समाधान करनेवाली देवी माता, जिससे मैं अपने सुख-दुःख कहता था और जिसे सुनाने के पश्चात् मुझे सदैव एक बोझा उतर जाने जैसी अनुभूति होती थी, की ओर दौड़ा। पूजाघर में गया। बड़े भक्ति-भाव से उसकी पूजा की। स्वदेश की दुःस्थिति से बेचैन अपने मन की सारी व्यथा उसे सुनाई और उसके चरणों पर हाथ रखकर उसे साक्षी मान और उन दिनों जैसा आभास मुझे होता था, तदनुरूप उसकी अनुमति लेकर मैंने प्रतिज्ञा की कि अपने देश की स्वतंत्रता के लिए मैं सशस्त्र युद्ध में चापेकर की तरह ही मर जाऊँगा या शिवाजी जैसा विजयी होकर अपनी मातृभूमि के सिर पर स्वराज का राज्याभिषेक करवाऊँगा!

हमारे नए घर के छोटे, परंतु सुंदर देवगृह में सुगंधित फूलों का परिमल भरा हुआ है, घी का दीप नीरांजन में मंद-मंद जल रहा है। धूपबत्तियों का मादक-सर्पाकृति धुआँ, कुसुमों के कोमल परिमल में गुँथा जा रहा है। महिषासुर पर पाद-प्रहार करनेवाली, सिंहासनारूढ़, अष्टभुजा, जिसके आठों हाथों में नंगे शस्त्र हैं, उग्र परंतु मेरी ओर सुहास्य मुख से देखती हुई वह सुंदर देवी-मूर्ति देवगृह में विराजमान है—उसके सामने उस पुण्यमय वातावरण में मैंने प्रतिज्ञा की—मैं अपने देश की स्वतंत्रता वापस प्राप्त करने के लिए सशस्त्र क्रांति की पताका खड़ी कर—मारते-मारते मर जाने तक लड़ूँगा।

उस छोटे से देवगृह में अपने पंद्रह वर्ष के वय में मैंने देवी के चरणों को अपने हाथों से बड़े समर्पण भाव से स्पर्श करते हुए यह प्रतिज्ञा की। वह जो छोटी चिनगारी उड़ी—आगे भविष्य में उसकी कितनी प्रदीप्ति होनेवाली थी! कितना रक्तपात, घात-प्रत्याघात, वध, फाँसी, वनवास, अत्याचार, यश और अपयश, दौरात्म्य और हौतात्म्य, प्रकाश और अंधकार, अग्नि और धुएँ के बादल—ऐसा जो कुछ होनेवाला था, उसका अति सूक्ष्म रूप उस संकल्प (प्रतिज्ञा) की चिनगारी में छिपा हुआ था। एक भयंकर तूफान उस प्रथम चिनगारी में समाया हुआ था। अब भूतकाल की दूरबीन से अपने जीवन की घटनाओं पर नजर डालता हूँ तो स्पष्ट दिखता है कि पूरे हिंदुस्थान में जिसका डंका बजा, उस 'अभिनव भारत' की क्रांतिकारी संस्था का उदय उसी संकल्प में से हुआ। यह मेरी प्रतिज्ञा ही 'अभिनव भारत' का मूल थी—यही बीज था। वह सन् १८९८ का वर्ष था।

परंतु उस समय उस व्यापक भविष्य की कल्पना किसे हो सकती थी? फिर भी अपना जीवन बदल डालनेवाली कोई महत्त्वपूर्ण बात मैंने अपनी सीमा तक ही की है—इसका एक दृढ़ संस्कार जो उस दिन जाग्रत हुआ, वह कभी भी मंद नहीं

पड़ा। वह दिन, वह घटना, लिखकर दिए हुए किसी ऋण-पत्र की तरह मेरे मन में नित्य अनुभूत होते रहे हैं।

स्वयं द्वारा रचे जा रहे पूर्वोल्लिखित ग्रंथ 'देवीदास विजय' में मैंने यह घटना छंदोबद्ध लिखी। मेरे उस निश्चय को बल प्राप्त हो, इसके लिए बहुत आर्तता से देवी की विनती भी मैंने की। परंतु अपने मन में प्रज्वलित हुई वह चिनगारी मैंने जैसे ही उन कागजों पर उतारी, मेरा बचपन का वह खिलौना जलकर भस्म हो गया, क्योंकि छह-सात वर्ष बाद ही क्रांतिकारी षड्यंत्र के आरोपों के अधीन सरकारी कोप की बिजली जब हमारे तरुण मंडल पर गिरी, तब मेरे मित्रों को वे सारे साक्ष्य जलाकर राख करने पड़े, जो घर की तलाशी में प्राप्त होने पर उल्लिखित क्रांति की प्रतिज्ञा में षड्यंत्र का पक्का साक्ष्य बन सकते थे।

भगूर में क्रांतिकारी विचारों का प्रसार करने के लिए तथा लोकमान्य तिलक और चापेकर-रानडे का खुला सम्मान करने के लिए मैंने तत्काल एक एकांकी लिखा। नाटक लिखने का यह मेरा प्रथम प्रयास था। हमारे गाँव के राणू दरजी आदि की नौटंकीवालों ने उस एकांकी को मंच पर लाने की तैयारी शुरू कर दी थी। तभी कुलकर्णी पटेल ने उनके कान फूँक दिए। फलत: उस एकांकी की इतिश्री हो गई।

उस समय मैं एक काव्य भी लिख रहा था। उसका भाग्य अवश्य दूर तक फैलने का और बहुत सफलता पाने का था। वह काव्य था—चापेकर का फटका। वह फटका कम-से-कम सन् १९१० तक तरुणों के रक्त को गरमाते हुए और चापेकर की स्मृति जाग्रत रखते हुए, गुप्त और प्रकट, महाराष्ट्र भर में गाया जाता रहा। मेरे दो सहकारी श्री म्हसकर और श्री पागे उसको छपवाना चाहते थे। उन्होंने उसके लिए बहुत प्रयास किए। उसे छापने योग्य बनाने के लिए उसकी ज्वलनशील भाषा बहुत सौम्य और द्विअर्थी अर्थात् एकाएक क्रांतिकारी न लगनेवाली, परंतु क्रांति की विरोधी भी नहीं, ऐसी बनाई गई—फिर भी उसे छापने का साहस कोई नहीं कर सका, क्योंकि उस समय चापेकर का नाम ही किसी क्रांति के समान सरकार और जनता को भयावह लगता था, राजद्रोही समझा जाता था। फिर भी घर-घर में, पाठशाला-विद्यालयों में, बैठकों में, उपाहारगृहों में, सभाओं में वह चापेकर का फटका तरुण, प्रौढ़ स्त्री-पुरुषों में बहुत प्रिय था। जब कभी मैं स्वयं ही उसे गाकर सुनाता, तब मेरी वृत्ति इतनी उच्च्व हो जाती कि मेरे बाहु कंपित होने लगते। मेरा और सुननेवालों का कंठ भर आता। आवेश और शोक की भावना में देह का मान क्षण भर को बिसर जाता।

इस समय मेरे विचारों का यह क्रांतिकारी रुझान देखकर और मेरे कदम उस ओर बढ़ते देखकर मेरे पिता को एक अलग ही चिंता सताने लगी। सच तो यह है कि

उन्होंने ही मुझमें बचपन से देशप्रेम, काव्य, इतिहास और लोकमान्य तिलक की राजनीति में रुचि जगाई थी। मेरे इन गुणों को वे परिपुष्ट करना चाहते थे और मन-ही-मन मेरे कर्तृत्व का अभिमान भी रखते थे। परंतु लोकमान्य तिलक की राजनीति के भी आगे कदम बढ़ाने की प्रवृत्ति मेरी होने लगी—मैं अल्प वय में ही अंग्रेजों को मारने और विद्रोह करने की बातें बोलने लगा—रात-रात भर एकांत में जागने लगा और मेरी मुद्रा पर एक अकालिक चिंता तथा गंभीरता दिखने लगी, तब वे कुछ भयग्रस्त हो गए—मेरे जीवन को यह भयंकर दिशा प्राप्त हो जाने से मेरे प्राण-संकट के भय से वे बेचैन हो गए। एक दिन वे आधी रात में सहज भाव से बँगले में आए। मैं कोई कविता गुनगुना रहा हूँ और उसमें पूरा खो गया हूँ—गाल पर आँसू की बूँदें हैं, नेत्र किसी अदृश्य चित्र की ओर टकटकी लगाए हुए हैं, ऐसा दृश्य उन्होंने देखा। उन्होंने धीरे से मेरा स्पर्श किया और 'क्या है रे?' कहकर मेरे सामने का कागज उठाया। चापेकर पर रचित पोवाड़ा—उसके कुछ चरण उन्होंने देखे, पढ़े—मुझे बड़ी ही शाबाशी दी। फिर मेरा मुँह अपनी दोनों हथेलियों में संपूर्ण वात्सल्य से लेते हुए वे बोले, 'तात्या, अभी तू कच्ची-कोमल आयु का है रे—तेरी देह भी सुकुमार है—ये विचार और मार्ग भयंकर तथा कठोर है! मस्तिष्क में अतिशय तनाव पैदा करनेवाले इस विषय की ओर मत बढ़। अपने परिवार की आशा का एकमेव केंद्र तू ही है। मेरी द्वारका का सहारा तू ही एक स्तंभ है। इस घर का उद्धार भी करेगा तो तू ही। इसलिए अपने प्राण संकट में मत डाल। तुझे इस मार्ग के भयंकर परिणामों की कल्पना नहीं है। कविता करना चालू रख, पढ़-लिखकर बड़ा बन, फिर जो मन में आए, वह कर।' मैं सुनता हुआ चुप बैठा रहा, पर मन-ही-मन कहा—'चापेकर के परिणाम से और भयंकर क्या होगा? वह भोगने के लिए हम तैयार ही हैं।'

उसके बाद से 'गरमी लगती है' यह कहते हुए मैं बँगले में झूले पर अकेला सोने लगा। जब सब सो जाते, तब उठकर कविता करता। दिन में जैसे उस विषय को भूल ही गया हूँ, मैं अन्य वाचन, लेखन-चर्चा किया करता। कभी-कभी इसी स्थान पर सोते हुए कविता के कुछ चरण जुड़ जाते। सुबह उठते ही मैं उन्हें कंठस्थ कर लेता।

पुणे में प्रवेश

संयोग ही रहा कि इसी वर्ष के आगे-पीछे मैंने पहली बार पुणे देखा। मेरी भाभी के एक भाई का विवाह कर्जत में था। मैं और बाबा—दोनों इस विवाह के लिए कर्जत गए थे, पर किसी कारणवश यह विवाह आठ दिन के लिए स्थगित हो गया। इसका लाभ उठाकर हम दोनों भाई पुणे देखने पहुँचे। मेरे भावी ससुर

श्री भाऊसाहब चिपळूणकर के परिवार से हमारा घनिष्ठ परिचय पहले से ही था। अत: हम जव्हार के बाड़े में पहुँचे थे। हमारे साथ आए लोगों में से किसीकी नजर कहीं तो किसीकी कहीं थी, पर मेरा सारा ध्यान शनिवार बाड़ा की ओर ही लगा था। मराठा बखरों (ऐतिहासिक अभिलेखों) का जो अध्ययन मैंने किया था, उसके कारण पुणे को देखे बिना भी वह मेरे परिचय का था। मैंने न जाने कितनी रातें मन-ही-मन पुणे में बिताई थीं। शाइस्ता खान जिस बाड़े में ठहरा था, वह बाड़ा; जिस रसोईघर के रास्ते उस खान पर हमला करने वह सिंहगढ़ का सिंह घुसा था, वह रसोईघर; पर्वती नामक टेकरी पर नाना साहब पेशवा चिंतित हो कहाँ बैठे थे, वह स्थान; सवाई माधवराव का सारा रंग जिन रास्तों से होकर बह गया, वे रास्ते; वह दुर्दैवी फव्वारा, जिसपर कूदकर सवाई माधवराव घायल हुआ था, वह नाना फड़नवीस का बाड़ा, वह दिंडी (दरवाजा) जिसमें से जल्दबाजी में निकलते हुए (माधवराव के घायल हो जाने का समाचार सुनकर) नाना फड़नवीस गिरे थे। एक-दो नहीं, पुणे के हजारों स्थान देखने की मेरी इच्छा थी, पर मेरे साथ के सब बड़े लोग इस संबंध में पूरे उदासीन थे। उन्हें पुणे में केवल ताबूत देखने थे। मुझे छोटा समझकर कहीं जाने भी नहीं देते थे। मुझे स्वयं भी रास्ते में खो जाने का डर लगता था। फिर भी शनिवार बाड़ा और पर्वती देखी। मैं इन दोनों स्थानों से हटना ही नहीं चाहता था—उन स्थानों का माहात्म्य कहना चाहता था, पर सुनने को कोई राजी ही नहीं था। सब लोग 'चलो-चलो' करनेवाले थे। पेशवाई के संबंध में रुचि की यह दशा, तो आजकल के वासुदेव बलवंत-चापेकर-रानडे के विषय में क्या कहा जाए? वहाँ मुझे सिवाय दो-तीन गप्पी लोगों के, कोई न मिला। मुझे लगता था कि पुणे में पैर रखते ही मुझे तिलक-चापेकर के सिवाय कुछ और सुनाई नहीं देगा। रास्तों में इन्हींकी चर्चा सुनने को मिलेगी। देखा तो उलटा—मैं जहाँ-जहाँ गया, वहाँ-वहाँ हमारे यहाँ आनेवाले लोग उन दो नामों को टालकर ही—जो बोलना था—बोल रहे थे। इतना ही नहीं, चापेकर को गाली देनेवाले लोग भी पुणे में मिले! मेरी अपेक्षा से तो यह विपरीत निकला। पर पुणे देखकर मुझे जो आनंद आया, उसे कैसे कहूँ? ऐसा लगा कि सदैव शनिवार बाड़ा की ओर ही रहें।

पाँच-छह दिन बाद ही हम विवाह हेतु कर्जत वापस लौट आए। कर्जत आते ही मुझे ज्ञात हुआ कि पड़ोस के ही दहिवेली गाँव में वाद-विवाद प्रतियोगिता है। मैंने तुरंत भाषण देने की तैयारी शुरू कर दी। दो-चार दिन में मैंने निबंध लिखकर उस आधार पर समारोह में भाषण दिया। मुझे प्रथम घोषित किया गया। अध्यक्ष ने पुरस्कार बाँटते समय मुक्त कंठ से मेरे भाषण की प्रशंसा तो की, पर कहा—इस वय का प्रतियोगी ऐसा निबंध और ऐसी भाषा लिख सकेगा, ऐसा मुझे लगता नहीं। वह

निबंध किसी और का लिखा हुआ है, परंतु प्रथम पुरस्कार इसी बालक को दिया जा रहा है, क्योंकि निबंध चाहे किसीने लिखा हो, पर उत्कृष्ट भाषण इसी लड़के ने किया है। इस आयु में ऐसा भाषण निर्विवाद रूप से सराहनीय है।

उनके इस कथन से मुझे विषाद ने आ घेरा। मैंने तत्क्षण खड़ा होते हुए कहा, 'निबंध मैंने ही लिखा है और लिखते समय मुझे अनेक लोगों ने देखा है। मेरे बार-बार ऐसा कहने पर भी व्यवस्थापकगण इस निबंध को मेरा नहीं मान रहे, इस हठ के पीछे क्या है—यही कि मेरी आयु छोटी है। मेरी बात छोड़ दें, पर इसी न्याय से सोचें तो ज्ञानेश्वर ने ज्ञानेश्वरी ग्रंथ लिखा था, यह बात भी झूठी कही जाएगी। गुणाः पूजास्थानम् गुणिषु न च लिंगम् न च वयः।' इतना कहकर मैं बैठ गया। सभा क्षण भर के लिए अचंभित हो गई। अध्यक्ष मेरी बात से कुपित हो उठे और 'इसने छोटा मुँह बड़ी बात की है' कहकर झुँझलाने लगे, पर अन्य सदस्यों और व्यवस्थापकों ने बात सँभाल ली। सभा के प्रमुख कार्यवाह सभा समाप्त होते ही मुझसे मिले और उन्होंने मुझे अपने घर पर भोजन के लिए आमंत्रित किया। वहीं उन्होंने यह भी कहा कि निबंध तुमने ही लिखा है, यह बात स्वीकार कर ली गई थी।

इस सारी घटना का मेरे जीवन की दृष्टि से कोई उल्लेखनीय महत्त्व जो हो, पर वह न तो पुरस्कार था, न बहसबाजी, वरन् इस कारण मुझे पुणे से प्रकाशित होनेवाले 'काल' पत्र का परिचय प्राप्त हुआ।

'काल' पत्र का परिचय

उपरोक्त सभा में जो पुरस्कार मुझे मिला, उसमें एक व्यवस्था यह थी कि एक वर्ष तक बिना मूल्य 'काल' नामक पत्र मुझे मिलनेवाला था। यह 'काल' पत्र पुणे का गौरव था और उसके संपादक शिवराम पंत परांजपे सुप्रसिद्ध व्यक्ति थे। तब उस पत्र का प्रारंभ-काल ही था, पर न जाने क्यों या किस कारण दहिवेली की उस सभा ने वही पत्र मुझे पुरस्कार में दिया। इसका योजक कौन था, यह ज्ञात नहीं, परंतु वह दुर्लभ योजकों में से एक योजक था, इसमें कोई शंका नहीं। प्रसिद्ध पत्र 'केसरी', जिसके संबंध में लोगों को विशेष जानकारी भी नहीं थी, को छोड़कर ऐसे पत्र को चुनना और उसे पुरस्कार में देना अपने आप में विलक्षण था। अब पीछे मुड़कर देखता हूँ तो उस समय न दिखाई देनेवाले संबंध और परिणाम-परंपरा दिखाई देती है। उसे देखकर यही कहना पड़ता है कि मेरे उस समय के अभीष्ट को सिद्ध होने के लिए मेरे हाथ में जो समाचारपत्र पहले आना चाहिए था, वह 'काल' ही था और 'काल' को भी उसके संदेशों को वास्तव में उतारने के लिए जो वाचक चाहिए था, वह मैं ही था। उस समय 'काल' से मेरा जो परिचय हुआ, वह आजन्म

बना रहा। 'काल' के संपादक से परिचय अभी होना शेष था। परिचय के बाद मैं 'काल' का भक्त ही बन गया। 'काल' में छपे एक लेख में चापेकर और रानडे को 'मर्डरर' की जगह 'मारटायर' लिखा हुआ मैंने पढ़ा, जिससे मैं अति आनंदित हुआ। मेरे मन में खलबली मचा देनेवाली भावना को 'केसरी' से भी अधिक साहस से व्यक्त करनेवाले 'काल' के प्रति मैं कृतज्ञता से भर गया। 'काल' में छपे उपर्युक्त लेख पर 'टाइम्स ऑफ इंडिया' ने बड़ा कोहराम मचाया। दादाभाई नौरोजी ने भी 'काल' के संपादक मालिक को राष्ट्रीय महासभा में नहीं आने दिया। उस समय से 'काल' पत्र में प्रकाशित कोई लेख बिना पढ़े मैंने छोड़ा नहीं। कुछ लेख तो दस-दस बार पढ़े। जहाँ जाता, वहीं 'काल' पत्र की प्रशंसा करता। लोगों को 'काल' के लेख जबरन पढ़कर सुनाता। उस समय उसका विरोधी पक्ष भी बड़ा था।

कुल मिलाकर लोक-समाज डरपोक ही था! क्रांतिकारी विचार पढ़ने से भी लोग न केवल कतराते थे, अपितु यह कहना भी नहीं चाहते थे। अत: 'काल' पत्र को ही अतिरंजित, सिरफिरा, बकवासी आदि कहते थे। मैं जहाँ जाता, वहीं उसके ऊपर लगाए जानेवाले इन आरोपों के विरुद्ध लड़ पड़ता, क्योंकि उस जैसा सशस्त्र क्रांति का समर्थक और सूचक दूसरा कोई समाचारपत्र तब नहीं था। मेरे विचारों पर तो नहीं, पर मेरी भाषा, ज्ञान, संस्कृति और उत्साह पर 'काल' पत्र के अखंड परिशीलन का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। वह प्रभाव इतना बड़ा था कि मुझे अपने क्रांतिकारी जीवन की स्फूर्ति का गुरुपद यदि किसीको देना पड़े तो मैं वह 'काल' को ही दे सकता हूँ, परंतु केवल क्रांतिकारी जीवन की स्फूर्ति का, कृति का नहीं; क्योंकि अपने क्रांतिकारी संगठन और समर में हमेशा मुझे ही अपना नेता बनना पड़ा। मुझे अपने सिवाय दूसरा कोई भी गुरु अथवा नेता उस रणक्रंदन में प्रत्यक्ष सक्रिय सहायता देनेवाला नहीं था, अधिकतर लोग मुझे नकारनेवाले ही थे। एक-दो अंदर से ठीक और समय-समय पर 'धन्य' कहनेवाले भी थे, पर मेरे ध्येय, साहस और रणक्रंदन के कदम आगे बढ़ानेवाला, उसमें मेरा नेतृत्व करनेवाला उस पीढ़ी के नेताओं में कोई नहीं था। वे सब-के-सब बहुत-बहुत पीछे खड़े रहनेवाले लोग थे। हम पिछड़ रहे हैं, ऐसा न समझते हुए वे यह समझते थे कि मैं ही भड़भड़ाहट में बहुत आगे बढ़ रहा हूँ। 'काल' से जुड़े लोगों ने ऐसी त्रुटि कभी नहीं की। उन्होंने दूसरे को कभी नहीं खींचा।

'गुरुणां गुरुः' केसरी

'काल' के विषय में यह चर्चा करते हुए भ्रम को टालने के उद्देश्य से यहाँ यह भी कहना आवश्यक है कि क्रांतिकारी नीति की बातें छोड़ दें तो 'काल' जितनी

ही नहीं, उससे भी कई गुना अधिक मेरी आबाल्य भक्ति 'केसरी' पर थी। पूरे महाराष्ट्र और आंशिक रूप से हिंदुस्थान की भी राजनीतिक गढ़ाई जिस 'केसरी' ने की, उसके लेखन का कोई अंशदान मेरी गढ़ाई में नहीं हो, यह असंभव था। लोकमान्य के अति कृतज्ञ और अति निष्ठावान् अनुयायियों से भी अधिक कृतज्ञ और निष्ठावान् मैं था और अंत तक बना रहा। उसका प्रत्यक्ष साक्ष्य यही है कि मैं और मेरे सहयोगियों ने लोकमान्य की सारी राजनीति और उपदेशों पर आचरण करने का प्रयास किया और उनके कार्यक्षेत्र से भी आगे प्रत्यक्ष रणक्षेत्र में उतरने की न केवल इच्छा रखी, अपितु दौड़े भी। उनके गणेश उत्सव, शिवाजी उत्सव, राष्ट्रीय शिक्षा, बहिष्कार, सभा-परिषदों का आयोजन—इन सब आंदोलनों के विस्तार का जो संकेत होता था, वह बिना उनके द्वारा स्पष्ट किए, स्वयं ही जानकर हमने पूरा किया। इतना ही नहीं, उस सबका अपरिहार्य पर्यवसान जिसमें होता है और जो केवल लोकमान्य ही जानते थे, उस रणक्षेत्र में हम अचानक कूद पड़े—यही हमारा उनके निष्ठावान् अनुयायी होने का प्रमाण है।

उनके प्रत्यक्ष ध्येय सुराज, होमरूल, स्वराज की सीढ़ियाँ चढ़कर हम उनके मन के वास्तविक ध्येय, अर्थात् स्वतंत्रता के ध्येय की सीढ़ी चढ़ गए। वे जो कुछ मन में बोले, उसकी गर्जना हमने की। वे जहाँ ठहर जाते, हम वहीं से आगे बढ़ते। वे नेता थे, वे राष्ट्र से एक कदम आगे रहते थे, पर वे अगले कदम निर्विघ्न डाल सकें, इसलिए उनके ही आगे सौ कदम चलकर—राष्ट्र की सशस्त्र सेना का मार्ग निष्कंटक करनेवाले खुदाई और सफाई करनेवाले (सेपर्स ऐंड माइनर्स) की टोली जो करती है, वैसे प्रयास हमने किए। जहाँ उनके साधन कुंठित हो जाते, वहीं अचानक उन्हीं साधनों के लोहे को पिघलाकर हम शस्त्र बनाया करते। कुंठा को धार चढ़ाते। इसीलिए हम उनके वास्तविक निष्ठावान अनुयायी थे; क्योंकि आगे-आगे दौड़कर उनके मन का हेतु सिद्ध करने के लिए प्रयासरत रहे। वे खड्ग की मूठ थे, हम क्रांतिकारी उसका फाल थे। खड्ग की मूठ कभी फाल नहीं हो सकती, पर फाल तो मूठ के इशारे पर ही रण में नाचता है। फाल मूठ के मन को ही आकार देता है।

मेरे इन क्रांतिकारी आंदोलनों तथा मेरी परिधि में आनेवाले छोटे-बड़े लोगों के बीच किए गए प्रयासों का थोड़ा-बहुत प्रभाव मेरे बड़े भाई पर न पड़ना असंभव था। उस छोटे वय में मेरी कविता, लेख, भाषण आदि की प्रशंसा होती देखकर किसी भी भाई को इतना आनंद नहीं हुआ होगा, जितना मेरे बड़े भाई को होता था। मेरे राजनीतिक विचार उन्हें भाते थे। परंतु मुझपर इन विचारों का जैसा भूत सवार था, वैसा उस समय तक उनके ऊपर नहीं था। पिताजी ने उन्हें मुझसे पहले ही नासिक पढ़ने के लिए भेजा था। पाँचवीं कक्षा उत्तीर्ण होने तक वे मन लगाकर

अंग्रेजी पढ़ते रहे। फिर उनका चित्त पढ़ाई से उचटा। परंतु पिताजी के आग्रह और भय के कारण सातवीं कक्षा में पहुँचे। उसी समय वे दो परस्पर विपरीत प्रवृत्तियों की खींचातानी में फँस गए। वे एक ही समय में दो तरह की संगति में रमे रहते। एक संगति साधु-वैरागियों की, तो दूसरी नाटक-मंडली की थी! एक तो भस्म रमाए लँगोटी लगाए धर्मशाला की किसी अँधेरी मठी में धूनी रमाए रहनेवाले। दूसरे, चेहरे को रंग-बिरंगा किए, हारमोनियम-तबले के साथ नाट्यशाला में रँगे हुए रहनेवाले। इन दोनों में यदि कोई समानता थी तो केवल बढ़े हुए बालों में। एक की मोटी जटाएँ तो दूसरे के सजे-सँवरे केश। मेरे भाई का सारा समय बिना पक्षपात के इन दोनों के लिए बँटा हुआ था। नाटक के मित्रों के कारण उनकी रातें चाय, चिवड़ा, गाना-बजाना नाट्य रंग में बीततीं और दिन प्रभात-स्नान करके ग्यारह बजे तक प्राणायाम, जप-ध्यान आदि के अभ्यास में बीतता। दोपहर बाद का समय वे गोसावी बैरागी के अड्डे पर वेदांत और भक्ति की चर्चा करने या मंत्र-तंत्र, जादू-टोने की गपें सुनने-सुनाने या उनकी सब्जी काटने उनका मठ झाड़ने, पैर दबाने आदि सेवा करने में बिताते थे।

पुत्र नाटक-मंडली के साथ कब निकल जाएगा, इस डर से पिताजी घिरे रहते थे। पुत्र के मन का झुकाव जरूर नाटक की ओर था, परंतु उसकी आत्मा का खिंचाव नाटक तो क्या, गृहस्थी में भी नहीं था। इस प्राकृतिक संसार को अपने तुच्छ प्राण की सर्वथा भेंट देकर इस चंचल संसार से सुदूर, सुभव्य, सुगूढ़ चिरंतन की ओर था। वैराग्य की आँधी उनमें कभी-कभी संचार करती थी। वैसी एक आँधी की कथा मैं लिख रहा हूँ जो उस अवधि में, अर्थात् सन् १८९८-९९ में जब मेरे भाई साहब बीस वर्ष की देहरी पर थे, बड़ी वेगवान थी। विवेकानंद अमेरिका में वेदांत की विजय-पताका फहराकर लौटे ही थे। पूरा हिंदुस्थान उनके वेदांतिक व्याख्यानों और राजयोग, कर्मयोग आदि पुस्तकों से भरा था। वे ग्रंथ और व्याख्यान मेरे भाई साहब ने और उनके साथ मैंने भी पढ़े थे। प्रत्यक्ष निर्विकार समाधि पाद का अनुभवप्राप्त राजयोगी विवेकानंद और वह अलभ्य राजयोग जो भी वहाँ पहुँच जाए, उसको सिखाने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध वे मायावती के आश्रम में बैठे हुए हैं, यह समाचार सुनते ही योगानंद के लिए बचपन से ही बेचैन मेरे बड़े भाई का धैर्य छूट गया। उन्होंने घर से भागकर मायावती जाने का पक्का विचार बना लिया।

अकस्मात् 'तत्रतं बुद्धि-संयोगम् लभ्यते पौर्वदेहिकम्' ऐसा कुछ हुआ कि वे गृहस्थी से विरागी हो गए। कौटुंबिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि ऐहिक घटाटोप उन्हें अति तुच्छ लगने लगे। यदि वे उस समय घर त्यागकर निकल जाते तो उनके पूरे जीवन को निराली दिशा ही मिलती। परंतु उनके निश्चय और वैराग्य धारण कर

घर त्यागने के रास्ते में यदि दुर्लंघ्य बाधाएँ न खड़ी होतीं और वह वैराग्योन्मुख युवक मायावती को भागने में सफल हो जाता तो उसके जीवन को एकदम अलग दिशा मिलती और तब राज्यक्रांति-आंदोलन में उसके द्वारा की गई उठापटक की कमी रह जाती। उसी अनुपात से उसकी प्रगति में लक्षणीय अंतर पड़ जाता, परंतु तभी अकस्मात् हमारे परिवार पर भी प्लेग का संकट आ पड़ा।

परिवार पर प्लेग का प्रकोप

फलस्वरूप बड़े भाई की सब योजनाएँ ताश के तंबू की तरह भरभराकर गिर गईं। वह सन् १८९९ का वर्ष था। नासिक में उस वर्ष प्लेग ने फिर से हाहाकार मचाया। हम दोनों भाई नासिक की जिस तिलभांडेश्वर गली में रहते थे, वहाँ हमारे पड़ोस में ही प्लेग फूट पड़ा। एक वर्ष पूर्व जब नासिक में प्लेग फैला था, तब मेरे बड़े भाई के आग्रह के कारण मेरे पिताजी ने भगूर के अपने घर में जिन्हें आश्रय दिया था, उनके ही घर में प्लेग हुआ। मेरे बड़े भैया ने इस बार प्लेग से ग्रस्त उस आदमी की सेवा-टहल अपने पुत्र जैसी की, पर वह बच नहीं सका। पास-पड़ोस में भी लोग चटपट मरने लगे। तब हमारे पिता हमें स्कूल से निकालकर भगूर वापस ले गए।

मेरी बहन जिस त्र्यंबकेश्वर नामक गाँव में ब्याही थी, उस गाँव में भी ज्येष्ठ-आषाढ़ के मध्य प्लेग फैल जाने का समाचार आया। वे दिन आम के थे। भगूर में हमारी बड़ी प्रसिद्ध अमराइयाँ थीं। आम के दिनों में गाड़ियाँ भर-भरकर आम निकाले जाते। उन दिनों में हमारे परिवार के इष्ट मित्र, सगे-संबंधी गाँव-गाँव से आकर हमारे घर आठ-दस दिन रहते और आमों का आनंद लेकर ही जाते थे। त्र्यंबक में प्लेग फैलने का समाचार मिलते ही मेरी छोटी बहन और बहनोई भास्करराव काले को प्लेग से बचाव के लिए भगूर ले आने की बात चली। आम की बहार थी ही। इस कार्य के लिए पिताजी ने मेरे बड़े भैया को त्र्यंबक भेजा।

भेजा अवश्य, परंतु स्वयं भगूर का क्या हुआ? स्वयं भगूर गाँव प्लेग की चपेट में आ गया। सभी के चेहरों पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। नासिक का प्लेग वहाँ आते-जाते लोगों ने देखा था। पुणे-बंबई में प्लेग चालू था, तब वहाँ के हृदयस्पर्शी वर्णन 'केसरी' आदि समाचारपत्रों में छपते थे। उन भयावह वर्णनों को भगूर गाँववालों ने हमारे ही घर की देहरी पर बैठकर सुना था। तब वे 'युद्धस्य कथा रम्या' थे। प्लेग का वही कहर अब अपने दरवाजे पर आकर प्रत्यक्ष खड़ा नहीं हो जाए, यह डर हर एक को था। आषाढ़ आया और चूहे मरने के गुप्त समाचार गाँव में सुने जाने लगे। अशुभ समाचार झूठा है, ऐसा समझने की मानव-प्रकृति तब तक होती है, जब तक

वह गले तक नहीं आ जाता। इसके विपरीत वह शुभ समाचार सच ही होगा, ऐसा भी माना जाता है। चूहा मरने के बाद भी मेरे घर में चूहा मरा, यह मानने को कोई तैयार नहीं होता था। तू चोर है—ऐसा किसीको कहा जाए, तो जैसे वह क्रुद्ध होकर उस बात को नकारता है, वैसे ही 'तुम्हारे घर चूहा मरा' ऐसा किसीको कहते ही वह क्रोध में भरकर नकारने लगता, क्योंकि तब घर में चूहा मरने की घटना सचमुच बड़ी भयावह थी। चूहा मरा है, यह समाचार फूटते ही सरकारी आदमी आकर घर खाली कराते। उस परिवार को जंगल का रास्ता नापना पड़ता। घर का सारा सामान धोया जाता। उस कार्य में काफी सामान गायब हो जाता; और यह सब इतना भयावह था कि कल प्लेग से मरनेवाला आदमी आज ही चल देता! इसी कारण चूहे के मरने की बात मरण तक छिपाई जाती। जो बेचारे मानते, वे भी यह कहते कि शायद बिल्ली ने मारा हो, प्लेग से नहीं मरा। इस कारण जितनी तेजी से प्लेग फैलता, उससे अधिक तेजी से वह समाचार फैलता। परंतु प्लेग की अपेक्षा उसके निवारण का सरकारी प्रयास अधिक डरावना था। इसलिए इस अशुभ को 'अशुभ' कहने की बात यथासंभव टाली ही जाती। हमारे घर में भी दो-चार चूहे मरे। परंतु अण्णा (मेरे पिता) ने—प्लेग के नहीं हैं, ऐसे तो हमेशा ही मरते हैं, ऐसा कहते हुए चुपचाप दूर फेंकवा दिए और हम बच्चों को कहीं भी उसकी चर्चा नहीं करने का आदेश दिया।

मेरे दोनों मित्रों राजा और पारशा के भी घर में चूहे मरे, परंतु वे उसे छिपा गए। दो दिन बाद उनका एक बड़ा भाई तुकाराम प्लेगग्रस्त हो गया। उसपर देवता की सवारी आया करती थी। उसीसे उसे बुखार आया है, ऐसा ढोंग उन्होंने दिन भर किया, पर दूसरे दिन भोर होते ही वह मर गया। पूरे गाँव में इस घटना का बड़ा हल्ला-गुल्ला हुआ। लोगों के पाँवों के नीचे से जैसे जमीन खिसक गई। उस राणू दरजी का घर पटेल कुलकर्णी ने सील किया। पच्चीस-नौ जनों का वह परिवार गाँव के बाहर फेंक दिया गया। हमारे घर के पड़ोस का एक आदमी ऐसे ही प्लेग से मरा। उस रात दस बजे के करीब वह जोर-जोर से कराहने लगा। वह आवाज हमें खिड़की से सुनाई देने लगी। हम बच्चों को डर लगेगा, इसलिए हमें दूसरी जगह सोने को कहा गया, पर मैं चुपचाप वह आर्त स्वर सुनता रहा और खिड़की पर बैठा रहा। कभी डर लगता तो कभी कौतूहल होता। और फिर ऐसे विचार वेग से आए कि यदि कल मेरे घर पर यह आपदा आई तो मुझे क्या करना होगा? पिताजी ही प्लेग से मर गए तो? सरकारी लोग घर को तहस-नहस कर देंगे, सारा सामान उठाकर फेंक देंगे। भाई की चिंता हुई, यदि वह मर गया तो? अण्णा कितना शोक करेंगे, हमें भी कितनी रुलाई आएगी, पर हम बड़ा धीरज रखकर पिताजी को समझाएँगे। वे हमारे धीरज की तारीफ करेंगे, पर मैं ही मर गया तो? अपना लिखा

‘दुर्गादास विजय’ ग्रंथ, ‘सर्वसार संग्रह’ और अन्य रचित साहित्य प्रकाशित करने की बात अपनी मृत्युपूर्व इच्छा के रूप में मैं पिताजी से कह दूँगा।

इस प्रकार की अपशकुनी आशंकाएँ मेरे मन में तब से ही पैठ गईं। यह अपशकुनी और विक्षिप्त वृत्ति हमेशा बनी रही। परंतु मेरे भाग्य में अशुभ से ही हमेशा संघर्ष करते रहने का जो विधान था, उसमें यह वृत्ति उपयोगी रही। ऐसे अनेक अपशकुनी विचार मन में आते गए। फिर भी हर संकट का सामना अविचलित भाव से करनेवाली अपने मन की तैयारी देखकर उन अपशकुनी विचारों को मैंने धन्यवाद ही दिया।

वह पड़ोसी जोर-जोर से चिल्लाने लगा। उसके परिवारवाले अण्णा को बुलाने लगे। प्लेग जैसे स्पर्शजन्य रोग के कारण सगे-संबंधी भी प्लेग के रोगी के पास नहीं जाते थे। अण्णा भी निरुपाय होकर ही गए। खोज-खबर लेकर आए। कुछ-थोड़ा सो पाए थे कि रोने-धोने की आवाजें आने लगीं। चौबीस घंटे के अंदर हट्टा-कट्टा पड़ोसी मर गया। सुबह ही सरकारी आदमियों ने आकर उस घर के खपरे उतार लिये। सामान के साथ अनाज भी आँगन में फेंक-फाँककर घर धो डाला और शव के साथ ही स्त्री-बच्चों को भी घर के बाहर निकाल दिया। गाँव के बाहर रहने को कहा गया, पर झोंपड़ी बनाकर नहीं दी। वह सरकार का काम नहीं था।

उसी रात अण्णा एक और प्लेग के रोगी का समाचार लेने गए। भगूर में प्लेग फैलने का समाचार सुनते ही मेरे मामा ने भगूर छोड़ने का संदेश भिजवाया, पर ‘घर छोड़ो’ कहना जितना आसान है, उतना ही उसे छोड़ना कठिन होता है। कहाँ जाएँ, यह सोचने तक का समय नहीं रहा, और केवल चार दिन में ही मानो पूरा गाँव जलने लगा।

अण्णा उस रात घर छोड़ने का ही विचार करते हुए घर लौट रहे थे तो गली के ही उस राणू दरजी के घर पर उनकी नजर गई। चार-पाँच दिन पहले पच्चीस-नौ आदमियों का वह परिवार लड़कों-बच्चों की किलकारियों से गूँजता रहता था। उसी परिवार के मकान को आज श्मशान बना हुआ उन्होंने देखा। आदमी नहीं, दीया-बत्ती नहीं! खपरैल भी उतरी हुई। दरवाजे, खिड़कियाँ खुली हुईं, उल्लू बोलने के सिवाय कोई स्वर नहीं। अण्णा काँप गए—रास्ता न सूझे। रास्ता रोज का था, पर उनको लगा कि गड्ढा है। गड्ढे से पैर बचाने के चक्कर में उनके पैर में मोच आ गई। मैंने उन्हें कुछ लँगड़ाते हुए घर में आते देखा—हम सब दरवाजे पर ही उनकी चिंता में खड़े थे। मैंने पूछा, ‘क्या हुआ?’ बोले, ‘कुछ नहीं, यूँ ही थोड़ा मुड़ गया है।’ हम सब घबरा जाएँगे, इसलिए उन्होंने ऐसा कहा। उन्होंने एक औषधि बताई। मैंने उसे उनके पैर पर लगाया। बैठकर पैर दबाता रहा। एक प्लेग-प्रतिरोधक

औषधि वे नासिक से लाए थे, वह सबने ली, फिर सो गए। दूसरे दिन मैंने और भाभी ने मिलकर रसोई बनाई। मैं हमेशा ही अपने से छोटी भाभी की सहायता रोटी आदि बेलकर करता था। थोड़ी देर बाद देखा कि अण्णा जाँघ में कुछ टटोलते खड़े हैं। मुझे देखते ही सकुचा गए—मैं डर गया। क्या हुआ, यह पूछने पर बोले—कल पैर जो लचक गया था, उसीमें कुछ पीड़ा है।

हम लोगों ने भोजन किया। अण्णा दुछत्ती पर जाकर सो गए। मेरा छोटा भाई 'बाल' छोटा, केवल ग्यारह वर्ष का था। माँ मरी, तब चार-पाँच का था, तब से पिताजी ही उसकी माँ थे। रोज दोपहर वह पिताजी के पास ही सोता था, पर उस दिन उन्होंने उसे न ले जाते हुए केवल मुझे ही ऊपर बुलाया। मैं सोलह वर्ष का, भाभी चौदह वर्ष की और बाबा बीस वर्ष का था। ऊपर मेरे जाते ही मुझे सीने से लगाकर भरी आँखों से अण्णा बोले—'बेटे, मुझे प्लेग हो गया है। अब तुम लोगों का क्या होगा?' यह सुनते ही मैं दहल गया। परंतु बचपन से ही मेरे स्वभाव का यह विशेष गुण रहा कि संकट आते ही मेरा मन पत्थर जैसा हो जाता और मुझमें कर्तव्य का उत्साह बढ़ जाता। मैंने कहा, 'चिंता नहीं करें, मैं अभी वैद्य को बुला लाता हूँ।'

वे बोले, 'नहीं, यह बात किसीको बताना नहीं, वरना पुलिस आ जाएगी।' मैंने समाचारपत्र में एक रामबाण औषधि के बारे में पढ़ा था—उसे लगाने के बारे में उनसे पूछा। उनके 'हाँ' कहते ही मैं बाहर की ओर भागा। मेरा एक दरजी मित्र था, उसके घर से चुपचाप मुरगी के दो अंडे ले आया। अंडे के बलक में सिंदूर मिला वह औषधि अण्णा की गाँठ पर मैंने बाँध दी। भाभी को सारा-कुछ बता दिया। बाल रोने लगा, अण्णा के पास उसे जाना था। उसे ऊपर ले जाकर दिखा लाया। उसे बताया कि अण्णा को मलेरिया हो गया है।

जिस मित्र के यहाँ से मैं अंडे लाया था, उनके घर चर्चा चली—ब्राह्मण के यहाँ अंडे क्यों गए, यह प्रश्न था उनके सामने। संकट के समय हमेशा साथ देनेवाले राजा, पारशा—दोनों ही भाई प्लेग के कारण जंगल चले गए थे। उनके भाई की मृत्यु के बाद उनकी माँ को भी प्लेग ने दबोचा। दो दिन में वह अधमरी हो गई, नीचे का आधा भाग तो मर ही गया। दूसरे बाल-बच्चों को प्लेग से बचाने के लिए उस माँ को चारों ओर कपड़ा बाँधकर उन लोगों ने एक पेड़ के नीचे डाल दिया। सवेरे देखा तो चींटियों और दीमक ने उसके शरीर में छेद बना दिए थे। यह सारा समाचार सुनने को मिला।

बाल फिर अण्णा के पास जाने के लिए मचलने लगा। उसे बताया, अण्णा बीमार हैं और यह बात बाहर कहनी नहीं है, तू चुप रहना। उस लड़के ने समझदारी दिखाई, चुप हो गया। इतना ही नहीं, अण्णा की सेवा में अर्थात् उन्हें ऊपर दूध-

दलिया-पानी पहुँचाने में रात भर मेरी सहायता करने लगा। भोर होते-होते अण्णा बेचैनी से कराहने लगे। बापू काका को ज्ञात हुआ। वे बहुत घबराए, पर घर नहीं आए। पुलिस को चुप करा आता हूँ, कहकर जो गए तो लौटे नहीं। परंतु उन्होंने पटेल-कुलकर्णी को इतना कह दिया कि अण्णा बीमार हैं और यह भी कहा कि अनजान बनते हुए ज्यादा पूछताछ न करें और यथासंभव हमें घर से बाहर न निकालें। और भी कुछ-कुछ उपाय होते रहे। भाभी ने किसी तरह रसोई बनाई। बाल और मैंने भोजन किया। अण्णा फिर बहुत बेचैन हो गए। कोई दूसरी औषधि देना जरूरी था। दरवाजे से कोई भी पूछताछ के लिए टपक पड़ता, इसका डर था। इसलिए बाल को दरवाजे पर बैठाया—कहा कि कोई आए तो कहना कि घर में कोई नहीं है।

पिछले आँगन में साँवरी का एक पेड़ था, उसकी कलियों से बननेवाली एक दवाई देने के लिए किसीने कहा था। कलियाँ मैं तोड़ ही रहा था कि बाल वहाँ आ गया। मैंने गुस्से में कहा, 'तू अपना काम छोड़कर यहाँ क्यों आया? जाओ, वहीं रहो।' वह बेचारा लौटने लगा, पर मैंने उसकी आँखों में आँसू देखे—अण्णा के लिए रो रहा होगा, ऐसा सोच मैं उसे पास लेकर समझाने लगा। तब बहुत लजाते हुए वह बालक बोला, 'तात्या, गुस्सा नहीं करोगे तो एक बात तुम्हें कहनी है।' मेरे 'कहो' कहते ही वह बोला, 'अण्णा के लिए पहले से ही आप कितने कष्ट उठा रहे हो, इसलिए मैंने सुबह से छिपाकर रखा, पर अब मैं खड़ा नहीं रह सकता। मेरी जाँघ बहुत दुख रही है।' और वह रोने लगा। उस छोटे से लड़के ने 'मेरा कष्ट बढ़ेगा', इसलिए मुझसे इतनी देर तक अपना दुःख छिपाए रखा था। कितना धीरज और समझ! मुझे धक्का-सा लगा, पर मैंने न घबराते हुए उससे कहा, 'धत् तेरी की, इतना ही है ना। चल, मैं तुझे वह सिंदूर की दवाई लगा देता हूँ। अण्णा को नहीं बताना। अण्णा के पास तो नहीं जाओगे?' 'नहीं, बिलकुल नहीं जाऊँगा,' उसने समझदारी से कहा।

बाल को मैंने एक अलग कमरे में लिटाया। भाभी को बताया—तू बाल की सेवा कर, मैं अण्णा की करता हूँ। किसीको किसीकी बात नहीं बतलानी है। बेचारी भाभी! जिस ओर मैं कहूँ, वही उसका पूरब। अटूट विश्वास। वह भी छोटी ही थी—पर धीरज की बड़ी पक्की। बाल के पास चुपचाप जाकर बैठ गई। प्लेग के रोगी के श्वास-उच्छ्‌वास से भी दूसरे को प्लेग हो जाता है, यह हमें ज्ञात था। इसलिए मैं भी बीच-बीच में अपनी जाँघ दबाकर देखता—कहीं दुख तो नहीं रही! और भाभी से भी बार-बार पूछता, 'तुम्हारा सिर-विर तो नहीं दुख रहा है? दुख रहा हो तो बता देना, छिपाना नहीं।' एक प्लेग-प्रतिरोधक औषधि मेरे पास थी, वह उसे

पिलाता। मैं भी पीता।

हम दोनों राह देख रहे थे कि बहन को लिवा लाने गए बाबा कब लौटकर आते हैं? शाम होते ही अण्णा और बाल जोर-जोर से कराहने लगे—उन्हें बहुत प्यास लगती थी। पर पानी नहीं देना, ऐसा लोग कहते थे। ऊपर अण्णा, नीचे बाल—दोनों का कराहना। बाल था बड़ा बहादुर, पर था तो बच्चा ही। कोई दूसरा और हो, इसलिए हमारी ड्योढ़ी पर कुत्ते की तरह पड़े रहनेवाले दो-एक असामियों को बुलवा भेजा, पर कोई न आया। हमारे सगे-संबंधियों में से एक मामा ही थे जिनका सहारा हमारे परिवार को था। उन्हें तार भेजा।

अण्णा की बीमारी की वह दूसरी रात थी। नौ-दस बजे वायु का एक बड़ा झटका उन्हें आया। मैं पानी नहीं दे रहा था, इसलिए मुझपर वे बहुत बिगड़े। उठने-दौड़ने लगे। मेरे जैसे बच्चे के वश का नहीं था उनको सँभालना। इतने में दीया नीचे गिरकर बुझ गया और मुझे ऐसा लगा, जैसे वे मुझे मारने के लिए आ रहे हैं। उनसे डरकर मैं अँधियारे में ही धड़-धड़ जीने से नीचे उतर आया। वे नहीं आ पाए, यह भाग्य की ही बात थी। दरवाजे के पास ही कराहते पड़े रहे। बीच-बीच में करुण स्वर में कहते—'तात्या, बाल, पानी लाना रे!' मैं उनके पास जाना चाहता था, पर डर के मारे जा नहीं पा रहा था। बाल भी इधर 'तात्या' कहकर जोर से पुकारता था। भाभी उसके पास थी। मैं उसके पास गया—वह भी वायु-प्रकोप में था। उसे डाँटा, 'चिल्ला नहीं, अण्णा को पता चल जाएगा कि तू भी प्लेग में पड़ा है।' डाँटते ही अर्धमूर्छा में पड़ा वह बालक कुछ देर चुप हो जाता। मेरे आते ही भाभी भड़भड़ाकर रो पड़ी। मैं काँप गया—कहीं इसे तो प्लेग ने नहीं पकड़ लिया। बड़े स्नेह से सहलाते हुए उससे पूछा, 'कहीं दुख तो नहीं रहा?' उसने कहा, 'मेरा क्या, कुछ हो, पर आपके क्लेश देखकर चिंता हो रही है, आप थोड़ा विश्राम कर लो।' मैंने कहा, 'ऐसे समय रो-धोकर रहने से कैसे काम चलेगा—धीरज से संकट से लड़ना ही होगा।'

वायु-प्रकोप से अण्णा के दरवाजे से नीचे गिर जाने का डर था। हमने सोचा, ऊपरवाला दरवाजा बंद कर लें। दीया लेकर हम दोनों उधर गए तो अण्णा फिर से दौड़कर आए और नीचे उतरने लगे। मैंने उन्हें थोड़ा पानी दिया और जब तक वे पानी पीते, दरवाजा लगा लिया। अण्णा फिर चिल्लाने लगे, 'पानी, तात्या पानी।' अण्णा की वे आतुर आवाजें—'तात्या-बाल, अरे कोई पानी तो लाओ' मुझे अभी भी सुनाई देती हैं और ऐसा लगता है, अभी दौड़कर उनके पास पानी लेकर जाऊँ।

वह रात भाभी और मैंने बाल के सिरहाने बारी-बारी से ऊँघते हुए काटी। बाल भी वायु में था, फिर भी वह सँभाला जा सकता था, किंतु अण्णा को सीढ़ियों

पर ही रोके रखना हमारे लिए असंभव था। वह डरावनी रात, उसमें कराह और चिल्लाहट! मेरे प्रिय पिता और लाड़ले भाई की वह भयंकर पीड़ा और उन्हें देख-देखकर बढ़ती हमारी वेदना!

खैर, डरते-डराते रात समाप्त हुई और जिनकी राह हम देख रहे थे, वे हमारे बड़े भाई बाबा, बहन और बहनोई को लेकर आ गए। उन्होंने घर में झाँका और अवाक् रह गए। बाबा उन्हें आमों की बहार का आनंद चखाने लाए थे और यहाँ यह भयावह स्थिति! मेरी बहन की आयु भी केवल तेरह-चौदह वर्ष की थी। अण्णा के पास गई, पर वे उसे पहचान भी नहीं पाए। स्पर्शजन्य रोगी के घर पर कुछ खाना-पीना संभव नहीं, इसलिए किसी दूसरे के घर में खिला-पिलाकर दोपहर की गाड़ी से किसी और संबंधी के यहाँ उन्हें भेज दिया। अण्णा को वैसी स्थिति में छोड़कर जाते हुए बहन को बहुत दुःख हुआ, पर कोई उपाय नहीं था। उसे लेकर तुरंत जाने की बात बहनोई ने चलाई, जो वही ठीक ही थी।

बाबा के आ जाने से मुझे धीरज बँधा। पूरे गाँव में हमारे यहाँ के संकट की बात फैल गई थी, पर जहाँ-तहाँ घर-घर में रोना-धोना और भागमभाग चालू थी। कौन किसके लिए रोता? दो-एक वैद्य आए-गए। नासिक से कोई बड़ा डॉक्टर लाने की बात चली, पर अण्णा के जीवन का धागा तीसरे दिन टूट-सा गया। जिस घर में प्लेग का रोगी हो, उस घर से सरकारी नियम के अनुसार रोगी सहित सबको जबरन बाहर कर दिया जाता, पर पटेल-कुलकर्णी ने वैसा कुछ किया नहीं। शाम को मामा आए, वे दूसरे ही घर में टिके थे। 'अण्णा को पहले ही गाँव छोड़ने को कहा था—तब नहीं सुना—मेरे बच्चों को काल के गाल में धकेल दिया।' ऐसा कहते हुए ही वे आँगन में पधारे—अण्णा को भरपेट गालियाँ दीं और सारे समाचार लेकर चले गए।

रात में अण्णा का देहावसान हो गया। किसीको ज्ञात नहीं हुआ। भोर होने पर देखा तो वे हमें छोड़कर जा चुके थे। वह दिन शक संवत् १८२१ श्रावण अमावस का था। बाल भी मरणासन्न ही था—उसकी मुंडी ढीली पड़ी थी। मुँह से रक्त बह रहा था, पर साँस चालू थी, हलकी-हलकी। बापू काका कहीं गए थे, वे आए। चार आदमी इधर-उधर के बटोरकर अण्णा की अंत्यविधि की गई। अण्णा की देह को अग्नि देकर लौटे। दोपहर हो गई थी। हमने घर छोड़ा। रोने का भी अवसर नहीं मिला। मुझे तो रोना आ ही नहीं रहा था। मन सुन्न हो गया था, पर दूसरों को सुबकते देख अपनी आँखें गीली न होने का भी दुःख था। अब हम तुरंत घर छोड़ जाएँ, यह निश्चय हुआ। मुझे, भाभी और बड़े भैया को मृत्यु के मुँह से बचाने के लिए मेरे अति त्रस्त मामा बोले—'अब ये छोटा बच्चा बाल, क्षण भर का साथी है। उसे

भगवान् भरोसे छोड़ तुम तीनों ननिहाल 'कोठूर' चलो, निकलो जल्दी।' पर बाबा का एक ही कहना था—जब तक इसके प्राण हैं, मैं इसे छोड़कर कहीं नहीं जाऊँगा। हम तुरंत कहीं भी नहीं जा रहे, यह देख हमारे मामा अपने गाँव चले गए, क्योंकि प्लेग के गाँव में कहीं भी खाना-पीना उन दिनों वास्तव में बड़े संकट का था।

गाँव के बाहर एक झोंपड़ी बनाने के लिए बड़ी कठिनाई से एक आदमी मिला। झोंपड़ी बनने तक गाँव की सीमा पर बने महादेव और गणपति के मंदिर में रात काटी। काका भी अब हमारे साथ आ गए, पर बीच-बीच में उन्हें बंधु-वैर के झटके आ जाते और वे बक-झक करने लगते। अपने पिताजी के लिए कही जानेवाली बातें मुझसे सहन न होतीं। मुझसे न रहा गया तो उनसे कहा, 'पिताजी की मृत्यु के बाद आप ही हमारे पिताजी हैं। आपका आदेश हमारे लिए प्रमाण है, पर आपका पिताजी से जो पुराना वैर था, उसको अब हमारे सामने उकेरते रहना आप बंद करिए। पिताजी की मृत्यु के बाद उन्हें कोई बुरा-भला कहे, यह हमसे सहन न होगा। या फिर आप पहले जैसे अलग ही रहिए।'

वे थोड़े लज्जित हुए और बोले, 'मैं इसलिए कहता हूँ कि तुम बच्चों को उसने भीख माँगने के लिए बाध्य कर दिया। मेरा इसमें क्या गया? मेरा मन इसीलिए टूटता है—अब तुम बच्चों को क्या बताऊँ।' मैंने कहा, 'चिंता नहीं करें, हम भीख माँग लेंगे, पर पिताजी के विरुद्ध कोई बात नहीं सुनेंगे।' बापू काका चुप हो गए और बड़ी ममता से काम करने लगे।

बापू काका के कारण हम पुलिस के अत्याचार से बच गए। बाबा ने बाल को कंधे पर उठाया, उसकी मुंडी लटक-सी गई थी—उसे सँवारते-सँवारते हम गणपति मंदिर में आ गए। मैं, भाभी और बाबा में से कोई दो गणपति मंदिर में मरणासन्न बाल के पास बैठकर जागते और तीसरा शिव मंदिर में काका के पास जाकर सो लेता। अब भाभी—वह छोटी बच्ची—और मैं बुरी तरह थक गया। चलते तो ऐसा लगता कि अब गिरे। बापू काका के साथ आ जाने से धीरज था। रात का डर कम हो गया। परंतु वह आधार भी टिकना नहीं था, क्योंकि दो-चार दिन में ही बापू काका ज्वरग्रस्त हो गए—शाम तक प्लेग की गाँठ पड़ गई और महादेव के मंदिर में बिस्तर पड़ गया। रात में उन्हें वायु भी हो गई।

संकट चरम हो गया। महादेव के मंदिर में वायुग्रस्त बेसुध काका और गणपति मंदिर में मरणासन्न छोटा भाई। उस जंगल में इधर-उधर सब वीरान, लोमड़ियों की चहल-पहल, उल्लू की आवाजें तथा मैं, भाभी और बाबा। कोई काका के पास तो कोई भाई के पास। उन दोनों को आते वायु के झटकों से संघर्ष करते हम भय, चिंता, दुःख के साथ काँपते हुए जागते रहे। गाँव के बाहर बनी

झोंपड़ियों के कारण चोरों की बन आई थी। हम ठहरे साहूकार, इस कारण हमपर कब चोरों का हमला हो, कहा नहीं जा सकता था। आती-जाती शव-यात्राओं की वह भयंकर 'राम नाम सत्य' की आवाजें। हमसे बहुत दूर नहीं था श्मशान। चिताएँ जलती दिखती थीं। एक चिड़िया का भी साथ नहीं, लेकिन एक कुत्ता न जाने कहाँ से उस रात हमारे पास आकर बैठा। पत्ता भी खड़के तो भौं-भौं कर सारा परिसर दहला देता। उन भयंकर दो-चार रातों में वही एक अनायास सुहृद् मिला था। मैं पगला गया था—लगता, न जाने कब बाबा, भाभी प्लेग से ग्रसित हो जाएँ? आज अभी इस क्षण साथ हैं, न जाने अगले क्षण किसकी बारी है! कौन कहे, मृत्यु का क्या भरोसा? जीवन का कोई विश्वास नहीं रहा था। आश्चर्य यही था कि सप्ताह भर के मानसिक ताप और असह्य शारीरिक क्लेशों में भी मुझे कुछ नहीं हुआ। मैं अपने पैरों पर खड़ा था। कितना भयावह स्पर्शजन्य रोग है यह! मैं और भाभी दोनों रोगियों के पास ही चिपके रहे, पर सिर भी भारी नहीं हुआ। जीने के लिए मानो नींद भी आवश्यक नहीं थी।

अब तक हमारे परिवार पर गुजरे संकट का समाचार नासिक तक पहुँच गया था। वहाँ के रामभाऊ दातार यह समाचार पाते ही सीधे भगूर आ गए। पिछली बार इन्हीं रामभाऊ दातार की पत्नी पर यही संकट आया था और उनको भगूर में ही सेवा के लिए हमारे घर में अण्णा ले आए थे। वैसे ही नासिक में रामभाऊ के पिताजी जब प्लेगग्रस्त थे, तब बाबा ने प्राणों की बाजी लगाकर उनकी सेवा की थी। इसी उपकार और प्रेम के कारण वे हमारे संकट की घड़ी में सहायता करने आए थे। बाबा के और दो-एक तरुण मित्र भी उनके साथ थे। नासिक नगर में भी प्लेग का आतंक था, पर वहाँ बड़ा प्लेग-चिकित्सालय होने से काफी-कुछ सुविधा थी। रामभाऊ और उनके साथी दो-तीन वर्ष के प्लेग के अनुभव को झेलते-झेलते मजबूत हो गए थे। चापेकर द्वारा रैंड की हत्या कर दिए जाने के बाद से प्लेगग्रस्त घर से लोगों को जबरन बाहर निकालने और घर की तोड़-फोड़ करने का सरकारी अत्याचार कम हो गया था। फिर भी रोगियों को इस गाँव से उस गाँव ले जाने पर कड़ा प्रतिबंध था। नाकेबंदी, सेग्रीगेशन भी थी। रामभाऊ बाबा के समवयस्क थे, पर थे बड़े साहसी। किसी भी संकट में प्राणों की चिंता न करनेवाला वह जवान था। उपकार करने में भी तत्पर। इस कारण सारी बाधाएँ पार कर हम सब नासिक आ गए। रामभाऊ ने ही जगह दी, पर उनके पड़ोसियों और गलीवालों ने कोहराम मचाया। उस काल में प्लेगग्रस्त माँ-बाप को भी घर में रखना महाचोरी था। कारण ठीक ही था—रोग स्पर्शजन्य था!! किसी एक घर के रोगी के कारण पूरे मोहल्ले पर मृत्यु की छाया फैल जाने का भय रहता था, पर रामभाऊ ने वैसी स्थिति में भी हम लोगों को घर में जगह दी। दूसरे

दिन बापू काका की मृत्यु हो गई। मित्रों की सहायता से बाबा ने उन्हें अग्नि दी। बापू काका ने अपनी एक अच्छी रकम किसी वकील के यहाँ अमानत रखी थी। वे संतानहीन थे। कई बार कहते—नाम-पता दूँगा, पर अंत तक न नाम बताया, न पता दिया। हम भतीजों पर रत्ती भर विश्वास नहीं किया। तीन-चार हजार रुपए इस तरह डूब गए।

पिता के जाने के दस दिनों के अंदर काका का सहारा भी टूटा। बाकी रहे हम चार—बाबा, भाभी, मैं और बाल। उसमें बाल का भी कोई भरोसा नहीं था। दो-चार दिन में ही गली के लोगों के कारण उसे सरकारी प्लेग अस्पताल में भरती करा दिया। पर वह त। बच्चा था। उसे वहाँ अकेला छोड़ आने का अर्थ था कि जो 'काल' उसे ग्रसित करने को आतुर था, उसके गाल में उसे अपने हाथों से धकेलना। हमें कहा जाता, अब जो बचे हो, सुरक्षित रहो—एक के पीछे दूसरे का काल के गाल में कूदना अच्छा नहीं। बात सही भी थी, पर बाबा ने बाल की सेवा के लिए अस्पताल में उसके पास ही रहने का निर्णय किया। यह प्राण, दाँव पर लगाने का खेल था। स्पर्शजन्य रोग होने के कारण रोगी की सेवा में लगे मनुष्य को भी अस्पताल के बाहर नहीं जाने दिया जाता था। बाहर के आदमियों से किसी भी तरह का संपर्क नहीं होने दिया जाता। इस तरह बाबा और बाल प्लेग अस्पताल में बंद हो गए तथा मैं और भाभी रामभाऊ के घर में पिछवाड़े घर पर रहने लगे।

अस्पताल में रात-दिन प्लेग के रोगियों के बीच ही रहनेवाले बाबा की चिंता मुझे बहुत सताती थी। बाल के प्लेग की गाँठ दो बार काटी गई, पर पाँव की उठा-पटक के कारण टाँके टूट गए। स्थिति गंभीर थी। रात्रि में वहाँ का वातावरण किसी पुराण-वर्णित भीषण चीख-पुकारों भरे श्मशान जैसा हो जाता था। कोई रेत में दौड़ रहा है, कोई खाट से बाँधा होने पर गालियाँ बक रहा है। कोई माँ-बाप, भाई-बहन के नाम ले-लेकर गला फाड़-फाड़कर रो रहा है। रोगी के आकस्मिक श्वास से भी कोई भला-चंगा आदमी प्लेगग्रस्त होकर पछाड़ खा जाए, ऐसे वातावरण में बाबा रह रहे थे। उनकी शारीरिक और मानसिक शक्ति पर कितना बड़ा बोझ और तनाव होगा, इसी चिंता में मैं व्याकुल था। बाबा के लिए कपड़े और भोजन लेकर दिन में दो बार मैं अस्पताल जाता। वहाँ अंदर जाना मना था। बाबा बाहर आते, किंतु बाहर का आदमी अंदर के किसी आदमी को छू नहीं सकता था। दूर ही भोजन रखना, बोलना, लौटना। वहाँ जाते समय नित्य यही डर रहता कि बाबा उस मृत्यु की दाढ़ से आज बाहर आते भी हैं या नहीं। उन्हें जरा भी विलंब हो जाता तो जी बैठने लगता। उन्हें भी प्लेग हो गया है, यही सोचते हुए दूसरी व्यवस्था क्या और कैसी हो, इसकी निर्दय योजना भी मेरा मन बनाने लगता। नासिक भी प्लेगग्रस्त था। अधिकतर

घर वीरान। रात में जब मैं भोजन ले जाता, तब अँधेरे में, उस वीराने में जाते हुए मन में डर पैदा होता। कभी कोई साथ मिलता, कभी नहीं मिलता। मिलता तो शवयात्रा का 'राम बोलो भाई राम' सुनता। मन में आता—आज राम बोलो मैं सुन रहा हूँ, कल शायद मेरे प्रिय बंधु की या मेरी ही शवयात्रा निकले तो उसका यह रावणी राम बोलो किसी तीसरे को सुनना पड़ेगा।

उस उग्र अस्पताल के द्वार पर जाते ही जिस अशुभ समाचार को सुनने की आशंका मुझे नित्य कंपित करती थी, वह समाचार सुनने को मिला। बाबा का भोजन लिये मैं अस्पताल के बाहर उनकी राह देखता खड़ा था। बाबा को बाहर आया देखते ही उस दिन के लिए मैं बहुत खुश हो जाता—कुछ देर के लिए चिंतामुक्त भी। परंतु उस दिन बाबा को देर हो गई। उत्सुकतापूर्ण चिंता से राह देखते बहुत देर हो गई। अंत में एक परिचित-से अधिकारी बाहर आए और सदय आवाज में बोले, 'आपके बड़े भाई को भी कल से ज्वर है, वे आज बाहर नहीं आ सकते।'

यह सुनते ही जैसे वज्रपात हो गया। खोद-खोदकर पूछा, तब उन्होंने पहले सद्हेतु से मन में छिपाई बात भी कह दी कि 'ज्वर प्लेग का ही है' और वे चले गए। नियमानुसार मैं बाबा को देख नहीं सकता था। बहुत दुःखी होकर लौट आया। लगा, आज वास्तव में अनाथ हो गया। आज मैं और भाभी—दो ही रह गए। इस समाचार से धक्का लगेगा, इसलिए उसे बताया नहीं। केवल रामभाऊ को यह बात बता दी। वह दिन मेरे परिवार पर प्लेग के पड़ रहे मारक आघातों की मार का अंतिम वज्राघात था। इन सब आघातों और क्लेशों से मेरी जीवनी शक्ति घटकर रह गई। मुझे प्लेग कैसे नहीं हुआ, यह सोचकर आश्चर्य होता है, पर प्रकृति ने साथ दिया।

उस दिन से धीरे-धीरे भाग्य चढ़ती पर बढ़ने लगा। बाबा का प्लेग अनिष्ट की ओर नहीं बढ़ा, संक्षेप में ही निपट गया। बाल भी क्रमशः ठीक होने लगा। दोनों ही चंगे होकर घर लौट आए और लगभग दो-तीन माह में नासिक का प्लेग भी ठंडा पड़ गया। हम चारों ही—भाई-भाभी, बाल और मैं, शिक्षण आदि की सुविधा के कारण नासिक में ही स्थायी रूप से रहने के विचार से वहीं रामभाऊ के घर में रहने लगे। इन सब पारिवारिक चिंताओं और क्लेशों में भी मैंने अपने निर्धारित कार्य और व्रत को छोड़ा नहीं था। परंतु वे सारी बातें सुसंगत रूप से अगले अध्याय में ही दूँगा। भगूर का मेरा संबंध इसके बाद छूट-सा गया और नासिक ही मेरा तथा मेरे परिवार का वास्तविक निवास-स्थान हो गया। इस तरह जिस रात हमने आसन्नमरण बाल को लेकर गुप्त रूप से भगूर छोड़ा, उसी रात भगूर को, अपनी उस मातृभूमि को मैंने सदा के लिए राम-राम कर लिया!

□

परिशिष्ट

स्वातंत्र्यवीर देशभक्त बैरिस्टर विनायकराव सावरकर के बचपन के एक साथी श्री गो.आ. देसाई द्वारा लिखित कुछ स्मृतियाँ-सुधियाँ—

१. विनायक के पिता दामोदर पंत अपने समय में भगूर गाँव के एकमात्र अंग्रेजी पढ़े-लिखे आदमी थे। भगूर में लोग उन्हें 'अण्णा साहब' कहते थे। अण्णा मैट्रिक तक अंग्रेजी पढ़े थे। वे विद्वान् और अच्छे वक्ता थे। उचित समय पर चुटीला विनोद करना उनका स्वभाव था। चूँकि वह अपने गाँव में अंग्रेजी पढ़े-लिखे एकमात्र आदमी थे। अत: वहाँ की जनता के सार्वजनिक एवं घरेलू कार्य का भार उनपर ही पड़ता था। उन्हें सार्वजनिक-राजनीतिक कार्य करने का बड़ा चाव था। उनके भाषणों का उत्कृष्ट प्रभाव जनता के मन पर पड़ता था। जनता में उनके भाषणों से जोश आता था।
२. अण्णा साहब की पत्नी श्रीमती सौभाग्यवती राधाबाई (बै. सावरकर की माताजी) स्वर्गीय मनोहर दीक्षित, तहसील निफाड़, गाँव कोठूर की कन्या थीं। पाँच हजार स्त्रियों में भी राधाबाई जैसी साध्वी, तेजस्वी, अत्यंत सुंदर और सुशिक्षित स्त्री का मिलना कठिन था। वे जब तक जीवित रहीं—अण्णा साहब के घर में साक्षात् लक्ष्मी का निवास था। हैजे में उनकी मृत्यु के बाद अण्णा साहब का वैभव दिनोदिन घटने लगा। सावरकर बंधुओं जैसे तेजस्वी रत्नों का जन्म साध्वी राधाबाई जैसे पवित्र, शुद्ध, तेजस्वी गर्भ से ही संभव था—इसमें रत्ती भर भी शंका नहीं। तुकाराम महाराज की वाणी—'शुद्ध बीज ही देते, फल उत्तम रसीले' यहाँ पूरी खरी उतरती है।
३. राधाबाई जब तक जीवित थीं, तब तक भगूर के महिला वर्ग के धार्मिक, सांस्कृतिक आदि सारे समारोह सावरकर के बाड़े में उन्हींके नेतृत्व में होते थे। वट सावित्री, संक्रांति आदि वार्षिक समारोहों में सावरकर का बाड़ा महिलाओं, बच्चों से भर जाया करता था। परंतु सावरकर घराने का यह

आनंद राधाबाई जैसी भाग्यशाली महिला के निवास-परिवर्तन के कारण समाप्त हो गया। सावरकर घराने की लक्ष्मी अंतर्धान हो गई। गृहस्थी का सारा बोझा अण्णा साहब पर आया।

४. वैसी दुःखमय स्थिति में भी अण्णा साहब ने धीरज एवं विवेक से अपने लड़कों और एक कन्या का लालन-पालन पूरी तत्परता से किया। बच्चों की व्यवस्था भी वे इतने नियोजित ढंग से करते थे कि उसे देखनेवाला आश्चर्य में पड़ जाता था—चाहे वह स्त्री हो या पुरुष। बच्चों के योग्य लाड़ पूरे करने में वे कभी टाल-मटोल नहीं करते थे। वैसे ही बच्चों की शिक्षा पर यथायोग्य दृष्टि का लाभ सावरकर बंधुओं की संगति में रहकर उनके साथियों को भी मिलता था। विनायक अथवा तात्या (बै. विनायक को बचपन में घर के सदस्य 'तात्या' ही कहते थे) को साहित्य-वाचन का व्यसन था। अतः उनके पाठशाला का काम समय पर न होने पर अण्णा के प्रखर वाग्बाण छूटे बिना नहीं रहते थे। उसमें सावरकर बंधुओं के साथ उनके मित्रों पर भी इन बाणों के आघात हुए बिना नहीं रहते थे, पर अण्णा साहब का स्वभाव ऐसा था कि तरकस के बाण समाप्त होते ही कुछ देर बाद वे सभी बच्चों को प्रेम और हास्य-विनोद से अपना बना लेते थे।

५. सावरकर के बाड़े में खेलने का जो समय रहता था, उस समय तात्या के मित्र गोपाल आनंदराव देसाई, आत्माराम कोंडाजी शिंपी (दरजी), रावजी कोंडाजी शिंपी, राजाराम राणुशिंपी, परशुराम राणुशिंपी, त्र्यंबक सखाराम शिंपी, त्र्यंबक सदाशिव कुलकर्णी, सावलीराम सुनार आदि के साथ पाठशाला का दूसरा छात्र वर्ग भी उपस्थित रहता था। इन बच्चों को खेलने के लिए जो साधन वहाँ प्राप्त थे, उनमें धनुष-बाण, चक्र, गदा, परशु, तलवार आदि प्रमुख थे। वे सारे शस्त्र देखने योग्य थे। उन शस्त्रों में बाण तो अप्रतिम थे। उनके अग्रभाग लोहे के और पीछे वाले भाग पंख के बने होते थे। सावरकर के बाड़े में इन शस्त्रों को लेकर सेना सज्जित हो जाने पर उनके दो दल बनते। उन दलों के नाम पौराणिक या ऐतिहासिक होते थे। राम-रावण, कौरव-पांडव, मराठा-मुसलमान का युद्ध शुरू होता और उसमें प्रमुख भूमिका तात्या की ही होती। अण्णा साहब इन युद्धों को देखा करते। 'पूत के पाँव पालने में ही दिखने लगते हैं' कहावत का अनुभव अण्णा साहब को तात्या के संबंध में पग-पग पर होने लगा। उस छोटे वय में भी तात्या का पुराण और इतिहास का अध्ययन बड़ा ही अच्छा था।

६. बचपन से ही तात्या के भाषण में मधुरता, मार्मिकता, समय-सूचकता और

व्यवहार-ज्ञान भरा रहता था। रास्ते में आते-जाते लोग तात्या को इस-उस बहाने रोकते और कुछ-न-कुछ बोलवाते। उनके भाषण से तृप्त हुए बिना उन्हें कोई जाने ही नहीं देता था।

७. तात्या अपने शालेय अभ्यास-क्रम में से कोई-न-कोई नई चीज निकालते। एक बार शिक्षकों की बताई पद्धति से हम रुपए-आने-पाई का योग निकाल रहे थे। इस पद्धति में पहले पाई, उसके बाद आना और अंत में रुपए का जोड़ लगाया जाता है, पर तात्या ने अलग ही पद्धति चलाई—उसमें पहले रुपए, बाद में आने और अंत में पाई जोड़ी। तात्या का और हमारा उत्तर एक-सा आया। एक अल्पवय छात्र की जोड़ करने की अनोखी पद्धति देख शिक्षकों को भी आश्चर्य हुआ।

८. पुराण, इतिहास आदि के ग्रंथ पढ़ने, कविता करने आदि के का[illegible] के कारण पाठशाला के गृह-कार्य में वे पिछड़ जाते। इससे पाठशाला में श्रेष्ठता-क्रम गड़बड़ा जाता। अतः श्रेष्ठता बनाए रखने की तात्या की एक युक्ति बड़ी अनोखी थी। पाठशाला में नियम था कि जो पहले आएगा, वह पहले क्रम पर बैठेगा। उसके लिए उसे अंक भी मिलते। आने का समय भी निश्चित रहता। वह समय निकल जाने पर वे अंक नहीं मिलते। सभी छात्र अपनी-अपनी योग्यता से गृहपाठ करके लाते थे, पर जिस दिन तात्या का गृहपाठ पूरा नहीं हो पाता, उस दिन तात्या देर से पाठशाला आते और सबसे अंत में बैठते। कक्षा प्रारंभ होने पर शिक्षक पहले क्रम से प्रश्न पूछते जाते। तात्या का क्रम जब तक आता, तब तक वह अपना गृहपाठ पूरा कर लेते और समय आने पर सही उत्तर देकर प्रथम स्थान प्राप्त कर लेते।

९. तात्या जब कक्षा पाँच 'मराठी' उत्तीर्ण हुए, तब देशभक्त बाबाराव सावरकर नासिक में अंग्रेजी पढ़ रहे थे। छुट्टी होने के कारण वह भगूर आए हुए थे। ऐसे में एक दिन सावरकर के घर में भगूर पाठशाला के शिक्षक श्री गंगाधर नथू खरे, उर्दू पाठशाला के मुख्य शिक्षक, तात्या के पिता अण्णा साहब आदि बुजुर्ग और तात्या के संगी-साथी सब बैठे थे। बड़े आदमियों में इतिहास पर चर्चा चल रही थी। उस चर्चा में तात्या भी सहभागी थे। और उसी समय वहीं बैठकर बाबाराव सावरकर गणित का एक प्रश्न हल करने में एकाग्रता से जुटे हुए थे। बहुत प्रयास के बाद भी वे उस प्रश्न को हल नहीं कर सके। फिर अंग्रेजी शिक्षक गंगाधर नथू खरे ने प्रयास किया—वे भी विफल रहे। तीसरे वर्ष के ट्रेंड उर्दू पाठशाला के मुसलमान शिक्षक भी उसमें जुटे। उनका भी प्रयास विफल रहा। तब अण्णा साहब ने तात्या को

थोड़े व्यंग्य से कहा, 'तात्या, तुम भी देखो।' तात्या ने गणित का वह प्रश्न हल करना प्रारंभ किया। आश्चर्य यह कि तात्या ने उसे हल कर दिया और उपपत्ति के साथ सबको समझा भी दिया। जोरदार तालियाँ बजीं। तात्या के पिता को उस समय कितना हर्ष हुआ होगा, यह कहने की आवश्यकता नहीं है।

१०. तात्या रात-बिरात में अकेले ही उठकर देश की स्वतंत्रता के प्रोत्साहन हेतु कविता, लेख आदि लिखा करते थे। अण्णा साहब इसके लिए उन्हें डाँटते, पर तात्या का क्रम चालू था। पिताजी से चुराकर वे लिखते थे, परंतु एक बार रात के कोई दो-तीन बजे कविता करते हुए तात्या को पिता ने पकड़ा। क्रोध में उन्होंने पूछा, 'क्या कर रहे हो?' तात्या ने कहा, 'कुछ नहीं—नींद टूट गई, इसलिए कुछ परमार्थ कविताएँ लिखकर देख रहा हूँ।' अण्णा साहब इस उत्तर से संतुष्ट होनेवाले नहीं थे। उन्होंने तात्या के सारे कागज छीने और उन्हें देखा। ऊपर के कागज पर सचमुच एक परमार्थ कविता लिखी हुई थी, किंतु नीचे के कागज पर झाँसी की महारानी लक्ष्मीबाई के शौर्य पर लिखे कुछ छंद थे। पिताजी की इस छानबीन से बाल मूर्ति गड़बड़ा गई, पर पिताजी उन छंदों को पढ़कर संतुष्ट हुए। तात्या की सहमी हुई स्थिति भी उनके ध्यान में आ गई। तब उन्होंने तात्या का सिर सहलाते हुए उसे रात में न जागने का परामर्श दिया। श्री परशुराम शिंपी, राजाराम शिंपी और यह लेखक विद्यार्थी के रूप में रोज सावरकर के ही घर में सोने जाते थे, इसीलिए तात्या का जागना और सारे कार्यक्रम देख चुके थे।

११. बंबई में हिंदू-मुसलमानों का जो दंगा हुआ, उस समय तात्या की आयु कोई बारह-तेरह वर्ष की थी। ऐसे बाल वय में भी मुसलमानों के अनीतियुक्त व्यवहार और धर्मांधता पर इस पवित्र हृदय बाल किशोर को बड़ा क्रोध आता था। उसी क्रोध के कारण वे हम संगी-साथियों को मुसलमानों के ऊपरी दुर्गणों की सारी जानकारी बड़े स्पष्ट शब्दों में देते थे और हममें स्वधर्माभिमान भरते थे।

१२. भगूर गाँव के बाहर वायव्य दिशा की ओर मुसलमानों की उनके धार्मिक दिनों में नमाज पढ़ने की 'निमजगा' नामक मध्यम ऊँचाई की एक टेकड़ी है। उसकी ऊँचाई के कारण वहाँ शुद्ध और शांत हवा हमेशा बहती रहती थी। उस वातावरण का लाभ लेने के लिए संध्या समय हम दोस्त लोग तात्या के साथ उस टेकड़ी पर घूमने जाया करते थे। वहाँ यह बाल किशोर, यह स्वतंत्रता-सेनानी, अपने प्रिय भारत राष्ट्र पर छाई परतंत्रता रूपी भीषण

काली रात कब बीते और कब स्वतंत्रता का सूर्योदय हो, इसकी चिंता में हमसे घंटों बतियाता था। यह टेकड़ी उस बालक के लिए विचार करने की एक क्षेत्र-भूमि ही हो गई थी, जहाँ वह अपनी मातृभूमि को परतंत्रता के नरक से निकालकर स्वतंत्रता के स्वर्ग में लाने के उपायों पर प्रखरता से विचार करता था। तात्या से हमें वहाँ सदैव उच्च विचार ही सुनने को मिलते थे। पुणे के 'काल' पत्र में जब तात्या के लिखे लेख प्रकाशित होने लगे, तब उनके शीर्षक—'सह्याद्री के कब्जे में पड़ी कल्पनाशक्ति, शिवाजी पुण्याह वाचन' आदि पढ़कर तात्या द्वारा हमें पूर्व में ही सुनाए गए विचारों का सहज स्मरण होता रहा।

१३. तात्या के पूर्वजों ने एक बहुत सुंदर देवी-मूर्ति अपने पराक्रम से प्राप्त की है, यह तात्या के पिता अण्णा साहब स्वयं कहा करते थे। तात्या इस देवी के बचपन से ही बड़े भक्त थे। उसकी ध्यान-धारणा करने में बालभक्त तात्या का घंटों समय जाता। देश को स्वतंत्र करने की सौगंध इसी महिषासुरमर्दिनी के सामने उस बालक ने ली और वे अपने को 'दुर्गादास' कहने लगे। कुछ लिखने के पहले 'श्री' या 'श्री गजानन प्रसन्न' लिखने की परंपरा का निर्वाह करने के लिए तात्या 'श्री योगेश्वरी प्रसन्न' लिखते थे। यह उनका अपने इष्ट देवता का आह्वान था। 'श्री योगेश्वरी प्रसन्न' का आगे चलकर 'स्वातंत्र्य लक्ष्मी प्रसन्न' ऐसा रूपांतरण हुआ।

१४. ऊपर संदर्भित महिषासुरमर्दिनी की पीतल की वह मूर्ति वर्तमान में भगूर के श्री खंडेराव के मंदिर में है। यह मूर्ति दर्शनीय है। अपने इस इष्ट देवता के आगे देश को स्वतंत्र करने की सौगंध लेने के बाद उन्होंने अपना आत्म-चरित्र 'दुर्गादास चरित्र' लिखना प्रारंभ किया था। वह बहुत-कुछ लिखा भी जा चुका था, परंतु फिर कालाग्नि में नष्ट हो गया। उसी समय इस लेखक ने भी स्वातंत्र्य वीर विनायक राव का चरित्र-लेखन प्रारंभ किया था और वह उस समय के वृत्त सहित काफी-कुछ लिखा भी गया था, पर वह भी काल की आँधी में बच नहीं सका। वह चरित्र-गाथा आज अगर उपलब्ध होती तो उसमें वर्णित तात्या के स्वतंत्रता-प्राप्ति के प्रयासों में से उनके बाल स्वभाव की अधिक जानकारी मिली होती, पर संयोग कुछ भिन्न ही थे।

१५. बालक तात्या का स्वभाव इतना चंचल और उपद्रवी था कि कहिए मत। हिंदू-मुसलमान दंगों के समय में मुसलमान हमेशा अण्णा साहब से तात्या की शिकायत करते रहते, क्योंकि वे कुछ-न-कुछ उत्पात करते ही थे। अण्णा साहब तात्या को जो डाँट-फटकार करते, उसका प्रसादहम संगी-

साथियों को भी मिलता। एक बार हम कई मित्र संध्या समय तात्या के साथ निमजगा टेकड़ी पर घूमने गए थे। हम सब एक ओर थे और तात्या किसी गूढ़ विचार में डूबे दूसरी ओर थे। घर लौटने के लिए तात्या को साथ लेने हम उनके पास पहुँचे। वहाँ तार के एक टुकड़े को झुकाकर बनाई एक चिमटी में एक काला साँप पकड़े तात्या को देखा। साँप फुफकार रहा था और तात्या उसका मजा ले रहे थे। यह देखकर हम सब डर गए, पर तात्या निर्भय थे। मैंने चिल्लाकर तात्या से कहा, 'तात्या, छोड़ो उस साँप को—जल्दी छोड़ो! काट खाएगा', लेकिन तात्या ने अनसुनी कर दी। वे साँप पकड़े शांत खड़े थे। जब मैं अधिक हल्ला-गुल्ला करने लगा, तब उन्होंने चिमटी सहित उस साँप को नीचे गिरा दिया। वह भी बेचारा तत्काल भाग गया। यह बात हमने घर पर किसीको बताई नहीं, नहीं तो अण्णा साहब सबकी महापूजा करते और कुछ दिनों के लिए हमारा घूमने जाना बंद हो जाता।

१६. 'केसरी' में शिवाजी उत्सव के विषय में समाचार और संपादकीय लेख जब आने लगे, तब भगूर में भी शिवाजी उत्सव का आयोजन करने का विचार तात्या ने हम बाल सहयोगियों की सहमति से बनाया। भगूर का यह पहला शिवाजी उत्सव हमने श्री बालमुकुंद मणीराम सेठ मारवाड़ी की बड़ी-सी छत पर बड़े उत्साह से आयोजित किया। उस समय उत्सव की प्रस्तावना का भाषण इस लेखक ने दिया तथा मुख्य भाषण तात्या का हुआ। हम दोनों के वे ही पहले सार्वजनिक भाषण थे। तात्या का, उस बालवीर का अति सुंदर और ओजपूर्ण वह भाषण सुनकर श्रोता तो आश्चर्यचकित हो ही गए, अण्णा साहब भी चकित हुए।

१७. पुणे में पहली बार प्लेग की महामारी शुरू हुई। उसमें सरकारी अधिकारी रैंड और आयर्स्ट ने जनता पर जो अत्याचार किए, वे सर्वविदित हैं। जनक्षोभ के आवेश में उस समय उन अधिकारियों की हत्या हुई। उस सारे दुश्चक्र में चापेकर बंधु, रानडे और द्रविड़ बंधु बलि चढ़े। उस सारे वृत्तांत पर तात्या ने 'वीर श्रीयुक्त' नामक एक नाटिका लिखी थी। उसका मंचन करने की योजना भी तात्या और उनके बाल सहयोगियों ने बनाई थी, पर अण्णा साहब ने ऐसा नहीं होने दिया और अण्णा साहब के उस समय धारण किए नरसिंह अवतार में वह नाटिका भी नष्ट हो गई।

१८. मुझे बचपन से ही वाचन प्रिय है, बशर्ते वह कहानियाँ, उपन्यास, पौराणिक ग्रंथ आदि का वाचन हो। परंतु तात्या ने अपने इस बालसखा की रुचि

उपरोक्त तरह के वाचन से मोड़कर मराठी भाषा के विद्वान् कै. विष्णु शास्त्री चिपळूणकर की निबंधमाला की ओर घुमाई। उस समय मैंने निबंधमाला में छपा एक लेख 'हमारे देश की स्थिति' कम-से-कम सात-आठ बार बड़े लगन से पढ़ा था। मुझमें राजनीति की रुचि तात्या ने ही जगाई, यह कहे बिना मुझसे रहा नहीं जाता।

१९. भगूर में पहली बार प्लेग फैला। अत: दूर अपने मामा के गाँव रहने मुझको जाना था। जाने से पूर्व सावरकर बंधुओं से मिलने मैं नासिक गया। सावरकर बंधु उस समय नासिक में ही अण्णा राव की मृत्यु के बाद दीन-हीन अवस्था में, परंतु साहस से रह रहे थे। भेंट हो जाने के बाद मुझको तात्या ने निबंधमाला की कुछ पुस्तकें पढ़ने के लिए दीं। पुस्तकें लेकर जाते समय रास्ते में उस समय नासिक के प्रसिद्ध विद्वान् बहुश्रुत, उत्तम वक्ता और आशु कवि कै. बलवंत खंडूजी पारख मिले। उन्होंने पूछा, 'बगल में कौन से ग्रंथ हैं—कहाँ से लाए हैं?'

मैंने उन्हें सारी बात बता दी। उस समय उन्होंने तात्या के लिए इतना आदर प्रकट किया कि क्या कहूँ? तात्या की काव्य-क्षमता, अप्रतिम भाषण-शैली, तेजस्वी लेखन-कला आदि को लेकर उन्होंने तात्या के लिए अनेक प्रशंसनीय बातें कहीं। मुझे जाने की जल्दी थी, इसलिए पारखजी का व्याख्यान रुक गया, अन्यथा न जाने कितनी देर तक वह चलता रहता।

□□□

ॐ
नासिक

नासिक

नासिक-पंचवटी नामक संयुक्त नगर और क्षेत्र अपने भरतखंड में प्रसिद्ध और अति पुरातन नगरों में से एक है, इसमें कोई शंका नहीं। रामायण काल में दंडकारण्य में जिस गोदावरी के तट पर राम और सीता पर्णकुटी बनाकर वन में रहते थे और जहाँ बाद में राक्षसों से संघर्ष करके राम-लक्ष्मण ने शूर्पणखा राक्षसी की नाक काटी और खरदूषण को मारा, उसी स्थान पर और उसी पराक्रम के स्मारक रूप में यह नगर बसा और उसे 'नासिक' नाम मिला। यह पुरातन दंतकथा विख्यात है। इसी कारण नासिक-पंचवटी का कोना-कोना राम और सीता की स्मृति से भरा हुआ है। पंचवटी के पास में ही—'सीता देवी यहाँ रहती थीं' कहकर दिखाई जाती 'सीता गुफा'—राम-निवास है। वहीं निर्मित काले राम का मंदिर, तीन राक्षस जहाँ मारे गए वह तिबंधा, नासिक और पंचवटी के बीच से बहती गोदावरी, राम-लक्ष्मण-सीता कुंड, रामचंद्रजी के पदरज से पुनीत इस पुण्यभूमि के दर्शनार्थ, सिंहस्थ मेले में पूरे भरतखंड से वहाँ आनेवाले लाखों भावुक भक्तों, साधु-संतों, बैरागियों, गोसाइयों का प्रचंड मेला लगता है और उन लाखों कंठों से, सैकड़ों भाषाओं में 'सीताराम' की जय-जयकार गूँजती है। नासिक का सारा वातावरण राम और सीता की स्मृति से भरा-भरा रहता है।

ये सारी पौराणिक आख्यायिकाएँ कुछ देर के लिए अलग रख दें, तो भी ऐतिहासिक काल में भी नासिक की गिनती प्राचीन और प्रसिद्ध नगरों में होती थी। राष्ट्रकूटों के समय में यह नगर प्रख्यात था—कितने ही राजाओं की राजधानी रहा और अर्वाचीन काल में भी हमारी हिंदू संस्कृति का नाम भी रह न पाए, ऐसी क्रूर महत्त्वाकांक्षा से मुसलमानों ने जब हमारे अनेक प्राचीन नगरों के नाम बदले, तब नासिक का भी नाम बदलकर उसे 'गुलछनाबाद' रखने का प्रयास किया, पर सामना था शूर्पणखा से। उसका पुण्य भारी था। तभी तो लक्ष्मण से नाक कटाने का सौभाग्य उसे मिला था। उस पुण्य के प्रताप से ही मुसलमानों की नाक भी नीची हुई और

उसकी खंडित नासिका का नाम ही अखंड रहा। एक बार हमारे रावबाजी—दूसरे बाजीराव पेशवा—की भी नासिक को अपनी राजधानी बनाने की इच्छा हुई थी। उस हेतु से एक उत्कृष्ट भवन भी उन्होंने बनवाया था। मैं जब नासिक आया, तब वह 'पेशवावाड़ा' के नाम से प्रख्यात था। उस बाड़े के अंदर जाकर जब भी मैं देखता, मेरे मन में पूर्वजों और पूर्व वैभव के स्मरण से उथल-पुथल मच जाती, मन में क्रांति की ज्वाला चेतती और संयोग यह कि जिस बाड़े को देखकर क्रांति की ज्वाला चेती, उसे बुझाने के लिए भी उसी बाड़े का उपयोग अंग्रेजों ने किया। नासिक के कलक्टर का वध किए जाने के बाद जब हमारे क्रांतिकारी दल की धर-पकड़ हुई, तब 'अभिनव भारत' संस्था के कितने ही क्रांतिकारी युवाओं को इसी बाड़े में बंद कर अंग्रेजों ने उन्हें यातनाएँ दी थीं।

नासिक की उपर्युक्त पौराणिक और प्राचीन जानकारी छोड़ दें तो गत दो-तीन सदियों में उसका कोई उल्लेखनीय महत्त्व नहीं रह गया था। सन् १८९९ में जब हम स्थायी रूप से नासिक रहने आए, तब यह महाराष्ट्र का एक पिछड़ा नगर था। कुछ संस्कृत विद्या मात्र जीवित थी, बस। बाकी सार्वजनिक नूतन जीवन या राजनीतिक तेज उसमें रत्ती भर भी नहीं था। तीर्थस्थल होने के कारण धंधेबाज पंडों की चिल्ल-पों, फालतू के उत्पात और घर-घर के रगड़े-झगड़े, झगड़ों में उलझे-रमे बच्चे और वयस्क, इससे अधिक कुछ उस समय के नासिक में सुनाई नहीं देता था। पुरानी सँकरी और धूल-भरी फर्शी की गलियाँ ही वहाँ थीं। चौड़ी, सीधी सड़क एक-आध ही दिखती थी।

तिलभांडेश्वर की गली और उसके निवासियों का जो वर्णन आगे मैं लिखने वाला हूँ—वह वर्णन अपवाद नहीं था, उसे ही बढ़ाकर देखने पर नासिक नगर का जीवन-क्रम उभरता था। उस समय तिलभांडेश्वर और नगरकर की गली उस समय के नासिक की रचना और चरित्र का एक यथावत् नमूना ही थी। ऐसी स्थिति के नासिक में हमारा परिवार प्लेग के प्रकोप के बाद भगूर छोड़कर सदा के लिए रहने आया, क्योंकि भगूर से निकटवर्ती और जिला मुख्यालय होने से भी अंग्रेजी की पढ़ाई की सुविधा के लिए नासिक में रहना आवश्यक और सुविधापूर्ण था।

श्री म्हसकर

प्लेग के सरकारी अस्पताल में बाल और बाबा जब बंद थे, तब वहाँ बाबू का काम करनेवाले श्री म्हसकर से उनका परिचय हुआ। यह व्यक्ति रहन-सहन से गरीब, पर हृदय से विशाल था। उस अस्पताल में श्री म्हसकर स्वयं एक छोटे से अधिकारी थे। उनका अपने बड़े अधिकारियों से मेलजोल होने के कारण बाबा को

उनसे सहयोग लेने की आवश्यकता बार-बार पड़ी और म्हसकर ने भी अंत तक बाबा की अपने विशेष संबंधी की तरह पूछताछ और सहायता की। उनका स्वभाव मूलत: दयालु, संकट में हर किसीका सहायक, पापभीरु, सीधा परंतु मर्मज्ञ था।

म्हसकर और बाबा के बीच स्नेह-सूत्र बँध जाने का कारण स्वधर्म और स्वराज पर खुली चर्चा का होना था—अस्पताल में एक बाबा के सिवाय कोई और सुशिक्षित और उदारमना व्यक्ति नहीं था जिससे म्हसकर राजनीतिक विषय पर बात कर सकते। भाषण प्रतियोगिता में हुए मेरे भाषण के कारण म्हसकर परोक्ष रूप से मुझे जानते थे। धीरे-धीरे उनसे मेरी राजनीतिक चर्चाएँ होने लगीं। बाबा ने उनसे चापेकर तथा रानडे पर मेरे द्वारा रचित पोवाड़ा पढ़ने की बात कही थी। म्हसकर के राजनीतिक विचार 'काल' समाचारपत्र की ओर झुके हुए थे और वे स्वयं भी 'काल' पत्र में छद्म नाम से बहुत पहले से लिखते थे। उन्होंने मेरा चापेकर-रानडे पोवाड़ा पढ़ा तो उन्हें वह बहुत भाया। उनका उसे प्रकाशित करने का विचार था। बाबा-म्हसकर और उनके एक मित्र पागे—तीनों का विचार था कि उस पोवाड़े की शब्द-रचना में से कुछ बहुत तीखे, चुभते शब्द हटाकर मैं उसे थोड़ा सौम्य बना दूँ। मैंने वैसा ही किया। फिर भी जो रहा, वह किसी भी छापाखाने के लिए तीखा ही था। 'काल' पत्र को भी एक संशोधित प्रति भेजी गई, पर वे भी उसे छाप न सके। धीरे-धीरे वह योजना ठंडी पड़ गई।

इस तरह हमारे बीच जब राजनीतिक विषयों पर ऊहापोह बढ़ने लगा, तब हमारा आपस में विश्वास और परस्पर आदर भी बढ़ने लगा। म्हसकर उस समय तीस वर्ष के थे। सरकारी नौकरी में रहते हुए भी नासिक के छोटे-मोटे सार्वजनिक उत्सव, सभा आदि के कार्यों में बिना प्रकाश में आए जो काम कर पाते, वह वे करते थे। नासिक के उस समय के बड़े-बुजुर्ग नेता बापूराव केतकर, वयोवृद्ध दाजीराव केतकर, लोकसेवाकार बर्वे, रायबहादुर वैद्य, कवि पारख आदि लोगों में म्हसकर की अच्छी पहचान थी। उन नेताओं का अभिमत था कि सार्वजनिक रूप से प्रामाणिक और संग्रहणीय कार्य के लिए म्हसकर एक उपयुक्त व्यक्ति हैं। म्हसकर का अभिमत था कि नेता के नाम से जाने जाते वकील वर्ग के अधिकतर लोग दिखावटी कार्यकर्ता हैं और यदि उसके हाथों कुछ काम होना भी है तो वह उन जैसे अंतर्प्रवाही कार्यकर्ताओं द्वारा सबकुछ पहले से ही तैयार करने के बाद केवल हस्ताक्षरों के लिए उनके पास पहुँचता है। अर्थात् नेता म्हसकर को दूसरी श्रेणी का समझते थे तो म्हसकर उन्हें अपना दिखावटी नेता मानते थे। कुल मिलाकर म्हसकर विद्वान् नहीं, पर सुविज्ञ; धनी नहीं, पर परोपकारी; साहसी नहीं, पर स्पष्टवक्ता; प्रबल नहीं, पर प्रामाणिक और पूर्णत: देशभक्त, सज्जन तथा निस्स्वार्थ

कार्यकर्ता थे। वे स्वयं प्रत्यक्ष क्रांति करने के लिए आगे आनेवाले नहीं थे, पर उनका राजनीतिक झुकाव—स्वदेश को स्वतंत्र करने के लिए यदि सशस्त्र क्रांति के रास्ते जाना पड़े तो अंदर से सहायता देने में संकोच न करने का था। उनका रहन-सहन भी उनके सरल, सद्शील और निष्कपट स्वभाव के अनुसार ही था। घुटने तक की ढीली धोती, माथे पर भव्य भस्म-लेपन, मटमैला गोरा रंग, प्रातःकाल पूजा पात्र हाथ में लेकर मंदिर-मंदिर जाना, उनके सहज सौम्य शब्दों को प्रकट करने के लिए सहायक आगे बढ़े दाँत, व्रत-उपवास, बिना इस्त्री का कोट, टोपी और बहुत कार्य करने के बाद भी अल्प बात करने की वृत्ति—म्हसकर का नाम लेते ही ऐसी छवि आँखों के सामने आ जाती है।

श्री पागे

म्हसकर के एक मित्र पागे का उल्लेख ऊपर आया है। वे भी सरकारी नौकर ही थे। तब उनकी भी आयु तीस के आसपास थी। उनके स्वभाव और म्हसकर के स्वभाव में जो अंतर था, वह अधिकतर एक-दूसरे का पूरक ही था। इसलिए उनकी सहकारिता और स्नेह आजन्म बना रहा। पागे आगे-आगे दिखते थे, जबकि म्हसकर का स्वभाव संकोची—पीछे-पीछे रहने का था। पागे को अपनी छोटी सी आय में भी यथासंभव बड़प्पन दिखाने, दस आदमियों में बैठने-उठने का उत्साह था। पागे ने अपना आत्म-वृत्त लिखा था। दोनों इकट्ठे ही समाचारपत्र पढ़ते। पागे कतरनें काटकर उन्हें प्रयासपूर्वक लगाकर रखते। लेख म्हसकर लिखते, पर जानकारी पागे देते थे। पागे घर में एक छोटी पाठशाला चलाते थे। म्हसकर भी उसमें कभी-कभी पढ़ाते थे। पागे ठिगने थे—मुँह और आँखें छोटी और गोल, शरीर बहुत दुबला, निस्तेज और सूखा-सा, पर उनकी चटपटी बातचीत का प्रभाव लोगों पर पड़ता था। उनके साथ हमेशा चार-पाँच अनुयायी रहते थे। कोई-न-कोई सार्वजनिक आंदोलन चलाने में अल्प शक्ति होते हुए भी वे व्यस्त रहते थे।

नासिक के सार्वजनिक कार्य में अनेक छोटे-बड़े कार्यकलापों में उनका हाथ रहता ही था। म्हसकर और पागे—दोनों ही राजनीति में 'काल' पत्र के आदर्शानुसार क्रांतिकारी मार्ग से राष्ट्र को स्वतंत्रता की ओर ले जाने का विचार रखते थे, पर उन्हें उस दिशा की, साधनों की स्पष्ट कल्पना, योजना या विचार नहीं थे। उनके सार्वजनिक कार्य गणपति उत्सव, शिवाजी उत्सव आदि तिलकपंथी विचारों के ही थे। वकीलों में किसीने यदि उदार भाषा का प्रयोग किया तो उसको लक्ष्य बनाकर जिसे राष्ट्रीय-उग्रवादी नीति कहते थे, उसका उपयोगकर विदेशी शासन के विरुद्ध लोगों में हलचल उत्पन्न करने की इच्छा उनकी रहती थी, परंतु स्वयं कोई

विधि-विरुद्ध कार्य करने के विरोध की नीति का वे सामान्यतया समर्थन करते थे।

प्लेग अस्पताल में बाबा की दोस्ती म्हसकर से होने के बाद उनके मित्र पागे से भी बाबा की दोस्ती हो गई। म्हसकर मेरे भविष्य के बारे में बड़े आश्वस्त हो गए। तब मैं केवल सोलह वर्ष का था। इसलिए मेरे क्रांतिकारी विचार सुन उन्हें मेरी चिंता होती थी और अपने विचारों के कारण मेरा अकाल नाश न हो जाए, इस विचार से वे मुझे समझाते थे। बिना भयभीत किए यथासंभव मुझे रोकना, बड़ा होने के नाते उनका कर्तव्य है, यह उनका सोचा-समझा पक्का निर्णय था। कुछ ही समय के साहचर्य से मेरे मन में म्हसकर के लिए बहुत आदर उत्पन्न होने लगा था। उनकी देशभक्ति किसी सरोवर की तरह अगाध और गहरी लगती थी। प्लेग के संकट में परिवार की दुर्गति के समय भी अपने क्रांतिकारी विचारों का, जो भी व्यक्ति मुझे मिलता, मैं उससे वाद-विवाद कर प्रचार करता रहता था। म्हसकर से भी वैसा ही वाद-विवाद मैंने प्रारंभ किया। भगूर में ली गई अपनी शपथ की बात मैंने उन्हें बताई। ऐसे ही शपथबद्ध लोगों की एक गुप्त मंडली की स्थापना करनी होगी, यह भी मैंने उन्हें कहा। पहले तो वे मुझे ऐसा जताते रहे कि मैं जो कुछ कह रहा हूँ, उसमें नया कुछ भी नहीं है और वैसी मंडली की स्थापना वे कर चुके हैं, परंतु जल्दी ही उनको यह मानना पड़ा कि उनके द्वारा स्थापित 'विद्यार्थी संघ' और जो मैं सुझा रहा हूँ, उस गुप्त मंडली में आकाश-पाताल का अंतर है। जब कभी मैं म्हसकर से यह कहता कि वैसी ही शपथ वे स्वयं भी लें, तो वे कहते कि केवल शपथ लेने से क्या होगा? या फिर कहते कि वैसी शपथ उन्होंने ले रखी है। उनके उन दोनों कथनों के मध्य कैसा विरोध है, यह मैं उन्हें बताता और कहता कि यदि शपथ ले ही ली, तो वही फिर से मेरे सामने लेने में क्या हानि है? उलटे एक-दूसरे के साक्ष्य से परस्पर विश्वास ही बढ़ेगा। ये सब बातें मैं उन्हें बार-बार कहता, परंतु पागे से मैंने इतनी स्पष्टता से तब तक चर्चा नहीं की थी, तथापि म्हसकर ये सारी बातें पागे तक पहुँचाते ही थे।

उत्सव आदि विधि-अधीन चलाए जा रहे आंदोलन अपूर्ण हैं, इस प्रकार की टीका मैं सतत करता रहता। उस टीका का प्रभाव उन दोनों पर होते रहने से सशस्त्र क्रांति की स्पष्ट कल्पना और उत्कट इच्छा भी उन दोनों के मन में धीरे-धीरे विस्तार पा रही थी। केवल अकेले-दुकेले सुधारों के लिए प्रयास करने से क्या होगा? विष-वृक्ष के मूल पर ही कुल्हाड़ी चलानी होगी, तभी शाखाएँ नीचे गिर सकेंगी। अतः पूर्ण राजनीतिक स्वतंत्रता का ही ध्येय सामने रखकर निर्भयता से उसकी घोषणा करनी होगी, ये मेरे विचार थे। उन सभी आंदोलनों, जो खुले या प्रकट रूप से किए जाते हैं, में भी यही हवा फैलानी होगी। मेरे इस विचार को उनकी स्पष्ट सहमति

धीरे-धीरे प्राप्त होती जा रही थी, परंतु चापेकर-प्रकरण के भयंकर धक्के से दहशत खाए उनके मन सैकड़ों को जलानेवाली उस गुप्त षड्यंत्र की अग्नि में अपने हाथ डालने तब तक बढ़ नहीं रहे थे। इतना ही नहीं, अपितु वैसा व्यर्थ साहस करने की ओर बढ़ने के लिए वे मुझे भी ममतापूर्वक, परंतु दृढ़ता से रोक रहे थे और तब भी ऐसा कुछ करना ही चाहिए, यह चुभन उनके हृदय में अंदर-ही-अंदर निरंतर हो रही थी।

प्रथम खंड के अंत में जो बात मैंने लिखी है, उसीके अनुसार प्लेग अस्पताल से बाबा और बाल के भले-चंगे होकर घर आ जाने के बाद हम श्री रामभाऊ दातार के मकान में किराये पर रहने लगे। वह घर तिलभांडेश्वर गली में था। मैंने उस गली में भी अपने राजनीतिक विचारों का प्रसार बड़े वेग से आरंभ किया। भविष्य में पूरे भारत में विस्तीर्ण क्रांति संस्था का जन्मस्थान होने का महत्त्व इस गली को प्राप्त होना था; और उस क्रांति में इस गली के हर निवासी—स्त्री-पुरुष को अपनी-अपनी बात के सामर्थ्यानुसार प्रत्यक्षतः कुछ-न-कुछ कष्ट सहन करके कुछ समय के लिए तो राज्यसत्ता भी सहम जाए, एक ऐसे क्रांति-केंद्र के निर्माण का सहयोगी होना था। यह बात उस समय यद्यपि किसीको स्वप्न में भी सच लगनेवाली नहीं थी, पर अब वह एक सत्य है। इसी गली के जिन व्यक्तियों को लेकर उनमें छिपे तेज-अंश को प्रज्वलित कर और उनकी परिस्थिति पलटकर, अभिनव भारत क्रांति की वह पहली चिनगारी हम सुलगा सके, उन व्यक्तियों का तथा इस तिलभांडेश्वर गली का परिचय करा देना, उनकी स्मृति जाग्रत रखना और आज उसे जो महत्त्व प्राप्त हो गया है, उसे समझने के लिए आवश्यक है। इतना ही नहीं, अपितु उनके द्वारा की गई छोटी-बड़ी देशसेवा का उपकार उतारने के एक कृतज्ञ कर्तव्य की दृष्टि से भी उस गली का, वहाँ के निवासियों का यथासंभव पूर्ववृत्त हम यहाँ दे रहे हैं। उन सबके मेरे उस समय के संगी-साथी और प्रेम के ऋणानुबंधी होने के कारण भी मेरे आत्म-चरित्र में उनका उल्लेख होना उन सबका अधिकार है।

तिलभांडेश्वर की गली

सन् १८९८ में मैं और मेरे बड़े भाई वर्तक के मकान में रहने के लिए इस गली में आए, यह मैं पहले ही बता चुका हूँ। बाबा और उनके वय के ही श्री रामभाऊ दातार उस समय हाई स्कूल में एक ही कक्षा में पढ़ रहे थे। इस कारण उनके परिचय से ही हम दोनों को पिताजी ने वर्तक के मकान में दूसरी मंजिल पर एक कमरा किराये पर लेकर पढ़ने के लिए रखा था। स्वयं वर्तक दिवंगत हो चुके थे और उनकी पत्नी श्रीमती माई वर्तक ही घर की सारी व्यवस्था देखती थीं। श्रीमती

माई वर्तक, जिन्हें हम सब 'माई' कहते थे, बड़ी साहसी, दयालु और कर्तृत्वशील महिला थीं। मेरे पिताजी ने जब अपने दोनों बालक उनके घर में रखे, तब माई से ही हमें सँभालते रहने को सहज रूप से कह दिया था। माई ने हमें सँभालने की बात भी सहज रूप में ही स्वीकार की होगी। उस सहज वचन को वे कभी भूली नहीं। उनके तीन पुत्र—नाना, त्र्यंबक, श्रीधर—और एक कन्या थी। इसके अतिरिक्त एक विवाहित सौतेली कन्या पुणे में थी। उसके सहित इस पूरे परिवार का हमारे ऊपर बड़ा स्नेह था। हम उनके घर में वर्ष भर भी नहीं रहे। प्लेग के कारण हम भाग-भागकर भगूर चले जाते। पर वहाँ इस अल्प काल के निवास से ही हमारे उन लोगों से अटूट घरेलू संबंध हो गए थे। माई ने स्वयं अपने बच्चों जैसी ही हमारी भी सेवा-सुश्रूषा अस्वस्थता के समय की। हम भोजनालय में खाते थे, इसलिए आते-जाते बड़ी चिंता से हमें वह दूसरी वस्तुएँ खिलातीं। हमारे हित-अहित की चिंता करतीं। मेरे गुणों की भारी प्रशंसा करतीं। उनका बड़ा पुत्र 'नाना' बाबा के, त्र्यंबक मेरे और श्रीधर बाल के वय का था। अत: हम तीनों भाइयों का इस बचपने से ही वर्तक बंधुओं से गहरा प्रेम हो गया था। दातार और वर्तक के घर लगे हुए थे। इन दोनों परिवारों का ऋणानुबंध लंबे समय से था। इसी कारण प्लेग के बाद सन् १८९९ में हम वर्तक के घर से दातार के घर में चले गए। फिर भी वर्तक के यहाँ रात-दिन जाना-आना लगा ही रहता था। घरेलू संबंध और भी प्रगाढ़ होते जा रहे थे।

दातार के दो पुत्र थे—पहला, रामभाऊ एवं दूसरा मेरे वय का वामन (आज के वैद्यभूषण वामन शास्त्री दातार)। उनका एक चचेरा भाई भी था जो किशोरावस्था में ही प्लेग से मर गया। पिताजी की मृत्यु के बाद रामभाऊ दातार ही पूरे परिवार के आधार-स्तंभ थे। वर्तक का घर खाता-पीता और सुखी था, पर रामभाऊ को पहले से चले आ रहे ऋण का बड़ा कष्ट था। उनके घर से लगा एक विष्णु मंदिर था। वह भी उनका ही था। मंदिर की पूजा, अर्चना, उत्सव आदि की सारी व्यवस्था दातार ही करते थे। इस मंदिर में हम कई बार रहते, बैठते, सोते। रामभाऊ कहीं नौकरी, धंधे आदि की चिंता में लगे रहते, पर इससे उनके आनंदी स्वभाव के दूध में कभी खटास नहीं आई। रामभाऊ संकट से डरते नहीं थे। किसी विरागी तत्त्वज्ञ की तरह ही वह मन से उत्साही और निडर व्यक्ति थे। एक बार प्लेग ने सारे परिवार को भयानक रूप से आ घेरा। मैंने कहा, अब तो गाँव छोड़ो। आज हैं, कल न भी हों। अब इस भयंकर रोग के विष की परीक्षा नहीं लेनी चाहिए। रामभाऊ ने कहा, उसमें क्या है, कल मैं मरा तो परिवार का बोझा हलका ही होगा। परिवार में से कोई मरा तो मेरा बोझा हलका हो जाएगा।' और सचमुच वैसा ही अविचल व्यवहार था उनका। परंतु यह निर्मम मनुष्य इतना ममतामय था कि रास्ते के चोर की भी मदद करे। उन्हें गाने

में बड़ी रुचि थी—गाना, बजाना, नाटक अर्थात् आनंद। गाते भी थे। उन्हींकी गति के कारण नाना वर्तक और बाबा भी उसमें रमे-रँगे रहते थे। और उसका प्रभाव उन तीनों तरुणों की हाई स्कूल की पढ़ाई पर भी उसी रूप में पड़ा। इन तीनों ने ही लापरवाही से मैट्रिक तक की यात्रा तो जैसे-तैसे पूरी की किंतु उसमें पारिवारिक बाधाएँ भी उत्पन्न हुईं और वे तीनों ही मैट्रिक उत्तीर्ण नहीं कर सके।

दूसरे थे श्री वामन शास्त्री दातार। उनके पुरातन संस्कार के दादाजी का विचार उन्हें बचपन से ही संस्कृत पढ़ाने का था। इनके घर में दो पीढ़ियों से संस्कृत विद्या की परंपरा चली आ रही थी और कुछ-थोड़ी पुरोहिताई भी थी। संस्कृत पढ़ाना है, इसलिए वामन को मराठी भी ढंग से नहीं पढ़ाई गई। अंग्रेजी का तो प्रश्न ही नहीं था। और जिस संस्कृत के लिए प्राकृत विद्या छूटी, उस संस्कृत में भी तब तक वे कुछ नहीं थे। सारा विद्याभ्यास इस प्रकार चौपट हो गया। पूरे दिन वह घर ही में, इधर-उधर करते रहते थे। उस गली में उसके पास-पड़ोस के सारे लड़के जैसे गप-शप करने में समय गँवाते थे, वही वामन भी करते। उस गाँव की गली की सामान्य उठापटक के सिवाय युवा मंडली का कोई उच्चतर ध्येय या जीवनक्रम तब तक नहीं था। अत: उस तुच्छ परिस्थिति से निकलकर जीवन का विकास करने की उच्च आकांक्षा भी उस गली में किसीके मन में उदित नहीं हुई थी, उसकी कोई संभावना भी नहीं थी।

और वामन तो सर्वमान्य अनाड़ी थे। उसपर भी वे जितने सीधे और निष्कपट थे, उतने ही तामसी और अकेले। इसलिए उनका संगी-साथी भी कोई नहीं था। ऐसे हर बात में पिछड़े और ढीले-ढाले वामन ही उस गली में मेरा पहला और अत्यंत विश्वसनीय मित्र बने। हमारी आयु भी समान थी। मैं उनके घर में ही रहने लगा तो वे मेरे एकनिष्ठ भक्त हो गए। उनके पूर्वपरिचित लोगों और संबंधियों ने प्रारंभ में—मुझसे कुछ थोड़ा मत्सर होने के कारण उन्हें दोष भी दिया। वे कहते—अरे, कल का आया तात्या तुम्हें इतना सगा लगता है? तुम उसके कहे में ही क्यों चलते हो? परंतु मेरे वहाँ रहने तक वामन ने कष्ट सहकर भी मेरे प्रति अपने भाव में कभी कोई अंतर नहीं आने दिया। मेरी संगति और टोका-टाकी से वे शीघ्र ही विद्यार्जन की ओर मुड़े। वे मराठी अक्षर घोटने लगा, शुद्ध लिखने का अभ्यास करने लगे। पुस्तक कैसे पढ़नी है, कविता कैसे लिखनी है, कैसे बोलना है? कैसे चलना है? स्वयं कुछ विद्या अर्जित कर कैसे दाल-रोटी कमाने योग्य बनना है आदि हर बात मैं अपने छोटे भाई की भाँति ही उनसे कहता और उनको सिखाता था। जल्दी ही उनकी मूल बुद्धिमत्ता सुसंस्कृत होती गई और कर्तृत्व का विकास होकर वामन मेरे उस समय के सब आंदोलनों में दिनोदिन मेरा एकनिष्ठ भक्त ही

नहीं, अपितु कर्तव्यनिष्ठ सहयोगी भी बनते गए।

उस समय हमारा और दातार का परिवार दो नहीं थे। हमारी रसोई एक स्थान पर बनती—पैसे आदि भी एक ही स्थान पर रखे जाते और खर्च भी साथ-साथ होता। इसमें दोनों ओर के बड़े-बूढ़ों की सहमति न होते हुए भी बाबा और रामभाऊ के उदार मन के कारण, निष्कपट स्नेह के कारण और मेरी संगति के कारण ही ऐसा चल रहा था। मेरे राजनीतिक ध्येय के नशे में हम सब युवा दिन-ब-दिन अपने संकुचित व्यक्तित्व को भुलाकर एक विस्तृत समष्टि में विलीन होते जा रहे थे। इसी कारण हम एक-दूसरे के लिए जन्म-संबंधों से भी अधिक निकट संबंधी लगने लगे थे।

उस मंडली का मेरा दूसरा स्नेही त्र्यंबकराव वर्तक था। उस समय की अपनी भाषा में हम उसे 'वर्तकांचा त्र्यंबक' कहते रहे। उस गली की सारी युवा पीढ़ी में यही एक युवक शिक्षा की ओर झुकाववाला था तथा उन सबमें वही एक कुछ क्षमतावान था। अध्ययन मन से करता। वाचन में भी उसकी रुचि थी। कुछ बड़े बनने की, कुछ विशेष प्राप्त करने की उसकी सदिच्छा भी थी। मैं जब तक वहाँ था, कक्षा में हम साथ ही बैठते थे। पूर्व में कहे अनुसार उनके घर से हमारे घरेलू संबंध हो गए थे। उसमें भी त्र्यंबक और मुझमें एक-दूसरे के प्रति स्नेह बहुत था। हम इकट्ठा पढ़ते, साथ घूमने जाते, एक साथ व्यायाम करते, एक साथ रहते। कविता करने, व्याख्यान देने और बोलने में मुझसे उसकी उपयोगी स्पर्धा भी चलती। त्र्यंबक को समाचारपत्र पढ़ने का थोड़ा-बहुत चाव पहले से ही था। इसलिए मेरे राजनीतिक आंदोलन में मुझे उसकी सहानुभूति तत्काल मिली। मेरे मैट्रिक होने तक हमारे सभी आंदोलनों में त्र्यंबक भी तन-मन-धन से मेरे साथ जुटा रहता, खटता रहता। उन लोगों के अपने सामान्य जीवन-प्रवाह के संकुचित वातावरण में उसके जो गुण मुरझाए-से रहते, वे देशभक्ति, साहस, आकांक्षा आदि गुण मेरे राजनीतिक तथा वाङ्मयी आंदोलनों और उसके दिव्य ध्येय के चेतनादायी स्पर्श से त्र्यंबक में विकसित हो गए। आगे स्थापित होनेवाली हमारी संस्था को उसके प्राथमिक महत्त्व तक पहुँचाने में सहायक हो सके, वह इतना विकसित हुआ।

गली के उत्पाती लड़कों में पुणे के एक सुशिक्षित सज्जन भी थे, जिनकी आयु तीस के आसपास थी। परंतु वे मंडली के उन उपद्रवों में हौसले से सम्मिलित रहते हुए भी दबे-छिपे रहते। वे और उनके दो भाई अंत तक हमारे साथ ही उठते-बैठते रहे। उस नगरकर की गली को मेरे आने के पूर्व थोड़ी राजनीति की चटक अर्थात् केवल गपों तक उनकी संगति में ही लगी थी । पुणे की 'सन्मित्र समाज' नामक संस्था के मेलों में गाए जानेवाले कुछ ख्यात गीतों को वे गाकर सुनाते थे। मैं

भी उन्हें बड़ी रुचि से सुनता। तिलक और चापेकर की गप वे सुनाते थे। इसलिए मैं उनसे वही गप करता। बाबा से उनका स्नेह था। इसलिए संकट के समय उन्होंने श्रम भी किए। वे सरकारी नौकर थे। इसलिए हमारे साथ छिपकर रहते। मेरी सराहना होती देख कभी-कभी ईर्ष्या भी करते। बाद में तो पुलिस के डर से उन्होंने संस्था से संबंध ही तोड़ लिया।

वर्तक और दातार—इन दो घरों के बीच में श्री धोंडोभट विश्वमित्र का घर था। नासिक के पंडा-वर्ग में धोंडोभट निराले पंडा थे। शरीर से भारी-भरकम, रंग से गोरे, रूपवान, स्वभाव से हठी, मन के प्रेमी, वृत्ति से 'गंगा गए गंगादास जमुना गए जमुनादास'। पंडागिरी के समय काम से काम और जहाँ उस काम से निपटे और पंडागिरी की वरदी उतार धोती पहनी, तो पान, तंबाकू, चाय, चिवड़ा, सोडा, लेमन, ताश और चौपड़ की मौज-मस्ती में डूबे रंगीन आदमी। इन्हीं धोंडोभट विश्वमित्र के खंडहर और अँधेरे कमरे में एक मराठा स्त्री रहती थी—आस-पड़ोस के ब्राह्मणों के घर में चौका-बासन करनेवाली। उसकी एकमात्र संतान, लाड़ला पंगु लड़का था। वही थे 'आबा पांगळे' आबा दरेकर! घुटने से नीचे लूले हो जाने से मेढक की तरह दोनों हाथों के बल छलाँगें लगाता वही इस गली की गुफा का राजा था। वह गली की तरुण मंडली का तो नेता था ही, साथ ही अपने यहाँ आनेवाले आठ-दस अशिंक्षित हम्मातो पर भी शासन करता था। शुरू में आबा पांगळे लावणी रचता और नौटंकियों में मस्त रहता। उधर उसकी माँ बेचारी घरों में छोटे-मोटे काम कर अपना तथा अपने विकलांग लड़के का पेट भरती थी।

पहले ये दोनों किसी गाँव में थे, वहाँ से नासिक की इस गली में आए। आबा ने यहाँ आकर एक कदम आगे बढ़ाया। उसकी नौटंकी छूट गई—यहाँ सब ब्राह्मणों की संगति थी। अत: वह नाटकों की ओर मुड़ गया। तब विवाहों के अवसरों पर बरात के साथ कागज के फूलों की मालाएँ और रंग-बिरंगे कागज के 'बाग' ले जाने का चलन था—आबा ने 'बाग' बनाने की वह कला सीखी। बाग के काम से उसे कुछ पैसे मिल जाते थे। शेष सारा समय अपनी गली के बाहर के ऊधमी लड़कों की नेतागिरी करने में बीतता। उस मंडली में नेता की ही बात प्राय: मानी जाती थी। गंगाराम और गनपत नाई, श्रीपत और सखाराम गोरे, काशीनाथ अनंतराव वैशंपायन आदि अनेक आबा के प्रभाव में थे। हमारे दातार के रामभाऊ, वामन बंधु, वर्तक नाना और त्र्यंबक बंधु तो आबा के मुख्य सरदार ही थे। अंग्रेजी पढ़े-लिखे इन लोगों पर भी आबा की छाप यूँ ही नहीं पड़ती थी, आबा की बौद्धिक श्रेष्ठता थी ही वैसी। अक्षर-शत्रु होते हुए भी वे नाटक रचते और उनके साक्षर चेले लिखाई का काम करते। आबा गीत रचते तो गाते हमारे रामभाऊ दातार और जब रामभाऊ दातार गाते,

तब तबला बजाते आबा।

हर नए पराक्रम के कार्यक्रम का आयोजन करते आबा और उसको मूर्त रूप देते उनके सरदार-दरबारी। इस पराक्रम की विविधता इतनी विक्षिप्त होती कि पड़ोस के तिलभांडेश्वर मंदिर में आते-जाते स्त्री-पुरुष यह नहीं जान पाते कि आज कौन सा नया खेल उनके संग खेला जाएगा। खेल होते तो निरुपद्रवी थे, परंतु भोंडे। एक दिन के कार्यक्रम की कथा का उल्लेख करना ही पर्याप्त होगा। यह कथा भी उस पांगळे की राजसभा के सदस्यों ने कई-कई बार कही और हर बार ठहाके लगाए—इसलिए स्मृति में रही। ये सारे लोग छज्जे पर खड़े रहते—नीचे से आते-जाते लोगों के सिर दिखते। कोई व्यक्ति बड़ा सा साफा बाँधे निकलता तो ये अपने-अपने क्रम से उसपर थूकते। यह थूकना बहुत ही कलात्मक होता—ऐसा कि कफ का खकारा साफे पर बतासे जैसा गिरे और उस व्यक्ति को आभास तक न हो। अब वे सज्जन साफे पर वह बतासा धारण किए मंदिर में प्रदक्षिणा लगा रहे हैं और इधर ये मंडली उसपर ठहाके लगा-लगाकर हँस रही है। उस व्यक्ति को यह ज्ञात ही नहीं होता कि मेरा ऐसा क्या बिगड़ा है कि ये मुझे देख-देख हँस रहे हैं। कभी-कभी कोई झगड़ा भी कर बैठता, ऐसे में ये सारे एकजुट होकर उससे भिड़ जाते। एक बार ऐसा अनुभव लेकर लौटा हुआ आदमी फिर उस मंदिर की गली में सहमा-सहमा ही आता और जैसे कोई कुत्ता काटे, उसके पूर्व ही निंकल जाने की सोचता।

उक्त छज्जेवाले घर से सुरक्षित कोई आगे निकल भी जाता तो उस तिलभांडेश्वर के मंदिर की दूसरी एक चौकड़ी का सामना उसे करना पड़ता। उस गली की इस दूसरी संस्था का नाम देवी मठ था। वास्तव में वहाँ मठ था ही नहीं—शिव मंदिर से लगा देवी मंदिर ही था, पर उसे मंदिर न कहकर 'मठ' कहते थे। वहाँ जमा रहता पंडों का अड्डा और उनके राजा, जिनका उल्लेख मैंने ऊपर किया है, पंडाधिपति धोंडोभट विश्वमित्र। ऐसे विकट खेल रचने और खेलनेवाले आबा पांगळे का एक राज्य और धोंडोभट का दूसरा राज्य, ये दोनों मिलकर एक संयुक्त राज्य हो जाता था। पंडों के इस राज्य में शरद् पूर्णिमा को दूध, शिवरात्रि के आसपास भाँग, किसी-न-किसी कारण लड्डू और नित्य की चौपड़ का हल्ला-गुल्ला चलता। वह मारा, पौबारा, दस, पच्चीस, घोंटो और पियो की गर्जनाएँ सुनाई देतीं। जब कभी कोई विशेष कार्यक्रम नहीं रहता तो आने-जानेवाले की छेड़खानी से उपजा झगड़ा या आपस की हँसी-मजाक से उत्पन्न विवाद का कोलाहल तो वहाँ होता ही। उन देवताओं को इन महा झगड़ालू बेतालों की अधिष्ठात्री देवी बनना ही भाग्य में है, यह ज्ञात होता तो उस मंदिर के संस्थापकों ने उसे तिलभांडेश्वर की बजाय बेताल-

भांडेश्वर ही कहा होता।

फिर भी इनमें एक बात विशेष थी। जिस एकजुटता और जिद से उस गली के ये लोग ऊधम और चैनबाजी किया करते, उसी एकजुटता और जिद से परोपकार के काम भी करते थे। किसी अनाथ का रक्षण, किसी दुर्जन का दंडन, किसी विपत्तिग्रस्त की सहायता, कहीं आग लग जाए तो उसे बुझाने का प्रयास आदि काम भी ये पूरे मन से करते। उस समय का उनका जीवनक्रम कुल मिलाकर निष्कपट, चिंतारहित, फुटकर और फोकटी, अव्यवस्थित और असंयत, रसिया और रँगीला होता था।

आबा पांगळे

जब मैं वर्तक के बाड़े में सन् १८९८ में पहले-पहल रहने आया था, तब इनसे मेरा सामान्य परिचय हुआ था। परंतु उनकी राजसभा में कभी भी हाजिरी न लगाने के कारण उनकी मंडली ने पहले-पहल मुझे बेकार आदमी समझा। बाद में जब मेरे वाचन, लेखन, भाषण आदि की चर्चा नासिक के बड़े आदमियों में होने लगी, तब वे मुझे थोड़े काम का, परंतु एक 'पुस्तक कीट' अर्थात् उपहासास्पद समझते। उपहास करते-करते मेरे लिए उनमें से कुछ के मन में चोरी-चोरी कुछ आकर्षण होने लगा तो कुछ के मन में मेरे प्रति ईर्ष्या भी जागने लगी, क्योंकि मेरे जीवनक्रम को देखते हुए उन्हें अपना जीवनक्रम बिलकुल बेकार लगने लगा था। आकर्षित होनेवालों में आबा पांगळे भी थे। इसलिए उनके चेलों का मेरे प्रति मत्सर या विरोध फूल-फल न सका। वे सारे मुझसे बड़े थे। आबा तो मुझसे बारह-तेरह वर्ष बड़े थे। मैं कविता करता था, आबा तो उस मंडली के राजकवि ही थे। मुझसे ईर्ष्या रखनेवाले आबा के कुछ चेले आबा को कहते, 'कहते हैं, ये सावरकर का बच्चा कविता करता है, पर आपकी रचनाओं के सामने तो वह किसी तरह टिक नहीं सकता।'

कविता की पहचान होने के कारण इस तरह की टीका का प्रभाव उनपर उलटा ही होने लगा। मेरी कविता, उनकी लावणी, रास आदि कुछ विषयों में अधिक सरस है, मन-ही-मन ऐसा उन्होंने माना और फिर सरस इसलिए है कि मेरे पास शब्दों का भंडार अधिक है—ऐसा तर्क भी उन्होंने दिया। किस पुस्तक से मैं निकालता हूँ ये शब्द, वह पुस्तक अर्थात् कविता की चाबी मैं उन्हें क्यों दूँगा? क्योंकि मेरा उनका व्यवसाय एक और जैसे 'भिक्षुको भिक्षुकं दृष्टवा श्वान वत् गुरगुरायते' ऐसा कहा जाता है, वैसे ही 'कविः कवीं दृष्ट्वा' भी हो सकता है और मैं अपनी पुस्तकें आबा के माँगने पर कदाचित् अधिक ही छिपाकर रख सकता हूँ।

ऐसी सारी बातें सोचते एक दिन आबा अपने अड्डे पर विराजमान थे—और उनके मत में पारंगत एक व्यक्ति ने उन्हें समाचार दिया कि मैंने एक पोवाड़े की रचना की है। उस पोवाड़े को देखने एक दिन आबा पांगळे स्वयं मेरे कमरे पर पधारे। बात हुई तो यहाँ 'सारा खेल ही उलटा' है, यह तत्काल उनके ध्यान में आ गया। कविता की चाबी छिपाकर रखने के बदले मैं तो उनसे—यह देखो—यह पढ़ो—यह भी देखो, इसे भी पढ़ो, ऐसा साग्रह कहता चला जा रहा हूँ। शब्द-संपत्ति का प्रश्न उठाते ही मैंने मराठी शब्दकोश आबा के हाथ पर रख दिया। वह अति प्रसन्न हुए। मैंने उन्हें बताया कि पुस्तक माँगकर ले जानेवाले लौटाते नहीं हैं—वैसा आप न करें। कुछ शब्द पढ़कर उनके रूप कैसे बदलते हैं, कविता की दृष्टि से शब्द कैसे बन जाते हैं आदि बातें भी समझाईं। आबा ने तब तक 'कोश' क्या बला है, यह जाना भी नहीं था—वे तो स्वयंसिद्ध कवि थे।

ऐसी हुई आबा पांगळे से मेरी पहली भेंट। उस भेंट में मेरे मन की निश्छलता और प्यार का जो अनुभव उन्हें हुआ, उसे वे बड़े मजे से अपनी मंडली में सुनाने लगे। उस दिन से मैं उनके आदर का पात्र जो बना, वह बढ़ते-बढ़ते स्नेह, प्रेम और एकनिष्ठ अनुदायित्व में कब बदल गया, किसीको ज्ञात नहीं।

आबा के पहले मैंने वामन दातार को व्याकरण पढ़ाया था। अब मैं वही 'शुद्ध लिखना और शुद्ध बोलना'—के पाठ आबा को देने लगा। वामन तो फिर भी संस्कृत जानता था, आबा को तो विद्या का संस्कार ही नहीं था। अर्थात् कविता में समास कैसे रखना है, शब्दों को कैसे गढ़ना है; गणवृत्त, मात्रावृत्त, अलंकार आदि कला-विषयक शिक्षण मैं उनको कामचलाऊ रूप से देता रहा। आबा में गुण-ग्राहकता बहुत थी। जो कुछ मैं कहता, उसे वे बड़े विनय से सुनते। उनकी कविताओं को देखकर तथा अपनी भी दिखाकर मैं उन्हें संशोधन सुझाता। मराठी के मान्य प्राचीन मोरो पंत, वामन आदि कवियों के काव्य भी उन्हें सुनाए, उनके गुण-दोषों की चर्चा की। इस वैयक्तिक संसर्ग से उनमें विराट् परिवर्तन होते गए। स्वतंत्रता के ध्येय ने उनके मन को उल्लसित किया। उनके सुप्त गुण प्रकट होने लगे और व्यक्तित्व का विकास होते-होते वे महाराष्ट्र के उज्ज्वल देशभक्त और पहली पंक्ति के स्वातंत्र्य-कवि 'गोविंद' हो गए।

उस समय का नासिक नगर केवल पंडों और तीर्थयात्रियों का एक जमघट अर्थात् एक पिछड़ा, द्वितीय श्रेणी का जीवन-शून्य नगर था। उसमें नगरकर का मोहल्ला तो गंदा, सँकरा, छोटा भी था और उसकी एक गली तिलभांडेश्वर तो विचित्र ही थी। उस गली में नौ-दस घर थे और केवल एक आदमी ही सिकुड़कर उस गली से जा सकता था, इतनी सँकरी थी वह। ऐसे वातावरण में हम लोग

ऊपर वर्णित तरीके से रहते थे और ऐसे ही वातावरण के संगी-साथी लेकर मैंने क्रांतिकारी आंदोलन प्रारंभ किया था।

गुप्त मंडल की स्थापना

प्लेग अस्पताल से मेरे दोनों भाइयों के सकुशल लौट आने के बाद श्री म्हसकर और श्री पागे, जिनका उल्लेख ऊपर आया है, से मैं राजनीति के बारे में चर्चा करने लगा। वे दूसरे मोहल्ले में गोरे राम मंदिर के पास रहते थे, परंतु हमारे उनके संबंध बन जाने के कारण वे हमारी गली में आने लगे और फिर नगरकर की गली के ऊपर वर्णित लोगों से भी उनके घनिष्ठ संबंध होते गए। आपस में राजनीतिक चर्चा होते-होते अंत में हम इस परिणाम पर आए कि पहले हम तीन ही देश की स्वतंत्रता के लिए मेरी सुझाई शपथ-ग्रहण करें और सशस्त्र क्रांति के कार्य के लिए एक गुप्त संस्था स्थापित करें। परंतु मेरे आग्रह के कारण जैसे उन दोनों ने शपथ लेने और गुप्त संस्था की स्थापना करने की बात स्वीकारी, वैसे ही मैं भी उनका आग्रह स्वीकार करने के लिए राजी हुआ। वह आग्रह था कि 'काल' पत्र के स्वामी श्री परांजपे से परामर्श किए बिना किसी अन्य को संस्था में न लिया जाए और न ही बिना उनकी अनुमति के कोई क्रांतिकारी कदम ही बढ़ाया जाए। वास्तव में हममें से किसीने श्री परांजपे को देखा तक नहीं था। म्हसकर 'काल' पत्र के लिए लिखते थे और उनसे पत्राचार भी करते थे, परंतु मेरे परिचय के पूर्व किसी क्रांतिकारी संस्था की स्थापना करने की कल्पना भी चूँकि उनके मन में नहीं आई थी, इसलिए श्री परांजपे से परामर्श किए बिना कोई ऐसा कार्य करने की मनःस्थिति में वे नहीं थे। हम लोगों ने इस तरह श्री परांजपे को अपना नेता माना और क्रांतिकारी संस्था को उनका आशीर्वाद मिलने की बात भी सोच ली। यह बात अवश्य थी कि गुप्त संस्थाओं की प्रशंसा वह पत्र करता था और जानकारी भी प्रकाशित करता था। चापेकर-रानडे को उसी पत्र ने हुतात्मा (शहीद) घोषित किया था। लोकमान्य तिलक के प्रति हम तीनों ही नतमस्तक थे, एक तरह से उनके अनुयायी ही थे, पर सशस्त्र क्रांतिकार्य के लिए स्थापित किसी गुप्त संस्था का प्रत्यक्ष अभिनंदन यदि कोई कर सकता है तो 'काल' के स्वामी श्री परांजपे ही—'केसरी' के स्वामी नहीं—यह बात बिना किसीके बताए हमें ज्ञात थी और वह सच थी।

लोकमान्य तिलक उन्हीं दिनों कारावास से मुक्त होकर आए थे। अतः किसी तरह का कार्यभार लेने का निवेदन उनसे करना अनुपयुक्त था। इसपर भी हमने चर्चा की थी और सबसे मुख्य बात यह थी कि हमें अपनी योग्यता की जानकारी थी। तीन सामान्य आदमी—उनमें से दो सरकारी कर्मचारी और तीसरा

सोलह-सत्रह वर्ष का विद्यार्थी, प्रत्यक्षत: एक गुप्त संस्था की स्थापना कर अंग्रेजों से सशस्त्र युद्ध करने की, हिंदुस्थान को स्वतंत्रता दिलाने की बातें करें, यह हमें अपने को ही विचित्र लग रहा था। यद्यपि मुझे व्यक्तिगत रूप से यह कार्य विश्वसनीय, सुसंगत, न्यायोचित या कहें कि किसी भी विचारशील और जीवंत व्यक्ति का वह एक अपरिहार्य कर्तव्य है—ऐसा लगता था, लेकिन प्रश्न था कि लोकमान्य तिलक को वह कैसा लगेगा? उन्हें इसमें कितना पागलपन दिखेगा? वे किस तरह उसे हास्यास्पद समझेंगे, यह मैं और मेरे साथी जानते थे, पर मेरे सामने इतिहास घूम जाता। क्या वह चाणक्य भी सिरफिरा नहीं था? और वह मैजिनी! उनके कार्यारंभ का पहला दिन? अत: दादा तिलक के उपहास को टालने का एक रास्ता यह भी था कि पहले उन्हें कुछ नहीं बताना है। पहले कुछ कर दिखाना है और तब उनसे कहना है, यही हमने निश्चित किया था। पर श्री परांजपे तो यह कहनेवाले थे कि सिरफिरों के हाथों ही क्रांतिकाल में सयानेपन के काम होते हैं। और वैसी चेतना तथा आग तरुणों के हृदय में लगाने अपने 'काल' पत्र के इस्पाती सूप में अंगार लिये उत्क्षोभ की गंजी पर बैठकर फटकनेवाले तो वे स्वयं ही थे। वे हमारा साथ देंगे ही। दूर रहकर ही सही, शाबाशी तो देंगे ही। यह बात हमने पक्की तरह से मान ली थी। हम यह भी सोच रहे थे कि म्हसकर श्री परांजपे से मिलने चले जाएँ, पर अब स्मरण नहीं कि म्हसकर गए थे या नहीं। परांजपे की अनुमति और परामर्श के अनुसार ही यह गुप्त संस्था काम करेगी, इस शर्त पर ही म्हसकर और पागे संस्था में आने के लिए तैयार हुए थे। परंतु यदि अन्य अनेक परोपदेश पंडितों की तरह परांजपे भी केवल लेखन की सीमा तक के क्रांतिकारी हुए और उन्होंने प्रत्यक्ष क्रांतिकारी बनने या वैसों से दूर के गुप्त संबंध रखने से भी इन्कार किया तो? यह मेरा तर्क होता था। फिर भी मैं अकेला ऐसी गुप्त संस्था की स्थापना कर सशस्त्र क्रांति के मार्ग पर बढ़ूँगा ही। अपने देश को स्वतंत्र करने की प्रतिज्ञा—जो मैंने चापेकर-रानडे की राख का स्मरण करते हुए देवी माँ के सामने ली थी, वह प्रतिज्ञा, वह व्रत, मैं आजन्म, आमरण निभाऊँगा।

मैंने वह प्रतिज्ञा 'काल' पत्र या उसके संचालक शिवराम पंत परांजपे से परिचय होने के पूर्व ही ली थी, पर उस प्रतिज्ञा की आग को सतत और अधिक चेताए रखने का कार्य परांजपे के 'काल' ने किया था। उतना ही कार्य वे अब भी करें—तो उनका आभार मानूँगा—और अधिक किया तो उत्तम, और न किया तो भी उन्हें छोड़कर मैं अपने व्रत का पालन दृढ़ता से करूँगा।

जिस दिन हम तीनों ने शपथ ली, उस दिन मेरा उपर्युक्त भाषण हुआ। वह सुनकर म्हसकर मुझे अधिक ही चाहने लगे। वे मेरी बहुत प्रशंसा करते थे, पर

डरते थे कि कहीं असमय ही मैं कुछ साहसी कृत्य न कर बैठूँ, जिससे वे सारे संकट में पड़ जाएँ। इसीलिए उन्होंने 'काल' पत्र की अनुमति लेने की शर्त बड़ी युक्ति से लगा रखी थी। उसी बैठक में यह भी तय हुआ कि हम तीनों के सिवाय यह बात 'काल' पत्र की अनुमति प्राप्त होने के पूर्व किसी चौथे को नहीं बताई जाएगी; बाबा (मेरे ज्येष्ठ भ्राता) को भी नहीं, क्योंकि प्रथम तो यह कि वे इन बातों में उस समय तक केवल मेरी संगति के कारण ही ध्यान देते थे—उनकी स्वयं की रुचि उसमें नहीं थी। दूसरी बात जो म्हसकर कहते थे—बाबा तो नाच-गाना, चाय-चिवड़ा में रमे रहनेवाले व्यक्ति हैं। अत: अंदेशा यह है कि उनके मुँह से वह बात रँगीले लोगों में फूट जाएगी। तीसरी बात हमने यह तय की थी कि इस गुप्त संस्था के मत-प्रचार का कार्य चतुराई से करने के लिए, जो एक खुली संस्था दिखने में अक्रांतिकारी जैसी हो, की स्थापना करें और उसके माध्यम से युवा वर्ग को इकट्ठा करें तथा नासिक में चल रहे खुले सार्वजनिक आंदोलनों को अपने तरीके से मोड़ने के लिए अपने काबू में करें। श्री पागे लड़कों को एकत्र कर कुछ-न-कुछ सार्वजनिक काम पहले से ही करते रहे थे। उसीको अब व्यापक रूप से एक सोची-समझी नीति के अनुसार गति देना और उनमें से विश्वासपात्र लड़कों को उपर्युक्त गुप्त संस्था में लेना निश्चित हुआ।

हमारी उस गुप्त संस्था की स्थापना सन् १८९९ के नवंबर मास के किसी अंतिम दिन हुई। उसका पहला नाम 'राष्ट्रभक्त समूह' रखा गया। मैं इससे भी अधिक स्पष्टता से, ताकि हमारा क्रांतिकारी हेतु प्रकट हो, ऐसा नाम रखने के पक्ष में था, पर श्री म्हसकर के कहने पर यही नाम स्वीकार किया। राष्ट्रभक्त समूह—इस नाम का पहला और अंतिम अक्षर लेकर हमने एक और नाम 'रामहरि' रचा। यह नाम ऊपर से धार्मिक मुखड़ा लिये था, फिर भी व्यवहार में सहज नहीं था। इस नाम का उपयोग बातचीत में तथा पत्राचार में सहज किया जा सकता था। बाद के अनेक वर्षों में अपने पत्राचार में इसी नाम का उपयोग हम करते रहे। प्रयोग होता—जैसे 'आज रामहरि मिला।' 'रामहरि ने ऐसा कहा।' 'अमुक दिन रामहरि आनेवाला है।' 'रामहरि अमुक स्थान पर मिलेगा', अर्थात् गुप्त संस्था की बैठक हुई—यह निश्चय हुआ—अमुक स्थान पर गुप्त संस्था की बैठक है आदि।

'मित्र मेला' की स्थापना

इसके बाद उस गुप्त संस्था की खुली शाखा का प्रारंभ कब और कैसे हो, इसका विचार हम करने लगे। उसी अवधि के दिसंबर मास में कारावास से अचानक 'नातू बंधुओं' के मुक्त होने का समाचार नासिक में आया। उस समय मैं, म्हसकर,

पागे और कदाचित् मेरे बड़े भाई बाबा तथा उनके साथी भी किसी नाट्यगृह में नाटक देख रहे थे। वहाँ समाचार सुनते ही नाटक तत्काल बंद कर वहीं, उसी स्थान पर नातू बंधुओं का अभिनंदन करने हेतु एक सभा आयोजित की जाए, यह जोश भरा विचार हमारे मन में आया। परंतु नासिक के उस समय के जो सार्वजनिक नेता नाट्यगृह में थे, उन्होंने हमारे उत्साह पर पानी फेर दिया। हमारी न चल सकी। परंतु उनका वह विरोध बहाना हो गया—हम सब बाहर आ गए। और उस मंडली की सार्वजनिक उत्तेजना का पूरा लाभ लेने के लिए तथा इसपर विचार करते हुए कि नासिक में डरपोक नेतृत्व के कारण ऐसे कार्य नहीं हो पाते—उनको करते रहने के लिए तुरंत एक संस्था की स्थापना करने का निश्चय हुआ। तिलभांडेश्वर की मेरी गली के युवाओं में मेरे साथ होनेवाली राजनीतिक चर्चाओं के कारण काफी-कुछ राजनीतिक समझदारी आ गई थी। उनमें से कुछ मेरे विचार के हो गए थे। उनका सहयोग मुझे तत्काल मिला, और दो-चार दिन में ही कुछ आधे-पौने नियम बनाकर—मेरी स्मृति में १ जनवरी, १९०० को हमने पूर्वनियोजित खुली संस्था स्थापित की और उसका एक निरापद, परंतु व्यापक, सरकारी नौकरों के लिए अप्रतिबंधित, पर क्रांतिकारियों की तेजस्विता से सुसंगत और दोनों ओर से चाहे जितना खींचा जा सकनेवाला नाम 'मित्र मेला' रखा। यही वह मित्र मेला है, जिसका नाम नासिक बम कांड में पूरे देश में गूँजा।

यह 'मित्र मेला' म्हसकर, पागे और मेरे द्वारा स्थापित 'राष्ट्रभक्त समूह' नामक गुप्त संस्था की एक खुली शाखा थी। उस गुप्त संस्था में तिलभांडेश्वर गली के कई लोग, जैसे—दातार बंधु, भिड़े, दाते, वर्तक बंधु, आबा पांगळे आदि धीरे-धीरे समाविष्ट हो गए। आबा के खास लोग, जैसे गणपति नाई भी आ गए। मेरे बड़े भैया तो पहले से ही इसके सदस्य थे। संस्था की बैठकें हर शनिवार एवं रविवार को होती थीं। किसी एक को वक्ता बनाया जाता, अपने सोचे विषय पर उसका मुख्य भाषण होता, उसके मुख्य भाषण पर सब लोग अपनी-अपनी बात रखते। इस तरह चर्चा होती। 'मित्र मेला' में आयोजित भाषण शुरू-शुरू में सामान्य ही होते थे, परंतु मैं उनका संबंध राजनीति से जोड़ देता था और जब मैं राजनीति के विषय पर बात करता, तब क्रांतिकारी विचारों का प्रवाह मेरे भाषणों के प्रारंभ से ही दुर्दांत वेग से चल पड़ता। मैं कहता—यह कानून गलत है, इसे बदला जाए; यह कर भी भारी है, इसे हटाओ, ऐसा अलग-अलग रोना, गाना कब तक हम करते रहें? कब तक वृक्ष के जहरीले पत्ते तोड़ते रहेंगे? क्यों न उसकी जड़ पर चोट करें? और जब जड़ पर चोट ही करनी है तो कुल्हाड़ी आज से ही चलाना क्यों न चालू करें? जो यह कार्य प्रारंभ करेगा, उसे अपने प्राण का मूल्य तो देना ही पड़ेगा, चाहे वह प्रारंभ सौ वर्ष

बाद क्यों न करे। अतः क्यों न वह प्रारंभ हम आज ही करें और प्राण देकर मूल्य भी चुकाएँ। यह कहना कि इस वृक्ष की केवल पत्तियाँ ही विषैली हैं, उन्हें तोड़ना चाहिए, जड़ से हमारा कोई झगड़ा नहीं है—राष्ट्रीय कांग्रेस की गलती है—और यदि हम उस वृक्ष को किसी तरह भी कष्ट न पहुँचाते हुए उससे प्रार्थनाएँ करते रहने का पनियल दूध ही पिलाते रहे तो वह बढ़ते-बढ़ते अमृत वृक्ष हो जाएगा, यह मानना उनकी दूसरी गलती है। ये दोनों गलतियाँ समान रूप से बुद्धिभ्रष्टता के उदाहरण हैं। अतः उन्हें सुधारना चाहिए। यदि ये कार्य वे नहीं कर सकते, तो हम उसे करें, क्योंकि परवशता का विषैला वृक्ष सुधारने का एक ही उपाय है और वह है उस वृक्ष का पूर्ण उन्मूलन! हमारी सारी लड़ाई इस वृक्ष के मूल से ही है और यह बात स्पष्टता से तथा धधकती भाषा में, बंदीगृह की छत से या फाँसी के फंदे से, गरजते हुए कहे बिना लोगों की दीन-हीन स्थिति का अंत न होगा। वे कभी भी उठनेवाले नहीं हैं। उनके सामने एक अति उच्च, अति भव्य और अति दिव्य ध्येय उनकी उपेक्षा-वृत्ति का अंत हुए बिना रहना चाहिए!

त्याग और पराक्रम की जीवंत ज्वालाओं से जलता हुआ यह ध्येय लोगों की दृष्टि के सामने नहीं रहेगा तो उनके मन उस ओर कभी आकर्षित नहीं होंगे। व्यक्तिगत गृहस्थी के चक्र से वे उस तरह के बेहोश दिव्य उछाल के सिवाय बाहर नहीं आएँगे। महान् ध्येय में पागल हुए बिना वे उछलकर उठेंगे नहीं। आज यदि यह कार्य करना प्रारंभ किया, तो समझो कि सौ वर्ष में वह कार्य संपन्न हो जाएगा, पर यदि प्रारंभ कल पर टाला, तो जितनी देर होगी, उतनी ही कार्य-संपन्नता भी होती जाएगी। अतः जोड़-तोड़ रहित संपूर्ण राजनैतिक स्वतंत्रता ही हमारा ध्येय होगा।

इस राजनीतिक गुलामी का धब्बा कहीं पर भी हमारे सिक्कों पर नहीं रहे—ऐसी स्वदेश-स्वतंत्रता हमारा ध्येय हो। यही 'स्वदेश-स्वतंत्रता की प्राप्ति' हमारा धर्म हो। यही 'स्वदेश-स्वतंत्रता' हमारी देवी हो—यहाँ तक कि हमारी मोक्ष-प्राप्ति भी स्वदेश की स्वतंत्रता ही हो।

और यदि संपूर्ण राजनीतिक स्वतंत्रता ही हमारा ध्येय हो तो उसकी साधना सशस्त्र क्रांति के अतिरिक्त दूसरी क्या हो सकती है? गोखले जैसे उदारवादी व्यक्ति के विचारों पर चलकर निवेदन, याचना आदि के द्वारा कुछ नौकरियाँ मिल सकती हैं, स्वामित्व नहीं। लोकमान्य तिलक की प्रखर राष्ट्रीयता के निषेध, स्वदेशी, असंतोष, बंदीवास से कुछ अधिकार मिल सकते हैं—वह अधिकार देने के अधिकार से भी मूल सत्ता नहीं मिलेगी। परंतु इन दोनों ही विचारों की सीढ़ियाँ बनाकर उनपर चढ़कर 'निवेदन' की व्यर्थता से उत्पन्न 'असंतोष' की म्यान से खड्ग, सशस्त्र

क्रांति की तलवार खींचकर निकालने के सिवाय वह स्वतंत्रता, वह सिंहासन, वह राजमुकुट मिलनेवाला नहीं है। इसलिए गोखले और तिलक जो कर रहे हैं, उन्हें करने देते हुए, बल्कि इस कार्य के लिए उनके प्रति आभार व्यक्त करते हुए, जो वे नहीं कर पा रहे हैं, वह हमें स्वयं करना चाहिए और उसकी घोषणा करनी चाहिए, अर्थात् 'स्वतंत्रता हमारा साध्य है और सशस्त्र क्रांति उसका साधन है'—ऐसी घोषणा हमें करनी चाहिए।

साध्य और साधन

'मित्र मेला' की बैठकों में मैं धुआँधार भाषण देने लगा। उन बैठकों में चर्चा का विषय स्वभाषा, साहित्य, व्यापार, इतिहास, व्यायाम, गोरक्षा, वेदांत आदि कुछ भी हो, मैं उसके निष्कर्ष को यहीं तक पहुँचाता था। राजनीतिक स्वतंत्रता के बिना जीवन के किसी भी घटक का अस्तित्व संभव ही नहीं—फिर परितोष कैसा? संस्था की बैठकें पहले अलग-अलग स्थानों पर होती थीं। कभी पागे तो कभी म्हसकर या कोई दूसरा-तीसरा अपने घर में बैठक आयोजित करता, परंतु जल्द ही आबा दरेकर के कमरे में ही संस्था का स्थायी स्थान बन गया, क्योंकि वह स्थान गुप्त संस्था की शास्त्रीय परंपरा के अनुकूल था। मूल में नगरकर की गली ही सँकरी, उसमें तिलभांडेश्वर की पट्टी तो और अधिक सँकरी, उसमें विश्वमित्र का मकान अर्थात् खोजने पर भी न मिलनेवाली एक सुरंग और उसके अँधियारे भाग के एक टेढ़े कोने के छोटे से दरवाजे से काफी अंदर सीढ़ियाँ चढ़कर आनेवाला यह कमरा तो जैसे चूहे का बिल था। मानो नियति ने उसका निर्माण पहले से ही किसी गुप्त मंत्रणा के लिए शास्त्रीय पद्धति से किया हो। उस उदास स्थान में हमारा मन रम गया।

गुप्त कार्यवाही के लिए हमने उसका आवश्यक शृंगार किया। रवि वर्मा द्वारा बनाया हुआ शिव छत्रपति का चित्र मुख्य स्थान पर लगाया। 'टाइम्स' में छपा नाना साहब विप्लवकारी का चित्र हमारे भगूरवाले घर में मेरे पिताजी ने बड़े यत्न से रखा था। मैं जब चौदह-पंद्रह की आयु का था, तब उसी छायाचित्र को देख-देख मेरे मन में सन् १८५७ के स्वतंत्रता-संग्राम के संबंध में उत्कट जिज्ञासा उत्पन्न हुई थी। उस चित्र को चौखटे में जड़कर तथा साथ ही झाँसी की रानी और तात्या टोपे, जो हम भावी विप्लवी लोगों के आदर्श देवता थे, के चित्र भी हमने दीवार पर लगा दिए। उसीके साथ नासिक में एक दरजी की दुकान से माँगकर लाया गया वासुदेव बलवंत का हाथ से बनाया हुआ बड़ा दुर्लभ चित्र लगाया। उसीके साथ चापेकर और रानडे के चित्र टाँगे गए। इस तरह महाराष्ट्रीय क्रांतिकारियों की पूर्व परंपरा हमारी आँखों के सामने सचित्र उपस्थित हो गई। लोकमान्य तिलक का भी चित्र वहाँ था।

'कालं' के संस्थापक का चित्र तब तक बाजार में नहीं आया था। इसलिए वह विशेष रूप से मँगाकर लगाया गया। कभी किसीकी सूचना पर पुलिस-वुलिस वहाँ उस कमरे में आ गई तो सारे-के-सारे क्रांतिकारियों के चित्र वहाँ लगे देखकर इसका साक्ष्य उसे मिल जाएगा कि यह संस्था राजद्रोही है, इसलिए यहाँ अंग्रेज 'रानी' या 'राजा' का भी एक चित्र लगाएँ, म्हसकर ने ऐसा सुझाव दिया। मेरे युवा साथियों ने तिरस्कार के साथ उस सुझाव को अनसुना कर दिया। राजद्रोह का दंड भुगतने के लिए तैयार हैं, परंतु अपने देश के प्रत्यक्ष शत्रु के चित्रों का वंदन हम नहीं करेंगे—किसी ढोंग मात्र के लिए भी नहीं—ऐसा स्पष्ट उत्तर हमने दिया। इतना ही नहीं, स्कूली पुस्तकों में भी इंग्लैंड के राजा या रानी का चित्र हिंदुस्थान के सम्राट् या सम्राज्ञी के रूप में हम नहीं रखते थे।

मैं कहता था—वे राजा-रानी अंग्रेजों के हैं। हम उन्हें हिंदुस्थान का सम्राट् या सम्राज्ञी नहीं मानेंगे। हाँ, कुछ देवी-देवताओं के चित्र हमने वहाँ लगाए ताकि राजनीतिक गंध वहाँ न रहे। इसी स्थान पर हमारी सारी योजनाओं पर चर्चा होती थी। यही स्थान 'मित्र मेला' का, और आगे इसीसे रूपांतरित सुविख्यात संस्था 'अभिनव भारत' का केंद्रीय स्थान हो गया।

कदाचित् हिंदुस्थान के पहले क्रांतिकारी गुप्त संगठन—'अभिनव भारत' का विस्तार यूरोप तक हुआ और स्वदेश की स्वतंत्रता के लिए लड़नेवाले महाराष्ट्र के अति प्रमुख लोग इससे जुड़े थे। इसलिए इस स्थान का पूरे भारत के लिए वंदनीय और दर्शनीय हो जाना स्वाभाविक ही था।

यह कमरा तीन तरफ से घरों की दीवारों में पच्चड़ की तरह था, जिससे वहाँ पर होनेवाली भाषणबाजी सड़क पर सुनाई नहीं देती थी। हमारी संस्था 'मित्र मेला' पुलिस की दृष्टि में सहज ही न पड़ जाए, इसलिए हम कुछ बातें बड़ी सावधानी से करते थे। सड़क पर भाषण सुनाई नहीं देते थे, फिर भी बैठकों के समय एक-दो सदस्य सड़क पर टहलते रहते थे जिससे यह जाना जा सके कि कुछ सुनाई तो नहीं देता या कोई वहाँ सुनने के लिए तो नहीं बैठा। ऐसी आशंका होने पर हम आवाज कम करते या विषय बदल देते। कुछ सदस्य अपने भाषण निबंध जैसा लिखकर लाते थे। उनमें व्यापार, व्यायाम, स्वदेशी, शिक्षा, वेदांत, कविता आदि विषय होते थे। इस कारण पहले-पहले जिनकी प्रस्तुति होती, उन्हें सुरक्षित रखा जाता, लेकिन मेरे जैसे स्वातंत्र्यात्मक, क्रांतिकारी कड़क भाषणों के लेख नहीं रखते थे। कारण यह था कि कभी जाँच हुई तो वे सुरक्षित रखे निबंध दिखाकर यह सिद्ध किया जा सके कि हमारी संस्था राजनीति से दूर एक निरापद साधारण सभा है। पहले एक-दो वर्ष तक सदस्यों की नाम-सूची भी थी। उसपर

शीर्षक था 'मित्र मेला के सदस्यों की सूची'। 'मित्र मेला' संस्था का उद्देश्य— 'स्वदेश की सर्वांगीण उन्नति करना' भी अस्पष्ट लिखा हुआ था। नया सदस्य, पुराने सदस्यों के बहुमत से पसंद किया जाने पर लिया जाता। पहले वार्षिक आय-व्यय और वृत्त वार्षिक सभा में पढ़ा जाता था, परंतु जब 'मित्र मेला' का अंतः स्वरूप सरकारी अधिकारियों को संदिग्ध लगने लगा और सरकारी जाँच जोरों से चालू हो गई, तो उन सब अभिलेखों को नष्ट कर दिया गया और यह निश्चय किया गया कि भविष्य में कुछ भी लिखित नहीं रखना है। सदस्यों के नामों की सूची अवश्य किसी एक सदस्य के पास रहती थी। किंतु उसपर शीर्षक नहीं होता था। इस कारण पुलिस यह जान नहीं सकती थी कि वह क्या है या समाचारपत्र के ग्राहक या इस-उस पुस्तक की प्रतियाँ जिन्हें भेजी गईं, उनके नाम, ऐसे निरापद शीर्षक देकर नीचे नाम, शाखा आदि की जानकारी दी जाती।

जनवरी १९०० के प्रारंभ में ही 'मित्र मेला' की स्थापना हो जाने पर और उसकी साप्ताहिक बैठकें नियमित प्रारंभ होने पर जल्द ही 'शिवाजी उत्सव' का अवसर आया। उस बहाने नासिक के सार्वजनिक आंदोलन में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेने का निर्णय लिया गया। नासिक में शिवाजी उत्सव कभी-कभी होता था। परंतु पुराने नेताओं की ओर से आयोजित होने के कारण उसमें 'तेज' बिलकुल ही नहीं होता था। पर इस वर्ष 'मित्र मेला' की ओर से उसका आयोजन किए जाने के कारण उसका स्वरूप पूर्णरूपेण बदल गया। हम सारे लड़के ही थे। यह बड़ी बाधा ही थी कि पालकी के साथ कोई बुजुर्ग न होने से नगर के लोगों पर हमारा क्या प्रभाव होगा, ऐसी चिंता हमें सताने लगी। हमारे एक साथी थे नाना वर्तक। बड़ा भरा-पूरा शरीर था उनका। उनकी अच्छी-सी मूँछें भी थीं। पेट भी बड़ा था और बोलचाल भी वयस्क आदमियों जैसी थी। इसलिए हम उन्हें ही पगड़ी पहनाकर, बड़ा कुरता, रेशमी दुपट्टा आदि से सज्जित कर बुजुर्ग व्यक्ति की भूमिका में पालकी के साथ चलाते थे। वह भूमिका उन्होंने कोई पाँच-छह वर्ष तक बड़ी निष्ठा से निभाई। उस भूमिका से वे इतने एकनिष्ठ हो गए कि 'मित्र मेला' के अन्य कार्यक्रमों में विशेष भाग न लेते हुए भी पालकी ले जाने के कार्यक्रम में पगड़ी पहनकर चलने की जिद वे करने लगते थे। किसी और को वह भूमिका नहीं करने देते थे और स्वयं सजकर सबसे पहले खड़े हो जाते थे। सम्मान का यह कार्य करते समय वे भूल जाते थे कि मेला के सदस्यों को और भी कुछ काम करने पड़ते हैं। नासिक के लिए वह उत्सव अपूर्व ही था। और अंत में जब मैंने उस उत्सव के आयोजन के संबंध में अपनी कल्पना स्पष्ट की, तब उस उत्सव का स्वरूप बदल गया। मैंने अपने सार्वजनिक व्याख्यान में कहा—

'आज तक हम महाराष्ट्रीय लोग ऐसा कहते थे कि शिवाजी उत्सव ऐतिहासिक है, उसमें हमारा कोई राजनीतिक उद्देश्य नहीं है, पर हमने आज यह जो उत्सव आयोजित किया है, वह राजनीतिक है, इसीलिए आयोजित किया है। 'शिवाजी उत्सव' आयोजित करने का अधिकार उन्हींको है, जो अपनी इस परतंत्र मातृभूमि को स्वतंत्र करने के लिए शिवाजी की तरह संघर्ष करने के लिए तैयार हैं। शिवाजी उत्सव आयोजित करने का मुख्य उद्देश्य अंग्रेजी दासता की बेड़ियाँ तोड़कर स्वदेश को स्वतंत्र करने की स्फूर्ति उत्पन्न करना है। यदि परवशता में ही समाधान मानना है, यदि मोटे वेतन की नौकरियाँ पाना ही उद्देश्य है, परदास्य के पट्टेवाला ही होना है या यह 'कर' कम करना है, वह विधि हलकी करनी है, यही ध्येय है तो इसके लिए शिवाजी उत्सव सुसंगत नहीं है—इस ध्येय के लिए तो अंतिम बाजीराव पेशवा का उत्सव अधिक सुसंगत होगा। अंग्रेजी राज्य के विरोध में हमें कुछ कहना नहीं है, हमें तो केवल पेंशन चाहिए, पेट-भर खाने को चाहिए, सुविधाएँ चाहिए—इतनी ही जिनकी महत्त्वाकांक्षा है और परतंत्रता से राजनिष्ठ रहना है तो इसके लिए ब्रह्मावर्त का अंतिम बाजीराव पेशवा ही लाभकारी होगा—राजगढ़ का शिवाजी नहीं। वह स्वतंत्रता का देवता है। हम आज उसका आवाहन उसी उद्देश्य से कर रहे हैं जिससे वह शक्ति हममें संचरित हो और स्वदेश-स्वतंत्रता के कर्मक्षेत्र में जूझने तथा जीतने की शक्ति हममें प्रविष्ट हो। परिस्थिति के अनुरूप साधन बदल सकते हैं, पर साध्य वही रहेगा। बाण बदल सकते हैं, पर लक्ष्य वही होगा।' उत्तेजना से भरा ऐसा सरस व्याख्यान होते ही उस सार्वजनिक सभा में अंदर-ही-अंदर अभूतपूर्व खलबली मच गई। पूरे नगर में सात-आठ दिन वही चर्चा होती रही।

शिवाजी उत्सव से 'मित्र मेला' की जो छाप नासिकवासियों पर पड़ी, वह उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई। 'शिवाजी उत्सव' के बाद तुरंत ही 'गणेश उत्सव' आया। 'मित्र मेला' की ओर से इस आयोजन के लिए गणपति की स्थापना हुई। उन दिनों म्हसकर और पागे का पूर्वपरिचय नासिक के सभी नेताओं से था ही। उनमें से कुछ को उन्होंने व्याख्यानों के लिए बुलाया। मेरे भी व्याख्यान हुए। हम लोगों के व्याख्यानों में जो नवतेज प्रकट होता, उसके प्रभाव में ऐसे व्याख्यानों के लिए श्रोताओं की बड़ी भीड़ उमड़ पड़ती। इसी उत्सव से आबा दरेकर ने गीत लिखना शुरू किया और पहले दो-तीन गीत पहली बार ही नासिक में गाए गए। इन गीतों, मेरे व्याख्यानों तथा अपनी शोभायात्रा के माध्यम से स्वतंत्रता के, स्वदेश के 'स्फूर्तिदायी' संदेश देने के सिवाय और कुछ हमें कहना ही नहीं था। इसी समय मेरे द्वारा रचित नारे—'स्वातंत्र्य लक्ष्मी की जय' की जय-जयकार से नासिक गूँज उठा।

'मित्र मेला' की स्थापना के पूर्व नासिक के एक बड़े नेता श्री गंगाधर पंत

(बापूराव) केतकर दिवंगत हुए थे। नासिक ही नहीं, महाराष्ट्र में भी वह काफी-कुछ नामवर व्यक्तित्व था। न्यायमूर्ति महादेव गोविंद रानडे की पीढ़ी के अधिकतर आंदोलन उन्होंने नासिक में चलाए थे। वे समाज-सुधारक थे, पर उस अवधि के कुछ अन्य सुधारकों की तरह पश्चिम के वैभव से अंधे होकर, स्वाभिमानशून्य बनकर अंग्रेजी राज को देवराज माननेवाले नहीं थे। वे तिलकजी के समधी थे, अर्थात् उनके पुत्र से तिलकजी ने अपनी कन्या ब्याही थी। उनकी स्मृति में एक नगरगृह के निर्माण की योजना थी। उस नगरगृह का शिलान्यास करने न्यायमूर्ति रानडे नासिक में आनेवाले थे। उनके स्वागत में कविता पढ़ी जानी थी, पर यह कविता लिखे कौन? किससे लिखवाई जाए? यह प्रश्न स्वागत समिति के सामने था।

'लोकसेवा' के संपादक श्री अनंतराव बर्वे, जिनका उल्लेख मैंने पूर्व में किया है, ने मेरा नाम इसके लिए सुझाया। मैं उस समय हाई स्कूल का एक विद्यार्थी था, पर पूर्व में वर्णित वक्तृत्व सभा में हुए मेरे व्याख्यान के कारण सभी नेताओं को मेरा परिचय प्राप्त था। अत: वह कार्य मुझे सौंपने की बात तय हुई और स्वागत समिति ने वह बात म्हसकर को बता दी। अपनी संस्था के एक युवक का इसमें गौरव है, यह बात सोचकर म्हसकर ने वह कार्य बड़े अभिमान से स्वीकार किया और वह कविता करने के लिए मुझसे कहा। न्यायमूर्ति रानडे के आगमन पर स्वागत समिति की ओर से उन कविताओं की प्रतियाँ बाँटी गईं। उस समय की मेरी कविता कैसी होती थी—इसका एक उदाहरण देने के लिए उस कविता के कुछ अंश, जो मुझे स्मरण हैं, यहाँ दे रहा हूँ—

मातृभूमि हित जो जिया विमल सुयश पाया।
उदारता से भरा, भव से तरा, सत्पुत्र भी कहलाया।
देश-हित में जुटा, कभी न थका, सद्यशो मंदिला।
मातृभूमि के सेवक केतकर प्रभो साष्टांग वंदन हमारा॥
देश-हित में जो लड़ें, जन्म कितने लोग लेते।
देश की परतंत्रता भी और मति कुंठित करें।
मृत्यु से उद्धार करने कौन अब आगे बढ़े।
यम सदन भेजे उन्हें आर्यों का हृदय जो चीरते॥
सत्कृतियाँ जो बड़ी-बड़ी हैं रहे स्मृति उन सबकी।
साधु जनों के निर्मित होते इसीलिए स्मारक भी।
बड़भागी हैं नासिकवासी उनको मिले केतकरजी।
बनते देख स्मारक उनका होता अति आनंदित जी॥

रखने को आधारशिला नगरगृह निर्माण की।
सन्मति रानडे आए बात मानकर जन-हित की।
करें बड़ों का बड़े स्तवन होगी उत्तम रीति यही।
साधुजनों के दर्शन पाकर धन्य हुए अपने दृग भी॥

स्वर्गीय बापूराव केतकर के बाद उनके सुपुत्र, तिलकजी के दामाद श्री विश्वनाथ पंत केतकर वकील ने भी सार्वजनिक कार्यों में पिता की जो ख्याति थी, उसको अपने तरीके से बनाए रखा। नासिक की अनेक संस्थाओं को उनका बड़ा सहारा था। स्वयं यद्यपि कोई कठिन देशकार्य उनसे नहीं हुआ, फिर भी जिनमें वह कार्य करने की शक्ति या साहस है, उनकी यथाशक्ति सहायता बिना किसी डाह के वे करते थे। कम-से-कम विरोध तो कभी करते ही न थे। 'मित्र मेला' संस्था के अंतरंग से यद्यपि उनका प्रत्यक्ष संबंध नहीं रहता था। फिर भी हम युवा मंडली की उत्कट देशभक्ति, त्याग और तेज देखकर उन्हें बहुत खुशी होती थी और हमारे वैध, खुले कार्यक्रमों—स्वदेशी-सभा उत्सव आदि आंदोलनों को समर्थन देने में वे आनाकानी नहीं करते थे। इस केतकर घराने की आज तक की दो-तीन पीढ़ियों ने नासिक की जनता का अविरत नेतृत्व वैध कार्यों में किया है।

हाई स्कूल में शिक्षा

इन सारे सार्वजनिक आंदोलनों के चलते मैंने अपनी पाठशाला-पढ़ाई में किसी तरह की बाधा नहीं आने दी। पिताजी के देहांत के बाद मेरे दोनों भाई प्लेग अस्पताल में जब तक थे, तब तक पाठशालाएँ भी बंद ही थीं। मैं राष्ट्रीय समझी जानेवाली पाठशाला में था, उसमें चौथी कक्षा के बाद की कक्षाएँ नहीं थीं। उसमें भी वह पाठशाला टूटने-जैसी हो गई थी। अत: सन् १८९९ के अंत में हाई स्कूल में पाँचवी कक्षा में मैं भरती हो गया। दो-तीन माह बाद ही वार्षिक परीक्षा हुई। उस परीक्षा में उत्तीर्ण होकर सन् १९०० में मैं छठी कक्षा में गया। उस समय नासिक हाई स्कूल के प्रधानाध्यापक रा.ब. जोशी थे। उनकी विद्वत्ता और राजनीतिक उपयुक्तता महाराष्ट्र में प्रसिद्ध थी। जब गोपाल कृष्ण गोखले इंग्लैंड में हिंदुस्थान की ओर से एक कमीशन में आर्थिक परिस्थिति के संबंध में साक्ष्य देने गए थे, तब आर्थिक क्षेत्र की हर जानकारी देकर उन्हें साक्ष्य-सज्ज करने का कार्य रा.ब. जोशी ने किया था, यह जानी-मानी बात थी। सरकारी नौकरी से सेवा-निवृत्ति के बाद वे लोकमान्य के राष्ट्रकार्य में सहयोगी बने तथा स्वदेशी और बहिष्कार के आंदोलन में उन्होंने महत्त्वपूर्ण कार्य किया। यद्यपि ऐसे भारी विद्वान् और देशभक्त शिक्षक नासिक हाई

स्कूल में थे, फिर भी हम छात्रों को राष्ट्रीय वृत्ति के विकास की दृष्टि से कोई अधिक लाभ नहीं हुआ था। चूँकि शिक्षक-वर्ग पर सरकार की कड़ी निगरानी थी—विशेषकर चापेकर प्रकरण के बाद, अत: वे कक्षा में रटे-रटाए पाठ पढ़ाने के सिवाय एक भी शब्द अतिरिक्त नहीं निकाल सकते थे। फिर भी कभी-कभी कविता-पाठ की प्रतियोगिता करने के अवसर खोजकर देशभक्तिपरक—अर्थात् अंग्रेज देशवीरों का गुणगान करती हुई कविता वे हमसे पढ़वाते रहते थे। ऐसी एक कविता-पाठ प्रतियोगिता में उन्होंने मुझे चुना था। जो कविता मैंने सुनाई थी, उसका प्रारंभ कुछ ऐसा था—

We are the sons of sires of old
who crushed crowned and mitred tyrrany
they defied the field and scaffold
for their birth right so will we.

इस कविता-पाठ प्रतियोगिता में मैंने प्रथम स्थान पाया। मेरे सार्वजनिक कार्यों की जानकारी मेरे शिक्षकों को रहती थी। इसलिए उत्सव, सभा आदि के दिनों में मेरा गृहपाठ आदि पूरा न होने पर मेरे सार्वजनिक कार्यों पर शिक्षक वर्ग द्वारा आलोचना की जाती थी। परंतु मेरे प्रति हर शिक्षक के मन में जो आदर और स्नेह था, वह कक्षा में प्रसंगानुरूप प्रकट किए बिना उन्हें चैन नहीं पड़ता था। हमारे पूरे हाई स्कूल में यदि कोई ओजस्वी और श्रेष्ठ छात्र है तो वह सावरकर ही है, ऐसा स्पष्टता से सारा शिक्षक वर्ग नगर में और कक्षा में भी कहता था, पर इसके साथ ही वे बड़े स्नेह से कहते—इसे सँभालनेवाला कोई चाहिए, नहीं तो यह व्यर्थ चला जाएगा।

शिक्षकों का यह कथन अभी भी मेरे कान में गुंजित हो रहा है। मुझे सचमुच आश्चर्य है कि जिस समय मेरे पिताजी दिवंगत हुए और मैं तिलभांडेश्वर की गली में रहने आया, तब मैं उस आलसी और ऊधमी प्रवाह में कैसे नहीं बहा? जो पाठशाला को बंदीशाला मानते थे, नाटक-तमाशा-ताश आदि में उनका सारा दिन जाता था। मैं ऐसी संगति में वाचन, लेखन करता रहता था। इसलिए वे मुझे ग्रंथ-कीट (Book-worm) कहकर चिढ़ाते थे। चूँकि मैं छिछोरा नहीं था, इसलिए मुझे बेकार का समझते थे। ऐसी स्थिति में उन लोगों के साथ बह जाने का रास्ता मेरे लिए भी सरल था। परंतु योगायोग से सब अच्छा हुआ। उस समय मेरा वय १६-१७ का था अर्थात् स्वैरता की आयु थी। उसमें मुझपर न किसी का दबाव था, न मार्ग प्रदर्शन। मेरी स्वाभाविक प्रवृत्ति के बल के अतिरिक्त मेरी व्यक्तिगत और राष्ट्रीय

महत्त्वाकांक्षा को भी उचित कहनेवाला कोई संगी-साथी नहीं था। उलटे उस गुण को भी 'दुर्गुण' कहकर उसे त्याग देने की सलाह देनेवालों का जमघट ही मेरे चारों ओर था।

सुयोग से मेरी सहज प्रवृत्ति का बल ही अधिक बलशाली सिद्ध हुआ। उनकी संगति में मेरा विद्यार्जन और राष्ट्रीय झुकाव छूटने के स्थान पर उन सबकी ही प्रवृत्ति विद्यार्जन की ओर हुई और उनके जीवन में एक नया दिव्य, भव्य और गंभीर मोड़ आया। एक म्हसकर ही नहीं, अन्य लोगों ने भी मुझे कभी छिछोरा बनाने का प्रयास नहीं किया। वे स्वयं भी उस प्रवाह में कभी नहीं बहे। इतना ही नहीं; 'मित्र मेला' में अधिकतर तरुण ही थे। अत: सार्वजनिक कार्यक्रमों के कारण उनका विद्यार्जन कम न पड़े, उलटे राष्ट्रीय सेवा के उनके ध्येय के अनुरूप योग्यता, विद्वत्ता और अनुशासन का अधिकतम संपादन वे करें, इसके लिए म्हसकर प्रयास करते और मेरा ही उदाहरण आदर्श के रूप में उन सबके सामने रखते। इस तरह म्हसकर, पागे और मैं—हम तीनों ही ऐसा कड़ा अनुशासन बनाए रखते थे कि 'मित्र मेला' के हर छात्र को वार्षिक परीक्षा में उत्तीर्ण होना ही है और इसके लिए हर छमाही और हर वर्ष हमारे सदस्यों में से कितने छात्र परीक्षा में उत्तीर्ण होते हैं, इसकी जानकारी रखते थे। उत्तीर्ण छात्रों का सम्मान करते और जो रह जाते, उनके कच्चे विषय की पूछताछ कर उनको नि:शुल्क पढ़ाने का उपाय करते थे।

शालेय अध्ययन करने और परीक्षा उत्तीर्ण करने की मेरी एक पद्धति निश्चित हो गई थी और वही अंत तक बनी रही। मेरे हर दिन का अधिकतर समय समाचारपत्र और अन्य ग्रंथ इत्यादि विद्यालयेतर पढ़ाई करने तथा राष्ट्रीय वाद-विवाद और सार्वजनिक कार्यों के संपादन में ही चला जाता था। इसलिए कक्षा का दैनिक अध्ययन गड़बड़ा जाता था। शिक्षक भविष्यवाणी करते—इस वर्ष तो तुम धरे रह जाओगे।

छमाही या वार्षिक परीक्षा आते-आते मैं एक या दो माह तक अपने को कमरे में बंद कर लेता और सारे विषय एक सिरे से दूसरे सिरे तक पढ़कर तैयार कर लेता। इस तरह एक-दो मास में मेरी पढ़ाई पूरी हो जाती और परीक्षा में मैं उत्तीर्ण हो जाता। मेरा परीक्षा उत्तीर्ण कर लेना सबको आश्चर्य में डाल देता—शिक्षक भी आश्चर्य करते। मेरे बाबा (बड़े भैया) तो इतने अधिक आनंदित होते कि सबका मुँह मीठा कराने घर-घर जाते। मेरी पीठ थपथपाते, बार-बार पीठ पर हाथ फेरते। यही क्रम बी.ए. तक चला। बाबा का हाथ अपनी पीठ पर फिरना मेरे लिए इतने आनंद का विषय था कि विश्वविद्यालय तक की नौ-दस परीक्षाओं के स्थान पर पच्चीस परीक्षाएँ होतीं तो भी मैं आनंद से दे देता।

आर्थिक संकट के दिन

पिताजी के देहांत के बाद एक तो हम जो बच गए, वे सब बच्चे ही थे, दूसरे नासिक में किराये पर रहने लगे। इस कारण भगूर गाँव में हमारी जो संपत्ति थी उसकी लूट होने लगी। पिताजी के समय से ही चोरों की आवाजाही हमारे यहाँ थी। उस समय चोरों ने एक बार रात में पिछले दरवाजे की सीढ़ियाँ खोदकर वहाँ से अंदर आने के लिए सुरंग बनाई और वे रसोईघर में घुस आए। एक चोर एक बड़ा पत्थर लेकर पिताजी के सिरहाने खड़ा रहा। विचार यह था कि उनके उठते ही सिर पर पत्थर पटककर उन्हें मार दिया जाए। पिताजी तलवार लिये सोते थे। यह चोरों को ज्ञात था, क्योंकि चोरों में घर का ही एक नौकर मिला हुआ था। परंतु किसीके जागने के पूर्व ही दो तल्ले की आलमारी में रखी रोकड़ और आभूषण उनके हाथ लग गए। प्रात: सारी बातें समझ में आ गईं। पिताजी के बिस्तर के पास वह बड़ा पत्थर देखकर पुलिस ने कहा—'अण्णा जाग जाते तो वहीं ढेर हो जाते।' पर इस तर्क के आगे पुलिस चोरों का और कोई सुराग नहीं ढूँढ़ पाई। पत्थर-संबंधी तर्क तो औरतों ने भी दिया था। इस चोरी में हुई आर्थिक हानि के बाद ही पिताजी प्लेग में दिवंगत हो गए। प्लेग के डर से रात ही में नासिक भाग आने की हड़बड़ी में हमने इतनी थाली, कटोरी, लोटे, बड़े पतीले आदि एक विशेष स्थान पर भरकर रख दिए थे कि सौ लोग खा सकें, परंतु इसका पता हमारे पड़ोसी को था और घर तो सूना था ही। अत: उसने सारे बर्तन चुरा लिये।

साहूकारी का जो कुछ आना-पावना था, वह और खेत, बगीचे, अमराई, जो जिसके पास था, वह सब लोग हड़प गए। हम बच्चों को कोई विशेष जानकारी या अनुभव तो था नहीं। उसमें भी बाबा प्लेग अस्पताल में ही अटके रहे। वहाँ से छूटकर जब वे भगूर गए, तब तक तो सारा साफ हो चुका था। लेन-देन के कागज भी गायब हो गए। पिताजी द्वारा लिया हुआ ऋण अवश्य बाकी बचा। ऐसी स्थिति में बाबा को परिवार के भरण-पोषण की बड़ी चिंता थी। इसके लिए उन्होंने साहूकारों द्वारा दिए अनेक कष्ट झेले। सरकारी नौकरी में उनकी अनास्था थी जबकि मैं सरकारी नौकरी के विरुद्ध बिलकुल नहीं था। 'मित्र मेला' में भी सरकारी नौकर थे ही। मित्रों और मेरे आग्रह पर यदि कोई नौकरी वे पकड़ते, तो भी महीने-दो महीने बाद वह छूट जाती—कहीं झगड़ा होता और कहीं कोई अन्य कारण हो जाता। समय भी अकाल का था। अकाल-निवारण के काम प्रारंभ हुए तो उसमें भी उन्होंने एक बार निरुपाय होकर नौकरी की। साहूकार तकाजा करते, बनिये की देनदारी बढ़ती। वे बाबा का अपमान करते, किंतु जो कुछ भी होता, वह बाबा स्वयं

सहन करते। उनकी चिंता इतनी ही रहती कि मुझ तक ये बातें न पहुँचें। इतनी रस्साकशी में भी उन्होंने मुझे या मेरे छोटे भाई को किसी तरह की कमी नहीं होने दी। हमारी दूध-जलेबी की बंधी यथावत् रही। फिर उन्हें कभी-कभी आधे पेट भी सोना पड़ता तो बिना बताए रह जाते। सारी बातें हमसे छिपाकर रखते।

बाबा ने इस आर्थिक तंगी का कष्ट किसीको झेलने दिया, तो केवल अपनी पत्नी (मेरी भाभी) को। घर में कभी-कभी कुछ भी सामान नहीं रहता था। वह कहते हुए डरती थी। बात जब गले से लग जाने को होती तो वह मुझे बाबा को कहने के लिए कहती, क्योंकि बाबा मुझपर कभी बिगड़ते नहीं थे। मुझे घर में सौ अपराध क्षमा थे। घर में चावल या नमक नहीं है—लाने होंगे—ऐसा कभी मैं कहता तो—लाता हूँ—कहते, पर मेरे पीछे भाभी को डाँटते कि घर की कमी-बेशी उसको क्यों बताती हो। बाबा के पुराने कपड़े जब हम फेंक देते, तब वे कपड़े लाते। भाभी की फटी साड़ियाँ देख जब मैं धरना देता या अपने कोट के लिए पैसे माँगकर लुगड़ी (साड़ी) लाता, तभी वह आती। देनदारों का मुँह बंद करने के लिए उसने अपने सारे आभूषण उतार दिए। एक डोरा भी न बचा। फिर भी उसके पास जो एक आभूषण था, वह था सदा अम्लान रहनेवाला उसका प्रसन्न मुख। हमसे हँसने, खेलने और हमारे साथ हो रहे लालन-पालन में उसे स्वर्गीय सुख मिलता। उसे उसी वय में एक संतान हुई भी थी, परंतु वह प्रसव के कष्ट में ही मर गई। उस प्रसूति में उसका अच्छा खान-पान, आराम न होने के कारण उसका बुरा प्रभाव उसके शरीर पर पड़ा। परंतु इन दैहिक कष्टों का या घर की दरिद्रता के कष्ट का उसे होश ही नहीं था। हम ही उसकी संतान, उसकी संपत्ति, उसका आनंद, उसका स्वर्ग थे। उसीमें वह मगन रहती, सुखी रहती, रमी रहती।

बाबा का स्वभाव मूल में ही देवपरायण, बहुत श्रद्धावान् था। धन की तंगी में वे अनेक ऊटपटांग दैवी उपाय करते थे और मुँह की खाते थे। जप-तप, मन्नत, शकुन इत्यादि पर उनका अपार विश्वास था। ईश्वर को संकट में डाले जाने पर विश्वास, चमत्कारों पर विश्वास। दृष्ट उपाय रुक जाने पर मानव सहज ही अदृष्ट के पीछे लग जाता है। आशा है तो आयुष्य है। मानवी आशा जहाँ नहीं है, वहाँ दैवी आशा रखने के अतिरिक्त गति भी तो नहीं है। उस व्याकुल स्थिति में बाबा का मन अधिक ही श्रद्धालु बन गया। हम दोनों भाइयों के प्रेम की डोर ने उन्हें गृहस्थी से बाँध रखा था, अन्यथा वे कभी के भभूत रमाकर चले गए होते, पर मेरे भाग्योदय पर उनकी अटूट निष्ठा थी। वह भाग्योदय का दिन आने तक हमारा पालन-पोषण किसी भी तरह करना उनका लक्ष्य था। उसी आशा में वे उन दिनों से जूझते रहे। तिनके का भी सहारा उनको काफी होता था और किसी कारण वह तिनका भी उनके

हाथ से छूट जाता तो ईश्वर द्वारा संकट में डाले जाने का मार्ग तो किसीने बंद किया ही नहीं था। ऐसी ही एक घटना हुई भी।

दैवी गुप्त धन?

बाबा उस समय इक्कीस-बाईस वर्ष के थे। साहूकारों के और गृहस्थी के फंदे में फँसे होने के कारण वे धन की तंगी में हमेशा ही रहते हैं, यह सबको ज्ञात था। ऐसी स्थिति में पुराने लेनदारों से कुछ वसूली हो जाए, इसलिए भगूर गए। वहाँ हमारे पिता के समय के एक परिचित व्यक्ति 'कारंजकर' थे। सैकड़ों रुपए का लेन-देन उनसे होता रहा था। उस परिवार के एक व्यक्ति ने बाबा की परेशानी से विह्वल होकर बड़े आत्मीय शब्दों में कहा, 'बाबा, आप लोग पालकीवाले घर के लड़के हो—हमारे जागीरदार, परंतु आज आप पर ऐसी विपदा पड़ी है। हम आपके दाने पर पले हैं—अब आपको ऐसे संकट में पड़े देखा नहीं जाता। एक गुप्त दौलत चलकर मेरे यहाँ आना चाहती है—वह मैं आपके चरणों में चढ़ाना चाहता हूँ। हमारा क्या है, हमने भीख भी माँगी तो कौन हँसेगा? पर आपकी गरिमा हम सँभाल सके तो खाए अन्न के ऋण से कुछ तो मुक्त होंगे ही। दो दिन बाद मुझे दस हजार रुपए मिलनेवाले हैं। क्यों और कैसे, मत पूछिए। यह पुरातन धन नदी किनारे एक खेत में है। परसों रात के शुभ मुहूर्त पर मैं उसे निकालूँगा। तब आपको साथ ले जाऊँगा। रात में उसे आपको सौंप दूँगा और समझूँगा कि मेरा उससे कुछ भी मतलब नहीं है। परंतु उस खजाने को हाथ लगाने के पहले मुझे अपने देवता की पूजा भोग-बलि आदि से करनी होगी—उसके लिए दो-तीन सौ रुपए कहीं से जुगाड़ करके मुझे दे दीजिए।'

यह सुनकर तो बाबा को ऐसा लगा, मानो देवता ही मिल गए, पर गड़े खजाने होना, उसपर बैठे तक्षक नाग आदि को बलि आदि दिए जाने पर मिलने की संभावना, ऐसे चमत्कार होते रहने की कथाएँ हमारे पुराणों से लेकर अर्वाचीन इतिहास में भी बहुत मिलती हैं। ऐसे खजाने हमें मिले हैं, शपथ लेकर यह कहनेवाले लोग भी बहुत हैं। आज भी टकराते हैं। उन बाबा ने मानो अपने प्राण ही गिरवी रखकर लगभग तीन सौ रुपए प्राप्त किए। बाबा को नौकरी मिले, इसलिए बाबा के किसी मित्र ने उन रुपयों की व्यवस्था कर रखी थी। यही राशि उन्होंने उन्हें दी और अति उत्कंठा से अब सारी देनदारी एक झटके में निश्चित रूप से चुकता हो जाएगी, ऐसे असंभव आनंद में वे उस रात की प्रतीक्षा करने लगे। रात तो हो गई, पर वह आदमी नहीं आया। पूरी रात बीत गई, वह नहीं आया। बाबा अधीर हो गए। सोचने लगे, कितने आर्त होकर उसने बात कही थी, वह कैसे ठग सकता है? नहीं, कुछ और ही बात होगी। दूसरे दिन सुबह वह आदमी आया। अब उसपर शंका करने का

कोई कारण नहीं था। उसने कहा, 'वह रात शुभ नहीं थी और ग्यारह दिन बाद पक्का मुहूर्त है, पर और थोड़ी राशि मंत्र-तंत्र के लिए लगेगी।' बाबा ने उसकी व्यवस्था करने की बात मन में सोच ली।

इसी बीच जाने किस कारण से भगूर कभी न आनेवाला मैं, भगूर आया। हमारे घर में पंद्रह गगरी पानी आ सके, इतना बड़ा पत्थर का बना एक हौज था। उसमें पानी भरा हुआ और उसमें हमारी कुल स्वामिनी देवी की मूर्ति गले तक डुबोकर रखी हुई मैंने देखी। मैंने पूछा—यह क्या है? बहुत देर तक टालमटोल करने के बाद अंत में बाबा ने सारी बात कही। मैंने तुरंत कहा, 'यह सब लुच्चापन है। अपने घर में हुई चोरी के समय अण्णा ने उसी आदमी पर संदेह किया था। उसने तुम्हें सरासर ठगा है। अब और पैसे मत देना।' फिर भी बाबा ने कहा, 'पैसे नहीं दूँगा, लेकिन वह आदमी वैसा नहीं है, और फिर भी उसके मन में कपट आने की संभावना हो और वह असंभव हो जाए, इसीलिए तो मैंने इस देवी-मूर्ति को ग्यारह दिन के लिए गले तक पानी में डुबोकर संकट में डाल रखा है। यदि ग्यारहवें दिन तक वह आदमी नहीं आया तो देवी को मैं पूरी-की-पूरी पानी में डुबो दूँगा।'

मैंने कहा, 'इस हौज के पानी में ही क्या, गहरे कुएँ में भी देवी-मूर्ति को डुबो दें तो भी जो ठगी हुई है, उसकी भरपाई नहीं होगी।' फिर भी बाबा का धीरज पूरी तरह समाप्त नहीं हुआ। जब वह आदमी ग्यारहवें दिन भी नहीं आया, तब बाबा घबरा गए। बुलावे-पर-बुलावा भेजा गया, पर अब और पैसा लूटने की आशा उसे नहीं थी, सो वह नहीं आया। फिर जब कुछ समय बाद बाबा ने उसे पकड़ा, तब उसने कहा, 'क्या बताऊँ आपको? उस रात मैं वहाँ गया ही था कि दस-बारह आदमियों ने मुझपर हमला किया—आपके दिए मेरे सारे पैसे छीन लिये और कहा—फिर से आओगे तो मार डालेंगे। मैं जान बचाकर भागा। अब आप किसीको कुछ नहीं कहना, नहीं तो वे आपकी भी वही गति करेंगे।' यह डर हमें नहीं था, फिर भी हम कहीं कुछ नहीं कहते—पर उसने हमसे यह इसीलिए कहा, ताकि हम अपने ठगे जाने का ढिंढोरा न पीटें। बाबा ने फिर वह देवी-मूर्ति उस खंडोबा के मंदिर में पहुँचा दी, जहाँ वह थी। वह अभी भी वहीं है।

पब्लिक सर्विस की परीक्षा

बाबा को ठगी के कारण दो-तीन सौ रुपए की यह चोट लगी, इसका मुझे बहुत दुःख हुआ। हमारे भले के लिए उन्हें बार-बार कष्ट भुगतना पड़ता है—ऐसी उदासी सहन करनी पड़ती है, यह सब देखकर मुझे लगा कि मैं पढ़ना छोड़कर कहीं नौकरी कर लूँ, तो बाबा को कष्ट से मुक्ति मिले। मेरे शुल्क की व्यवस्था कैसे हो?

इसकी भी चिंता उनको रहती थी, उससे भी मुक्ति चाहिए थी। उस समय नौकरी दिलानेवाली 'पब्लिक सर्विस' की एक परीक्षा हाई स्कूल की सातवीं कक्षा के समकक्ष थी—उसमें दफ्तरों के काम के विषय, जैसे बुक-कीपिंग (आय-व्यय) आदि भी थे। मैट्रिक उत्तीर्ण होने पर भी नौकरी न मिले, तो भी उस पब्लिक सर्विस की परीक्षा उत्तीर्ण होने के कारण तहसील आदि में पंद्रह-बीस रुपए की नौकरी मिल जाती थी। अतः आगे पढ़ाई नहीं छोड़ने का दृढ़ निश्चय करते हुए और यह साधन भी पास रहे, इसलिए मैंने हाई स्कूल की सातवीं कक्षा में पहुँचते ही उस पब्लिक सर्विस परीक्षा की पढ़ाई घर में ही शुरू की। उस काम में मेरा सहपाठी मेरा मित्र डांगे था। वह मेरा बड़ा भक्त था। रामभाऊ दातार का साला मोनू कोल्हटकर भी परीक्षा में बैठनेवाला था। इस तरह हम तीन एक साथ परीक्षा में बैठे और उत्तीर्ण भी हुए। हमारे पुराने मित्रों, संबंधियों की व्यावहारिक दृष्टि से मेरा उस परीक्षा में बैठना और उत्तीर्ण होना बहुत अच्छी बात थी। अब कहीं नौकरी कर ले और मौज कर—यह आशीर्वाद उनसे मिला, क्योंकि इसके आगे उनकी आकांक्षा ही नहीं थी। उस समय की परिस्थिति में बीस-पच्चीस रुपए से अधिक की नौकरी प्राप्त करने योग्य शिक्षा मैं प्राप्त कर सकूँगा, इसकी संभावना भी नहीं थी। यह पब्लिक सर्विस परीक्षा उनकी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थी, क्योंकि तहसीलदार के दफ्तर के लिए तो सिविल सर्विस परीक्षा ही थी।

पर बाबा को शुभ-अशुभ कुछ भी नहीं लगा, क्योंकि तात्या बीस रुपए की नौकरी करे, इसकी कल्पना भी वे नहीं कर सकते थे। चाहे जो कष्ट हो, मैं भुगत लूँगा, पर तात्या की पढ़ाई बंद नहीं होगी—यही हमेशा उनकी प्रतिज्ञा रही।

बढ़ता स्नेही समाज

उधर 'मित्र मेला' तेजी से बढ़ रहा था। व्यक्तिगत रूप से मुझे असीम प्रेम करनेवालों की संख्या बढ़ रही थी। उस समय के मेरे सहपाठी मित्रों में जयवंत और मेरा स्नेह असीम था। उसके पिता एक प्रतिष्ठित गृहस्थ और बड़े सरकारी अधिकारी थे तथा उसके बड़े भाई बी.ए. उत्तीर्ण होकर विधि का अध्ययन कर रहे थे। वे बाद में एल.एल.बी. हो गए। उनकी दो-तीन बहनें थीं। मैं जब तक नासिक में था, तब तक वे सारे भाई-बहन किसी संबंधी की तरह मुझसे स्नेह रखते थे। उनकी माँ तो मुझपर बड़ी ममता करती थीं। उन सबके साथ मैं खेलते, बैठते, हँसते, पढ़ाई करते कितने ही दिन मजे से रहा।

वे प्रभु जाति के थे—ब्राह्मण उनके हाथ का खाते नहीं थे, पर जो कुछ भी मीठा-नमकीन बनता, वह मैं खुशी से खाता था। मुझमें जाति का अपना-पराया भाव

कभी नहीं था। इसपर भी मेरा विशेष ध्यान मित्रता अर्थात् अपने मत के प्रचार पर रहता। मेरे खेलने, हँसने, पढ़ने तक में सारी चर्चा वही होती। मेरा प्रत्येक मित्र स्वदेशी वस्तु का उपयोग करनेवाला, स्वदेशाभिमान में रँगा हुआ, कम-से-कम स्वतंत्रता की चिंता तो अवश्य ही मन में रखनेवाला था; और अधिकतर 'मित्र मेला' का सदस्य था। कोई सदस्य हो गया, इसलिए प्रिय मित्र हुआ और कोई प्रिय मित्र था, इसलिए सदस्य हुआ। इस तरह मुझसे मित्रता का अर्थ था उस व्यक्ति का राजनीतिक प्रगति के सोपान चढ़ना। जब तक मैं बच्चा था और मेरे पीछे अंग्रेजी सत्ता के संशय का पिशाच नहीं लगा था, तब तक ये दोनों बातें साथ-साथ चल सकती थीं, पर अंग्रेजी सत्ता का पहले संशय और फिर कोप जब मुझपर हुआ, तब ऐसे कितने ही सरकारी नौकरों के और अन्य परिवारों के स्नेह से मुझे वंचित होना पड़ा। मैंने व्यक्तिगत स्नेह का त्याग वेदना के साथ किया, पर राष्ट्रीय कर्तव्य पर अटल रहा।

इसी समय शंकर बाध से परिचय हुआ। देवता की तरह मुझपर निष्ठा रखनेवाले मेरे अनुयायियों में जिसका उल्लेख किया जाना आवश्यक हो, ऐसा वह एक किशोर था। वैसे तो वह एक साधारण नाई का लड़का था। कुछ दिन अंग्रेजी पढ़ता रहा। बहुत साहसी और सर्जक। जब तक मेरे साथ रहा, तब तक स्वतंत्रता आंदोलन में विश्वासपूर्वक सौंपा गया काम अचूक करता था। 'मित्र मेला' का बड़ा अभिमानी और सभी कामों में अग्रणी, मेहनत करने से कभी पीछे न हटनेवाला। मेरी निगरानी में उसने काफी अध्ययन किया। बाहर के किसी भी विद्वान् को राजनीति, इतिहास आदि विषयों पर उससे कुछ सुनने की इच्छा हो, ऐसी वाक्‌शक्ति उसे प्राप्त हो गई थी। अपनी पारंपरिक नाई कला में भी वह कुशल था।

मैं जब पुणे चला गया, तब यह अठारह-उन्नीस वर्षीय लड़का अपना भाग्य परखने एक दिन घर से बिना कुछ कहे कहीं चला गया और तब प्रकट हुआ, जब बड़ौदा नरेश का नाई नियुक्त हो गया। उसे बड़ौदा जाने देने में मेरा जो गुप्त प्रयोजन था, वह उसने अपने कौशल से राजभवन में प्रवेश कर कल्पना से भी अधिक पूरा किया। वहाँ प्रचार करने और समाचार देने की सुविधा हो गई। मेरे विलायत जाने के पूर्व तक वह मुझसे बंबई में मिलता रहा। जब अंग्रेजी सत्ता ने बड़ौदा के 'अभिनव भारत' के लोगों का लगातार पीछा कर पकड़-धकड़ चालू की, तब वह भाग्य से बच गया, पर एक दिन समाचार मिला कि उसके घर में आग लगी और वह आग में जलकर मर गया। स्वदेश की स्वतंत्रता के लिए कुछ समय तक पूरे मन से संघर्ष करनेवाले उस देशभक्त युवा और मेरे एक अनन्य भक्त का अंत इस तरह हो गया। ऐसे अतिसामान्य व्यक्ति, जो अकस्मात् अपने गुण-विकास के साथ कहीं और होते,

मेरे संसर्ग में आते ही उससे कहीं अधिक राष्ट्रोपयोगी हो गए और कुछ महानता पा गए, ऐसे व्यक्तियों में शंकर की भी गणना की जानी चाहिए।

हम 'मित्र मेला' के सदस्यों ने अपनी-अपनी रुचि के एक-एक विषय में प्रवीणता प्राप्त करने के विषय छाँट लिये थे। कुछ लोग इस योजना के अनुसार ग्रंथ पढ़कर, निबंध लिखकर उसका वाचन करते या व्याख्यान देते। इससे सदस्यों का सामान्य ज्ञान बढ़ने में बहुत सहायता मिली। हर शनिवार-रविवार को हमारी बैठकें नियमित होतीं। मैं प्रत्येक बैठक में उपस्थित होता था। कई सदस्यों को इन सामान्य बैठकों के प्रति कोई उत्साह नहीं होता था। कोई बाहर का बड़ा व्यक्ति बुलाया हो या सार्वजनिक शोभायात्रा, जुलूस, उत्सव आदि का प्रसंग हो, तो ये सदस्य इकट्ठा होते थे। परंतु हर सप्ताह वही चिंतन, मनन, ज्ञानार्जन करते रहने का धैर्य उनमें नहीं था। मुझे वह बात महत्त्वपूर्ण लगती थी। मैं कहता, जैसे रामकथा या कृष्णकथा का पारायण हम करते हैं, वैसे ही स्वातंत्र्य-लक्ष्मी के इतिहास तथा पुराण का भी पारायण हमें करना चाहिए। जैसे धार्मिक अनिवार्यता से संध्या-पूजा नित्य की जाती है, वैसी ही यह राष्ट्रीय संध्या-पूजा माननी होगी। फिर एक बात और है, वह यह कि जो नए सदस्य आते हैं, उनमें तुम्हें पुराने लग रहे संस्कार नए सिरे से डालने होते हैं। संपूर्ण राजनीतिक स्वतंत्रता के बिना कोई और उपाय क्यों नहीं है? किस कारण नहीं है? वह स्वतंत्रता बिना सशस्त्र क्रांति के मिलना कितना दुष्कर है। अन्य देशों ने वह कैसे प्राप्त की? वह हमें किस तरह प्राप्त करनी है?

इन सबकी चर्चा भी उस समय के विद्यालय-महाविद्यालयों में, समाचारपत्रों में या सभाओं में खुले रूप में करना नितांत असंभव था! फिर वह चर्चा कहाँ होगी? हमारे तरुण वह ज्ञान कहाँ से प्राप्त करेंगे? सिवाय ऐसी गुप्त संस्था के? 'राष्ट्रीय' कही जानेवाली पाठशालाओं में भी जो ज्ञान दिया जाना असंभव है, वह वास्तविक राजनीति इन गुप्त संस्थाओं द्वारा पढ़ाने के अतिरिक्त मार्ग ही कौन सा है? एक तरह की वास्तविक राष्ट्रीय पाठशाला भी तो यही है। स्वतंत्रता की उत्कट अभिलाषा जब तक जनता में खुले रूप से अभिव्यक्त करना संभव नहीं होता, तब तक उसे गुप्त रूप से ही उपदेशित करना आवश्यक है। गायत्री मंत्र का जाप गुपचुप करना होता है। जब तक श्रीकृष्ण प्रकट रूप से मथुरा में रह नहीं सकते थे, तब तक उनका पालन-पोषण गुप्त रूप से ग्वालों के द्वारा करवाना आवश्यक था। ऐसी निष्ठा और पूरी धार्मिक बुद्धि से मैंने और आबा दरेकर आदि मेरे प्रति निष्ठावान लोगों ने यह संकल्प कर लिया था कि अन्य कोई आए या न आए, पर हर शनिवार की बैठक खंडित नहीं होनी चाहिए।

रामभाऊ, मेरे बड़े भैया बाबा आदि लोग, ऊपर लिखे अनुसार कभी भी

आ जाते और हर सदस्य को बैठक में आना ही चाहिए, यह नियम इस-उस बहाने भंग करते थे। पहले दो वर्ष तक मेरे बड़े भैया बाबा को राजनीतिक आंदोलन की सच्ची लगन लगी ही नहीं थी। विरोध नहीं था, पर अनुकूलता भी नहीं थी। दूसरा कुछ सूझे ही नहीं, राजनीति का ऐसा प्रबल प्रवाह नहीं था। मेरी संगति और अन्य कारणों से जो-जो आ जाते, वे-वे आ जाते। कभी-कभी शनिवार को रात में सिरदर्द के कारण इधर नहीं आए लोग धीरे से उधर नाटक देखने चले जाते। पूछने पर कहते, बैठक आदि में बोलने-बतियाने का काम आप करो—प्रत्यक्ष कुछ काम हो और हम पीछे रह जाएँ, तो जो चाहे वह दंड हमें दे देना। कम-से-कम बाबा ने अवसर आने पर अपना वचन पूरी तरह निभाया। राष्ट्रीय स्वाधीनता-समर का होमकुंड चेतते ही सबसे पहले अपनी देह की जो आहुति उन्होंने उसमें दी, उसने यही सिद्ध किया। हिंदुस्थान की अर्वाचीन स्वातंत्र्य क्रांति में वही पहला देशवीर था, जिसने अंडमान के आजन्म कारावास की भयंकर सजा सुमेरु पर्वत की तरह अविचल धैर्य के साथ भोगी।

फाँसी का फंदा, असहनीय गुप्त भयंकर दाँतों जैसी देहदंडों की शृंखला और रोगों के कचकचाकर गड़ाए दाँत—भारत के उस महान् लड़ाकू सैनिक को उसके व्रत से विचलित नहीं कर सके। इतिहास में देशवीरों ने जो-जो अघोरी प्रताड़नाएँ भुगतीं, वे सब इस देशवीर ने पहले ही चक्र में सहन कर दिखाईं। उससे उन कष्टों—और त्याग को सहन करने की क्षमता अभी तक हमारे रक्त में है—यह अनुभूति राष्ट्र को हुई। आत्मविश्वास की इस ज्योति की चेतना से प्रभावित होकर भारत के कोने-कोने से आत्माहुति देने की स्पर्धा में एक के पीछे एक सैकड़ों तरुण आगे आते गए।

प्लेग-रोगियों के शव

आज सोचें तो कभी-कभी असंभव-सी लगती सहनक्षमता, परोपकारिता, मनोधैर्य, अपने अलग-अलग रूपों में क्यों न हों, ऐसे गुण बाबा में तब भी कभी-कभी प्रकट होते थे।

सन् १९००-१९०१ में नासिक में प्लेग ने फिर से चक्कर लगाया। अब हम सबको प्लेग का डर नहीं रहा था। प्लेग फैलते ही भागम-भाग करने की बजाय हम नासिक में ही बने रहे। इतना ही नहीं, निराश्रित प्लेग-रोगियों की सेवा कर उनके शव भी कंधे पर ढोकर ले जाते। इस काम में बाबा और रामभाऊ दातार अगुवा थे। रात-बेरात अपनी चिंता न करते हुए हमने श्मशान के इतने चक्कर लगाए कि श्मशान का भय ही नहीं रहा और वह चहल-पहलवाले चौक की तरह गपबाजी का अड्डा लगने लगा।

श्मशान के फूल

मुझे एक रात का स्पष्ट स्मरण है कि हमारी स्वयंसेवक मंडली किसीका शव लाई, उसे चिता पर चढ़ाया और फिर श्मशान की धर्मशाला में हमने वह रात बिताई। रामभाऊ टालवाले के यहाँ से हम ढफ ले आए और उसकी ताल पर किसी नाटक के श्मशान-वर्णन के गीत गाने लगे। हम सब सुनते रहे। उस धर्मशाला के आगे बगीचा था, जिसमें जूही के सफेद फूल खिले थे—मैं बीच-बीच में उन फूलों को देखता और उनका अति तरल परिमल सूँघता सो गया। उस दिन की वह सुगंध मानो मेरी स्मृति में संग्रहीत होकर रह गई। जब भी जूही के फूल देखता हूँ, तो मुझे श्मशान की वह सुगंध अनुभव होने लगती है।

ननिहाल की यात्रा

दो-एक मास हो गए, परंतु प्लेग बना रहा। बार-बार मामा का यह आग्रह बढ़ता गया कि हम नासिक छोड़ अपने ननिहाल कोठूर आ जाएँ। प्लेग में स्थल बदलना मुझे भी उचित लगता था। अत: बाबा ने मुझे, बाल और भाभी को कोठूर भेज दिया, लेकिन वे जिद करके नासिक में ही बने रहे। हम कोठूर आए और एक बगीचे में गाँव के बाहर पंद्रह दिनों तक रहे। यह बगीचा वहाँ के जाग़ीरदार अण्णाराव बर्वे का था। प्लेगवाले गाँव से आनेवाले आदमियों के साथ प्लेग के भी आने का डर हर गाँव को लगता था—इसलिए एकदम गाँव में जाना ठीक नहीं होता था। उस एकांत बाग में हम दोनों, मैं और बाल, के लिए दोनों समय भोजन लेकर हमारे प्रिय मामा आते थे। दिन-रात उस बाग में अकेले रहते हम दोनों बच्चे रुआँसे हो जाते। भूख भी खूब लगती थी।

दाना लेकर देरी से आती माँ की राह जैसे चिड़िया के बच्चे तकते हैं, वैसे ही हम दोनों बच्चे टकटकी बाँधे देखते रहते और मामा के दिखाई देते ही खुश हो जाते। वहीं एक दिन जागीरदार बर्वे के लड़के हमसे मिलने आए। उसमें एक लड़का 'तात्या' था—मेरे ही वय का। कुछ ही दिनों में हम दोनों जिगरी दोस्त बन गए। एक-दूसरे के बिना हमें चैन नहीं पड़ता था। क्रांतिकारी आंदोलन में हम दोनों पर आए प्राण-संकट में भी हमारा वह स्नेह अखंड रहा और तात्या की अकाल मृत्यु होने तक बना रहा।

तात्या बर्वे के चचेरे भाई बलवंतराव बर्वे—जिन्हें हम बाबू कहते थे—बाबा के वय के थे और हमारे दूर के संबंधी भी थे। उनकी-मेरी प्रत्यक्ष पहचान इसी समय हुई। जागीरदार बर्वे का घराना इतिहास-प्रसिद्ध था। पुणे के पेशवे इनके दामाद थे। पेशवाओं के दिल्ली तक के व्यवहार बर्वे मंडली को ही सौंपे हुए रहते

थे। बर्वे की दूसरी शाखा के थे दादाराव बर्वे। उनके और मेरे मामा के बीच बहुत स्नेह था। ये सारे लोग मामा के साथ पिताजी के समय में भगूर आया करते थे। दादाराव के छोटे भाई गोपाल और वासुदेव क्रमश: बाबा और मेरे वय के थे। मामा के स्नेह के कारण वह घर मेरे ननिहाल जैसा ही था। भविष्य में इसी घर से ससुराल की ओर से भी मेरा संबंध होना था, किंतु उस समय उसकी कोई कल्पना नहीं थी। इन तात्या बंधुओं के कारण वहाँ मेरी इतनी घनिष्ठता बढ़ी कि लोग आश्चर्य करते।

बर्वे के बाग में कुछ दिन अलग-अलग रहने के बाद हम स्वस्थ मान लिये गए और गाँव में मामा के यहाँ आ गए। वहाँ बूढ़ी नानी और मामी मिलीं। नानी के स्नेह का क्या कहना! हम उनकी इकलौती कन्या की संतान थे। हमारे बचपन में ही हमें छोड़कर माँ जो परलोक सिधार गई थी, मानो इसीलिए नानी हमपर अपने प्राण निछावर करती थीं। हमारी मामी भी बहुत प्यार करनेवाली थीं। वे बाबा के ही वय की थीं, पर हम भानजों पर अपनी संतान की तरह उनका लाड़ बरसता था। मैं उनके साथ खूब खेलता। वे भोजन करतीं तो मैं उनका साथ देता। गाना गाकर सुनाता। उनकी काम की चीजें छिपा देता। मामा के पड़ोस में डोंगरे का मकान था। मैं बचपन में अपनी माँ के साथ उस मकान में जाया करता था। मुझे यह स्मरण नहीं था, पर उन्हें था। इसलिए वे सारे लोग मुझसे बहुत स्नेह करते। वहां सब मौसियाँ थीं—खूब लाड़ करनेवाली। उन सारी लड़कियों के संग झूले पर काव्य-प्रतियोगिता में सम्मिलित होने के लिए मुझे कितनी ही बार बुलावा आता और मुझे सबको काव्य रचकर कहते, हँसाते हुए, नानी आदि प्रौढ़ महिलाएँ एक तरफ होकर देखती रहतीं और उसका आनंद उठातीं। इन काव्य पंक्तियों में भी मैं स्वदेशभक्ति का, क्रांति का और विदेशियों के द्वारा दी जानेवाली राजनीतिक पीड़ा का वर्णन अवश्य पिरोता। मेरी फूफी की ससुराल उसी गाँव में थी। मैं उनके यहाँ भी जाता। उनका एक पुत्र था लखू, मेरे ही वय का। वह भी मेरा मित्र हो गया और होते-होते मेरी मित्र मंडली क्रम से बढ़ती हुई एक राजनीतिक संगठन में रूपातंरित हो गई।

कोठूर शाखा की स्थापना

अपने गाँव में हमारे मामा का बड़ा प्रभाव था। वे व्यायाम और कुश्ती में प्रवीण थे। उनके परिवार में व्यायाम की बड़ी रुचि थी; घर में ही व्यायामशाला थी। हमारे मामा भरे-पूरे, ऊँचे, दोहरे, गोरे और सुदर्शन थे। शरीर भी व्यायाम से कसा हुआ। मामा ने मुझे कुश्ती सिखाने का काम अपने युवा शिष्यों को सौंपा। उनके प्रभाव और स्नेह के कारण मुझे भी उस गाँव में बड़ा प्यार मिला। मैं जहाँ-जहाँ जाता, वहाँ-वहाँ मेरे राजनीतिक विचारों का प्रचार होता जाता। मेरी आयु सत्रह-

अठारह वर्ष की ही थी, परंतु कुछ अंशों में उसीके कारण जहाँ मैं जाता, वहाँ मेरा प्रभाव पड़ता। बड़ी आयु के व्यक्ति भी मुझसे बात करते और मेरी बड़ी-बड़ी बातें सुनकर मेरी ओर आकर्षित हो जाते। मैं वहाँ अनेक घरों में चापेकर का पोव्राड़ा गाकर सुनाता। अपनी अवस्था के लोगों को एकत्र कर गोदावरी नदी के सुंदर घाट पर मैं शाम को 'मित्र मेला' की तरह कभी-कभी बैठकें करने लगा। गाँव में मेरा एक सार्वजनिक व्याख्यान भी हुआ। उससे तो गाँव में मेरा सम्मान ही बढ़ गया। तब तक उस गाँव में अन्य गाँवों की तरह दस-पाँच आदमी समाचारपत्र पढ़ते थे, परंतु वह आनंद के साधन जैसा ही था। अन्य गाँवों की तरह ही स्वदेश के लिए स्वयं त्याग करने की तड़प पैदा हो, इतनी उत्कट देशभक्ति किसी में नहीं थी। क्या करना चाहिए, इसकी कोई कल्पना भी नहीं थी। लोकमान्य के आंदोलनों से स्वदेश के लिए चेतना और सदिच्छा गाँव-गाँव में उत्पन्न हो गई थी। ऐसी परिस्थिति में मेरी उत्कट भावना और बेहिचक प्रचार से तरुणों में ही नहीं, अनेक प्रौढ़ लोगों में भी स्वदेश-स्वतंत्रता का कभी न सुना हुआ, स्पष्ट, भव्य और दिव्य संदेश सुनकर देशभक्ति की जीवंत इच्छा उत्पन्न हुई। मैंने तत्काल ही नासिक जैसी गुप्त संस्था की स्थापना वहाँ की और यह शपथ भी अपने विश्वासपात्र लोगों को दिलाई कि देश की स्वतंत्रता के लिए आवश्यक होने पर सशस्त्र युद्ध का सामना कर प्राणत्याग भी करूँगा। इन लोगों में मेरे समवयस्क और मित्र श्री तात्याराव अर्थात् वामन श्रीधर बर्वे और बलवंतराव बर्वे—इन दोनों ने ही उल्लेखनीय अगुवाई की थी।

कोठूर में यह सब कुछ होते-करते मुझे बाबा की चिंता सता रही थी, क्योंकि वे नासिक के प्लेगग्रस्त वातावरण में रह रहे थे। ऐसे में ही एक दिन समाचार आया कि कोठूर की सीमा पर एक मंदिर में आकर बाबा ठहरे हुए हैं और उनकी जाँघों में प्लेग की गाँठें उभर आई हैं। नासिक में उन्हें प्लेग ने पकड़ा। वायु प्रकोप हुआ—ज्वर शरीर में था ही। हमें चिंता सताएगी, इसलिए हमें बिना सूचना दिए वे स्वयं ही सारे कष्ट भुगतते रहे। कष्ट कुछ कम होने पर जहाँ उनके प्राण अटके थे—वहाँ अर्थात् मुझे और बाल को देखने वे कोठूर आ गए। उनमें असीम सहनशीलता और शरीर के प्रति अति असावधानी पहले से ही थी। स्टेशन से दो मील पैदल चलकर जाँघों में प्लेग की दोनों गाँठों का कष्ट सहते हुए वे गाँव तक आए। चूँकि गाँव में आने की मनाही थी, इसलिए वे बाहर धर्मशाला में ही पड़े रहे। मामा मिलने गए, परंतु 'जैसे आए हो वैसे ही लौट जाओ, कोई गाँव में आने नहीं देगा'—यह सुना आए। बाबा केवल हमें देखकर, एक भी कौर मुँह में डाले बिना वैसे ही नासिक लौट गए। मेरा हृदय उनको देखकर तिल-तिल टूटता, पर क्या करते—निरुपाय जो थे। परिस्थिति ही ऐसी निर्दय, दारुण थी। वहाँ किसे क्या कहें? बछड़े से अलग

खींचकर ले जाई जाती गाय जैसे पीछे मुड़-मुड़ देखती है, वैसे बाबा मुड़-मुड़कर हम दोनों बच्चों को देखते हुए नासिक चले गए। हमारे प्रति प्रेम के कारण उन्होंने अनेक बार कितना कष्ट, कितना अपमान सहन किया। परंतु महीने भर में ही प्लेग कम हो गया और हम वापस नासिक चले गए।

राजा इंग्लैंड का या हिंदुस्थान का ?

नासिक में लौटते ही मैंने पाया कि मित्र मंडली में बहुत बेचैनी फैली हुई है। उस समय इंग्लैंड की रानी विक्टोरिया के दिवंगत हो जाने पर पूरे हिंदुस्थान में शोक-सभाओं की बड़ी धूम मची हुई थी। बड़े-बड़े राष्ट्रीय समाचारपत्रों में भी इस बहाने राजनिष्ठा व्यक्त करने की स्पर्धा-सी चल रही थी। समाचारपत्र लिखते—'हिंदुस्थान पर अंग्रेजी राज चाहिए या नहीं, इसपर अभी कोई चर्चा नहीं है। अर्थात् राजा से हमारा कोई विरोध नहीं है। हम तो अंग्रेजों की तरह ही इंग्लैंड के राजा की राजनिष्ठ प्रजा हैं। हमारा संघर्ष उनके केवल उन बुरे अधिकारियों और बुरी शासन-पद्धति से है। वह बदलकर अच्छे अधिकारी आ जाएँ तो हम उनका स्वागत करेंगे, जैसे हमने लॉर्ड रिपन का स्वागत किया। उसकी गाड़ी को तो एक बार काशी के पंडितों ने भी खींचा।'

राजनीति की ऐसी अवनत अवस्था में महारानी विक्टोरिया के मरते ही देवी से भी बढ़कर उसकी स्तुति देश भर में होने लगी। नए राजा—एडवर्ड के चरणों में लोग मानसिक रूप से लोटने लगे। कुछ वर्षों पूर्व इसी रानी के हीरक महोत्सव में व्यवधान उत्पन्न करने के लिए चापेकर बंधुओं ने रेंड को मार डाला था। तब जिन-जिन व्यक्तियों और संस्थाओं पर सरकारी कोप की गाज गिरी थी, वे सभी व्यक्ति और संस्था—दिवंगत रानी और नए राजा की छद्म स्तुति कर और उनके प्रति अपनी राजनिष्ठा व्यक्त कर—अपने पर गिरी कोप की गाज को ठंडी करने के प्रयास में जुट गए थे। आश्चर्य की बात यह कि 'मित्र मेला' के प्रमुख लोगों में से श्री म्हसकर और श्री पागे ने भी 'मित्र मेला' पर लगी पुलिस की कुदृष्टि से छुटकारा पाने के लिए यही नीति अपनाने की योजना बनाई।

यद्यपि 'मित्र मेला' की स्थापना हुए अभी डेढ़ वर्ष ही हुआ था और इस संस्था में हम युवाओं की संख्या ही अधिक थी, हम उसे एक खुली संस्था दर्शाने का प्रयास कर रहे थे। फिर भी उसकी साप्ताहिक बैठक में हम देश की स्वतंत्रता के लिए कड़ी चर्चाएँ करते, उसके नाम पर चलाए जानेवाले गणेश उत्सव, शिवाजी उत्सव आदि उत्सवों में दिए जानेवाले भाषणों और गीतों में 'सुराज नहीं, स्वराज' की स्पष्ट घोषणा से और उस समय एकदम अपूर्व तथा साहसी प्रतीत होते तेजस्वी

प्रचार से नासिक के युवाओं की ही नहीं, प्रौढ़ और नेता माने जानेवाले अनेक लोगों की भी सहानुभूति हमें मिलने लग गई थी। उस गुप्त और प्रकट सहानुभूति से 'मित्र मेला' की ओर सरकारी अधिकारियों की तीखी नजर न उठे और वे उसे 'भयंकर' शीर्षक न दें तो आश्चर्य की ही बात होती।

वह अंग्रेजों का शासनकाल था। आधी रात के अँधेरे में सड़क पर पड़ी सूई भी उन्हें दिख जाती थी, इतनी तेज और चौकस दृष्टि थी उनकी। ऐसे शासन की आँखें हमपर हैं और जाँच भी चल रही है, यह सब म्हसकर जैसे नेताओं को ज्ञात था। म्हसकर को उसकी चिंता होने लगी। संस्था के हित में हमें प्रकट रूप से राजनिष्ठा का स्वाँग करते रहना चाहिए, ऐसा उनका विचार था, पर इस बार तो उन्होंने जिद ही पकड़ ली। संस्था में जितने भी म्हसकर; पागे आदि जैसे सरकारी नौकर थे, उन्होंने भी अपनी सहमति जताई। 'मित्र मेला' के दिनोदिन अधिक कड़े होते जा रहे क्रांतिकारी विचार और बढ़ते प्रसार को देखते हुए उन्हें लगने लगा था कि पहले से ही हम युवाओं पर कुछ नियंत्रण होना चाहिए। इन लोगों के विचारों को घुमा-फिराकर म्हसकर ने कुछ ऐसी योजना बनाई कि जिस तरह 'मित्र मेला' की ओर से गणेश उत्सव, शिवाजी-जयंती उत्सव और राजनीतिक आंदोलन की सभाएँ की जाती हैं, वैसे ही विक्टोरिया रानी की मृत्यु के इस अवसर पर जैसे सुरेंद्रनाथ, तिलक आदि राष्ट्रीय नेताओं ने भी राजनिष्ठा प्रकट करने के ज्वार में पड़कर आगे-पीछे कुछ नहीं देखा, वैसे ही 'मित्र मेला' की ओर से एक शोक-सभा आयोजित हो और उसमें राजा एडवर्ड के प्रति एकनिष्ठा का प्रस्ताव भी पारित कर दिया जाए, जिससे यह कहा जा सके कि राजनीतिक आंदोलनों में यद्यपि हम चाहे जैसी कड़ी भाषा का प्रयोग करते हों, परंतु राजा से हमारा कोई विरोध नहीं है। यदि विरोध है तो राज्य-प्रशासन सुधारने के लिए है। अंग्रेजी राज नहीं चाहिए, ऐसा हमारा विचार नहीं है। यह स्पष्ट हो जाने पर सरकारी रोष से काफी देर तक बचे रहेंगे। संस्था भी बहुत दिनों तक बनी रहेगी और उपयुक्त काम कर पाएगी।

मेरे तर्क श्री म्हसकर के इन तर्कों के बिलकुल विपरीत थे। इसलिए म्हसकर ने मेरा विरोध होते हुए भी उपरोक्त प्रस्ताव 'मित्र मेला' की बैठक में रखा। मैंने भी कसकर उसका विरोध करते हुए कहा कि राजनिष्ठा का स्वाँग रचने के लिए ही इस सभा के आयोजन की बात म्हसकर कह रहे हैं, उनके भी मन में वही है जो हमारे मन में है कि अंग्रेजों का राजा हमारा राजा नहीं, उनके विचार बदले नहीं हैं, यह खुशी की बात है। अब प्रश्न यही है कि एक राजनीतिक पैंतरे के रूप में यह सभा आयोजित करें या न करें। समय आने पर राजनीति के दाँव भी चलाने ही पड़ते हैं। अधिक क्या कहें, गुप्त संस्था स्वयं एक राजनीतिक दाँव है। शिवाजी ने समय आने

पर औरंगजेब को स्वयं के शरणागत होने की चिट्ठियाँ लिखीं। कंस को मारने जा रहा हूँ, खुले रूप में यह कहकर कृष्ण भी मथुरा नहीं गए थे। वैसे ही समय आने पर हम भी राजनिष्ठा का स्वाँग करेंगे, परंतु वह समय आज आ गया है क्या? प्रश्न यह है।

जब हम शत्रु को धोखे में रखने के लिए कोई मायावी रूप लेते हैं, तब हमेशा यह देखना जरूरी है कि शत्रु सचमुच उस धोखे के जाल में फँसता है या हम ही फँस जाते हैं। कुल मिलाकर उस पैंतरे से शत्रु की ही हानि अधिक होने की संभावना हो तो राजनिष्ठा का मौखिक स्वाँग, आक्रमण के पूर्व अफजल खाँ के सामने भय की कँपकँपी दिखाना समर्थनीय है। परंतु आज हमपर वैसा कोई भी दबाव नहीं है। हम विक्टोरिया के प्रति शोक प्रकट करने की अंग्रेजी विधि या राजनिष्ठा से नहीं बँधे हैं। फिर टाले जा सकनेवाले राष्ट्रीय पल को हम बलात् लाएँ ही क्यों? जब तक भारत पर अंग्रेजों का बलात्कारी राज है, तब तक उसे एक प्रचंड सशस्त्र डकैती से अधिक नैतिक निष्ठा का रत्ती भर भी समर्थन नहीं किया जा सकता। इस शासन का हिस्सेदार हर अंग्रेज चोर है और इसीलिए दंडनीय भी है।

वह राजा होगा इंग्लैंड का, हमारा नहीं। वे चाहें तो रोएँ। विक्टोरिया एक व्यक्ति के रूप में अच्छी थी, इसीलिए शोक-प्रस्ताव पारित करें, ऐसा म्हसकर कहते हैं, पर वह जिस दिन मरी, उसी दिन अनेक अन्य अच्छी महिलाएँ भी मरी होंगी। उनका उल्लेख क्यों नहीं होता? यह पूरा ढोंग है। वह रानी थी, इसीलिए आप सभा आयोजित करेंगे, पर वह तो हमारी रानी थी ही नहीं। उसके कार्यकाल में अंग्रेजों ने हिंदुस्थान के एक के बाद दूसरे प्रदेश खाए, उसने खाने दिए और वह बकवास—चिंदी, सन् १८५७ का जाहिरनामा, जिसे दूधपीती राजनीति 'सनद' कहती है—प्रकाशित कर वह लूट की स्वामिनी बनी रही। एक धेला भी उसने नहीं लौटाया। कोहिनूर-जड़ा राजमुकुट ले गई और उसकी कीमत दी—वह जाहिरनामा चिंदी। यदि साध्वी थी तो सन् १८५७ के क्रांतियुद्ध में मरे असंख्य भारतीयों के रक्त से सना मुकुट उसने सिर पर रखा ही क्यों? क्या अंग्रेजों की किसी एक भी राक्षसी नीति का विरोध उसने किया? अंग्रेजी दुष्टता का दायित्व उसपर नहीं है, ऐसा कहोगे? वह शतरंज की रानी थी। फिर वह शोक-प्रस्ताव की अधिकारिणी कैसे है? वह भी शतरंज के मोहरों का खेल था तो उनके घातक दाँव-पेंचों में उस जाहिरनामा के समय, मायावी रूप दिखाने के अतिरिक्त क्या कोई दूसरी गति ही नहीं थी? अस्तु!

राजा हो अथवा रानी, वह अंग्रेजों की रानी है अर्थात् हमारे शत्रु की रानी। हमारे राष्ट्र को लूटते डकैतों की सरदार, मुखिया! कोई कहे कि उसके लिए हम राजनिष्ठा प्रकट करें, वह भी बिना किसी दबाव के? राष्ट्रहित के लिए विवश होकर

वह युक्ति काम में लेने का कोई कारण न होते हुए भी क्या यही बेला 'मित्र मेला' का विशिष्ट कर्तव्य कर दिखाने की है? जब सारा देश रानी के निर्लज्ज स्तुतिपाठ के प्रवाह में बह रहा है, हम घर-घर जाकर कहें कि कैसी रानी? कैसी राजनिष्ठा? यह राजनिष्ठा नहीं, यह तो गुलामी की गीता है।

हमारा देश ही हमारा राजा है। किसी दूसरे राजा को हम नहीं जानते। ऐसा तेजस्वी सत्य कहनेवाली कोई एक संस्था तो इस समय है—यह सिद्ध करने का स्वर्णिम अवसर हमारे सामने है। हमें स्वयं ही डरकर इस अवसर का लाभ उठाने से नहीं चूकना चाहिए। इसी कारण यदि यह संस्था बंद हो जाती है, तो इसका जीवन सफल ही मानना पड़ेगा। बहुत सँभल-सँभलकर लिखनेवाले देशभक्तों को भी अंग्रेजी सत्ता जब चाहे, तब जेल भेज देती है। फिर हम सच क्यों न बोलें? स्वतंत्रता का तेजस्वी ध्येय, उसका दिव्य ध्वज, अम्लान, अनवनत, खुले रूप में फहराएँ। क्षण भर के लिए भी यदि हम उसे फहरा सकें और दूसरे ही क्षण शत्रु की गोली लगने से दिवंगत हो चिता पर गिर जाएँ, तब भी चिंता नहीं, क्योंकि इस तरह मरनेवालों की चिता से ज्वाला भड़कती है; और ऐसी ही किसी भड़की ज्वाला से बने दावानल में विदेशी सत्ता का राजभवन जलकर राख हो जाता है। ऐसे प्रयास पर फाँसी दी जाती है—ऐसा कहनेवाले कहा करें। वह हमें भी ज्ञात है। चापेकर की फाँसी से हमारा जन्म हुआ, हमारी फाँसी किसी और को जन्म देगी और यह वंश बना रहेगा। बहुत दिन जीकर पकी उमर में देशहित प्राप्त करने का काम लाखों बुड्ढे-बुढ़ियाँ कर ही रहे हैं। अब तो हमें यही दिखाना है कि अकाल मृत्यु का आलिंगन करनेवालों की मृत्यु कैसी मारक होती है। फाँसी पर चढ़कर मरना यदि अकाल मृत्यु है, तो प्लेग, महामारी और अकाल से मरना क्या है? प्राण या स्वतंत्रता? यह प्रश्न हमने पहले ही स्वयं से पूछा है। प्राण जाएँ तो जाएँ, पर स्वतंत्रता मिले, ऐसी शपथ लेकर ही तो हमने यहाँ पैर रखा है। हमारे राष्ट्र के नेता कहते हैं कि राजा से हमारा झगड़ा नहीं है। शासन-पद्धति और अधिकारी अवश्य अच्छे होने चाहिए। उनके ऐसे कथनों से लाखों लोग भ्रम में रहते हैं। इसलिए हम स्पष्ट घोषणा करें कि नहीं, हमारा झगड़ा राजा से ही है। यदि तुम देवदूतों को भी अधिकारी बनाकर भेजोगे और प्रतिदिन निर्मूल्य दूध-जलेबी खिलाओगे, तब भी हम यह युद्ध बंद नहीं करेंगे, क्योंकि हमें तुम्हारा शासन ही नहीं चाहिए, हमें तुम्हारा राजा होना ही स्वीकार्य नहीं है। हमें स्वयं ही अपना राजा बनना है। हमारा देश ही हमारा राजा है। बाकी सारे चोर हैं। अंत में एक मजेदार बात कहना आवश्यक है—वह यह कि सन् १८५७ की जिस घोषणा (Magna Charta) को 'स्वराज का ताम्रपट' कहकर उस समय के सभी राजनीतिक दल उसकी स्तुति करते थे, उसे ही

वायसराय लॉर्ड कर्जन 'असंभव सनद' कहकर झटकनेवाले थे और सबकी आँखें खुली-की-खुली रह जानेवाली थीं, परंतु कर्जन के कहने के पूर्व ही उस समय के 'मित्र मेला' की चर्चा में हमने उसे 'रद्दी चिट' कहकर फेंक दिया था।

उपर्युक्त आशय का और अधिकतर इन्हीं शब्दों तथा इसी क्रम से मेरा भाषण समाप्त होते ही लोगों में जोश आ गया। स्वयं म्हसकर भी उस जोश में सम्मिलित थे, क्योंकि उन्होंने बाद में कोई उत्तर नहीं दिया। राजनिष्ठा प्रकट करने के लिए 'मित्र मेला' कोई सभा आदि आयोजित न करे और हम अपने स्वीकृत व्रत के अनुसार यथासंभव सभा और प्रस्तावों के पारित होने में बाधा उत्पन्न करें, यह निश्चित हुआ। म्हसकर महोदय इससे मन-ही-मन प्रसन्न ही हुए थे।

यहाँ मैंने अपना भाषण जान-बूझकर थोड़ा विस्तार से दिया है, क्योंकि उस समय के हमारे विचार, भावना और भाषा कैसी थी—इसकी कुछ स्पष्ट झलक इस ग्रंथ के इस प्रकरण में एकाध जगह देनी जरूरी थी। इसी तरह के भाषण 'मित्र मेला' में बहुत बार होते थे। 'मित्र मेला' के विचार ऐसे ही थे। खुले उत्सव, सभा आदि के समय होनेवाले भाषणों में अंग्रेजों का नाम लेकर हम नहीं बोलते थे। तब हम राम ने रावण को, कृष्ण ने कंस को या शिवाजी ने अफ़ज़ल खान को या मैजिनी ने ऑस्ट्रिया को, इस तरह घुमाकर बात करते थे। परंतु गर्भितार्थ वही रहता था और म्हसकर प्रभृति भी सब ऐसा ही बोलते थे।

रानी के लिए शोक-सभा करने की योजना फलित न होने के बाद से म्हसकर इस चिंता में रहने लगे कि इन तरुणों को कैसे थोड़ा-बहुत नियंत्रित किया जाए। उनकी यह चिंता हमारे हित में और निष्कपट थी। अंत में 'मित्र मेला' की स्थापना के समय की बात उन्होंने उकेरी और मुझसे कहा कि अब मेरी कम-से-कम एक बात तो तुम सबको सुननी चाहिए। प्रारंभ में हमने यह स्वीकार किया था कि 'काल' समाचारपत्र के संस्थापक श्री परांजपे को यदि किसी बैठक का प्रस्ताव मान्य नहीं हुआ तो भले ही वह बहुमत का निर्णय हो, उसपर कार्यवाही नहीं होगी। श्री परांजपे की आड़ में हमारा कोई भी पुरोगामी विचार दबाने में म्हसकर समर्थ हो जाएँगे, यह बात म्हसकर की उपर्युक्त सूचना से मुझे ज्ञात हो गई। इसलिए मैंने उनसे कहा कि श्री परांजपे को एक दिन यहाँ प्रत्यक्ष लाया जाए और इस संस्था, इसके गुप्त उद्देश्य, इसके प्रकट आंदोलन—सारा कुछ उनके सामने रखा जाए। फिर वे क्या कहते हैं, यह देखेंगे और क्या-कुछ निर्णय लेना है, वह लेंगे, क्योंकि वे स्वयं इस तरह का दायित्वपूर्ण भार अपने ऊपर लेने के लिए तैयार होंगे या नहीं, यही सबसे पहली आशंका है। दूसरी बात यह भी है कि चाहे कुछ भी हो जाए, पर क्रांति के मुख्य विचार के विरुद्ध और अपनी शपथ में लिये गए संकल्प के विरुद्ध या

उससे विसंगत दूसरा कोई भी विचार हम स्वीकार नहीं कर सकते। उसे स्वीकार करते हुए छोटा-मोटा इधर-उधर कुछ परिवर्तन किया जा सकता है।

म्हसकर ने इस विषय पर बैठक में भी चर्चा की, पर इसके लिए कोई तैयार नहीं हुआ। हाँ, मुख्य विचार को सँभालते हुए अन्य प्रकरण में श्री परांजपे को मुख्य मार्ग प्रदर्शक बनाने के लिए सब तैयार थे, क्योंकि उनका पत्र 'काल' हम सबको, कम-से-कम मुझे, क्रांति के विचारों को निरंतर प्रस्तुत करनेवाला एक निर्झर लगता था और इसीलिए श्री परांजपे के प्रति मेरे मन में श्री म्हसकर से भी अधिक श्रद्धा थी। परंतु जब तक उनसे प्रत्यक्ष मिलते नहीं और 'मित्र मेला' जैसे क्रांतिकारी गुप्त संगठन के प्रयोग के संबंध में उनके विचारों को नहीं सुनते, तब तक उनके नाम का दुरुपयोग होने से रोकना हमारा कर्तव्य है, ऐसा हमारा विचार था। परंतु जब तक म्हसकर हमारे बीच रहे, तब तक श्री परांजपे को नासिक में प्रत्यक्ष लाने का उनका प्रयास सफल नहीं हुआ। इसलिए वह विचार भी स्थगित ही रहा।

किशोर वय का ज्ञानार्जन

सन् १९०१ में मैं अंग्रेजी छठवीं उत्तीर्ण कर सातवीं अर्थात् मैट्रिक की कक्षा में आ गया था। मैंने इस वर्ष विशेषकर इतिहास पढ़ा। बड़ौदा से प्रकाशित 'राष्ट्रकथा माला' पढ़ी, जो अंग्रेजी के Stories of Nations पर आधारित प्रकाशन था। प्राचीन राष्ट्र अकोडिया से प्रारंभ कर असीरिया, बेबीलोन, स्पेनिश मूर, तुर्की साम्राज्य आदि के इतिहास भी मैंने पढ़े। मैं जो भी पुस्तक पढ़ता, उसका सारांश और आवश्यक उद्धरण एक पुस्तक में उतार लेता था। इस कारण मेरा वाचन धूल पर बनी लकीरें नहीं रहता था और पूरी तरह पच जाता था। फिर आवश्यकता पड़ने पर उस टिप्पणी को देखते ही सारा विषय आँखों के सामने आ जाता और फिर मैं जब चाहता, उस विषय पर निबंध या व्याख्यान देना संभव हो जाता। वाचन कर टिप्पणी रखने की यह पद्धति भगूर में रहते अपने-आप ही विकसित हो गई थी। उस सारांश पुस्तक का जो नाम मैंने अपनी आयु के बारहवें वर्ष में रखा था, वह कभी भी अपूर्ण नहीं रहा। उसका नाम मैंने 'सर्वसार संग्रह' रखा था जो सर्वथा उचित था। मेरे बी.ए. उत्तीर्ण होने तक उसमें न जाने कितनी जानकारियाँ सहज ही ग्रथित होती गईं, नानाविध ग्रंथों के ज्ञान का मंथन कर निकला नवनीत उसमें जमा होता गया, इतने अवतरण, भाषा-पद्धति, संख्या, नाम उसमें लिखे गए कि वह ग्रंथ दुर्लभ और दर्शनीय ही हो गया। इस 'सर्वसार संग्रह' के तब तक चार-पाँच खंड हो गए थे। यदि उन्हें प्रकाशित किया जाता तो वह एक उपयोगी संदर्भ-ग्रंथ हो जाता। परंतु क्रांतिकारी न्यायप्रविष्ट प्रकरणों की आँधी में जो दिखे, उसको जला देने के धूम-

धड़ाके में ये ग्रंथ भी राख हो गए। यह विवशता थी।

पुस्तकीय ज्ञान को सुव्यवस्थित और सुसंगत विधि से स्थायी रखने में उस 'सर्वसार संग्रह' में विषय को संक्षिप्त करके उतार लेने की आदत का जैसा उत्तम उपयोग मैंने किया, वैसे ही वह हमारी 'मित्र मेला' संस्था की साप्ताहिक बैठकों के लिए भी बहुत उपयोगी रहा। पढ़कर जो समझा, जब उसे दूसरों को कहने जाते, तो कई गुना अधिक समझ में आ जाता। इसके साथ ही प्रभावी ढंग से उसे कैसे व्यक्त किया जाए, कैसे उसे श्रोता के मन में उतारा जाए, वह कला भी सीखने को मिलती। मैंने उस वर्ष प्राचीन ईरानी साम्राज्य, स्पेनिश मूर, नीदरलैंड के विद्रोह का इतिहास, मैजिनी, गैरीबाल्डी आदि विषयों पर 'मित्र मेले' में जो व्याख्यान दिए, वे श्रोताओं और मेरी स्मृति में चिरस्थायी हो गए।

उसी वर्ष मैं एक माह तक ज्वर से पीड़ित पड़ा रहा था। ज्वर ठीक हो जाने के बाद के विश्राम-काल में मैंने मराठी कवि मोरो पंत का विवेचनपूर्वक अध्ययन विस्तार से किया। मोरो पंत बचपन से ही मेरे प्रिय कवि रहे थे। नासिक के नगर वाचनालय में मोरो पंत रचित सारी पुस्तकें मैंने पढ़ ली थीं। 'काव्य का इतिहास' और 'काव्य-संग्रह' मैं नियमित पढ़ता था। 'अलंकार शास्त्र और मोरो पंत' विषय पर मैंने व्याख्यान भी दिए। ऐसे मधुर विषयों पर व्याख्यान देने में मुझे विशेष आनंद आता था। इस तरह पढ़ा हुआ ज्ञान 'मित्र मेला' के साथियों में प्रति सप्ताह बाँटते हुए बढ़ाने का जो सुयोग मुझे मिला, उसका परिणाम मेरे ज्ञानार्जन और सामर्थ्य पर बड़ा अनुकूल हुआ। 'मित्र मेला' के मेरे साथियों के ज्ञान का विकास भी कुल मिलाकर मेरी ज्ञान-वृद्धि पर अवलंबित था। मुझे इसकी पूर्ण कल्पना थी। इसलिए उस संस्था के विकास के लिए मुझे क्या नया पढ़ना है और कहना है, मैं इसकी खोज में रहता था।

मेरी एक और आदत भी मेरे ज्ञानार्जन में बहुत उपयोगी रही। युवकों के लिए वह अनुकरणीय भी है। प्रतिवर्ष मेरे द्वारा पढ़े जानेवाले ग्रंथों की एक सूची मैं अपनी दैनिकी में बनाता रहता था और हर नए वर्ष में गत वर्ष पढ़े सभी ग्रंथों की संख्या में मन-ही-मन एक प्रतियोगिता रचता था। नासिक के नगर वाचनालय की सारी मराठी पुस्तकें मैंने अथ से इति तक पढ़ी थीं। जो समझ में नहीं आतीं, उन्हें दोबारा पढ़ता। जो भाग समझ में आ जाता, उसे आत्मसात् कर लेता था। ज्ञेय और अज्ञेय मीमांसा का एक मजेदार प्रसंग मुझे इस संदर्भ में याद आ रहा है। स्पेंसर के ग्रंथों से उस वर्ष मेरा प्रथम परिचय मराठी के अनुवाद द्वारा हुआ। 'दाभोलकर ग्रंथ माला' की पुस्तकें मैं पढ़ा करता था, उसमें ये ग्रंथ थे। वे मैंने दो बार पढ़े। कोई विषय समझ में नहीं आता, यह बात मानने के लिए मैं सहज तैयार नहीं होता था।

जब बिलकुल ही पल्ले न पड़े, तब मैं मान लेता। परंतु वह मन को कचोटता रहता। ये दोनों पुस्तकें कुछ भी समझ में न आईं, इसलिए वे वैसे ही रह गईं। जब मैं विलायत पढ़ने गया, तब उन लोगों से इस विषय पर चर्चा की, जिन्होंने अंग्रेजी-माध्यम से स्पेंसर को पढ़ा था। मैंने पाया कि मुझे तो इस विषय का मेरी आयु की तुलना में आश्चर्यकारक ज्ञान है। वह ज्ञान मुझे मराठी पुस्तकें पढ़ने से ही प्राप्त हुआ था, यह मेरी समझ में आ गया। फिर वहाँ मैंने हर्बर्ट स्पेंसर के मौलिक ग्रंथ पढ़े। तब भी यह ध्यान में आया कि मराठी का प्रथम वाचन व्यर्थ नहीं गया था।

इस वाचन से उपयोगितावाद या हितवाद का प्रथम परिचय भी हुआ। तब से मैं उस हितवाद का अभिमानी हो गया। कॉलेज के अध्ययन-क्रम में 'बेंथम' और 'मिल' को थोड़ा-बहुत पढ़ा। तब से मैं इस नीति तत्त्व को अपने सारे व्यवहार की कसौटी, अपना नीतिसूत्र, अपना व्यवहार-धर्म मानने लगा। इस उपयोगितावाद का निरंतर प्रचार मैं अपने लोगों में करने लगा। गुप्त संस्था में 'भारत और इंग्लैंड' विषय पर मैंने कई व्याख्यान भी दिए। इस नीतिशास्त्र की नींव पर और इसी सूत्र के आधार पर क्रांतिकारी आंदोलन को हमें खड़ा करना होगा। उसका समर्थन भी इसी नीति पर करना चाहिए। यह हमारी मनुस्मृति है, मैं ऐसा कहता था और ऐसा ही मानता भी था। महाभारत में कृष्ण ने अनेक अवसरों पर जो भाषण दिए हैं, जो उपदेश दिए हैं या जो व्यवहार किए हैं, उन सबसे मैं यह सिद्ध करता था कि उपयोगितावाद के प्रथम प्रणेता श्रीकृष्ण ही थे। वही उस वाद के प्रथम आचार्य थे; आचार्य इसलिए कि उन्होंने उसे अपने आचरण से सिद्ध किया था। उन्होंने अपने सारे आचार का समर्थन इसी तत्त्व के आधार पर किया था। वह आज भी किया जा सकता है। 'धारणात् धर्ममित्याहु धर्मो धारयते प्रजा' ('गुंडों, चोरों ने जिसे पकड़ा हो, उसे मुक्त कराने में यत्किंचित् भी विचार न करो') और 'शतमृणा युक्ति', 'युक्तिहीने विचारेतु धर्महानिः प्रजायते', 'यद्भूतहितमत्यंतमेतत्सत्य मतं मम्' आदि संस्कृत तथा प्राकृत के वाक्य हम लोगों के नित्य पाठ में थे। किंबहुना, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि सनातन, सार्वभौम माने जानेवाले शब्दों, तत्त्वों के वास्तविक अर्थ क्या हैं, इनका दृष्टांत देकर स्पष्ट करने के लिए ही महाभारत में अनेक प्रसंगों की रचना की गई है। उपर्युक्त तत्त्वों पर वास्तविक आचरण करते समय कितना मोड़ने पर वे धर्म संज्ञा के पात्र होते हैं और न मोड़ने पर कैसे अधर्म हो जाते हैं, यह महाभारत के प्रसंग स्पष्ट करते हैं। 'महाभारत' इसीलिए व्यवहार्य और व्यवहृत नीतिशास्त्र की सोपपत्तिक एवं उदाहरणपूर्व कुंजी है, ऐसी मेरी धारणा दिनोदिन बनती गई।

अपने ज्ञानार्जन, अध्यवसाय, कार्य, कर्तव्य आदि की अनुशासन-व्यवस्था

ठीक-ठाक चलाने में नित्य दैनिकी (डायरी) लिखने का मेरा क्रम बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ। मैं दैनिकी तो नियमित लिखता ही, हर मास समय-सारणी भी बनाता। जब मैं भगूर में था, तब से ही ये सब अनुशासन लग गया। मेरी दैनिकी में अपने परिचित व्यक्तियों के स्वभाव-चित्र, घटनाओं का सरस वर्णन, मेरी बाल भावनाएँ, विचारों का बनना-बिगड़ना आदि आकर्षक भाषा में लिखा रहता। इन सब कारणों से वे दैनिकियाँ बहुत पठनीय हो गई थीं। बारहवें वर्ष से लेकर बी.ए. उत्तीर्ण होने तक की डायरियाँ एक स्थान पर क्रम से रखी रहती थीं। इंग्लैंड में भी कुछ दिनों तक मैंने डायरी लिखी। परंतु यह क्रम क्रांति-मार्ग पर चल रहे हम लोगों के लिए उपयुक्त नहीं है, यह भी जान गया। फिर भी बहुत दिनों तक मैंने उन्हें छिपाकर सीने से लगाए रखा। परंतु जब पुलिस के हाथों उनके पड़ जाने और फिर अनेक लोगों पर राजनीतिक संकट आ जाने का डर बढ़ गया, तब मेरे मित्रों ने हिंदुस्थान में और मैंने इंग्लैंड में उन्हें जला दिया। इस कारण मेरे व्यक्तित्व की ही नहीं, वरन् 'अभिनव भारत' संस्था के राष्ट्रीय आंदोलन के विवरण की भी बड़ी हानि हुई। परंतु उस समय उनको जलाया न जाता तो गुप्त संस्था की कई महत्त्वपूर्ण हलचलों और हजारों लोगों का उससे जो जुड़ाव था, वे सारी जानकारियाँ पुलिस के हाथों पड़ जातीं और देश भर में हजारों व्यक्तियों, परिवारों पर जो विपत्ति आती, वह उससे भी भारी हानि होती। इसलिए उस समय मेरा लिखा जो जहाँ मिला, वह हमने जला दिया और यही ठीक भी था।

ग्रंथ का अध्ययन करने के बाद उसका सारांश या उसके उद्धरण, मैं जिसमें लिखता, उस सर्वसार संग्रह, मेरी डायरी, मेरी समय-सारणी, वर्ष भर में पढ़ी पुस्तकों की सूची आदि की मेरी आदतों से मेरे बौद्धिक, मानसिक और व्यावहारिक कर्तृत्व का प्रभाव बढ़ाने के साथ ही उसमें व्यवस्था, निरंतरता और सुसंगतता लाने में भी बड़ा सहयोग मिला। इसीलिए मेरी देखा-देखी मेरे कई इष्ट मित्रों ने भी वे आदतें अपनाईं। हमारी संस्था के सदस्यों का भी ज्ञान बढ़े और हर एक को राज्यक्रांति के जिस महान् कार्य के लिए अपने को समर्पित करना था, उस कार्य के लिए आवश्यक बौद्धिक सिद्धता और योग्यता भी, कुछ मात्रा में ही सही, सदस्यों में आए—इसलिए बीस-पचीस पुस्तकों की एक सूची हमने बनाई। उसमें विश्व में हुई राज्यक्रांति की पुस्तकें, नेपोलियन आदि विश्व-वीरों के चरित्र, भारतीय इतिहास, व्यायाम, विवेकानंद एवं रामतीर्थ के एक-दो वेदांत संबंधी ग्रंथ भी थे। इतनी पुस्तकें तो हर एक को पढ़नी ही पड़ती थीं। इनके अतिरिक्त भी जिसे अधिक पढ़ना हो, उसके लिए हमने एक निःशुल्क ग्रंथालय भी विष्णु मंदिर में खोला था। 'काल' दैनिक पत्र हर कोई पढ़ता या सुनता था। उसमें जो दो स्तंभ थे—'तरुण इटली' और

'खेती-किसानी'—उनमें यूरोप की गुप्त संस्थाओं की जानकारी रहती थी जिसे संस्था के सदस्य हमेशा पढ़ते-गुनते, कहते-सुनते।

भगूर में शाखा

इसी बीच कभी एक बार मैं भगूर गया था। नासिक में 'मित्र मेला' की स्थापना के बाद भगूर के मेरे बचपन के साथी जब कभी मुझे नासिक में मिलने आते, तब मैं उन्हें 'मित्र मेला' की जानकारी देता ही था। नासिक में मैं आया और वहाँ आकर मैंने एक गुप्त संगठन और उसकी एक प्रकट शाखा स्थापित तो की, पर वास्तव में उसके पूर्व से ही अर्थात् बचपन से ही भारतीय स्वतंत्रता के संपादन की मेरी तीव्र आकांक्षा थी और वह सशस्त्र युद्ध के बिना कभी भी संभव नहीं है, यह विश्वास भी था।

वह शस्त्रयुद्ध लड़ने की अपनी-अपनी तैयारी हर भारतीय को करनी चाहिए, ऐसी चर्चाएँ भी मेरे बालसखाओं को पूर्वविदित थीं। फिर भी वहाँ उनकी कोई संगठित संस्था नहीं थी। 'मित्र मेला' के आदर्श पर मैंने वहाँ शाखा स्थापित की। वे भी प्रति सप्ताह बैठक करते और इसका अध्ययन करते कि अन्य राष्ट्रों ने स्वतंत्रता कैसे प्राप्त की। आसपास के गाँवों में देश-विषयक सारे आंदोलन वे चलाते। अंग्रेजी सत्ता-परसत्ता के विरुद्ध तीव्र घृणा और स्वतंत्रता की उत्कट लालसा किसानों में वे उत्पन्न करते। वे लोग उन्हें शपथ दिलवाकर संस्था की शाखाओं का विस्तार करते। यदि अंतिम रूप से विद्रोह करने की स्थिति आई तो वह कैसे किया जाएगा? साधन क्या है? अंग्रेजों का वास्तविक शासन भारतीय कैसे चलाते हैं? वे सिपाही, पुलिस, किसान अपने-अपने स्थानों पर यदि विद्रोह कर बैठे, तो सन् १८५७ के समर की तरह अंग्रेजों को थानों में कैसे बंद किया जा सकेगा? ऐसे असंतोष और समय-समय पर होनेवाले अंग्रेज अधिकारियों के कत्ल से न घबराते हुए एक के बाद दूसरा अधिकार प्राप्त करते हुए अंत में उन्हें किसी यूरोपीय महायुद्ध की कैंची से पकड़कर और तभी भारत में भी विद्रोह करके तुमुल युद्ध में उन्हें शरण में आने के लिए किस तरह बाध्य किया जा सकता है आदि कार्यक्रम सारी जनता को मौखिक बताना और अंत में कुछ हो या न हो, कम-से-कम एक शत्रु को मार डालने की अंतिम बात करने की सिद्धता रखना आदि हमारे निश्चित कार्यक्रम पर व्याख्यान देकर उसी तरह चलते रहने की प्रेरणा मैंने अपने बालसखाओं को दी।

तब से भगूर की यह शाखा भी नासिक की तरह ही नियमित सार्वजनिक कार्यक्रम संपन्न करती रही। ग्रामीणों तथा किसानों को स्वतंत्रता के लिए शपथ दिलवाना, शिवाजी उत्सव, गणेश उत्सव, स्वदेशी आदि के खुले कार्यक्रम गाँवों में

आयोजित करना और कुल मिलाकर अंग्रेजी राज अर्थात् रामराज, राजा जो कहे वह सच आदि तब तक गाँव-खेड़े में प्रचलित दास्यप्रवण नीच विचारों को समाप्त कर उनमें विदेशी सत्ता के विरुद्ध तीव्र द्वेष फैलाकर, स्वराज के लिए, देश की स्वतंत्रता के लिए उत्कट लालसा और सहानुभूति जगाने के कार्य अपनी अल्प शक्ति के अनुसार अपनी अल्प कक्षा में वे करते रहे। अंग्रेज का अभिप्राय 'माई-बाप सरकार' जैसी पहले से चली आ रही भावना भुलाकर अंग्रेज अर्थात् 'चोर' ऐसी भावना किसानों, ग्रामीणों में उत्पन्न करने का कार्य ग्रामीण लघु गुप्त संस्थाएँ अच्छी तरह कर लेती थीं, क्योंकि ऐसा स्पष्ट सच कहना उस समय किसी नेता या समाचारपत्र के लिए भी संभव नहीं था। इतना स्पष्ट कहने की मानसिक तैयारी भी अधिकतर नेताओं की नहीं होती थी। उनमें से बड़े-बड़े लोग भी अंग्रेजी राज उखाड़कर फेंक देने की इच्छा को बचपना और उसकी पूर्ति को असंभव कहते थे।

पहला बड़ा गणपति उत्सव और मेला

सन् १९०१ में 'मित्र मेला' ने दूसरा गणपति उत्सव बहुत बड़े स्तर पर आयोजित किया। मेरे सहयोगी त्र्यंबक, वामन, शंकर आदि युवकों ने इसके लिए काफी श्रम किया। उनकी भी कर्तृत्वशक्ति और वक्तृत्वशक्ति प्रसिद्धि की ओर बढ़ रही थी। गोविंद कवि ने स्वतंत्र गीत लिखे और 'मित्र मेला' का एक गीतवृंद भी तैयार किया। उस गीतवृंद का तेजस्वी प्रभाव लोगों पर हमेशा रहा। उसका नाम पुणे तक पहुँचा। उस गीतवृंद द्वारा प्रस्तुत किए जानेवाले कार्यक्रम में राम-रावण-संवाद भी था। ये संवाद गोविंद कवि ने लिखे थे। उसे सुनकर श्रोताओं की भुजाएँ फड़कने लगतीं। रावण द्वारा भारत की मूर्तिमंत लक्ष्मी का किया गया अपहरण और राम द्वारा उसके दस सिर काटकर लिये गए प्रतिशोध का वर्णन गोविंद कवि ने ऐसी भाषा में किया था कि पकड़ा तो न जा सके, पर तुरंत यह समझ में आ जाए कि सीता लक्ष्मी का अर्थ स्वातंत्र्य-लक्ष्मी है। कौन राम है, कौन रावण है, सशस्त्र युद्ध में शिरच्छेद हुए बिना कौन है जो ध्यान में न आएगा, यह मन-ही-मन जान दर्शकों के मन संतप्त हो जाएँ। 'हे घनश्याम श्रीराम' मुखड़े का गीत इसी समय कवि गोविंद ने लिखा था—भारतीय स्वतंत्रता के लिए उत्कट करुणा से पूर्ण यह गीत निवेदनपरक था। 'मित्र मेला' में प्रति सप्ताह जो विषय और विचार मैं प्रस्तुत करता था, वही विषय और विचार बड़ी कुशलता से गोविंद कवि अपने सुंदर और तेजस्वी गीतों से प्रकट करते थे। उनके गीतवृंद में उन्हें ऐसे बालक भी मिले थे जो उनके गीत के भावों को परिणामकारी अभिनय द्वारा व्यक्त करते थे। वे लड़के उन गीतों को केवल रटकर नहीं सुनाते थे—वे तो मानो उन गीतों से अपने मन की छटपटाहट व्यक्त करते थे।

इसलिए कवि के समान तेज, दु:ख, उत्कटता, करुणा, क्रोध उनके गीत-गायन और अभिनय-आवेश से प्रकट होता था।

उस समय वे तीन ही कुमार थे—मेरा छोटा भाई बाल, दत्तू केतकर और बापू जोशी। बाद में श्रीधर वर्तक भी आया। मेरा सिंहगढ़ का पोवाड़ा, बाजी देशपांडे का पोवाड़ा, कवि गोविंद रचित अफ़ज़ल खाँ वध का पोवाड़ा और अन्य गीत, संवाद लिये वह गीतवृंद महाराष्ट्र भर में प्रचार करता रहा। इन गीतों को वे लड़के ही शोभा देते थे। उन लड़कों को भी वे ही गीत शोभते थे। उन पाँच-छह वर्षों में महाराष्ट्र के अनेक नगरों के हजारों लोग 'अभिनव भारत' के इन तेजस्वी कुमारों के इस प्रभावी गीत-गायन पर मोहित थे। इन गीतों को सुनते ही हजारों लोगों के मन में देशभक्ति और राष्ट्र-स्वतंत्रता की ज्योति प्रज्वलित हो उठती थी। भुजाओं में आवेश भर जाता। उस गीतवृंद ने अपने गीतों से जो ओजस्वी देशवीरत्व का संदेश लोगों तक पहुँचाने का कार्य किया, वैसा अर्वाचीन महाराष्ट्र में पहले किसीने नहीं किया था। अन्य किसीको वैसा कहने का साहस नहीं हुआ था, होता ही नहीं था। इसीलिए उस गीतवृंद के संदेश का अभूतपूर्व श्रवण करते ही पूरे महाराष्ट्र में चेतना का संचार होता था। उसमें विशेष बात यह थी कि जिस देशवीरत्व का वाचिक संदेश वे लड़के देते थे, उस देशवीरत्व जैसा कृत्य करने का साहस भी उनमें से कुछ में था। वह यथासमय प्रकट भी हुआ। इसीलिए उनमें से अधिकतर गीत अंग्रेजों ने जब्त किए।

इस समय नासिक के प्रौढ़ और नेता वर्ग में भी 'मित्र मेला' के आंदोलनों का प्रभाव पड़ने लगा था। उसमें से काफी-कुछ इसके सदस्य भी हो गए थे। संस्था के उद्देश्य के अनुरूप अधिकांश राजनीतिक आंदोलन उसके हाथ में आ गए थे। कोई भी सार्वजनिक सभा यदि 'मित्र मेला' के नेताओं के सहयोग से आयोजित होती तो अधिकतर सफल हो जाती। उद्देश्यों और प्रस्तावों को 'मित्र मेला' का सहयोग-सहमति संभव न होने से सार्वजनिक सभाओं में व्यक्त होनेवाली राजनीतिक भाषा पुणे की तुलना में अधिक कड़ी और तीखी होती थी।

जब इस तरह 'मित्र मेला' की व्याप्ति और प्रभाव बढ़ रहा था, तब उस उदीयमान संस्था पर एक अति दारुण चोट पड़ी। देशभक्त म्हसकर सन् १९०१ में प्लेग से अकस्मात् चल बसे। सालो-साल प्लेग-रोगियों के बीच रात-दिन काम करने से वे प्लेग के अभ्यस्त हो गए थे। म्हसकर अर्थात् एक प्लेग-कवच। उन्हें सब 'प्लेगरोधी' कहते थे। गाँव में प्लेग का जोर भी कम हो गया था, परंतु ऐसी स्थिति में अचानक उन्हें प्लेग ने पछाड़ा। हम सबने उन्हें बचाने के प्रयास किए। पिता के सिरहाने बैठे हों, वैसे नेत्र खोले-खोले हमने रातें गुजारीं। अंत में उन्हें उन्माद हो गया। पर उन्माद भी कैसा? राष्ट्रोन्माद! वायु के झटकों में वे अंग्रेजों से

लड़ाइयाँ करने लगते। स्वातंत्र्य लक्ष्मी की जय-जयकार करते हुए इधर-उधर भागते-दौड़ते। स्वदेश की स्वतंत्रता के लिए अंग्रेजों से आमने-सामने लड़ने-मरने की अपनी इच्छा कम-से-कम अपने दायरे में तो उन्होंने पूरी कर ली, क्योंकि हम जिसे उन्माद की स्थिति कहते थे, उनके लिए वह उन्माद न होकर वास्तविक स्थिति ही होगी। उन्होंने अपने मानस में तो अपनी शपथ का पूरा-पूरा पालन किया और देश की स्वतंत्रता के लिए लड़ते हुए अपने प्राणों को न्योछावर कर दिया। उस उन्माद में जूझते-जूझते थककर उन्होंने स्वतंत्रता की आस में अपनी देह त्यागी। अपने मन से तो वे स्वतंत्रता-संग्राम में वीरगति को प्राप्त हुए। 'अंते मतिः सा गतिः' ऐसा कहते हैं। कैसे कहें कि वे किसी स्वातंत्र्य वीर के रूप में नहीं जन्मे होंगे! हमारा यही एकमात्र समाधान था। स्वयं के कंधे पर ले जाकर हमने उन्हें जलती चिता के द्वार से इस लोक की सीमा के पार कर दिया।

व्यक्तिगत रूप से मुझसे अत्यंत प्रेम करनेवाले और अपने में असीम अभिमानी विशाल मन के एक आत्मीय से मैं और एक एकनिष्ठ भक्त से भारत वंचित हो गया। ढोल-ढमाके पीटने जैसा पराक्रम उन्होंने नहीं किया था, क्योंकि बड़ाई करने योग्य और मातृभूमि के चरणों पर चढ़ाने योग्य उस बेचारे के पास कुछ था ही नहीं। यदि सर्वस्व दान का अर्थ जो नहीं है, उसका दान न होकर जिसके पास जो है; उस सबका दान हो, तो उनके पास जो एक निष्ठा का तुलसी पत्र था, वह उन्होंने पूरे मन से, विशेष रूप से भारत माँ के चरणों पर अर्पित कर दिया था। राष्ट्र की स्वतंत्रता के लिए बेचैन रहना उनके हाथ में था और वह भी कुछ कम नहीं था, क्योंकि दूसरा कुछ हल्ला-गुल्ला करने योग्य कार्य वह बेचैन भले ही न कर पाई हो, फिर भी एक ही प्रत्यक्ष कार्य जो उन्होंने किया, वह सौ नकली कार्यों से महान् था। इसीलिए महाराष्ट्र उस अज्ञात महान् देशभक्त की स्मृति को कृतज्ञता के एक-दो बूँद अश्रु से अभिषिक्त करे, क्योंकि 'अभिनव भारत' के हवनकुंड को सबसे पहले चेतानेवाले ऋत्विजों में से एक वह भी था।

म्हसकर की मृत्यु के पश्चात् श्री पागे ने भी संस्था से अपने-आपको अलग कर लिया और अपनी गुप्त संस्था के तीन प्रथम संस्थापकों में से मैं ही अकेला रह गया। 'मित्र मेला' की गुप्त संस्था 'राष्ट्रभक्त समूह' की शपथ लेकर ही सदस्य को मुख्य अंतःमंडल में लेने की हमारी अर्थात् मेरी, पागे व म्हसकर की योजना थी, वह पूर्व में मैंने कहा ही है। इस कारण कितने ही दिनों तक 'मित्र मेला' के नए सदस्य को संस्था के अंदर का सबकुछ नहीं बताया जाता था। इस कारण हमारे बाद आनेवाले सदस्यों की यह धारणा उनके अपने अनुभव के कारण बनी थी कि 'मित्र मेला' पहले-पहल केवल एक सार्वजनिक उत्सव आदि आयोजित करनेवाली

संस्था थी और बाद में अपने-आप ही एक क्रांतिकारी गुप्त संस्था में परिवर्तित हो गई। यह बिलकुल सही नहीं है। वस्तुस्थिति इसके बिलकुल विपरीत थी। 'राष्ट्रभक्त समूह' की स्थापना हमने पहले की और उसकी एक खुली शाखा 'मित्र मेला' बाद में स्थापित की। परंतु म्हसकर की मृत्यु होने तक परिपाटी यह रही कि 'मित्र मेला' के नए सदस्य भी गुप्त शपथ लेते थे। इस कारण वही गुप्त संस्था हो गई थीं। फिर भी नए सदस्य और अंतरंग सदस्यों में भेद अवश्य था। उसमें भी अधिक सावधान रहने की दृष्टि से नए किशोर सदस्यों के लिए किशोर शाखा की स्थापना की और उसका संचालन अपने छोटे भाई बाल और श्रीधर वर्तक, दत्तू केतकर आदि लड़कों को सौंप दिया। ये लड़के हमारे बौद्धिक अखाड़े में कसरत कर 'मित्र मेला' के संप्रदाय में निपुण हो गए थे। वे अपनी आयु के लड़कों को सदस्य बना लेते, हर सप्ताह बैठक करते, व्यायाम आदि नियमानुसार करते और हमारी निगरानी में अपनी आयु के लड़कों में बचपन से देशभक्ति और देशवीरत्व की ज्योति जगाते। उसी किशोर संस्था में मेरे भाई का ही समवयस्क श्री कर्वे मामलेदार (तहसीलदार) का चुस्त चतुर लड़का प्रविष्ट हुआ, देशवीरत्व की घुट्टी पी गया और अभिनव भारत षड्यंत्र प्रकरण में इसी कर्वे को बाद में फाँसी पर चढ़ाया गया।

'त्र्यंबक' गाँव की शाखा

इसी वर्ष अपनी बहन को ससुराल पहुँचाने आदि कारणों से मैं त्र्यंबकेश्वर गया था। बचपन में बड़े भाई के विवाह में और बहन के विवाह में भी मैं वहाँ जा चुका था, पर उन यात्राओं का कुछ स्मरण नहीं था। अब मैं ऐसी आयु का था कि त्र्यंबकेश्वर स्मरण रहा। वहाँ बड़े भैया के ससुर श्री नानाराव फड़के के घर हम ठहरते थे। उनको सब छोटे-बड़े 'नाना' कहते। नाना की भतीजी अर्थात् अण्णा की चचेरी बहन हमारे बड़े भाई बाबा को ब्याही गई थी। वही मेरी भाभी थी। इस कारण और इन सबके स्नेहशील स्वभाव के कारण मेरी अपनी बराबरी के उन सालों से अच्छी मित्रता हो गई।

उस समय का नाना फड़के परिवार पुराने अविभक्त परिवार-पद्धति का दर्शनीय आदर्श था। तीस-चालीस लोगों के उस परिवार के मुखिया 'नाना' का व्यक्तित्व शांत, सहनशील, उदार और वात्सल्यपूर्ण था। वास्तव में वह तीन भाइयों का ही संयुक्त परिवार था, पर उनके मौसेरे, फुफेरे, ममेरे संबंधी, अन्य संबंधों के अनाथ हुए लोग, विद्यार्जन करते छात्रों के अतिरिक्त उनके यहाँ काफी वर्षों से काम कर रहे बाबू, मुंशी भी अपने परिवार सहित उनके आश्रित हो दो-दो पीढ़ियों से रह रहे थे। कुटुंब प्रमुख के पुत्रों, नातियों के साथ ही इन आश्रितों के लड़कों के

यज्ञोपवीत होते और घर की लड़कियों के साथ ही उनकी लड़कियों के विवाह होते। नाना फड़के के यहाँ यजमानी का काम होता था। त्र्यंबकेश्वर तीर्थ श्रेणी का गाँव होने से उनके यहाँ दूर-दूर से पीढ़ियों से बँधे लोग धार्मिक कार्य, श्राद्ध, यात्रा, पूजा, मन्नत चढ़ाने आदि के लिए आते थे। इन सब कारणों से उनका घर छोटे संस्थान की तरह भीड़-भाड़ से भरा रहता था। सब लोगों की व्यथा सुनते, कौटुंबिक कलह और मनमुटाव सुलझाते, दस की अच्छी और दस की बुरी बातें सुनते, योग्यतानुसार सबकी व्यवस्था करते नानाराव फड़के ओसारे में शांत चित्त और समदर्शी हो कुटुंब के योगक्षेम का विचार करते। बटुआ खोले बैठे रहते। उनके यहाँ प्रायः ही कोई-न-कोई विवाह, यज्ञोपवीत, श्राद्ध, पूजा आदि कार्य चलता रहता।

उस महान् व्यक्तित्व की मृत्यु के बाद घर की गाड़ी चलाने का दायित्व उनके बीसवर्षीय ज्येष्ठ पुत्र अण्णा के कंधे पर आ पड़ा। नाना की मृत्यु के बाद वह घर छिन्न-विच्छन्न हो गया। अविभक्त परिवार-पद्धति के दोषों के कारण अण्णा ने जो भी श्रम किए, वे सफल नहीं हुए। अण्णा के अन्य भाइयों में कोई भी कर्तव्यशील नहीं था। परंतु ये सब घटनाएँ बहुत बाद की हैं। मैं दो-तीन बार जब गया था, तब तक तो वह घर को सँभाले हुए था। अण्णा का सबसे छोटा भाई महादेव बड़ा होने पर 'अभिनव भारत' संस्था के लिए कार्य करने के साथ-साथ अपनी शक्ति भर अन्य सार्वजनिक कार्य भी करता था। अण्णा के साथ निरंतर कुछ समय तक रहने का यह संयोग बनते ही मैंने उस युवक में देशभक्ति के बीज बोए। उसने हमारे साहसिक कार्यक्रमों में सक्रिय होने का निश्चय किया। देश की स्वतंत्रता के लिए प्रसंग आने पर प्राण भी देने की परिपाटी की शपथ मैंने उसे दिलाई। धीरे-धीरे कई युवक मेरे प्रभाव-क्षेत्र में आकर क्रांतिकारी विचारों के हो गए।

त्र्यंबकेश्वर गाँव पंडों-पुरोहितों का गाँव था। उस समय धर्मांधता और संकुचित स्वार्थ के हल्ले-गुल्ले में सार्वजनिक जीवन की चेतना किसीमें नहीं थी। जाति-उपजाति की ऊँच-नीच का पागलपन इतना अधिक था कि ब्राह्मणों-ब्राह्मणों में ही 'ये देशस्थ गली' और 'ये कोंकणस्थ गली' का दो राष्ट्रों जैसा वैर बढ़ा हुआ था। मारपीट और मत्सर बहुत बढ़ा-चढ़ा हुआ था। नई पद्धति से पढ़े-लिखे दो-तीन व्यक्ति भी थे, पर वे निरे घरघुसे थे। संस्कृत विद्या जीवित थी, पर अंधी, केवल शब्द-पाठ के रूप में। उसे वर्तमान का रत्ती भर भी स्पर्श नहीं, कालरात्रि के बिछौने में पड़ी हुई जैसी। अंग्रेजी राजा को पूरे मन से 'देवावतार' माननेवाले और 'ना विष्णुः पृथ्वीपतिः' कहकर उसकी नींव पक्की करनेवाले विद्वान् पंडित, उपाध्याय और पंडे मुझे वहाँ मिले। मैं उनमें से कई से मिला। चर्चा की। ऐसे ही एक पंडित, जिसे थोड़ी अंग्रेजी भी आती थी, ने एक बार एक राजनिष्ठ समारोह हेतु कुछ

संस्कृत श्लोक रचे। उनकी चर्चा प्रौढ़ लोगों में होते-होते मेरी भी चर्चा चली तो उन्होंने मुझे बुलवाया और वे श्लोक मुझे दिखाए। श्लोकों में कवित्त था, परंतु अंग्रेजों को 'माँ-बाप' और अंग्रेजों के राजा को 'भगवान्, पृथ्वीपतिः' कहनेवाला। उनको पढ़ने के बाद मुझसे पंडितजी ने अपनी प्रतिक्रिया पूछी। मैंने कहा, 'Truly, there are pearls, but they are thrown before swine.' (निश्चित रूप से वे मोती हैं, पर सुअरों के सामने फेंके हुए।)

वे सब ठगे-से रह गए। मैंने वैसा क्यों कहा, यह उन्हें समझाते हुए बहुत चर्चा हुई। उस सच्चे पंडित ने यह स्वीकार किया कि उनका उद्‌देश्य वही था जो 'नः विष्णुः पृथ्वीपतिः' का अर्थ है, अर्थात् जो पृथ्वीपति अर्थात् राजा है, वही हमारा विष्णु है और इसीलिए वंदनीय है। मैंने उनसे निवेदन किया कि ऐसी स्तुति से पाठक-वृत्ति का स्पर्श न होने दिया करें। उन्होंने मेरा निवेदन स्वीकार किया। उनसे मेरा कहना था कि 'राजा प्रकृतिरंजनात्' यह राजा की व्याख्या है और जो दूसरे देश पर केवल शस्त्र बल से राज करे, वह इस देश का राजा हो ही नहीं सकता। फिर हम उसे ईश्वर क्यों मानें? मेरे इस साहसिक विधान की और मेरी संवाद-प्रतिभा को देखकर त्र्यंबकेश्वर के प्रौढ़ लोग मुझसे प्रभावित हुए।

अपने विचार की तरुण मंडली एकत्र कर मैंने 'मित्र मेला' की एक शाखा वहाँ स्थापित की। उनमें 'काल' समाचारपत्र और मेरे द्वारा चुनी हुई पच्चीस क्रांतिकारी पुस्तकें पढ़ने की रुचि जगाई।

वहाँ सार्वजनिक मंच से दिए गए मेरे एक-दो व्याख्यान भी बहुत परिणामकारक रहे। अण्णाराव फड़के के नेतृत्व में 'राष्ट्रभक्त समूह' अर्थात् 'मित्र मेला' की शाखा की बैठकें होने लगीं। क्रांतिकारी विचारों का प्रसार, उत्सव, व्यायाम आदि प्रत्यक्ष सार्वजनिक कार्य भी होने लगे। वहाँ के कार्य की एकाध घटना उदाहरण के रूप में कहूँ तो वह है राजा एडवर्ड के समारोह की। त्र्यंबकेश्वर के सरकारी और अर्धसरकारी अधिकारियों ने स्वयं आगे बढ़कर राजा एडवर्ड के प्रति अपनी राजनिष्ठा प्रदर्शित करने एवं उनके स्वास्थ्य के लिए शुभकामना व्यक्त करने के लिए एक उत्सव आयोजित किया। ऐसे उत्सव उस जमाने में सरकारी अधिकारी बार-बार आयोजित किया करते थे। त्र्यंबकेश्वर के पंडों-पुजारियों का अपना कुछ था ही नहीं। अधिकारियों का आदेश चुपचाप स्वीकार करना उनका हमेशा का स्वभाव था। समारोह हेतु उन्होंने पूरा गाँव सजाया। रात में दीपोत्सव था। इस उत्सव का विरोध हमारी युवा मंडली मौखिक रूप से पहले ही कर रही थी। उत्सव की पूर्व रात्रि में मैंने और अण्णा ने मिलकर रातोरात हस्तपत्र लिखकर दीवारों पर चिपकाए। उन हस्तपत्रकों (Posters) ने उस दिन सुबह ही उत्सव का अपशकुन कर दिया। 'तुम्हारी राष्ट्रमाता

को जिसने दासी बनाया, उस राजा का उत्सव अर्थात् तुम्हारी स्वतंत्रता जिस दिन मरी, उस दुर्दिन की वर्षगाँठ। पर-राज से राजनिष्ठा का अर्थ देशद्रोह होता है।'

ऐसी ही अन्य कुछ कड़ी क्रांतिकारी उक्तियाँ उन हस्तपत्रकों पर लिखी थीं। उनके कारण गाँव में बड़ी खलबली मची। सारांश यह कि पिछली तीन पीढ़ियों में ऐसे वाक्य पढ़ने का यह पहला अवसर था। पुलिस की भी हलचल बढ़ी। सभा में भी रंग नहीं आया। रात में हमारे लड़के अण्णा फड़के के साथ कुशावर्त आदि स्थानों पर गए और उन्होंने पानी में दीये लुढ़काकर तथा वहाँ लगी सजावटी झंडियाँ यथासंभव स्थानों पर फाड़कर हल्ला होने के पहले ही पलायन कर दिया।

सभा में अध्यक्ष ने कहा, 'एडवर्ड सचमुच हमारे बाप हैं।' फिर रातोरात हमने हस्तपत्रक लिखे और दीवारों पर चिपकाए, जिनमें उदार रीति से साफ-साफ पूछा था कि यदि एडवर्ड आपके बाप हैं तो आपके पिताजी आपकी माताजी के कौन हैं? दो-चार दिनों तक वह प्रश्न इस-उसके मुँह में था। जहाँ-तहाँ हमारी गुप्त कार्यवाही पर चर्चा चल रही थी। हम लड़कों के पकड़े जाने की अफवाह भी दो-चार दिन चली और फिर सारा प्रकरण ठंडा हो गया।

मेरा शरीर और व्यायाम

मेरा शरीर बचपन में इकहरा और ठिगना था। रंग गोरा और बहुत पानीदार, कोमल और सुंदर दिखता था, लोग ऐसा कहते थे। इतना ही नहीं, वह मुझे भी अच्छा लगता था। मुझे साधारण, परंतु चुस्त और सलोना रहना प्रिय था। वकीलों आदि के लड़के सिर पर बाल रखते थे। उन्हें देखकर मुझे भी बाल रखने की इच्छा होती थी, पर उस काल में सिर पर बाल रखना अधिकतर ब्राह्मण कुटुंबों में पाखंड माना जाता था। उसमें विशेष यह कि मेरे बाबा (बड़े भैया) को इस सुधारवाद से घृणा थी। इसलिए यदा-कदा उनके अधिराज को मुझे क्रमशः और अधिकतर नियम-भंग का आंदोलन चलाकर संपादित करना पड़ा। यह प्रकरण मजेदार है। पूरा सिर घुटवाकर चोटी भर छोड़ी जाती थी। उस चोटी के नीचे गोल घेरे में थोड़े बाल रखे जाते थे, पर बच्चों को चोटी के नीचे घेरा रखने की अनुमति नहीं होती थी। कुछ बड़ी आयु में वह घेरा रखने का अधिकार मुझे मिला। उसके बाद घेरा आगे-पीछे से बड़ा करते जाना मैंने प्रारंभ किया। उसीके साथ मोटी-बड़ी चोटी भी एक समस्या थी। उसे पतली लट तक संकुचित रखने का मेरा प्रयास था। जब मैं बाबा के सीधे नियंत्रण से दूर कॉलेज का छात्र बन गया, तब वह बड़ा घेरा दो-तीन हफ्ते में ही संशोधित होकर कंघी करने लायक बालों में परिवर्तित हो गया।

मेरे कमरे में क्रांतिकारियों, हुतात्माओं और वीरों के चित्र लगे होते थे और

उनके साथ रहती सुंदर फूल, इत्र और धूप की सुगंध। गँवारू रहना पहले से ही मुझे नहीं भाता था और सभी काम व्यवस्थित रूप से, ढंग से करना मुझे प्रिय लगता था। वैसे, झूठे बड़प्पन से मुझे घृणा थी, पर सुदर्शनत्व की चाह थी। मेरे चाचा जैसी पहना करते थे, वैसी बाराबंदी या अँगरखे तो दूर, बाबा (बड़े भैया) के बेडौल कुरते भी पहनने की धार्मिकता मुझमें नहीं थी। मैं शर्ट पहनता था, उसपर जाकिट और कोट। धोती को दूटाँगी काछ मारने तक का विद्रोह भी मैं कर देता था। धीरे-धीरे मेरे भैया ने इन सब बातों को क्षम्य मानकर उनकी ओर ध्यान देना बंद कर दिया।

शोभायमान बनने की इच्छा से भगूर में ही व्यायाम के प्रति रुचि मुझमें बढ़ी। हमारे यहाँ भगूर में कभी-कभी कोठूर के बर्वे आया करते थे। उनमें से विशेष रूप से गोपाल का कुश्ती में तैयार हुआ कसा शरीर देखकर अपना शरीर वैसा ही गठीला, कसा हुआ और शोभायमान करने की चाह मुझमें भी जगी। मेरी ऊँचाई मेरे शरीर की तुलना में तो नहीं, पर आयु के मान से कम थी, जबकि मेरे बराबर के अधिकतर साथी पट्ठे और वय में भी मुझसे बड़े थे। उनके साथ खेलने और दंगामस्ती करने में मेरा कोमल और ठिगना शरीर मुझे कम लगता।

यह कमी दूर करने और शारीरिक बल में भी उनसे हेठा न रहने की चाह में मेरी प्रवृत्ति व्यायाम की ओर बढ़ी। मैं बारह-तेरह वर्ष के वय में सबसे पहले सूर्य-नमस्कार का व्यायाम करने लगा। मेरे बड़े भैया का सूत्र था कि पसीने की मूर्ति भूमि पर बनने तक नमस्कार लगाने चाहिए। अत: मैं भी पसीने की मूर्ति बनने तक सूर्य-नमस्कार लगाने लगा। पंजों में घट्टे पड़ गए। उन्हें मैं बड़े अभिमान से साथियों या बड़े-बूढ़ों को दिखाता। सोलहवें-सत्रहवें वर्ष में नासिक आने पर व्यायाम हमारा राष्ट्रीय कर्तव्य ही हो गया, क्योंकि 'मित्र मेला' के सदस्यों को उनकी शारीरिक उन्नति के लिए व्यायाम पर जोर दिया जाता था। मैं प्रमुख व्याख्याता और प्रचारक था। व्यायाम और बलवान शरीर की उपयुक्तता पर व्याख्यान देने के लिए खड़े रहने पर मेरी ठिगनी और कोमल देह देखकर कोई मेरी खिल्ली न उड़ाए, इसलिए सबसे पहले मुझे व्यायाम करना पड़ा। उस समय मैं डंबल्स किया करता था, क्योंकि तब सैंडो के डंबल्स का बड़ा बोलबाला था। डंबल्स का व्यायाम मुझे इतना पसंद आया कि विलायत जाने पर सैंडो की कक्षा में जाकर मैंने उसे सीखा। पकड़े जाने तक मैं नियमित डंबल्स करता था। इतने पर ही न रुककर मैं दंड-बैठक भी करने लगा। कॉलेज में जब-तब शर्त लगाकर मैं पाँच-पाँच सौ दंड या हजार बैठक लगाकर दिखाता था। मलखंब भी मैंने सीखा और कुश्ती का भी चस्का मुझे लगा।

स्वयं इस तरह व्यायाम की अनिवार्यता की बात मैं अधिकारपूर्वक कह लेता था, पर मेरा शरीर कसा हुआ, गठीला आदि होगा, यह मेरी आशा कभी पूरी नहीं

हुई। व्यायाम से मेरा शरीर आकर्षक लगने लगा। कभी-कभी तो व्यायाम करते समय जब मैं खुले बदन रहता था, तभी मेरे मित्र मेरा छाया-चित्र ले लेते थे। मेरा शरीर ऐसा सुगढ़ और सुडौल हो तो गया, पर वह बलवान और पुष्ट भी लगे, ऐसा कभी नहीं हुआ। उलटे वह कभी-कभी पहले से अधिक सूखा और अरूप लगता था। उसका एक कारण व्यायाम का अतिरेक था, ऐसा मुझे अब लगता है। अन्न की ही तरह व्यायाम कितना ही अच्छा क्यों न हो, पर वह व्यक्ति-व्यक्ति के शरीर की मूल क्षमता के अनुसार अलग-अलग व्यक्तिगत परिमाण में ही होना चाहिए। कोई हजार दंड झेल सकता है, पर सभी वह झेल पाएँगे—ऐसा नहीं है। प्रकृति की भिन्नता की भाँति ही व्यायाम में भी विभिन्नता और प्रमाण चाहिए। परंतु व्यायाम के अतिरेक की सीमा बता सकनेवाला कोई मर्मज्ञ गुरु मुझे नहीं मिला था। इसलिए कभी-कभी शरीर से थक-सूख जाता, इतना व्यायाम मैं कर लेता था। शरीर का सुदर्शन रूप न खोते हुए भी परिमाणबद्ध व्यायाम से शरीर सुश्लिष्ठ-बलिष्ठ हो सकता है, कृष्ण जैसा! किशोर वय में स्वयं द्वारा प्राप्त व्यायाम के अनुभवों से उत्पन्न एक पाठ मैं बताना चाहता हूँ। कोमल वय में केवल दंड-बैठक का व्यायाम, जिससे स्थान-स्थान की मांसपेशियाँ जम जाती हैं, कम करना चाहिए। इस आयु में एक डंडा (सिंगल बार), दो डंडा (डबल बार), मलखंब और ऊँचाई बढ़ानेवाले व्यायाम विशेष करणीय हैं।

'मित्र मेला' और व्यायाम

हम व्यायाम की ओर केवल शारीरिक व्यायाम की दृष्टि से नहीं देख रहे थे। राज्यक्रांति की भयानक कसौटी पर हम अपना पूरा जीवन होम करनेवाले थे। उस क्रांति के असह्य संकटों को सहन करने की शक्ति अपने शरीर में रहे, इस दृष्टि से तरुण मंडली को हम यह बताते थे कि कौन सा व्यायाम करना चाहिए, और तदनुरूप उसपर आचरण करते थे। कारागृह, भूख, पिटाई, प्रताड़ना, श्रम, सैन्य-कठोरता इन सबका सामना हमें करना होगा—यह जानकर, जिस तरह से भी मन और देह कठोर, तितिक्षु और सबल हो, वह व्यायाम हम करते रहे। नासिक में तैरने की कला सबको आती थी। हम भी टोली-टोली में रामकुंड पर जाते। गरी की कटोरियाँ घिस-घिसकर एक-दूसरे को मल-मलकर लगाते, उससे मालिश करते और ऊँचाई से उलटे-सीधे कूदकर गोदावरी के पानी में घंटों डूबे रहते, एक-दूसरे को पानी मारते, खेल खेलते। बाढ़ में तैरने की मेरी हिम्मत बचपन में नहीं हुई। परंतु उस समय नासिक में जो थोड़ा-बहुत तैरना सीखा, वही आगे मार्सेल्स के अगाम समुद्र के पार जाने में काम आया। तैरने के समान ही हम दौड़ने की आदत डालते,

भूखे रहते, खुले में सोते, पेड़-पहाड़ पर चढ़ते, वन प्रांतर में घूमते, ऊँचाई से कूदते और वे सब फालतू बातें करते हुए स्वदेश के स्वतंत्रता-युद्ध में संघर्ष करने की दुर्दम्यता अपने में बढ़ाने के लिए यह व्यायाम का अभ्यास हम कर रहे हैं, यह बात हम कभी भूलते नहीं थे।

मैं अपनी संस्था के सदस्यों को जिस अनुशासन में ढालना चाहता था, अन्यों को उपदेश देने के पहले उसे स्वयं पर प्रयोग करके देख लेता था। अपनी देह को मैंने दुर्दम और तितिक्षु बनाया। मुझपर गुजरे भीषण विपत्तिकाल में सचमुच, वह बहुत लाभकारी रहा। राज्यक्रांति के जिस अनिश्चित, घातक, संकटमय रास्ते पर हमने अपना पग बढ़ाया था, उसमें ऐसे संकट हमपर आनेवाले थे और उनका सामना करने के लिए अपने शरीर को इस तरह दृढ़ करना आवश्यक था। मन और तन की जो सिद्धता मैं बचपन से करता रहा, वही मुझे उस मारक काले पानी में नाव जैसी उपयोगी रही।

भयकंपित करनेवाले उन देहदंडों और प्रताड़नाओं से आँखें मिलते ही निडर-से-निडर आदमी भी वहाँ आत्महत्या कर लेता था। हाथी जैसी विशाल देहवाले लोग यक्ष्मा से घिस-घिसकर मर जाते। ऐसी प्रताड़ना और वह देहदंड सहन करने का असह्य संकट आने के बाद भी सालो-साल टिके रहने का जो मानसिक और शारीरिक बल मुझमें आया, वह काफी अंशों में हमारे अनुशासन और व्यायाम का ही फल था, इसमें कोई शंका नहीं।

विवाह

सन् १९०१ के अंत में मेरी मैट्रिक की परीक्षा थी। इसलिए अपनी परिपाटी के अनुसार अंतिम तीन माह केवल अध्ययन हेतु आरक्षित करने का निश्चय कर मैं अध्ययन शुरू कर ही रहा था कि एक दिन मेरे मामा घर आकर अकस्मात् कहने लगे—'तात्या का विवाह तय कर आया हूँ।' उस समय मेरी आयु का अठारहवाँ वर्ष पूर्ण होकर उन्नीसवाँ लग गया था। उस समय की प्रथा के अनुसार विवाह की आयु हो गई थी। इसलिए यहाँ-वहाँ से प्रस्ताव भी आ रहे थे, परंतु अपने विवाह का प्रश्न इतनी जल्दी एकाएक आगे आएगा, इसका पूर्वाभास मुझे या किसीको भी नहीं था। अत: मैंने उसका फुटकर या पूर्ण विचार किया ही नहीं था। उस समय तो मेरा ध्यान इस ओर था कि मैट्रिक हो जाने पर कॉलेज के अध्ययन की क्या व्यवस्था की जाए। बाबा की तंगी कम करने के लिए मैंने पब्लिक सर्विस की परीक्षा पहले ही दे दी थी। फिर भी यथासंभव कॉलेज-शिक्षा अवश्य प्राप्त करनी है, ऐसा मेरा और मुझसे अधिक बाबा का दृढ़ निश्चय था। परंतु बाबा के लिए वह बोझा सहना असंभव ही

था। अत: किसी बहाने से, शिष्यवृत्ति या ऐसे ही किसी रास्ते से वह प्रश्न सलटाना आवश्यक था। इसके लिए मैं हर तरह का कष्ट, त्रास सहन करने को तैयार था। अपने विस्तृत ग्रंथावलोकन में दरिद्रता या संकटों से जूझकर महान् बने बहुत सारे व्यक्तियों के चरित्र बार-बार मेरे सामने आए। बत्ती के तेल के लिए पैसा न होने पर रास्ते पर लगी नगरपालिका की बत्ती के नीचे पढ़कर बड़े स्थान या पद पर पहुँचे लोगों के उदाहरण न्यायमूर्ति रानडे की अस्तमान होती पीढ़ी में भी मेरे सामने से गुजर ही रहे थे। ऐसे समय में मैंने भी वही निश्चय कर रखा था। समय आया तो पुणे में किसीके घर कामकाज करूँगा, मधुकरी माँग लूँगा, परंतु आगे पढ़ूँगा।

इस योजना को मूर्त रूप देने हेतु एक बार श्री म्हसकर ने पुणे में 'काल' पत्र के संपादक से पत्राचार किया था। मेरी प्रशंसापूर्ण प्रस्तावना उन्होंने 'काल' के संपादक-मालिक के पास की थी और निवेदन भी किया था कि कॉलेज की पढ़ाई की कुछ-न-कुछ व्यवस्था वे करें। श्री म्हसकर की प्रस्तावना का कोई प्रतिफल निकलता है या नहीं, यह देखने के लिए मैंने भी उस समय एक पत्र 'काल' के प्रबंधक को लिखा था। उसमें मैंने लिखा था कि मैं आपके छापेखाने में सफाई का, कंपोजीटर का या किसीके घर के नौकर का—ऐसा कोई भी काम करने के लिए तैयार हूँ। आप केवल इधर-उधर से किसी भी तरह कॉलेज की मेरी पढ़ाई की व्यवस्था करा दें।

शिक्षा प्राप्त करने की चिंता में ही विवाह का रास्ता भी कभी-कभी सूझ जाता। बहुत-से तरुणों का भाग्योदय विवाह में प्राप्त दहेज से या ससुर के कारण होता मैंने देखा था। परंतु शिक्षा के लिए दहेज की या ससुराल की सहायता प्राप्त करके अपने पैरों में बेड़ी डलवा लेने की जो पहली शर्त स्वीकार करनी पड़ती थी, वही पढ़ाई में बड़ी बाधा होने से उसे स्वीकारना मेरे लिए बड़ा कठिन कार्य था। इसलिए यथासंभव कोई दूसरा मार्ग देखकर कॉलेज की शिक्षा कैसे पूरी की जा सकती है, इस चिंता में जब मैं था, तभी मामा ने अचानक आकर घोषणा की, 'तात्या का विवाह तय कर आया हूँ।'

हम बच्चों का पिता-सदृश आत्मीय कोई बड़ा था तो वह मामा ही थे। अत: पुरानी परंपरा के अनुसार मुझसे एक शब्द भी पूछे बिना मेरा विवाह तय करने का अधिकार उन्हें था ही। वे हमसे राजनीति पर खुली चर्चा करते थे। हमारे गृहराज्य में बिना पूछे किसी तरह की हेराफेरी न करने की उनकी आदत भी हमें ज्ञात थी। इस कारण विवाह तय होने के बाद भी उसे स्वीकार या अस्वीकार करने के प्रश्न पर उनसे जोरदार चर्चा हुई। अपने जीवन में कोई भी अगला कदम उठाने के पूर्व मेरी पहली चिंता यही रहती थी कि हम जिस दुर्गम क्रांतिपथ के पथिक हो गए हैं, उस

मार्ग में वह कदम मुझे पीछे तो नहीं खींच रहा है, यह देखूँ। इस दृष्टि से देखते हुए जो क्रांतिकारी सत्य की विजय के लिए बंदीगृह में या फाँसी पर या रणांगण में अपना सिर हाथ में लिये कार्यक्षेत्र में उतर रहा हो, वह विवाह-बंधन स्वीकार करे या न करे, इसी प्रश्न पर पहले चर्चा हुई। विवाह के कारण अपने पैर परिवार के माया-जाल में फँसेंगे। जान-बूझकर किसी वधू को अनाथपन के दु:ख में धकेलने का कारण बनना होगा। हम सभी युवा थे। हमारे सबके सामने विवाहित होने या न होने का प्रश्न खड़ा था। इस कारण उक्त विषय पर इसके पहले भी कई बार चर्चा होने से मेरा एक विचार पक्का हो गया था और मैं मित्र-मंडली में अपना वह अभिप्राय कहता रहता था।

क्रांतिकारी का विवाह

हमारी परिस्थिति में रह रहे क्रांतिकारी विवाह करें या नहीं? इस प्रश्न का समाधान मैं इस तर्क से देता था—सबसे पहले सुजनन (Eugenics) की बात। स्वदेश के लिए, लोकहित के लिए प्राणत्याग करने की सच्ची प्रतिज्ञा करनेवाला और उसे पूर्ण करने की हिम्मत रखनेवाला क्रांतिकारी प्राय: समाज में उच्च प्रवृत्ति का देशवीर ही होगा। ऐसे उच्च बीज की संतति बढ़ना समाज की उन्नति के लिए परम आवश्यक है। परंतु मानव के दुर्भाग्य से ऐसे हुतात्मा को ही किसी अन्यायी सत्ता की बलि होना पड़ सकता है। इस कारण उस दलित समाज या दलित जाति या देश का ऐसा वीर जीवन बंदीगृह में या फाँसी पर या रणांगण में नि:संतान स्थिति में नष्ट हो जाता है। जो देशभक्त संतान उत्पन्न कर सकें, ऐसे वंश तो लुप्त हो जाते हैं और जो कृतघ्न, स्वार्थी, लोक-अहितकारी, भीरु, देशद्रोही, पाशविक आदि वृत्ति के जो लोग हैं, उनकी संतति समाज में तेजी से बढ़ती है। कोई किसान अच्छा बीज बीनकर फेंक दे और सड़ा बीज बोए तो उससे प्राप्त फसल के समान उस राष्ट्र या संघ का मानव-वंश क्षीण और हीन होता जाता है। इसलिए वास्तव में समय पर विवाह कर यथासंभव उत्कृष्ट संतति को जन्म देना किसी वीरात्मा का राष्ट्रीय कर्तव्य ही है।

यह आशंका रहती है कि विवाह करने से पत्नी या संतान के मोहवश वह देशभक्त वीर प्रतिज्ञा से विचलित हो जाएगा। परंतु ऐसा ही क्यों हो? यदि उसका मनोबल अपने पिता, बंधु और अपने प्राण का मोह भी त्यागने पर दृढ़ है, तो केवल पत्नी या संतान के मोह को तोड़ना उसके लिए कोई कठिन कार्य नहीं होना चाहिए। पत्नी की मोह-माया से स्वयं कर्तव्यच्युत होने के स्थान पर वह उलटे अपने पत्नी-पुत्र को भी स्वयं के प्रेम और प्रभाव से अपने जैसा वीरात्मा बना लेगा। अपनी संतति की धारा से वह वीरत्व का प्रवाह भी अखंडित रख सकेगा और देशभक्ति की परंपरा

बढ़ाएगा। वह वीर प्रारंभ में ही मृत्यु पा गया, तो उसके पत्नी-बच्चे बेसहारा हो जाएँगे। ऐसा होता है तो होने दो। जिस राष्ट्र या संघ के हित में वह प्राण देगा, उस राष्ट्र के हित में उस संघ के अन्य व्यक्तियों को भी कुछ-न-कुछ कष्ट सहना, त्याग करना आवश्यक ही है। ऐसा कहने का और वह बोझा लोकहितार्थ ही लोगों से वहन कराने का उसे अधिकार है। अपना पति-पिता ऐसा महान् बलिदानी हुआ, इस विचार के साथ ही अपने उस बेसहारापन को वास्तविक गौरवपूर्ण सनाथत्व मानना चाहिए। यदि वैसा न हो सके तो ऐसी अनाथ महिला सुख से वैसे ही किसी महान् पुरुष से पुनर्विवाह कर गृहस्थी बसा ले। ऐसी अनुमति पूरे मन से देने योग्य वह क्रांतिवीर उदार होगा ही, होना भी चाहिए।

पत्नी के दिवंगत होते ही जिन कारणों से पुरुष का पुनर्विवाह करना पाप नहीं है, उन कारणों से पत्नी का भी पुनर्विवाह करना पाप नहीं है। प्लेग और अकाल में भी तरुण चटपट मर जाते हैं, इसलिए तरुणों के विवाह थोड़े ही रुकते हैं। प्लेग और लग्न कभी-कभी तो साथ ही चलते हैं। वहाँ तो केवल भाग्यवाद का आधार ही बहुत होता है, तो ऐसे क्रांतिकारियों के विवाह की जिस वेदी को उस अज्ञात भाग्य के आधार के साथ ईश्वरीय कर्तव्य पूरा करने का दोहरा आधार है, वह विवाह-वेदी इतनी निराधार और अनिष्ट कैसे मानी जा सकती है? अतः धर्मकार्य हेतु हाथ में सिर लेकर रण में उतरनेवाला वीर विवाहित होकर अपने सद्गुणों का प्रवाह जिस विधि से अपने राष्ट्र में निरंतर बनाए रख सकता है, संतान उत्पन्न करना उसका अपना राष्ट्रीय कर्तव्य है अर्थात् वह कर्तव्य करने योग्य उसका मनोबल प्रखर हो, तो हानि नहीं, पर यदि उसका मनोबल उतना प्रखर न हो तो उसका अविवाहित रहना क्षमायोग्य है। उसका वही कर्तव्य माना जाएगा। चूँकि पत्नी, पुत्र या माता के कारण मुझे कर्तव्य का आमंत्रण आते ही मृत्यु स्वीकारना संभव नहीं, ऐसा बहाना जो बनाता है, वह वास्तव में उन सबके मोह से अधिक स्वयं के मोह से ही मरने के लिए प्रस्तुत नहीं होता। मैं अपने किसी संबंधी के कारण मरने से रह गया, यह तर्क जाने-अनजाने केवल अपने मन की दुर्बलता छिपाने के लिए किसी ढाल की भाँति ही उपयोग में आता है। इस संबंध में अपने विचार मैंने 'कमला' काव्य में क्रांतिकारी मुकुल की भूमिका में प्रकट किए हैं। मुकुल आत्मप्रत्ययी न होने से स्वयं अविवाहित रहते हुए अपने वयस्क क्रांतिकारी सहयोगी मुकुंद के विवाद का समर्थन करते हुए उससे कहता है—

मित्रवर अनिरुद्ध सत्य सनातन मान।
राष्ट्रहित में उदित हो रति उदर संतान॥ १॥

सभी लोक-कल्याण हो वही धर्ममान।
धर्मपरायण रति यामिनी कोमलांग प्रमाण॥ २॥
व्रतबद्ध वचनबद्ध हम राष्ट्र हमारा प्राण।
रामदास के दास हम धर्म हमारा मान॥ ३॥
विधि चाहे गांधर्व हो या वेदिका आयोजन।
दीप्त चयन यश गमन है पाणिग्रहण पाणिग्रहण॥ ४॥
संकोच न कर, पाणिग्रहण गृहधर्म है।
मातृभूमि की सेवा का निर्बाध निर्मल मर्म है॥ ५॥
पाणिग्रहण राष्ट्रधर्म मंत्रसिद्ध मंत्र है।
प्राणज्योति को लिये, वह पुनीत पुण्य कर्म है॥ ६॥
परसत्ता के कृष्ण काल का मातृभूमि पर जाल।
सकल धर्म का धर्म है प्रथम धर्म का ताल॥ ७॥
अर्धांगिनी है अर्थभोग तृप्ति का वह मान।
स्वातंत्र्य-युद्ध के बाँकुरे है तेरा सम्मान॥ ८॥
प्रणय तुम्हारे संग हो फिर है कैसा भय।
पग-पग पर्वत पर चढ़ो शिखर मिले निश्चय॥ ९॥
आत्मसंयम गृहधर्म है विश्वसनीय प्रमाण।
ब्रह्मचर्य से क्या मिले मिथ्या-सा एक त्राण॥ १०॥
रति धर्म को परे न कर औषधि बिन निदान क्या रोग।
सत्य धर्म को तिलांजलि अल्प धर्म का योग॥ ११॥
मन निश्चय जब संग हो बहुधर्मों का साथ।
निश्चय का रवि उसे कहें दृढ़ निश्चयी हो हाथ॥ १२॥
नारी नर की संगिनी यशस्विनी पूर्णाधिनी।
नारायण के सहज दे सकल मंगल कामिनी॥ १३॥
सहज मान्य गृह प्रणय रंग रहे कामिनी संग।
निश्कृत्यों से दूर हो अपकीर्तिका मलंग॥ १४॥
धन्य-धन्य यह दान है चित्तौड़ का प्रमाण।
धवल पताका राम की भरतभूमि के प्राण॥ १५॥
मेरे मन की धारणा निश्चित-सा संदेश।
मुकुंद ऐसे पग चलो झुकता रहे विदेश॥ १६॥
जहाँ उगाए तृण बाँकुरे भगीरथी उफान।
तुझ-सा चंदन-सा घिसूँ भू में निकले प्राण॥ १७॥

प्रिया-पुत्र बलिदान हो मुझे हो कंठ-स्नान।
आओ संग कट-कट मरें, करें धर्म अभिमान॥ १८॥
अब कैसा परिवेश है पिता-पुत्र का स्थान।
राष्ट्रभक्ति में जीवन गले तुझ-सा जीवनदान॥ १९॥
निर्मल रश्मि सूर्य कुमार तुम।
परिपूर्ण यशस्वी कृत्यधारी विमान तुम॥ २०॥
हृदयी कमला धार लो स्वर-बिंदु के प्रमाण।
नमस्ते शुभ लक्षणी धर्म ज्ञान॥ २१॥

अत: विवाह का मेरे कर्तव्य रूपी पैर की बेड़ी बनना कभी भी संभव नहीं है, ऐसा मुझे पूर्ण आत्मविश्वास होने पर मेरे विवाह के रास्ते में वह प्रश्न बाधक बनना संभव नहीं था। केवल मेरी उस समय की पारिवारिक परिस्थिति और उच्च शिक्षा प्राप्त करने की आकांक्षा की दृष्टि से ही इतनी जल्दी विवाह करने का मेरा या मेरे घर के किसी सदस्य का विचार नहीं था। इस कारण मैं मामा के द्वारा तय किए गए विवाह के लिए तैयार नहीं था। उसमें भी वधू-पक्ष के संबंध में मेरा रत्ती भर भी विचार न करते हुए यह विवाह तय किया गया था। मैं जो कुछ भी कहूँ, मामा अपना आग्रह नहीं छोड़ रहे थे, क्योंकि उन्होंने जिन श्रीयुत् भाऊराव चिपळूणकर की कन्या को वधू के रूप में निश्चित किया था, उन का और मामा का आबाल्य स्नेह था। इसीलिए वे उस प्रभावशाली पुरुष का शब्द टाल नहीं सकते थे। ऐसे घराने से अपना स्नेह-संबंध ही नहीं, अपितु इतने निकट का संबंध जुड़ने का योग एकदम अलभ्य था। इस कारण अन्य कोई भी बाधा या वधू की पसंद-नापसंद दूर रखी जाए तो भी चिंता नहीं, ऐसा मामा को लगता था। बाबा ने बार-बार कहा कि तात्या के मैट्रिक उत्तीर्ण कर लेने के बाद उस जैसे वर के लिए और अच्छे रिश्ते आएँगे, इसलिए वह परीक्षा होने तक रुकें। यह विवाह भी चाहे तो बाद में करें, परंतु श्री भाऊराव चिपळूणकर ने बहुत आग्रह से कहा कि यह विवाह होना ही चाहिए और वह भी अभी होना चाहिए। कन्या बड़ी हो रही है (उस समय की रीति के अनुसार)। अत: प्रतीक्षा करना संभव नहीं है।

श्रीयुत् भाऊराव चिपळूणकर

श्रीयुत् भाऊराव चिपळूणकर हमारे भी परिचित थे। बचपन से ही उनसे मुझे बहुत प्यार मिला था। कोठूर गाँव के दादा बर्वे की बहन भाऊराव चिपळूणकर की पत्नी थीं। बचपन में मैं जब अपने ननिहाल जाता था, तब कभी-कभी भाऊराव चिपळूणकर भी अपनी ससुराल आए रहते। वहाँ मुझसे खेलते हुए स्वयं घोड़ा बनते

और मुझे पीठ पर लेते थे। मुझे देखते ही वे बड़े प्रसन्न हो जाते थे। मेरी ग्यारह-बारह वर्ष की आयु में ही अपने मित्रों आदि को मुझे दिखाकर वे स्नेह से कहते, ''देखो, हमारा दामाद कैसा है?' वे हमेशा आते-जाते हमारा समाचार लेते रहते।

उनकी एक विशेषता यह थी कि वे कोई उपेक्षणीय गृहस्थ नहीं थे। वे जव्हार राज्य के एक बड़े व्यक्ति थे। उनकी दो पीढ़ियाँ उस राज्य में उच्च पदों पर रही थीं। वहाँ के उस समय के राजा उन्हें अपने ही घर का लड़का मानते थे। युवराज तो उन्हें भाई ही मानते थे।

भाऊराव का कर्तव्य भी बड़ा ऊँचा था। शरीर भी उनके पद-प्रतिष्ठा के अनुकूल था। वे देह से ऊँचे, दोहरे, गोरे और बहुत ही सुंदर पुरुष थे—प्रभावी मुद्रा, शानदार रहन-सहन, चतुर आँखें, प्रभावशाली चाल-ढाल। उन्हें देखते ही लगता था कि पेशवाई के समय का कोई असली चितपावन सरदार ही देख रहे हैं। उन्हें देखनेवाला क्षण भर के लिए मंत्रमुग्ध हो जाता था। वे स्वयं घुड़सवारी करने, बंदूक चलाने, शिकार करने, कुश्ती लड़ने तथा व्यायाम करने में निपुण थे। वे गाने के जितने बड़े रसिया थे, उतने ही बड़े ईश्वरभक्त भी और उतने ही बड़े दानी भी। अनेक पहलवानों और छात्रों के सहायक भी वे थे। कई को उन्होंने रोजगार में लगाया। संकट में सहायता की। उनके भवन के किसी कमरे में कोई वैरागी या कर्मठ व्यक्ति अपनी पूजा आदि करने बैठा है, बड़े भारी पार्थिव लिंग बनाकर टोकरियाँ भर-भर फूलों से शृंगार कर पूजा कर रहा है। उधर बँगले में गवैये उतरे हुए हैं—कोई सितार, तो कोई तबला बजा रहा है। ऊपर के कोठे में कोई विद्वान् वैदिक, मान्यवर नेता, अधिकारी प्रेमी आदि से घिरे भाऊराव चिपळूणकर विद्वत्तापूर्ण चर्चा या हास्य-व्यंग्य करते हुए बैठे हैं। दरवाजे पर सिपाहियों, घुड़सवारों और घोड़ों की आवाजाही है। ऐसा दृश्य बार-बार दिखता था।

ऐसे घराने से वैवाहिक संबंध उपेक्षणीय लगनेवाला नहीं था। उसमें भी त्र्यंबकेश्वर के नानाराव फड़के (मेरे भाई के चचेरे ससुर), हमारे मामा आदि बड़े-बूढ़े संबंधियों का अति आग्रह था। मेरी भाभी और भाऊराव की पत्नी और विशेषकर उनकी सयानी कन्या का स्नेह और कुछ संबंध भी था। विवाह का प्रश्न उपस्थित होने के पूर्व ही उस कन्या को भाऊराव चिपळूणकर ने एक बार आठ दिन हमारे यहाँ रहने के लिए भेजा था। उस कन्या का भी यही विचार था कि वह इसी घर में आए। ऐसी परिस्थिति में मामा से 'न' कहना मेरे लिए बहुत ही कठिन हो गया। तब अंत में मैंने एक शर्त रखी—यदि मेरे कॉलेज की पढ़ाई का भार भाऊराव चिपळूणकर सँभालने को राजी हों और यदि वे वैसा स्पष्ट वचन दें, तो मैं विवाह कर लूँगा। उन्होंने इसपर मुसकराते हुए कहा—'तात्या की पढ़ाई? अपने पुत्र की पढ़ाई की

व्यवस्था मैं करूँगा, इस बात का जैसे मुझे किसीको वचन देने की आवश्यकता नहीं है। ऐसा ही होगा। यह तो मेरा कर्तव्य है।'

उनके शब्द पर भरोसा करके दहेज आदि का कोई झगड़ा न कर मैं विवाह के लिए राजी हो गया। यद्यपि आज मेरे विवाह का सुपरिणाम निश्चितता के साथ कहा जा सकता है, पर उस समय जल्दी-जल्दी में विवाह के लिए दी हुई सम्मति बहुतांश में मुझे ही देनी पड़ी थी। सम्मति गलत तो नहीं होगी, ऐसी धुकधुकी मन में लगी हुई थी, क्योंकि जिस शिक्षा की व्यवस्था की बात पर मैं राजी हुआ था, वह केवल मौखिक थी। परंतु वह मौखिक बात भाऊराव चिपळूणकर की है, इतने पर ही आश्वस्त होकर बाबा ने भी अनुमति दी थी। अंततः नासिक में सन् १९०१ के माघ (अप्रैल) माह में मेरा विवाह श्री चिपळूणकर की ज्येष्ठ कन्या से हुआ। भविष्य में कभी भी पश्चात्ताप करने का कोई कारण उपस्थित नहीं हुआ। यह वैवाहिक संबंध भाग्य से इतना शुभप्रद और सुखकारी हुआ। इस संबंध के कारण मैं शिक्षा की, बड़प्पन की ऊँची-से-ऊँची सीढ़ी चढ़ने और अपने जीवन का जो मुख्य ध्येय राष्ट्रसेवा, मानवसेवा करने का था, उसमें अधिक ही समर्थ हुआ। अपने देश की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करते यह संबंध किसी भी तरह बाधक नहीं हुआ। व्यक्तिगत सुख? उसका तो मेरे जीवन में विचार ही गौण था।

विवाह के तुरंत बाद ओझर नामक गाँव में श्री जोशी के यहाँ मेरी छोटी साली अर्थात् चिपळूणकर की दूसरी कन्या को देने की बात पक्की होने पर हम सब उस विवाह के लिए ओझर गए। बरात के लोगों में नासिक के प्रख्यात आशु कवि और वकील (जिनका परिचय इस चरित्र ग्रंथ के पहले हिस्से में आया हुआ है) श्री बलवंत खंडूजी पारख भी आए हुए थे। उनकी संगत में दो-तीन दिन काव्य-विनोद में अच्छे कटे। वहाँ एकत्र अन्य लोगों ने भी मेरी काव्य-प्रतिभा की बहुत प्रशंसा की। वहाँ आनंदपूर्वक काव्य-रचना हो रही थी। वे मुझे मराठी आर्या छंद का प्रथम चरण सुनाते और दूसरे चरण की समस्यापूर्ति करने के लिए कहते। उन्हें 'यमक' अलंकार बड़ा प्रिय था। मुझे भी वह प्रिय था। अतः समस्यापूर्ति करते-करते मैं सुंदर यमक की योजना करता। एक बार उनके आर्याध में 'पंधरा' शब्द अंत में आया। उसपर तुरंत सुंदर यमक मुझे नहीं सूझा, फिर भी मैंने 'वसुंधरा' शब्द से समस्यापूर्ति कर दी। उन्होंने फिर मुझे 'कंधरा' शब्द सुझाया। वह वास्तव में बड़ा सुसंवादी यमक था।

एक बार उन्होंने कोई नई रचना सुनाने के लिए मुझसे कहा। मैं उसी सप्ताह नासिक में एक दिन संध्या समय में अपने स्वभाव के अनुसार गोदावरी नदी के घाट पर एकांत सेवन करता हुआ बैठा था। सामने मंदिर था और सांध्य आरती के लिए

मंदिर का घंटा बजने लगा। मेरा ध्यान उस घंटे की ऐतिहासिकता की ओर चला गया। पेशवाई का एक वीर उस घंटे को दिल्ली से जीतकर लाया था और नासिक के इस मंदिर में लगाया था। उस मंदिर का नाम भी उस इतिहास-पुरुष के नाम पर 'नारोशंकर का मंदिर' पड़ गया था। सोचते-सोचते कविता का स्फुरण उसी प्रसंग पर हो गया। वही मेरी नई कविता थी। अत: पारखजी को सुनाई—

दिल्लीचे पद हालवोनि वरिली तेजे जिही संपदा,
राहोनि निरपेक्ष वाहुनि दिली श्री शुंभुच्या शंपदा।
होते ते तुमचे सुपूर्वज असे यत्कीर्तिते ना लय,
नारोशंकरचे असे कथित से आम्हांसि देवालय॥

[दिल्ली की राजसत्ता को हिलाकर जिसने तेजोरूप बनकर संपदा प्राप्त कर ली और उस संपदा के प्रति कोई मोह न रखते हुए उसे श्रीशंभु के चरणों पर अर्पित किया, ऐसे आपके सुपूर्वज थे। उनकी कीर्ति कभी लुप्त नहीं होगी। नारोशंकर का यह मंदिर हमें यही संदेश दे रहा है]

पारखजी यह काव्य सुन बड़े संतुष्ट हुए। बोले, 'परंतु इस तेजस्वी युवक की क्रांतिकारी कविता उसके स्वयं के तेज से जलकर एक दिन भस्म हो जाएगी।' भविष्यवाणी ही थी वह।

सन् १९०१ का वर्ष समाप्ति की ओर था। ऊपर वर्णित सार्वजनिक और व्यक्तिगत उठापटक में मेरी पढ़ाई पिछड़ गई थी। फिर भी विवाह होते ही जल्दी-जल्दी पढ़ाई कर हाई स्कूल की उपांत्य परीक्षा मैंने दी। उसमें उत्तीर्ण होने के बाद अनुमति लेकर मैट्रिक की परीक्षा देने मैं बंबई चला गया। मैट्रिक की परीक्षा को एक मास रह गया था। अत: सारे काम एक ओर रखकर अध्ययन और केवल अध्ययन करने उस मास बंबई में ही एकांत रहने का निश्चय किया। जहाँ तक स्मरण है, तब मैं पहली बार ही बंबई आया था। एक साथी कोठूर के बालू बर्वे (बलवंतराव बर्वे) भी मैट्रिक में थे। उन्हींकी पहचान से आंग्रेवाड़ी में रहने की योजना मैंने बनाई। मेरा यह बंबई जाना 'मित्र मेला' संस्था से दूर रहने का मानो प्रारंभ ही था। चूँकि मैट्रिक के बाद कॉलेज प्रवेश की अब उत्कट संभावना थी, इसलिए 'मित्र मेला' संस्था अब मित्रों पर ही सौंपने का समय आ गया। कौन पक्का है, कौन कच्चा है, अगली नीति क्या हो, आदि चर्चा अपने समर्पित कार्यकर्ताओं से करने में ही शनिवार की बैठक संपन्न हो गई। इसी समय मेरे पीछे से मेरा कार्य समर्पित भावना से चलाने के लिए दो-चार उत्तम युवकों का आगमन संस्था में हुआ था।

श्री विष्णु महादेव भट

केवल संस्था की दृष्टि से ही लाभकर नहीं, अपितु मेरे व्यक्तिगत स्नेह भाव की दृष्टि से भी श्री विष्णु महादेव भट का उल्लेख मैं प्रमुखता से करना चाहता हूँ। जिस किशोर वय की ये स्मृतियाँ हैं, उसमें वह हमारा 'भाऊ' (भाई) था। अत: 'भाऊ' नाम से उस अवधि की स्मृतियाँ लिखना सुसंगत भी है। वि.म. भट या श्रीयुत् वि.म. भट से उल्लेख करना उसे हमारे किशोर वय से दूर भी ले जाता है।

पर 'भाऊ' नाम लेते ही उस काल के संस्मरण अधिक तरल लगने लगते हैं, तद्रूप दिखने लगते हैं। यही स्थिति मेरे सारे स्नेहीजनों, संबंधियों की है। विशेष बात यह कि 'विष्णु' की जगह 'भाऊ' कहना मैंने ही प्रारंभ किया था और फिर वही नाम घर-बाहर सब जगह प्रचलित हो गया। भाऊ की माँ दूर के संबंध की मेरी मौसी थी, पर भाऊ और मेरा स्नेह इस नाते घनिष्ट नहीं था, वरन् हमारे उस स्नेह के कारण ही वह दूर का नाता पास का हो गया था; पास भी इतना कि यदि मेरी कोई सगी मौसी होती, तो वह भी हम तीनों भाइयों पर इतनी ममता कदाचित् ही बरसाती, जितनी ममता इस दूर की मौसी ने चार-पाँच वर्ष लुटाई। 'भाऊ' तो हमारा मानो चौथा भाई ही हो गया था। जब मेरे विवाह में पहले-पहल अच्छी तरह उससे परिचय हुआ, तब वह अंग्रेजी छठवीं में था। मेरे घनिष्ठ परिचय का जो अधिकतर परिणाम मेरे मित्रों के मन पर होता था, वह जल्दी ही भाऊ के मन पर भी हुआ और दो-तीन सदस्यों द्वारा नियमानुसार प्रस्तावना और मेरे कहने के बाद उसका 'मित्र मेला' में प्रवेश हो गया। कुछ ही माह में हमारे मन इतने एकरूप हो गए, हमारा स्नेह इतना निष्कपट ममता-भरा हो गया और हमारे स्वभाव एक-दूसरे के इतने तद्रूप हो गए कि सन् १९०१ के अंत से सन् १९०६ में (मेरे विलायत जाने के कारण) हमारे एक-दूसरे से दूर होने तक भाऊ जैसा पारिवारिक या सार्वजनिक सुख-दुःख और कर्तव्य में मेरा प्रमुखतम सहयोगी, सहभागी, एकनिष्ठ अनुयायी तथा अभिन्न हृदय स्नेही दूसरा कोई नहीं था। मेरे सैकड़ों स्नेहियों, अनुयायियों में ऐसा दूसरा नहीं मिलनेवाला था। हम समवयस्क ही थे। इकट्ठे ही रहते, खाते और पढ़ते। हमारा वेश एक सरीखा होता।

उसके पिता बचपन में ही 'न' रहे थे। उसकी माँ ने बीसी के अंदर ही आ पड़े वैधव्य के संकट का सामना करते हुए अपने इस प्रथम और इकलौते लड़के को बड़ा किया था। मेरी पहचान होने के बाद से भाऊ ने मुझे अपना आत्मीय और स्नेही ही नहीं, अपना गुरु और पालक भी माना। उसके पारिवारिक या सार्वजनिक जीवन के उन चार-पाँच वर्षों में मैं ही उसका मार्ग प्रदर्शक था। मेरी अनुमति के बिना उसने

उन पाँच वर्षों में एक कदम भी नहीं बढ़ाया। हमारी गुप्त संस्था 'मित्र मेला' में पहले-पहल उसके पूर्व परिचय का कोई भी नहीं था। फिर भी मेरे प्रयास से उस संस्था में उसका प्रवेश हो जाने के बाद उसके अंगभूत गुणों का विकास तेजी से होता गया और वह उस मंडली में भी एकप्राण हो गया। अपने ज्ञान, वक्तृत्व और तत्परता से वह उस संस्था का एक सच्चा, विश्वसनीय, धीर और धुरंधर नेता माना जाने लगा। उसे मैंने इतिहास की अनेक पुस्तकें पढ़ने को दीं। अपनी बुद्धि के अनुसार उनका मर्म भी बताया। काव्य और वाङ्मय, लेखन और वक्तृत्व, तत्त्व और आचार, सामाजिक क्रांति और राजनीतिक क्रांति संबंधी अपने प्राप्त किए सर्वज्ञान में उसे बड़ी आशा तथा उत्सुकता से पारंगत किया। अपने देश को स्वतंत्र करने की अधिक छटपटाहट जिन मुट्‌ठी-भर युवकों में थी तथा जो उसके लिए किसी भी संकट का सामना कर प्राण-त्याग तक कर देने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ थे, और जिन्होंने सशस्त्र क्रांति द्वारा अंग्रेजी राज का तख्ता पलटने के अंग्रेजी आरोप का सामना प्रारंभ में ही किया और उसके भीषण परिणाम भी धैर्य से सहन किए, उन प्रारंभिक स्वतंत्रता-सेनानियों में विपक्ष ने ही बाद में खुले रूप से भाऊ की गणना की थी।

श्री सखाराम गोरे

उस समय 'मित्र मेला' के और बाद में 'अभिनव भारत' के नासिक की ओर के कार्यों की अगुवाई कर जिन्होंने मेरे विलायत-प्रवास की अवधि में उस संस्था को चलाए रखा और ली हुई शपथ अक्षरश: पूरी करते हुए अंत में स्वदेश की स्वतंत्रता के कार्य में अपने प्राण भी न्योछावर कर दिए, वे श्री सखाराम दादाजी गोरे भी पहले मेरे स्नेह की परिधि में और फिर नियत क्रम से उस गुप्त संस्था में प्रविष्ट हुए थे। सखाराम का स्वभाव मेरे ऊपरलिखित भाऊ जैसे सहयोगियों की प्रवृत्ति से बहुत ही अलग था। वह बड़ा मस्तराम, उपद्रवी, परंतु (इस-उस मित्र मंडली में) मिलनसार और निडर था। हाई स्कूल का छात्र था। मैट्रिक की परीक्षा में सबसे अधिक बार अनुत्तीर्ण होने का सम्मान उसे प्राप्त था और उस सम्मान का उपयोग करने के लिए वह पूरे मन से प्रयत्नशील भी रहता था। अपने समय के छात्रों से दो-तीन वर्ष अधिक ही मैट्रिक की कक्षा का छात्र होने के कारण अपने बड़प्पन का अधिकार वह सभी छात्रों पर अभिमानपूर्वक जताता था। उसके राजकाल में दो-चार बार शिक्षक भी बदले। अत: उन्हें भी पुरानी परंपरा हमारे सखाराम गोरे से सीखनी पड़ती थी। 'ऐसे कितने ही मास्टर मैंने देखे हैं,' हाथ मटकाते हुए वह शिक्षकों को चाहे जब यह सुना देता था। कक्षा में अंतिम पंक्ति में बैठने का उसका एक स्थान नियत था, मानो वह उसकी जागीर थी। वहाँ वह निर्विरोध शान से विराजता। उसकी एक

आँख भेंगी थी। यह भी उसके मसखरे उत्पातों में अधिक रंग भरता था, वे उसे शोभा भी देते थे। सातवीं कक्षा में आने के बाद उससे मेरा स्नेह होने लगा। उसके एक भाई भी हमारे आबा दरेकर के ताश-चौपड़ युग में आया करते थे। उसके कारण ये सखारामजी भी उस तिलभांडेश्वर की गली में पहले से ही बार-बार चरण-रज गिराते रहे। सखाराम स्वभाव से जितना नटखट था, उतना ही निडर और उतना ही बड़े दिल का भी था।

'मित्र मेला' में उसकी शपथविधि हो जाने के बाद भी कितने ही दिन उस संस्था की साप्ताहिक बैठक में यह सवारी जब आती थी, तब उस बैठक की गंभीरता में सखाराम की अनुशासनहीनता का सुरंग पैरों के नीचे लग गया है, ऐसा लगा रहता था। उसकी बंदरघुड़की की बत्ती उस सुरंग से लग जाने के कारण यह कहा नहीं जा सकता था कि उस बैठक की गंभीरता कब समाप्त होगी। पर धीरे-धीरे उसका नटखट स्वभाव अस्तमान होने लगा। मेरे कहने पर वह गंभीर होकर बैठ जाता। मेरे संभाषण, संगति और 'मित्र मेला' के संस्कारों के चलते ध्येय-शून्य सखाराम ही ध्येय-भक्त सखाराम हो गया और अंत में स्वदेश की स्वतंत्रता के लिए अनगिनत बार शारीरिक प्रताड़ना सही, प्राण रहते विश्वासघात का एक भी शब्द नहीं बोला और अंत में 'प्राणों का बलिदान करनेवाला बलिदानी सखाराम' कहलाया। परंतु यह सब बहुत बाद में हुआ। जिस समय वह मेरे स्नेहवश 'मित्र मेला' में काम करने लगा, उस समय उस भावी परिवर्तन की कल्पना कौन कर सकता था? वह तो मंडली के लिए एक ऐसी बला था जो किसीको भी बुरी न लगे, उलटी चाहत उपजानेवाली। यही मित्रमंडल में सखाराम गोरे की बड़ी-से-बड़ी पदवी थी। इसके अतिरिक्त खाडे बंधु, सरोदे, शंकर गिर गोसावी, धनप्पा चिवड़ेवाला, देवसिंह परदेसी, खुशाल सिंह, गणपति मगर, मायदेव, घनश्याम चिपळूणकर आदि अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार समर्पण और एकनिष्ठता से संस्था की सेवा करनेवाले अनेक छोटे-बड़े लोग इस वर्ष 'मित्र मेला' के सदस्य बने। मायदेव एक हँसोड़ प्राणी था, परंतु उसका स्वभाव नटखट नहीं था। मेरे उस समय के समर्पित अनुयायियों में उसकी भी गिनती थी, पर वह देशकार्य में हमसे जुड़ा मेरी संगति में आने पर ही। मेरे दूर जाते ही संगति छूटी और उसकी देशकार्य की दिशा भी छूटी। मैंने अंडमान में सुना था कि वह नाटक मंडली में है और विनोदी भूमिकाएँ करता है।

जिन व्यक्तियों का उल्लेख मैंने इस भाग में किया है, उनका तथा अन्य अनेक लोगों का मेरे प्रति जो स्नेह था, वह उनकी संस्था के प्रमुख नेता होने के कारण न होकर मेरे प्रति उनके व्यक्तिगत प्रेम से था। इन सब शिक्षित-अशिक्षित प्रेमियों से मैं खुले मन से व्यवहार करता था। मुझे गुरु मानकर श्रद्धा से सम्मान

देनेवाले उन लोगों को मैं मित्रवत् प्यार से बराबरी का सम्मान देता था और पास बैठा लेता था। उनके आपस के झगड़े सुलझाता था। कौन क्या अध्ययन करे, कौन क्या व्यवसाय करे आदि बातें उन्हें बताता था। उनके पारिवारिक संकटों में उन्हें मदद करता था। इनमें से अधिकतर युवाओं और प्रौढ़ों का, क्योंकि उनमें से अनेक मुझसे बहुत बड़े थे, मुझपर इतना विश्वास और भक्ति थी कि मेरा शब्द उन्हें वेदवाक्य लगता था। मेरे शब्द के आगे अपने माँ-बाप या पत्नी-बच्चों के भी शब्दों को नहीं मानते थे। उन्हें कुछ कहना हो, तो उनके माता-पिता या पत्नियाँ मेरे पास आकर उन्हें समझाने को कहते, क्योंकि मेरा कहा वे सुनेंगे ही—ऐसा उनका अनुभव था। मैंने भी अपने लाभ के लिए या सनक में—उनका मुझपर जो विश्वास था—उसका दुरुपयोग कभी नहीं किया। उनका हित जिसमें हो, उसी बात का अनुरोध मैं उनसे करता था।

जाति-पाति का अहंकार मुझमें बिलकुल नहीं था। मैं बड़ा हूँ और वे छोटे या अनाड़ी हैं, इस भाव से मैं किसीसे भी व्यवहार नहीं करता था। उलटे मेरे शिक्षित सहयोगी मुझपर यही आरोप लगाते थे कि मैं बिना जाति, व्यवसाय या शैक्षणिक योग्यता देखे सबसे बहुत बराबरी से मिलता-जुलता हूँ और इस कारण मेरे बड़प्पन में कमी आती है। ऐसा बड़प्पन मुझे खोखला और दुर्बल लगता था। समानता का व्यवहार करते हुए भी मेरे स्नेही या अनुयायी मेरे प्रति जो बड़प्पन, आदर या भक्ति प्रकट करते हैं, वही सच्चा आदर है, यही मेरी भावना थी। मेरे सहयोगियों और अनुयायियों की भक्ति और आदर मुझे यदि हमेशा मिलता रहा, तो मैं उसे अपने लगाव और बराबरी के स्नेहशील व्यवहार का समर्थन और समाधान मानता हूँ। परंतु संस्था के काम का बँटवारा करते समय मैं विश्वासपात्रता की परख करके जिसका जो गुण था, उसीके अनुसार उसका चयन करता था। उस काम के लिए मैं चुनाव बहुत कड़ाई से करता था। स्नेह या अनुशंसा नहीं चलने देता था, परंतु केवल व्यक्तिगत बातचीत, हँसी, बैठक, सहायता देना आदि के समय किसीको भी हीन नहीं मानता था। महत्ता का व्यवहार किसीसे भी नहीं करता था, पर इस कारण मेरे वे स्नेही लोग मेरा आदर ही अधिक करते थे, ऐसा मेरा अनुभव है। मेरे उस वय में भी सैकड़ों समवयस्क और प्रौढ़ लोग एवं अनुयायी मुझसे प्रेम तथा भक्ति रखते थे। मैं स्वयं किसीको भी अनुयायी नहीं समझता था। सबसे बराबरी का, स्नेह का ही व्यवहार रखता था।

अनेक लोगों के साथ मैं कभी-कभी संध्या समय या चाँदनी में गोदावरी के किनारे सुंदर मैदान में या उसके आसपास के भव्य और ऊँचे मंदिरों की छतों पर जाकर गप-शप करता था। कभी लाल-सुर्ख तरबूज, सेब, चिवड़ा, पूरी आदि

मँगाकर हम सब एक साथ बैठकर खाते थे। नाई, मराठा, बनिया, किसान, ब्राह्मण, कायस्थ इस तरह का कोई जाति-बंधन तब हममें नहीं रहता था। उस समय स्पृश्य हिंदू भी ऐसे इकट्ठा बैठकर नहीं खाते-पीते थे। एक बार गणगौरी पूजा में किसी ब्राह्मण के यहाँ अपनी इस पद्धति से मिल-बैठकर एक नमकीन पदार्थ हम सब खा आए, तो उसका बहुत हो-हल्ला हुआ। हमारे युवा साथियों को अपने-अपने घरों में इस अनाचार का उत्तर अपने बड़े-बूढ़ों को देने में बड़ी कठिनाई हुई, पर हमारी मंडली का यह 'उपहार', चाय-चिवड़ा का यह मिला-जुला कार्यक्रम चलता ही रहा। हमारे ही, पर कुछ देवभीरु लोग बहुत दिनों तक अपना हिस्सा दूर बैठकर खाते थे। ये लोग पहले-पहले आबा दरेकर द्वारा चूसकर फेंकी गई गन्ने की छोई को भी लाँघने में बड़ा दोष मानते थे। कारण, बाबा दरेकर शूद्र था। उस शूद्र की जूठी चीज रास्ते पर पड़ी हुई हो, तो जातिवंत ब्राह्मण क्या करे—उसे लाँघकर जाए या घूमकर जाए, ताकि उसकी छूत न लगे? उस समय छूत का इतना पागलपन समाज में था। हम उसे तोड़ते चल रहे थे, फिर भी पुराने लोगों की भावनाओं पर मैं बिना कारण चोट नहीं करता था। पर इसके ठीक उलटे छुआछूत की इस मूर्खता-भरी और मारक रूढ़ि को तोड़ने के अपने सुधार कार्यक्रम की अपनी सीमा तक की स्वतंत्रता में वे (पुराने लोग) भी दखल न दें, ऐसा मेरा कड़ा प्रयत्न रहता था। धीरे-धीरे छुआछूत की रूढ़ि पर चर्चा करते-करते और हमारी देखा-देखी इस संस्था के अन्य सदस्य और बाबा भी जाति-समानता के हमारे विचारों को मानने लगे।

चैत्र-वैशाख की चाँदनी में गोदावरी के घाट और मैदान में कुछ इने-गिने मित्रों के संग तरबूज की मीठी-मीठी फाँकें खाते, नाना असंबद्ध विषयों पर चलती चर्चाओं की लहरों पर कहीं-के-कहीं लुढ़कते जाना मुझे तब बहुत प्रिय लगता था। विनोद, परिहास, हँसी-ठिठोली, चुटकुले, कविताएँ, अंत्याक्षरी, चाँद-तारों की बातें, राजनीति, गायन, इतिहास, अभिनय, जाने कितनी-कितनी मजेदार गपें हाँकते हम उन चाँदनी रातों में डूबे रहते। मराठी कवि मोरो पंत का काव्य गाना तो मुझे बहुत प्रिय था। उन्होंने एक सौ आठ रामायणों की रचना की थी। उनमें से कुछ प्रसिद्ध रामायणों का कुछ प्रारंभिक और कुछ अंतिम अंश मुझे कंठस्थ थे, उन्हें मैं अवश्य सुनाता। इतिहास के रम्य, अद्‌भुत प्रसंगों को सुनाता। कितनी मनोबेधक परंतु मनोरंजक गपें होती थीं। उन सब विषयों के आंदोलन का केंद्र होती थी राजनीति ही—स्वदेश को स्वतंत्र करानेवाली बेचैनी की राजनीति। बचपन से ही दस-पाँच लोगों के बीच नाना प्रकार के रंगों की चर्चा करने की मेरी आदत हो जाने से मेरी संभाषण-शक्ति (Conversational Pawer) विकसित हो गई थी।

मन की संसद्

लोग सदा मुझे घेरे रहते। मैं भी उनमें ही रमा रहता, पर बीच में ही मुझे बार-बार एकांत की लहर आती। घर के कमरे में या अगले दरवाजे की छत पर या गंगा के या नारोशंकर के मंदिर की छत पर या घाट पर मैं बीच-बीच में सबको टालते हुए एकदम अकेला जाकर बैठ जाता और मन-ही-मन बातें करता मगन रहता। एकांत में मैं कभी-कभी छोटे-छोटे सुभाषित या कविता भी रचता। जैसे उस समय गोदा-तीर पर बैठे-बैठे रचित यह सुभाषित—

गंगातीरी बिंबित दीप शिखा नचि परंतु कज्जळते।
सज्जन हृदय असेची दोषा त्यजुनी गुणाकडे बळते॥

(गंगा-तट पर जलती दीपशिखा पर कजली नहीं आती। सज्जन हृदय ऐसे ही दोषों को त्यागकर गुण की ओर जाता है।)

परंतु अधिकतर मैं ऐसे एकांत में आत्मनिरीक्षण में मस्त हो जाता। मेरे अंगभूत गुण कौन से हैं, किसकी क्या आपत्ति है, उसमें तथ्य कितना है, अतथ्य कितना, मेरी त्रुटियाँ क्या हैं, क्या ठीक है? इन सबका मन-ही-मन विचार राग-रहित दृष्टि से मैं करता। भगूर में था, तब से महीने-दो महीने में एकाध बार मेरे इस मन की संसद् की बैठक होती ही थी। किसी मित्र से झगड़ा हो जाने पर वह प्रकरण ऐसे एकांत समय में मैं ही अपने मन के न्यायासन के सामने प्रस्तुत करता। उसमें विवेक को न्यायाधीश मानता। एक मन मेरे मित्र की बात रखता, दूसरा मन मेरी त्रुटियाँ कहता और कभी-कभी तो मेरे ही विरुद्ध मेरा विवेक निर्णय सुना देता था। लोगों को टालना मेरे लिए कठिन था। बहुत देर तक मेरे न दिखाई देने पर खोज चालू हो जाती। कभी-कभी घर में लोगों की भीड़ हो, गपें चल रही हों और मुझे एकांत की लहर अकस्मात् आ जाती तो मैं संध्या या रात्रि के समय अँधेरे में अपने कमरे की आलमारी या आले में मुँह छिपाए खड़ा हो जाता। दूसरे सोचते, मैं कुछ खोज रहा हूँ या पुस्तक आदि सहेजकर रख रहा हूँ, परंतु मैं उस आलमारी में मुँह छिपाए खड़े-खड़े पूर्ण एकांत का, मन की पूर्ण शांति का सुख भोगता। कोई संकट आने पर, संस्था या व्यक्ति के संबंध में कोई पेंच आने पर मैं एकांत में जाकर अपने मन की संसद् आहूत करता। बिना पक्षपात विचार करने की पक्की शक्ति विकसित होने में यह मेरा मनोरंजक कार्यक्रम बहुत ही उपकारक हुआ, ऐसा मुझे लगता है। बहुत बार काम के कारण या लोगों की भीड़ के कारण व्यग्र होने पर मैं एक ओर जाकर किसी तरह विचार न करते हुए एकांत का लाभ उठाता! मैं उससे प्रसन्न हो

जाता और मेरी कार्य-शक्ति फिर ताजा हो जाती। बचपन में मैं देवी-मूर्ति के सामने ध्यान में डूब जाता। निर्विचार, नि:शब्द, एकांत सुख की रुचि मुझमें कहीं से जगी है, मुझे ऐसा लगता है।

बाबा द्वारा प्राणायाम-साधना

देवी-मूर्ति के सामने बैठकर ध्यान में डूबने या निर्विचार, नि:शब्द, एक़ांत का सुख लेने आदि से भी कुछ और आगे बढ़कर, चित्तवृत्ति-लय का शास्त्रीय अध्ययन आदि करने तक मेरी प्रगति नहीं हो सकी। 'योग' एक प्रत्यक्ष सिद्ध शास्त्र है, मुझे उस आयु तक इसकी भी जानकारी नहीं थी। एकांत में मन शांत करते हुए जो सहज प्रसन्नता का अनुभव होता था, वही सुख मैंने तब तक प्राप्त किया था, परंतु मेरे बड़े भैया उस समय योगशास्त्र का संपूर्ण शास्त्रीय अध्ययन करने की ओर बड़े निग्रह से प्रयासरत थे। सुयोग्य गुरु आदि कोई नहीं था, पर मिलते-मिलाते साधु-वैरागी से और स्वयं वेदांत ग्रंथ पढ़कर जो उन्हें सूझता, उस मार्ग से वे साधना करते रहते। हमारे निवास के पड़ोस के दातार मंदिर में परदे लगाकर वे प्रात: से मध्याह्न तक जप करते, ध्यान लगाते, कोई मार्ग प्रदर्शक न होते हुए भी प्राणायाम का अभ्यास वे अपने मन से करते रहते थे। इतना ही नहीं, धौति और नेति क्रिया सीखने का भी प्रयास अपने को ही गुरु बनाकर उन्होंने किया था। पंद्रह-बीस हाथ लंबी एक सूती पट्टी वे मुँह से चबाते-चबाते पेट में ले जाते और उसे पेट में घुमाकर पेट को अंदर से धो-पोंछकर फिर मुँह से ही बाहर निकालते। मुझे डर लगा रहता कि निग्रही प्राणावरोध और ऐसे हठयोगी प्रयोग किसी विशेषज्ञ की सहायता के बिना केवल अपनी सूझ के भरोसे निग्रह से करने पर शरीर को धोखा हो सकता है।

वैसा ही हुआ भी। उन्हें भयानक सिरदर्द होने लगा। भूख इतनी तेज लगती कि वे ढेर-की-ढेर रोटियाँ खा जाते। पहले ऐसी किसी बीमारी की परवाह उन्होंने नहीं की। उलटे उन्होंने इन लक्षणों को शुभ ही माना, लेकिन फिर जाने क्या हुआ, उनका सिर सूज गया। सिर की हड्डी इतनी मुलायम हो गई कि अंगुली से दबाने पर दब जाती। सिर पर बड़े-बड़े गोले उभर आए। महीनों वे रुग्ण रहे। फिर भी हठयोग के त्रुटिपूर्ण प्रयोग से ऐसा हुआ, यह मानने के लिए वे तैयार नहीं हुए। परंतु और कोई आशंका है ही नहीं, यह बात हमने उन्हें कठिनाई से समझाई और किसी मार्ग प्रदर्शन के बिना किए जानेवाले हठयोग के उन प्रयोगों को करना बंद करवाया।

केरल कोकिल

महाराष्ट्र में प्रसिद्ध 'केरल कोकिल' मासिक पत्र के संपादक श्री आठवळे

'मित्र मेला' में अतिथि होकर आनेवाले थे। उनकी कविता बहुत चुटीली, सरल और मधुर होती थी। 'राधोभरारी', 'स्वदेशी का फटका', 'ससुराल का उपहार' आदि उनके काव्यों का गायन घर-घर में होता था। उन्होंने गीता के श्लोकों का अनुवाद भी किया था। उस मासिक पत्र की पुस्तक-समीक्षा बहुत मर्मभेदी, चुटीली और कभी-कभी ग्रंथकार पर टूट पड़ने जैसी निर्दय भी होती थी। इस मासिक पत्र की कविता-शैली का प्रयोग मैं भी करता था। उसकी उक्त मर्मभेदी तीखी टीका पद्धति के अध्ययन से मुझमें भी लेखन के गुण-दोष का विश्लेषण करने की इतनी तीक्ष्ण दृष्टि आ गई कि कभी-कभी तो वह काक-दृष्टि है, ऐसा मुझे स्वयं भी लगता। उस अवधि के अन्य समाचारपत्र जैसे 'विविध ज्ञान विस्तार' आदि की तरह ही मैं 'केरल कोकिल' भी नियमित पढ़ता था। उसके वाङ्मय की प्रशंसा भी करता। 'मित्र मेला' में बाहर के प्रसिद्ध व विद्वान् लोगों को हम प्राय: बुलाते रहते थे। वैसे ही श्री आठवले भी आनेवाले थे। उनके स्वागत पर एक कविता करने का काम संस्था ने मुझे सौंपा था। नारोशंकर के मंदिर की छत पर चाँदनी में बैठकर मैंने जिस 'दोषभीति मन में रख' कविता की रचना की, उसमें से निम्नलिखित कुछ पद स्मरण आ रहे हैं। मेरे उस वय की कविता के ये नमूना भी हैं—

श्रीमत् शंभु सिर बिराजे गोदावरी सर्वदा
पापक्षालन समुचित करे जो वेष्टिता सर्वदा
दौड़े श्रेष्ठ पद से धोने नीचांग गंगासती
श्रेष्ठा मूर्ति आप भी लगते हमें आए वैसे ही॥ १॥
श्री राजा शिव घोर शत्रु दल ने दादा भरारी भले
दैवी प्रसाद हम पाए वहीं स्तोत्र उनका रचने पर मिले
जिह्वा मेरी जम रही रात-दिन कान मेरे भरे
दृष्टि भी हटती नहीं व्यर्थ तब दर्शन करवाए॥ २॥
श्री गीता जननी तेरी आई तेरे घर तब से
थी रह रही भार्या कीर्ति सेवा करती आदर से
सास के छल से पीड़ित हो भागी भार्या घर से
यह समाचार तुझे देने मेरे धीरज को जिह्वा मिले॥ ३॥
बिंदु-बिंदु से ताल बनता सृष्टि क्रम है स्मरण करो
हिंदू जो हो सके इकट्ठा निर्दालने आगे बढ़ो
जनघाती सुख की कर निंदा राष्ट्रहित में मृत्यु वरण करो
शुक्लेंदुज्जल बीज मंत्र हृदय में संस्था के धारण करो॥ ४॥

आज आकर यहाँ आपने अपने व्यस्त समय में
उपकार किया सत्य आपने पर आशा हमारी बढ़े
पिलाएँ हमें बोधामृत आज दोष हमारे हरें
थूक गुस्सा अपना हम सेवकों पर दया करें॥ ५॥

(अर्थ—श्रीमान् शंभु के सिर पर सर्वदा विराजमान गोदावरी
पापक्षालन करने हेतु महान मुनियों द्वारा सर्वदा परिवेष्टि
दौड़ती है गंगासती किसी श्रेष्ठ पदस्थित व्यक्ति
की तरह नीचांग विमल करने,
उसी प्रकार तुम्हारी श्रेष्ठा मूर्ति प्रतीयमान
हमारे प्रीत्यर्थ यहाँ उपस्थित॥ १ ॥

श्री राजा शिवाजी तथा घोर शत्रुदमन करनेवाले
महान् दादा भरारी
इनके बारे में रचाए गए स्तोत्र तुम्हारे द्वारा,
जो हमें सौभाग्य से प्राप्त,
मेरी जिह्वा रात-दिन पाठ करती है उनका,
मेरे कान उन्हें श्रवण करते सदा लुब्ध,
अब मेरी दृष्टि भी हो गई अचल तुमपर,
व्यर्थ ही मैंने उसे तुम्हारे दर्शन कराए॥ २॥

श्रीगीता है तुम्हारी माँ, तुम्हारे घर शीघ्र पहुँच
थी सुखमग्न कीर्ति देवी तुम्हारी सेवा में,
सास की पीड़ा को स्मरण कर मानो भाग गई अब दूर-दूर तक
मेरे कानों के मार्ग से,
यह ज्ञात कराने मेरी जिह्वा जुटा रही है धैर्य॥ ३॥

''बिंदु-बिंदु से बनता तालाब,
इसी सृष्टिक्रम को मन में ध्यान रखो,
हिंदुओं का संगठन कर, दुष्टों का निर्दलन करो,
करते हुए निंदा जनघाती सुख की,
राष्ट्रहित में मृत्यु का वरण करो''
इसी शुक्लेंदु बीजमंत्र को इस संस्था ने
धारण किया है अपने हृदय में॥ ४॥

आज आकर यहाँ आपने व्यस्त समय में
सत्य ही बहुत उपकार किए हैं
परंतु आशा और भी ललचा रही है
कि हमें रसपूर्ण बोध का प्राशन कराकर
हमारे दोषों को नष्ट कर दें,
तुम महान हो, हम जैसे दासों पर
रोष न करके दय कर लो॥ ५॥)

इसी अवधि में मैंने सर वाल्टर स्कॉट की 'लेडी ऑफ दि लेक' नामक कविता का अनुवाद भी 'चुकलेले कोकरू' (भूला हुआ मेमना) शीर्षक से मराठी में किया। सौ-सवा सौ पद थे। 'मित्र मेला' के सार्वजनिक आंदोलन, अपने विवाह के व्यक्तिगत कार्य, कविता, निबंध आदि लेखन की व्यस्तता के बीच ही मैं हाई स्कूल की अंग्रेजी सातवीं परीक्षा उत्तीर्ण हो गया और मैट्रिक परीक्षा के लिए विद्यालय की ओर से भेजे जानेवाले छात्रों की सूची में मेरा नाम आ गया। परीक्षा देने के लिए बंबई जाना था। परीक्षा के लिए महीना-सवा महीना ही शेष रह गया था। अत: सब काम एक ओर रखकर इस माह केवल पढ़ाई करने की ठान कर मैं बंबई आ गया। यह बात मैंने पहले भी कही है। मेरे मित्र बालू बर्वे की पहचान से मैं उसीके साथ आंग्रेवाड़ी में ठहरा। मैंने तन्मयता से पढ़ाई चालू कर दी। उस वाड़ी में एक बड़ा कुआँ था। कूदते-खेलते हुए उसमें नहाना और भोजनालय में भोजन करके दिन भर पढ़ना, यही मेरा कार्यक्रम था। मैंने कभी किसी निजी शिक्षक से नहीं पढ़ा। स्वयं ही पढ़-समझ लेता। उक्त वाड़ी में उस समय एक 'नेटिव ओपिनियन' नामक बड़ा ही पुराना छापाखाना था। उसी नाम का समाचारपत्र भी था। लोकमान्य तिलक के एक विधायक मित्र दादाजी आबाजी खरे भी उसी वाड़ी में रहते थे। एक महीने में मैंने पढ़ाई पूरी कर ली। मैट्रिक की परीक्षा दी। जहाँ तक स्मरण है, बंबई नगर और विश्वविद्यालय देखने का यही पहला अवसर था। परीक्षा के परचे अच्छे हुए।

मुझे लगता है, इसी समय मैं दो-तीन दिन आलीबाग गया और वहाँ मैंने एक सभा में भाषण भी दिया। अविभक्त (संयुक्त) परिवार-पद्धति जैसा कोई विषय था। विषय का बिना अच्छा अध्ययन किए गड़बड़ी में ही वहाँ भाषण दे दिया। फिर भी भाषण अच्छा हुआ। भाषण करते-करते मैं बोअर युद्ध में बोअर लोगों की स्वतंत्रता का हरण करनेवाले अंग्रेजों की दुष्ट आकांक्षा पर 'मित्र मेला' की परंपरा में कड़ी टीका करने लगा। वह वहाँ कैसे मान्य होती? सारे सभासद और परीक्षक बेचैन हो उठे। अध्यक्ष ने मुझे टोका और वह अप्रस्तुत हिस्सा छोड़ने के लिए कहा। मैंने

उनकी बात नहीं मानी और बैठ गया। स्वाभाविक ही था कि मुझे पुरस्कार नहीं मिला। वास्तव में अध्यक्ष की बात सही थी। फिर भी अध्यक्ष ने विषयांतर होने के कारण पुरस्कार नहीं दिए जा सकने पर खेद प्रकट किया और मेरे ओजस्वी वक्तृत्व की प्रशंसा की।

मैट्रिक की परीक्षा देकर मैं बंबई से नासिक आया तो वहाँ प्लेग चालू होने के कारण और विश्राम के लिए भी, मैं परीक्षा-परिणाम की प्रतीक्षा में ननिहाल (कोठूर) चला गया। वहाँ मैंने अपने मामा के कहने पर एक काव्य-रचना 'गोदावकिली' का सृजन किया। यह काव्य मराठी कवि मोरो पंत द्वारा रचित 'गंगावकिली' के आधार पर था। कोठूर में गोदावरी का पाट बड़ा सुंदर है। वहाँ के ऊँचे घाट से मैं नदी में कूदता था। इसी घाट पर एकांत में बैठकर मैंने यह कविता लिखी थी। वह पूर्ण हो जाने के बाद गाँव के अनेक प्रतिष्ठित परिवारों के आबालवृद्ध मुझे बुला-बुलाकर वह कविता मुझसे सुनते और बड़े खुश होते। नासिक के एक प्रसिद्ध वकील गोपालराव बिवलकर 'वैद्य' भी प्लेग के कारण स्थानांतरित कर वहाँ आए हुए थे। उन्होंने मेरी माँ को अंतिम प्रसव के समय के प्राण-संकट से वैद्यकीय उपचार द्वारा ठीक किया था। तब से वे हमारे परिवार के हितैषी ही बन गए थे। उन्होंने भी उस वय में कविता करने के लिए मेरी बड़ी प्रशंसा की और मुझे पास बुलाकर पीठ थपथपाई। बीस वर्ष से कम की अवस्था में मेरी भावनाएँ और विचार उसी समय के शब्दों में व्यक्त कर सकनेवाले भाषण, लेख, कविता आदि 'असल' साक्ष्य नष्ट हो जाने से तत्कालीन अच्छी-बुरी जो कुछ कविताएँ अभी भी मुझे स्मरण हैं, वे काव्य के अच्छे-बुरे की दृष्टि से नहीं, बल्कि उस पीढ़ी के चरित्र की दृष्टि से अवश्य संग्रह करने योग्य हैं। वे जितनी स्मरण हैं, उतनी नीचे दे रहा हूँ—

गोदावकिली

गोदावरी तू धन्य धवल
मुनियों की प्रियंकर गंगा
तेरे साथ रहे जो करे
अति दुस्तर भवसिंधु पार॥ १॥

माता नहलाती बाह्यांग
न कभी अंतरंग को
श्री सांब सिर से नीचे आती
धोने अंतरंग को॥ २॥

हमें नहाने पटा बिछा है
नहीं है वह घाट
जगजननि नहलाती अपनी
देह पर अवर्णनीय है बात॥ ३॥

भागते कभी पकड़ने आती
गैड़ती गाल फुलाए गुस्से से
कभी शिला पर बैठ
सुनाती सुस्वर मोहक गीत॥ ४॥

खिले कमल दिखा कहती
नहाए जो पहले उसे मिले
भाँति-भाँति पुचकारकर
माँ यही सदाशीष दे॥ ५॥

पूजा-योग्य ऐसी भूमि में
अनंत देवियाँ होंगी
पर स्वशिशु-पालन करे ऐसी
तुझ-सी नहीं दूजी सती॥ ६॥

अबुद्ध बाल प्रार्थित जननी
तेरे चरणों में
कौस्तुभवासी जनों के योग क्षेम
को तू सदा वहन कर॥ ७॥

सब ही हैं दीन वर्तमान में
भरत खंड हीन हुआ माता
परवशता अति दु:सह हृदय को दे पीड़ा
हृदयस्थ नडगिके नखरे॥ ८॥

उसे तारने आना सदयता से
सारे गाँववासियों समेत
गाँव यदि एक हो उठा जुट
उसका अहित कैसे कोई राव कर सके॥ ९॥

मन्मातुल कुलज जननि
सबको तार दे तुरत मनोहर
होकर तब वंशज कृति सद्कृति से
संतजन मनोहर॥ १०॥

गंगे संकट काटनी तू दे
डोंगरे सदा स्थान
तत्सद्वंशज शुचिमति पत्नि सह
वृद्ध भाऊ का उद्धार॥ ११ ॥

तद्वंशज अप्पा तात्या
वैसे ही शंकरा बाला
घर-रक्षण करे तू उनका
सिद्धि-सिद्धि शंकरा बाला॥ १२ ॥

गंगे परोपकाररत रख गोपालराव बिवलकर
गुरु के सद्गुरु को जाएँ नित्यतर तरणी
विद्या परीक्षक के लिए जैसी
तरुणस्तव समुत्सुका तरुणी॥ १३ ॥

कानिटकर बंधुत्रय पावन
दे भक्तिरस की रुचि उन्हें
उनकी वंशवृद्धि होकर
लोगों के मुँह मीठे हों॥ १४ ॥

गंगे परोपकाररत रख,
गोपलराव बिवलकर
उज्ज्वल यश प्राप्त करे
शस्त्रक्रिया में उनका कर॥ १५ ॥

गुणज्ञ गुरुजी जाएँ नित्य
नदी पार सद्गुरु पास
परीक्षार्थी के लिए विद्या
या तरुण के लिए सभुत्सुका तरुणी॥ १६ ॥

कुलकर्णी सारे हैं उद्यमी
उनके दोषों को भूलना
ग्रामजनों के मुँह से उनके
रुचिर कृत्यों की हो प्रशंसा॥ १७ ॥

ख्यात पिता जैसे केशव, हरि, गोपाल
बाल भागवत
होवें सुविद्यारत निज देश-हितार्थ
दक्ष भागवत॥ १८ ॥

पूर्वजों ने उनकी प्रभु-कृपा से
जागीर में पाया गाँव
सन्मणि स्वभूमि सेवा लेकर उनसे
करे भव-पार उनको॥ १९॥

थी वह देवी पहनती स्वतंत्रता
का शुभ जरतारी वस्त्र
उसीकी चिंदियाँ
हम जतन करें अभिमानवश॥ २०॥

भेजेगा प्रभु कोई कुशल कारीगर
कभी भविष्य में
तब काम आएँगी यदि हम
सहेज उन्हें जतन करें॥ २१॥

घर डुबोता कलह मिटे
अज्ञता का घमंड समूल जाए
विघ्नों का सीना फूटे और
सत्कुल कीर्ति संपदा प्राप्त करे॥ २२॥

तेरे भक्त शुद्ध बर्वे को
श्रीगंगे सगों के साथ तू तार दे भाऊ को
भव सर्पदंशनाशक प्रभु
भजन ही उपाय है भाऊ को॥ २३॥

चिंता कानन जलाकर अण्णा को
हे जननि सदा शिव दे
कर दीर्घायु, यशस्वी सगे सारे
यह दास चरणों में कहे॥ २४॥

संरक्षा दे मेरे प्रिय मित्र
वासुदेव तात्या को
मेरे साथ ही सद्विद्या का
वरदान दे आशुदेवता उन्हें॥ २५॥

दे हमें वर कि जिससे
इन हाथों देश-शत्रु दंडित करें
संग में ही हो उद्धार हम तीनों का
जिससे 'वह पहले' ऐसा झगड़ा न हो हममें॥ २६॥

जननि सकलत्र सदा
दादादना प्रेम-दृष्टि से पालें
यश विभव उन्हें देवे
रक्षा करे गान कुशल गोपाला॥ २७॥

राखो सुज्ञ सुशिक्षित नाना
उसके भाई विनायक को
किल्मिश उनका खाकर
देशहित में उनको बढ़ता देखें॥ २८॥

सुपात्र कर माँ गंगा सद्गति
दानार्थ बापूना सत्य
तू दयावान मुक्त कर उन्हें
जिससे फिर बहु पाप न संचित हो॥ २९॥

कर संरक्षा उन रामभाऊ बर्वे की
पत्नी सहित सबकी
उनका प्रिय दामोदर बने
सुखनिवास सबका॥ ३०॥

मेरे सन्मित्र लखापति, बलवंत
नित्य सुपथगामी बनें
विद्यालंकृत होकर पुरस्कार पाकर
राम-हरि को भजें॥ ३१॥

देश का यश बढ़ाने किसान
वर्तमान में अति दीन
धान्य औ' पशु से संपन्न होकर
उनपर पृथ्वी भूमिमता प्रसन्न होकर
धान्य और पशुधन से संपन्न करे॥ ३२॥

बनिया, बढ़ई, ग्वाला, लिंगायत
भील और बेसकर
आपका दरबार बिना भेदभाव
रक्षण करे उनका विश्व में सुयशकर॥ ३३॥

गोदा गंगे तेरी राजसभा में वह
शिशु वकिली ऐसी हुई समाप्त
सुकल्पना तर गई जिसपर
उस तेरे जल पर तरंगसम विलीन हुई॥ ३४॥

इस तरह कोठूर में मैं कवि के रूप में इतना प्रसिद्ध हुआ कि वहाँ के नौटंकीवालों ने भी 'लावणी' लिखकर देने का तकाजा किया। उनमें भी जो मेरे मामा के प्रिय थे, उनको मामा द्वारा 'दे दे कुछ लिखकर' कहे जाने पर मैंने 'शराबी', 'दो पत्नियों का पति' आदि एक सीमा तक उपदेशपरक विषयों पर लावणी लिखकर दी।

कोठूर में 'मित्र मेला' की शाखा पहले ही स्थापित थी। मेरे आने से उनकी गतिविधियाँ, बैठकें जोर-शोर से होने लगीं। वय में मुझसे थोड़ी ही छोटी किशोर मंडली भी संस्था में सम्मिलित हो गई। उन किशोरों में से कई आज भी देश-सेवा में लगे हुए हैं। नासिक की 'मित्र मेला' संस्था में श्री म्हसकर के परिचय से सदस्य बने एक श्री अप्पाराव पहेकर नामक एक प्रौढ़ और नासिक के राजनीतिक आंदोलनों में हिस्सा लेनेवाले भी उनमें थे। वे किसी जागीरदार 'बर्वे' के कार-प्रबंधक भी थे। उनके आग्रह पर मैं उस जागीर के गाँव गया और वहाँ उनके बाड़े में मैंने एक भाषण भी दिया। वहाँ के कुछ लोगों को मैंने इकट्ठा किया, 'मित्र मेला' की राजनीति पर उनसे चर्चा की और उन्हें संस्था का सदस्य भी बनाया।

छोटा भाई 'बाल'

कोठूर में मेरे साथ मेरा छोटा भाई बाल भी था। जब हमारे माता-पिता हमें छोड़कर स्वर्गधाम चले गए थे, तब वह छोटा ही था। उसे भी प्लेग ने धर दबोचा था और कई माह तक प्लेग से संघर्ष करने के बाद उसका एक तरह से 'पुनर्जन्म' ही हुआ था। तब से उस बालक को मेरे बड़े भाई और भाभी ने इतने लाड़-प्यार से पाला-पोसा था कि माता-पिता क्या पालते! उस समय से ही वह मेरा भी बहुत प्रिय था। मेरे साथ ही रहता। इस कारण मेरे स्वभाव के ढाँचे में ही वह भी ढलता गया। मेरे व्याख्यानों जैसे व्याख्यान वह भी देता। मेरी लिखी कविताएँ आदि वह कंठस्थ कर लेता और वैसी ही रचना करने का प्रयास करता। मेरे भाषणों और चर्चा में आनेवाले शब्द-प्रयोग, उद्धरण आदि भी वह अचूक स्मरण रखता। 'मित्र मेला' की राजनीति में ये बालक मुझसे भी अल्प वय से घुटते जा रहे थे।

'मित्र मेला' संस्था ने उन किशोरों को स्वदेश, स्वतंत्रता का गायत्री मंत्र सिखाकर मानो उनका धार्मिक व्रतबंध ही कर दिया था। वह संस्था उन बच्चों का मानो राजनीतिक गुरुकुल ही था। मेरी देखा-देखी उस संस्था में उन बच्चों का कर्तृत्व भी विकसित होता गया था। आंदोलनों की मेरी राजनीति और पैंतरों में वे भी पारंगत होते गए। 'मित्र मेला' के इन किशोरों की स्वतंत्र शाखा खुलते ही उसका बाल नेतृत्व मेरे छोटे भाई के आसपास था। मराठी पाँचवीं उत्तीर्ण होकर वह अंग्रेजी

विद्यालय में जाने ही वाला था। उसी संधिकाल में मैं उसे अपने साथ कोठूर ले आया था। वहाँ मेरे आगे-पीछे भीड़ न होने से मुझे बहुत शांति मिली और मुझे उसकी शिक्षा पर अपना ध्यान केंद्रित करने का अवसर मिला। बाल से मैं काव्य, इतिहास, चरित्र, ग्रंथ आदि पढ़वाता और समझाता। कोठूर में उसे घर में ही कक्षा दो तक की अंग्रेजी सिखाने, वीर कथा कहने और उससे लेख, कविता आदि लिखवा लेने में मेरे दिवस बीतते गए।

महान् पेशवा कौन?

प्रख्यात ऐतिहासिक उपन्यासकार श्री हरि नारायण आप्टे एक नियतकालिक 'करमणूक' (मनोरंजन) पत्र भी निकालते थे। वह अपने समय का बड़ा प्रसिद्ध पत्र था—उसमें सब पेशवाओं में महान् पेशवा कौन और क्यों, इस विषय पर एक निबंध प्रतियोगिता आयोजित की गई। मैंने हरि नारायण आप्टे लिखित 'उषाकाल' आदि कई ऐतिहासिक-सामाजिक उपन्यास पढ़े थे। उनका 'करमणूक' भी मैं नियम से पढ़ता था। निबंध प्रतियोगिता में मैंने भी भाग लिया और कोठूर में ही वह निबंध मैंने लिखा। मैं सारे पेशवाओं में माधवराव प्रथम को महान् मानता था। मेरा वह निबंध उस प्रतियोगिता का सर्वश्रेष्ठ निबंध घोषित हुआ, 'मनोरंजन' में प्रकाशित हुआ और मुझे प्रथम पुरस्कार भी मिला।

मैट्रिक परीक्षा के परिणाम की घोषणा की तिथि पास आ जाने पर मैं कोठूर से नासिक आ गया। एक-दो दिन में ही तार आ गया।

मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण

मैं मैट्रिक परीक्षा में उत्तीर्ण हो गया। यह सुनते ही पारिवारिक दृष्टि से बाबा और भाभी को तथा हमारी 'मित्र मेला' संस्था के लोगों को बहुत आनंद आया। उस संस्था में सम्मिलित युवकों में से मैं ही पहले मैट्रिक उत्तीर्ण हुआ था और वह भी एक ही बार में। संस्था के कारण राजनीति में पड़े छात्रों की पढ़ाई का सत्यानाश होगा, ऐसी भविष्यवाणी करनेवाले हमारे शिक्षक, पालक आदि लोगों के मुँह एकदम बंद हो गए थे। मैं उस संस्था का नेता, सारा समय उसके लिए देनेवाला, मेरी ओर सबकी आँखें थीं। यदि मैं पहले ही अनुत्तीर्ण हो जाता तो उस संस्था की साख उन लोगों की दृष्टि में गिर जाती। अभिभावक लोग वह संस्था छोड़ने के लिए हम छात्रों पर बहुत दबाव डालते और हमें भी मन-ही-मन वह खाता रहता। संस्था की दृष्टि से इससे भी अधिक महत्त्व इस व्यक्तिगत घटना का था और इसलिए सराहनीय भी था। मेरे मैट्रिक होने का अर्थ था कॉलेज में जाना और कॉलेज जाने का अर्थ था

मेरे पीछे-पीछे 'मित्र मेला' के क्रांतिकारी विचारों का भी कॉलेज में प्रवेश होना। इस संबंध में मैं सदा कहा करता था कि नासिक एक जिले का मुख्यालय मात्र है। यहाँ 'मित्र मेला' के क्रांतिकारी विचारों का फैलाव हुआ तो अधिक-से-अधिक जिले के छात्रों और प्रमुख जनता में ही हो पाएगा। वह कार्य उन दो वर्षों में हुआ भी था। परंतु अब महाराष्ट्र के सभी जिलों की भावी तरुण पीढ़ी के चुने हुए और होनहार युवकों का संघ अचानक मेरे हाथ में आनेवाला था। सारे जिलों में घूमते रहने का द्रविड़ प्राणायाम करने से हम बच सकते थे, क्योंकि वहाँ केवल एक बार जाल फेंकते ही महाराष्ट्र के होनहार युवक मिलनेवाले थे। वे युवा हमारे क्रांतिकारी विचारों से उत्स्फूर्त होते ही अपने-अपने घर क्रांतिबीज ले जानेवाले थे। भविष्य में ये युवक ही बी.ए., एम.ए. होकर समाज में प्रतिष्ठित पदधारी होंगे, नेता होंगे। इस प्रकार अपनी क्रांतिकारी संस्था तथा नीति के तत्त्व सभी जिलों में पहुँचेंगे और स्थान-स्थान का नेतृत्व सहज क्रांति पक्ष के हाथों आ जाएगा। क्रांति पक्ष का बल और प्रभाव बढ़कर महाराष्ट्र की राजनीति का स्वरूप पाँच-छह वर्ष में एकदम पलट डालने में बहुत सहायता मिलेगी।

मेरे मैट्रिक उत्तीर्ण होने की घटना को संस्था ने उसी दृष्टि से देखा। प्रवेश-परीक्षा उत्तीर्ण होकर कॉलेज में मेरा प्रवेश लेना अर्थात् संस्था का प्रवेश-परीक्षा उत्तीर्ण होकर उसे भी महाराष्ट्रीय राजनीति में प्रवेश करने की अनुमति मिलने जैसा ही माना गया। इसीलिए सार्वजनिक कार्य में रात-दिन खपाकर भी प्रवेश-परीक्षा पहले झटके में उत्तीर्ण करने के लिए एक विशेष समारोह आयोजित कर बहुत स्नेह से मेरा सम्मान किया गया। क्रांतिकारी विचारों का प्रसार पूरे महाराष्ट्र में करने के लिए इस प्राप्त अवसर का लाभ किस प्रकार लिया जा सकेगा, इसका उपर्युक्त विवेचन एक बार फिर मैंने उस अवसर पर किया और विशेषकर वही प्रयोजन तथा नीति मेरे कॉलेज जीवन का आधार रहेगी, ऐसा संकल्प भी मैंने प्रकट किया।

परंतु ये सारी बातें मेरे कॉलेज में जाने पर ही हो सकती थीं और कॉलेज के व्यय का भार मेरे ससुरजी विवाह तय किए जाने के अवसर पर दिए अपने मौखिक वचन के अनुसार निभाते हैं या नहीं, अभी इसका आश्वासन स्पष्टता से किसीने मुझे नहीं दिया था। इसलिए परीक्षा उत्तीर्ण होते ही मैंने अपने ससुर से इसका पक्का उत्तर देने का निवेदन किया। वे नासिक आए, मुझसे मिले। मैट्रिक उत्तीर्ण होने के लिए बड़े स्नेह से पुत्रवत् शाबाशी दी और कहा कि मैं चिंता न करूँ, कॉलेज में प्रवेश ले लूँ। कम-से-कम इस वर्ष की तो व्यवस्था हो ही जाएगी। मैंने बड़ी अधीरता से पूछा, 'फिर आगे क्या होगा? आधी-अधूरी शिक्षा

ही लेना हो तो वर्ष क्यों बिगाड़ूँ? घर की, बाबा की चिंता मिटाने मैं अभी से कोई नौकरी पकड़ लूँ, यही अच्छा होगा। कॉलेज की शिक्षा पूरी होने तक का भार वहन करने का पक्का आश्वासन मिलने की व्यवस्था होनी चाहिए, ताकि मुझे चिंता न हो। वे मुसकराकर बोले, 'उसकी चिंता मुझे होगी या तुम्हें? तुम कॉलेज तो जाओ।' मामा ने भी कहा, 'अपनी कन्या के भाग्योदय की चिंता तो उनको ही है।'

जो पहला कदम निर्श्चितता से उठाया जा सकता है, वह तो उठा ही लेना चाहिए, ऐसा मन में सोचकर मैंने श्री भाऊराव के प्रति आभार व्यक्त किया और मैं घर लौट आया। इस वचन पर भरोसा कर मैंने पुणे के फरग्युसन कॉलेज में अपना आवेदन प्रस्तुत किया। मेरे वत्सल और दानशील ससुर ने तब से लेकर बी.ए. करके कॉलेज से बाहर आने तक मुझे एक दिन भी पैसे की चिंता नहीं होने दी। कभी-कभी मैंने ही अन्य छात्रों की सहायता भी की, पर मुझे कॉलेज में कभी किसीके मुँह की ओर ताकना नहीं पड़ा। इतने नियम से और खुले हाथों से भाऊराव ने मुझे सहायता पहुँचाई। मैं कम-से-कम व्यय करता और उसका ब्योरा भी भेजता, पर उन्होंने कभी उसे चाहा नहीं। उलटे यह पूछा कि और क्या चाहिए।

मेरे कॉलेज में जाने का निश्चय हो जाने के समाचार से 'मित्र मेला' के सदस्यों को ही नहीं, बल्कि नासिक के मेरे सार्वजनिक आंदोलन की ओर आश्चर्य एवं उत्सुकता से देखनेवाले अनेक वकीलों, संपादकों, प्रौढ़ नेताओं आदि को भी हार्दिक प्रसन्नता हुई। मैट्रिक की परीक्षा भी कोई परीक्षा है? उसमें उत्तीर्ण होना छात्र का केवल व्यक्तिगत या बहुत हुआ तो पारिवारिक आनंद का विषय माना जाना चाहिए, परंतु ऊपर दिए गए कारणों से 'मित्र मेला' संस्था को भी वह सार्वजनिक अभिनंदन का उचित कारण लगे, यह स्वाभाविक ही था। संस्था ने मेरे अभिनंदन के लिए तथा मुझे विदाई देने के लिए एक बैठक आयोजित की। शपथबद्ध सदस्यों के अतिरिक्त अनेक प्रौढ़ नेता, जो मन से संस्था के गुप्त कार्यों और आंदोलन का सहयोग करते थे, भी उस बैठक में आए। उक्त सभा में मैंने 'मित्र मेला' की स्थापना से लेकर उस दिन तक की प्रगति, उस संस्था के ध्येय, नीति, साधन, उसके अनन्य महत्त्व और संभावनाओं तथा उसके महान् भविष्य का समालोचन अपने उत्कृष्ट और आवेशयुक्त भाषण द्वारा प्रस्तुत किया था। मेरे उसी भाषण के सारांश से अपने आत्म-चरित्र के इस दूसरे खंड का भी समारोप करना समुचित समझकर मैंने कॉलेज जाने के लिए नासिक छोड़ा। उस अवधि तक का लेखा-जोखा अर्थात् उस संस्था के विषय में हमारी जो कल्पना थी, उसकी रूपरेखा संकलित रूप से लगभग उसी काल के शब्दों में मैं यहाँ दे रहा हूँ।

'मित्र मेला' का प्रारंभिक इतिवृत्त

'मित्र मेला', जिसका गुप्त नाम 'राष्ट्रभक्त समूह' (राम हरि) था, संस्था का ध्येय भरत खंड को अंग्रेजों की राजनीतिक परतंत्रता से पूरी तरह स्वतंत्र करना ही था। और साधन? इस ध्येय की प्राप्ति के लिए संघर्ष करते हुए जो-जो साधन जिस-जिस समय संपूर्ण स्वतंत्रता रूपी साध्य को अधिकाधिक समीप लाने के लिए उपयोगी होंगे, वे सब स्वीकार्य होंगे—निवेदन-आवेदन से सशस्त्र क्रांति-युद्ध तक जो-जो साधन संभव और उपयुक्त होंगे, वे सब। 'मित्र मेला' के उपर्युक्त दो वर्षों के अंत में उसके हर सदस्य को ही नहीं, उस संस्था की जानकारी रखनेवाले सभी लोगों को इस संस्था का ध्येय और नीति स्पष्टता से ज्ञात हो चुकी थी। अधिक क्या कहें, सरकारी पुलिस को भी इसकी पूरी जानकारी थी।

सन् १८९८ में स्वदेश की स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए सशस्त्र क्रांति-युद्ध प्रारंभ करके भी मारते-मारते मरने की शपथ स्वयं मैंने ही प्रथमत: ली थी। सन् १८९९ के अंत में म्हसकर, पागे और मैं—हम तीनों ने यह शपथ लेकर 'राष्ट्रभक्त समूह' नामक गुप्त संस्था की स्थापना की और जनवरी, १९०० में व्यापक रूप से उसीका कार्य करने के लिए 'मित्र मेला' नामक एक सार्वजनिक संस्था स्थापित की।

जिस समय इस क्रांतिकारी संस्था की स्थापना की गई, उस समय के हिंदुस्थान की राजनीतिक स्थिति और प्रगति कहाँ तक पहुँची थी तथा इस क्रांतिकारी संस्था की वास्तविक विशेषता क्या थी—यह समझने के लिए इसकी रूपरेखा और विस्तृत विवरण देना आवश्यक है।

सन् १८५७ के राष्ट्रव्यापी सशस्त्र क्रांतियुद्ध के बाद हिंदुस्थान की राजनीति को न्यायमूर्ति रानडे की पीढ़ी ने बिलकुल ही अलग दिशा दी। वह राजनीति उस समय की अत्यंत असहाय परिस्थिति का सहज परिणाम थी। उसका ध्येय राज्यक्रांति न होकर राज्य-सुधार था। अत: उसके साधन भी सीमित थे। वे वैध (Legitimate) या संवैधानिक (Constitutional) भी नहीं कहे जा सकते थे। उपयुक्त साधन कम पड़ने पर वैधानिक साधनों की ओर ध्यान जाता है। परंतु उस पहली पीढ़ी के नेताओं में से अधिकतर को उपयुक्त साधन कम पड़ेंगे, ऐसा लगता ही नहीं था। रानी विक्टोरिया के घोषणा-पत्र को, रानी के उस जाहिरनामे को वे 'मैग्नाकार्टा' कहते थे। अर्थात् उनमें से अधिकांश को वह सचमुच मैग्नाकार्टा ही लगता था और उसमें दिए गए वचनों का पालन होगा ही, ऐसी उनकी निष्ठा थी।

इस निष्ठा को पूरी प्रामाणिकता से आपसी वार्त्तालाप में भी व्यक्त करनेवाले सैकड़ों राजनीतिक नेता हमने स्वयं उस समय देखे थे। वे सचमुच राजनिष्ठ थे।

इंग्लैंड के राजा को वे न केवल 'हिंदुस्थान का सम्राट्' अपितु 'नः विष्णुः पृथिवीपतिः' वचन के आधार पर विष्णु का अंश मानते थे। अंतस्थ वार्त्तालाप में भी इंग्लैंड के राजा को 'हिंदुस्थान का सम्राट्' न कहने पर वे चिढ़ जाते थे। वे परम देशभक्त थे। हमारे राष्ट्र पर उनके अनेक उपकार हैं, परंतु उनकी राजनीतिक कल्पना और आकांक्षा ऐसी ही थी। 'अमृत बाजार पत्रिका' के संपादक परम देशभक्त मोतीलाल घोष इंग्लैंड के युवराज या राजा के हिंदुस्थान आने पर और निमंत्रण मिलने पर वे उसे देवदर्शन प्राप्त होने जैसा सद्‌भाग्य मानते। सभा में उनके सामने घुटने टेककर हाथ जोड़ना, यह सब नाटक नहीं था, लाचारी तो थी ही नहीं, संपूर्ण निष्ठा थी। 'अछूत' कहकर अपने धर्मबंधु हिंदुओं को छूने से भी कतरानेवाले काशी के उस पंडितों ने लॉर्ड रिपन की गाड़ी स्वयं बैल बनकर खींची थी। अंग्रेजी राज से अपने देश को अनेक लाभ हुए, यह पीढ़ी इतना ही मानकर संतुष्ट नहीं रहती थी। उनकी मान्यता थी कि हमारे देश का हित हो, इसलिए स्वयं का अहित करके भी दयापूर्वक अंग्रेजों ने वे लाभ हमें दिए हैं। वे केवल लाभ नहीं हैं, अपितु हमारे देश पर अंग्रेजों द्वारा जान-बूझकर किए गए उपकार हैं। अंग्रेजी राज तो 'ईश कृपा' है—उस अवधि के राजनीतिक नेतृत्व और अनुयायियों में पूरी प्रामाणिकता से ऐसा समझनेवाले लाखों लोग थे। बंगाल या महाराष्ट्र में पहली पीढ़ी का जो साहित्य अभी भी उपलब्ध है, उसके आधार पर आज भी यह सब निर्विवाद देखा जा सकता है। हमें तो उन लोगों के प्रत्यक्ष संसर्ग से यह अनुभव हुआ है। सन् १८५७ के सशस्त्र क्रांति-युद्ध जैसा प्रचंड विद्रोह फिर से हिंदुस्थान में न हो, राष्ट्र की राज्यक्रांति की इच्छा भी मर जाए और राज्य-सुधार रूपी आटा-मिले पानी को ही वे दूध मानकर पीते रहें, इस प्रकार पूरे स्पष्ट हेतु से ह्यूम, कॉटन आदि अंग्रेजों ने स्वयं गवर्नर जनरल की कूटनीति के अधीन राष्ट्रीय सभा की स्थापना की।

अर्थात् उस अवधि की सारी राजनीति खुली थी, स्पष्ट थी। सन् १८५७ के बाद गुप्त राजनीति और सशस्त्र क्रांति या विद्रोह केवल पंजाब में रामसिंह कूका के कूकाओं द्वारा और महाराष्ट्र में वासुदेव बलवंत फड़के तथा कुछ अंशों में चापेकर द्वारा ही हुआ था। इसके अतिरिक्त स्वदेश की स्वतंत्रता के लिए गुप्त राजनीति या सशस्त्र विद्रोह आदि कहीं कुछ हुआ ही नहीं। उन क्रांतिकारी वीरों की मृत्यु होते ही वह विरल और तात्कालिक आंदोलन नामशेष हो जाता, क्योंकि उन चालीस-पचास वर्षों में राष्ट्रव्यापी और निरंतर चलती राजनीति तो राज्य-सुधार चाहनेवाले राजनिष्ठ लोगों की या परराजनिष्ठ विधिक आंदोलन चलानेवाले लोगों की ही थी। उसीकी गोद से सुरेंद्रनाथ और तिलक का जन्म हुआ। इन दोनों के पूर्वार्ध अवधि वाले साहित्य से यह बात स्पष्ट हो जाती है। परंतु तिलक तो जाने-अनजाने शिवाजी की

परंपरा की घुट्टी पिए हुए थे। वह उनके रोम-रोम में अंतर्निहित थी। अत: जैसे-जैसे उनकी नीति प्रस्फुटित होती गई, वैसे-वैसे उस प्रथम पीढ़ी की राजनीति तथा तिलक की राजनीति का ध्येय और नीति भिन्न होते चले गए। उनका संघर्ष प्रारंभ हो गया। 'मित्र मेला' के या 'अभिनव भारत' के उदय के समय यह संघर्ष शिखर पर था। तिलक की प्रकट राजनीतिक भाषा यद्यपि पिछली पीढ़ी की ही थी, फिर भी उन (तिलक) की आत्मा शिवाजी के वंश की थी। वे मन से अंग्रेजों के 'राजनिष्ठ' कभी नहीं थे। उन्होंने अंग्रेजों के राजा को मन से कभी भी 'न: विष्णु: पृथिवीपति:' नहीं माना था। अंग्रेजी राज से कुछ लाभ हुए, परंतु उससे प्राणघातक हानियाँ ही अधिक हुईं, ऐसा तो वे खुले तौर पर ही कहते थे। ह्यूम आदि राष्ट्रीय महासभावाले अंग्रेजों को वे हिंदुस्थान का हितैषी अवश्य मानते थे और अंग्रेज अपने वचनों तथा घोषणाओं का पालन करेंगे, ऐसा भी उन्हें कुछ लगता था। पहले तो सदा ही वे जोर-जोर से यह कहते और लिखते भी थे, परंतु इसीलिए अंग्रेजी राज को वे चाहते थे, ऐसा बिलकुल नहीं था। यदि उस दिन भी किसी शिवाजी का राज्यारोहण होता तो वे बताशे बाँटते। न्यायालय में मृत्यु तक प्रतिज्ञापूर्वक वे कहते थे—'मैं सम्राट् का एक राजनिष्ठ प्रजाजन हूँ।' पर वह मन से हमेशा राजद्रोही ही थे और इसीमें उनका तिलकत्व था।

'अभिनव भारत' के उदय तक तिलक और सुरेंद्रनाथ की दूसरी पीढ़ी की प्रत्यक्ष राजनीति उस विधिक सीमा तक प्रतिबद्ध थी। तब तक 'सुधार' ही सबका ध्येय था। स्वराज (Home Rule) कहना भी कठिन था। यह स्वयं तिलक ही कहा करते थे। साधन भी निवेदन-आवेदन ही थे, पर पहले की अपेक्षा अधिक कड़ी भाषा में लिखे हुए। तिलक-समर्थक निषेध और विधिक प्रतिकार के साधन का भी उपयोग बीच-बीच में कर लेते थे। इस कारण पहली पीढ़ी के मोतीलाल घोष, अय्यर आदि लोग भी उनसे आ मिले। इसी प्रकार तिलक पक्ष भी अधिकतर होम-रूल आंदोलन में जा मिला।

परंतु 'अभिनव भारत' संस्था के उदय तक राजनिष्ठा, अंग्रेजों के उपकार, अंग्रेजों के वचन, रानी की घोषणा अर्थात् मैग्नाकार्टा और हिंदुस्थान के ब्रिटिश सम्राट् के लिए अति पूजनीय भाव और एकांत राजनिष्ठा आदि शब्दों की भाषा की चौखट में बैठ सकें, उतने प्रमाण में 'सुधार'—यही भारतीय राजनीति के प्रमुख नेताओं का ध्येय था, और इस कारण सामान्य जनता भी उसी तोता-रटंत को देशाभिमान की तथा राष्ट्रीय बुद्धि की परमावधि मानती थी। उस समय की राजनीति की यथोचित कल्पना हेतु एक प्रत्यक्ष उदाहरण के रूप में राष्ट्रीय महासभा का एक प्रस्ताव यहाँ देना पर्याप्त होगा। सन् १८९९ में लखनऊ में आयोजित पंद्रहवीं राष्ट्रीय·

महासभा की बैठक में बंगाल के प्रसिद्ध देशभक्त श्री रमेशचंद्र दत्त की अध्यक्षता में राष्ट्रीय महासभा के मुख्य भाग का जो प्रस्ताव पारित हुआ, उसमें 'स्थानीय विधि मंडल में हर जिले का एक-एक लोक-नियुक्त सदस्य लिया जाना चाहिए, विधि मंडल की कार्यवाही के दिन निश्चित हों, प्रस्ताव रखने का अधिकार दिया जाए और हर प्रदेश का एक-एक कार्यकारी मंडल होना चाहिए'—ये माँगें की गई थीं। अर्थात् जिस समय और कोई कुछ भी नहीं कर रहा था, उस समय इन देशभक्तों ने इतना किया। ये भी उनके उपकार ही हैं। उनके हिसाब से उनका वह साहस ही था और इसके लिए उनके वंशज कृतज्ञ ही रहेंगे। परंतु उस समय की परिस्थिति भिन्न थी। जनता की राजनीतिक आकांक्षा कितनी अल्प और संकुचित थी, यह भी उस प्रस्ताव और इन आंदोलनों से व्यक्त होता है। राष्ट्रीय महासभा के नीचे प्रांतीय सभा थी।

उस समय बंबई प्रांत परिषद्, जिसमें स्वयं तिलक पक्ष उपस्थित रहता था, की बैठक सन् १९०० में सतारा में हुई। उसमें लॉर्ड सैंड्हर्स्ट आदि अत्याचारी गवर्नर का निषेध करनेवाले प्रस्ताव में तिलक को सरकार द्वारा हाई कोर्ट में राजद्रोही घोषित किए जाने पर उन्हें निर्दोष कहना भी प्रांत परिषद् को शोभा नहीं देता था। किंतु वाच्छा, मेथा आदि प्रमुखतम नेताओं का आक्षेप आने पर वह उल्लेख हटाया गया। इतना करने के बाद भी सैंड्हर्स्ट के निषेध का प्रस्ताव परिषद् के सामने नहीं आ सका। स्वयं तिलक भी निरुपाय हो गए। वाच्छा, चंदावरकर, मेहता आदि राष्ट्रीय महासभा के नेता लॉर्ड हैरिस, लॉर्ड सैंड्हर्स्ट आदि कष्टदायी गवर्नरों की मूर्तियाँ खड़ी करने के प्रयास करते रहे। पुणे के साहसी लोगों द्वारा उसका कड़ा विरोध करने के बाद भी चापेकर को फाँसी देनेवाले और लोकमान्य को दंडित करनेवाले उस क्रूर गवर्नर सैंड्हर्स्ट की मूर्ति हजारों-लाखों रुपयों का चंदा उगाहकर खड़ी की गई। सारे हिंदुस्थान में विक्टोरिया की स्तुति के रद्दी गीत गाए जाते रहे। बड़े-बड़े राष्ट्रीय उत्सवों (जैसे—गणपति उत्सव) में भी—'देवीश्री विक्टोरिया सार्वभौमिनी' आदि का स्तोत्र पाठ किया जाता। 'होमरूल' शब्द राजद्रोही होने से उसका उच्चार करना संभव नहीं था। ऐसा स्वयं लोकमान्य ही कहते थे।

लाला लाजपत राय तब तिलक की राजनीति की ओर झुकने लगे थे। अरविंद घोष, विपिनचंद्र पाल आदि के नाम तब भी नहीं थे। गांधीजी तो 'गॉड सेव द किंग' प्रार्थना, निरुपाय होकर नहीं, धन्य होकर गाते थे। हिंदुस्थान की राजनीति के आकाश में जब मध्य रात्रि का ऐसा घना अंधकार छाया था, तब उसमें 'अभिनव भारत' का वह तेजपुंज अकस्मात् उदित हुआ। समय से पूर्व ही अरुणोदय होने जैसी बात हो गई। लोग भी डरे। हर जिले का एक-एक प्रतिनिधि विधानसभा में होना चाहिए और लोक-प्रतिनिधियों को विधानसभा में प्रस्ताव रखने का अधिकार होना

चाहिए, यह राष्ट्रीय महासभा की बड़ी-से-बड़ी माँग थी। वैसी मध्य रत्रि म विधानसभा में बहुसंख्य लोग निर्वाचित होने चाहिए, स्थानीय स्वराज, होमरूल की माँग, कॉलोनी के स्वराज की माँग इन सब अगले घंटों के बजने से पूर्व ही, अकस्मात् पूर्ण स्वतंत्रता के ध्येय का यह प्रकट घोष सोई हुई जनता के लिए यदि समयपूर्व अरुणोदय जैसा उत्पाद लगने लगे तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं था। पूर्ण स्वतंत्रता को प्राप्त करने के लिए सशस्त्र क्रांतियुद्ध ही अपरिहार्य साधन है, ऐसा जोर देकर कहनेवाले तथा उसके लिए शत्रु के और स्वयं अपने प्राण खुले रूप में दाँव पर लगानेवाले ये मुट्ठी भर युवा ही 'वे सिरफिरे थे'। बुद्धिमान और सयानी जनता को यदि ऐसा नहीं लगता तो 'गुलामी गुलामों की बुद्धि को ही जड़ कर देती है या अपौरुष पौरुष लगता है,'—यह सिद्धांत झूठा हो जाता तो आश्चर्य ही होता।

राजद्रोही! भयानक!! विद्रोही!!! कहकर राज्यसत्ता गुरगुराने लगी। 'सिरफिरे', 'मूर्ख' आदि कहकर सयाने तिरस्कार करने लगे। 'अनिष्ट', 'अकाली', 'आत्मघाती' कहकर हितचिंतक भी गले से पकड़कर पीछे खींचने लगे, पर हमें होश नहीं था, हम मदहोश थे। हमपर तो कोई देवी आई हुई थी, हमें तो शब्द सुनाई दे रहे थे शिवाजी के, कृष्ण के, मैजिनी के, गैरीबाल्डी के, उस भूतकाल के और धन्य! धन्य! कहकर स्वागत करनेवाले उस अजात भविष्यकाल के। उस काल की निशा में और उस भविष्यकाल के जागरण में हम पगला गए थे। तब भी हमें अपना भविष्य ज्ञात था। हमारी संस्था के सदस्य गोविंद कवि ने इस विषय पर एक कविता लिखी थी, जिसे तत्कालीन परिस्थिति के जीवंत साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—

अरे बाप रे! क्या जप रहे हो?
क्या पागल हो गए हो?
सिपाही बाबा पकड़ ले जाएगा
और मार लगाएगा!

इस प्रश्न का उत्तर 'अभिनव भारत' के या जिसे इस संदर्भ में पागलखाने का (रोगी) ही कहें, उत्तर देता है—

पागल? हाँ सचमुच पागल!
कंस कंदन, रघुनंदन के समान मैं हूँ
पागल हूँ मैं स्वतंत्रता का, दास्यमोचन का
भाइयो, आओ पकड़ो मुझे
रे म्लेच्छ पामर, बधिर में साचा

मुझे स्वदेश रिपु का रक्त चाहिए
वही अमृत है मेरे लिए
तभी मैं बच सकूँगा
स्वतंत्रता के बंदीगृह में चलो, ले चलो मुझे
पर भारत-भू पर लहराए ध्वज भगवा।

परंतु हम जिस स्वातंत्र्य लक्ष्मी के पूजक हैं, वह किस रूप में हमपर कृपा कर रही है? जिस स्वतंत्रता के हम दीवाने हो गए हैं, वह क्या केवल रक्तपिपासु, आततायी, आसुरी राष्ट्रीय स्वतंत्रता है? नहीं, बिलकुल नहीं। 'अभिनव भारत' की स्पष्ट धारणा थी कि देशाभिमान का अतिरेक देशाभिमान के अभाव जितना ही अनैतिक दुर्गुण है। हिंसा और अहिंसा, सत्य और असत्य, व्यक्ति, राष्ट्र और मानवता की मर्यादा कौन सी है, इस विषय पर प्रति सप्ताह आयोजित होनेवाली 'मित्र मेला' की बैठकों में गहन चर्चा होती रही थी। व्यावहारिक नीति की अति उच्च कसौटी उपयुक्ततावाद को माना जाता है! उपयुक्ततावाद अर्थात् अधिकाधिक मनुष्यों का हित जिसके द्वारा संपन्न हो, वह सद्‌गुण। इस उपयुक्ततावाद का ज्ञान मुझे जब से हुआ और मैंने स्वीकार किया, तब से अपने उपर्युक्त सारे द्वंद्व उस उपयुक्ततावाद की कसौटी पर कसकर उसके हितकारक स्वरूप की मर्यादा स्पष्ट करनेवाले कई व्याख्यान 'मित्र मेला' में उस अवधि में मैंने दिए थे। हममें धार्मिक एवं वेदांतिक प्रवृत्ति के कई सदस्य थे। गुप्त संस्था, शस्त्र-युद्ध आदि शब्दों में पाप की दुर्गंध आती है—ऐसी स्पष्ट शंका उन्होंने कई बार की थी। इसके अतिरिक्त राजनीतिक ही नहीं, ऐहिक क्रियाकलाप भी व्यर्थ हैं। परमेश्वर का अधिष्ठान, दैवी कृपा, जप-तप आदि साधनों से प्राप्त कर पारमार्थिक मुक्ति प्राप्त करना, यही एकमेव साध्य और साधन है, ऐसी चर्चाएँ हमारी बैठकों में पुंडलीक, बाबा (मेरे भाई), म्हसकर आदि ईश्वरप्रेमी लोग अनेक बार करते। इस कारण उनका समाधान करने के लिए उस पारमार्थिक और इस ऐहिक आंदोलन का, साधनों का और ध्येय का समन्वय करने के लिए बार-बार 'धर्म', 'मुक्ति', 'हिंसा' आदि तत्त्व-ज्ञान का डटकर ऊहापोह अपने उस समय के ज्ञान के अनुसार मैं किया करता।

उस अवधि के अपने कुछ निश्चित सूत्र यहाँ देने से संस्था की मेरी मतानुवर्ती नीति-कल्पनाओं का बहुत-कुछ आकलन सहज ही हो जाएगा। गुप्तता और सत्य का समन्वय करते हुए मैं हमेशा कहता कि मनुष्य जाति का हित इन्हीं सारे सद्‌गुणों के समर्थन का एकमेव सूत्र है। अर्थात् जिस सत्य से कुल मिलाकर मानव का हित होता है, वही सत्य है, वही सद्‌गुण है, वही धर्म है। परंतु जिस सत्य के कारण

चोर छूट जाता है और साधु फाँसी पर चढ़ाया जाता है, वह सत्य, असत्य है, ऐसा सत्य सद्‌गुण नहीं, दुर्गुण है। वैसे ही रात में जिसे चोरों ने पकड़ा, उसे मुक्त करने के लिए, किंचित् भी विचार न करते हुए, सौ झूठ भी कहे जाने चाहिए। 'धारणात् धर्ममित्याहु: धर्मों धारयति प्रजा:', श्रीकृष्ण की यह नीति सच्ची नीति है। शेष सबकुछ वाग्जाल। अर्थात् जब-जब अन्यायी, दुष्ट शक्ति सत्य पक्ष की बोलती बंद करे, उसकी वाक् स्वतंत्रता ही लूट ले, प्रकट सदाचरण को भी अपराध माना जाए, तब-तब उन शक्तियों का नाश करने के लिए न्याय की सेना को संगठित करने का कार्य आवश्यक हो, तो गुप्तता से भी संचालित करना धर्म-कर्तव्य ही हो जाता है।

श्रीकृष्ण गोकुल में गुप्त रूप से ही बड़े हुए। उनका पालन वहाँ गोकुल में किया जा रहा है, यह समाचार यदि कोई नंद या वासुदेव 'सत्य' का पालन करने के लिए समय से पूर्व ही कंस को जाकर कह देता, तो उसका वह सत्य अक्षम्य अधर्म होता, क्योंकि ऐसे सत्य से मानवता की अपूरणीय क्षति होती। अत: गुप्तता ही उस समय की यथार्थ नीति थी, सच्चा धर्म था। दिल्ली से भागे शिवाजी इस पिटारे में हैं, इस रास्ते गए हैं, ऐसा औरंगजेब को सूचित करनेवाले की जीभ काट डालना धर्म था। महाराष्ट्र के सूर्याजी पिसाल जितने विश्वासघाती देशद्रोही माने जाते हैं, क्या वे वैसे ही सत्यवादी नहीं थे? गुप्तता दुर्गण भी नहीं, सद्‌गुण भी नहीं। उसका उपयोग लोकहितार्थ किया जा रहा है या लोकविरुद्ध, इसपर ही उसका सद्‌गुणत्व या दुर्गुणत्व निश्चित किया जाता है। गर्भाधान अधिकतर गुप्त होता है, लेकिन क्या वह उस कारण पाप माना जाता है? वही बात शस्त्रयुद्ध की है। रावण या कंस के हाथ की जो तलवार पापी, रक्तपिपासु, अधर्मी मानी जाती है, वही राम या कृष्ण के हाथों में यज्ञाग्नि की ज्वाला की तरह निर्मल, पावन-पावक मानी जाती है। वही स्थिति देशाभिमान की है। अपने जो न्याय अधिकार हैं, जिन अधिकारों के कारण अधिक-से-अधिक मनुष्यों का हित साधा जा सकता है, उन राष्ट्रीय अधिकारों के रक्षण और विकास के लिए जो प्रयास करता है, संघर्ष करता है, वही देशाभिमान सद्‌गुण माना जाएगा, परंतु स्वदेश की राक्षसी पिपासा के अधीन होकर जो अन्य देशों के न्यायपूर्ण अस्तित्व या अधिकार का अतिक्रमण करता है, मानव को पीड़ित करता है, या ऐसा देशाभिमान जो अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए दूसरों के घर उजाड़ता है, वह आततायी है। इसीलिए वह अधर्म और दंडनीय हो जाता है।

राष्ट्र सदैव नागरिकों के हितार्थ होता है, होना चाहिए। यह सिद्धांत हम हमेशा ही प्रस्तुत करते रहे। अंग्रेजों के अंग्रेज होने के कारण हमने उनसे कभी द्वेष नहीं किया और करने भी नहीं दिया। इंग्लैंड जब तक हिंदुस्थान पर आततायी

आक्रमण कर रहा है, तब तक ही वह हमारा शत्रु है। यदि वह आततायीपन छोड़ दे तो वह हमारा मित्र हो जाएगा। इसका कारण यह है कि मानव मात्र एक हैं, हम सारे भाई-भाई हैं। इतना ही नहीं, यदि इंग्लैंड की न्यायपूर्ण स्वतंत्रता को कोई दूसरा आततायी राष्ट्र अन्याय और अनीति से नष्ट या तहस-नहस करना चाहे तो हम इंग्लैंड की मुक्ति के लिए भी ऐसे ही लड़ेंगे-भिड़ेंगे। हमारी अनेक बार प्रकट की गई प्रतिज्ञा होती थी—हमारी सच्ची जाति मानव, मनुष्य है; सच्चा धर्म मानवता, मानव धर्म। वास्तविक देश पृथ्वी, सच्चा राजा ईश्वर। ऐसी सारी हमारी अति उदात्त भावनाएँ हैं। बिलकुल इन्हीं शंब्दों और भावना से हम तब से उसका घोष करते रहे हैं। अर्थात् जिस स्वतंत्रता के लिए हम संघर्षरत थे, उसका स्वरूप भी ऐसा ही व्यापक था।

आज की परिस्थिति में हिंदुस्थान में अन्य सब तरह की स्वतंत्रता, मुक्ति, यहाँ तक कि व्यक्ति की पारमार्थिक मुक्ति भी राजनीतिक स्वतंत्रता के बिना बौनी, सीमित और कुंठित है। इसलिए वह राजनीतिक स्वतंत्रता ही हमारा वर्तमान काल का ध्येय, लक्ष्य, धर्म, पारलौकिक साधना है। आत्मिक उन्नति राजनीतिक दासता में कैसे बँधी रहती है और धर्म के लिए भी आज राजनीतिक स्वतंत्रता क्यों आवश्यक है, यह तो मुझे बार-बार सिद्ध करके दिखाना पड़ता था। शिवाजी के गुरु रामदास के कथन 'तीर्थक्षेत्रे भ्रष्टली' (तीर्थक्षेत्र भ्रष्ट हुए) जैसे वचनों को लेकर कितनी बार मुझे प्रवचन करने पड़े। बल के बिना विचार, शक्ति के बिना न्याय, प्रयत्न के बिना भाग्य, भौतिकता के बिना आत्मिकता, ऐहिकता के बिना पारमार्थिकता पंगु है, अपूर्ण है आदि का विवेचन करना पड़ता। ऐसा विवेचन प्रस्तुत करते हुए ही 'अभिनव भारत' संस्था का तत्कालीन निकटतम ध्येय अर्थात् राष्ट्रीय स्वतंत्रता किस तरह व्यक्ति एवं राष्ट्र के पारमार्थिक ध्येय के लिए, मुक्ति के लिए विसंवादी नहीं, सुसंवादी है, यह विस्तार से कहना पड़ता था। इस तरह राष्ट्र की राजनीतिक स्वतंत्रता को मुक्ति से जोड़ते हुए पहली स्वतंत्रता के पूर्ण विकास का अर्थ ही दूसरी स्वतंत्रता 'मुक्ति' होता है। यह तत्त्व हमारे बीच के ईश्वरप्रेमी सदस्यों को समझाना पड़ता था, क्योंकि तभी राष्ट्रीय आंदोलन को पाप-कर्म समझकर उसे छोड़ व्यक्तिगत मुक्ति के मार्ग का अनुसरण करने की चाहत रखनेवाले हमारे वे सदस्य इस राष्ट्रीय, लोक-कल्याणकारी राज्यक्रांति के अभिमानी और अनुयायी हो सकते थे। इसके लिए गुरु रामदास ने शिवाजी को जिस 'दासबोध' ग्रंथ के माध्यम से समझाया था, वह एक स्मृतिग्रंथ की तरह काम आता।

उस समय अनेक साधु और संत, रामायणी और प्रवचनकार, गुसाईं और वैरागी जब-तब यही कहते थे कि यह राजनीतिक झंझट व्यर्थ है, ईश्वर की कृपा

हो जाए, बस! ऐसा वे उपदेश देते थे। तब भारत की राजनीतिक स्वतंत्रता ही उस ईश्वरीय कृपा को प्राप्त करने का इस युग का साधन है, स्वराज के बिना स्वधर्म पंगु है, यह हम उपर्युक्त क्रम से बार-बार सिद्ध करते रहे। 'अभिनव भारत' संस्था का आदि ध्येय, राजनीतिक स्वतंत्रता की प्राप्ति का अर्थ इतना उदात्त था। व्यक्ति, राष्ट्र और मानव-मात्र के ऐहिक एवं पारलौकिक कर्तव्यों का समन्वय एवं संपूर्णता अर्थात् स्वतंत्रता। हमारी स्वतंत्रता अन्य किसी भी तामसी, संकुचित अर्थ के लिए न होकर उपर्युक्त व्यापक भाव के प्रति ही समर्पित थी, यह मेरे द्वारा उन तीन-चार वर्षों में कभी रचित मेरे स्वतंत्रता-स्तोत्र की निम्नलिखित पंक्तियों से भी सिद्ध होता है—

जयोस्तुते श्री महन्मंगले! शिवास्पदे! शुभदे॥
स्वतंत्रते भगवति त्वामहं यशोयुतां वंदे॥ १॥
राष्ट्राचे चैतन्य मूर्त तूं। नीति-संपदांची॥
स्वतंत्रते भगवति, श्रीमती राज्ञी तूं साची॥ २॥
जे-जे उत्तम, उदात्त, उन्नत, महा, मधुर ते ते॥
स्वतंत्रते भगवति, सर्व तव सहचारी असते॥ ३॥
मोक्ष, मुक्ति ही तुझीच रूपे तुलाचि वेदांती॥
स्वतंत्रते भगवति, योगिजन परब्रह्म वदती॥ ४॥
हे अधम रक्तरंजिते। सुजनपूजिते! श्री स्वतंत्रते!
तुजसाठी मरण ते जनन॥
तुजवीण जनन ते मरण॥
तुज सकल चराचर शरण॥
भरतभूमिला दृढालिंगना, कधि देशिल वरदे॥
स्वतंत्रते भगवति त्वामहं यशोयुतां वंदे॥ ५॥

(अर्थ—जयोस्तुते श्री महन्मंगले! शिवास्पदे! शुभदे॥
स्वतंत्रते भगवति, त्वामहं यशोयुतां वन्दे॥ १॥
राष्ट्र की चेतना मूर्त तुम। नीति-संपदा की
स्वतंत्रते भगवति, श्रीमती राज्ञी तुम सच की॥ २॥
जो भी उन्नत, उदात्त, उत्तम, महन्मधुर वह सब
स्वतंत्रते भगवति, तुम्हारे सहचारी वह सब॥ ३॥
मोक्ष, मुक्ति हैं रूप तुम्हारे, तुम्हें ही वेदवेत्ता
स्वतंत्रते भगवति, योगिजन परब्रह्म कहलाते॥ ४॥

हे अधमरक्तरंजिते ! सुजनपूजिते ! श्रीस्वतंत्रते !
तुम्हारे लिए मरण, है जनन ॥
तुम्हारे बिना जनन, है मरण ॥
सब चराचर तुम्हारे शरण ॥
भरतभूमि का दृढ़ आलिंगन कब करोगी वरदे ॥
स्वतंत्रते भगवति त्वामहं यशोयुतां वन्दे ॥)

अंग्रेजों सहित संपूर्ण मनुष्य मात्र के कल्याण के लिए, मनुष्यता के परम विकास के लिए ही हमें स्वतंत्रता की आवश्यकता थी। मनुष्य की भौतिक उन्नति ही नहीं अपितु मानसिक, नैतिक और आत्मिक उन्नति भी राजनीतिक परतंत्रता से रुक जाती है। इसलिए भारत को राजनीतिक स्वतंत्रता चाहिए थी। तीस करोड़ आदमियों की मानवता का विकास अवरुद्ध करनेवाली भारत की राजनीतिक परतंत्रता के मानव जाति के ही अध:पतन का कारण बन जाने की प्रबल आशंका होने से उसका उच्छेद, शिरच्छेद करने को हम अपना राजनीतिक कर्तव्य ही नहीं, धार्मिक कर्तव्य भी मानते थे। जैसे रावण का शिरच्छेद राम ने कर्तव्य माना, कंस का शिरच्छेद कृष्ण ने कर्तव्य माना, वैसे ही अंग्रेजों के शिरच्छेद को हम भी कर्तव्य मानते थे। प्राचीन अवतारों की तरह ही 'परित्राणाय साधूनाम् विनाशायच दुष्कृताम् धर्म संस्थापनार्थाय', यह 'अभिनव भारत' के रूप में ईश्वर ने नया अवतार धारण किया है, ऐसी ही हमारी निष्ठा थी और वह ऐसे ही वचनों से, युक्तिवाद से, शास्त्र के आधार से और वैसे ही तत्त्व प्रवचनों से, हम अनेक अवसरों और अनेक प्रकार से एकदम प्रारंभ से ही प्रकट करते आए थे।

स्वातंत्र्य लक्ष्मी की जय!

सन् १८५७ के क्रांतियुद्ध के बाद फिर से पूरे भारत में प्रथमत: संघटित कर जिस स्वातंत्र्य लक्ष्मी की हमने प्रकट रूप से जय-जयकार की, उसी स्वतंत्रता का जो रूप हमारे सम्मुख प्रकट हुआ, वह रूप देवी का, दैवी संपत्ति का, दैवी शक्ति का था। हम उस स्वतंत्रता देवी के पूजक थे। वह कोई जड़, कंजूस, जेबकतरे, गलकटे, डॉलर का या 'ड्रेड नॉट' का भुतहा रूप नहीं था। हमारे इस ध्येय के अनुरूप और इस युग की भारतीय आकांक्षा को जो अचूक अभिव्यक्ति दे सके, ऐसे अभिनव भारत की 'जय' शब्द को समाहित कर एक गर्जना 'स्वातंत्र्य लक्ष्मी की जय' हमने हर समारोह और अवसर पर करनी प्रारंभ की।

पूर्व में वर्णित भारत के राजनीतिक जीवन की मध्य रात्रि के घुप्प अँधेरे में जब वह पहली बार वातावरण में गूँजी, तब 'स्वातंत्र्य लक्ष्मी की जय' की ध्वनि से

उस अवधि के अपने को बड़ा माननेवाले नेता भी कंपित हो गए। उन्होंने हमारे इस तरह के सिरफिरेपन के लिए, उनके अहंकारी शब्दों में कहूँ, तो हमारे कान ऐंठने के प्रयास किए, पर अंत में 'काल' ने, युग-शक्ति ने उनके ही कान ऐंठे। किसीकी कुछ भी बात न सुनते हुए हम 'स्वातंत्र्य लक्ष्मी की जय' के मंत्र का जयघोष करते हुए वातावरण गुंजायमान करते रहे। हमारे पत्रों, पुस्तकों और लेखों पर 'स्वातंत्र्य लक्ष्मी की जय' का ध्येय-वाक्य लिखा रहता था। हम 'स्वातंत्र्य लक्ष्मी की जय' का नाद निनादते हुए ही अंत में कारावास गए, अंधेरी कोठरियों में बंद हुए, अंडमान में सड़े, फाँसी चढ़े—परंतु वह सब बहुत बाद में हुआ।

आज वह मंत्र—स्वातंत्र्य लक्ष्मी की जय—पूरे भारत में गूँज रहा है। परंतु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि यह मंत्र नितांत पहली बार, नासिक की उस तिलभांडेश्वर गली की उस गुफा जैसी सीलन-भरी कोठरी में, उस 'अभिनव भारत' की गुप्त मढ़ी में पहली बार हुआ था। वह भारतीय स्वतंत्रता का प्रकट और सुस्पष्ट जयघोष, रणघोष का गर्जन, प्राथमिक गर्जन था। उस समय की परिस्थिति में 'स्वातंत्र्य लक्ष्मी की जय' का जो घोष हमने किया, उसके पूर्व भारत में कहीं भी और किसीने भी जाना-सुना नहीं था। मुझसे भी पूर्व भारत में, अपनी राष्ट्र-माता की स्वतंत्रता के ध्येय का ऐसा व्यापक उदार और महान् ध्वज किसीने फहराया है, यदि ऐसा आगे-पीछे किसी इतिहास से सिद्ध हुआ तो अन्य किसीकी तुलना में मुझे ही अधिक आनंद होगा। मैं स्वयं को धन्य मानूँगा। मेरी मातृभूमि के पैरों में पड़ी शृंखला तोड़ने के लिए प्राणों को हथेली पर लेकर जीवन दाँव पर लगानेवाले वीर पुरुष हमसे भी पहले उत्पन्न हुए थे, यह जानकर हमारी वीरप्रसूता भारत माता और अधिक गौरवान्वित होगी। उसकी इस गोद में जन्म पाने की धन्यता का अधिक उपभोग हम कर सकेंगे।

इन अर्थों में और इस कारण से स्वतंत्रता, पूर्ण राजनीतिक स्वतंत्रता ही 'अभिनव भारत' का सुनिश्चित और सुस्पष्ट ध्येय था, अर्थात् उसका अंतिम साधन था।

सशस्त्र क्रांति-युद्ध

जिस राष्ट्र को किसी भी आततायी और केवल शस्त्रबल के आधार पर सत्ता चलानेवाले मदांध शत्रु के चंगुल से छुटकारा पाना हो, उसे इस जीवन-संघर्ष की धक्का-मुक्की में जो टिकेगा, वह जीवित रहेगा—ऐसे निर्घृण नियम से चलनेवाली सृष्टि में, शस्त्रबल से चलनेवाली उस आसुरी परसत्ता को दैवी शस्त्रबल से ही हतवीर्य किए बिना, उस आसुरी परसत्ता का शस्त्र छीनकर तोड़ डालने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं रहता। परंतु यदि वैसा सशस्त्र क्रांति-युद्ध लड़ना उस राष्ट्र की

शक्ति से परे हो, तो उसे राजनीतिक स्वतंत्रता की प्राप्ति असंभव होगी। वह रास्ता उस राष्ट्र को छोड़ देना पड़ेगा। बहुत निष्ठुर सिद्धांत है यह? हाँ! यह ऐसा ही है—अपरिहार्यता है यह। विश्व ऐसा ही है। ठंडा-गरम, रात-दिन, पानी जैसी पृथ्वी, पृथ्वी जैसा पानी ये 'वदतो व्याघात' लागू करना जैसे मानव-शक्ति के बाहर का है, वैसे ही जीवन के संघर्ष का सृष्टिक्रम बंद कर देना उसके हाथ में नहीं है। जीना है तो जीने के क्रम को स्वीकार करके ही जीना होगा। उसका सामना करते ही जीना होगा, अन्यथा उसकी बलि चढ़ जाना होगा, मरना होगा।

विश्व का ज्ञात इतिहास छान-छानकर हम थक गए। देवासुरों, इंद्र-वृत्रासुरों, रावण आदि की वैदिक कथाओं से लेकर प्राचीन ईरान, ग्रीस, रोम, अरब, अमेरिका, इंग्लैंड, चीन, जापान, स्पेनिश मूर, तुर्क, ग्रीस, फ्रांस, जर्मनी, ऑस्ट्रिया, इटली आदि के ताजे-से-ताजे इतिहास तक, सारी राज्यक्रांतियों के और राष्ट्र-स्वतंत्रता के इतिहास तक मानवी राजनीति के अधिकतम इतिहास ग्रंथों के पारायण मैंने स्वयं किए हैं और उसपर सैकड़ों व्याख्यान भी दिए हैं। हिंदुस्थान के कुछ प्राचीन और राजपूत, बुंदेल, सिख, मराठा आदि अर्वाचीन इतिहास का पन्ना-पन्ना मैंने छान मारा है, और उस सबसे एक ही निष्कर्ष निकलता देखा है कि 'धर्म के लिए मरना चाहिए', किंतु इतना ही कहने से कार्य पूरा नहीं होता, अपितु गुरु रामदास की जो उक्ति है—'मरते-मरते भी आततायी को मारो' और 'मारते-मारते अपना राज्य प्राप्त करो'—उसे स्वीकार करना ही स्वतंत्रता की प्राप्ति का भयंकर, परंतु अपरिहार्य साधन है, यशस्वी राजनीति का अनन्य साधन है, जिसे हमारे गोविंद कवि ने कहा, वही। अर्थात् सशस्त्र 'रण के बिना स्वतंत्रता किसे मिली', यही हमारा पक्का निश्चय हुआ। यह निश्चय कोई तामसी अंधेपन या उतावली में नहीं किया गया था। यह किस आधार पर किया गया, इसे मेरा ही एक पद स्पष्ट करता है—

कि न लिया यह व्रत हमने अंधता से,
लब्ध प्रकाश इतिहास-प्रकृति अनुसार।

इतिहास-प्रकृति अर्थात् मनुष्य-स्वभाव और सृष्टिक्रम से अर्थात् तर्कशास्त्र से अर्थात् ऐतिहासिक स्वाभाविक और युक्त-अयुक्त का विचारकर पूर्ण निश्चय हो जाने के बाद इस अपरिहार्य दिव्य दाहक में हम अपने प्राणार्पण करने के लिए आगे बढ़े हैं—

कि न लिया यह व्रत हमने अंधता से
लब्ध प्रकाश इतिहास-प्रकृति अनुसार।

उस दिव्य दाहक से परिचित हमने
बुद्धिपूर्वक यह सती-व्रत लिया था॥
बुद्धिपूर्वक! नितांत बुद्धिपूर्वक विचार करके।

शौक से नहीं, निरुपाय होकर। क्योंकि जिस सशस्त्र क्रांति-युद्ध को एक साधन के रूप में हम स्वीकार करनेवाले थे, उसका केवल उच्चार भी हमारे प्राण संकट में डालता था, डालनेवाला था। तो फिर उसपर आचरण करने की बात तो निराली ही थी। यह हम पूर्णता से, उसी समय, बल्कि और पहले से ही जानते थे। हम छोटे थे, बच्चे थे, पर तब भी हमारी आँखों के सामने ही चापेकर और रानडे को फाँसी हुई थी। फाँसी पर चढ़ने के पहले उन्हें मारा-पीटा भी गया था। उनके द्वारा चलाई गई केवल दो-तीन गोलियों के कारण पूरा महाराष्ट्र किस तरह सिल-लोढ़े के बीच पीसा गया था, भय से भौंचक होकर काँप रहा था, यह हमने प्रत्यक्ष देखा था और इसमें छल थोड़ा-सा भी नहीं था। यदि कल हम पूरे देश को एक क्रांति-युद्ध में बदलते तो उस छल-बल का लाख गुना अधिक उग्र, बहुरूपियापन देखते। तब प्राणघात, गोलीबारी, कत्लेआम हर दिन के खेल होते। लाखों माताएँ पुत्रहीन होतीं, लाखों बालक अनाथ होते, घर-घर में चूड़ियाँ फूटतीं, नगर-के-नगर उजाड़ होते और उस सबके पूर्व हमारी और हमारे परिवार की राख ही बचती। यह सब हम, कम-से-कम मैं तो जानता ही था।

हम जिस सशस्त्र क्रांति-युद्ध के रास्ते पर कदम बढ़ाने की बात कर रहे हैं, उसके परिणाम दुर्धर, रक्तरंजित और हिंस्र हैं, इसकी पूर्ण कल्पना अपने सहयोगियों को रहे—इसलिए मैं नीदरलैंड, आयरलैंड, इटली आदि देशों में हुए भयानक डंडाशाही और क्रांतिकारियों पर किए गए राक्षसी अत्याचारों के वर्णन स्वतंत्र रूप से व्याख्यानों या लेखन के माध्यम से स्पष्ट रूप से करता था। तुम्हें तिलक की तरह केवल कारावास में बंद नहीं किया जाएगा। तुम्हारी पिटाई निर्दयतापूर्वक की जाएगी। तुम्हें यातनाएँ दी जाएँगी। भूखा तड़पाया जाएगा। माता-पिता और पत्नी-बच्चों को खींचकर तुम्हारे सामने अपमानित किया जाएगा। उनकी लज्जा उतारी जाएगी। तुम अपने देहदंड तो सहने योग्य कठोर हो, पर तुम्हारे निरपराध संबंधियों पर किए जानेवाले दारुण अत्याचारों से तुम्हारे मन के धीरज का बुर्ज ढहने पर रोते हुए अपने षड्यंत्र की जानकारी तुम स्वयं ही दे दो, यह उनकी चाल होगी। उस वीर बंदा वैरागी के सामने उसके सलोने बालक को मारकर उसका कलेजा उसी वीर बंदा के मुँह में जैसे ठूँसा गया, वैसा तुम्हारे साथ भी होगा। गरम सँडसी से तुम्हारी आँखें निकाल लेने के बाद भी तुम झुके नहीं तो तुम्हारी आत्मा, तुम्हारे हृदय, तुम्हारे

प्रिय-से-प्रिय संबंधी की देह लाल सँडसी से नोची जाएगी, ताकि तुम हतबल हो जाओ। फाँसी से अधिक असह्य दैहिक और मानसिक अत्याचारों से तुम्हें झुकाया जाएगा। इतिहास में जैसे अत्याचार हिंदू और प्रोटेस्टेंट धर्मवीरों ने सहे, वैसे क्या तुम सहन कर सकोगे? तुम अपने देश की स्वतंत्रता के लिए, मनुष्य जाति के हित के लिए नए युग के धर्मवीर, राष्ट्रवीर बन सकोगे क्या? यह सती-व्रत इतना अधिक उग्र है, दाहक है, इसे धारण कर सती की तरह जीवित जलती चिता पर चढ़ने का साहस तुममें है या नहीं? यदि है तो यह सब जानकर ही इस क्रांतिकारी रास्ते पर आगे बढ़ने का प्रयास करना। पिछले इतिहास में क्रांतिकारियों पर किए गए अत्याचारों के वर्णन के भीषण चित्र सामने रखकर मैं अपने सहयोगियों से पूछता था। गलती से नहीं, अज्ञान से नहीं, पूर्ण विचार कर अर्थात् उस समय की अपनी भाषा में मैं उनसे कहता—

उस दिव्य दाहक से परिचित हमने
बुद्धिपूर्वक यह सती-व्रत लिया था॥

तीस करोड़ लोगों के इस महान् राष्ट्र को मरने से बचाने के लिए, राष्ट्रीय परतंत्रता के इस महारोग को नष्ट करने के लिए, स्वयं पर और राष्ट्र पर अपरिहार्य शस्त्र-क्रिया करवाकर गुलामी के रोगाणुओं और रोग-ग्रंथी को काटकर निकाल फेंकना केवल आपद्धर्म ही नहीं, अपितु नीति की दृष्टि से भी अति पवित्र कर्तव्य है। अपरिमित हिंसा टालने के लिए, दुष्टों की उत्पत्ति रोकनेवाली किंचित् हिंसा ही वास्तविक अहिंसा है, यह बात मन में समा गई थी। इसलिए हमने सशस्त्र क्रांति का बीड़ा उठाया। फिर भी यह भूलना न होगा कि यदि किसी जादूगर के छू-मंतर से हिंदुस्थान को स्वतंत्र करके अंग्रेज अपने-आप निकल जाने के लिए राजी हो जाएँ तो किसीसे भी अधिक खुशी हमें हुई होती। जिस राष्ट्रप्रेम के कारण हम स्वयं पर यह अघोर आपत्ति ओढ़ लेने के लिए तैयार थे, वह मातृभूमि का और अपना रक्त छलकाने की हमें कोई हौंस नहीं थी। जीवन और तरुणाई के मोहक सुख भोगने की लालसा हममें भी थी। सरल देशभक्ति का ढोंग और अपने जीवन को संकट में न डालते हुए प्राप्त होनेवाला बड़प्पन हम भी प्राप्त कर सकते थे। वह तो उस काल की रीति ही थी। उसीकी तरह देशभक्ति की सीढ़ियाँ चढ़ने, हाईकोर्ट की जजी अथवा लोक-नेतृत्व के उच्चासन का सुख भोगना हमारे लिए तो बहुत ही सरल था। पर देशभक्ति की सीढ़ियों से फाँसी पर चढ़ गए पुणे के चापेकर का और झाँसी की रानी का अति उग्र जो मार्ग हमने स्वीकार किया था, वह किसी शौक के कारण संभव ही नहीं था।

इसलिए उदारवादियों के आवेदन-निवेदन या उग्रवादियों के निषेध, विधिगत प्रयासों या स्वदेशी, बहिष्कार, करबंदी आदि शांतिपूर्ण या निःशस्त्र प्रतिकार से या अन्य किसी उपाय से 'यदि' स्वतंत्रता मिल सकती हो, तो हमें वह चाहिए थी। परंतु वह 'यदि' असंभव है, ऐसी हमारी निश्चित धारणा थी। फिर भी इन सब निःशस्त्र रास्तों से उस अंतिम शस्त्र-क्रांति के यज्ञ के लिए आवश्यक सिद्धता और क्षमता राष्ट्र में उत्पन्न करना आवश्यक था। यह हम जानते थे कि उस सीढ़ी से चढ़ते-चढ़ते मनुष्य अंतिम सीढ़ी भी चढ़ सकता है। इसीलिए हमारे कार्यक्रम में उन सब उपायों का और साधनों का भी समावेश प्राथमिक पाठशालाओं की तरह ही किया जाता था। सामाजिक, औद्योगिक, शैक्षणिक, साहित्यिक, राजनीतिक निवेदन, निषेध, विधिगत बाधा और निःशस्त्र प्रतिकार आदि सभी प्रकार के आंदोलन निर्धारित विशिष्ट कक्षा, परिस्थिति और मात्रा में हमें चाहिए थे। परंतु वे अंतिम सशस्त्र क्रांति के कार्यक्रम में सहयोगी होने की संभावना के अनुपात में चाहिए थे। अधिक क्या कहें, सरकारी नौकरियाँ भी उसी दृष्टि से विशिष्ट शर्तों पर हमारे लिए उपयोगी थीं। इतना ही नहीं, इस बहाने हर सरकारी विभाग में अपने व्यक्ति घुसाने की हमारी योजना थी। इस कारण हम राष्ट्रीय सभा या अन्य अवसरों पर दरिद्र लगनेवाली उदारवादियों की इस माँग के समर्थक थे कि 'वरिष्ठ अधिकारी पदों पर भारतीय नियुक्त किए जाएँ।' सारांश यह कि 'अभिनव भारत' का अंतिम उद्देश्य यद्यपि पूर्ण राजनीतिक स्वतंत्रता ही था परंतु इस बीच प्राप्त होनेवाला हर सुधार और अधिकार जाते-जाते जेब में डालने के पक्षधर हम थे। उसी तरह अंतिम साधन सशस्त्र क्रांति होते हुए भी जिस मात्रा में और जिस परिस्थिति में अन्य कोई भी साधन उस उद्देश्य की प्राप्ति के अनुकूल हो, वह सब साधन भी उपयोग में लाने के लिए हम तैयार थे।

सशस्त्र क्रांति के बिना स्वतंत्रता मिलना संभव नहीं है, यह निश्चित हो जाने के बाद पहला प्रश्न उपस्थित होता था—ठीक है, बात एकदम सही है, परंतु वह सशस्त्र क्रांति इस निःशस्त्र, निर्वीर्य, असंगठित राष्ट्र के लिए कैसे संभव है? 'अभिनव भारत' का कथन था—'हाँ, यह संभव है।' भारत में ईश्वर की कृपा से अभी भी, ऐसी हतबलता और अंग्रेजों जैसे परम बलशाली सशस्त्र शत्रु से सशस्त्र क्रांति-युद्ध लड़ना संभव है। यह है तो अति कठिन, परंतु संभव है। जय? हाँ, मिलेगी। कम-से-कम ऐसे जीने से ऐसे क्रांति-युद्ध में यह राष्ट्र यदि मर भी जाए तो मारते-मारते मरना इस मरते-मरते मरने से कहीं अधिक अच्छा है। फिर 'यदि मरणमवश्यमेव जंतोः किमिति मुधा मलिनः यशः कुरुध्वे?'

यह महान् हिंदू जाति इस धर्मयुद्ध में यदि विजयी नहीं हुई, तो भी कम-से-

कम किसी झाँसी की रानी की तरह—

अभिमुख शस्त्राघाती समरमखा माजी वेचिला काय!
स्वतंत्र कवण मजहून आता कर्तव्य राहिले काय?

(अर्थ—अभिमुख शस्त्राघात पर,
समर यज्ञ में समर्पित देह है,
स्वतंत्र कौन मुझसे अब,
कर्तव्य शेष भी क्या है?)

गर्जना करते हुए गतप्राण होकर अपने आज तक के अस्तित्व को शोभित करे, ऐसे महान् अंत को प्राप्त किए बिना न रहेगी।

मानवता की दृष्टि से भी आततायी के मन में डर बैठे, ऐसा प्रतिशोध लेते हुए मरना हितकर होता है। इससे आतताइयों की संख्या घटती है। दूसरे किसी अनामिक को तंग करने की उसकी इच्छा ऐसे प्रतिशोध के डर से सहज संभव नहीं हो पाती। परंतु ग्रहणीय व स्पृहणीय वीरगति प्राप्त करना जिस माध्यम से अभी भी संभव है, उस सशस्त्र क्रांति की वह कौन सी योजना है? 'अभिनव भारत' अपने प्रथम दो वर्ष के अंत में उल्लिखित वृत्तांत की अवधि में भी यही कहता रहा कि जो योजना मैजिनी ने इटली के क्रांतियुद्ध के लिए बनाई, जो आयरलैंड और रूस के क्रांतिकारी उसी परिस्थिति में अपनी क्रांति में उपयोग में लाए थे और सन् १८५७ के क्रांतियुद्ध में भारत उपयोग में लाया था, उस योजना के अधीन छापामार युद्धनीति का सशस्त्र विद्रोह भारत में भी संभव है। उससे विजय-प्राप्ति की भी पर्याप्त संभावनाएँ हैं। सेना और पुलिस में क्रांति का प्रसार और गुप्त क्रांतिकारियों की भरती, रूस आदि परराष्ट्रों से मेल, छापामार युद्ध-पद्धति को स्वीकार करना, अंग्रेजी सत्ता के केंद्र और प्रतिनिधियों पर व्यक्तिगत छापे आते-जाते डालना, राज्यों और सीमापार प्रदेशों में शस्त्र-अस्त्र के भंडार बनाना तथा अंदर घुसने के अवसर की प्रतीक्षा करना, बीच-बीच में यथासंभव छोटे-बड़े विद्रोह करना और इन सबकी सहायता से देश में क्रांति की शिक्षा देना, मरने की घुट्टी, मरने की क्षमता चेताना और इस तरह शत्रु के राजकाज को अधिकाधिक जोखिम-भरा और कठिन करते जाना। अंत में किसी महायुद्ध में अंग्रेजी साम्राज्य की किसी प्रचंड शक्ति से टक्कर होते ही और उसमें अंग्रेजों का बल परस्पर बिद्ध और क्षीण हो जाने पर भारत में भी पूरे जोश का क्रांति-युद्ध चलाकर मुक्त होना, फँस जाने पर पुनः वैसा ही विद्रोह चलाना, मरने तक ऐसे ही मारते-मारते लड़ना, यही हमारी उस अवधि की सशस्त्र विद्रोह की रूपरेखा थी। अंग्रेजों के दस-पाँच आदमी मारते ही वे भाग जाएँगे, ऐसा

दुधमुँहा विचार हमने कभी नहीं किया था। परंतु हमारी निष्ठा थी कि तीस करोड़ जनसंख्या वाला यह राष्ट्र—इसके सब लोग संघर्ष में कभी सम्मिलित नहीं हुए, वे होंगे भी नहीं। फिर भी यदि दो लाख वीर भी ऐसे छापामार युद्ध के संगठन में अखंड, अदम्य, अविश्रांत, वृकयुद्ध लड़ते रहेंगे तो भी अपनी राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त कर ही लेंगे। इसमें या ऐसी योजना में ही वह संभावना थी, पर उस सशस्त्र क्रांति-युद्ध को 'बचपना' कहकर पागलपन में धकेल कर जो वयस्क सयाने केवल आवेदन, निवेदन, निषेध, केवल स्वदेशी, समाज-सुधार या निःशस्त्र प्रतिकार के रास्ते से स्वतंत्रता मिलेगी, उनकी उस योजना से तो भारत का स्वतंत्र होना कहीं से भी संभव नहीं था!!!

इन कारणों से हमने इस क्रांति-युद्ध के लिए कमर कसी है। किस शक्ति के भरोसे? केवल हमारी नहीं, अपितु राष्ट्र की! पहले के जिन दो वर्षों का यह समालोचन है, उस अवधि में हम थे केवल सौ-पचास लड़के, किंतु उतने चाकू भी उनके पास नहीं थे; और महासमर लड़ना था महाबली अंग्रेजी सत्ता से! वृत्रासुर का वध करना है और हमारे हाथ में है एक माचिस की तीली! कितना हास्यास्पद! निःसंशय हास्यास्पद!! यह बात अन्य कोई कहे, उसके पहले ही अधिक स्पष्टता से हम जानते थे, पर हम यह भी जानते थे कि हमारी यह संस्था एक यत्किंचित् तीली है, परंतु वह तीली माचिस की है। इतिहास में ऐसी किसी सामान्य तीली ने कभी-कभी किसी बारूद के भंडार पर अपनी अचूक चिनगारी डाल, बारूद को उड़ाकर साम्राज्य को राख के ढेर में बदल दिया था। वैसे ही माचिस की यह तुच्छ तीली एक क्षण में स्वयं जलते-जलते अपनी अंतिम चिनगारी अचूकता से उस बारूद के भंडार पर यदि डाल सके तो उसकी सूक्ष्म चिनगारी के बल से नहीं, अपितु बारूद के उस प्रचंड भंडार के प्रबल विस्फोट से आततायी शत्रु का यह साम्राज्य भी धूल में क्यों नहीं मिल सकता! और वह भी तब, जब उस बारूद के भंडार में इकत्तीस करोड़ का राष्ट्र असंतोष के भयानक विस्फोटक से खचाखच भरा हो, तो प्रयोग करके देखने में क्या हानि है? इस विचार से यह जानते हुए भी कि हमारी शक्ति बहुत कम है, उस बारूद के भंडार को भस्म करने के लिए हमने अपनी प्राण-शक्ति की चिनगारी को फेंकने का निश्चय किया।

उसमें कितनी सफलता मिली? ऐसा प्रश्न काल पर लागू नहीं होता। यह निश्चय हम कर सके, इतना ही उन पहले दो वर्षों का कार्य, युद्ध के पहले की मानसिक योजना, यही युद्ध की प्रथम सिद्धता, पहला शस्त्र, जो रणगीत, जो रणमंत्र का 'हरिओम' करता है, उस एक शब्द का उच्चारण करता है, केवल वही एक बोल एक रणकृत्य होता है।

उस रणगीत की रचना हमने की। बिना लड़े स्वतंत्रता किसे मिली है? यह प्रबल प्रश्न, यह साहसी सिद्धांत प्रकट रूप से हमने राष्ट्र के सामने प्रस्तुत किया, उद्घोषित किया। यह भी एक सद्कृत्य ही था। 'अभिनव भारत' नामक उस संस्था ने उक्त अवधि में या उसके बाद भी और दूसरा-तीसरा कुछ भी नहीं किया होता तो भी इस एक ही कृत्य से उसके अस्तित्व की सार्थकता हो गई होती। उसका अस्तित्व अनन्य महत्त्व पा गया होता। किसी भी प्रबुद्ध क्रिया का आरंभ उसके प्रबुद्ध संकल्प में ही निहित होता है। इसलिए 'अभिनव भारत' के कार्यक्रम को मैंने पहले से ही मन-प्रवर्तन और शरीर-प्रवर्तन, राष्ट्र की मानसिक क्रांति और फिर वास्तविक क्रांति, प्रबुद्ध संकल्प और फिर प्रबल क्रिया, मत-प्रचार और कृति-प्रचार ऐसे अनुक्रम से विभाजित किया था। पहले तीन वर्ष राष्ट्र में इस संपूर्ण राजनीतिक स्वतंत्रता के साधनों के विचार का प्रचार करना और सशस्त्र क्रांति-युद्ध के साधनों के विचार का प्रचार करना, राष्ट्र की मानसिक क्रांति करना आदि कार्यों में अपनी अल्प-स्वल्प शक्ति यथासंभव इसीमें व्यय करने की बात हमने निश्चित की। उन पहले दो वर्षों में हम जो कुछ कर सके, वह इसी दिशा में कर सके। अन्य राजनीतिक आंदोलनों की दिशा ही चूक जाने से परसत्ता के बालुकामय कीचड़ में गप जाने के संकट में पड़ी राष्ट्र की नौका सही दिशा में ले जाने के लिए 'अभिनव भारत' का अचूक दिशाबोधक यंत्र हमने साध रखा था। निष्क्रिय दिशाबोधक यंत्र का कर्तृत्व नौका को चलाए रखना किसी भी क्रिया से कम नहीं होता। कभी-कभी तो जीवन के नौका-दल की सारी क्रिया का सफल या विफल होना केवल दिशाबोधक यंत्र के करतब पर ही अवलंबित रहता है, जैसे अमेरिका खोजने के लिए निकले कोलंबस के साहसी नौका अभियान की नौका एक दिन महासागर में दिङ्मूढ़ हो गई थी।

यह 'अभिनव भारत' के प्रारंभिक दो वर्षों के क्रांतिकारी आंदोलन की रूपरेखा थी। इस संस्था को छोड़कर स्वतंत्रता के दिव्य ध्येय और सशस्त्र क्रांति के दाहक साधनों का इस तरह प्रकट, निरंतर एवं संगठित प्रचार करनेवाली दूसरी कोई छोटी या बड़ी संस्था पूरे हिंदुस्थान में शायद ही कोई हो, संभवतः नहीं थी। उस कमी की भरपाई करते हुए उस समय देश में राजनीति के दो पंथ काम कर रहे थे—उदार (Moderate) और राष्ट्रीय उग्रवादी (Nationalist Extremists)। इन दो पंथों की संस्थाओं में जो सक्रिय कार्य चलते थे, वे भी 'मित्र मेला' ने अपने क्षेत्र में चला रखे थे। कम-से-कम उस अवधि की किसी भी संस्था के समतुल्य कार्य इस संस्था ने मात्र दो वर्षों में किया था। उनके आंदोलनों में भी वह सक्रिय भागीदारी कर रही थी। उसमें भी लोकमान्य तिलक का राष्ट्रीय पंथ उसके अधिक निकट था।

अत: उनके कार्यक्रमों के सारे कार्य 'मित्र मेला' अपने क्षेत्र में अधिक उत्साह से करता था। यह बात स्पष्ट करने के लिए इस खंड में 'मित्र मेला' के ऐसे क्रियाकलापों का जो फुटकर विवरण दिया गया है, उसका यहाँ संक्षिप्त वर्गीकरण आवश्यक है। 'मित्र मेला' के उन पहले दो-तीन वर्षों के प्रत्यक्ष कार्यक्रम में निम्नलिखित क्रियाकलाप भी समाविष्ट थे—

१. **वक्तृत्वो-उत्तेजक सभा**—'मित्र मेला' में वक्तृत्व-कला की शास्त्रीय शिक्षा और प्रायोगिक अनुभव उत्तम रीति से मिलता था। 'अभिनव भारत' शैली के व्याख्यानों की एक नई परंपरा महाराष्ट्र में प्रसिद्ध हुई। बड़े-बड़े धुरंधर व्याख्याताओं की छवि भी मलिन करनेवाले तरुण व्याख्याता 'मित्र मेला' में उदित हुए।

२. **साहित्य संस्था**—निबंध-शक्ति, काव्य-शक्ति और तर्क-शक्ति का भी विकास इस संस्था के द्वारा उत्कृष्टता से होने लगा। मराठी कविता में अत्यंत स्फूर्तिदायक गीतों और सुंदर काव्यों की बढ़ोतरी इस संस्था ने की। तर्कशुद्धता, कोटिक्रम, प्रावीण्य एवं वाद-कौशल में 'मित्र मेला' में तैयार हुए युवक को हतप्रभ करनेवाला युवा मिलना कठिन था। इस संस्था से अनेक वक्ताओं की तरह अनेक प्रसिद्ध लेखक और कवि भी बने। हर कला का शिक्षण और अनुभव इस संस्था की साप्ताहिक बैठकों से निरंतर मिलता था। संभाषण-शक्ति विकसित होती थी। मराठी वक्तृत्व की तरह मराठी भाषा में 'मित्र मेला' पद्धति की काव्यमय, तेजस्वी, प्रदीप्त और प्रबल एक ऐसी नई भाषा-शैली का उदय हुआ, जिसके सामने उस समय की अन्य शैलियाँ निस्तेज लगने लगीं। उपनिषद् और वेदांत, कालिदास और भवभूति, ज्ञानदेव और तुकाराम, वामन और मोरो पंत आदि के ग्रंथों तथा विषयों का अध्ययन और चर्चा इस संस्था में होते रहे। इस कारण उसके सभी तरुण और प्रौढ़ सदस्य अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार साहित्य के रसिक और काव्य-शास्त्र-विनोद के मर्मज्ञ थे।

३. **राष्ट्रीय शिक्षा संस्था**—राष्ट्रीय शिक्षा के क्षेत्र में 'अभिनव भारत' का कार्य उस समय की किसी भी संस्था से अधिक व्यापक, तेजस्वी, परिपक्व और परिणामकारी था। वास्तव में उस जैसी तेजस्वी और राष्ट्रीय शिक्षा देनेवाली दूसरी एक भी संस्था उस अवधि में सुनने में नहीं आई। पृथ्वी गोल है, दो दूने चार, भोजन चबा-चबाकर करना चाहिए, टेम्स नदी इंग्लैंड में है आदि गणित, ज्योतिष, वैदिक, भौगोलिक

आदि ज्ञान छात्रों को सरकारी शाला और राष्ट्रीय शाला क्या समान रूप से ही देंगी? राष्ट्रीय शाला में कोई दो दूने पाँच और पृथ्वी सपाट है, ऐसा नहीं सिखाता। राष्ट्रीय शाला का वैशिष्ट्य यही है कि वह अपने राष्ट्र के भूतकालीन इतिहास का यथार्थ महत्त्व, अपने राष्ट्र पर छाए वर्तमान संकटों की और आवश्यकताओं की तीव्र तथा स्पष्ट अनुभूति और उस संकट से उसे छुड़ाकर उज्ज्वल भविष्य की ओर ले जाने के लिए जी-जान लगाकर संघर्ष करने की आतुरता, सिद्धता और त्याग राष्ट्रीय युवाओं में उत्पन्न करे। केवल राष्ट्रीय नाम लगाकर स्थापित किसी भी प्रचलित विद्यालय या संस्था में ऐसी राष्ट्रीय शिक्षा 'अभिनव भारत' की भाँति नहीं मिलती थी। इतना ही नहीं, उस काल में उसका मिलना संभव भी नहीं था।

सशस्त्र क्रांति के बिना वह स्वतंत्रता अंग्रेजों की जकड़ से छूटना कभी भी संभव नहीं है, इसलिए उस सशस्त्र क्रांति-युद्ध में कम-से-कम तुम अपना कर्तव्य तो करो, अपने हिस्से का कम-से-कम एक शत्रु तो मारकर जाओ। फिर कोई वैसा करे या न करे, सफल हो या न हो, देश माता को मुक्त करने के लिए, कम-से-कम उसका प्रतिशोध लेने के लिए तू यदि अकेला भी लड़ मरा, एक शत्रु की भी बलि लेकर दास्य शृंखला की एक कड़ी भी तोड़ी, तो समझो कि तूने अपना कर्तव्य पूर्ण किया। ऐसे अत्यंत उग्र त्याग की शिक्षा खुलेपन से 'अभिनव भारत' नामक इस राष्ट्रीय शाला की साप्ताहिक एवं दैनिक बैठकों में दी जाती थी। यही शिक्षा हजारों लोगों की भरी सभाओं में वक्तृत्व की सुइयों से उनकी नसों में घुसा कर दी जाती थी। इस दृष्टि से अनेक देशों के इतिहास पर इस संस्था में चर्चा होती थी, उसका विवेचन होता था। इस कारण इतिहास शास्त्र में 'अभिनव भारत' के सदस्य बड़े-बड़े पदवीधारी इतिहासविदों से भी सहज हारते नहीं थे। देशभक्ति और त्याग की शक्ति उनमें विकसित होती थी। फिर भी वह देशभक्ति तामसी नहीं थी, क्योंकि मानव के, मानवता के अधिकाधिक हित को जो पोषित करे, वही सच्ची राष्ट्रभक्ति; द्वेष के लिए नहीं, मानव के प्रेम के लिए, हित के लिए यह तलवार हमने पकड़ी है। जिस तरह डॉक्टर अपना औजार काम में लाता है, उसी तरह इस संस्था में इस सूत्र, नीति, धर्म का उपदेश निरंतर होता था।

४. **स्वदेशी, व्यायाम, सामाजिक सुधार**—जिससे देश की चौमुखी उन्नति

हो सके, ऐसा कार्यक्रम हमने अपने सदस्यों के सामने रखा था। इसके अंतर्गत व्यक्तिगत और सैनिक व्यायाम की रुचि तथा अभ्यास तरुणों में फैलाने के लिए संस्था ने यथासंभव प्रयास किए। स्वदेशी का व्रत, स्वदेशी की औद्योगिक उन्नति का स्तवन हर सदस्य का निरपवाद कर्तव्य माना जाता था। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बिना राष्ट्र की अन्य किसी भी दिशा से वास्तविक उन्नति होना कठिन है। लोकमान्य तिलक का यह कथन कि यथासंभव औद्योगिक एवं सामाजिक सुधार राजनीतिक प्रगति के लिए उपयोगी है, हर तरह से सच मानते हुए भी, आगरकर इत्यादि के इस तरह के विचार को भी हम मान्य करते थे। राजनीति में तिलक और चिपळूणकर हमारे गुरु थे। सामाजिक कार्यों में रानडे और आगरकर हमारे गुरु थे। इन दोनों के विचारों का यथासंभव तालमेल रखना हमारी नीति थी। इसलिए उस अवधि में राष्ट्र की प्रगति के रास्ते में आनेवाली रूढ़ियों को दूर करना भी हमारा लक्ष्य था। हम विधवा-विवाह, वेदोक्त स्वातंत्र्य, स्त्री-शिक्षा, छुआछूत की समाप्ति, विदेश गमन की स्वतंत्रता, धार्मिक आडंबरों का खात्मा आदि सुधारों के सक्रिय पक्षपाती थे। इन और ऐसी ही अन्य अंधरूढ़ियों को तोड़ने के विषय पर संस्था में अनेक बार जोरदार चर्चाएँ होती थीं और उन चर्चाओं का परिणाम सुधार के अनुकूल ही होता था।

५. **राष्ट्रीय उत्सव, सभा-सम्मेलन**—लोकमान्य तिलक ने राष्ट्र में राजनीतिक चेतना और पौरुष का संचार करने के लिए 'शिवाजी उत्सव', 'गणपति उत्सव' इत्यादि जो राष्ट्रीय उत्सव आरंभ किए थे, उनका भी भरपूर प्रचार-प्रसार हमने अपने कार्यक्षेत्र में किया। इतना ही नहीं, बंबई तथा पुणे की तुलना में उन्हें अधिक तेजस्वी स्वरूप भी प्रदान किया। उसी तरह अंग्रेजी अत्याचार, अन्याय और अन्य प्रतिबंधों से देश में जब-जब असंतोष फैला, तब-तब उसके फुटकर विरोध में जो सभाएँ, निवेदन-सम्मेलन उदार या राष्ट्रीय महासभा की ओर से आयोजित होते, उस समय उनके उन आंदोलनों का प्रवाह हम तत्काल अपने उस अवधि के कार्यक्षेत्र में भी खींच ले आते। नासिक में और नासिक की प्रतिध्वनि जहाँ तक हो सकती थी, वहाँ तक राजनीतिक असंतोष की आग पुणे और बंबई से भी अधिक तीव्रतर भड़काते रहते थे। इसका कारण यह था कि उस आग को केवल माई-बाप सरकार के अधिकारियों के उस विशिष्ट और फुटकर अत्याचार के विरोध की सीमा में या

हिंदुस्थान की अंग्रेजी कूटनीति के विरोध तक ही सीमित न रखकर हम सीधे अंग्रेजी सत्ता के विरुद्ध ही असंतोष बढ़ाते थे।

ऐसी हर सभा या सम्मेलन के अंत में अधिकारियों की टीका के प्रायश्चित्त रूप में जो 'गॉड सेव द किंग' का जयघोष हुआ करता था, उसके स्थान पर 'किंग-बिंग' को एक तरफ फेंककर हम केवल 'स्वातंत्र्य लक्ष्मी की जय' की गर्जना करते थे। सारांश यह कि उस समय के राजनीतिक क्षेत्र में जो अलग-अलग राजनीतिक संस्थाएँ कार्य कर रही थीं, उनके कार्यक्रम के और विशेषत: लोकमान्य तिलक के उस अवधि में सबसे आगे रहनेवाले राष्ट्रीय पक्ष के कार्यक्रमों में से अधिकतर कार्य 'मित्र मेला' अपनी क्षमता के अनुरूप अपने क्षेत्र में चलाता था। उस अवधि की किसी भी दूसरी संस्था के समान ही हमारी संस्था भी सक्रिय थी और उन कार्यक्रमों की कमी को पूर्ण रूप से जानते हुए उन सब आंदोलनों से आगे बढ़कर, जिसके बिना राष्ट्र की वास्तविक प्रगति होना कभी भी संभव न हो, उस संपूर्ण राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए सशस्त्र विद्रोह का झंडा हमने उठाया। हमारे असीम साहस के कारण हमारी संस्था के हर कार्य और शब्दों से जनता में अपूर्व खलबली थी।

कुल सौ-पचास लड़के ही तब उस संस्था के उस समय सैनिक थे। उनका असीम साहस और देश माता के स्वातंत्र्य के लिए समर्पित उनके प्राण, ये दो ही शस्त्र उनके हाथ में थे और उनका कार्यक्षेत्र अधिक-से-अधिक एक जिले तक विस्तृत था। परंतु उसने संपूर्ण राजनीतिक स्वतंत्रता का जो महामंत्र मुखरित किया और उस ध्येय की प्राप्ति के लिए सशस्त्र क्रांति की जिस भीषण साधना की योजना चलाई, उसके विस्फोट के साथ ही एक महान् क्रांति-प्रलय से तीस करोड़ जनता का राष्ट्र-उदय हो जाना था, एक आसुरी शक्ति का साम्राज्य पलटकर गिर जाना था।

□

खंड-२

परिशिष्ट-१

मेरी भाभी की स्मृतियाँ

इस आत्मवृत्त के खंड-१ में मेरे संबंध में मेरी भाभी द्वारा लिखी गई कुछ स्मृतियाँ दी जा चुकी हैं। मुझे काले पानी का दंड होने के बाद फिर इस संसार में लौटकर मेरे आने की संभावना नहीं रह गई थी। ऐसे समय में दु:ख से विह्वल उसका वत्सल अंत:करण कुछ हलका हो और आगे-पीछे जब कभी मेरा चरित्र लिखा जाए, तब प्रत्यक्ष देखी हुई मुझसे संबंधित कुछ जानकारी उपलब्ध रहे, इसलिए मेरी भाभी सौ. येसूमाई ने ये स्मृतियाँ अपने हाथ से लिखीं। उन्होंने उन्हें अधूरा ही रख छोड़ा था। उस समय मेरा चित्र भी पुलिस उठा ले जाती थी। इस स्थिति में मेरा जीवन-चरित्र प्रकाशित करने की तो बात भी करना कठिन था। फिर भी उनकी वे निजी स्मृतियाँ मेरे इष्ट मित्रों ने भाभी की मृत्यु के बाद भी यत्नपूर्वक गुप्त रूप से रखीं। उनमें से मेरे नासिक का भाग नमूने के रूप में यहाँ दिया जा रहा है। मेरी स्मृतियों से अधिक मेरी उस वत्सल भाभी की स्मृति का रूप होने से वे मुझे अधिक संस्मरणीय और संग्रहणीय लगी हैं। कारण यह कि उसने भी किसी वीरांगना की तरह ही अमित धैर्य से उस राष्ट्रीय संकट का सामना किया था और अपने हिस्से में आए असह्य कष्ट सहन करते हुए उसी कार्य के लिए मृत्यु का वरण किया था। उसीकी भाषा में लिखा यह वृत्त अविकल रूप में यहाँ उद्धृत है—

हम और दातार (परिवार) इकट्ठे ही रहा करते थे। उनके अन्य संबंधी जब उनके साथ रहने आए, तब दोनों (परिवारों) की सुविधा के लिए दोनों के विचार से हम दातार के मकान की दूसरी मंजिल पर उस समय से अलग रहने लगे। इसी समय चिपळूणकर की विवाह-योग्य येसू हमारे यहाँ रहने के लिए आई। उसकी-मेरी

बचपन से ही पहचान और संबंध होने के कारण वह हमारे यहाँ आठ-दस दिन खुलेपन से रह गई। परंतु मामा का विचार है कि उसका विवाह तात्या के साथ किया जाए, इसका ज्ञान हमें बिलकुल नहीं था। बाद में जब यह बात खुली, तब तात्या ने मामा से कहा, 'मैं विवाह नहीं करूँगा, क्योंकि मुझे अभी आगे पढ़ना है।' फिर मामा बहुत 'दादा-बाबा' करने लगे। फिर 'ये' बोले, 'यदि वे शिक्षा का व्यय देने की हामी भरें तो पक्का करवा दो।' बात पक्की हो गई। कक्षा सात की परीक्षा थी, कोई कुछ भी कहे, पर उन्हें बड़ी नजर लगी। मियादी बुखार ने उन्हें आ घेरा। विवाह और परीक्षा—दोनों का समय एक ही साथ।

होली में विवाह हुआ। विवाह में तात्या घोड़े पर बैठे तो इतने सुंदर लग रहे थे कि क्या कहूँ। उनपर 'वर छटा' बहुत अच्छी आ गई थी। वह लंबा-लंबा अँगरखा। वह टेढ़ी-मेढ़ी पगड़ी, पर तात्या थे ही सुंदर। उन्हें वह सब खूब फब रहा था। बड़ी हौंस से उन्होंने सारे खेल (विवाह के समय महिलाओं के बीच) खेले। अपनी पत्नी का नाम कविता छंद में पिरो-पिरोकर लोगों को सुनाया। और सब बहिनी (भाभी को) को देखने दो, उसे सुनने दो, बहिनी मैं नाम ले रहा हूँ, 'तुम सुन रही हो ना', ऐसा मेरा सम्मान हर बार करते थे। विवाह के दिन ही तात्या की मित्रता भाऊ से हो गई। वह ऐसी बढ़ती गई कि क्या कहूँ। ऐसे एक-दूसरे के प्रेमी और एक-दूसरे के लिए प्राण न्योछावर करनेवाले मित्र हमने कहीं देखे ही नहीं। तात्या को मैं 'भाऊजी' (देवर के लिए महाराष्ट्र में भाऊजी कहा जाता है) कहती तो भाऊ (तात्या के मित्र) कहते, वह भाऊ तो मैं तात्या, मुझे तात्या कहा करो, नहीं तो मैं सुनूँगा ही नहीं। इसलिए मैं उन्हें 'तात्या' कहती। वे मुझसे यही पूछा करते, 'कुछ लिखा या नहीं, कुछ पढ़ा या नहीं?' किस तरह लिखना है, यह वे बताते और दोपहर में मेरे भोजन के समय साथ होते, समाचारपत्र लाकर पढ़कर मुझे सुनाते।

हम त्र्यंबक गए थे। त्र्यंबक छोटा-सा गाँव। वहाँ के आदमी भी सुस्त, परंतु उनमें भी तात्या की मधुर और रस-भरी वाणी से आनंद, उत्साह और तेजी जागी। महिलाओं, पुरुषों तथा लड़कों को तात्या के बिना चैन नहीं पड़ता था। हमेशा दस-बीस आदमी उनको घेरे रहते। मेरे मायके में, घर में, मेरी माँ आदि सब कहते—येसू के देवर का स्वभाव कितना मधुर है! किसीपर चिल्लाता नहीं, कितना साहसी है! हम सब सहेलियाँ, माँ, नानी उन्हें बैठा लेते। उन्हें हम गीत सुनाते। ढेरों गपें लगाते। दिन ऐसे ही आनंद से बीत जाते। तात्या की ससुराल में भी बहुत सम्मान था। घर में महिला वर्ग में और बाहर पुरुष वर्ग में यही कहा जाता कि बहुत मौजी दामाद मिला। घर-बाहर सभी चाहते कि हमारे पास बैठें, हमसे बातें करें। बोली में कुछ निराली मधुरता थी ही।

गरमी के दिनों में वे रात में तरबूज ले आते और कहते, ठंडा होने के लिए चाँदनी में रख देते हैं। फिर उन्हें काटने के लिए मुझसे कहते। मैं जैसे-जैसे काटती जाती, अंदर का लाल-लाल भाग चट-चट खाते जाते। मेरे लिए नीचे का भाग रख देते और कहते, यह तुम्हारे लिए है। मैं गुस्सा हो जाती तो कहते, फिर मेरे सामने काटने क्यों बैठ जाती हो? मेरे आने के पहले ही काटकर रख देती! वैसे ही उन्हें थाली पीठ (महाराष्ट्र में प्रचलित मोटे मिश्रित अनाज का नमकीन पराँठा) बहुत पसंद था। मैं उसे चूल्हे से उतार भी नहीं पाती कि वे खा जाते। उसे मैं छिपाकर रखती तो कहते, 'अच्छा, तो तू अपने हाथ से जितना देगी, उतना ही खाऊँगा।' मैं मान जाती और निकालती। निकालते ही वे उसे किसी बहाने चट कर जाते। कोट, टोपी, कपड़े पहने हुए ही खाते, इसका उन्हें किसी तरह का परहेज नहीं था, पर घर में इनका (बाबा—बड़े भाई का) सकरे-जूठे का विचार अधिक था। एक बार तात्या घर में आए, थाली पीठ बनते देखा और बिना कपड़े उतारे ही खाने लगे। इतने में 'इनके' (बाबा के) आने की आहट सुनाई दी। तात्या तुरत थाली पीठ लेकर पड़ोसी के घर भाग गए। हमें कभी सोवला (महाराष्ट्र में भोजन या पूजा के लिए जो अलग वस्त्र पहने जाते हैं, उन्हें 'सोवला' या 'सोले' कहा जाता है) पहनकर नहीं खाने देते थे। वे कहते, प्रतिदिन धोए हुए कपड़े अधिक स्वच्छ होते हैं ('सोले' तो महीनों तक नहीं धोए जाने के कारण गंदे ही होते हैं)।

भोजन के समय तब धोती-कुरता भी नहीं पहना जाता था, परंतु तात्या इस रूढ़ि को नहीं मानते थे। एक दिन तात्या धोती-कुरता पहने ही भोजन कर रहे थे। इन्होंने (बाबा ने) देख लिया। फिर इस विषय पर खूब चर्चा हुई। तब से तात्या को छूट मिली। 'ये' स्वयं सोले में बैठकर खाते थे, परंतु तात्या का विरोध नहीं करते थे।

मुझे हर समय काम में मदद करते हुए—यह करूँ, वह करूँ—कहते। वह हर व्यक्ति का दिल इस तरह जीत लेते थे। आम का 'पना' उन्हें बड़ा पसंद था। मैं तेरी मदद करूँ, पना बनाऊँ—ऐसा कहते, पर पना बनते ही कहते, 'देखूँ कि मीठा बना या नहीं,' और एक-एक चम्मच कर-करके सारा पी जाते। फिर मैं उन्हें पना नहीं बनाने देती। हरे छोले (चने के बूट) घर में आते तो हम कितने ही छिपाकर रखें, फिर भी वे खोज ही लेते। फिर पढ़ते-लिखते एक-एक दाना छीनकर खाते जाते। हममें से कोई खाने लगता तो कहते, 'अरे, ये बंदरों का खाना क्यों खाते हो। बंदर हो क्या? इसे बहुत खाना अच्छा नहीं होता। मैं भी कल से नहीं खाऊँगा।' हम उसे जाकर रख देते, पर जाने कब वे सारे छोले खा जाते। हम देखते तो टोकरी खाली मिलती।

इस तरह सबके साथ हँसी-मजाक करते। जहाँ-तहाँ लोग खुश हो जाते। वे

केवल वाचन ही नहीं करते थे। उनके अन्य अनेक उद्योग भी चलते रहते थे। कभी कविता करते। कभी लेख लिखते। कभी व्याख्यान आप करते, और यह सब करते हुए दूसरों को भी ऐसी कविता और लेख लिखने के लिए सिखाते जाते। मुझे और मेरी सहेलियों को वे सिखाते। गीत बनाकर देते। समाचारपत्र पढ़कर अपने विचार हमें सुनाते। हमसे निबंध लिखवाते। मुझसे कम लिखवाते, क्योंकि मेरी आँखें बहुत दुर्बल थीं। फिर भी मुझसे चार-पाँच निबंध उन्होंने लिखवाए, सुधार कर दिए। प्रथम अक्षर से उन्होंने ही मुझे सिखाया। मुझे कविता करना भी सिखाते, मेरी सारी सहेलियों को भी उन्होंने सिखाया।

परिशिष्ट-२

कवि के चरित्र से उद्धृत गोविंद

श्री वैद्यभूषण वामन शास्त्री दातार का यद्यपि पहले दिन से 'मित्र मेला' से संबंध नहीं था, फिर भी पहले वर्ष से कैसा संबंध था और उस अल्प वय में संस्था के अंतिम ध्येय का मर्म समझने लायक जिज्ञासा यद्यपि उन्हें पहले नहीं थी, फिर भी वह आकलन-शक्ति जल्दी ही कैसे बढ़ी, ये सब विवरण पहले खंड में आ चुका है। 'कवि गोविंद' पुस्तक के प्रारंभ में श्री दातार शास्त्री ने गोविंद कवि के दिए हुए अल्प चरित्र में 'मित्र मेला' का जो संक्षिप्त परिचय दिया है, वह इस संस्था के इस खंड में दी हुई रूपरेखा के एक और स्वतंत्र-प्रमाणित साक्ष्य के रूप में संग्रहीत किए जाने योग्य है। अत: इस खंड का उपयुक्त अंश यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

'कवि गोविंद' के बचपन में उनके चारों ओर का परिसर अशिक्षित, अनाड़ी, ऊधमी तथा हीन वृत्ति का था। सत्रह-अठारह वर्ष के बाद नासिक आने पर भी उनमें अधिक सुधार नहीं हुआ। नगरकर की गली में रहने के लिए आने के बाद वहाँ की ब्राह्मण-बस्ती के संसर्ग का बहुत कुछ प्रभाव उनपर पड़ा। फिर भी उनकी मंडली की उत्पाती वृत्ति के कार्य चालू रहे। इस कारण गली के बड़े लोगों को उनके उत्पातों से होनेवाले कष्ट सहन करने पड़ते थे। उस समय की मंडली में श्रीपतराव बैजनाथ गोरे, बलवंतराव काशीकर, अनंतराव वैशंपायन, भाऊराव नातू, रामभाऊ दातार आदि लोग थे। दरेकर (गोविंद कवि) इन लोगों में प्रमुख थे। जिन लोगों में वे बैठते, उन्हींमें वे चमक उठते थे, यह उनका स्वभाव-सिद्ध गुण ही था। कहीं भी बाहर जाना हो तो (गोविंद पंगु थे, इसलिए किसी-न-किसीके कंधे पर बैठकर ही वे जाते) वे अपने लिए गरुड़ वाहन की माँग करते थे। भगवान् विष्णु का एक ही गरुड़ था, परंतु गोविंद कवि की प्रेमी-मंडली की बहुलता के

कारण सदा एक नया गरुड़ मिलता था। यह गरुड़ का काम बाद में बैरिस्टर बने सावरकर ने भी खुशी से किया था।

…सन् १८९८ में नासिक में प्लेग फैला। तब के कलेक्टर स्टुअर्ट के शासन में लोगों को अपार कष्ट हुए। नगर छोड़-छोड़कर लोग बाहर गए। सन् १८९९ में नगर फिर से आबाद हुआ। तब श्री गणेश दामोदर सावरकर और विनायक दामोदर सावरकर शिक्षा प्राप्त करने इसी नगरकर की गली में वर्तक के बाड़े में रहने आए। विशेषकर विनायक दामोदर सावरकर के उस गली के निवासी हो जाने के बाद से उनके समवयस्क लड़कों में महत्त्वाकांक्षा की हवा बहने लगी, यह कहना पड़ेगा। उस समय सावरकर की आयु भी उनकी बुद्धि की प्रशंसा करने योग्य छोटी ही थी। फिर भी, उनके आकर्षक चेहरे पर झलकती बुद्धिमत्ता, फुरती एवं उनके सतत उद्योगी स्वभाव का प्रभाव उनके आसपास रहनेवाले छात्रों पर पड़े बिना नहीं रहा। उन्हें कोई मत्सर से, तो कोई प्रशंसा से, कोई महत्त्वाकांक्षा से तो कोई प्रेम से देखने एवं विचार करने लगा। प्रत्येक की बुद्धि को इस कारण गति पाकर जीवंतता और नया मार्ग मिले बिना न रहा। इस सबका अप्रत्यक्ष प्रभाव रा. दरेकर पर भी हुआ।

मार्च १८९९ में हमारे पिता को प्लेग हुआ। तब रा. बाबाराव (गणेश दामोदर) सावरकर ने बड़े स्नेह-भाव से उनकी सेवा-टहल की। दातार और सावरकर परिवारों का स्नेह-संबंध इस तरह दृढ़ होता गया। इसी वर्ष भाद्रपद मास में सावरकर परिवार प्लेग की भयानक आपत्ति में फँस गया। सावरकर के पिता और छोटे भाई—दोनों प्लेग से घिर गए। प्लेग-निवारण अधिकारियों के आदेशों के कारण उन सबको श्मशान के पास के मंदिर में ठहरना पड़ा। यह समाचार नासिक में रामभाऊ दातार एवं दत्तोपंत भट को मिला। वे गए और सावरकर बंधुओं को अपने घर ले आए। छोटे भाई को अस्पताल में रखा और वहाँ उसकी सेवा करने गणेश (बाबा) भी अस्पताल में रह गए। भोजन पहुँचाने का काम विनायकराव करते। अस्पताल में म्हसकर बाबू थे। उनका सावरकर से परिचय हुआ। म्हसकर स्वार्थ-त्यागी, स्वदेश के लिए आस्था रखनेवाले एवं लोकमान्य तिलक के कट्टर अनुयायी थे। इसी परिचय के परिणामस्वरूप 'मित्र मेला' संस्था स्थापित हुई। प्रत्यक्ष 'मित्र मेला' की स्थापना नातू बंधुओं के छूटकर आने के बाद उनका सार्वजनिक अभिनंदन न होने के कारण इस विचार से हुई थी कि इन लोगों के मन में स्वतंत्रता से कार्य करने के लिए स्थान एवं अवसर चाहिए। उस संस्था में दरेकर का प्रवेश तीन-चार मास बाद हुआ होगा। ऐसी संस्था में प्रवेश करने की इच्छा होना दरेकर, सावरकर आदि मंडली के उस समय के व्यवहार के परिणामों को ही व्यक्त करता है, और दरेकर का उस संस्था में प्रवेश तो मानो उनका पुनर्जन्म ही था। चूँकि दरेकर के अंगभूत गुणों के

विकास का आरंभ इसीसे हुआ। अतः दरेकर अब स्वदेश का विचार करने लगे।

प्रारंभ में 'मित्र मेला' का कार्यक्रम इस प्रकार था—प्रति सप्ताह रविवार या शनिवार को संस्था की बैठक नियमित रूप से रात्रि में होती। इस बैठक में पहले से निश्चित विषय पर पूर्वनियोजित व्यक्तियों के भाषण होते। शेष लोग उपवक्ता के रूप में उसी विषय पर बोलते। इस प्रकार अनेक विषयों पर साधक-बाधक चर्चा होती और अलग-अलग विषयों के ज्ञान एवं तात्त्विक सत्य सिद्धांत से सभी सदस्य अवगत हो जाते। इससे उनकी व्यक्तिगत योग्यता बढ़ने में सहायता होती। संस्था की सामान्य नीति यह थी कि 'मित्र मेला' के सभी सामान्य सदस्य अपने उद्‌देश्य से समाज में व्यवहार करते हुए अपने कार्य एवं ज्ञान से लोगों में चमकें। इसके लिए इतिहास, काव्य, निबंध, तत्त्वज्ञान, धर्म आदि विविध विषयों के निश्चित ग्रंथ पढ़ने ही पड़ते। यह नियम था। वाद-विवाद में अचूक सत्य खोज लेने की कला भी सदस्य को आए, इसलिए उस (सदस्य को) वाद-विवाद में भी भाग लेना ही पड़ता। यह भी नियम था। इन नियमों के कारण हर सदस्य बहुश्रुत, सटीक और कटाक्ष निपुण हो जाता और इसी पद्धति के कारण पहले 'सामाजिक या राजनीतिक' आदि जिन प्रश्नों के भँवर में बड़े-बड़े कार्यकर्ता भी जहाँ व्यामोहग्रस्त होते थे और अभी भी होते हैं, वहाँ इस संस्था का सदस्य संशयरहित एवं स्थिरबुद्धि होता था। परिणामस्वरूप 'मित्र मेला' के सदस्य स्वदेश की स्वतंत्रता का ध्येय केंद्र में रखकर उसके अनुषंगी सब प्रकार के, सभी विषयों के आंदोलनों में पूर्णतः भाग लेने में सक्षम होते थे। वे कहीं भी डगमगाते नहीं थे, क्योंकि वे उतने ही धार्मिक, शैक्षिक, शारीरिक आदि विषयों के भक्त हो जाते थे और उस-उस विषय के भक्तों के साथ बड़ी तत्परता से कार्य करने में सक्षम होते थे। 'मित्र मेला' के कार्यक्रम का दूसरा भाग राष्ट्रवीर और धर्मवीर पुरुषों के उत्सव—जैसे—श्री शिवाजी, श्री रामदास, श्री गणेश आदि के उत्सव मनाए जाते। उसी तरह देशहित के अन्य आंदोलनों और उन्हें आयोजित करनेवाले अन्य नेताओं को यथासंभव सहायता करने का भी प्रचलन था।

इन सब कार्यक्रमों को चलाने का मुख्य उद्‌देश्य हिंदुस्थान को स्वतंत्र कराने का मार्ग प्रशस्त कराना था। स्वतंत्रता के बिना सब व्यर्थ है, यह मूल बात थी। इन सब कार्यक्रमों और ध्येय से दरेकर भी पूर्ण प्रभावित हुए। वे पूर्ण स्वतंत्रता के ध्येय के भक्त बन गए। संस्था का एक अन्य सराहनीय कार्यक्रम था जो हर तीन माह बाद आयोजित होता था। उसमें संस्था के सदस्यों का मुक्त गुण-दोष-विवेचन होता था। उसका भी लाभ रा. दरेकर ने लिया और अपने अंगभूत दोषों को परिष्कृत कर गुण-वृद्धि में वे जुटे रहे। उन्होंने अपना लेखन और वाचन सुधारा। अनेक विषयों के ग्रंथ पढ़ने का क्रम चालू किया। इस वाचन-कार्यक्रम में महाराष्ट्र के कवियों के ग्रंथ,

विशेष रूप से मोरो पंत की कविता का अध्ययन करने की दृष्टि से उन्होंने पढ़े। इस तरह के अध्ययन से उनकी कविता सुधरी और गणपति उत्सव, शिवाजी उत्सव आदि कार्यक्रमों में प्रस्तुत भी हुई। गणपति उत्सव या शिवाजी उत्सव आयोजित करने का मुख्य ध्येय—स्वतंत्रता के ध्येय की कल्पना लोगों में जगाना और लोगों का देशाभिमान प्रज्वलित करना था। इस कारण शिवाजी उत्सव के समय ऐतिहासिक उदाहरण देकर और गणपति उत्सव में धार्मिक या पौराणिक उदाहरण प्रस्तुत कर लोगों में संस्था के ध्येय का संचार उन्होंने उदात्त स्फूर्तिमय रीति से अपनी कविता से किया। सावरकर ने बाजीप्रभु पर पोवाड़ा लिखा, तो दरेकर ने अफजल खाँ पर। शिवाजी और उनके सहयोगी मावले का एक संवाद काव्य भी उन्होंने शिवाजी-जन्मोत्सव के अवसर पर लिखा। सावरकर ने शिवाजी महाराज की आरती लिखी, तो दरेकर ने श्री समर्थ की, परंतु गणपति उत्सव में प्रस्तुत होनेवाले गीतवृंद के गीत दरेकर ही लिखते थे। नासिक में अनेक गीतवृंद अपने-अपने कार्यक्रम उत्सव के अवसर पर प्रस्तुत करते रहते थे। उनमें अनंत वामन बर्वे के लिखे गीत भी गाए जाते थे। इस तरह की प्रतियोगिता के वातावरण का लाभ दरेकर ने भरपूर उठाया और अपने गीतों को सरस तथा समृद्ध किया। इन सब कारणों से उनके लिखे गीत लोकप्रिय हुए और उन गीतों का गायन करनेवाला गीतवृंद श्रेष्ठ माना गया।

□□□

शत्रु-शिविर में

प्रकरण–१

वाष्प नौका पर

९ जून, १९०६ को बंबई का समुद्र-तट छोड़कर इग्लैंड जाने के लिए मैं 'परशिया' नामक वाष्प नौका पर चढ़ा।

बंबई के समुद्र-तट से विलायत ले जानेवाली वह वाष्प नौका मुझे हिलाती-डुलाती, धक्के देती समुद्र-जल को चीरती चली जा रही थी। मुझे विदाई देने के लिए समुद्र तट पर जमा हुए मेरे बंधु-बांधव एवं इष्ट मित्र देखते-देखते आँखों से ओझल हो गए। अपने उन बंधुओं का जो छायाचित्र मेरे मानस-पटल पर अंकित हो गया था, वही अब मानो आँखों से बाहर आकर मेरी दृष्टि के आगे तैरने लगा था। उसे देखते हुए वियोग से दुखी हुआ मेरा मन आकुल हो अपने-आपसे ही पूछने लगा—तीन वर्ष बाद क्या मैं सकुशल मातृभूमि पर लौट पाऊँगा? ये सारे बंधु-बांधव मुझे फिर से मिलेंगे न?

वाष्प नौका समुद्र को चीरती पूरे वेग से जा रही थी। इधर-उधर क्षितिज के अतिरिक्त कुछ भी दिखता नहीं था। फिर भी वाष्प नौका का कठड़ा पकड़कर मैं बंबई तट की दिशा की ओर टकटकी लगाए निस्तब्ध खड़ा देखता रहा।

पर वाष्प नौका के अन्य यात्री, जो बंबई तट पर अपने इष्ट मित्रों से विदा लेने के लिए नौका के कठड़े के पास मेरे जैसे ही भीड़ किए खड़े थे, उनमें से अधिकतर वहाँ से हटकर अपने-अपने आरक्षित कमरे खोजकर अपना-अपना सामान उनमें व्यवस्थित करने में जुट गए थे। उन सहयात्रियों में अधिकतर यूरोपीय या ऐंग्लो-इंडियन थे। कुछ सपरिवार स्वदेश लौट रहे थे। उनमें से अधिकतर लोगों को वाष्प नौका से जल-यात्रा करने का अच्छा अनुभव था।

जो पहली बार जल-यात्रा कर रहे थे, उनके साथ ऐसी मित्र मंडली थी जिसे यात्रा का पूर्व अनुभव था। इस कारण वे सारे एक-दूसरे से हँसते-खेलते रम

गए थे, पर मेरा इतनी दूर की जल-यात्रा का यह पहला अवसर था। साथ में कोई साथी भी नहीं था। उस काल में समुद्र यात्रा पर जानेवाले हिंदू गिने-चुने ही होते थे, वे भी गोरों को अपना राजकर्ता शासक तथा स्वयं को इंडियन-नेटिव अर्थात् हीनतर व्यक्ति मानकर उस भावना से दबे हुए। उस सारे भरे-पूरे समाज में मैं शून्य दृष्टि से समुद्र की ओर निहारता कठड़े के पास खड़ा था। 'कान में कनौती (पुरुषों द्वारा कान में पहनी जानेवाली एक मोती की बाली) पहने यह कौन गँवार नेटिव लड़का खड़ा है,' इस भाव से मेरी ओर देखते हुए लोग आ-जा रहे हैं, यह आभास मुझे हो रहा था।

वहाँ मेरे पास अपना कोई नहीं था। गोरे विदेशी ही नहीं, गोरे शत्रुओं के समाज में अकेले खड़े रहने का यह मेरे जीवन का पहला अनुभव था।

कुछ देर बाद अपना आरक्षित कमरा खोजने के विचार से मैं यह देखने लगा कि किससे पूछा जाए। वाष्प नौका का हर गोरा, गोरसम या काला नौकर वर्ग उन यूरोपीय लोगों के सामान आदि की व्यवस्था करने में लगा हुआ था। कोई स्वयं आकर पूछनेवाला नहीं दिखा। अंत में न जाने किस अधिकार की पट्टी कोट पर लगी थी, ऐसे एक गोरे व्यक्ति को रोककर अपना टिकट दिखाकर मैंने पूछा कि इस क्रमांक का कमरा कहाँ है? यह संयोग ही था कि वह उसी थॉमस ऐंड कुक कंपनी का अधिकारी था जिससे वह टिकट मैंने खरीदा था। उसका काम उनके टिकटों पर यात्रा कर रहे यात्रियों की देखभाल करना था, ऐसा लगा। मेरे प्रश्न से उसने तत्काल जान लिया कि मैं एकदम नया यात्री हूँ। उसने मुसकराकर एक व्यक्ति की ओर संकेत करके मुझसे कहा, 'यह मेरा आदमी है। यह आपको आपका कमरा दिखाएगा। आवश्यक जानकारी देगा।' ऐसा कहकर वह आगे बढ़ गया। उसका आदमी एक गोवा-निवासी हिंदू था। उसने मुझे वह कमरा दिखाया जिसमें मेरा स्थान आरक्षित था।

मैंने उस कमरे में झाँका तो वहाँ एक सुंदर, गोरा, पानीदार मुझसे कोई दो-तीन वर्ष छोटा कोमल सिख लड़का अपना सामान व्यवस्थित करने में व्यस्त दिखाई दिया। मुझे देखते ही उसने अंग्रेजी में पूछा, 'क्या आप ही मिस्टर सावरकर हैं?' मेरे 'हाँ' कहते ही उसका आनंद उसके मन में समा न पाया। उसने कहा, 'मैं आपकी ही राह देख रहा था—इस कमरे में दो स्थान हैं, यह मेरा है और दूसरे पर आपका नाम है। मुझे इंडियन साथी मिलने की बहुत खुशी है, पर आपके आने का समय जब टल गया, तब मुझे चिंता होने लगी, शंका हुई कि कहीं आपका आना रद्द तो नहीं हो गया। मैं पहली बार समुद्र यात्रा पर जा रहा हूँ। दो-तीन पंजाबी सज्जनों का साथ मुझे मिला, पर उनके कमरे दूसरी ओर हैं। आप ही वे सावरकर हैं, यह देखकर मुझे

कितनी खुशी हो रही है, मैं क्या कहूँ!'

प्रियजन-विरह से उदास हुए मन वाले व्यक्ति को परदेस में अकेले भटकते अपने देश का अजनबी व्यक्ति भी मिल जाए तो कितना अपना-सा लगता है, यह अनुभव वहाँ मुझे पहली बार हुआ। मैंने भी उस प्रेमी युवक से कहा, 'आपके परिचय से मुझे भी बहुत संतोष हुआ है। आपका नाम क्या है?'

'हरनाम सिंह।' उसने कहा।

उस वाष्प नौका से यात्रा कर रहे मुट्ठी भर भारतीय सज्जनों में से हरनाम सिंह के परिचित कुछ पंजाबी विद्यार्थी और अन्य दो-चार मिलकर नौ-दस भारतीय यात्रियों से मेरा परिचय दो-तीन दिनों में हो गया। सहज ही हमारा एक भारतीय गुट बन गया। बंगाल के प्रख्यात विद्वान् रमेशचंद्र दत्त भी उसी नौका से प्रथम श्रेणी में जा रहे हैं, यह मुझे उस समय मालूम नहीं था। इस भारतीय गुट में से जिनका बार-बार उल्लेख अपने आत्मवृत्त में आगे अनेक महत्त्वपूर्ण प्रसंगों में मुझे करना पड़ेगा, उन्हीं हरनाम सिंह द्वारा उन दिनों बताया हुआ अपने पूर्व जीवनवृत्त का सार-संक्षेप यहीं कह डालना मुझे उचित लग रहा है।

अमृतसर की ओर के एक प्रतिष्ठित सिख परिवार में हरनाम सिंह का जन्म हुआ था। उनके पिता जब वह छोटे थे, तभी स्वर्गवासी हो गए थे। पीछे रहीं उनकी माँ अपने इस इकलौते पुत्र को अपने प्राणों से अधिक प्यार करती थीं। उन्होंने उनका विवाह अठारह वर्ष के होने के पूर्व ही कर दिया। पढ़ाई में तेज होने के कारण कहीं भी न रुकते हुए वे बी.ए. हो गए। उनकी बुद्धिमत्ता देखकर ही सिखों की नाभा रियासत के महाराजा ने उन्हें यथोचित छात्रवृत्ति देकर बैरिस्टरी की परीक्षा देने के लिए इंग्लैंड भेजने की व्यवस्था की। उस काल में सिख समाज में बैरिस्टर अपवाद रूप ही थे। अत: ऐसा होनहार युवक बैरिस्टर बन जाए तो वह स्वयं डटकर धन-संपत्ति अर्जित करेगा और सिख समाज के लिए भूषण भी बनेगा—इसी सोच से सिख समाज के अन्य बंधु-बांधवों ने भी उन्हें विलायत भेजे जाने का समर्थन किया। पर उनकी माँ? अपने इकलौते पुत्र को उन्नीस या बीस वर्ष की कोमल आयु में तीन-चार वर्ष के लिए विदेश भेजने के लिए वे तैयार नहीं हो रही थीं। कहाँ अकेला जाएगा, अकेला रहेगा, तुझसे बिना मिले मैं कैसे जी सकूँगी, तू यहीं वकालत कर। अगर घर में ही बैठा रहे तो तुझे क्या कमी है? समुद्र पार जाए ही क्यों? वे बार-बार ममतावश ऐसा कहती थीं। उस काल में समुद्र यात्रा वैसे भी जन सामान्य के लिए एक निषिद्ध जाति बहिष्कार्य, बहुत ही दुस्साहस-भरा कार्य लगता था। अंत में चार प्रतिष्ठित व्यक्तियों ने कहा कि हरनाम सिंह प्रतिवर्ष माँ से मिलने आए और उसकी यात्रा के व्यय के लिए उसकी छात्रवृत्ति समुचित रूप से बढ़ाई

जाए, ऐसी व्यवस्था हम लोगों ने कर दी है। तब कहीं जाकर उनकी माँ ने सबके अनुरोध को स्वीकार किया और अपने बेटे को विलायत जाने दिया। उनके मन की उस उड़ान का अंत कैसे हुआ, वह इस कथा में यथास्थान वर्णित है।

अपने सहयात्री भारतीय गुट के एक और व्यक्ति का उल्लेख मैं करना चाहता हूँ। ये पंजाबी सज्जन, जिनकी आयु कोई तीस वर्ष रही होगी, अनेक बार यूरोप की यात्रा कर चुके थे। धनवान थे; इसलिए यूरोपीय रहन-सहन, वेश तथा शिष्टाचार में पारंगत थे। इतना ही नहीं, उस काल में जो कुछ लोग 'इंग्लैंड रिटर्न' कहलाने में गर्व अनुभव करते थे और समझते थे कि वे उन विदेशी शासकों से सटकर बैठने की योग्यता रखते हैं। कुछ वैसी ही भावना इन सज्जन की भी थी। इससे वे अपने घर में भी पूरी अंग्रेजी पद्धति से ही रहते थे। उस काल में माधवराव सिंधिया ने अपने बेटे का नाम 'जॉर्ज' रखा। ऐसे ही सोच के ऐरे-गैरों ने मद्रास, बंगाल की ओर अपने नाम अंग्रेजी पद्धति से रखे। चट्टोपाध्याय का चटर्जी, बंद्योपाध्याय का बनर्जी, राय का रे हो गया। उन लोगों ने अपनी संतान को पिताजी के लिए 'पापा' और माँ के लिए 'मम्मी' कहना सिखाया। इतनी वाहियात बातें यद्यपि इन सज्जन को पसंद नहीं थीं। फिर भी वे हमें हमेशा कहते कि हम भारतीय लोग और छात्र जब इंग्लैंड जैसे विकसित देश में जाएँ, तब अपना गँवार और अनाड़ी रहन-सहन छोड़कर वेश, बरताव, खान-पान, उठना-बैठना आदि सारी बातें उनके परिष्कृत ढंग से—बोतल, पाईप, चुरुट तक—करें। हम वैसा नहीं करते, इसलिए वे लोग हमें अनाड़ी और दीन-हीन समझते हैं और इसीलिए यूरोप में हमारे राज्य की कोई साख नहीं है। हम जैसे गँवार और अनाड़ी लोग स्वराज के लिए अपात्र हैं, ऐसा उन्हें सहज ही लगता है।

उस काल में और विशेष रूप से उस काल के पूर्व स्वराज की योग्यता के संबंध में ऐसी खोखली कल्पनाएँ लिये अनेक लोग, विशेषकर अंग्रेजी पढ़े-लिखे इंग्लैंड रिटर्न तथा बहुत से ईमानदार देशभक्त भी रहते थे। वे देशोन्नति चाहनेवाले अनेक पंथों में से एक थे। इंग्लैंड में पहले-पहल जो छात्र गए, उनमें अधिकतर युवा इसी पंथ के थे।

देशभक्त स्वर्गीय सुरेंद्रनाथ बनर्जी ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि अपने बचपन में परदेस जाना कितना कठिन था और इंग्लैंड होकर आए इक्के-दुक्के भारतीय शिक्षित सज्जनों के विचार कैसे रहते थे। वे लिखते हैं—

'As I have observed I started for England on March 3rd, 1868. Romesh Chandra Dutt and Beharilal Gupta were with me. We were all young in our teens and visit to England in those

days was a more serious affair than it is now. It did not only mean absence from home but the grim prospect of social ostracism. We all three had to make arrangements in secret, as if we were engaged in some nefarious plot of which the world should know nothing. My father was helping me every way, but the fact had to be carefully concealed from my mother and when at last on the eve of my departure the news had to be broken to her she fainted away under the shock of what to her was terrible news (Page 10). ...A visit to England however was a new form of haterodoxy to which our country had not yet become accustomed. The Anglicized habits of some of these who had come back form England added to the general alarm (Page 26). Some of our best men had fallen victims to the curse of drink. It is considered to be an inseparable part of English culture. A man who did not drink was hardly entitled to be called educated. The saintly Raj Narayan tells us how he himself meeting other friends called for a drink and how they were found all lying on the floor in a state of more or less inebrity (Page 7).' (After Mr. Surendra Nath returned from England) 'Although I was taken back into the old home by the members of my family the whole attitude of Hindu society of the rank and file was one of unqualified disapproval. My family was practically outcasted. We were among the highest of Brahmans; but those who used to eat and drink with us on ceremonial occasions stopped all intercourse and refused to invite us.' (Page 26) सुरेंद्रनाथ ने यह भी लिखा—'Many of England Returned leading gentlemen took to the European style of eating and drinking at home and some of them went to the length of throwing the refuse of their meals, bones and flesh and all over their wall into the compounds of their orthodox neighbours just to spite their religious feelings.'

फिर भी स्वराज की पात्रता और साहबी स्वाँग करने की बात छोड़ दें तो उस मित्र के विचारों में पर्याप्त सार था। जब इंग्लैंड जैसे विदेश में लंबी अवधि के

लिए रहने का विचार हो, तब अपने राष्ट्र के लिए यदि अपमानजनक न हो और आवश्यक तथा उचित हो तो उनकी रीतियाँ व शिष्टाचार सीखकर और उनका पालन कर उस विदेशी समाज में मिल-जुलकर रहना ही ठीक है। इतना ही नहीं, उनकी रीति-नीति और आचार-विचार, जो अपने समाज की अपेक्षा अच्छे एवं अपने समाज के लिए हितकर हों, को अपनाकर उनका प्रचार भी करना एक कर्तव्य ही है।

मेरे विचार यद्यपि यही थे, फिर भी इंग्लैंड में मेरे आने का कार्यक्रम इतना आकस्मिक रूप से निश्चित हुआ और मुझे इतनी शीघ्रता से निकलना पड़ा कि अंग्रेजी ढंग से खाने-पीने की आदत डालना तो दूर, इंग्लैंड की जलवायु के लिए आवश्यक तथा पर्याप्त कपड़ों की भी व्यवस्था करना भी संभव नहीं हो सका। स्वदेश में रहते अंग्रेजी कॉलर, पैंट, बूट, सूट आदि परिधान भी किस तरह पहने जाते हैं, यह सीखने का अवसर कभी आया नहीं। इच्छा भी नहीं होती थी। अपने उपर्युक्त सहयात्री की भाषा में कहूँ तो मैं स्वराज प्राप्त करने के लिए पूरी तरह अपात्र था। इसलिए वह विद्या प्राप्त करने के लिए मैं उसी सुजन मित्र की शरण में गया और एक-एक पाठ तैयार करने लगा। धोती को राम-राम कर ली, कान की कनौती निकाल दी, कोट, पतलून, हैट, बूट और विशेषत: कॉलर पर टाई बाँधने का दस बार गलत प्रयास करके अंतत: ठीक्-ठाक बाँधने लगा। यूरोपीय ढंग से मेज पर से छुरी-काँटा हाथ में लेकर मछली, मांस, अंडे आदि विधिपूर्वक खाने का पाठ याद करना बहुत कठिन था, इतना कठिन कि उसके कारण दो-तीन बार बेचारी जीभ पर बुरी बीती। ऐसा हुआ कि यद्यपि मैं बचपन से ही मांसाहार का समर्थक था, पर व्यवहारत: शाकाहारी ही था। इस वाष्प नौका पर चढ़ने के पूर्व तक मेरे जैसे कुल शीलवाले को मांसाहार का कोई अवसर नहीं आया, परंतु उस काल में वाष्प नौका पर मांसाहार ही मुख्य और सामान्य आहार होता था।

मेज पर भोजन के लिए जाने के पूर्व मेरे उस मित्र ने मुझे अच्छी तरह बताया था कि छुरी दाएँ हाथ में पकड़ें और काँटा बाएँ हाथ में। मांस, मछली के टुकड़े छुरी से काटने के बाद बाएँ हाथ के काँटे से उठाकर मुँह में दिए जाते हैं, अर्थात् खाना बाएँ हाथ से ही खाया जाता है। यह पाठ मुझे स्मरण था, पर दो-तीन दिन बाद एक बार मांस काटने में सारा ध्यान लग जाने से वह पाठ भूल गया और संस्कारवश छुरीवाला हाथ ही मुँह तक चला गया। पूरी छुरी ही मुँह में घुस जाती, पर उसका छोर होंठ में लगा और हाथ रुक गया, मैं सावधान हो गया। होंठ में जलन होने लगी, मैंने टटोला, तो रक्त की एक बूँद अँगुली में लगी। तुरंत रूमाल से होंठ दबाया, सिर नीचे किया, अन्यथा कोई साहब मेरी वह अनाड़ी हरकत देखकर हँसता।

मैं भोजन छोड़कर धीरे से खिसक गया, ताकि लोग यह समझें कि उसे नौका लग जाने से उलटी होने को होगी, इसलिए भोजन से उठा है। मांस-भक्षण की ऐसी मौज! पर मछली खाते समय मेरी जो गत बनती, वह कोई न पूछे। मछली में काँटा कहाँ होता है और उसे अलग कर मांस कैसे खाया जाता है—यह पाठ बी.ए. तक की किसी शास्त्र-पुस्तक में मैंने पढ़ा नहीं था। अत: नौका पर जब भी मछली खाने लगता तो उसे कहीं से भी काटता—बड़ी हड्डी दिखे तो उसे निकालकर वह टुकड़ा मैं मुँह में डालता, परंतु उसे चबाना शुरू करते ही वैसी ही दुर्गति मेरे मुँह की होती, जैसी कँटीली झाड़ी में पैर पड़ते ही दुर्गति होती है। उस मांस-पिंड में छिपे छोटे-छोटे काँटे मुँह में गड़ने से अंत में वह पूरा कौर ही चम्मच में थूकने के सिवाय कोई उपाय नहीं रहता। दो-तीन बार ऐसा हो जाने पर मैं यह प्रतिज्ञा करने की तैयारी में था कि अब मछली खाऊँगा ही नहीं। अन्य यात्रियों के ध्यान में न आए, ताकि और फिर, स्वयं मुझे भी लज्जाजनक लगने लगा था। हमारे भारतीय गुट में जो दो अन्य यात्री मुख्यत: शाकाहारी थे, उनकी भी ऐसी ही स्थिति थी। उन्होंने अपनी समस्या हमारे उस 'शिष्टाचारी' मित्र के सम्मुख रखी।

उस मित्र ने इसीलिए चार-पाँच तरह की मछलियाँ पकाकर हमारे कमरे में लाकर हमें यह बताया कि उनका सशस्त्र शवच्छेदन कैसे किया जाता है। अलग-अलग मछलियों में छोटे काँटे होते हैं, उनसे बचकर अंग्रेजी छुरी-काँटे से मछली कैसे खाए जाते हैं, यह सिखाया। मछली काटने के लिए एक अलग छुरी थाली के पास रखी रहती है, यह भी मुझे तभी ज्ञात हुआ।

हमें यूरोपीय शिष्टाचार सिखाकर 'सुधारने' के लिए पूरे मन से प्रयास करनेवाले उस मित्र को मैं विनोद से 'शिष्टाचारी' ही कहता था और यहाँ भी उनका उल्लेख उसी नाम से मैं करूँगा, क्योंकि जब वे 'अभिनव भारत' नामक गुप्त संस्था के सदस्य बने, तब उन्होंने मुझे जोर देकर यह कहा था कि उनके नाम का उल्लेख कहीं भी न किया जाए। आज वे कहाँ हैं, हैं भी या नहीं, यह मुझे ज्ञात नहीं है।

हरनाम सिंह केशधारी सिख-संप्रदायी थे। उनके संप्रदाय के अनुसार, सिर या शरीर के बाल कभी भी काटे नहीं जाते। प्राचीन ऋषियों की तरह सिर के बालों की गाँठ मारनी होती है, अर्थात् उसपर टोपी पहनी ही नहीं जा सकती थी। इसी कारण इस पंथ में टोपी पहनना निषिद्ध माना जाता है। साफा ही उनका शिरोभूषण होता है। इसलिए वे यद्यपि कॉलर, नेकटाई सहित सारा यूरोपीय वेश धारण करते। चाहता हूँ कि फिर भी सिर पर यूरोपीय टोपी न पहनकर साफा ही बाँधते। उस समय इंग्लैंड में गिने-चुने सिख ही गए थे। इसलिए यूरोपीय समाज में और विशेषकर महिला-बच्चों को टोपी की जगह साफा बँधा सिख अजूबा लगता था और वे उसे

देखकर हँसते थे।

उस वाष्प नौका के माथे (डेक) पर हमारा भारतीय गुट बीच-बीच में अन्य गोरे यात्रियों की तरह घूमने जाता या खुली हवा लेते हुए बतियाते के लिए बैठ जाता। उसमें हरनाम सिंह भी होते ही थे। यूरोपीय प्रवासी आते-जाते उनके साफे को देखकर मन-ही-मन मुसकराते, बच्चे दूर से अँगुली दिखाकर मजाक करते। पहले हमने उधर कोई ध्यान नहीं दिया, पर एक दिन कुछ गोरे लड़के इतराते हुए और हरनाम सिंह के साफे की ओर अँगुली दिखाते हुए What a funny cap कहकर हमसे सटते हुए मजाक करने लगे और उनकी माता-बहनें उन्हें रोकना छोड़कर स्वयं भी खिलखिलाती रहीं।

यह तमाशा देख हम सबमें से जिसे पहले क्रोध आया, वह व्यक्ति 'शिष्टाचारी' ही थे। हरनाम सिंह वहाँ से निकल गए, परंतु शिष्टाचारी ने पीछे मुड़कर उन लड़कों में से एक गोरे लड़के का हाथ पकड़कर उसे पीछे धकेल दिया। इतना होते ही वे लड़के भाग गए। उनके साथ के बड़े भी कुछ बोले नहीं। हम आगे चल दिए। वह बात वहीं समाप्त हो गई, मगर नीचे आने पर शिष्टाचारी मुझे अपने कमरे में ले गए और दुःखी मन से बोले, 'सावरकर, आप हरनाम सिंह को कहें, वह आपकी बात मान लेगा कि वे साफा बाँधने की अज्ञानता फिर से न करें। जिस कारण यूरोपीय हमें गँवार समझते हैं, वह काम हम क्यों करें? उन लोगों द्वारा किया गया तिरस्कारयुक्त उपहास मुझे जातीय अपमान लगता है, चुभता है। यदि हरनाम सिंह साफा बाँधकर ही फिर डेक पर घूमने गए तो मैं उसके साथ यूरोपीय लोगों के सामने नहीं जाऊँगा।'

मैंने जोर देकर कहा, 'मित्र, मैं हरनाम सिंह को ऐसा कभी नहीं कहूँगा। हमारी कुछ रीतियाँ-नीतियाँ मूल में ही अहितकर या छोड़ने योग्य हैं, यदि हमें ऐसा लगता है तो हम स्वयं ही उन्हें छोड़ें। उसमें मैं आपसे भी बढ़कर सुधारक हूँ। परंतु यदि वैसा कुछ नहीं है और हम उन्हें इसलिए छोड़ दें कि ये यूरोपीय हमारी खिल्ली उड़ाते हैं, तो वह हमारे मन की दुर्बलता होगी। प्रासंगिक सुविधा का प्रश्न छोड़ दें तो शिरोभूषण के रूप में गोरों के हैट की तुलना में अपने रंगीन साफे ही उत्तम हैं। कितने शानदार, भव्य, सुंदर! जहाँ सुविधा और आवश्यकता हो, वहाँ यूरोपीय टोपियाँ अवश्य पहनी जाएँ परंतु टोपी न पहनना और साफा बाँधना, यह सिखों का एक धर्माचार है, उस पंथ का वह सैनिक रणवेश है! कुछ यूरोपीय लोगों को वह अटपटा और हास्यास्पद लगता है, इसलिए हम इतने लज्जित अनुभव करें और उसे बाँधना ही छोड़ दें—वास्तव में ऐसा करना ही अपना जातीय अपमान होगा। मैं तो यह चाहता हूँ कि हरनाम सिंह साफा न बाँधें, ऐसा कहने की बजाय कल से हम सब साफे बाँधकर डेक पर घूमने जाएँ। ऐसा सामूहिक प्रयास देखकर उन गोरों को ही

यह स्पष्ट महसूस होगा कि उनका अपमान हुआ है।

उनके सुप्त स्वाभिमान पर मानो चिनगारी पड़ गई, एकदम भड़ककर बोले, 'एकदम सही कहा आपने! कल से मैं स्वयं साफा बाँधकर हरनाम सिंह के साथ रहूँगा।'

मेरे इन भारतीय मित्रों, जिनमें ऐसा राष्ट्रीय हीनबोध था, में स्वाभिमान की ज्योति जागे और उस ज्योति से राजनीति का चस्का उन्हें लगे, इसलिए मैं उनसे ऐसे प्रसंगों के माध्यम से चर्चा करता रहता था। उन दिनों के शब्दों में तो नहीं, फिर भी उस चर्चा का जो आशय आज स्मरण हो रहा है, वह निम्नवत् था—

'आज हमपर इंग्लैंड का राज है। इसलिए उठने-बैठने में, वेशभूषा में, खान-पान में हमें उनकी पद्धति सीखनी पड़ती है। उन्हें सीखते, उनका अनुसरण करते हम हड़बड़ाकर गलतियाँ कर बैठें तो वह हमारा अनाड़ीपन, गँवारपन है—ऐसा हममें से कइयों को लगता है और इस कारण वे यूँ ही लज्जित होते हैं। मेरे साथ भी यह होता है, पर यह गलत है। हम यह ध्यान में रखें कि जब हमारे देश पर हमारा राज था और हमारे राज में ये यूरोपीय लोग व्यापार-धंधे के लिए पहले-पहल आने लगे, तब इन्हें भी हमारी रीतियाँ सीखनी पड़ी थीं। तब इन्हें भी ऐसी ही व्याकुलता होती थी। इनसे भी वैसी ही हास्यास्पद गलतियाँ होती थीं और तब वैसी ही छीछालेदर होती थी। आज लंदन में वे हमारे भारतीय लोगों को 'ब्लैकी' (कालिया) कहकर चिढ़ाते हैं। परंतु पुणे में हमारे राज में जब अंग्रेज पहले-पहल आने लगे, तब हमारे आदमी उन्हें 'ताम्रमुख' (लाल मुँह का बंदर) कहकर चिढ़ाते थे। अंग्रेजों को जूते उतारकर नंगे पाँव चलने की आदत नहीं होती, परंतु उन दिनों के हमारे राजदरबार में जब उनके गोरे राजदूत आते तो हमारे शिष्टाचार का पालन करते हुए जूते बाहर निकालकर ही राजदरबार में पेशवा के सामने उन्हें जाना पड़ता था। शरीर पैंट, कोट, हैट स्टॉकिंग सहित सारे यथोचित वेश से सजा रहता, पर पैरों में जूते नहीं होते। उस तरह नंगे पाँव चलते हुए उन अंग्रेजों की अच्छी-खासी भद्द हो जाती थी। वैसी ही और बातें थीं। अंग्रेज लोगों को अपने देश की सर्द जलवायु के कारण केवल भूमि पर डाली गई चटाई पर बैठने की आदत नहीं होती थी। बचपन से ही किसी-न-किसी कुरसी पर बैठना होता था। हमारे दरबारों में बैठक पर वीरासन में बैठने की सामान्य व्यवस्था होती थी। इसलिए जब कोई अंग्रेज राजदूत आता, तो वह बाहर जूते उतारकर अंदर आकर आसन पर वीरासन में बैठता। इस तरह की आदत न होने के कारण वे बार-बार आसन बदलते रहते। उनके उस नौसिखियापन को देखकर कोई मराठी लिपिक या सरदार उपवस्त्र का सिरा मुँह पर रखकर मुसकराया होगा तो उसमें कुछ भी अस्वाभाविक नहीं था।

'ऐसी एक दंतकथा अभी भी है। कहते हैं कि एक बार नाना फड़नवीस ने अंग्रेज आदि यूरोपीय दूतों को इस पेंच से छुटकारा दिलाने के लिए एक कुरसी मँगवाई, पर तुरंत ही दूसरी समस्या सामने आ गई। हुआ यह कि मराठी साम्राज्य के श्रीकरणाधिप (फड़नवीस) नाना तो बैठके पर बैठें और एक विदेशी राजनीतिक याचक कुरसी जैसे उच्चासन पर बैठे, ऐसा कैसे हो सकता है? उसपर किसीने उपाय के रूप में दूसरी एक कुरसी नाना के लिए मँगवाई, पर साम्राज्य के जिस श्रीकरणाधिप को वीरासन लगाकर बैठने की आदत जन्म से ही हो, उस नाना को कुरसी पर पैर लटकाकर बैठने में बड़ी कठिनाई होगी और ऐसे उनको बैठे देखकर अंग्रेजी राजदूत मन-ही-मन नाना को अनाड़ी समझेगा, कहेगा कि जिन लोगों को कुरसी पर भी बैठना नहीं आता, वे… !

यूरोपीय लोगों को हमारी पद्धति से भोजन करते हुए कैसी उलझन होती थी, इस विषय में भी ऐसी ही कुछ आनंदप्रद दंतकथाएँ हैं। एक बार पुणे में एक सरदार ने किसी अंग्रेज अधिकारी को भोजन के लिए न्योता। हमारे राज में भोजन का राजविलासी शिष्टाचार पंगत में ही होता था। वैसी पंगत सजाई गई। अंग्रेज अधिकारी आया। उसने देखा कि वहाँ न मेज, न कुरसी, न काँटा-छुरी। दूर एक स्थान पर एक चंदनी लकड़ी का पीढ़ा, रंगोली के बेल-बूटे और सुवर्ण थाल-कटोरियों में अनेक व्यंजन परोसे हुए। 'यहाँ पधारिए' कहने के बाद बड़ी कठिनाई से साहब बहादुर पालथी मारकर बैठ पाए। सब जीमने लगे तो साहब भी जीमने लगे, पर दाएँ हाथ से दाल-भात सानकर खाने की बजाय उन्होंने अंग्रेजी केक की तरह दिखनेवाली गुझिया उठाई और उसे दोनों हाथों से झुकाकर तोड़ा तो उसमें भरा हुआ मसाला (गरी-शक्कर) बाहर गिर गया। उसे देखकर वे विस्मित हो गए। उन्होंने दूसरी गुझिया उठाई और ऊपर-नीचे चारों ओर से उसे देखकर—अपने इस नटखटपन पर हँसते हुए लोगों से पूछा, 'बाहर से बंद रहते हुए भी यह मसाला उसके (गुझिया के) अंदर कैसे जाकर बैठा?'

परंतु ऐसी स्वाभाविक गलतियों के कारण उस समय की अंग्रेज जाति को 'अनाड़ी' कहकर स्वराज के लिए अपात्र नहीं ठहराया जा सकता था। किसी भी विदेशी रीति की विसंगतियाँ देखकर पहली बार कुछ अजीब मजा आता ही है। हँसी भी आती है। इस कारण लजाने या चिढ़ने का कोई कारण नहीं होता। परंतु आज हमपर अंग्रेजों का राज है। इसलिए उनकी हर बात हमसे श्रेष्ठ, सभ्य और सुधरी हुई है, ऐसा उनको घमंड है और उनसे विसंगत हमारी ऐसी बातें देखकर वे सहज भाव से नहीं मुसकराते, उनकी हँसी में तिरस्कार घुला होता है। हमें देखते ही अंग्रेजों या कुल मिलाकर सारे यूरोपीय समाज को ऐसा लगता है कि ये परास्त 'नेटिव' हैं।

इसलिए इनकी सारी रीतियाँ-नीतियाँ अटपटी और जंगलीपन से भरी हैं—ऐसा दुर्विनीत भाव उनके रोम-रोम में घुला हुआ है। जिन लोगों को ऐसा लगता है कि अंग्रेजी रीति-नीति का अनुसरण करने पर वे उन्हें सुधरे हुए, सुशिक्षित मानेंगे और स्वराज के पात्र समझेंगे, अन्यथा नहीं।

वे यह ध्यान रखें कि अपने देश के लाखों लोगों, जो अब पूरे विश्व में फैल गए हैं, ने अंग्रेजों के रीति-रिवाज ही नहीं, उनका धर्म भी स्वीकार कर लिया। ये जो गोवा के बटलर लोग हैं, जो वाष्प नौकाओं पर रसोइए आदि का काम करते हैं, वे पूरी तरह अंग्रेज ही हैं, केवल एक काला रंग छोड़कर! फिर इन लाखों भारतीय ईसाइयों को सुधरे हुए मानकर ये अंग्रेज उन्हें स्वराज का अधिकार क्यों नहीं दे देते? जहाँ काले रंग की भी बाधा नहीं है और जिनसे अंग्रेजों के विवाह-संबंध भी होते हैं, जो इतने गोरे और जन्मतः यूरोपीय हैं, उन आयरिश लोगों को केवल 'होमरूल' भी अंग्रेज क्यों नहीं दे रहे हैं? उन आयरिश लोगों के आंदोलनों को नायोनेट चला-चलाकर अपने बूटों के नीचे क्यों दबाए हुए हैं? रीति-नीति, रंग-वंग—ये कोई सुधरे हुए या स्वराज के पात्र होने के सच्चे संकेत या साधन नहीं हैं। अभी जो परसों की बात कही जा सकती है, ऐसी सन् १९०४-५ की बात करें—उन बेरंग और ठिगने जापानियों ने गोरे और यूरोपीय रूस को रण में चारों कोने चित्त किया और जापान एक विकसित तथा इंग्लैंड के समकक्ष राष्ट्र माना जाने लगा—केवल चार माह के अंदर। रीति-नीति आदि इधर-उधर के उपाय केवल दूसरी-तीसरी श्रेणी के हैं। स्वराज की पात्रता का निर्णायक, अमोघ एवं रामबाण उपाय अगर कोई है, तो 'रामबाण' ही।

इस तरह अनेक सीधे-सादे विषयों पर होनेवाली चर्चा को मैं अपनी नीति के अनुसार घुमा देता। इसके कारण उन लोगों में राजनीतिक जागृति एवं राजनीतिक चर्चा क्रमशः बढ़ने लगी, क्योंकि पहली बार जब मैंने उन विषयों को उनके बीच चर्चा के लिए रखा, तब यह ध्यान में आया कि उनको उस विषय के संबंध में रत्ती भर भी ज्ञान और आस्था नहीं है। इतना ही नहीं, जो एक-दो सरकारी या रियासती छात्रवृत्तियाँ पाकर शिक्षा के लिए जा रहे हैं, उन्होंने स्पष्ट ही कहा कि हमें छात्रवृत्ति देते समय ही यह शर्त लगाई गई है कि हम किसी तरह के राजनीतिक आंदोलनों में भाग न लें। मैं उसपर हँसकर कहता, 'राजनीतिक आंदोलनों में भाग न लें, पर राजनीतिक चर्चा में भी भाग न लें—ऐसा तो कोई भाव उस शर्त में नहीं है। अतः चर्चा में भाग लेने में क्या आपत्ति है?' ऐसे प्राथमिक, राजनीतिक एवं ऐतिहासिक संवादों की परिणति क्या हुई, वह आगे दिखेगा।

दूर देश की यात्रा पर प्रथम बार निकले हम जैसे अकेले व्यक्तियों को वाष्प

नौका पर दो दुःखों का सामना पहले करना पड़ता है—एक 'सी सिकनेस' (Sea Sickness) और दूसरा होम सिकनेस (Home Sickness)—नौका लगना और घर लगना, अर्थात् गृह-विरह। जिन्हें नौका लगती है, उन्हें उल्टी-पर-उल्टी होने लगती है। मेरी यह पहली जल-यात्रा थी। फिर भी सौभाग्य से मुझे वह पहला दुःख नहीं सहना पड़ा। नौका नहीं लगी, पर उसकी कसर गृह-विरह की वेदनाओं ने निकाल ली। परिवार के सारे प्रियजनों एवं मित्र मंडली से ऐसा निर्दय अलगाव होने का दुःख इसके पूर्व कभी मैंने भुगता न था। वैसे भी मेरा मन बहुत भावुक है। स्नेह रज्जुओं से बँधा-गुँथा। बचपन से अपने दो भाइयों में मेरा जी अटका हुआ था। परिवार या अन्य लोगों से एक बार स्नेह के तार जुड़ने के बाद उनसे विलग होना मेरे लिए सदैव ही बड़ा कष्टकर रहता था। आज तो वे सारे ही प्रियजन चिर काल के लिए मुझसे दूर चले गए। उन सबका स्मरण इस नौका पर जब भी होता, मैं बेचैन हो जाता। फिर भी जो कठिन, कठोर कर्तव्य मेरे भाग में आया था, उसमें जो कभी न आए, ऐसे अपने आँसुओं को मैं अंदर ही रोक रखता, दूसरों के सामने उन्हें आँखों में न आने देता। ऐसा न करता तो जो ध्येय मैं दूसरों के सामने रखने जा रहा था, उसका अनुसरण करने के पूर्व ही उसका तेजोभंग हो जाता।

मेरे संग के भारतीय मित्रों को नौका लगने का कष्ट बहुत सहन करना पड़ा, उल्टियों से वे परेशान हो गए। कुछ ने बिस्तर पकड़ लिये, फिर भी मैंने उन्हें विरह का दुःख होते नहीं देखा। यात्रा के आनंद में वे मगन दिखते। बैरिस्टर या सिविल सर्वेंट होकर बड़े-बड़े पदों पर पहुँचने के समाधान को वे अभी से भोग रहे थे; उसी शान और खुशी में डूबे हुए थे। इसमें एक ही अपवाद था—हरनाम सिंह।

हरनाम सिंह को नौका भी खूब लगी। बार-बार सूखी उल्टी आती। पेट में कुछ टिकता नहीं। बिस्तर पर तीन-चार दिनों तक बेचैन पड़े रहे। शरीर की इस दुर्बल स्थिति में घर के स्नेही जनों की उमड़ती स्मृतियों से उनका मन व्याकुल हो उठता। उस अवस्था में मैंने उनकी यथाशक्ति सेवा की, पर उनका धैर्य चुकने लगा। उन्होंने बड़ी करुणता से मुझसे कहा, 'आप ही मेरे एकमेव मित्र हैं। मुझे दोष भी देंगे ही, पर अब मैं यह यात्रा नहीं कर सकता। मेरे घर में धन की कोई कमी नहीं है। पीछे छूटे प्रियजनों से फिर मैं कब मिलूँ, ऐसा मुझे लग रहा है। ऐसे दूर देश में रहना, जहाँ एक पत्र आने में कम-से-कम पंद्रह दिन लग जाते हैं! मुझे बैरिस्टरी नहीं चाहिए। मैं तो अगले ही बंदरगाह, अदन पर उतर जाऊँगा और टिकट कटाकर हिंदुस्थान चला जाऊँगा। मुझे मेरे मन की दुर्बलता पर, भावुकता पर लज्जा आती है, परंतु…'

मैंने उनको बीच में ही रोककर कहा, "नहीं, इसमें लज्जा की क्या बात है?

भावुकता ही मानवीयता है। प्रियजनों, स्नेही संबंधियों से वियोग होते समय जिनके हृदय में हलचल नहीं होती, उनका प्रेम सच्चा नहीं होता, ऐसा ही कहना पड़ेगा, परंतु यदि अपने स्नेही संबंधियों से अटूट प्रेम हो, तो उनके हित के लिए जो भी दुःख सहना पड़े, उसके लिए तत्पर होना ही प्रेम की वास्तविक कसौटी है। प्रियजनों के हित के लिए कभी-कभी उनके वियोग का दुःख भी सहन करना पड़ता है। स्नेही संबंधियों से बिछुड़ने के कारण मेरा भी मन बहुत व्याकुल हो रहा है। मैं अपने मन को विवेक की छड़ी लगाकर कर्तव्य-कठोर बनाने का प्रयास कर रहा हूँ। उसी विवेक से आपका मन भी स्थिर हो जाएगा। इसीलिए यह बात मैंने आपसे कही है। अपने व्यक्तिगत, पारिवारिक, राष्ट्रीय और धार्मिक हित के रास्ते में जो प्रीति आती है, वह प्रीति न होकर लंपटता है। ऐसी भावुकता को ही मोह कहा जाएगा।'

मेरी ऐसी चर्चा उनसे दो-तीन दिन चलती रही। कभी-कभी कोई अन्य मित्र भी उसमें सम्मिलित हो जाता। उस चर्चा का आशय यह था कि हम सब हिंदू और उसमें भी सिख श्री गुरु गोविंदसिंह के शिष्य। अपने उन गुरु का हृदय क्या केवल अश्रु-शून्य लौहखंड था? नहीं, वह तो प्रीति, वात्सल्य के अश्रुओं से लबालब भरा 'अमृतसर' था। परंतु इसलिए अपने सोलह-सत्रह वर्ष के दोनों कोमल पुत्रों को पंगुता के पालने में ही जन्म भर न सुलाकर—उन्हें सशस्त्र धर्मयुद्ध में शौर्य प्रकट करने के लिए भेज दिया। उस रण में उन कुमारों का बलिदान होते देख वे जयघोष करने लगे थे। हिंदू धर्म न छोड़ने पर शेष दो अन्य बच्चों को मुसलमानों ने जब दीवार में चिनवाकर मार डाला—यह समाचार नहीं, अघोर वार्ता सुनते हुए भी गुरु गोविंदसिंह 'धन्य! धन्य!!' कहते रहे।

मान लें, वे कुमार अपने माँ-बाप के व्यक्तिगत मोहपाश में बँधे युद्ध-प्रांगण में न जाकर उनसे ही लिपटे रहते या इसके विपरीत अपने पुत्रों के मोह में उनके चिर वियोग के डर से स्वयं गुरु गोविंदसिंह ही सपरिवार हिंदू धर्म त्यागकर मुसलमान हो गए होते, तो? तो आज हम उन्हें वीर गुरु नहीं मानते। जो परिवार प्राण-भय से या जागीर के लोभ से धर्म छोड़ बैठते हैं—गुरु गोविंदसिंह भी उनमें से ही एक माने जाते। धर्म त्यागकर वे कुछ अधिक वर्ष जीते, पर वे भारतीय इतिहास में वीर गुरु और वीर कुमार के रूप में अमर नहीं होते।

हम यदि उनके शिष्य हैं तो अपने प्रियजनों, राष्ट्र, धर्म एवं मानव मात्र के परम कल्याण की ओर बढ़ते ध्येय के लिए प्रियजन-वियोग सहन करके भी हमें बढ़ते रहना चाहिए। कदम पीछे नहीं लौटाना चाहिए। प्रियजनों के विरह से आँखें भर आने से टपकनेवाले जिन आँसुओं के सिंचन से धर्म-कर्तव्य का बीज अंकुरित-पल्लवित होता है, वही अश्रु शुद्ध प्रीति के होते हैं। वीरों के वे आभूषण होते हैं।

उससे उनके कर्तव्य का रास्ता अँधियाता नहीं, उजियाता है। फिर, हमारा ध्येय क्या है? स्वयं को पैसा मिले, इसलिए बैरिस्टर या आई.सी.एस. होने हम विदेश जा रहे हैं। यह तुच्छ एवं क्षुद्र भाव जीवन का ध्येय नहीं हो सकता! हम सब भारतीय तरुणों का आज का ध्येय सिर्फ यही है कि स्वदेश के और स्वधर्म के पैरों में ब्रिटिशों द्वारा डाली गई गुलामी की बेड़ियाँ तोड़कर अपनी मातृभूमि को, अपने राष्ट्र को स्वतंत्र कराने के लिए मर मिटें या विजयी हों। ऐसी प्रतिज्ञा लें कि विदेशी शत्रु से हम लड़ें। इसके लिए आज अपने देश में जो नहीं हो सकते, ऐसे कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य विदेश में जाकर करने हैं। विदेश जाने का अपना मूल उद्देश्य यह होना चाहिए। अन्य कार्य तो केवल एक बहाना है।

आप जैसी ही चिंता मुझे भी है। यदि अभी पत्र लिखूँ तो उसका उत्तर प्राप्त होने और समाचार मालूम होने में पूरा एक माह लग जाएगा, पर मेरा विवेक मुझे तुरंत ही रोकता है कि जब वाष्प नौका और तार-यंत्र नहीं थे, तब जहाज द्वारा हिंदुस्थान से इंग्लैंड जाने में छह माह लग जाते थे। उस समय माँ-बाप को इंग्लैंड में छोड़कर जानेवाला लड़का हिंदुस्थान पहुँच गया है, यह समाचार मिलने में पूरा वर्ष लग जाता था; फिर भी घर-परिवार छूट जाएगा, इसलिए घर पर रोते हुए न बैठकर सैकड़ों अंग्रेज बच्चे हिंदुस्थान आते रहे, लड़ते रहे और हमारे राज हमसे छीनकर साम्राज्य-निर्माण करते रहे। आज यदि उनका साम्राज्य नष्ट कर हम हिंदुस्थानी युवाओं को अपना देश स्वतंत्र कराना है तो हमें अपने हृदय उनसे सौ गुना अधिक कर्तव्य-कठोर बनाने होंगे। परंतु इन अंग्रेजों का ही उदाहरण क्यों लें? हमारे स्वयं के पूर्वजों ने महासागरों में अपनी रणनौकाओं के झुंड बिना हिचक छोड़कर इधर जावा, सुमात्रा, हिंद चीन से मेक्सिको तक और उधर मिस्र तक अपने हिंदू राज्य स्थापित किए थे। संस्कृति को फैलाया था। सैकड़ों-हजारों हिंदू परिवार स्त्री-पुरुषों सहित नौकाओं से समुद्र पार गए थे। वहाँ उन्होंने अपने हिंदू उपनिवेश बसाए थे। बीच के काल में न जाने क्यों हिंदुओं ने समुद्र यात्रा निषिद्ध मानी। इसलिए हम समुद्र से इतने डरने लगे, पर अब उन कारणों को त्यागकर, मन की दुर्बलता छोड़कर, सातों समुद्रों पर जैसे अन्य राष्ट्रों के झंडे फहरा रहे हैं, वैसे ही हिंदुस्थान के भी झंडे हमें फहराने होंगे। ऐसे भव्य राष्ट्रीय ध्येय से हमारे मन यदि भर जाएँगे तो हमारे मन को दुर्बल बनानेवाली आज की व्यक्तिगत दुर्बलताएँ और पीड़ाएँ धुएँ की तरह छँट जाएँगी।

उन सब लोगों में से हरनाम सिंह एवं शिष्टाचारी के मन-मस्तिष्क पर ऐसे संवाद का अपेक्षित प्रभाव पड़ा। अदन से हिंदुस्थान लौट जाने का विचार हरनाम सिंह ने छोड़ दिया। उनके जीवन का दृष्टिकोण ही बदल गया। वे बार-बार कहने

लगे कि वर्तमान परिस्थिति में मैं अपनी मातृभूमि के लिए क्या कर सकता हूँ, यह बताएँ। उस समय मेरे पास जोसेफ मैजिनी का अंग्रेजी में लिखा जीवन-चरित्र था। उसके लेखक का सही नाम अभी याद नहीं आ रहा है, परंतु कदाचित् Bolton King होगा। वह पुस्तक मैंने उसे पढ़ने के लिए दी। उसमें वर्णित 'तरुण इटली' नामक गुप्त संगठन के विधान एवं कार्यक्रम को मैंने हेतुतः ही लाल स्याही से रेखांकित कर रखा था। चार-पाँच लोगों ने वह पढ़ी, पर उनकी इच्छा थी कि मैं इस संबंध में उनके वास्तविक नाम अभी भी नहीं लिखूँ,[१] जिन्हें मैं यहाँ केशवानंद कह रहा हूँ। उन्होंने एवं शिष्टाचारी ने उस पुस्तक को बड़ी तन्मयता से पढ़ा। उसके बाद चर्चा के दौरान मैंने उन दोनों से सीधा प्रश्न किया कि अपने हिंदुस्थान की स्वतंत्रता के लिए भी क्या मैजिनी की 'यंग इटली' जैसी गुप्त संस्था की स्थापना करने की जरूरत आपको महसूस होती है?

'एकदम होती है! प्रथम कर्तव्य वही है।' शिष्टाचारी ने निश्चयपूर्वक कहा, 'पर ऐसी संस्था आप-हम जैसे मुट्ठी भर सामान्य युवाओं द्वारा स्थापित किए जाने से क्या होगा? तिलक, लाजपतराय या बड़ौदा के सयाजीराव जैसे महाराज वैसी संस्था स्थापित करें तो कुछ लाभ भी होगा। हम उसमें ही सम्मिलित हो जाएँ तो अधिक उपयुक्त रहेगा। वैसी कोई संस्था जब तक नहीं बनती, तब तक रुकना चाहिए।'

मुट्ठी भर सामान्य तरुण? जब 'यंग इटली' की स्थापना हुई थी, तब वह किसने की थी? यह देखिए, बिलकुल आपके ही शब्दों में मैजिनी ने क्या कहा है— 'यंग इटली में केवल हम मुट्ठी भर सामान्य युवा ही थे, फिर भी 'यंग इटली' का नाम लेते ही सिंहासन थर-थर काँपने लगता था।' उस जीवन-चरित्र में से मैंने मैजिनी के वाक्य पढ़े और आगे कहा—हो सकता है कि उन नेताओं ने भी हिंदुस्थान में गुप्त संस्थाएँ स्थापित की हों और वे संस्थाएँ बढ़ी भी हों, पर जो संस्था 'गुप्त' है, वह समाचारपत्र में समाचार तो दे नहीं सकती।

मान लें कि आज हिंदुस्थान का कोई भी प्रख्यात नेता या राजा-महाराजा हिंदुस्थान की संपूर्ण राजनीतिक स्वतंत्रता (Absolute Political Independence) के लिए प्रयास करने के उद्देश्य से गुप्त या प्रकट रूप से आगे नहीं बढ़ रहा है, वैसी कोई भी गुप्त संस्था आज तक अस्तित्व में नहीं है, तो भी यदि हमें वही प्रथम कर्तव्य लगता हो, तो हम अपनी सीमा में वह क्यों नहीं करें? कोई नहीं कर रहा है,

---

१. एक भेंट में हरनाम सिंह द्वारा यह इच्छा व्यक्त किए जाने पर लेखक ने उनका नाम पांडुलिपि में से काट दिया था। *—बाल सावरकर*

इसीलिए तो हम स्वयं आगे बढ़कर अपना कर्तव्य करें। यदि माता मृत्यु-शय्या पर पड़ी हो और उसे बचाने के लिए जरूरी दवाइयाँ हमें मालूम हों, फिर भी दूसरे भाई अज्ञान, आलस या डर से उसे लाने के लिए तुरत-फुरत नहीं जा रहे हों, तो इसका अर्थ यह नहीं कि हम भी उसे लाने में टालमटोल करें। ऐसा टालमटोल करने पर तो हम भी अन्यों जैसे ही पाप या दोष के अंशभागी सिद्ध होंगे। मान लें, हम तीन ही अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहें तो मात्र तीन क्या कर सकते हैं, इसका बिलकुल ताजा उदाहरण चाहिए तो चापेकर बंधुओं के बारे में जानें। फिर मैंने उन्हें चापेकर बंधुओं की वीर कथा सुनाई और कहा, 'अत्याचारी अंग्रेज अधिकारी को समुचित दंड देने के लिए समाज में कोई भी आगे नहीं आ रहा है, यह देखकर उन तीनों ने अपनी जान हथेली पर ली और उस अत्याचारी अधिकारी का काम तमाम किया, राष्ट्र की ओर से प्रतिशोध लिया। उन चापेकर बंधुओं के कारण ही मुझे स्फूर्ति मिली। अपने प्राण के विनिमय में देश-शत्रु का प्राण, इस अनुपात से तो हम काम कर ही सकते हैं। फिर कोई पीछे आए या न आए। परंतु प्राय: जैसे आग से आग सुलगती जाती है, वैसे ही देशवीरों के शौर्य से शौर्य भड़कता जाता है—कभी--कभी चिनगारी से दावानल भी भड़क उठता है।'

'आप स्वयं ऐसी गुप्त संस्था की शपथ लेने के लिए तैयार हैं क्या?' केशवानंद ने अंतिम प्रश्न किया।

'क्यों नहीं, सबसे पहले!' मैंने उत्तर दिया।

'तब तो मैं भी तैयार हूँ।' केशवानंद ने आवेग से कहा।

मैंने शिष्टाचारी की ओर देखा। उन्होंने कहा, 'कल पक्का बताऊँगा।' मैंने कहा, 'एक नहीं, दो दिन लें। ऐसे प्रश्न में हम सब जो कुछ करें, वह पूरे विचार से और स्वयं की अनिवार्य इच्छा होने पर ही करें।'

उस रात मैं शिष्टाचारी से कुछ पूछता, इसके पूर्व ही मुझे उन्होंने अपने कमरे में बुलाया। कुछ शंकाओं का समाधान करना चाहा। मैंने उसके यथोचित उत्तर दिए। 'तो फिर अभी तुरंत इस गुप्त संस्था की स्थापना हम कर लें। परंतु उसका नाम क्या हो?' उन्होंने पूछा। 'अभिनव भारत! केशवानंद को भी यह पसंद है।' मैंने कहा। 'सुंदर'—ऐसा कहकर उन्होंने केशवानंद को भी बुलवा लिया। मैंने शपथ का कागज निकाला (वह अंग्रेजी में था) और उनसे कहा, 'यह शपथ पहले स्वयं मन-ही-मन पढ़ लें। उसकी सभ्य, अद्‌भुत भाषा से प्रभावित न होकर, उत्तेजित न होकर, उसके कारण होनेवाले भयंकर परिणामों पर भी सोच लें। यह आमरण व्रत नहीं लिया तो भी चलेगा, पर एक बार ले लिया, तो इससे आमरण छुट्टी नहीं है।'

उन्होंने वह कागज़ मन-ही-मन पढ़ा।

'तो लें यह शपथ! अच्छा! तो सबसे पहले मैं ले रहा हूँ।' मैं उठकर खड़ा हो गया और कागज पर अंग्रेजी में लिखी वह शपथ पढ़ने लगा।

आचार्य बालाराव सावरकर ने उस अंग्रेजी शपथ का मराठी अनुवाद (यहाँ हिंदी) इस प्रकार किया—

'परमेश्वर का स्मरण कर, अपनी मातृभूमि एवं पितृभूमि हिंदुस्थान का स्मरण कर, जिन्होंने हमारा राष्ट्र वैभवयुक्त और समृद्ध किया, जिन्होंने हमारे राष्ट्र की स्वतंत्रता और सम्मान की रक्षा के लिए सफल संग्राम किए, उन सब संतों, महंतों, वीरों और शहीदों का स्मरण कर मुझे यह निश्‍चित रूप से लगता है कि मेरे जीवन का पहला कर्तव्य है अपनी मातृभूमि को अत्याचारी ब्रिटिशों के शस्त्र-बल की जंजीरों से मुक्त करना। अपने राष्ट्र की राजनीतिक स्वतंत्रता फिर से प्राप्त करना मेरा पवित्र मानवीय कर्तव्य है। यह कर्तव्य पूरा करने के लिए, यह उद्‍देश्य पूरा करने के लिए, अवसर देखकर गुप्त और प्रकट रूप में अपने लोगों द्वारा चलाई जा रही राजनीति के साथ सशस्त्र एवं सुसंगठित प्रतिकार करके और अंत में किसी विश्‍व महायुद्ध में अपने शत्रु को पकड़कर संगीन की शक्ति से उसे खून का स्नान कराकर चलता करना, यही सच्चा परिणामकारक मार्ग है। इस नींव पर खड़ी 'अभिनव भारत' नामक अखिल भारतीय क्रांतिकारी संस्था का सदस्य मैं बन रहा हूँ और प्रतिज्ञा ले रहा हूँ कि इस क्रांतिकारी संस्था के ध्वज के नीचे अत्याचारी ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध पूरे प्राणपण से विजयी होने तक मैं लड़ूँगा। हे परमेश्‍वर! इसके लिए तू मुझे सामर्थ्य देना।'

मेरे बाद ही तलवार चलाने जैसे आवेश में केशवानंद ने और फिर शिष्टाचारी ने शपथ ली।

इस तरह उनकी विश्‍वसनीयता की यथासंभव परीक्षा हो जाने के बाद मैंने उनसे कहा, 'आप पहले कह रहे थे कि यदि हिंदुस्थान में ऐसी कोई शक्तिशाली संस्था हो तो उसमें ही सम्मिलित होना अच्छा है, पर कोई सहायक न हो तो हम अपना व्यक्तिगत कर्तव्य तो करें ही—ऐसा संकल्प अपने में उठे, इसलिए मैंने उस समय उक्त विषय पर कोई बात नहीं की थी। परंतु अब अपना वैसा शपथबद्ध संकल्प हो चुका है। अत: यह सुनने के बाद आपमें दुगुना उत्साह संचरित होगा कि हिंदुस्थान की स्वतंत्रता के लिए, अंग्रेजी राजसत्ता का सशस्त्र प्रतिकार करने के लिए तैयार और अभी आपके द्वारा ली गई शपथ से बँधे सैकड़ों देशबंधु जिसमें सम्मिलित, संगठित हैं और नगर, ग्राम, विद्यालय, कॉलेज, सरकारी नौकरियों में भी जिसकी शाखाएँ फैली हुई हैं, ऐसा एक क्रांतिकारी गुप्त संगठन महाराष्ट्र में पहले से ही

अस्तित्व में है। उसका नाम 'अभिनव भारत' है। हाँ, अभी जो आपने स्वीकार किया, वही है उसका नाम। इसीलिए मैंने वह नाम सुझाया। हम भी अब उसके शपथबद्ध सदस्य हो गए हैं।

'वास्तव में उसी संस्था की ओर से मैं इंग्लैंड जा रहा हूँ। बैरिस्टर होने जा रहा हूँ, यह झूठ न होते भी केवल निमित्त मात्र है। इंग्लैंड में हिंदुस्थान के उच्च-स्तरीय बुद्धि के लोग आई.सी.एस., आई.एम.एस., बॉर एट लॉ (I.C.S., I.M.S, Bar-at Law) आदि की परीक्षाएँ देकर हिंदुस्थान में लौटते हैं और तब उनके हाथ में नेतृत्व तथा बड़े अधिकार आ जाते हैं। ऐसे लोग यदि एक समूह में मिल जाते हैं, यदि इंग्लैंड में उनके बीच क्रांतिकारी प्रचार होता है, तो उसका प्रभाव हिंदुस्थान भर में तत्काल फैल सकता है। दूसरी बात यह है कि हिंदुस्थान में हजार सभाओं से जो प्रभाव अंग्रेजी जनता पर नहीं होता, वह इंग्लैंड में एक सभा में खुली क्रांति करने से होगा। लंदन के बीचोबीच, शत्रु की राजधानी में एक क्रांतिकारी साहसी कृत्य करने से यूरोप भर में वह प्रचारित हो जाता है। हमारे तो सारे नरम दलीय नेताओं की भाषा बिलकुल नपी-तुली रहती है। हमारे गरम दल के नेता भी इंग्लैंड जाने के बाद कहेंगे—हम पूरे राजनीतिक हैं। अंग्रेजों का राज बना रहे, यह हम चाहते हैं, क्योंकि भारतीय लोग ब्रिटिश शासन के अधीन ही रहने के योग्य हैं, इस तरह के विचार पक्के हो गए हैं। इसलिए हम अब इस क्रांतिकारी संस्था के मुँह से इंग्लैंड-यूरोप में ही घोषणा करेंगे कि 'यह ब्रिटिश राज-व्यवस्था के सुधार का प्रश्न नहीं है, हमें तो ब्रिटिश राज ही नहीं चाहिए। बेड़ियाँ चाहे सोने की ही बनाकर क्यों न पहनाई गई हों, हैं तो वे बेड़ियाँ ही। हमें ब्रिटिशों की बेड़ियाँ तोड़कर हिंदुस्थान को स्वतंत्र कराना है।'

तीसरी बात पर तत्काल काम करने का हमारा विचार है। वह यह है—आतंकवाद (Terrorism) में सस्ते, सरल और अति प्रभावकारी हथगोले (हैंड बम) आदि शस्त्र रूस आदि में प्रयुक्त होने लगे हैं। क्रांतिकारियों को उनके निर्माण की प्रक्रिया सीखकर स्वदेश में उसका प्रचार करना है। हिंदुस्थान में इस कला का प्रसार अभी तक लोगों के बीच सहज नहीं हो पाया है। इधर वह सिद्ध है और लोग उसमें पारंगत भी हैं। इसलिए वह बम का शास्त्र भी सीखने की हमारी इच्छा है। ऐसे अनेक काम विदेश से ही पूरे हो सकेंगे। सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य यह है कि धीरे-धीरे अंग्रेजों के शत्रुओं से संबंध स्थापित कर, जो किसी महायुद्ध में ली जा सके, इतनी सी उनकी सहायता लेकर, स्वदेश में विद्रोह खड़ा करना है। यह सच है कि ये और अन्य हेतु आज केवल कपोल कल्पनाएँ हैं, पर यह भी असत्य नहीं है कि जो राज्य या राष्ट्र पहले प्रस्थापित हुआ, वह अपने प्रारंभ में निरी कपोल

कल्पना ही थी।'

इस आशय की चर्चा हो जाने के बाद हम तीनों ने अपने भारतीय गुट के अन्य यात्रियों की भी परख की। उनमें से एक-दो जो एकनिष्ठ लगे, उनको भी मैंने गुप्त संस्था की शपथ दिलवाई।

जिस गुप्त संस्था की मराठी शपथ का अंग्रेजी अनुवाद मैंने ऊपर दिया है, उसके संबंध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि उस अनुवाद की सत्यप्रति आज अर्थात् लगभग पचास वर्ष बाद मेरे पास रहना असंभव ही है। वह कितनी ही बार लिखी गई और कितनी ही बार छपने के समय फाड़ डाली गई। फिर शाखा प्रशासन की सुविधा एवं योग्यता के अनुसार मूल हेतु को नष्ट न करते हुए उस शपथ के सरल एवं छोटे संस्करण कितने ही बार कितनों को निकालने पड़े। तथापि इस तरह के अनेक अपवादों के बावजूद मेरी स्मृति में जो बात अच्छी तरह बैठी है, उसके अनुसार 'अभिनव भारत' की प्रतिज्ञा के उस मूल अंग्रेजी अनुवाद का बीज, आकृति, आशय, उद्‌देश्य एवं भाषा इन सब महत्त्वपूर्ण बातों में वह प्रतिज्ञा प्राय: ऐसी ही थी, इसमें आज भी मुझे कोई शंका नहीं है।

उस दिन 'अभिनव भारत' के अंग्रेजी में अनूदित जिस प्रतिज्ञा-पत्र पर पहले सदस्य के रूप में केशवानंद ने हस्ताक्षर किया, वही शपथ लेकर भविष्य में सैकड़ों भारतीय इस गुप्त संगठन में सम्मिलित हुए। उनमें से अनेक ज्ञानी एवं त्यागी, कार्यशील व कर्मवीर, वाग्वीर और रणवीर, वीरात्मा एवं हुतात्मा निकले; उस शपथ ने उन सबके हृदय में स्वेदश की स्वतंत्रता की ज्योति प्रज्वलित की। किसी दिव्य मंत्र की तरह इसी प्रतिज्ञा का उच्चारण करते हुए भारतभूमि की स्वतंत्रता के लिए उन्होंने अत्याचारी विदेशी देश-शत्रु (बकरे) की बलि चढ़ाई या युद्ध की आग में अपना सबकुछ—प्राण भी—अर्पित कर दिया।

'अभिनव भारत' संस्था की यूरोपीय शाखा स्थापित करने के उद्‌देश्य से मैं इंग्लैंड की यात्रा पर निकला था। उसका यह सूतोवाच (आरंभ) मैंने वाष्प नौका पर पैर रखते ही इस तरह किया। इस कारण मेरे मन को बड़ा संतोष हुआ। आगे चलकर इस यूरोपीय शाखा को जो वैश्विक महत्त्व प्राप्त हुआ, उसका प्रारंभ कहाँ और कैसे हुआ, उसे यहाँ थोड़ा विस्तार से बताना आवश्यक ही था। उसमें भी जिस क्रांतिकारी गुप्त संगठन का सदस्य किसी दूसरे को बनाना जहाँ एक उग्र राजद्रोह माना जाता था, वहाँ उस गुप्त संस्था का एक-एक सदस्य बनाते हुए ज्ञान या अज्ञान से उसको समझाने के लिए हर कदम पर स्वयं को जोखिम में डालते हुए काफी तर्क और उदाहरण देने पड़ते थे; उस हर नए व्यक्ति के हृदय में त्याग की, वीर-वृत्ति की अग्नि प्रज्वलित करने के लिए कैसे स्वयं को निरंतर सुलगाए रखना पड़ता था,

इसका नमूना दिखाने के लिए भी इस यूरोपीय शाखा के पहले दो-तीन सदस्यों के मत-परिवर्तन-संबंधी बातों को मैंने थोड़ा विस्तार से लिखा। अब इसके आगे जिन सैकड़ों स्वदेशी बांधवों को मैंने सशस्त्र क्रांति की दीक्षा दी, उनके वे शत-शत नाम मैं चाहूँ तो भी कह नहीं सकता—उसके लिए इस ग्रंथ में स्थान देना संभव भी नहीं है। फिर उसका विवरण कैसे दिया जाए? इस अध्याय में दिए उपर्युक्त नमूने से उन शताधिक प्रकरणों में से हर प्रकरण में प्रचार करते हुए कितना साहस करना पड़ा और कितना रक्त सुखाना पड़ा, इसकी कल्पना ही एक पाठक कर सकता है। प्रतीक के रूप में कुछ विशेष व्यक्तियों का उल्लेख अवश्य किया जाएगा।

ऊपर निर्दिष्ट प्रथम दो सदस्यों में से श्री केशवानंद का उल्लेख अलग नाम से इस ग्रंथ के अंत तक बीच-बीच में आएगा, पर श्री शिष्टाचारी को यहीं विदाई देना अधिक उचित होगा। हम दोनों ही जब तक इंग्लैंड में थे, तब तक उनकी इच्छा के कारण ही मैंने उन्हें कोई प्रत्यक्ष कार्य नहीं सौंपा। इसलिए उनका वास्तविक नाम राजनीतिक आंदोलन के प्रकाश में कभी भी नहीं झलका। परंतु उन्होंने छिपे तरीके से जो कार्य किया, वह स्वार्थ-त्याग कट्टर क्रांतिकारी देशभक्त ही कर सकता था। क्रांतिकारी वाङ्मय छापने और उसे निःशुल्क वितरित करने के व्यय-भार से लेकर शस्त्रास्त्र खरीदने के लिए लगनेवाली गुप्त धनराशि तक, बतौर चंदा मैंने जब भी उनके नाम पर राशि डाली, उसे चुपचाप एवं अनाम रहकर देने से वे कभी नहीं हटे। दंगल होने की आशंकावाली हर सभा में वे बिना कुछ कहे-सुने जान देने के लिए तैयार रहनेवाले अपने दस-बीस आदमियों सहित मेरा संरक्षण करने—किसीकी दृष्टि में न आते हुए—मेरे इधर-उधर तैयार होकर बैठे होते थे।

भारतीय व्यापारी वर्ग में उनका बड़ा प्रभाव था। इन व्यापारियों का कपड़ा, मशीनें आदि सामान बड़ी मात्रा में इंग्लैंड से हिंदुस्थान भेजा जाता। उस सामान में हमारे क्रांतिकारी प्रचार के परचों एवं पुस्तकों के गट्ठे इंग्लैंड से बंबई और पंजाब तक के दस-पंद्रह केंद्रों में पहुँचाने की व्यवस्था श्री शिष्टाचारी ने करवाई थी। मेरा लेख—'शस्त्र कहाँ है क्या पूछते हो? ब्रिटिशों का राज नष्ट करने हेतु तुम्हारे हाथ के शस्त्र ही मातृभूमि के शस्त्र-भंडार हैं'—गुरुमुखी-पंजाबी में अनुवाद कर उन्हें पंजाब की अधिकतर छावनियों में पहुँचाने का कार्य श्री शिष्टाचारी ने संपन्न किया। इस लेख के बँटने की सूचना सरकार को कुछ महीनों के बाद लगी तब बड़ी खलबली मची। उस समय हमारे सहयोगी के रूप में कार्य करते कुछ सेनाधिकारियों ने संदेश भेजा कि सरकार को इस योजना की हवा लगने की प्रबल आशंका है। अतः समय रहते हमने वह मार्ग छोड़ दिया है। इस कारण सरकारी कष्ट से वे व्यापारी एवं श्री शिष्टाचारी बच गए। अंत तक उन्हें इंग्लैंड की पुलिस भी क्रांतिकारी

नहीं समझ सकी। बाद में जब मैं बीमार होकर जनवरी १९१० में पेरिस गया, तब वहाँ मैंने यह उड़ती खबर सुनी कि श्री शिष्टाचारी हिंदुस्थान लौट गए हैं। थोड़े ही दिनों बाद जब मैं पकड़ा गया और राजनीतिक प्रकोप की जो आँधी चली, उसमें या उसके बाद उनका नाम कहीं भी सुनाई नहीं पड़ा। अधिकतर तो वे सुरक्षित रहे, पर कदाचित् न भी रहे हों! कुछ भी हो, उस वाष्प नौका पर 'अभिनव भारत' की जो क्रांतिकारी दीक्षा उन्होंने ली, मेरे इंग्लैंड में रहते हुए उन्होंने उसे यथाशक्ति, त्याग एवं साहस से चरितार्थ किया। मुझसे एकनिष्ठता से प्रेम करनेवाले एक स्नेही और राज्य क्रांति के अगुवा, लड़ाकू-पथ के राष्ट्रीय सैनिक के रूप में शिष्टाचारी एवं उनके साथ ही इस ग्रंथ में सकारण या स्थानाभाव के कारण जिनके कार्य और नाम नहीं रखे जा सके, ऐसे मुझे ज्ञात अनेक क्रांतिकारियों आदि की पुण्य स्मृति को मैं अपनी सीमा तक श्रद्धांजलि-अर्पण के अवसर का लाभ ले लेता हूँ।

दिन भर इस आंदोलन के लिए कार्य करते मेरी कर्मतृष्णा, स्वीकार किए हुए कार्य को करने की क्रियाशील मन की छटपटाहट का एक सीमा तक शमन हो जाता था। पर अपने चिंतनशील मन की लगन को पूरा करने के लिए वाष्प नौका पर चढ़ने के दिन से रात होते ही किसीको भी साथ न लेकर मैं डेक पर चढ़ जाता और एक कोने में एकांत सेवन करता घंटों बैठा रहता। महासागर और आकाश के तारों के वर्णन पुस्तकों में मैंने खूब पढ़े थे, परंतु उस महाभूत का प्रत्यक्ष परिचय तब पहली बार ही हो रहा था। उस मुक्त वायु में बैठने पर उसकी जो शोभा दिखती, वह रमणीय ही थी, मगर मेरे मन पर उसकी दिखती शोभा से अधिक उसकी भव्यता का प्रभाव पड़ता था। नीचे तटरहित वह अथाह महासागर, ऊपर तलरहित वह निस्सीम आकाश! और उस रम्य-भीषण महाभूतों के बीच मनुष्य-निर्मित वह छोटी सी नौका पागलपन की हद तक निर्भयता से अपना रास्ता सरसर काटती चली जा रही थी! उस मकरार्णव महासागर की छाती पर, उस आकाश में सूर्य मालिका की नाक पर अपने नन्हें दीये जलाते हुए हिमालय की छाती पर जैसे कोई जुगनू ठाठ से उड़ता चले, वैसे ही इस क्षण भर मानव का मन भर ढाढस! यदि उस वाष्प नौका को महासागर की एक ही क्रोधी लहर की चपत जैसी लगे तो वाष्प नौका अज्ञात में चली जाए। आकाश में सुलगते अग्नि-भंडार में से छोटे-से-छोटे धूमकेतु का एक छर्रा भी नीचे गिर आता तो सारी मनुष्य जाति सहित यह पृथ्वी भी क्षार-क्षार हो जाती।

उन सात-आठ रातों में मैं अपने तत्त्वप्रवण प्रश्नों के उत्तर हेतु चिंतन में मगन बैठा रहता था। इस प्रलय-प्रभाव के अखंड आवर्तन का हेतु क्या है? साध्य क्या है? या इसका कोई साध्य है ही नहीं? विश्व का यह विशाल आंदोलन किस

उद्देश्य से चल रहा है? या यह कोई खेल है, जिसे शक्कर की चाशनी में लपेटकर 'भगवान् की लीला' कहा जाए? इस महासागर के पेट में सौ-सौ हाथ लंबे अजगर, उनसे भी विशाल मत्स्य, उनसे भी प्रचंड लाखों मगर विचरते हैं। वही स्थिति पृथ्वी की पीठ पर उगे भयानक वनों की होती है। जिस 'लीला' के कारण ये लाखों जीव, लाखों जीवों को खाकर ही जी सकते हैं, प्रलयकाल में सारी पृथ्वी जलने लगती है, भैंसे की टक्कर की तरह सूर्य-सूर्य की टक्कर होकर ब्रह्मांड चूर्ण हो जाते हैं। भूकंप, धूमकेतु, जल-प्रलय, हिम-प्रलय आदि जिस लीला के सौम्य-से-सौम्य खिलौने हैं, उसे मनुष्य की भाषा में भगवान् की लीला कहें या पैशाचिक उत्पादन! और यह लीला या (नाटक) नौटंकी चलेगी भी कितने समय तक? लीला कहें तो एक दिन, एक वर्ष, एक युग, एक कल्प खेलने के बाद कम-से-कम भगवान् को तो ऊब जाना ही चाहिए! पर ब्रह्मांड रचने और तोड़ डालने का यह महामाया का खेल सृष्टि के आरंभ से अनंत काल तक चल रहा है, चलते रहना है। उस भगवान् और महामाया को प्रत्यक्ष 'काल' की भी ऊब नहीं होती।

इस ब्रह्मांड की उथल-पुथल में उस बेचारे श्रमजीवी मनुष्य का स्थान कहाँ है? उसकी ओर कोई झाँककर देखेगा भी या नहीं? या केवल मनुष्य और उसके मन का ही अस्तित्व है, और सारा ब्रह्मांड अस्तित्वहीन है? क्या यह मन को होनेवाला एक आभास-मात्र है? मन सुषुप्ति में विलीन होते ही यह सारा ब्रह्मांड का फैलाव—अस्तित्वहीन हो जाता है और जैसाकि आचार्यों का कथन है—'जागरिते तस्मिन्नेव अग्निस्फुलिंगवत् तस्य प्रतिभास: !'

ऐसी उलटी-सीधी, सच-झूठ, न चाहते हुए भी नकारी न जा सकनेवाली, आवश्यक होते हुए भी साक्ष्यहीन अनेक शंका-कुशंकाओं, प्रश्नोत्तरों से मेरे मन में एक कोलाहल उठता। मुझे यह भी स्मरण है कि मैं फिर सिलसिलेवार विचार करने के लिए उस काल के अपने ज्ञान के अनुसार शून्य से चलकर सब दर्शनों का क्रम लगाता—शून्यवाद, स्याद्वाद, अज्ञेयवाद, जड़वाद, मायावाद, ब्रह्मवाद, उस समय नया ही आगे आया हुआ फ्रांसीसी दर्शनशास्त्री 'कांट' का प्रत्यक्षवाद (Positivism) तथा 'हीगेल' का जड़ाद्वैतवाद (Substance) आदि उस समय जिन-जिनके विचारों को दायरे में ले सका तथा जिनके संबंध में मुझे न्यूनाधिक ज्ञान था, उनको एक क्रम से रखकर उनमें से क्या-क्या पटता है; क्या समझ में आता है, क्या नहीं आता, उसका आलोचन करने में मैं प्रति रात्रि घंटों निकाल देता था।

परंतु उस तात्त्विक आलोचन का विवरण वास्तव में इस आत्म-चरित्र की कक्षा के बाहर का है। उस समय मेरे मनोव्यापार भी कैसे चल रहे थे, मेरे जीवन के तत्त्वज्ञान की बनावट कैसे घटित होती गई, इसकी एक स्थूल रेखा ही आत्म-चरित्र

में देना उचित था। फिर, उस समय किए गए विचार-मंथन का समग्र स्मरण करना भी जरूरी है। उसकी रूपरेखा, उसका आशय, जो ऊपर दिया हुआ है, वह उस समय के प्रमेयों के उस समय के शब्दों में अधिकतर दिग्दर्शित है, इसलिए उन्हें यहाँ देना उचित लगा।

उन लेखों में से प्रथम लेख अर्थात् उन पाँच-छह वर्षों में जो रचा था, काले पानी से छूटकर मेरे आने के पूर्व ही प्रकाशित मेरा वह 'महासागर' काव्य था। वाष्प नौका पर किए गए तत्त्व-चिंतन के ही कुछ बिंदु इस काव्य के पहले कुछ छंदों में आबद्ध हो गए हैं। आगे चलकर जो वैनायक वृत्त (छंद) मैंने प्रचलित किया, उस शैली के वृत्त (छंद) में इस काव्य की रचना की गई है। यहाँ उससे संबंधित कुछ स्तवक नमूने के तौर पर प्रस्तुत हैं—

'महासागर' कविता के कुछ उद्धरण

१

विहित कर्म पुण्य पूत ब्राह्मणों के
अंतिम अर्घ्य का समादर कर गभस्ति
भगवान्, अब कहीं पश्चिम के
अंत:पुर की ओर वेग से प्रवेश कर गए;
चुंबन देती मधुर चंचलता वह
विरहोत्सुक दयिता वह! लाल गुलाबी
गाल से उठती सिहरन! हृदय से
नवजीवन : नख-शिख में चेतना नई!
म्लानमुखी प्राची ले आँचल नभ का
साँझ नहीं दिन है उसकी प्रतीति का!!

२

स्वच्छ शांत गगनशील शांत वृत्ति यह
सांध्य समाधिस्थ जैसे नील जल-निधि
मात्र एक नौका भर है शांत जल में
यह प्रवास पटु अशांत गतियुक्त कितनी
'ज्ञात है क्या है नौका, कि प्रवास यह
कहाँ से तू आई और कहाँ वे तुझे ले जा रहे!'

'हाँ, हाँ, कविराज, जहाँ से आई हूँ और
जहाँ तेरी यात्रा हो रही—सच!
जानते हो जितना ऐ मानव तुम
उतना सब हम नौका भी जानती हैं!'

३

प्रश्न चरम वह युग का
विगत युगों का
केंद्र कहाँ है भुवन का
नाभि नभ की
केंद्र जगत्चक्र का 'मैं' ही
अपना
शून्य के गगन में निश्चल नीरव
चल मध्यद तारिका 'मैं'
ही उदित हुई!

४

'मैं' में भी यह संभव है
दस दिशा
यह प्राची प्रतीची भी,
चलित मैं तो भी
प्राच्य है वह प्रतीच्य।
और उस, वैसी
संज्ञा की जिसमें विलुप्त
मैं तो भी।

५

कहते जो यह 'पूजा मानव जाति की
भक्ति परा यह, यही धर्म मानव का
किंबहुना देवालय कभी न उदित होते
होते फिर वे प्रेत, भूत, देवनिष्ठ या
मानव हित-अहित के जो अनन्य से

ज्ञात अथवा अज्ञात पर न हुआ
यह नींव, शिखर और! स्वर्ग भी वैसा!
मानव हिताहित पुण्यापुण्य हे ईश्वर
इस सापेक्षता की निरपेक्ष भाविता
ईश्वर नर की प्रतिमा-अधि-नरी कृता!'

६

वे न देखते क्या ऊपर : वे फूल वैसे
पिरोकर सूत्र में से गति-गति के
इन अनंत तारों की माला यह ऐसी
कंठ में विराट् पुरुष के शोभित जैसे
उसके आगे अस्थि के नहीं
होने लौह के तो भी झुकने नर जानू उसी क्षण!

७

न समझे कहते जो लव तो भी समझे
समझे कहते जो वे नहीं समझे
लाभ क्या बैठकर निरुत्तर से या शक्ति से
प्रतिस्पंदन में हृदय हाँक दे जहाँ,
'विश्वंभर! विश्वकार!! धन्य, धन्य हो!
सिंधु धर्मबिंदु तेरा! और तेरे
चंडकारखाने में सूर्य शत-शत हैं
उड़ती चिनगारी केवल बुझती-चमकती
निहाई पर स्थान के कितने ऐसी
काल धन से रचते विश्व और बिगाड़ते!!'

८

तू कर्ता, करवाता, कार्य तू, कर्तु
निरपेक्ष भी तू ही सापेक्ष पुराना
सांख्य पुरुष, पुरुषोत्तम योगयुक्त तू
स्यात् तू, तू शून्य और सत् भी तू ही है
हे अणोरणीयान्, महातोपि महीयान!

वंदन नहीं संभव, वाक् न मौन मानव का
फिर भी विश्वगीत त्वास्तोत्र है महान्
प्राण की तार-तार सिहरे
गाऊँ लेकिन गीत वही समझे नहीं
प्रभु प्रवृत्ति से तेरे ही अवश यह गूँगा!

९

न समझते! क्या पर यह प्रभव होता है
सफल प्रलय में मात्र! धर्म रहता है।
ग्लानि प्रथम आती यद्यपि (घटना) पुनरापि होती है
तुझे अभ्युत्थान के लिए अवतरित होना पड़ता है
मिट्टी के महल-खस्ता होकर
होती मिट्टी ही फिर से? लगाई कभी
दौड़ ऐसी गगन-मंडल में, क्या किसीने
इन सहस्त्र सूर्यों की? खेल-खेल में?
काल का उचाट क्या नहीं आता तुझे!
बनाते-बिगाड़ते जन्म गँवा दिया!!

१०

समझेगा 'तू' यह कब? यह जहाँ
क्षुद्र 'मैं' यह समझे नहीं मुझे जनार्दन!!
मुरली-सी मुरलीधर बजाएगा तब
बजाए बिना गीत रहा ही न जाए
इसीलिए धर्मवीर इस युद्ध-प्रांगण में
'मान' के लिए मरता है वह रणगर्ज और
गूँज रहा शतकों से आज इस क्षण भी
रक्त बिंदु-बिंदु से देता प्रतिध्वनि
—दे प्रतिध्वनि ही समझता नहीं क्या
प्रभु प्रवृत्ति से तेरे ही अवश यह गूँगा।

समुद्र और आकाश की अंजुली में चाँदनी रात

सुनील नभ यह, सुंदर नभ यह, नभ यह
अतल अहा!

सुनील सागर, सुंदर सागर, सागर अतल है यह
नक्षत्रों से तारांकित यह नभ चमचम हँसे
प्रतिबिंब में वैसा सागर भी तारांकित लगे
समझ न पड़े कहाँ नभ कहाँ जल-सीमा है
नभ में जल वह, जल में नभ वह संगमित हो जाए
सच कौन सा सागर इसमें ऊपर या नीचे?
सच वैसा आकाश कौन सा, चकित मति होती
आकाशीय तारे सागर में प्रतिबिंबित दिखते
या आकाश में बिंबित सागरीय मोती
या आकाश ही सारा या सागर सारा
भवसागर कहते पुराणों में वृद्ध ऋषि जिसे!

ऐ चाँदनी! सुख-शीतल दिखती वैसी ही होगी न?
आग[१] लगे उन्हें जो आग के गोले कहते तुम्हें
विमत विरत मेघों की रजाई ओढ़ निद्रित-सी
ऐसी अप्सरा के अनावृत बदन-सी शोभित
आह्लादक कितना चंद्रबिंब यह नंदसुधा झरना
फूटे शीशा[२]-वह कंगाल जो उसे मसणासम करता!
चंद्र-तारों का अंतर नापकर ईश्वर ने
रोपी नभ में और नयन में काँच सुललित विधि से
उनका रूप रिझाए जन को आह्लादक कोमल
फूटें उसे विद्रूप करतीं दूरबीन की आँखें!

कहते ज्योतिषी वैसे आग के गोले हैं तारे
होंगे दूसरे, नहीं ये, ये तो अमृत बिंदु सारे
असुरों-सुरों में हुए समुद्र-मंथन काल में
अमृत कलश आते ऊपर खींचतान बड़ी हुई
खींचातानी में चारों ओर अमृत बिंदु बिखरे
उन्हें तारे कहकर ज्योतिषी बड़े-बड़े धोखा खाए!

---

१. वे नन्हे तारे न होकर बड़े-बड़े आग के गोले हैं, अग्निपिंड हैं—ऐसा जो ज्योतिष शास्त्रज्ञ कहते हैं, उनके ऐसे संशोधन को आग लगे।

२. दूरबीन का शीशा : क्योंकि दूरबीन से चंद्र एक उजाड़, रूखा, निर्जीव उपग्रह जैसा दिखता है।

सुनील वस्त्र पर प्रकृति-माँ के दमकती टिकलियाँ
उन्हें तारे कहकर ज्योतिषी बड़े-बड़े धोखा खा गए!
झुंड जुगनू के नंदन वन में चमके
उन्हें तारे कहकर ज्योतिषी बड़े-बड़े धोखा खा गए!

सुवर्ण गौर गौरी से हर लीलारत हुए
खटखटा दरवाजा श्री हरि मिलने आए
नग्न झटपट गिरिजा दौड़े वस्त्र सँभाले
झटका खाकर गले की माला खट से टूटी
उस माला के मोती इधर-उधर बिखरे
उन्हें तारे कहकर ज्योतिषी बड़े-बड़े धोखा खा गए!

दशानन हरकर जानकी नभ-पथ से ले गया
अश्रुबिंदु जो जानकी के टपटपाए उस समय
वे ही रह गए ऐसे चमकते किसी दिव्य बल से
उन्हें तारे कहकर ज्योतिषी बड़े-बड़े धोखा खा गए!

आकाश का ग्रंथ संग्रहालय को अर्पित किया
काल[१] ने ग्रंथ प्रचंड विश्व-इतिहास जो लिखा
रौप्य मुद्रिकांकित उसके खंड अनुक्रम से रखे
उन्हें तारे कहकर ज्योतिषी बड़े-बड़े धोखा खा गए!
पर रे सागर, बता यह क्या झमेला? वह कहाँ की
चमक चाँदनी कैसी? नभ से भागकर छिपी
ऐसी रात में, ऐसी, अकेली झटपट घुस गई
तेरे जल-मंदिर में पूरी गायब हो गई?
लज्जित न हो, जा भोग-विलास कामोत्सुक तू वह
तेरे शत जल तरंग[२] मंजुल सुख में साथ देंगे!

---

१. काल ने विश्व-इतिहास का प्रचंड ग्रंथ लिखा, क्योंकि विश्व के इतिहास की जानकारी काल से अधिक किसको होगी? उस विश्व-इतिहास का एक-एक खंड अर्थात् 'तारा', विश्व का विकास कैसे-कैसे होता गया, यह कहनेवाला एक-एक तारा अर्थात् एक-एक ग्रंथ है और उस विश्व इतिहास की प्रचंड ग्रंथमाला को पूरा कर सके, ऐसा ग्रंथालय है आकाश!

२. श्लेष से 'जलतरंग' वाद्य पर।

प्रेम की तारिका जिसकी दूर रहती है
कितने यात्री बेचैन होंगे, तेरे पास जो हैं!
तेरा अपनी तारिका से देख प्रिय संगम सच्चा
तुझसे मत्सर नहीं पर वियोगी जन का छत्र है
ऐ तारो, जानते हो कहाँ से तुम आए
कहाँ चले, किस हेतु से इस यात्रा में
क्या हेतु है जिसके कारण तुम गगनगामी हो
सूर्य से इतने दूर अकेले विचरण कर रहे?
गजराज से तितली की सुरंग शोभावे
बीज फूले, फूलकर सूखे, सूखकर बीज हो जाए
छोटे-बड़े घटिका यंत्र बहुविध यंत्र वे
अपने-अपने गति से एकता साधने चलती
ऐसा कौन सा हेतु जिसको सिद्ध करने
विश्व के ये चक्र घूमते महान् घड़ी के?
हमें ना समझे इसलिए पूछता हूँ तुम्हें समझता क्या वह :
या बिना समझे वर्तन करना इतना ही ज्ञान है।

इस बीच हमारी वाष्प नौका पश्चिमी समुद्र (अरब सागर) पार कर अदन जैसे सिंधु-द्वारों और स्वेज नहर से गुजरती हुई स्वेज में ठहरी। वहाँ का जो दृश्य मैंने देखा, वह मुझे अपूर्व लगा। वह बड़ा अर्थवाहक भी था। उस वाष्प नौका पर अपने-अपने देशों की विशेष वस्तुओं को बेचने तथा अन्य कारणों से भी मनुष्य निरंतर आ-जा रहे थे। वह सिंधु-द्वार तीन महाद्वीपों—एशिया, अफ्रीका और यूरोप का संगम-स्थल है। इन महाद्वीपों के लोगों के रंग, रूप एवं भाषा की एक छोटी प्रदर्शनी ही मानो वहाँ लगी थी। अफ्रीका के काले-कलूटे नीग्रो लोगों से लेकर चीन-जापान के पीले रंग तक के और बीच की अनेक छटाओं के आदमी वहाँ मिश्रित थे। अपनी-अपनी भाषाओं से अपने-अपने व्यवहार किसी-न-किसी तरह पार लगाने, नीग्रो भाषा से लेकर जापानी भाषा तक—विश्व की अधिकतर भाषाओं के शब्दों से मिलकर एक कामचलाऊ मानवी भाषा वहाँ उस क्षण के लिए बन जाती थी। उस समय मनुष्य जाति की मूलभूत एकात्मता के उस प्रत्यक्ष दर्शन का इतना गहरा प्रभाव मेरे मन पर पड़ा कि उस रात मैंने उस प्रसंग और विचार पर आर्या छंद में एक कविता भी रच डाली। वह अब पूरी तरह स्मरण नहीं आ रही—दो-चार पंक्तियाँ, जो अभी स्मरण हैं, यहाँ उद्धृत करने का कोई तुक नहीं

ह—इसालए उन्हें नहीं लिख रहा हूँ।

स्वेज के बाट वह नौका भूमध्य सागर पार कर फ्रांस के सिंधु-द्वार मार्सेलिस में जैसे ही आई, हम इंग्लैंड जानेवाले यात्री उस वाष्प नौका पर से नीचे उतरे। यहाँ से इंग्लैंड की ओर जानेवाली रेलगाड़ी आने के पहले काफी समय था। उतने में मार्सेलिस नगर देखने की विशेष उत्सुकता मुझे थी। सन् १७८९ की विख्यात फ्रांसीसी राज्य क्रांति पर लिखी पुस्तकों, जो तब तक मैंने पढ़ी थीं, से मुझे यह ज्ञात था कि उस क्रांति की प्रलयंकर अवधि में जिस रणगीत ने सारे फ्रांस का अंत:करण चेताया था, जिस रणगीत को गाते-गाते चढ़े रण-आवेश में फ्रांसीसी क्रांतिकारियों की चतुरंग सेना बेसुध होकर यह भूलकर कि पृथ्वी पर मृत्यु नामक कोई स्थिति भी होती है, इंग्लैंड, पर्शिया, स्पेन, ऑस्ट्रिया आदि देशों की सेनाओं को चकनाचूर करती गई थी और जो रणगीत अगले सौ वर्षों तक फ्रांस का वास्तविक राष्ट्रगीत माना गया, वह 'मार्सेलिस' नामक रणगीत उस क्रांति के आवेश में इसी मार्सेलिस नगर के किसी Rouget De Lisle नामक कवि ने लिखा था। मार्सेलिस के मुट्ठी भर क्रांतिकारी स्वयंसैनिकों की जो पहली टोली पेरिस की नई राष्ट्रीय सेना से मिलने के लिए पैदल चली, उसीने उक्त रणगीत को गाते-गाते सारे फ्रांस में आग की ज्वाला की तरह फैला दिया था।

मुझे आकर्षित करनेवाली इस नगर की दूसरी विशेष बात यह थी कि स्वदेश की स्वतंत्रता के लिए सशस्त्र आंदोलन करने के अपराध में इटली को दास बनाए हुए सत्ताधारियों ने मैजिनी को जब नवतरुणाई में देश-निकाला दिया, तब वह फ्रांस की शरण में आया और पहले इसी मार्सेलिस नगर में रहा। किसीसे भी जान-पहचान नहीं; न खाने की व्यवस्था, न पहनने की। ऐसी विपत्ति में भी उसने धैर्य न छोड़ते हुए अपनी 'तरुण इटली' संस्था की स्थापना इसी नगर में की। आगे चलकर इटली के विदेशी सत्ताधीश ऑस्ट्रिया ने उसे मृत्युदंड देने की घोषणा की, पर फ्रांस में उसपर अमल करना संभव नहीं था। इसलिए मैजिनी ने यह नगर नहीं छोड़ा। अंत में ऑस्ट्रियाई सरकार के दबाव में फ्रांस ने भी मैजिनी को फ्रांस छोड़ देने के लिए कहा, पर उसने उसकी अवहेलना की और भूमिगत होकर मार्सेलिस में ही पड़ा रहा।

कुछ समय बाद इटली के क्रांतिकारियों ने एक आक्रमण की योजना बनाई और उसकी अगुवाई करने के लिए मैजिनी ने स्वत: फ्रांस छोड़ा, तभी उसका मार्सेलिस छूटा। जोसेफ मैजिनी जैसे महान् देशभक्त की अज्ञात और कष्टकर अवधि का वह कर्मक्षेत्र होने और 'तरुण इटली' नामक क्रांतिकारी गुप्त संगठन का जन्म-स्थान होने के कारण मार्सेलिस मेरे लिए किसी धर्मक्षेत्र के समान ही था।

इस भावना से मार्सेलिस में उतरते ही नगर के कुछ महत्त्वपूर्ण भाग देखने के लिए एक मार्ग प्रदर्शक की सेवाएँ लेकर मैं गाँव में घुसा। वह मार्ग प्रदर्शक मुझे स्थानीय महत्त्व की संस्था, बगीचे, पुरातन अवशेष इत्यादि दिखाने लगा। तब मैंने उसे रोककर कहा, 'इटली को स्वतंत्रता दिलवानेवाला महान् नेता मैजिनी जहाँ रहता था, वह मकान मुझे दिखाओ।' यह सुनकर वह मार्ग प्रदर्शक कुछ देर तक तो भूमि की ओर ही देखते हुए खड़ा रहा और फिर सिर ऊँचा कर उसने धीरे से कहा, 'मैजिनी ? कौन थे वे ? आपके पास उनका पता हो तो मैं उन्हें खोजूँ। यहाँ किसीको उनका पता नहीं मालूम। मैं यहाँ का पुराना मार्ग प्रदर्शक हूँ, परंतु मैं तो यह नाम पहली बार ही सुन रहा हूँ।'

उसके इस रूखे उत्तर से मेरा चेहरा उतर गया। परंतु लगा कि यह तो कही-सुनी कहनेवाला एक अनभिज्ञ मार्ग प्रदर्शक है। इसे कहाँ होगी इतिहास की इतनी जानकारी ? संपादक या शिक्षक श्रेणी के किसी नागरिक से पूछकर देखा जाए। यह बात मैंने उस पथ प्रदर्शक से कही, तो पता लगा कि उस रास्ते से थोड़ा आगे जाने पर किसी समाचारपत्र का कार्यालय था। वह पथ प्रदर्शक वहाँ गया और कुछ ही देर में लौटकर मुझसे बोला, 'वे कहते हैं कि इटली के जोसेफ मैजिनी के घर का पता हम मार्सेलिसवासियों को ज्ञात नहीं है। उस यात्री से कहना कि वह इटली जाकर उसके घर का पता पूछकर आए—वहीं वह मिलेगा तो मिलेगा।'

समाचारपत्र के संपादकीय विभाग के लोगों के उस उत्तर के व्यंग्य की चोट लगते ही मेरी जिज्ञासा की रही-सही हवा भी निकल गई, मुझे हँसी आ गई। मन में आया कि साठ-सत्तर वर्ष पूर्व जब मैजिनी पहली बार मार्सेलिस में आया था, तब भी वह उस काल की पीढ़ी से अपरिचित अकेला एक परदेसी दुर्लक्षित युवक के रूप में ही यहाँ भटकता रहा होगा। ऐसे नाना देशों के सैकड़ों यात्रियों का आना-जाना समुद्र मार्ग से इस नगर में हमेशा चलता रहता है। आज मैं भी, एक भारतीय क्रांतिकारी इस मार्सेलिस की सड़कों पर जैसे घूम रहा हूँ और मेरी ओर कोई भूलकर भी नहीं देख रहा है, वैसे ही इटली का वह क्रांतिकारी तरुण इस नगर में उस समय भटकता रहा होगा और उसकी ओर किसीने भूलकर भी देखा नहीं होगा। मैजिनी ने 'तरुण इटली' नामक संस्था जब यहाँ स्थापित की, तब उसकी प्राथमिक स्थिति एवं शक्ति आज के हमारे 'अभिनव भारत' जैसी ही रही होगी। स्वाभाविक है कि उसके आँगन के बाहर उसका परिचय या महत्त्व किसीको ज्ञात नहीं होगा। फ्रांसीसियों को तो इटली की उस संस्था से कोई जुड़ाव ही नहीं था।

बाद में मार्सेलिस नगर छोड़कर जाने के अनेक वर्षों बाद मैजिनी को विश्व-कीर्ति मिली। जैसे आज मुझे मार्सेलिस में कोई 'आइए, बैठिए' नहीं कर रहा

है, तो वह उनकी अनभिज्ञता का दोष नहा कहा जा सकता, वैसे ही उस अज्ञात तरुण, विदेशी और भटकते मैजिनी के घर की चिंता मार्सेलिस की उस पीढ़ी के नागरिकों ने नहीं की, तो वह स्वाभाविक ही था। अच्छा स्मरण हो आया। मैजिनी का कोई ढंग का घर तब था ही कहाँ? भूमिगत, गुप्त, भटकता जीवन था उस निर्वासित देशभक्त का। इस तरह मैजिनी का घर मुझे न दिखा पाना—उस मार्ग प्रदर्शक या नागरिक की अनभिज्ञता नहीं थी—थी तो केवल पूछनेवाले की अप्रयोजकता।

इस दौड़-धूप में मार्सेलिस का जो विशेष भाग मैंने देखा, अर्थात् जिस रास्ते से वह मार्ग प्रदर्शक मुझे जिस किसी एक भाग में ले गया था, वह उस नगर का पुराना भाग रहा होगा। हमारे प्राचीन नासिक की तरह सँकरी गलियों आदि से भरा हुआ और आश्चर्य यह भी कि वहाँ के रास्ते नासिक के पुराने रास्ते जैसे ही छोटे-बड़े, टेढ़े-मेढ़े शिला-पत्थरों से कोई सौ-दो सौ वर्ष पूर्व बने थे, फिर भी अभी तक मजबूत थे।

मैं उधर से लौटा तो इंग्लैंड जानेवाली गाड़ी के छूटने का समय हो गया था। वाष्प नौका में मेरे साथ जो भारतीय गुट था, उनके साथ मैं गाड़ी में बैठा। गाड़ी छूटते ही मार्सेलिस—रणगीत के स्फूर्ति-स्थान, मैजिनी के निवास-स्थान एवं 'तरुण इटली' के जन्म-स्थानवाले उस नगर को एक ऐतिहासिक क्षेत्र मानते हुए मन-ही-मन मैंने फिर से नमस्कार किया।

उस समय कोई कल्पना नहीं थी कि जिस मार्सेलिस के नागरिकों में किसीको मेरा नाम भी मालूम नहीं और इसी कारण आज मेरी ओर कोई देख भी नहीं रहा है, उनमें से सैकड़ों नागरिक कुल चार वर्ष बाद ही मेरे इर्दगिर्द इकट्ठा होंगे और आश्चर्य से एक-दूसरे से मेरा परिचय पूछेंगे। यहाँ के समाचारपत्रों के विशेषांक निकलेंगे और उनमें मोटे अक्षरों में मेरा नाम लिखा होगा। और इस बहाने सारे उस सनसनीखेज समाचार की ओर कि ब्रिटिशों की राजनीतिक दासता से हिंदुस्थान को मुक्त कराने के लिए उस देश में सशस्त्र क्रांति की गतिविधियाँ काफी तेज हैं, राजनीतिक विश्व का ध्यान इतनी व्यापकता और प्रबलता से आकर्षित होगा, जितना इससे पहले कभी नहीं हुआ। इतना ही नहीं, मेरे कारण उस मार्सेलिस नगर का नाम भी पूरे वर्ष विश्व में गूँजता रहेगा! इस समय इसकी कल्पना भी किसीको नहीं है!

□

प्रकरण–२

मैं जब लंदन पहुँचा

गत अध्याय में जैसा मैंने कहा, मार्सेलिस से हम निकले, तो रास्ते में फ्रांस से जाते समय पेरिस आदि के प्रसिद्ध स्थान देखने के लिए ठहरे बिना सीधे लंदन गए अर्थात् ९ जून, १९०६ को बंबई से जो निकले तो २-३ जुलाई को लंदन पहुँच गए।

लंदन के स्टेशन पर मुझे लेने के लिए पंडित श्यामजी कृष्ण वर्मा के 'इंडिया हाउस' के कुछ प्रमुख लोगों की मंडली आई हुई थी। मेरे साथ-साथ रहने को मिलेगा, इसलिए मेरे मित्र हरनाम सिंह ने भी दूसरे स्थान पर जाने का अपना कार्यक्रम छोड़ 'इंडिया हाउस' में ही ठहरने का निश्चित किया और वे भी मेरे साथ वहीं उतर गए। मेरे साथ आए अन्य भारतीय मित्र अपने-अपने पूर्वनियोजित स्थानों पर रहने के लिए निकल गए।

'इंडिया हाउस' में रहनेवाले लोगों में से किसीसे भी मेरा प्रत्यक्ष परिचय नहीं था। इंग्लैंड जैसे बिलकुल अलग संस्कृति वाले देश में अपरिचित अकेले जाने पर वहाँ के शौच, मुख-मार्जन, स्नान, खाने-पीने, उठने-बैठने आदि दैनिक आचार से लेकर वेश, भाषा, पारिवारिक एवं सामाजिक शिष्टाचार तक की पद्धति में अपनी पद्धति से भिन्नता ही नहीं थी, अपितु कुछ प्रकरणों में जो विरोध होता है, उससे नवागत को बड़ी असुविधा होती है, बुझा-बुझा सा लगता है। उन विदेशियों द्वारा हमें अनाड़ी समझा जाता है और वे एक सीमा तक अपने को टालना चाहते हैं। परंतु मुझे पहले जाति से अंग्रेज के यहाँ या अंग्रेजी निवासालय (होटल) उतरना नहीं पड़ा, बल्कि जहाँ सामान्य भारतीय वातावरण एवं स्वदेशी लोगों का सहानुभूतिपूर्ण संसर्ग मिलनेवाला था, उस 'इंडिया हाउस' में ही रहना पड़ा। इस कारण मुझे विदेश में पैर रखते ही बार-बार दुविधा का सामना नहीं करना पड़ा। वहाँ की जलवायु की

तरह ही वहाँ के रहन-सहन का अभ्यस्त मैं होता चला गया। इंडिया हाउस में मेरे पूर्व से रह रहे भारतीय छात्रों एवं अड़ोस-पड़ोस के भारतीय सज्जनों से परिचय भी मैंने जल्द ही कर लिया और कोई एक सप्ताह के अंदर मैंने अपने राजनीतिक प्रचार का कार्य प्रारंभ कर दिया।

इस राजनीतिक प्रचार की योजना मैंने भारत में रहते हुए ही मन में तैयार कर ली थी। इसीलिए इंग्लैंड के लिए निकलने से पूर्व महाराष्ट्र की हमारी स्थानीय 'राष्ट्रभक्त' समूह 'मित्र मेला' आदि क्रांतिकारी संस्थाओं के नाम को गौण रखकर उन सब शाखाओं और जान-बूझकर अलग रखी गई स्थान-स्थान की गुप्त मंडलियों का एकत्रीकरण हमने आयोजित किया। इसके अलावा नासिक में बड़े समारोह एवं संस्कारपूर्वक इस एकात्म और एकसंघ संस्था का मेरे द्वारा ही नियोजित 'अभिनव भारत' नामकरण हुआ। सारे भारत को बाँध सके, यह ऐसा नाम था। 'अभिनव भारत' नाम रखने के पीछे मेरा मुख्य उद्देश्य था कि इस क्रांतिकारी गुप्त संस्था का प्रचार पूरे भारत में हो। वह उद्देश्य बड़े परिमाण में एवं सापेक्षत: अल्प श्रम में साध्य करने का अवसर मुझे इंग्लैंड पहुँचने पर मिला। उसका कारण यह था कि 'अभिनव भारत' संस्था का भारतव्यापी कार्यक्रम मेरे इंग्लैंड पहुँचते ही मुझे प्रत्यक्षत: और प्रभावकारी ढंग से व्यवहार में लाना अधिक सरल होनेवाला था। इंग्लैंड में उसी समय जाने का मेरा यह भी एक प्रमुख उद्देश्य था, क्योंकि लंदन में अखिल भारतीय राजनीतिक एवं सामाजिक संस्थाओं के हर प्रदेश के भारतीय नेता, बड़े-बड़े राजे-महाराजे, भारतीय व्यापार एवं वाणिज्य के करोड़पति सेठ और सारे भारत के चुने हुए युवक वहाँ सहज मिल सकते थे, इकट्ठे आ सकते थे। उनसे समान भूमिका पर संग-साथ, संवाद एवं सहयोग हिंदुस्थान में रहते जितना मिल सकता था, उससे सौ गुना अधिक इंग्लैंड में और विशेष रूप से लंदन में सरलता से मिल सकता था।

विदेश में यहाँ-वहाँ फैले हुए विदेशी समाज में जब हम अकेले पड़ जाते हैं, तब वहाँ उस अभाव में मिला अपरिचित स्वदेशीय भाव दिखते ही तुरंत अपना-सा लगता है। उससे परिचय भी सहज हो जाता है। दोनों के मध्य खड़ी जाति, प्रदेश, प्रतिष्ठा आदि भिन्नताओं की भावना कम होकर एकदेशीयता का संबंध काफी तेजी से जाग्रत होता है। अपनत्व लगता है और देशबंधु के रूप में निवास तथा सभा-सम्मेलनों में वे समान भूमिका पर एकत्र हो जाते हैं। उस समय भारतीय यात्रियों के लंदन जैसे केंद्र में कोई भी भारतीय अगर अपने घर पर चाय-पान का छोटा सा समारोह भी करता है तो इतने प्रदेशों की अलग-अलग श्रेणियों, प्रतिष्ठाओं और जातियों के देशबंधु सहज ही इकट्ठा हो जाते हैं, मिल-जुलकर चाय-पान और

सहभोज में सम्मिलित हो जाते हैं। हिंदुस्थान में वैसे ही उन्हें एकत्र करने में दूर-दूर की यात्रा और सैकड़ों रुपए व्यय करके भी अखिल भारतीय परिषद् ही बुलानी पड़ती है, परंतु लंदन में ऊपर वर्णित रीति से वह काम सरलता से हो जाता है। इसलिए वहाँ पहुँचते ही मैंने 'अभिनव भारत' की ध्येयपूर्ति के लिए उसकी ध्येय-नीति का प्रचार प्रारंभ कर दिया।

उस प्रचार-कार्य का विवरण देने से पूर्व जब मैं लंदन में पहुँचा, तब ब्रिटेन में कौन-कौन सी भारतीय राजनीतिक संस्थाएँ एवं प्रमुख व्यक्ति काम कर रहे थे, उनके उद्देश्य तथा कार्यक्रम क्या थे और ब्रिटिश साम्राज्य की शक्ति तथा हिंदुस्थान के संबंध में ब्रिटिश जनता की मनोवृत्ति क्या थी, इसका आकलन करने से पहले किस परिस्थिति में और वहाँ के भारतीय आंदोलन के किस बिंदु से मैंने राजनीति का सूत्र हाथ में लिया, वह यथावत् स्पष्ट हो सकने के कारण मेरे लंदन जाने के पूर्व ब्रिटेन में भारतीय राजनीति के आंदोलन का मोटा सा परिचय मैं अपने दृष्टिकोण से यहाँ पाठकों को करवा देता हूँ।

दादाभाई नौरोजी

ब्रिटेन में हिंदुस्थान के हित की दृष्टि से सन् १८५७ के क्रांति-युद्ध के पश्चात् संगठित एवं निरंतर प्रचलित राजनीतिक आंदोलन का सूत्रपात करने का श्रेय देशभक्त दादाभाई नौरोजी को ही दिया जाना चाहिए। उनका जन्म बंबई में सन् १८२५ में हुआ। पारसी समाज में उस समय चालू रूढ़ि के अनुसार उनका विवाह पंद्रह वर्ष की आयु के पूर्व ही हो गया। हाई स्कूल में उनकी बुद्धि की तीव्रता देखकर उन्हें बैरिस्टरी के लिए भेजने की बातें चल रही थीं, परंतु उनकी माता तथा संबंधियों ने उन्हें जाने नहीं दिया। कारण यह था कि इसके पूर्व जो इक्के-दुक्के पारसी तरुण इंग्लैंड गए थे, उनमें से कुछ ने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया था। फलतः पारसी समाज में तरुण लड़कों को विलायत भेजने के विरुद्ध बड़ी खलबली मची हुई थी। धीरे-धीरे दादाभाई पारसियों में सामाजिक सुधार एवं शिक्षा का प्रचार करने के आंदोलन में सार्वजनिक रूप से भाग लेने लगे थे। सन् १८५२ में बंबई में 'बॉम्बे प्रेसीडेंसी एसोसिएशन' नामक बंबई की पहली राजनीतिक संस्था की स्थापना हुई। उस समय एक होनहार युवक के रूप में दादाभाई ने एक व्याख्यान दिया। वह उनका पहला राजनीतिक भाषण था। उसमें उन्होंने कहा—

'Under The British govt. we do not suffer any great Zulum. We are comparetively happier under this kind of government than we are likely to be under any other government. Whatever

evil we have to complain originates from one cause alone viz the ignorance of European officers coming fresh from home (Life of Dada Bhai Nauroji by R.P. masani; page 55)

सारांश यह कि 'ब्रिटिशों के राज में कहने योग्य कोई जुल्म हमपर नहीं होता। अन्य किसी भी राज में जितने सुखी होते, हम उससे अधिक सुखी इस दयालु राज में हैं। जो थोड़ा-बहुत कष्ट होता है, उसका कारण इतना ही है कि ब्रिटेन से आनेवाले नए अधिकारियों को हमारी परिस्थिति का अधिक ज्ञान नहीं रहता।'

डलहौजी जैसा घाघ ब्रिटिश गवर्नर जनरल जिस समय हिंदुस्थान को परतंत्रता की चक्की में पीस रहा था, उस समय के ब्रिटिश शासन का यह विवरण, यह भक्ति, कितनी भोली, कितनी गलत, पर सच्ची थी।

उस समय के अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त हमारे अधिकतर लोगों की राजनीतिक निष्ठा का स्वरूप दादाभाई के इस पहले ही व्याख्यान में प्रतिबिंबित है, इसमें कोई शंका नहीं। दादाभाई ने जब यह भाषण दिया, तब और उसके बाद के अनेक वर्ष वे प्रत्यक्ष राजनीति में नहीं पड़े थे। परंतु आश्चर्य यह कि आगे जब उन्हें राजनीति में अगुवाई प्राप्त हुई, तब भी, अर्थात् सन् १९१७ में जब उनकी मृत्यु हुई, तब के वर्ष के अनेक अंतिम राजनीतिक संदेश के तल में भी उनके उस प्रथम भाषण की पंक्तियों की मूल भावना जैसी-की-तैसी थी। अपने अंतिम भाषण में वे कहते हैं—

'Let us appeal to British sense of justice and fairplay and take it for granted that England would do justice when she understands.'

दादाभाई के प्रथम भाषण के बाद जल्दी ही, अर्थात् सन् १८५५ में जब नाना साहब के राजदूत अजीमुल्ला एवं सतारा के रंगो बापूजी सशस्त्र क्रांति की योजना बनाकर इंग्लैंड छोड़ हिंदुस्थान लौट रहे थे, तब दादाभाई पहली बार इंग्लैंड गए— परंतु केवल अपने व्यापार-धंधे के लिए। भविष्य में राजनीति में पड़ना पड़ेगा, इसकी कल्पना उन्हें नहीं थी। न्यूनाधिक दस वर्ष तक वे व्यापार ही करते रहे। परंतु अनेक आर्थिक बाधाओं के कारण अंत में सन् १८६६ में उन्होंने व्यवसाय बंद कर दिया। फिर भी इंग्लैंड में वे स्वतंत्र रूप से सपरिवार रह सकें, इतना धन-संग्रह उन्होंने कर लिया था। वे लंदन में बस गए और धीरे-धीरे राजनीति में सक्रिय भाग लेने लगे।

लंदन इंडियन सोसायटी

पहले-पहल लंदन में ही रह रहे डब्लू.सी. बनर्जी नामक भारतीय नेता के

सहयोग से 'लंदन इंडियन सोसायटी' नामक संस्था दादाभाई ने स्थापित की। उसके अध्यक्ष दादाभाई ही थे। ब्रिटेन में भारतीय लोगों द्वारा संगठित रूप से चलाई जानेवाली पहली संस्था यही थी। उसके सदस्यों को ब्रिटिश शासन से राजनिष्ठ रहने की प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी। उसके मार्ग प्रदर्शन के लिए दादाभाई बार-बार कहते थे—

'We must strive for the diffusion of knowledge about Indian affairs in England. The British people are not kept well inforrmed regarding the fact that the Indian govt. did not act up to the British ideal. If you succeed in dispelling this ignorance of the British people regarding misgovernment in India and convince John Bull that it is right to do a certain thing, you may be quite sure that it will be done. Our battles are to be fought in the British Parliament in the last resort.'

सारांश यह कि 'ब्रिटिश जनता को यह ज्ञात नहीं होता कि हिंदुस्थान के उसके प्रशासक ब्रिटिश ध्येय एवं ब्रिटिश नीति के अनुकूल व्यवहार नहीं कर रहे हैं। इसलिए अपना मुख्य कर्तव्य है कि हिंदुस्थान में होनेवाला राजनीतिक अन्याय 'ब्रिटिश जनता' को व्याख्या या निवेदनों से बता देना चाहिए। एक बार यदि यह ज्ञात हुआ तो वह उसे दूर किए बिना नहीं रहेगी। वही ब्रिटिश जनता पार्लियामेंट चुनकर देती है। अर्थात्—हमें जो अंतिम लड़ाई लड़नी है, वह ब्रिटिश पार्लियामेंट में ही लड़ी जाने से हमें ब्रिटिश जनता को यह बताना होगा कि हिंदुस्थान की बात न्यायपूर्ण है।'

ये और ऐसे वाक्य दादाभाई के सैकड़ों भाषणों तथा लेखों में बार-बार आते थे। जिन्हें जानना हो, वे 'नटेशन ऐंड कंपनी, मद्रास' द्वारा प्रकाशित दादाभाई के भाषणों और लेखों का संग्रह अवश्य पढ़ें।

उपर्युक्त नीति से इस 'लंदन इंडियन सोसायटी' द्वारा लगभग तीस वर्षों तक ब्रिटेन में हिंदुस्थान के संबंध में आंदोलन चलाया गया। भारतीय विद्यार्थी, इंग्लैंड में बसे भारतीय व्यापारी, बैरिस्टर, डॉक्टर आदि बहुत सारे लोग इसके सदस्य थे। उनके कार्यक्रमों में भी ये लोग आते थे। अंत में दादाभाई अपने ढलते स्वास्थ्य के कारण सन् १९०७ में जब इंग्लैंड छोड़कर हिंदुस्थान में हमेशा के लिए लौट आने की योजना बनाने लगे, तभी 'अभिनव भारत' के ज्वालाग्राही क्रांतिकार्य की आँच इस संस्था को भी लग गई और उसमें वह झुलस गई। ये सब किस तरह हुआ, यह बात आगे यथाप्रसंग सामने आएगी।

ईस्ट इंडियन एसोसिएशन

दादाभाई द्वारा स्थापित उपर्युक्त संस्था 'लंदन इंडियन सोसायटी' मूल रूप में भारतीय लोगों की और प्रचारकस्वरूप संस्था थी। परंतु हिंदुस्थान में बड़े-बड़े पदों पर रह आए और हिंदुस्थान की तिजोरी से हजारों रुपए की पेंशन प्रतिवर्ष पानेवाले ब्रिटिश अधिकारियों—जिन्हें ऐंग्लो-इंडियन कहते थे—के सहयोग से हिंदुस्थान के प्रशासन में सुधार होने चाहिए, ऐसा दादाभाई को लगा। उन्होंने यह भी कहा कि उसके विषय में चर्चा करने तथा ब्रिटिश संसद् में प्रश्न पूछनेवाली, आवेदन करनेवाली एक उच्च शक्ति की प्राधिकृत ब्रिटिश और भारतीय नेताओं की मिली-जुली संस्था भी होनी चाहिए। उन्होंने कुछ बड़े ऐंग्लो-इंडियनों के सहयोग से 'ईस्ट इंडियन एसोसिएशन' नामक दूसरी संस्था की स्थापना की। लॉर्ड लिवडन उसके पहले अध्यक्ष थे। भूतपूर्व गवर्नर, कमिश्नर, पार्लियामेंट के सदस्य, विख्यात राजनीतिज्ञ आदि कुछ ब्रिटिश लोग उस संस्था की कार्यकारिणी समिति में थे। दादाभाई पहले उसके सामान्य सदस्य थे, बाद में वे कार्यवाह भी हुए। हिंदुस्थान के संबंध में राजनीति की बातें ब्रिटिश शासन के अधिकारी भी सुन लेते थे। इस संस्था की शाखा हिंदुस्थान में भी होनी चाहिए—यह सोचकर दादाभाई हिंदुस्थान आए। उन्होंने बंबई में उसकी मुख्य शाखा की स्थापना की। उसी तरह उस संस्था के लंदन के कोश में बढ़ोतरी करने के लिए उन्होंने हिंदुस्थान के कुछ राजे-रजवाड़ों से हजारों रुपए की सहायता भी प्राप्त की। अर्थात् वह धन भी इस संस्था के ऐंग्लो-इंडियन गुट की जेब में ही गया था।

इस संस्था के लंदन कार्यालय में दादाभाई अनेक सरकारी कागज-पत्रों के आधार पर बार-बार यह कहते थे कि हिंदुस्थान से हर वर्ष डेढ़ सौ करोड़ रुपए विविध कारणों से अंग्रेजों की जेब में चले जाते हैं। हिंदुस्थान की संपत्ति की ऐसी लूट लगभग सौ वर्ष से चल रही है। इसी कारण हिंदुस्थान कंगाल हो गया है। हिंदुस्थान में बार-बार पड़नेवाले अकाल और उसमें लाखों जनों की प्राणहानि का मूल कारण ब्रिटेन में निरंतर किया जा रहा धन और रक्त-शोषण है! उसी तरह केवल ब्रिटेन में ही ली जानेवाली आई.सी.एस. परीक्षा उत्तीर्ण कर बड़े-बड़े ब्रिटिश 'सनदी सिविलियन' अधिकारांकित रामसेवक हिंदुस्थान भेजे जाते हैं। गवर्नर जनरल से लेकर कलेक्टर तक को वेतन में मोटी राशि दी जाती हैं। इनकी पेंशनें भी ऐसे ही हजारों रुपयों की होती हैं। वे सारी पौंड में देनी पड़ती हैं—उनका भी भार हिंदुस्थान की तिजोरी पर ही पड़ता है। उसके कारण भारत के करोड़ों रुपए ब्रिटेन की जेब में जाते हैं, पर यदि इंडियन सिविल सर्विस की परीक्षा हिंदुस्थान में भी करवाई जाए तो

काफी भारतीय युवक घर बैठे वह परीक्षा दे सकेंगे और राज्य के वरिष्ठ अधकारी हो सकेंगे। उनके वेतन और पेंशन का धन हिंदुस्थान में ही रह जाएगा। इसलिए भारतीय नागर सेवा (इंडियन सिविल सर्विस) की परीक्षा ब्रिटेन की तरह भारत में भी ली जाए।

महत्त्वपूर्ण लगनेवाले उपर्युक्त दो प्रश्नों पर ब्रिटिश जनता को राजी करने के लिए निरंतर, लगभग तीस वर्षों तक ब्रिटेन में विभिन्न स्थानों पर दादाभाई ने सैकड़ों भाषण दिए, शताधिक लेख लिखे। हिंदुस्थान के हितार्थ वह देशभक्त जितनी आस्था और लगन से ब्रिटिश उदारता, ब्रिटिश न्यायबुद्धि तथा ब्रिटिश मानवीयता की प्रार्थना करता, उतना ब्रिटिश-पत्थर पिघलने की बजाय उनकी आस्था पर ही शंका करता रहा। 'ईस्ट इंडियन एसोसिएशन' के ऐंग्लो-इंडियन सदस्य भी दादाभाई की राजनिष्ठा को शंकास्पद मानते थे। उन्हें दादाभाई क्या उत्तर देते थे, इसका एक नमूना देखें। 'ईस्ट इंडियन एसोसिएशन' की बैठक में दिए गए एक भाषण में उन्होंने कहा—

'No native from one end of India to the other is more loyal than myself to British rule. Because I am convinced that the salvation of India its future, prosperity, civilization, political elevation depend on the continuance of the British rule in India. It is because I wish that British rule should long continue in India and that it is good for the rulers that they should know native feelings and opinions that I come forward and speak my mind freely boldly; (Dada Bhai's life by Masani; Page 125.)'

सारांश यह कि 'सारे भारत में मुझसे अधिक ब्रिटिश सत्ता का राजनिष्ठ नेटिव (भारतीय) व्यक्ति नहीं मिलेगा, क्योंकि हिंदुस्थान पर ब्रिटिश शासन निरंतर बना रहेगा, तभी इस देश की उन्नति, संपन्नता और राजनीतिक प्रगति होती रहेगी, यह मेरा विश्वास है। हिंदुस्थान में ब्रिटिश शासन की स्थिरता के लिए हम भारतीय लोगों की भाव-भावना क्या है, वह मैं मुक्त हृदय से और साहस से कह रहा हूँ।'

परंतु दादाभाई की माँगें मानने का अर्थ था ब्रिटिशों के स्वार्थ को घाटे में डालना। ब्रिटिश शासन ऐसा मूर्ख नहीं था कि यह बात न समझ पाए। उस 'ईस्ट इंडियन एसोसिएशन' में ब्रिटिशों की संख्या अधिक होने से हिंदुस्थान के लाभ की जो बात दादाभाई कहते थे, वे उसका विरोध करते थे। अंत में हिंदुस्थान के लाखों रुपयों से स्थापित की हुई संस्था हिंदुस्थान-विरोधी ब्रिटिशों के हाथ में चली गई और दादाभाई को उससे हटना पड़ा।

ब्रिटिश संसद् के निर्वाचन में दादाभाई पराजित

बीच के काल, अर्थात् सन् १८८५ में हिंदुस्थान में कांग्रेस की स्थापना हुई। उसमें दादाभाई ने प्रमुख भूमिका निभाई थी। 'Our battle must be fought in the British Parliament and we must therefore educate British public'—अपनी इस नीति को उन्होंने कांग्रेस में बड़े आवेश से प्रस्तुत किया। तुरंत ही लिबरल पार्टी के ऐंग्लो-इंडियन ह्यूम, वेडर्बर्न आदि एवं कांग्रेस के भारतीय नेताओं के उत्साहपूर्ण सहयोग से अगले वर्ष (सन् १८८६ में) दादाभाई ब्रिटिश संसद् के लिए इंग्लैंड के होल्बर्न (Holborn) निर्वाचन क्षेत्र से खड़े हुए। हिंदुस्थान से आर्थिक सहयोग भी उन्हें मिला। परंतु वहाँ के कंजर्वेटिव मतदाताओं ने उन्हें चुनकर नहीं भेजा। एक अन्य भारतीय नेता लाल मोहन बोस दूसरे निर्वाचन-क्षेत्र से खड़े हुए थे, वे भी नहीं जीत सके।

तथापि सन् १८८६ के ही अंत में कांग्रेस का जो दूसरा अधिवेशन कलकत्ता में होनेवाला था, उसका अध्यक्ष पद दादाभाई को देकर भारतीय जनता ने उनकी देशभक्ति एवं ब्रिटेन में उनके द्वारा किए गए कार्य का बड़ा सम्मान किया। कांग्रेस के संबंध में ब्रिटिशों के मन में कोई डर न रहे, इसलिए अपने हृदय का परिष्कार करते हुए कांग्रेस अधिवेशन में सम्मिलित श्रोताओं से अपने व्याख्यान में दादाभाई ने प्रश्न किया—

'What is it for which we are now met? In this Congress a nursery for edition or rebellion against the British govt.? (cries of no! no!) Or is it another stone in the foundation of the stability of that govt.? (cries of yes! yes!) Let us speak out like man and proclaim that we are loyal to the backbone!' (Dada Bhai's life by Masani)

सारांश यह है—'हम यहाँ किस कार्य के लिए एकत्र हैं? क्या कांग्रेस ब्रिटिश द्रोह का प्रयास करनेवाला या ब्रिटिश शासन के विरुद्ध विद्रोह करनेवाला संगठन है? (नहीं! नहीं! की आवाज) या वह हिंदुस्थान में ब्रिटिश राज अधिक मजबूत करने के लिए नींव में डाली जानेवाली एक मजबूत शिला है? (हाँ! हाँ! की आवाज) तो फिर साहस के साथ कहें कि हम हैं राजनिष्ठ, कट्टर ब्रिटिश राजनिष्ठ!'

दादाभाई की मुख्य माँग थी कि आई.सी.एस. (भारतीय नागर सेवा) की परीक्षा इंग्लैंड की तरह ही हिंदुस्थान में भी आयोजित हो, ताकि भारतीय युवक उसमें सम्मिलित होकर शासन में बड़े-बड़े पदों पर आसीन होने का रास्ता खोल सकें। अपनी इस माँग को उन्होंने कांग्रेस में बलपूर्वक रखा। पार्लियामेंट में ब्राइट

आदि कुछ ब्रिटिश सदस्यों ने वैसा विधेयक रखने की बात कही थी, ऐसा भी उन्होंने कहा।

मुसलमानों का संगठित विरोध

सन् १८८६ में ही इस प्रश्न पर मुसलमानों के संगठित विरोध ने दादाभाई का रास्ता रोका। कांग्रेस हिंदू-राज्य की स्थापना करना चाहती है, वह मुसलिमों की प्रतिनिधि नहीं है। इसीलिए पूरे भारत के लिए कुछ कहने का अधिकार उसे नहीं है—ऐसा कहकर तीव्र प्रतिवाद करनेवाली सर सैयद अहमद खाँ की संस्था The Patriotic Association की स्थापना के संबंध में 'पृष्ठभूमि' में सबकुछ पहले ही कह दिया गया है। 'दि पैट्रिऑटिक एसोसिएशन' और एक अन्य संस्था 'इसलामिया अंजुमन' ने दादाभाई की योजना के विरोध में शोर-शराबा किया और कहा कि आई.सी.एस. की परीक्षा इंग्लैंड की तरह हिंदुस्थान में भी ली जाने लगी तो उसमें हिंदू-ही-हिंदू सम्मिलित होंगे। हम मुसलमानों के पिछड़े होने से हमारे मुट्ठी भर युवा भी उसमें बैठ नहीं पाएँगे। अर्थात् परीक्षा उत्तीर्ण करनेवाले हिंदुओं की ही भरती बड़े-बड़े पदों पर होगी। ब्रिटिश आई.सी.एस. अधिकारियों के अधीन काम करने के लिए हम राजी हैं, परंतु हिंदू आई.सी.एस. अधिकारियों की गुलामी हम नहीं करेंगे। उस कारण हमारे हित नष्ट होंगे। इस विरोध को हैदराबाद के नवाब ने खुला समर्थन दिया था।

मुसलमानों ने इस विचार के विरोध-पत्र एवं आवेदन पार्लियामेंट के सदस्यों के भी पास भेजे। यह सब देखकर दादाभाई जैसा राजनीति का शांतिब्रह्म पुरुष भी मन-ही-मन बेचैन हो गया। दादाभाई पारसी थे, हिंदू नहीं। फिर भी सच्चे राष्ट्रीय थे। ऐसी दुःखद परिस्थिति में उन्हें समाचार मिला कि जिस एक मुसलमान मित्र और नेता काजी शहाबुद्दीन के विषय में वे सोचते थे कि यह तो पक्का राष्ट्रीय है, वही मुसलमान नेता कांग्रेस-विरोधी मुसलमानों से जाकर मिल गया है। तब उन्होंने समझाते हुए जो व्यक्तिगत पत्र १५ जुलाई, १८८७ को शहाबुद्दीन के पास लिखा, वह पढ़ने योग्य है। आई.सी.एस. की परीक्षा हिंदुस्थान में भी होनी चाहिए, ऐसी उनकी माँग के विरोध में जो कारण मुसलमानों द्वारा दिए गए थे, उनके संबंध में दादाभाई लिखते हैं—

'How your action has paralysed not only our own efforts but the hands of the English friends and how keenly I feel this, more so because you have based your action on selfish interests that because the Moslems are backwards you would not allow

the Hindus and all india to go forward. How you have retarded your progress for a long time. (Dada Bhai's life by Masani)

सारांश यह कि 'आपके कृत्य से अपने राष्ट्रीय कार्य में कितनी बड़ी बाधा उत्पन्न हुई है! उसमें भी मुझे विशेष दु:ख इस बात का है कि आप मुसलमान अपने उस कृत्य के समर्थन में स्वार्थ के ये कारण बता रहे हैं कि हम मुसलमान पिछड़े हैं, इसीलिए हम हिंदुओं को और सारे भारतीय राष्ट्र को भी आगे नहीं जाने देंगे!!'

ऐसा क्रोधपूर्ण व्यक्तिगत पत्र दादाभाई ने लिखा अवश्य, मगर सार्वजनिक रूप से उन्होंने मुसलमानों पर कोई टीका-टिप्पणी नहीं की, क्योंकि मुसलमानों द्वारा आँखें दिखाते ही उनके सामने घुटने टेककर झुक जाने की कांग्रेस की 'राष्ट्रीय' नीति थी!

दादाभाई का नया ग्रंथ :
Poverty and Unbritish Rule in India

इस बीच दादाभाई ने पाँच-छह सौ पृष्ठों का एक अंग्रेजी ग्रंथ 'Poverty and unbritish rule in India' (ब्रिटिश शील के लिए अशोभनीय हिंदुस्थानी शासन और दारिद्र्य) इंग्लैंड में प्रकाशित किया। उसमें ऊपर उल्लिखित तरह के उनके लेखों और भाषणों का संकलन था। जिस ब्रिटिश जनता को सज्ञान करने के लिए वह पुस्तक उन्होंने लिखी थी, उस ब्रिटिश जनता में से एक ने भी उस पुस्तक को पढ़ा था या नहीं, यह शंका ही थी। फिर भी उस पुस्तक ने हजारों शिक्षित लोगों को आँकड़ों सहित साधार यह जानकारी देकर बेचैन और अस्वस्थ कर दिया कि स्वदेश के धन की कैसी लूट ब्रिटिश शासकों ने मचाई है, राज्य शासन में भारतीय लोगों को रत्ती भर भी अधिकार किस तरह नहीं दिया जाता जो प्रभावी हो सके और ब्रिटिश शासन के अधीन रहने का सौभाग्य मिलने के बाद भी अपना देश अकाल, कंगाली और दु:ख से कितना त्रस्त है।

ब्रिटिश और अनब्रिटिश

सशस्त्र क्रांतिकारियों के लघु गुट को छोड़ दें, तो उस समय के अधिकतर 'ब्रिटिशनिष्ठ' एवं 'स्वदेशनिष्ठ' भारतीय नेता, लेखक, व्याख्याता आदि 'ब्रिटिश' शब्द को 'सद्गुणों के समुच्चय' के रूप में कैसे मानते थे, यह उसके नाम से स्पष्ट हो जाएगा। 'दैवी संपद्विमोक्षाय निबंधायासुरीमता' श्लोक से हम जैसे 'दैवी' और उसके विरुद्ध अर्थात् 'आसुरी' शब्द उपयोग में लाते थे, उसी तरह और उसी अर्थ में भारतीय राजनीति में 'ब्रिटिश' और 'अनब्रिटिश'—ये दो शब्द प्रचलित थे।

ब्रिटिश (British) यानी दैवी, न्यायपूर्ण, उदार। अनब्रिटिश (Unbritish) अर्थात् आसुरी, अन्यायपूर्ण, अनुदार!! ब्रिटिश शासन अर्थात् दैवी संपदा, धर्मराज्य, उसके विरुद्ध कोई आपत्ति नहीं हो सकती थी। उलटे वह हम हिंदवासियों पर चिरंतन बना रहे, यही हमारी मूलभूत राजनीतिक निष्ठा है। परंतु हिंदुस्थान के शासन में जो कुछ अनब्रिटिश, अर्थात् ब्रिटिश शील को अशोभनीय छिटपुट अपराध गलती से हो जाते हैं, वे ब्रिटिश जनता के अनजाने घटित हो जाते हैं, उनका केवल निवारण हो जाए तो हिंदुस्थान की कंगाली, अकाल तथा दुर्दशा का कोई कारण नहीं। उसका कारण शासन की अनब्रिटिश पद्धति है, बस इतना ही!!

लिबरल और कंजर्वेटिव

ब्रिटिश जनता के उस समय के कंजर्वेटिव और लिबरल—इन दो प्रमुख राजनीतिक दलों में से भारतीय लोगों की उपर्युक्त भोली भावना का उपयोग अपनी झोली भरने के लिए यदि किसीने पूरी तरह किया था तो वह लिबरल पार्टी ने। हिंदुस्थानी राजनीति में ब्रिटेन में जो दो पार्टियाँ थीं, उनके दंडनीतिक एवं कूटनीतिक विभेद और उसके स्वरूप के संबंध में मैंने अपने आत्म-चरित्र की पूर्वपीठिका खंड में विस्तार से चर्चा की थी। उनमें से कंजर्वेटिव पार्टी दंडनीतिक वृत्ति की और लिबरल पार्टी कूटनीतिक वृत्ति की थी। दोनों ही कट्टर ब्रिटिश साम्राज्यवादी, पर कंजर्वेटिव पार्टी के नेता लॉर्ड सेलिसबरी खुले रूप में कहते—भारतीय प्रजा और ब्रिटिश प्रजा को पूर्ण समान अधिकार प्राप्त हैं—लिबरल पार्टी के नेताओं का यह कथन राजनीतिक ढोंग है। 'It is political hypocricy.' कंजर्वेटिव समाचार 'टाइम्स' (लंदन) पत्र स्पष्ट लिखते थे कि 'रानी की जिस घोषणा का आधार भारतीय नेता लेते हैं उसमें इतना ही वचन दिया हुआ है कि ब्रिटिश साम्राज्य की सारी प्रजा से हम यथासंभव समान व्यवहार करेंगे। भारतीय नेता इस वाक्य में से 'यथासंभव' (So far as it may be) शब्द स्वार्थ में भूल जाते हैं। हम ब्रिटिश शासक, आप भारतीय प्रजाजन—ये आपका-हमारा वास्तविक नाता है। फिर आप राजनिष्ठ रहें या न रहें। हमने तलवार से साम्राज्य बनाया है और तलवार से ही चलाएँगे।' वस्तुतः यही भाषा सच थी, पर वह डरावनी थी और इसीलिए भारतीय नेताओं को नापसंद थी। इसलिए वैसी उद्दंड 'अनब्रिटिश' अर्थात् आसुरी भाषा बोलनेवाले कंजर्वेटिव पार्टी से जबान लड़ाना छोड़कर, प्रेम की भाषा में बोलनेवाली लिबरल पार्टी को ही भारतीय नेताओं ने अपना त्राता माना। लिबरल पार्टी के 'मोर्ले' आदि नेताओं की व्यक्ति-स्वतंत्रता, मानवता, समता, आजादी आदि की बड़ी-बड़ी प्रशंसा ग्रंथों में गाई गई थी। भारतीय कांग्रेस के सूत्रधार ह्यूम, वेडर्बर्न आदि जो भी इसी तरह के

गीत गाते थे, वे भी लिबरल पार्टी के सदस्य थे। उस पार्टी का नाम भी विश्वास जतानेवाला था—'लिबरल'—उदार। यदि और जब कभी मोर्ले आदि कुलीन ब्रिटिश निर्वाचित होकर हिंदुस्थान का शासन अपने हाथ में लेंगे, तब हम महारानी के 'मैग्नाकार्टा' के द्वारा दिए गए समानता के अधिकारों का उपयोग कर पाएँगे। लिबरल पार्टी के ऐसे कथनों को भारतीय कांग्रेस पूरी श्रद्धा सहित मानने लगी।

संसद् में दादाभाई नौरोजी का प्रवेश

महान् आश्चर्य!! ब्रिटिशनिष्ठ एवं स्वदेशनिष्ठ—दोनों ही कांग्रेसी देशभक्तों द्वारा श्रद्धा से मानी हुई मनौती भगवान् ने मानो स्वीकार की हो, ऐसी साक्ष्य देनेवाली एक घटना तुरंत घटित हुई। सन् १८९३ में ब्रिटिश पार्लियामेंट के चुनाव में लिबरल पार्टी बहुमत से जीती। इतना ही नहीं, इस पार्टी के टिकट पर खड़े भारतीय कांग्रेस के विख्यात नेता दादाभाई नौरोजी भी फिंसबेरी निर्वाचक मंडल से पार्लियामेंट के लिए निर्वाचित करा लिये गए। इस प्रकार वह इंग्लैंड के एम.पी. हो गए।

निर्वाचन के समय कंजर्वेटिव पार्टी के नेता लॉर्ड सेलिसबरी दादाभाई के निर्वाचन-क्षेत्र में स्वयं आए थे और ब्रिटिश मतदाताओं से कह गए थे—'उस काले आदमी को कभी भी वोट नहीं देना।' पर लिबरल पार्टी के प्रख्यात नेता श्री ग्ल्याडसन ने सेलिसबरी के अपशब्दों का विरोध किया और कहा—दादाभाई को ही मत दें। इसलिए अधिकतर लिबरल पार्टीवालों ने दादाभाई को ही मत दिए। भारतीय लोगों ने भी इस निर्वाचन का महत्त्व जानकर पानी की तरह पैसे बहाए।

दादाभाई पहले मल्हारराव गायकवाड़ के समय में कुछ समय तक बड़ौदा राज्य के प्रधान थे। उस ऋणानुबंध से और स्वदेशाभिमान से भी प्रेरित होकर बड़ौदा के युवा महाराज ने अर्थात् श्रीमंत सयाजीराव, जो उन दिनों विलायत में ही थे, ने दादाभाई की सहायता की। उन्होंने निर्वाचन के दिन वाहनों की कमी देखकर रईसी ठाठ-बाट से सजी-धजी अपनी दस-बारह घोड़ागाड़ियों का जत्था उनकी सेवा में भेज दिया। उस समय ब्रिटेन में रह रहे अनेक भारतीय लोगों ने भी निर्वाचन को एक राष्ट्रीय प्रश्न समझकर बहुत श्रम किए। अंततः पाँच मतों की अधिकता से दादाभाई ने चुनाव जीता। लॉर्ड सेलिसबरी ने जिसे गाली देकर That black man कहा, उसने सेलिसबरी को मजा चखा दिया।

यह समाचार हिंदुस्थान में पहुँचते ही चारों ओर ऐसा आनंद छा गया, मानो कोई महायुद्ध जीता हो। अनेक नगरों में जुलूस निकले। बड़ी-बड़ी सभाएँ हुईं। एक तरह से वह सब स्वाभाविक ही था, क्योंकि उस काल में भारतीय जनता में लाखों लोग ऐसे थे जिन्हें स्वयं ही ऐसा लगता था कि हम राजकाज चलाने के अपात्र हैं—

ब्रिटिश लोगों का यह कथन गलत नहीं है। ब्रिटिशों जैसी राज्य संस्था हम कैसे चला सकते हैं? भारतीय लोगों की ऐसी आत्मनिष्ठा पर यह जो ग्लानि छाई हुई थी, उसे झटक डालने में तब दादाभाई ने जो सफलता प्राप्त की, उसका और उस सफलता के कारण देश भर में दौड़ी उत्साह की लहर का बड़ा लाभ मिला। जब ब्रिटिश मतदाता भी दादाभाई को पार्लियामेंट में बड़े-बड़े ब्रिटिश नेताओं की बराबरी से मत देने (भेजने) योग्य समझते हैं, तो उनके समकक्ष हमारे सुरेंद्रनाथ जैसे अन्य नेता और प्रतिनिधियों में वह पात्रता होनी ही चाहिए, भारतीय जनता के ऐसे लाखों हीनभावना ग्रस्त लोगों में आत्मविश्वास का संचार हुआ।

ब्रिटिश-निष्ठा की लहर

इतना तक तो ठीक था, परंतु कांग्रेस के जिन लाखों लोगों को 'ब्रिटिश साम्राज्य का राजनिष्ठ प्रजाजन' कहलाने में परम आत्मसम्मान की अनुभूति होती थी, उन्होंने दादाभाई की जीत का समाचार आने के बाद ब्रिटिश-निष्ठा का जो जयघोष चलाया, वह कोरे आशावाद का सर्वोच्च उदाहरण था। शताधिक सभाओं और समाचारपत्रों से हर कोई कहता फिरा—आज एक भारतीय नागरिक एम.पी. हुआ है, कल दस होंगे, दस से बीस होंगे। भरी पार्लियामेंट में उनके भाषण होते-होते, सुनते-सुनते हिंदुस्थान के राजकाज में सुधार होने चाहिए, ऐसा कांग्रेस कहती है। कुछ सुधारों से अधिक की चाहत ही उन्हें नहीं थी। वे सबकी-सब मान्य करने के लिए सीधे ब्रिटिश पार्लियामेंट का ही मत माना जाएगा। केवल हम लिबरल पार्टी को पकड़े रहें।

परंतु कंजर्वेटिव भी चतुराई में कुछ कम नहीं थे। उन्होंने अनेक अवसरों पर कांग्रेस का विरोध करनेवाले श्रीयुत् भावनगरी नामक एक भारी भारतीय (पारसी) व्यक्ति को लिबरल पार्टी के विरुद्ध चुनाव में दूसरे स्थान से पहले ही खड़ा किया था और कंजर्वेटिव पार्टी के दम पर उसे जिता भी दिया। भारत में लिबरल पार्टी की बढ़ी हुई साख और शेखी घटाने के लिए और स्वयं को नेशनल, भारतीय राष्ट्रीय कहलानेवाली कांग्रेस भारतीय जनता की अकेली प्रतिनिधि नहीं है, यह सिद्ध करने के लिए उन्होंने ऐसा किया था। उस कारण दादाभाई, कांग्रेस और लिबरल पार्टी की नाक में मिर्चें लग गई थीं, यह कहने की आवश्यकता ही नहीं है। इसलिए भावनगरी हिंदुस्थान के प्रतिनिधि नहीं थे, पार्लियामेंट में उनका पहुँचना हमने माना ही नहीं। दादाभाई का चुने जाना किसी भारतीय देशभक्त का पहली बार पार्लियामेंट में पहुँचने का अर्थ था—यही भारतीय कांग्रेस का कहना था—और इसीलिए उसका इतना गाजा-बाजा बजाया जा रहा था।

एक सुरक्षित स्वाँग

वास्तव में दादाभाई को पार्लियामेंट में निर्वाचित करा देना लिबरल पार्टी का एक सुरक्षित स्वाँग था—एक राजनीतिक ढोंग (Political Stunt)। इतना ही उसका महत्त्व था। संस्कृत में कुटिल राजनीति का मूलमंत्र कहा जानेवाला एक श्लोकांश है—'आशा कालवतीम् कुर्यात् कालो विघ्नेन योजयेत्'। आश्चर्य इतना ही है कि ऐसी भोली आशा में भारतीय जनता और उसके नेता इतने पगला कैसे गए।

आयरलैंड का उदाहरण

उसमें भी पार्लियामेंट में चुनकर जाने मात्र से ब्रिटिश शिकंजा रत्ती भर भी ढीला नहीं पड़ता—यह पहले ही सिद्ध करनेवाला आयरलैंड का एकदम ताजा अनुभव दादाभाई आदि की आँखों के सामने था। आयरिश तो गोरे भी थे, ब्रिटिशों की तरह ईसाई भी थे, यूरोपीय भी थे। ब्रिटिश संविधान ने ही अनेक आयरिश प्रतिनिधि पार्लियामेंट में भेजने के अधिकार दिए थे। आयरिश निर्वाचन-क्षेत्र से आयरिश माँगों को उठाने की शर्त पर ही उन्हें चुना जाता था। इतनी बातें अनुकूल होते हुए भी उन आयरिश प्रतिनिधियों को ब्रिटिश पार्लियामेंट में लड़ते-लड़ते हार माननी पड़ती थी। आयरलैंड के वास्तविक हित की ऐसी कोई योजना वे ब्रिटिश पार्लियामेंट से पारित नहीं करा सके—उनके महान् नेता पार्नेल भी थक गए, उदास हो गए। अंत में अधिकतर आयरिश पार्टियों ने ब्रिटिश संसद् का बहिष्कार किया, प्रतिनिधि भेजने का संवैधानिक अधिकार होते हुए भी संसद् का मुँह देखना छोड़ दिया। अनेक नेताओं ने 'होमरूल', 'सिनफिन' आदि स्वदेशी संगठन स्थापित कर निःशस्त्र आंदोलन चलाए। मारने-मरने पर जो कुछ लोग उतारू हो गए, वे सशस्त्र क्रांति की गुप्त गुफा में घुस गए। हिंदुस्थान के लिए इंग्लैंड में भारतीय कांग्रेस का जब आंदोलन चल रहा था, तभी हाथ भर दूर आयरलैंड में ये सब बातें घटित हो रही थीं। आयरलैंड को संसदीय आंदोलन में मिली विफलता और प्राप्त उकताहट भारतीय जनता एवं भारतीय नेताओं की आँखों के एकदम सामने थी। कहावत है—'अगले को चोट पिछला सावधान', पर वह कहावत सावधान व्यक्ति या समाज पर लागू होती है। अगला चोट-पर-चोट खा रहा है, फिर भी स्वयं चोट खाने तक आगे बढ़ता जा रहा है, उसे क्या कहा जाए!

देशभक्त दादाभाई का प्रभावी व्यक्तित्व

इससे देशभक्त दादाभाई की महानता पर कोई आँच नहीं आई। उनका प्रयास, निरंतरता एवं व्यक्तित्व जबरदस्त था। संक्षेप में कहें तो उनका निर्वाचन

उनकी आगामी ढीली-ढाली राजनीति की नहीं, बल्कि उनके श्रेष्ठ व्यक्तित्व की विजय थी। संसद् में भी उनके व्यक्तिगत आचरण की शान और वक्तृत्व-शैली बड़े-बड़े ब्रिटिश मंत्रियों के समतुल्य थी। हिंदुस्थान के संसदीय बाजू बड़े जोश से उठाने के लिए हिंदुस्थान का प्रश्न आते-जाते संसद् के सामने लाने का भरसक प्रयास उन्होंने किया। परंतु शीघ्र ही उन्होंने देखा कि उनकी लिबरल पार्टी के सांसद भी भारतीय राजकाज में किसी भी तरह के सुधार का प्रश्न संसद् में उठाने से जी चुराते हैं।

सत्ता में लिबरल पार्टी के आने के बाद भी वर्ष-पर-वर्ष बीत गए, पर ब्रिटिश शासन की ओर से प्रतिवर्ष की जानेवाली करोड़ों रुपए की डकैती में से एक भी कौड़ी वे रोक नहीं सके। राज्य-प्रणाली में नए कार्य वे प्राप्त नहीं कर सके। बहुत मानें तो पहले कहे अनुसार, दादाभाई की जो छोटी सी माँग थी कि I.C.S की परीक्षाएँ इंग्लैंड की तरह हिंदुस्थान में भी ली जाएँ, उसे मान्य करनेवाला एक प्रस्ताव संसद् से वे पारित करा पाए। उतने से ही उनकी और उनकी कांग्रेस की झुलसी हुए आशाएँ पल्लवित हुईं। परंतु संसद् द्वारा पारित उक्त प्रस्ताव के बावजूद ब्रिटिशों के कार्यकारी विभाग ने उसका पालन करने से साफ इनकार कर दिया। 'प्रस्ताव अव्यवहार्य' की चिट लगाकर वह प्रस्ताव एक बार जो कार्यकारी अधिकारी ने खूँटी पर टाँगा, तो फिर उसे नीचे उतारा ही नहीं। किसी अन्य प्रकरण में संसदीय संकल्प की ऐसी स्थिति बनाई गई होती, तो कार्यकारी अधिकारियों के विरुद्ध दंडात्मक कार्यवाही होती, पर जिसका पालन किया ही नहीं जाए, ऐसी इच्छा से जो प्रस्ताव पारित किया गया, उसकी पूछताछ कौन करे? क्यों करे?

दादाभाई जैसे हाथ हिलाते संसद् में गए थे, कुछ वर्षों बाद वैसे ही हाथ हिलाते—कुछ भी लाभ प्राप्त किए बिना—जब लिबरल पार्टी की सरकार विसर्जित हो गई, तो संसद् के बाहर हो गए।

ऐसी चोट-पर-चोट लगने से दादाभाई का मन क्रोध से भरने लगा। बीच-बीच में वे ब्रिटिशों के लिए धमकी भरी भाषा भी बोलने लगे। वे कहते—

'Do not invite a catastrophe by being too obdurate. The Government should recollect how such obdurate conduct on the part of the British Government. led to 1857.' (See Dada Bhai's speeches by Natesan) अर्थात् ''ऐसा दुराग्रह मत करें। आपके ऐसे ही दुराग्रह के कारण सन् १८५७ के संकट का सामना करना पड़ा था, यह ब्रिटिश शासन भूले नहीं।''

दादाभाई की देखा-देखी हिंदुस्थान के कांग्रेसी नेता भी 'सन् १८५७ के सिपाही विद्रोह' का उल्लेख कर ब्रिटेन को कभी-कभी धमकी देते रहते थे।

सशस्त्र क्रांतिपक्ष को दादाभाई की अनजानी श्रद्धांजलि!

ब्रिटिशों को ऐसी धमकी देने के लिए ब्रिटिशनिष्ठों के संसदीय पक्ष को सन् १८५७ के सशस्त्र क्रांतियुद्ध का उल्लेख करना पड़े, इसमें कितना गहन अर्थ भरा है, यह उनके स्वयं के भी ध्यान में नहीं आया होगा। यदि वह सन् १८५७ का क्रांतियुद्ध घटित ही न हुआ हो, तो कांग्रेस का संसदीय पक्ष ऐसी दूसरी किस घटना की धमकी ब्रिटिशों को दे सकता था? उनके ब्रिटिशनिष्ठ संसदीय पक्ष की सफलता के लिए क्रांतिकारियों का कोई एक ब्रिटिश-विरोधी सशस्त्र पक्ष देश में होना चाहिए था, यह बात क्या उपर्युक्त धमकियों से सिद्ध नहीं होती?

ब्रिटिश कमेटी ऑफ दि इंडियन नेशनल कांग्रेस

इसी बीच भारतीय कांग्रेस ने अपनी एक समिति लंदन में स्थापित की थी। कांग्रेस के ध्येय, ब्रिटिशनिष्ठा, पारित प्रस्ताव आदि की जानकारी ब्रिटिश जनता को देने का कार्य यह समिति करती थी। उसका 'इंडिया' नामक एक सामयिक पत्र भी निकलता था। उसमें दादाभाई तो थे, पर वास्तव में भारतीय कांग्रेस के संस्थापक ह्यूम, वेडर्बर्न, कॉटन आदि ऐंग्लो-इंडियन ही उसके संचालक थे। उसका हजारों रुपयों का सारा व्यय हिंदुस्थान के ही पैसे से चलता था। उसके ब्रिटेन के प्रचारक, संपादक, नौकर—सभी ब्रिटिश ही थे। अत: वह पैसा ब्रिटेन की ही जेब में जाता था। ब्रिटेन की यह कांग्रेस कमेटी स्वयं को हिंदुस्थान की राजनीतिक प्रतिनिधि समझती थी, तो भी ब्रिटिश शासन ने उसके प्रतिनिधित्व को कभी स्वीकार नहीं किया। उसके उस प्रतिनिधि-आधार पर भेजे गए लंबे-लंबे आवेदनों एवं वक्तव्यों की पावती भी ब्रिटिश शासन ने कभी अधिकृत रूप से नहीं दी। बेल्बी कमीशन जैसा हिंदुस्थान के राजकाज का निरीक्षण करनेवाला एकाध दिखाऊ कमीशन या कमेटी यदि दादाभाई आदि कांग्रेसी नेताओं के आग्रह पर नियुक्त हुई तो उसके लिए ब्रिटिश शासन को बधाई देने, उसके सामने कांग्रेसी नेताओं की गवाही देने या हिंदुस्थान के संबंध में ब्रिटिश जनता को 'सज्ञान' करने के लिए इस ब्रिटिश कांग्रेस कमेटी की ओर से सुरेंद्रनाथ बनर्जी, वाच्छा, गोपालराव गोखले आदि कांग्रेसी नेताओं को ब्रिटेन लाया जाता। उस प्रतिनिधिमंडल द्वारा ब्रिटेन के कुछ नगरों में की गई सभा में हिंदुस्थान के राजकाज की कमियों या अन्यायों पर व्याख्यान करवाए जाते।

ब्रिटेन के अधिकतर समाचारपत्र कांग्रेस द्वारा आयोजित भाषणों या प्रस्ताव। या हिंदुस्थान में होनेवाले अधिवेशनों के संबंध में दो पंक्तियाँ भी कभी नहीं छापते थे। अत: अपने आंदोलन-संबंधी कुछ समाचारों को समाचारपत्रों में प्रकाशित करवाने के लिए कांग्रेस कमेटी ने एक अंग्रेजी पत्र के कुछ शेयर खरीदे। हमारे समाचार प्रकाशित करें, हम पैसा देते हैं—ऐसा कहकर कभी-कभी कुछ अंग्रेजी पत्रों में समाचार छपवाए जाते, पर पैसे देकर भी प्रकाशित समाचार ब्रिटिश जनता पढ़े तब न? लाख में एकाध ब्रिटिश पाठक ही उसको पढ़ता होगा।

सन् १८९७

इस वर्ष ब्रिटिश साम्राज्य की रानी और हिंदुस्थान की सम्राज्ञी कही जानेवाली क्वीन विक्टोरिया को राजगद्दी पर बैठे साठ वर्ष पूरे हो रहे थे। इस अवसर पर पूरे ब्रिटिश साम्राज्य में 'जुबली महोत्सव' आयोजित करने का प्रयास आरंभ हो गया था। तभी ब्रिटिश कांग्रेस कमेटी ने भारतीय नेताओं का एक प्रतिनिधिमंडल ब्रिटेन में बुलवाया। अनेक ब्रिटिश नगरों में उनके हिंदुस्थान-संबंधी व्याख्यान हो जाने के बाद इस दौरे के समापन के लिए अंत में दादाभाई, वाच्छा, गोखले आदि ब्रिटिशनिष्ठ नेताओं की एक परिषद् ब्रिटेन निवासी भारतीयों के लिए आयोजित की गई। उसमें सर्वसम्मति से जो प्रस्ताव पारित हुआ, उसमें कहा गया था—

'Unless the present unrighteous un British system of Government is reformed into a truly British system destruction to India and disaster to the British Empire are inevitable... We Indians believe that our highest patriotism and best interests demand the continuance of the British Rule.' (Dada Bhai's Life by Masani; page 396)

सारांश यह कि वर्तमान में चल रही अन्यायी और अनब्रिटिश राज्य-पद्धति बदलकर वास्तविक न्यायी एवं 'कुलीन ब्रिटिश' राज्य-पद्धति यदि आरंभ नहीं की गई तो हिंदुस्थान का नाश और ब्रिटिश साम्राज्य का अनिष्ट होने की आशंका है। हम भारतीय लोगों की यही निष्ठा है कि हमारी देशभक्ति और उत्कृष्ट हितलाभ की दृष्टि से हिंदुस्थान पर ब्रिटिश राज का निरंतर बने रहना आवश्यक है।

परंतु जिस ब्रिटिश जनता के लिए वह प्रस्ताव पारित किया गया था, उसने एक घटिया भविष्य मानकर उसकी अवहेलना करने योग्य भी उसे नहीं समझा। उनकी रानी के हीरक महोत्सव (डायमंड जुबली) के नगाड़ों के शोर में लंदन में रखे गए हमारे उस खोखले प्रस्ताव की डुगडुगी सुनाई नहीं दी।

उधर सुदूर पुणे में

ब्रिटिशों की रानी का डायमंड जुबली महोत्सव जिस रात पूरे जोर पर था, उसी रात पुणे में ब्रिटिश अत्याचार का बदला लेने के लिए चापेकर ने रैंड और आयर्स्ट साहब को गोली मारकर रंग में भंग कर दिया। तब उस उत्सवी नगाड़े की आवाज में पुणे की उस बित्ते भर पिस्तौल की आवाज लंदन तक ध्वनित-प्रतिध्वनित होकर सारी ब्रिटिश जनता को सुनाई दी। सारे ब्रिटिश समाचारपत्र खोज-खोजकर पुणे के समाचार छापने लगे और क्रोध से पूछने लगे—कौन है वह चापेकर ? उसकी गोली के धुएँ से तो मंगल पांडे की गोली के धुएँ जैसी उग्र गंध आ रही है !

हिंदुस्थान, विशेषत: बंबई प्रांत के अधिकारी तो जैसे पागल हो गए। उनकी उस समय की हालत का वर्णन पुणे के उस समय के नामी 'सन्मित्र समाज' के एक गीत में यथावत् हुआ है। उस गीत की दो पंक्तियाँ घर-घर में स्मरण की जाती थीं। रैंड को गोली से मारते ही बंबई सरकार ने तिलक, नातू आदि को कैद करने का जो मूर्खतापूर्ण आदेश जारी किया, उस अत्याचार का मजाक उड़ाती ये पंक्तियाँ कहती हैं—

प्रथम पुणेकर, त्यामधी ब्राह्मण, त्यातहि कोंकणस्थासिंधरा।
ह्यांना गोरा ठार मारिला! कोणाला तरी कैद करा॥

(पहले पुणे का, उसमें ब्रह्मण, उसमें भी कोंकणस्थ, इन्होंने गोरा ठौर मारा, किसीको तो कैद करो।)

कांग्रेस प्रस्ताव एवं क्रांतिकारी चिनगारियाँ

इस अध्याय में लंदन जाने तक ब्रिटेन के भारतीय आंदोलन का सारांश देने के उद्देश्य ही से चापेकर-रानडे प्रकरण की प्रतिध्वनि ब्रिटेन में हुई, जिसका संदर्भ मैंने यहाँ दिया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रिटेन की जनता का ध्यान हिंदुस्थान की ओर आकर्षित करने की सीमा में भी देखें, तो कांग्रेस के प्रस्ताव की अपेक्षा क्रांतिकारियों की चिनगारियाँ ही अधिक प्रभावी थीं। चापेकर-रानडे के क्रांतिकारी विस्फोट के बाद महाराष्ट्र भर में जो पकड़-धकड़ हुई, उसका समर्थन करते हुए कंजर्वेटिव तो क्या, लिबरल अखबार भी 'विद्रोहियों को कुचल दो' आदि शीर्षकों से लेख लिखने लगे। इतना ही नहीं, अपितु उन्होंने ब्रिटिशनिष्ठ कांग्रेसी नेताओं पर भी उस ब्रिटिश विद्रोह का दोष मढ़ने में संकोच नहीं किया।

हिंडमैन

उन्हें ठनठनाता उत्तर देनेवाला एक ही अपवाद मिला। वह किसी कांग्रेसी

नेता का नहीं, बल्कि हिंडमैन नामक एक अंग्रेज नेता के द्वारा प्रकाशित पत्र—'जस्टिस' था। 'हम चापेकर के काम का विरोध करते हैं'—ऐसी उस समय की ठहरी हुई शुरुआत कर ब्रिटिश जनता को फटकारते हुए हिंडमैन लिखते हैं—'हिंदुस्थान में विद्रोह पनप रहा है, आप यह कह रहे हैं। आपके ब्रिटिश अधिकारियों ने हिंदुस्थान पर जो अत्याचारी शासन चला रखा है, उसे पलट देने के लिए भारतीय जनता में से कोई आज वास्तव में सशस्त्र विद्रोह करने के लिए निकल पड़ा हो तो कोई आश्चर्य नहीं। आश्चर्य तो यह है कि ऐसे अत्याचारी शासन के विरुद्ध इससे पहले ही भारतीय लोगों ने विद्रोह कैसे नहीं किया?'

हिंडमैन उस समय उधर पनप रहे सोशल डेमोक्रेट पार्टी के ब्रिटिश नेता थे। उस पक्ष का मूल सूत्र ही साम्राज्य-विरोध था। उनके द्वारा ब्रिटिश साम्राज्य का विरोध किए जाने के कारण लिबरल पार्टी तो उनसे नाराज थी ही, उस समय धीरे-धीरे संगठित हो रहा मजदूर वर्ग भी उन्हें अति समाजवादी (Extreme Socialist) कहता था और उनसे दूर ही रहता था, क्योंकि मजदूर के कल्याण के लिए साम्राज्यवाद नष्ट होना चाहिए—ऐसा समाजवादियों का जो सिद्धांत था, उससे ब्रिटिश मजदूरों का प्रत्यक्ष अनुभव मेल नहीं खाता था। हिंदुस्थान पर ब्रिटिशों की साम्राज्य सत्ता के कारण जो करोड़ों-अरबों की डकैती ब्रिटिशों द्वारा डाली जाती थी, उससे सैनिक, नाविक, मजदूर आदि सबकी ही चाँदी कटती थी। इसीलिए वे सब भी, जिन्हें कांग्रेस 'ब्रिटिश जनता' कहती थी, यही चाहते थे कि हिंदुस्थान पर ब्रिटिशों का साम्राज्य बना रहे। इसलिए सोशल डेमोक्रेट पार्टी को ब्रिटेन में सक्रिय सहयोग प्राप्त था ही नहीं। फिर भी हिंडमैन के व्यक्तित्व का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता था। उस समय सोशलिस्टों का प्रभाव इंग्लैंड से अधिक यूरोप में था। अतः राजनीति में हिंडमैन को यूरोपीय नेता के रूप में मान्यता प्राप्त थी। वे ब्रिटिश शासन पर कड़ी टीका करते थे। हमारे भारतीय नेता मन से अच्छी लगने पर भी उस टीके की खुली प्रशंसा करने से डरते थे।

हिंडमैन की ओर दादाभाई का भी झुकाव था। वे एक-दूसरे के घर आते-जाते भी थे। दादाभाई की ओर से आयोजित खुली सभाओं में 'हिंदुस्थान' विषय पर हिंडमैन के भी व्याख्यान होते थे। गोखले ने भी दादाभाई और हिंडमैन के साथ एक ही मंच से व्याख्यान दिए थे। ब्रिटिश कांग्रेस कमेटी के वेडर्बर्न, कॉटन आदि ब्रिटिश लिबरल लोगों ने इस संबंध में उपर्युक्त भारतीय नेताओं को आगाह भी किया था। उलटे भारतीय नेता ब्रिटिश लिबरल द्वारा दिया जानेवाला ऐसा त्रास सहन करने में जो भीरुता दिखाते हैं, वही परतंत्रता का मूल कारण है, ऐसा उसका खुला मजाक हिंडमैन उड़ाते थे।

चापेकर-रानडे कांड के कारण एवं हिंडमैन के 'जस्टिस' पत्र में प्रकाशित उपर्युक्त लेख के कारण लिबरल पार्टी पगला गई। ब्रिटिश कांग्रेस कमेटी में भी, विशेषत: दादाभाई और गोखले पर आरोप-प्रत्यारोप की झड़ी लगी। तब चूँकि पार्लियामेंट में चुनकर आने एवं नए चुनाव में पुन: खड़े होने के लिए लिबरल पार्टी का सहयोग आवश्यक था। इसीलिए उन्हें प्रसन्न करने और उनकी ब्रिटिशनिष्ठा का चरित्र किसी भी शंका की परिधि से दूर सिद्ध करने के लिए देशभक्त दादाभाई ने हिंडमैन को एक पत्र लिखा और प्रकटत: उनसे संबंध-विच्छेद कर लिया। उस पत्र में उन्होंने लिखा—

'I remain of the same view that after reading your article in Justice I can not any more work with you and the Social Democratic Federation on Indian matters. My desire and aim have been not to encourage a rebellion but to prevent it and to make the British connection with India a blessing to both. Unfortunately it is not the case as yet in so far as India is concerned, but it is owing to evil system of the Government by the executive authority inspite of the wishes of the sovereign, the people and the parliament of England to govern righteusly.'

सारांश यह कि 'जस्टिस' पत्र में छपा आपका लेख पढ़ने के बाद मैंने दृढ़ निश्चय कर लिया है कि मैं आपके साथ या सोशल डेमोक्रेटिक फेडरेशन के साथ हिंदुस्थान के प्रश्न पर कोई काम न करूँगा। मेरा उद्देश्य एवं इच्छा हिंदुस्थान में विद्रोह भड़काने की नहीं है। विद्रोह न हो और हिंदुस्थान तथा इंग्लैंड का संबंध दोनों के लिए कल्याणकारी हो, यही मेरी इच्छा रही है। दुर्भाग्य से हिंदुस्थान के संबंध में वैसी स्थिति नहीं बनी है। वह दोष ब्रिटिश सार्वभौमिकता की, ब्रिटिश संसद् की, न्याय से राज चलाने की इच्छा होते हुए भी उसकी परवाह न करनेवाले कार्यकारी वर्ग के हाथों राजकाज सौंप देनेवाली दोषपूर्ण राज्य-प्रणाली का है।

ब्रिटेन में रहते हुए गोखले ने वक्तव्य देकर कहा था कि प्लेग के बहाने हिंदुस्थान में ब्रिटिश सैनिक और अधिकारी अत्याचार कर रहे हैं। बाद में गोखले ने अपना यह वक्तव्य बिना शर्त माफी माँगते हुए वापस ले लिया और ब्रिटिश कोप से अपने को बचा लिया।

मैं जब लंदन में पहुँचा, तब और उसके पूर्व के कई वर्षों से जो तीन संस्थाएँ—लंदन इंडियन सोसायटी, ईस्ट इंडिया एसोसिएशन और ब्रिटिश कमेटी ऑफ दि इंडियन कांग्रेस—तथा अन्य प्रमुख नेता भारतीय राजनीति करते आ रहे

थे और कर रहे थे, उनका आवश्यक परिचय यहाँ तक मैंने दिया। अब यह सब पढ़ने के बाद मेरे लंदन जाने के केवल डेढ़-दो वर्ष पूर्व इन सारी पुरानी संस्थाओं, नेताओं और उनके ब्रिटिशनिष्ठ कार्यक्रमों को पीछे धकेलते हुए भारतीय राजनीति के क्षेत्र में वेग से आगे बढ़ रही चौथी नई संस्था 'इंडियन होमरूल सोसायटी' एवं उसके संस्थापक पंडित श्यामजी कृष्ण वर्मा का परिचय भी मुझे पाठकों से यहीं करा देना चाहिए, क्योंकि उस संस्था और संस्थापक का मेरे आत्म-चरित्र से निकट का संबंध है।

पंडित श्यामजी कृष्ण वर्मा

श्री इंदुलाल याज्ञिक द्वारा लिखित पंडित श्यामजी कृष्ण वर्मा का एक अंग्रेजी चरित्र कुछ दिनों पहले सन् १९४० में प्रकाशित हुआ है। यह चरित्र-ग्रंथ इतना विस्तृत, साधार, मर्मज्ञ और मनोज्ञ है कि जिन्हें हिंदुस्थान की स्वतंत्रता के लिए पंडित श्यामजी द्वारा किए गए महान् कार्य का यथावत् मूल्य-मापन करना है, वे उस चरित्र-ग्रंथ को अवश्य पढ़ें। मेरे इस 'आत्मवृत्त' ग्रंथ में जितना आवश्यक है, उतना ही अल्प परिचय नीचे दिया जा रहा है।

कच्छ रियासत के मांडवी गाँव में भनसाली समाज के एक शीलवान, परंतु निर्धन परिवार में ४ अक्तूबर, १८५७ को श्यामजी कृष्ण वर्मा का जन्म हुआ था। अभी वे दस वर्ष के भी नहीं हुए थे कि उनके माता-पिता गुजर गए। रिश्तेदारों के सहयोग से अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने वे बंबई आए। हाई स्कूल में अंग्रेजी पढ़ते-पढ़ते उन्होंने पुरानी परंपरा से शिक्षा देनेवाली एक संस्कृत पाठशाला में संस्कृत का अध्ययन कुछ आश्रयदाताओं की इच्छा के कारण करना प्रारंभ किया। उसमें उन्होंने प्रवीणता भी प्राप्त की। परंतु हाई स्कूल परीक्षा में वे नहीं बैठ सके। फलतः अंग्रेजी शिक्षा छूट गई। इसी समय आर्य समाज के संस्थापक श्री स्वामी दयानंद सरस्वती प्रचार-कार्य के लिए बंबई आए। उनके उपदेश एवं व्यक्तित्व के प्रभाव में आकर श्यामजी उनके दर्शनों के लिए गए। कुछ दिनों में उन्होंने आर्य समाज की दीक्षा ले ली।

बंबई के धनाढ्य सेठ छबीलदास लल्लूभाई की कन्या भानुमती से सन् १८७५ में श्यामजी का विवाह हुआ। ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के संस्कृत के प्राध्यापक मोनियर विलियम्स उसी समय बंबई आए थे। उन्हें पुरानी परंपरा से संस्कृत भाषा और विद्या का अध्ययन किया हुआ तथा अंग्रेजी पढ़ा-लिखा एक सहयोगी चाहिए था। यह ज्ञात होते ही अपने चयन के लिए श्यामजी ने प्रयास प्रारंभ कर दिया। उसके पूर्व श्यामजी कृष्ण वर्मा को यह आवश्यक लगा कि

अपनी संस्कृत-प्रवीणता का प्रभाव मोनियर पर डाला जाए। आर्यसमाज का प्रचार-कार्य भी करना ही था। इन दोनों उद्देश्यों से सन् १८७७ में आर्यसमाज के बल पर श्यामजी प्रवास के लिए निकले। संस्कृत विद्या तथा सामाजिक नेताओं के केंद्र समझे जानेवाले नगरों, यथा—नासिक, पुणे, कर्णवती (अहमदाबाद), काशी, लाहौर आदि में वे गए। वहाँ आमंत्रित सभाओं में संस्कृत में भाषण कर अपनी वाक्कौशल से बड़े-बड़े पंडितों को उन्होंने प्रसन्न किया। उन पंडितों ने 'पंडित' के रूप में उनका सम्मान किया। पुणे में प्राप्त प्रशस्ति-पत्र का एक ही उदाहरण इसके लिए काफी है। उस प्रशस्ति-पत्र पर प्रा. कुंटे, सार्वजनिक सभा के कार्यवाह जोशी, कृष्ण शास्त्री चिपळूणकर, प्रा. काथवटे, महादेव गोविंद रानडे आदि बड़ी हस्तियों के हस्ताक्षर थे। रायबहादुर गोपाल हरि देशमुख की तो इस प्रतिभाशाली तरुण पर विशेष कृपा थी। स्वामी दयानंद को भी अपने इस शिष्य का सम्मान देखकर विशेष आनंद हुआ। उन्होंने श्यामजी को इंग्लैंड जाने की अनुमति दे दी, मगर बाद में सोच-विचार कर दयानंद सरस्वती ने यह शर्त लगाई कि यदि एक पट्टशिष्य के रूप में जाना हो, तो वह (श्यामजी) प्रथमत: स्वामीजी के पास जाकर वेदों का अर्थ जानें।

श्यामजी के सारे प्रयास तो इंग्लैंड जाने के लिए थे—वे आर्य समाज को अपना जीवनदान करना कभी नहीं चाहते थे। इस कारण गुरुमुख से वेद पढ़ने वे स्वामीजी के पास नहीं गए। यह देखकर स्वामीजी ने उन्हें डपटकर एक पत्र लिखा—चूँकि श्यामजी ने वेदों का अर्थ गुरुमुख से नहीं सीखा है, इसलिए वे ऑक्सफोर्ड जाते ही यह वस्तु-स्थिति सबको स्पष्ट बताएँ। साथ ही, वे अपने को एक विद्यार्थी अर्थात् स्वामी दयानंद का शिष्य या आर्यसमाज का अधिकृत वैदिक प्रचारक न बताएँ।

परंतु जिन मोनियर साहब ने रायबहादुर गोपालराव देशमुख की सिफारिश के कारण श्यामजी को ऑक्सफोर्ड ले जाना स्वीकार किया था, वे (मोनियर साहब) चूँकि श्यामजी समय पर नहीं निकल सके, इसलिए अकेले ही विलायत चले गए।

श्यामजी का ऑक्सफोर्ड जाने का विचार पक्का था। द्रव्य-सहायता मिलने के अन्य मार्ग बंद हो जाने पर उन्होंने अनुदान लेने की बात सोची, पर वह भी कोई पूरा देने को तैयार नहीं था। अंत में अपनी पत्नी से ही उन्होंने ऋण प्राप्त किया। मार्च १८७९ में वे बंबई से निकले और अप्रैल में इंग्लैंड पहुँचे। तुरंत ही ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के कॉलेज में प्रवेश लेकर अध्ययन आरंभ भी कर दिया। उनकी प्रखर बुद्धि तथा विशेषत: संस्कृत साहित्य विशारद होने का प्रभाव वहाँ के प्राध्यापकों पर पड़ने लगा। प्रा. मोनियर विलियम्स कहते हैं कि पाणिनी का व्याकरण कंठस्थ

कर चुका भारतीय पंडित कैसा होता है, यह उस विश्वविद्यालय ने पहली बार देखा। श्यामजी ने ग्रीक और लैटिन भाषा का भी अच्छा अध्ययन वहाँ किया था। बंबई के गवर्नर के विशेष अनुरोध पर कच्छ रियासत ने श्यामजी के लिए एक छात्रवृत्ति भी स्वीकृत की।

दो वर्ष के अंदर ही अर्थात् सन् १८८१ में रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ने व्याख्यान देने के लिए उन्हें सम्मानपूर्वक बुलवाया। उस समय अनेक पाश्चात्य पंडितों की यह गलत धारणा थी कि वेदकाल में आर्यों को लेखन-कला ज्ञात नहीं थी। उन्होंने अपने भाषण 'भारतीय लेखन का मूलारंभ' में इस धारणा का तर्कपूर्ण खंडन किया। वहाँ की उनकी सफलता देखकर उसी वर्ष स्वयं भारत मंत्री (Secretary of State for India) ने बर्लिन में आयोजित प्राच्य विद्याविदों की परिषद् में श्यामजी को भारत के प्रतिनिधि के रूप में भेजा। वहाँ श्यामजी ने बल देकर कहा कि संस्कृत ग्रीक या लैटिन जैसी मृत भाषा न होकर भारत में विद्वानों के मध्य विचार-विनिमय की भाषा है, जो जीवंत है और वास्तविक राष्ट्रीय भाषा है।

इसी संस्था द्वारा लंदन में सन् १८८३ में आयोजित अगले अधिवेशन के लिए भारत मंत्री ने प्रतिनिधि के रूप में जाने का सम्मान पं. श्यामजी को ही दिया। उसके पूर्व 'एंपायर क्लब' नामक प्रतिष्ठित संस्था ने श्यामजी को अपना सम्मानित सदस्य बना लिया। इस संस्था में ब्रिटिश साम्राज्य के गवर्नर, गवर्नर जनरल, सर सेनापति ऐसे बड़े अधिकारी भी सदस्य होते थे और बार-बार सम्मान समारोह आयोजित किए जाते थे। पंडित श्यामजी इस संस्था के भोज-समारोह का मोटा चंदा भरकर भी समारोहों में जाया करते थे, क्योंकि बड़े-बड़े अंग्रेजों से घनिष्ठ या सामान्य परिचय करने में यह संस्था बहुत सहायक होती थी।

सन् १८८३ में ही श्यामजी ने ऑक्सफोर्ड की बी.ए. परीक्षा उत्तीर्ण की। कुछ लोगों के विचारानुसार, वे ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के प्रथम भारतीय स्नातक थे। उन्होंने प्रा. मैक्समूलर, प्रा. मारिसन, डॉ. जावेट, भारत के भूतपूर्व वायसराय लॉर्ड नार्थब्रुक आदि अनेक विशिष्ट व्यक्तियों से प्रशस्ति-पत्र एवं प्रमाण-पत्र प्राप्त किए। उन प्रमाण-पत्रों में जो एक विशेष बात रहती थी, उसे नार्थब्रुक के इस एक वाक्य में कहा जा सकता था—'He (Mr. Shyam) is eminently qualified for a high post in Govt. service.' (इन्हें सरकारी सेवा के किसी उच्च पद पर नियुक्त किया जाए—ऐसी इनकी उत्कृष्ट योग्यता है)।

श्यामजी को भी यही चाहिए था। उसी समय इंग्लैंड के प्रधानमंत्री ग्लैडस्टन साहब से भी श्यामजी ने किसी-न-किसी बहाने पत्राचार चालू कर रखा था, ऐसा संकेत देनेवाला श्यामजी का ११ अप्रैल, १८८३ का एक महत्त्वपूर्ण पत्र उपलब्ध

हुआ है। लॉर्ड रिपन उस समय हिंदुस्थान के शिक्षित वर्ग में बहुत लोकप्रिय हो गए थे। उनके संबंध में ग्लैडस्टन साहब को श्यामजी लिखते हैं—'आपने लॉर्ड रिपन को हिंदुस्थान के वायसराय पद पर नियुक्त कर मेरे देशबंधुओं पर जो उपकार किया है, उस संबंध में अपनी भावना व्यक्त करनेवाले अनेक कृतज्ञता-पत्र मेरे पास आ रहे हैं।'

सुप्रसिद्ध देशभक्त दादाभाई नौरोजी से भी उनका परिचय था, पत्राचार भी था। इंदुलाल याज्ञिक ने श्यामजी के चरित्र में यह स्पष्ट ही कहा है कि उनमें व्यवसाय एवं व्यापार-व्यवहार के अतिरिक्त किसीका भी उल्लेख नहीं है। विलायत में दादाभाई जो राजनीतिक कार्य कर रहे थे, उसमें भी श्यामजी का कोई सहयोग नहीं था। बैरिस्टरी की परीक्षा उत्तीर्ण कर हिंदुस्थान में बसने का निश्चय करके पं. श्यामजी जनवरी १८८४ में लौट आए।

पंडित श्यामजी के चरित्र के इस कालखंड से यह स्पष्ट हो जाता है कि २८-२९ वर्ष की आयु से कुछ कम आयु तक उन्होंने राजनीतिक आंदोलन से दूर का भी कोई संबंध नहीं रखा। उस काल तक ब्रिटिश अधिकारियों के प्रमाण-पत्रों के भरोसे शासन में कोई उच्च पदाधिकार प्राप्त कर स्वयं का भाग्योदय किस प्रकार साधा जाए, इसी एक महत्त्वाकांक्षा से वह भरे हुए थे।

हिंदुस्थान में आते ही गोपाल हरि देशमुख के अनुरोध पर और बड़े-बड़े ब्रिटिश अधिकारियों से प्राप्त प्रशस्ति-पत्रों के प्रभाव से कुछ ही अवधि में पं. श्यामजी को रतलाम रियासत का दीवान पद प्राप्त हो गया। वहाँ के महाराज की एवं ब्रिटिश एजेंट की कृपा उन्होंने इतनी कुशलता से प्राप्त की कि सन् १८८८ में अपनी अस्वस्थता के कारण जब उन्होंने वह पद छोड़ा, तब रतलाम के उदार राजा ने श्यामजी को वेतन के अतिरिक्त बत्तीस हजार रुपए केवल भेंट के रूप में दिए। उसके बाद उसी वर्ष श्यामजी ने अजमेर के ब्रिटिश न्यायालय में बैरिस्टरी का व्यवसाय प्रारंभ किया। इसके साथ ही वहाँ के मिलों-कारखानों में अपनी संपत्ति लगाकर भारी धन प्राप्त करते रहने का प्रबंध उन्होंने किया। बैरिस्टरी के व्यवसाय में भी उनको भरपूर आय होती थी। परंतु किसी बड़ी रियासत का ऐसा दीवान पद चाहिए था, जिससे उन्हें केवल संपत्ति की अपेक्षा संपत्ति और सत्ता का जुड़वाँ वैभव भोगने को मिले। उसके लिए उनके लंबे प्रयास चालू थे। बीच में अजमेर नगरपालिका में भी वे चुने गए। वहाँ उन्होंने कोई लोकहितकारी कार्य किया हो, ऐसा दिखता नहीं, पर उस सदस्यता का उपयोग कर अपने व्यापारिक हित उन्होंने पक्के कर लिये। अजमेर में ऐसे चार वर्ष बिताने के बाद मन की नौकरी उन्हें मिली। उदयपुर के महाराज ने दिसंबर १८९२ में उन्हें अपनी रियासत का दीवान नियुक्त किया। इस

रियासत का प्रशासन उन्होंने बड़ी ही कुशलता से चलाया और वहाँ के महाराज ने बड़ी प्रसन्नता से उनका सम्मान किया।

अपनी इस बढ़ती प्रतिष्ठा को कहीं कोई ठेस न लगे, इसलिए वे रात-दिन सचेत रहते। इसी कारण उन्होंने अपने दीवानी काल में रियासत में राजनीतिक तो दूर, सामाजिक, शैक्षणिक या धार्मिक किसी भी तरह का कोई सुधार करने या करवाने का साहस नहीं किया। फिर भी यह ध्यान में रखना होगा कि उन्होंने उस रियासत की प्रतिष्ठा पर कोई आँच नहीं आने दी। उसकी आर्थिक एवं आधिकारिक मजबूती भी नहीं घटने दी। रियासत की एकनिष्ठ सेवा करते हुए भी उधर ब्रिटिश एजेंट से 'कार्यक्षम दीवान' के प्रमाण-पत्र उन्होंने प्राप्त किए। व्यक्तिगत दृष्टि से देखा जाए तो यह भी कोई सामान्य बात नहीं थी।

उदयपुर में दो-ढाई वर्ष तक दीवान रहने के बाद उन्हें जूनागढ़ रियासत का दीवान बनने का अवसर मिला। कुल मिलाकर अधिक लाभकारी होने के कारण श्यामजी ने उस पद को स्वीकार कर लिया। उदयपुर के उदार हृदय महाराज ने उन्हें सम्मानपूर्वक विदाई दी और यह भी कहा कि कभी भी लौटना हो, तो आपको दीवान पद मिलेगा।

जूनागढ़ के नवाब के यहाँ श्यामजी सन् १८९५ में गए। बहुत जल्द ही उन्हें पता लगा कि वह नवाब एक षड्यंत्रकारी गुट के हाथ की कठपुतली बना हुआ है। श्यामजी को रहना हो तो उस गुट की हाँ-में-हाँ मिलाकर रहें, अन्यथा उन्हें किसी भी तरह दीवानी छोड़ने के लिए बाध्य किया जाएगा—ऐसा उस गुट का षड्यंत्र बना हुआ था। इस षड्यंत्र के पीछे किसी तरह का जातीय, धार्मिक या सैद्धांतिक कारण नहीं था। उस गुट में हिंदू भी थे, मुसलमान भी थे। उसकी जड़ में केवल व्यक्तिगत एवं स्वार्थी लेन-देन था। उसी समय श्यामजी ने उस रियासत में म्याकानकी नामक एक अंग्रेज अधिकारी की नियुक्ति मोटे वेतन पर की। म्याकानकी ऑक्सफोर्ड से ही श्यामजी का परिचित था। इसलिए उसके आवेदन पर श्यामजी ने उसे यह उच्च पद दिया। दरअसल श्यामजी को अपना सहयोगी और समर्थक कोई बड़ा अंग्रेज अधिकारी ही चाहिए था। उसीका उपयोग संकट के समय अधिक होना था। परंतु जल्दी ही उस षड्यंत्रकारी गुट से म्यकानकी की दोस्ती हो गई और उसने श्यामजी को उखाड़कर स्वयं ही दीवान पद हथियाने का षड्यंत्र रच लिया। श्यामजी के विरुद्ध बनावटी आरोप तथा शिकायतें तैयार कर म्याकानकी ने ब्रिटिश रेजिडेंट की राय बिगाड़ी तो दूसरी ओर उस गुट ने नवाब के कान भरे। इसका परिणाम यह हुआ कि नवाब ने एक दिन श्यामजी को सूचित किया कि दुर्व्यवहार के कारण आपको पदच्युत किया जाता है; आप जूनागढ़ छोड़कर तुरंत चले जाएँ। किस तरह का

दुर्व्यवहार किया था, यह नहीं बताया गया।

नवाब का ऐसा आदेश मिलते ही श्यामजी सन्न रह गए। अभी तक प्राप्त सारी प्रतिष्ठा इस तरह मिट्टी में मिलती देखकर श्यामजी को बहुत दुःख हुआ। क्रोध भी आया। आदेश के अनुसार जूनागढ़ छोड़ना आवश्यक ही था। अत: उन्होंने उसे छोड़ा, पर जाते हुए उस विरोधी गुट को धमकी दी—'रेजिडेंट से लेकर वायसराय एवं इंग्लैंड के सेक्रेटरी ऑफ दी स्टेट्स तक से मेरा परिचय है। मुझपर हो रहे अन्याय को सरकार दूर करेगी—ब्रिटिश सरकार अंधेर नगरी नहीं है। यदि नवाब अड़ गए तो उनकी रियासत इस झगड़े में बलि का बकरा बन जाएगी।'

इसके बाद श्यामजी ने माँग की कि क्षतिपूर्ति के रूप में उन्हें चालीस हजार रुपए दिए जाएँ। उस माँग को स्वीकार नहीं किया गया। इसके बाद अपनी धमकी के अनुसार उन्होंने पॉलिटिकल एजेंट तक दौड़ लगाई, पर उसने म्याकानकी का पक्ष लिया। तब श्यामजी ने चीफ सेक्रेटरी टु दि गवर्नर को लिखा। ब्रिटिश नेताओं से प्राप्त सारे प्रमाण-पत्र, परिचय-पत्र आदि का उल्लेख किया, पर बेकार। उन्होंने बंबई सरकार और अंत में लंदन के सेक्रेटरी ऑफ दि स्टेट्स फॉर इंडिया (ब्रिटिश सरकार के भारत मंत्री) से न्याय प्राप्त करने व्हाइट हॉल तक पत्राचार किया, पर जूनागढ़ रियासत के पॉलिटिकल एजेंट ने जो फैसला दिया, उसे पलटने के लिए कोई तैयार नहीं हुआ।

सितंबर १८९५ में जूनागढ़ नवाब की सीमा पार करते ही श्यामजी तुरंत उदयपुर महाराज के यहाँ गए। उस उदारमना महाराज ने अपने दिए हुए आश्वासन के अनुसार उन्हें फिर से दीवान पद दिया। परंतु राजा-महाराजाओं पर भी शासन चलानेवाला रियासत का 'पॉलिटिकल एजेंट' नामक जो ब्रिटिश अधिकारी रहता था, उसकी अनुमति उस नियुक्ति के लिए आवश्यक थी। उस समय वहाँ कर्जन वायली नामक पॉलिटिकल एजेंट था। (उससे इसी ग्रंथ में मदनलाल धींगरा प्रकरण में अपना वास्ता पड़ेगा।) उसने श्यामजी को ८ अक्तूबर, १८९५ को सूचित किया कि 'चूँकि जूनागढ़ रियासत से आपको दुर्व्यवहार के आधार पर पदच्युत किया गया है। अत: जब तक आपके चरित्र पर लगाए गए कलंक के आरोप झूठे सिद्ध नहीं हो जाते, तब तक मैं दीवान पद पर हुई आपकी नियुक्ति को मान्यता नहीं दे सकता।' ब्रिटिश सरकार के गोरे अधिकारियों ने इस तरह चारों ओर से श्यामजी को घेरा। अपमान की अति हो गई।

राजनीतिक व्यवहार में प्रत्येक अंग्रेज एक-दूसरे का साथ देनेवाला होता है। अभी तक अविश्वसनीय लगनेवाली यह बात श्यामजी को अब अच्छी तरह समझ में आ गई। ब्रिटिश सरकार कोई अंधेर नगरी नहीं है, यह जो भ्रम श्यामजी ने पाल

रखा था, अब उसकी सच्चाई उनके सामने आ गई। ब्रिटिश सरकार की न्याय-बुद्धि पर उनका जो विश्वास था, वह स्वयं के साथ विश्वासघात होने के कारण रसातल में पहुँच गया।

अपने पर हुए अन्याय का प्रतिशोध लेने का एक ही मार्ग श्यामजी के लिए उपलब्ध था और वह था स्वयं का नाम आगे न करते हुए किसी दूसरे के द्वारा जनता के सामने वह कृष्णकृत्य ले आना और इस तरह सरकार पर सार्वजनिक दबाव बनाना। श्यामजी के विरुद्ध एक लेख लिखकर 'बंबई टाइम्स' ने जूनागढ़ रियासत के अंग्रेज अधिकारियों का समर्थन किया था। इस तरह समाचारपत्र के माध्यम से किए हुए सरकारी दुष्प्रचार का उत्तर उसी शक्ति से देकर श्यामजी का समर्थन कर सके, ऐसा धुरंधर एवं विश्वसनीय पत्रकार 'केसरी' के लोकमान्य तिलक के सिवाय और कोई नहीं था।

कोल्हापुर रियासत के और कुछ ही दिनों पूर्व बड़ौदा रियासत के 'बापट' प्रकरण में होनेवाले सरकारी अन्याय के विरुद्ध रियासतों की ओर से लड़नेवाले नेता के रूप में तिलक का नाम राजे-रजवाड़ों में पहले से ही ख्यात था। रियासती राजनीति में अंग्रेजों के विरोध में तिलक का सहयोग कभी भी उपयोगी हो सकता है—ऐसा भी एक साधन पास में होना चाहिए, ऐसी दूर की सोच के साथ श्यामजी ने बंबई में तिलक से भेंट कर या पत्राचार द्वारा परिचय कर लिया होगा। बड़े-बड़े व्यक्तियों से अपना परिचय बढ़ाने और उनसे प्रमाण-पत्र प्राप्त करते रहने का सिलसिला उनका था ही। उस परिचय के आधार पर कहें या नए ढंग से परिचय बढ़ाकर कहें, श्यामजी ने जूनागढ़ प्रकरण में अपने पर हुए अन्याय के विरुद्ध ब्रिटिश शासन की तीखी आलोचना कर अन्याय निरस्त करवाने के लिए तिलक के हाथ-पैर जोड़े होंगे, तिलक द्वारा श्यामजी को सन् १८९६ में भेजा इस संभावना की पुष्टि करता एक पत्र उपलब्ध है। उस पत्र में तिलक लिखते हैं, 'आपकी पदच्युति के संबंध में जो संघर्ष चल रहा है, उससे संबंधित महत्त्व के कागज हमारे पास भेज दें।'

तिलक के इस पत्र के अनुसार श्यामजी ने तिलक के पास वे कागज भेज दिए थे। श्यामजी के पास तिलक के द्वारा इस पत्र जैसा ही जनवरी १८९६ में भेजा एक और पत्र उपलब्ध है। अर्थात् ये दोनों पत्र श्यामजी की जूनागढ़ से पदच्युति के बाद के ही हैं। इस (दूसरे) पत्र में तिलक ने श्यामजी से पूछा था कि क्या एक ब्राह्मण युवक रियासत की फौज में भरती होकर या अन्य रीति से सैनिक प्रशिक्षण ले सकता है ? श्यामजी तब उदयपुर के दीवान थे, परंतु उन्होंने उस युवक को बुलवा लिया था या नहीं, उसका कुछ पता नहीं लगता। यह युवा चापेकर होंगे, ऐसा अनुमान किया

जाए तो भी यह तो सिद्ध है ही कि श्यामजी ने उन्हें सैनिक नौकरी में लिया नहीं और वे गए नहीं। कुल मिलाकर, तिलक के उपलब्ध दोनों पत्रों से इससे अधिक कुछ सिद्ध नहीं होता कि जूनागढ़ के अपने व्यक्तिगत प्रश्न तक ही श्यामजी का संबंध तिलक से रहा था। राजनीतिक या सार्वजनिक काम के कारण श्यामजी का संबंध तिलक से जो था या तिलक के राजनीतिक आंदोलन में श्यामजी का किसी तरह का सीधा या परोक्ष सहयोग था, ऐसा मानने का कोई आधार उपलब्ध नहीं है। सार्वजनिक कार्य में किसी तरह भी लिप्त न होकर अपने तक ही सीमित रहना तब तक श्यामजी का जीवन-सूत्र था। वे उदयपुर के दीवान थे और बने रहना चाहते थे।

श्यामजी का सहसा इंग्लैंड जाना

सन् १८९७ में रानडे-चापेकर प्रकरण से सारा देश कंपित हो गया था। राजद्रोह के आरोप में तिलक को पकड़ा गया तो नातू बंधुओं को बिना किसी आरोप के, बिना पूछताछ किए उठाकर जहाँ कहीं ले जाया गया, उसका पता अनेक दिनों तक किसीको भी नहीं लगा था। इन समाचारों से श्यामजी बहुत चिंतित थे। जूनागढ़ कांड से वे ब्रिटिश शासकों में अप्रिय हो गए थे और हिंदुस्थान में होनेवाले न्याय पर से भी उनका विश्वास पूरी तरह उठ गया था। अपने अतिसंशयी स्वभाव के कारण एक दहशत उन्हें सताने लगी। राजनीति का न हो, पर ब्रिटिशों की आँख की किरकिरी तिलक से उनका पत्राचार जूनागढ़ कांड को लेकर उनका पत्राचार तो हुआ ही था। वह भी ऐंग्लो-इंडियन शासकों द्वारा किए गए अन्याय के संबंध में यह निवेदन करते हुए कि गोरे अधिकारियों के विरुद्ध वे अपने समाचारपत्र में लेख लिखें। ऐसे में तिलक के घर की जाँच-पड़ताल में यदि उनके ये पत्र ब्रिटिश शासन के हाथ लग गए तो पहले से ही पगलाए ये ऐंग्लो-इंडियन लोग उस पत्र के बहाने उनपर राजनीतिक आरोप लगाने से नहीं चूकेंगे। कहीं इसी कारण नातू बंधुओं की तरह बिना आरोप, बिना जाँच, वे उन्हें कारावास न भेज दें, इस आशंका ने उन्हें आ घेरा। वैसी कोई आपत्ति आने के पूर्व ही श्यामजी ने निश्चय किया कि हिंदुस्थान से तुरंत भागकर इंग्लैंड चले जाएँ जहाँ अभी भी व्यक्ति-स्वतंत्रता और कानून का शासन है, इसीमें भला है। अपने अंदर की बात किसीको भी न बताते हुए उन्होंने अचानक उदयपुर के दीवान पद से त्यागपत्र दिया और सन् १८९७ के उत्तरार्ध में अपनी पत्नी को लेकर वे इंग्लैंड चले गए।

राजनीतिक उद्देश्य नहीं

कुछ लोग यह कल्पना करते हैं कि केवल देश-सेवा के लिए और इंग्लैंड

की स्वतंत्र हवा में तिलक से भी प्रखर राजनीति करने के लिए श्यामजी ने स्वार्थ-त्याग के रूप में दीवान का पद छोड़ा और वे इंग्लैंड चले गए। यह निराधार है। उसकी पुष्टि करनेवाला एक भी साक्ष्य अस्तित्व में नहीं है। आगे जब उस महान् देशभक्त का घनिष्ठ परिचय मुझसे हुआ, तब यह विषय बीच-बीच में निकला। तब भी 'स्वदेश-सेवा में पूरा समर्पण करने के लिए ही मैंने हिंदुस्थान छोड़ा'— उन्होंने ऐसा बहाना कभी नहीं किया। उन्होंने जुलाई १९०७ के 'इंडियन सोशियोलॉजिस्ट' के अंक में इस संबंध में स्वयं जो कहा है, उसे ही उद्धृत यहाँ करना पर्याप्त है—

'There is a saying in Sanskrit that it is better not to put your foot in the mud at all than to put it in the mud and then to wash it. In other words it is folly for a man to allow himself to be arrested by an unsympathetic government and thus be deprived of action when by anticipating matters he can avoid such results. Just ten years ago when our friend Mr. Tilak and the Natu Bros. were arrested we decided to leave India and settle in England.'

अर्थात् 'संस्कृत में एक सुभाषित है कि कीचड़ में पैर डालकर फिर उसे धोते रहने की अपेक्षा कीचड़ में पैर न डालना ही अधिक उचित है। उसी न्याय से अपने पर कुटिल राज्यसत्ता की वक्रदृष्टि है, यह ज्ञात होने पर भी दूरदर्शिता से वह संकट न टालते हुए उस अपने को पकड़ने का अवसर स्वयं राज्यसत्ता को देना मूर्खता है। इसीके लिए दस वर्ष पूर्व जब हमारे मित्र श्री तिलक एवं नातू बंधुओं को पकड़ा गया, तब हमने हिंदुस्थान छोड़कर इंग्लैंड में बसने का निश्चय किया।'

इंग्लैंड जाने के बाद भी पंडित श्यामजी ने पूरे चार वर्ष तक हिंदुस्थान के संबंध में किसी राजनीतिक तो क्या, अन्य किसी भी सार्वजनिक आंदोलन में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष भाग नहीं लिया। इससे भी यही सिद्ध होता है कि केवल देश-सेवा के लिए ही पंडित श्यामजी ने हिंदुस्थान छोड़ा, यह मानना गलत है।

श्यामजी के जीवन-ध्येय का कायाकल्प

यद्यपि हिंदुस्थान छोड़ते समय श्यामजी में देश-भावना नहीं थी, परंतु ब्रिटेन जाने के बाद उनके जीवन-ध्येय का विकास होने लगा। हिंदुस्थान छोड़ने के पहले उन्होंने परदेस में भी धन-संपन्नता से अपनी गृहस्थी चलाने योग्य संपत्ति कमाकर संचित कर रखी थी। इसके अतिरिक्त भी इंग्लैंड, फ्रांस आदि देशों में जहाँ-जहाँ संभव था, वहाँ-वहाँ अपनी संपत्ति का निवेश स्टॉक एक्सचेंज के माध्यम से करके

घर बैठे हजारों रुपए कमाते रहने का प्रबंध भी उन्होंने किया था। इस स्वतंत्र एवं संपन्न व्यवसाय के कारण वे इंग्लैंड में आर्थिक दृष्टि से किसीके भी आश्रित नहीं थे। अपने पैर में पड़ी रियासत की सेवा की बेड़ियों से वे सर्वथा मुक्त हो गए थे। हिंदुस्थान के ऐंग्लो-इंडियन शासन की अंधेरगर्दी के भय से भी वे अब मुक्त थे। कारण, उस समय और उसके बाद भी अनेक वर्षों तक ब्रिटेन में विश्व के किसी भी राष्ट्र की तुलना में व्यक्ति-स्वातंत्र्य की सुरक्षा अधिक है और विधि का शासन है—यह उनका निश्चित विचार था।

परंतु कुछ भी हो, युवावस्था में स्वामी दयानंद के प्रभाव से उनकी मनोभूमि में स्वराज्यीय और स्वराष्ट्रीय स्वाभिमान के बीज बोए जाए चुके थे। उनके जीवन का ध्येय जब तक व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा के अर्थात् एक अर्थ में संकुचित स्वार्थ की कक्षा तक ही सीमित था, तब तक निस्स्वार्थ राष्ट्राभिमान की वह भावना उस स्वार्थी प्रवृत्ति के नीचे मन में दबी पड़ी थी, परंतु ऊपर वर्णित राजनीतिक डर, आर्थिक दास्य एवं ब्रिटिश निष्ठा की बेड़ियाँ उनके पैरों से, उनके मन से अलग होने पर उनके हृदय में स्वराष्ट्राभिमान एवं न्याय-प्रवणता की भावना मुक्त रूप से फूलने-फलने लगी।

ब्रिटेन जाने के बाद प्राप्त शांति के काल में श्यामजी ने विख्यात दार्शनिक हर्बर्ट स्पेंसर के वाङ्मय का अध्ययन किया। उस दार्शनिक के अज्ञेयवाद (Agnosticism) के तात्त्विक मतों से जैसे ही वे पूर्ण सहमत हुए, वैसे ही उनके नीतिशास्त्र के ग्रंथ से उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्य के संबंध में उनके विचार पढ़े, जिसके अनुसार ब्रिटिश शासन हिंदुस्थान का रक्त (वित्त) शोषण चला रहा था। स्वयं ब्रिटिश होते हुए भी उसके विरुद्ध कड़ी एवं साधार टीका स्पेंसर ने की थी। इन्हीं सब कारणों से ब्रिटिशों के राजनीतिक दास्य से मातृभूमि को मुक्त कराने के लिए अपना जीवन अर्पित करने की इच्छा पं. श्यामजी के मन में बलवती होती गई।

सुरेंद्रनाथ बनर्जी को शासकीय सेवा से पदच्युत करके जो अन्याय अंग्रेजों ने किया, उससे उनकी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा राष्ट्रीय महत्त्वाकांक्षा में कैसे बदली थी या वासुदेव बलवंत की माताजी की मृत्यु के समय गोरे अधिकारी ने उनके साथ जो दुर्व्यवहार किया, उससे दुःखी होकर उनके हृदय में तब तक छिपे बैठे राष्ट्रीय क्रोध का गोदाम पूरे-का-पूरा कैसा विस्फोट कर बैठा, वह इस आत्म-चरित्र के 'पूर्वपीठिका खंड' में हमने वर्णित किया है। कितने साधु-संतों के चरित्र में ऐसे अवसर आए दिखाई देते हैं कि वे पहले व्यक्तिगत गृहस्थी में रत थे, पर अपने ऊपर आई किसी प्रपंच-भरी विपदा के कारण उनके हृदय में आकस्मिक विरक्ति का उदय हुआ और वे साधु हो गए। उसी तरह की मानसिक प्रक्रिया से

राजनीतिक क्षेत्र में श्यामजी का प्रवेश हुआ। जूनागढ़ कांड में ब्रिटिश शासन द्वारा किए गए प्रहार से ब्रिटिशनिष्ठा का परदा उनकी आँखों से उठ गया और धीरे-धीरे उन्हें देशभक्ति का प्रकाशमय मार्ग दिखने लगा। आखिरकार उनके जीवन-ध्येय का कायाकल्प हो गया।

कांग्रेस की ब्रिटिशनिष्ठ राजनीति के प्रति उनका मन पहले से ही पूरी तरह से उचट गया था। इसीलिए दादाभाई के नेतृत्ववाली 'ब्रिटिश इंडिया नेशनल कांग्रेस कमेटी' में या 'लंदन इंडियन सोसायटी' में उन्होंने प्रवेश नहीं लिया। हिंदुस्थान के संबंध में उनके जो कुछ भी देशभक्तिपूर्ण राजनीतिक विचार बने, उसका प्रबल पुरस्कार और ब्रिटिशों की जीहुजूरी करनेवाले पुराने राजनीतिक नेताओं का प्रखर विरोध अपनी बैठक में आने-जानेवाले भारतीय नेताओं, मित्रों एवं विशेषतः भारतीय तरुणों से पं. श्यामजी निजी रूप से करने लगे। धीरे-धीरे उनके चारों ओर उनके विचारों से प्रभावित ऐसा एक मित्रमंडल भी संगठित होने लगा। सन् १९०२ तक उनके मन की इस वैचारिक क्रांति ने एक अच्छा आकार ले लिया। ब्रिटिशों की दासता से हिंदुस्थान को मुक्ति करने का कार्यक्रम भी उन्होंने बनाया और उसपर क्रमशः कार्यवाही करने के लिए सक्रिय राजनीति के अखाड़े में स्वयं ही उतरने का निश्चय किया।

हर्बर्ट स्पेंसर की मृत्यु

विश्वविख्यात ब्रिटिश दार्शनिक हर्बर्ट स्पेंसर की मृत्यु दिसंबर १९०३ में हो गई। कुछ लोग उनको मराठी में स्नेह और आदर से 'हरभट पेंडशे' भी कहते थे, उनके लिए इतना स्नेह महाराष्ट्र में पनप गया था। उनके अनेक ग्रंथों का अनुवाद मराठी में हो चुका था। तिलक-आगरकर की पीढ़ी के अनेक युवाओं पर उनके कतिपय विचारों का प्रभाव था। अपने छात्र-जीवन में मैं भी उन पुस्तकों का अध्ययन यथाबुद्धि करता था। बाद में उनके प्रत्येक ग्रंथ का कितना अध्ययन किया, यह मैं यथास्थान कहूँगा ही।

हर्बर्ट स्पेंसर पंडित श्यामजी के आदर्श पुरुष और वैचारिक गुरु थे। उनके कुछ उपकारों के बोझ को हलका करने के लिए लंदन में उनकी अंतिम यात्रा में वे उपस्थित हुए थे। श्मशान में ही बिना बुलाए उठकर पंडित श्यामजी ने कृतज्ञता भरे शब्दों में एक छोटा भाषण दिया और उस भाषण के अंत में हर्बर्ट स्पेंसर की स्मृति में एक हजार पौंड (करीब पंद्रह हजार रुपए) के दान की घोषणा की। वह दान ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय ने बाद में स्वीकार कर लिया। उस राशि से हर वर्ष हर्बर्ट स्पेंसर के दर्शन पर किसी प्रख्यात विद्वान् का व्याख्यान आयोजित होने

लगा। पंडितजी के दान का अनपेक्षित समाचार सारे ब्रिटिश और हिंदुस्थानी समाचारपत्रों में प्रकाशित हुआ। उससे ब्रिटिश दर्शन के प्रति एक भारतीय विद्वान् के आदर और दातृत्वबोध को जानकर ब्रिटिश जनता को बड़ा आश्चर्य हुआ। स्वदेश छोड़कर जिस ब्रिटेन के वे निवासी हो गए थे, उसकी जनता की सदिच्छा प्राप्त करने का गौण लाभ भी उस समय पंडितजी को गाहे-बगाहे मिल गया।

पंडितजी का पहला राजनीतिक कार्य

एक योजना पूरी होते ही पं. श्यामजी ने अपने मन में बनाए कार्यक्रम के अनुसार राजनीतिक क्षेत्र में खुला प्रवेश किया। ८ दिसंबर, १९०४ को हर्बर्ट स्पेंसर की पहली पुण्यतिथि थी। उस दिन 'स्नातक परीक्षा उत्तीर्ण' पाँच भारतीय नागरिकों को पाँच छात्रवृत्तियाँ देने का संकल्प उन्होंने किया। प्रत्येक हर्बर्ट स्पेंसर फेलोशिप दो हजार रुपए की थी। छात्रवृत्ति की पहली शर्त यही थी कि वृत्तिधारी ऐसा कोई शिक्षणक्रम पूरा करेगा, जिससे इंग्लैंड आकर स्वतंत्र व्यवसाय किया जा सके। अगली शर्तें आगे दी गई हैं। आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानंद के नाम से एक छात्रवृत्ति भी वे देनेवाले थे। उनकी इच्छा थी कि इन पाँच छात्रवृत्तियों की प्रसिद्धि से उनका महत्त्व बढ़े। इस उद्देश्य से कांग्रेस के अधिवेशन के बाद पहली बार घोषणा की जाए।

उस वर्ष अधिवेशन बंबई में ही दिसंबर में आयोजित था। इसके लिए ब्रिटिश इंडियन नेशनल कमेटी के प्रधान संचालक वेडर्बर्न को अपनी उपर्युक्त योजना के संबंध में बताने के लिए पंडित श्यामजी ने विस्तारपूर्वक एक पत्र लिखा और वह पत्र कांग्रेस में पढ़कर उन छात्रवृत्तियों की योजना की जानकारी सबको दी जाए, ऐसा निवेदन किया। उस पत्र में कुछ विशेष है। चूँकि वह पत्र पंडित श्यामजी कृष्ण वर्मा के जीवन के राजनीतिक विचारों एवं कार्यक्रम की प्रथम लिखित सार्वजनिक घोषणा थी। अतः उसका मुख्य भाग यहाँ ज्यों-का-त्यों दिया जा रहा है—

'…मेरी इस छात्रवृत्ति के अन्य नियम बाद में प्रकाशित किए जाएँगे। परंतु अपनी योजना की एक शर्त मैं यहीं प्रकट कर देता हूँ और वह यह कि छात्रवृत्ति प्राप्तकर्ता भारतीय स्नातक को हिंदुस्थान लौट आने के बाद ब्रिटिश शासन के अधीन कोई पद, अधिकार, वेतन या नौकरी नहीं स्वीकार करनी होगी। मैं यह शर्त इसलिए लगा रहा हूँ कि सुकरात का कथन है कि जिसे राज्य संस्था के अनेक बेछूट एवं न्याय-विरोधी कृत्यों का विरोध प्रामाणिकता से करना हो और सत्य के लिए संघर्ष करना हो, वह उस राज्य शासन की नौकरी-चाकरी में बँधा न रहे और समाज

में अपना स्वतंत्र स्थान बनाए।

'हिंदुस्थान को हर्बर्ट स्पेंसर के प्रति कृतज्ञ रहना चाहिए, इस संबंध में भी दो शब्द कहने की अनुमति मैं चाहता हूँ…अनेक वर्षों से जैसा हर्बर्ट स्पेंसर ही कहते रहे हैं, 'अपने अधीन रखी हुई नेटिव सेना के हाथों नेटिवों को जीतकर उन्हें गुलाम बनानेवाली सत्ता का, नमक पर लगाए गए कष्टकारी कर का, गरीब प्रजा को निचोड़कर उस भूमि से उत्पन्न धन का आधा हिस्सा छीन लेनेवाले कारिंदों का कड़ा विरोध किया है। हर्बर्ट स्पेंसर ने ही हर तरह का साक्ष्य एकत्र कर दिखा दिया कि अंग्रेजों ने दुष्ट और स्वार्थी उद्‌देश्य से ही हिंदुस्थान में प्रदेश जीते या झटक लिये। ब्रिटिश राज्य किसी समाज-भक्षक राक्षस की तरह दूसरे समाजों को ग्रसित कर रहा है, निगल रहा है।' अंत में यह भी लिखा कि वह हर्बर्ट स्पेंसर ही था जिसने कहा था कि 'ब्रिटिश गुलामी का जुआ गरदन पर से उतारकर फेंक देने का प्रयास यदि हिंदुस्थान ने किया, तो वह अपराध नहीं होगा।' हिंदुस्थान के ऐसे निःस्वार्थी एवं प्रामाणिक हितैषी की स्मृति हर कृतज्ञ भारतीय देशभक्त को सँजोनी चाहिए।'

पंडितजी के निवेदन के अनुसार कांग्रेस के अधिवेशन में यह पत्र पढ़ना भी उस समय की कांग्रेस के लिए संभव नहीं था। स्वयं वेडर्बर्न, ह्यूम, कॉटन आदि कांग्रेस के सूत्रसंचालक उसी 'समाज-भक्षक' ब्रिटिश समाज के ही नेता थे। ब्रिटिश शासन के अधीन पद, उपाधियाँ, अधिकार और नौकरियाँ स्वयं स्वीकार कर अधिक-से-अधिक स्थान भारतीय युवकों को दिए जाएँ, इसलिए कांग्रेस के भारतीय नेता और अनुयायियों में से सैकड़ों देशभक्त कांग्रेस में प्रस्ताव पारित कर रहे थे। ऐसी स्थिति में श्यामजी के उस पत्र को कांग्रेस द्वारा पुरस्कृत या प्रकाशित करना अपने विरोध का प्रस्ताव स्वयं ही प्रस्तुत कर पारित करने जैसा होता। हमारे कल्याण के लिए ब्रिटिश राज ही हमको चाहिए, ऐसा कहनेवाली कांग्रेस ने वह पत्र सीधे रद्‌दी की टोकरी में फेंक दिया। फिर भी श्यामजी उनके पीछे लगे रहे। इसलिए वेडर्बर्न ने १९ फरवरी, १९०४ को उन्हें एक व्यक्तिगत पत्र लिखा। उसके मुख्य वाक्य ये थे—

'...The second paragraph (of your letter) contained such a severe denunciation of the Indian Govt. That it seemed inexpedient for me to read that part publicly in the Congress, considering how importent it is for the Congress to maintain its character for loyalty and moderation.'

सारांश यह कि 'आपके पत्र में हिंदुस्थान के ब्रिटिश राज की इतनी कटु निंदा की गई है कि वह (पत्र) कांग्रेस में पढ़ना भी मुझे अनुचित लगा। कांग्रेस को अपनी

राजनिष्ठा, उदार दलीय भूमिका एवं प्रतिष्ठा को बनाए रखना ही होगा।'

'इंडियन सोशियोलॉजिस्ट' पत्र का प्रकाशन

कांग्रेस के मुँह से अपने विचारों को घोषित कराने के प्रयास में विफल रहने के बाद पंडित श्यामजी को लगने लगा कि अपने विचारों को स्वतंत्रता से कहने के लिए अपना एक समाचारपत्र होना चाहिए। उन्होंने जनवरी १९०५ से ही एक अंग्रेजी मासिक पत्र निकालना प्रारंभ किया, जिसका नाम कुछ स्पेंसरीय ढंग का 'इंडियन सोशियोलॉजिस्ट' (Indian Sociologist) रखा। उसके प्रथम अंक पर उसके उद्देश्य सूत्र में उन्होंने लिखा—

'An organ of freedom and of political, social and religious Reform.' अर्थात् स्वतंत्रता का और राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक सुधारों का मुखपत्र 'Indian Sociologist' (भारतीय समाजशास्त्री) उपर्युक्त मूल उद्देश्य के अनुसार एवं 'समाजशास्त्री' नाम को देखते हुए केवल राजनीति को ही अपना पत्र समर्पित न कर उसमें समाज की सर्वांगीण एवं शास्त्रीय चर्चा करने का उद्देश्य श्यामजी का था या वैसा आभास उत्पन्न करने का उनका प्रयास था। वैसे वह मासिक था, पर उसे तो एक 'मासिक मतपत्रक' ही कहना उचित होगा। वह आकार से इतना छोटा था कि केवल कागज का एक परचा लगता था। परंतु हिंदुस्थान के किसी भी दस पन्नों के समाचारपत्र की या सौ पृष्ठीय मासिक की तुलना में भी देशी-विदेशी लोगों में वह 'कागज का श्यामजी परचा' ही अनेक वर्षों तक गूँजता रहा! यह बात सच थी। फिर भी उस पत्र को जो महत्त्व प्राप्त हुआ, उसका वृत्तांत आगे दिया जाएगा।

प्रथम अंक से ही उस पत्र पर जो उत्तेजक ध्येय-वाक्य छपता था, वह स्पेंसर का एक नीति सूत्र था—'Resistance to aggression is not simply justifiable but imperative. Non resistance hurts both ultruism and egoism.'

अर्थात् 'आक्रमण का प्रतिकार केवल समर्थनीय ही नहीं है, वह तो एक अपरिहार्य कर्तव्य है। अप्रतिकार से स्वार्थ की ही नहीं, अपितु परार्थ की भी हानि होती है।'

फिर भी, अपने पत्र की क्या विशेषता है, प्रथम अंक में यह बताते हुए श्यामजी ने किसी तरह की क्रांतिकारी या स्वातंत्र्यवादी भूमिका नहीं लिखी। यह ध्यान देने की बात थी। उनके राजनीतिक विचारों का पल्ला तब तक उतना बढ़ा हुआ नहीं था, यही इसका साक्ष्य है। वे लिखते हैं 'हिंदुस्थान के और इंग्लैंड के

राजनीतिक हितों को देखते हुए ब्रिटिश सत्ता के अधीन भारतीय लोगों की क्या स्थिति है तथा क्या भावनाएँ हैं, यह ब्रिटेन में रहनेवाले किसी मौलिक भारतीय प्रवक्ता के द्वारा व्यक्त किया जाना अब आवश्यक हो गया है। आज तक भारतीय जनता के दु:ख, माँगें और आकांक्षा ब्रिटिश जनता के सामने स्वयं भारतीय लोगों द्वारा स्वतंत्र रूप से नहीं रखी गई हैं। इसलिए वह कर्तव्य अब हम पूरा करना चाहते हैं। जिनकी बात आज तक किसीने नहीं उठाई है, हिंदुस्थान के उन करोड़ों लोगों की बात उनकी ओर से ग्रेट ब्रिटेन एवं आयरलैंड की जनता के न्यायासन के आगे अपने समर्थन के साथ हम रखना चाहते हैं।'

'It will be our duty and privilege to plead the cause of India before the bar of public opinion in Great Britain & Ireland.'

उपर्युक्त उद्धरण में श्यामजी ने बिना नाम लिये यह स्पष्ट किया है कि उस समय हिंदुस्थान की ओर से ब्रिटेन में काम करनेवाली कांग्रेस की ब्रिटिश कमेटी, लंदन इंडियन सोसायटी एवं उनका 'इंडिया' पत्र—ये तीनों ही संस्थाएँ पूरी तरह भारतीय न होकर ह्यूम आदि ऐंग्लो-इंडियनों के दबाव में होने के कारण भारतीय पक्ष की सच्ची बात स्वतंत्रता से व्यक्त नहीं कर सकती। अपना यह 'इंडियन सोशियोलॉजिस्ट' पत्र चूँकि किसी भी ब्रिटिश व्यक्ति, विशेषत: ऐंग्लो-इंडियनों के दबाव में न होने के कारण भारतीय मन का सच्चा प्रतिनिधि एवं प्रमुख प्रवक्ता कहा जा सकता है, ऐसी अपनी विशेषता बताई है, वह प्रभूत अंश में सत्य था।

परंतु कांग्रेस ऐंग्लो-इंडियनों के दबाव के नीचे थी। इसलिए यदि उसकी ब्रिटिश कमेटी पूर्णतया भारतीय नहीं हो सकती थी तो उसी न्याय से उन्हीं 'ऐंग्लो-इंडियनों' के दबाव में रहनेवाली स्वयं भारतीय कांग्रेस भी 'पूर्णत: भारतीय' नहीं हो सकती थी। वह तो हर तरह से 'ब्रिटिशनिष्ठ' ही थी। फिर भी आश्चर्य यह कि उसी लेख में श्यामजी आगे आश्वासन देते हैं कि हमारा यह पत्र भारतीय कांग्रेस के ध्येय और नीतियों का अनुसरण करता रहेगा।

ध्यान में रखने योग्य दूसरी बात यह है कि श्यामजी इस लेख में ब्रिटिश जनता के विचारों को न्यायासन मान रहे हैं! उस न्यायासन के सामने हिंदुस्थान का पक्ष पूर्णत: भारतीय प्रवक्ता के द्वारा केवल रखने का कार्य ही शेष रह गया है। इतना करते ही ब्रिटिश जनता की न्यायबुद्धि जाग्रत हो जाती और वह हिंदुस्थान पर होनेवाले सारे अन्याय दूर कर उसे दासता से मुक्त करने देती। हिंदुस्थान का न्यायकर्ता, न्यायाधीश—ब्रिटिश जनता! शाह का न्यायकर्ता न्यायाधीश स्वयं चोर। श्यामजी के 'इंडियन सोशियोलॉजिस्ट' के प्रथम अंक से तो यही लगता है कि श्यामजी के लेखन में तब तक पक्कापन नहीं आया था। वे हिचकिचाकर लिख रहे

थे। उनके राजनीतिक विचार तब तक मूलभूत भूमिका लेने योग्य तर्कशुद्ध, सुसंगत एवं विवेकपूर्ण नहीं हुए थे। फिर भी ब्रिटिशनिष्ठा का भोलापन झड़ रहा था और उनकी मति तेजी से ब्रिटिश-विद्रोही बनती जा रही थी।

'होमरूल सोसायटी' की स्थापना

ब्रिटिशों से खुला वैर करते हुए आयरिश होमरूल का विकट संघर्ष अनेक वर्षों से चला रहे आयरिश देशभक्तों की तरह हम भी 'इंडियन होमरूल' की माँग करें, 'कांग्रेसी ब्रिटिशनिष्ठा' से उकताए पं. श्यामजी और उनके सहयोगियों की ऐसी प्रबल इच्छा स्वाभाविक थी। उस समय यह भी जोखिम-भरा था क्योंकि ब्रिटिश निष्ठावाले कांग्रेसी नेता ब्रिटिश- विरोधी के रूप में ख्यात आयरिश होमरूलवालों से भारतीय राजनीति का कोई संबंध नहीं रखते थे, परंतु श्यामजी के पक्ष ने उस आयरिश संस्था से खुला घनिष्ठ संबंध स्थापित किया था। उनकी प्रेरणा से कांग्रेस से एकदम स्वतंत्र और कांग्रेस की तरह राजकाज में फुटकर सुधार की माँग न करते हुए हिंदुस्थान का सारा राजकाज हमें सौंप देने और हिंदुस्थान को होमरूल देने की माँग करनेवाली तथा उसके लिए तुरंत आंदोलन करनेवाली अपनी एक नई पार्टी स्थापित करने का निश्चय श्यामजी ने किया। आयरिश होमरूलवालों ने भी इस काम में श्यामजी को पूरे मन से सहयोग देने का वचन दिया।

परंतु यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि होमरूल की माँग उस समय की कांग्रेसी राजनीति से एक कदम नहीं, बल्कि एक सौ एक कदम आगे की थी। फिर भी होमरूल की घोषणा अर्थात् हिंदुस्थान की सार्वभौम स्वतंत्रता या स्वतंत्रता की घोषणा नहीं थी। वैसी स्वतंत्रता की माँग करने योग्य या उस ध्येय की प्रकट घोषणा करने योग्य श्यामजी का राजनीतिक मानस विकसित या निडर नहीं था। और वैसी घोषणा ब्रिटेन में भी विधि की सीमा में न आने के कारण उनकी पार्टी की शक्ति के बाहर थी। होमरूल का अर्थ था ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत देशीय स्वायत्तता। आयरलैंड की राजनीति में कितने ही वर्ष से घिसते रहनेवाले 'होमरूल' शब्द से अंग्रेजी राजनीति की परिभाषा में यह विशिष्ट अर्थ ही व्यक्त होता था। इस अर्थ में भी उस समय हिंदुस्थान के राजकाज में 'होमरूल' शब्द भी यद्यपि राजद्रोही ही था, फिर भी ब्रिटिश राजनीति में वह विधि-कक्षा में ही आता था। इसलिए ब्रिटेन में रहते हुए श्यामजी को और उनके भारतीय सहयोगियों को विधि की सीमा में रहते हुए होमरूल आंदोलन चलाते रहने में कोई हानि नहीं थी। उनका वैसा संकल्प भी था।

योजना के अनुसार १८ फरवरी, १९०५ को उपर्युक्त संस्था की स्थापना के

लिए पंडित श्यामजी ने लंदन के हाइगेट मोहल्ले में अपने लिए मोल लिये नए मकान में कई गिने-चुने व्यक्तियों को आमंत्रित किया। बीस-एक सज्जन उस बैठक में उपस्थित थे। उसमें बैरिस्टर राणा, सी. मुथू, बैरिस्टर पारेख, जे.सी. मुखर्जी, एम.आर. जयकर, सुहरावर्दी आदि (उस समय के युवा और बाद में प्रख्यात हुए और कुछ जो उस समय भी प्रौढ़ अवस्था में थे, ऐसे लोग) उपस्थित थे। उस सभा में एकमत से 'इंडियन होमरूल सोसायटी' नामक संस्था स्थापित करने का निश्चय किया गया। उसकी आवश्यकता के संबंध में कहा गया, 'हिंदुस्थान के संबंध में जो संस्थाएँ वर्तमान में ब्रिटेन और आयरलैंड में काम कर रही हैं, वे ब्रिटिश अफसरशाही के हाथ की कठपुतली बनी हुई हैं। इसके लिए भारतीय लोगों के ही स्वतंत्र नेतृत्व में संचालित करने और जनता की, जनता के लिए एवं जनता द्वारा चलाई जानेवाली राज्यसत्ता स्थापित करने का ध्येय रखनेवाली नई संस्था स्थापित करना ब्रिटेन में अपरिहार्य हो गया है।' उसका उद्देश्य था हिंदुस्थान को होमरूल प्राप्त करा देना, उसके लिए सारे व्यवहार्य साधनों से ब्रिटेन, आयरलैंड में प्रचार करना तथा राष्ट्रीय एकता एवं स्वतंत्रता से होनेवाले लाभ हिंदुस्थानी जनता के मन पर अंकित करने का यथासंभव प्रयास करना। संस्था का मुख्य उद्देश्य एवं कार्यक्रम इस तरह पक्का हो जाने पर उसके प्रथम कार्यकारी मंडल का चुनाव हुआ, जिसमें अध्यक्ष श्यामजी, उपाध्यक्ष बै. राणा, गोदरेज, सुहरावर्दी आदि और अवैतनिक कार्यवाह जे.सी. मुखर्जी चुने गए।

'इंडिया हाउस' की स्थापना

अपनी नई पार्टी का संगठन सशक्त करने के उद्देश्य से श्यामजी ने भारतीय विद्यार्थियों और प्रवासी गृहस्थों को स्वतंत्र एवं स्वदेशाभिमानी वातावरण में एक साथ रहने की व्यवस्था करने के लिए अपना एक आवास-सदन स्थापित करना चाहा। उस आवास-सदन के लिए अपने पास की एक मोटी राशि व्यय कर लंदन के हाइगेट मोहल्ले में एक भव्य और विस्तृत भवन उन्होंने खरीदा। शासन के स्वास्थ्य विभाग के मतानुसार, हाइगेट मोहल्ला लंदन का सबसे अधिक स्वास्थ्यप्रद भाग समझा जाता था। सारे ग्रेट ब्रिटेन एवं आयरलैंड के संयुक्त राज्य में हाइगेट मोहल्ले में मृत्यु-संख्या सबसे कम रहती थी। इस भवन का नया नाम 'इंडिया हाउस' (भारत भवन) रखा गया। ट्राम और रेल स्टेशन वहाँ से एकदम पास थे। उस मोहल्ले से वाटरलू पार्क, हाइगेट वुड्स, क्वीन वुड्स आदि मनोहारी उद्यान एवं उपवन भी कुछ ही मिनट की दूरी पर थे। उस भवन के चारों ओर व्यायामशाला या टेनिस आदि खेल खेलने योग्य खुला मैदान था। उस भवन में इतने कमरे थे कि

पच्चीस व्यक्ति रह सकें। निचली मंजिल पर भाषणालय, वाचनालय और पुस्तकालय ऐसे स्वतंत्र विभाग थे। इनकी व्यवस्था वहाँ रहनेवालों के अध्ययन एवं चर्चा के लिए की गई थी। उस छात्रावास की व्यवस्था केवल भारतीय व्यक्ति के हाथों में ही रहे, ऐसा मूल नियम था। मद्यपान निषिद्ध था। अन्य सभी गृह-क्रम ऑक्सफोर्ड की टस्किन महाशाला के आधार पर रखा गया था। श्यामजी के छात्रवृत्तिधारकों के लिए भोजन एवं निवास का प्रति हफ्ते व्यय १६ शिलिंग था। अन्य लोगों के लिए दर पूरी थी।

इस भवन का उद्घाटन-समारोह १ जुलाई, १९०५ को बड़े ठाठ से संपन्न हुआ। पंडितजी की दृष्टि में जो हिंदुस्थान के सच्चे हितचिंतक थे, ऐसे ब्रिटिश और आयरिश सज्जन भी उस समारोह में उपस्थित थे। उनमें सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी के अध्वर्यु श्री हिंडमैन, पॉजिटिविस्ट सोसायटी के श्री स्विनि, 'जस्टिस' पत्र के संपादक श्री क्वेल्व और आयरिश होमरूल पार्टी के दो-तीन नेता प्रमुख थे। भारतीय समाज में से स्वयं दादाभाई नौरोजी, लाला लाजपतराय, मैडम कामा आदि प्रमुख नेता उपस्थित थे। भारतीय विद्यार्थी भी बड़ी संख्या में आए हुए थे। पंडित श्यामजी के प्रारंभिक भाषण के बाद ही श्री हिंडमैन के हाथों 'भारत भवन' का उद्घाटन हुआ। उस समय उन्होंने हिंदुस्थान के संबंध में जो भाषण दिया, वह भारतीय नेताओं में से कांग्रेसी देशभक्त दादाभाई नौरोजी को ही नहीं, होमरूल पार्टी के पंडित श्यामजी को भी बहुत तीखा लगा। कुछ वाक्य देखें—

ब्रिटिशनिष्ठता अर्थात् भारतद्रोह!

'As things stand, loyalty to Great Britain means treachery to India. I have met many Indians and the loyalty to British rule which the majority have professed has been disguesting. Either they were insincere or they were ignorant. But of late I rejoice to see that a new spirit has been anifested. Thus there are men and women here this afternoon from different provinces of India and of different schools of thought but the ideal final imancipation is the same with all.

'Indians have uptill now hugged their chains. From England itself there is nothing to be hoped.

'It is the immoderate men, the determined men, the fanatical men who will work out the salvation of India by herself.

'The Institution of this India house is a great step in that direction of Indian growth and Indian Emancipation.

'Some of these who are here this afternoon may live to see the first fruit of its triumphant success.!'

भावार्थ यह कि 'ब्रिटेन और हिंदुस्थान के आज के संबंध देखें तो ब्रिटेन के प्रति राजनिष्ठता से रहने का अर्थ हिंदुस्थान से देशद्रोह करना है। ऐसा होते हुए भी मुझे कितने भारतीय लोग ऐसे मिले हैं कि उनके द्वारा व्यक्त की गई ब्रिटिश सत्ता के लिए राजनिष्ठा देखकर घृणा होती है। या तो वह लोगों का ढोंग होगा अन्यथा अज्ञान, तथापि इधर कुछ नए चैतन्य का उदय हुआ देखकर मुझे खुशी होती है। यही देखें कि आज इस सभा में जो स्त्री-पुरुष एकत्र हैं, वे भिन्न-भिन्न प्रांतों एवं पंथों के हैं। फिर भी हिंदुस्थान को आजाद करने के एक ही ध्येय से वे आज प्रेरित हुए हैं। भारतीय लोगों ने आज तक अपनी बेड़ियों को ही अलंकार मानकर गले लगाया था।

'…स्वत: इंग्लैंड से आप कुछ भी आशा न करें।

'मध्यममार्गी नहीं, जो संकल्पशील हैं एवं हठवादी हैं, वे ही हिंदुस्थान को अपने पराक्रम से स्वतंत्र कर सकेंगे।

'यह इंडिया हाउस संस्था, हिंदुस्थान को आजाद करने के मार्ग में एक बहुत ही बड़ा कदम है।

'आज यहाँ एकत्र लोगों में से कुछ लोग तो निश्चित ही अपने जीवन में उस सफलता का प्राथमिक फल चखेंगे।'

पर आपका नया कार्यक्रम क्या है?

पंडित श्यामजी द्वारा इंग्लैंड में ही होमरूल या स्वायत्तता के चलाए जा रहे आंदोलन ने हिंदुस्थान के राजनीतिक जीवन में अच्छी-खासी हलचल उत्पन्न कर दी। जो स्वदेशनिष्ठ अर्थात् 'उग्र' थे, उन्होंने उसका पुरजोर स्वागत किया। कांग्रेस के ब्रिटिशनिष्ठ अर्थात् 'नरम' नेताओं ने तुच्छता से उसका उपहास किया। परंतु 'पायोनियर' आदि ऐंग्लो-इंडियन पत्रों एवं संस्थाओं ने श्यामजी की होमरूल की खुली माँग एवं हिंदमैन आदि व्यक्तियों के भाषणों से कुपित होकर चेतावनी दी कि होमरूल जैसी देशद्रोही माँग या ब्रिटिशद्रोही भाषण एवं लेख अगर हिंदुस्थान में कोई करता या लिखता तो उसे काले पानी या फाँसी की ही सजा मिलती। इसी कारण 'इंडियन सोशियोलॉजिस्ट' पत्र का यह डरपोक संपादक पहले हिंदुस्थान से ही भाग गया और अब हमारे ब्रिटेन की उदार विचार-स्वतंत्रता और प्रचार-स्वतंत्रता

का दुरुपयोग कर सुरक्षित रहते हुए भारतीय लोगों में ब्रिटिश राज के विरुद्ध विद्रोह फैला रहा है। होमरूलवाले यह जान लें कि उनका सामना ब्रिटिश तलवार से है। क्या उन्हें रक्तपात प्रिय है? अगर नहीं, तो वे ब्रिटिशों के हाथों से होमरूल किन साधनों से लेना चाहते हैं? कांग्रेसी नरम दलवाले समाचारपत्र भी कुछ अलग सुर में वही प्रश्न 'गरम दल' वालों का मुँह बंद करने के विचार से पूछने लगे—कांग्रेस के निवेदन, आवेदन, प्रस्ताव आदि साधनों को 'रद्दी' कहना सरल है, परंतु उन साधनों के अतिरिक्त अपने पास भी कौन से 'अमोघ' शस्त्र हैं? तुम्हारी माँगों का क्या? होमरूल ही क्या, स्वर्ग की भी माँग कर सकते हैं! पर उसे कैसे प्राप्त करेंगे? केवल गाली-गलौज छोड़ दें तो आपके पास भी क्या कार्यक्रम है? स्वपक्ष के लोगों को भी यही प्रश्न चिंतित करता था कि होमरूल हो या स्वायत्तता, उसे किन साधनों से प्राप्त किया जाए या जिसे अपने देश के लोग चला सकें, उसके लिए ऐसा नया कार्यक्रम क्या हो?

उपर्युक्त आरोपों और प्रश्नों का उत्तर देना श्यामजी के लिए आवश्यक था और वह उत्तर खोजने के लिए श्यामजी को बहुत दूर भी नहीं जाना था। जिस आयरिश राजनीति से उन्होंने होमरूल का ध्येय उठाया था, उसी आयरिश राजनीति में 'सिनफिन' नाम की ब्रिटिश-विरोधी एक पार्टी उस समय जोर-शोर से सक्रिय थी। उनका धूम-धड़ाके से चल रहा 'पैसिव रेजिस्टेंस' अर्थात् अप्रत्यक्ष प्रतिकार का कार्यक्रम श्यामजी के सामने ही था। उसीमें कुछ मामूली हेर-फेर करके श्यामजी ने अपना नया कार्यक्रम बनाया और 'होमरूल सोसायटी' की स्थापना के बाद तीन-चार महीने में ही उसे प्रकाशित भी किया। उस समय की जानकारी हमारी आज की स्मृति से कहने की अपेक्षा यथासंभव उस समय के अभिलेखों के आधार पर कहने का प्रयत्न इस ग्रंथ में करने का हमारा उद्देश्य होने के कारण श्यामजी के उस समय के दो-तीन उद्धरण हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं—

अक्तूबर १९०५ के 'इंडियन सोशियोलॉजिस्ट' के अंक में श्यामजी लिखते हैं—

'Now in order to put an end to the pernicious system of the Government of one country by another, such as obtains in the case of India, there seem to be only three ways in which this can be accomplished, viz :

'1. The voluntary withdrawal of English occupation.

'2. A successful effort on the part of Indians to throw off the foreign yoke.

'3. The disinterested intervention of some foreign power in favour of India.

'The last expedient is obviously out of the question in the present political and moral condition of the world.

'As to the second expedient, Mr. Meredith Townsend in his work 'Asia and Europe asks will England retain India?' Although he haughtily believes that 'the British dominion over the great peninsule of Asia is a benefit to mankind!' he holds that 'the empire which came a day will disappear in a night.' In his opinion it is not necessary for Indians to resort to arms for compelling England to relinquish its hold on India. He neatly expressed himself and enforces his argument in the following words : 'There are no white servants, not even grooms, no white struck for a week, the Empire would collapse like a house of cards, and every ruling man would be a starving prisoner in his own house. He could not move or feed himself or get water.'

'If any one refuses to buy or sell any commodity, or to have any transaction with any class of people, he commits no crime known to the law. It is therefore plain that Indians can obtain emancipation by simply refusing to help their foreign master without incurring the evils of a violent evolution.'

भावार्थ यह कि 'हिंदुस्थान को अंग्रेजों की राजनीतिक दासता से मुक्त करने के केवल तीन मार्ग उपलब्ध हैं—प्रथम, अंग्रेज स्वयं हिंदुस्थान छोड़ चले जाएँ। द्वितीय, अंग्रेजों की विदेशी दासता का यह जुआ हिंदुस्थान अपने सफल प्रयासों से उतारकर फेंक दे। तृतीय, कोई अन्य प्रबल राष्ट्र अंग्रेजों से हिंदुस्थान को मुक्त कराने के लिए निस्स्वार्थ भावना से आगे आए।

'इन मार्गों में से तीसरा और अंतिम मार्ग वर्तमान विश्व की राजनीतिक और नैतिक परिस्थिति को देखंते हुए एकदम असंभव है।

'दूसरे मार्ग के संबंध में मेरिडिथ राउंसहेड 'एशिया और यूरोप' नामक अपने ग्रंथ में कहता है—यद्यपि हिंदुस्थान पर ब्रिटिशों की अधिसत्ता चलते रहने में ही मानव जाति का कल्याण है और ऐसा वह बड़ी जिद से कहता है—तथापि क्या इंग्लैंड हिंदुस्थान को पकड़कर रख सकेगा? इस प्रश्न 'की चर्चा करते हुए वह

ग्रंथकार कहता है कि एक दिन में इंग्लैंड के हाथ में आया साम्राज्य एक रात्रि में निकल भी जाएगा। हिंदुस्थान को शस्त्र उठाने की भी आवश्यकता नहीं है। वहाँ गोरा नौकर मिलता नहीं, घोड़े को खरारा करनेवाला भी गोरा नहीं है, गोरा सिपाही नहीं है, गोरा डाकिया नहीं है। गोरी जाति का वहाँ कुछ भी नहीं है। यदि ये काले लोग एक सप्ताह तक काम बंद रखें तो यह साम्राज्य ताश के महल की तरह भरभराकर गिर जाएगा। शासन चलानेवाला हर गोरा अपने घर में ही बंद हो जाएगा और भूख से तड़पेगा। वह बिना सहायक के न खा सकेगा, न पी सकेगा।

'कारण यह है कि यहाँ यदि कोई वस्तु खरीदने या बेचने से इनकार करता है या किसी वर्ग से किसी भी तरह का व्यवहार नहीं करता तो विधि के अनुसार वह कोई दंडनीय अपराध कर रहा है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इससे यह स्पष्ट है कि सशस्त्र क्रांति के भयावह मार्ग का अवलंबन न करते हुए भी हिंदुस्थान अपने को विदेशी दासता से मुक्त कर लेगा। विदेशी सत्ताधिकारियों को किसी तरह की सहायता नहीं करनी है—बस, केवल यही सरल निश्चय हिंदुस्थान करे!!'

श्यामजी द्वारा प्रस्तुत इस पैसिव रेसिस्टेंस के प्रकट कार्यक्रम पर आपत्तियों का तूफान खड़ा करते हुए 'पायोनियर' नामक प्रमुख ऐंग्लो-इंडियन पत्र ने होमरूलवालों पर—अंततः वे सशस्त्र विद्रोह के ही रास्ते पर हैं—यह आरोप लगाया। तब वह बात पकड़कर ऐसा बेबुनियाद आरोप अपने आंदोलन पर कभी भी लादा नहीं जा सकता, ऐसा कड़ाई के साथ कहते हुए पंडितजी अपने अगले लेख में कहते हैं—

'We have never advocated the use of force as a part of our political programme! We are throughly convinced that the existence of the feeling of common nationality creating a notion that it was shameful to assist the foreign in maintainig his dominion—to quote professor Sir J.R. Seeley—is the best remedy for the existing evils, and that Indians have no need to take up arms in order to free their country from the present foreign domination.'

अर्थात् 'अपने कार्यक्रम के भाग के रूप में हमने शस्त्राचार का कभी भी समर्थन नहीं किया। हमारी दृढ़ धारणा के अनुसार, एक राष्ट्रीयता की दृढ़ भावना से भारतीय लोगों को ऐसा लगने लगा है कि इन विदेशियों को उनका शासन बनाए रखने के लिए किसी भी तरह की सहायता करना अत्यंत लज्जा और घृणा की बात है, और भारतीय यदि वैसी सहायता बंद कर दें तो बात बन जाए। सर जे.आर. सीले

अपने ग्रंथ में सही कहते हैं कि हिंदुस्थान की वर्तमान गुलामी समाप्त करने के लिए नि:शस्त्र मार्ग ही सर्वोत्तम है। ब्रिटिश दासता से अपने देश को मुक्त कराने के लिए हिंदुस्थान को शस्त्र हाथ में लेने की आवश्यकता बिलकुल नहीं है।'

अपने Principle of Dissociation अर्थात् 'असहयोग के तत्त्व' का स्फुट विवरण करते हुए पंडितजी ये प्रचार करने लगे—

१. ब्रिटिश शासन के 'बॉन्डों' में कोई भी भारतीय अपनी रकम न लगाए।
२. ब्रिटिशर्स ने भारत पर जो तथाकथित लोकऋण (Public Debt) लगाया है, उसे पूरी तरह से नकारे।
३. ब्रिटिश शासन के नागर और सैनिक सेवा विभाग (Civil & Military Service) का कड़ा बहिष्कार भारतीय करें—किसी भी प्रकार की शासकीय सेवा न करें।
४. चूँकि सब सरकारी विद्यालयों, महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों में निष्ठा की ही शिक्षा दी जाती है, इसलिए भारतीयों को चाहिए कि सारी ब्रिटिश शिक्षा-संस्थाओं का बहिष्कार कड़ाई से करें। अपने लड़के उसमें न भेजें।
५. भारतीय सॉलिसिटर, बैरिस्टर आदि लोगों को चाहिए कि वे ब्रिटिश शासन के न्यायालयों का बहिष्कार कड़ाई से करें और सिविल मुकदमों का न्याय करने के लिए राष्ट्रीय न्यायालय स्थापित करें।

तथापि विपिनचंद्र पाल ही प्रथम रहे

ब्रिटेन में चल रही भारतीय राजनीति का पूर्ण परिचय करा देने का उद्देश्य होने के कारण ब्रिटेन में होमरूल के ध्येय की और अप्रत्यक्ष प्रतिकार (Passive Resistance) के कार्यक्रम की घोषणा सर्वप्रथम पंडित श्यामजी ने किस प्रकार की, इसका वर्णन वर्तमान अध्याय में यहाँ तक किया गया है। परंतु सत्य का विपर्यास न हो, इसलिए यह भी कहना आवश्यक है कि कुल मिलाकर प्रत्यक्ष भारतीय राजनीति के विषय में बात करें तो कांग्रेस द्वारा आगे बढ़कर की गई उपर्युक्त स्वायत्तता के ध्येय की और अप्रत्यक्ष प्रतिकार के कार्यक्रम की खुली घोषणा श्यामजी के भी पूर्व बड़े उमंग से करने का श्रेय बंगाल के विपिनचंद्र पाल को ही है। सन् १९०३ से हिंदुस्थान के उस समय के वायसराय लॉर्ड कर्जन के मदांध अत्याचारों के कारण जब सारे देश में राजनीतिक असंतोष आग की तरह फैलने लगा, तब अनेक देशभक्तों की तरह लाला लाजपतराय एवं विपिनचंद्र पाल के भी हृदय में जड़ जमाए बैठी ब्रिटिशनिष्ठा जलकर खाक हो गई। इन दोनों में से

विपिनचंद्र पाल ब्रिटेन भी गए थे और ब्रिटिश जनता की मनोवृत्ति एवं कांग्रेस की 'पार्लियामेंटरी समिति' आदि उपायों को भी देखकर आए थे। इस कारण कांग्रेस के ध्येयशून्य एवं 'भिक्षां देहि' की लीक से भारतीय राजनीति का उद्धार कर उसे नए मूलभूत ध्येय एवं स्वावलंबन के पैरों पर खड़ा करना होगा, ऐसा उनका निश्चय हुआ। श्यामजी की तरह ही पाल बाबू ने भी उस समय की आयरिश राजनीति के होमरूल, सिनफिन आदि दलों के कार्यक्रमों का ही कमोबेए अनुसरण कर अपना एक कार्यक्रम बनाया था। उसके बाद उन्होंने 'न्यू इंडिया' नामक एक अंग्रेजी साप्ताहिक निकाला। उसमें तथा अरविंद घोष के साथ मिलकर निकाले गए अंग्रेजी दैनिक 'वंदेमातरम्' में भी जो मूलभूत घोषणा उन्होंने खुले रूप में की, उसका आशय यह था—

'अब ब्रिटिशों को स्पष्टत: यह कहने का समय आ गया है कि आप हिंदुस्थान छोड़कर चले जाएँ। अब हमारे बंगाल का विभाजन आप करें या न करें, राज-शासन में यह सुधार चाहिए या वह सुधार चाहिए, यह प्रश्न अब शेष नहीं है; क्योंकि अब हमें हिंदुस्थान पर राज करने का मूलभूत अधिकार चाहिए। हमें स्वायत्तता वांछित है। वह स्वायत्तता आप ब्रिटिश हमें स्वयं देनेवाले नहीं हैं, यह हम जानते हैं। इसीलिए आपके द्वार पर भीख माँगना छोड़ देंगे और हिंदुस्थान में चल रहा आपका शासन असंभव बना देने तथा आपको हिंदुस्थान छोड़ने के लिए बाध्य करने के लिए हम यह 'पैसिव रेसिस्टेंस' का, नि:शस्त्र प्रतिरोध का 'अमोघ' शस्त्र निकालेंगे।' श्यामजी कृष्ण वर्मा ने 'पैसिव रेसिस्टेंस' के उपांगों का जो क्रम दे रखा था, वही और उसी तरह का क्रम पाल बाबू ने अपने उपांगों में श्यामजी के पहले ही दे दिया था।

गुप्त क्रांतिकारियों की बात छोड़ दें, क्योंकि 'नि:शस्त्र प्रतिकार का अमोघ शस्त्र' जैसी विरोधाभासी प्रतिज्ञा सुनकर वे हँसी के मारे लोटपोट हो जाते। खुली और सामुदायिक भारतीय राजनीति के क्षेत्र में किसी भी राजनीतिक संस्था, गरम या नरम दल ने या समाचारपत्र ने ऐसी सीधी, स्वावलंबी एवं इतनी पुरोगामी घोषणा तब तक नहीं की थी। बंगाल के विभाजन के आंदोलन में सुरेंद्रनाथ बनर्जी के बाद विपिनचंद्र पाल के व्याख्यानों एवं लेखों का प्रभाव होता था। इसलिए उनका नाम हिंदुस्थान में भी होने लग गया था। ऐसे ख्यातनाम नेता की उपर्युक्त मूलगामी घोषणा हिंदुस्थान भर में गूँज उठना स्वाभाविक था।

अंग्रेजों को चुभे, ऐसी धारवाला यह कार्यक्रम—विपिन बाबू का नया नि:शस्त्र प्रतिरोध का कार्यक्रम—सामान्य जनता के आगे रखते ही राष्ट्रीय क्रियाशीलता को नया आवेग प्राप्त हुआ, नई प्रेरणा मिली। कुछ अंशों में इसी प्रेरणा से वर्ष-डेढ़ वर्ष

के अंदर ही (जैसाकि ऊपर बताया गया है) सन् १९०५ में श्यामजी ने ब्रिटेन में अपनी संस्था 'होमरूल सोसायटी' स्थापित कर वही नि:शस्त्र प्रतिरोध का कार्यक्रम राष्ट्र के सामने रखा।

श्यामजी की इच्छा स्वभावत: ऐसी थी कि हिंदुस्थान के सारे नेता 'होमरूल' को राष्ट्रीय ध्येय मानें, उसकी घोषणा करें और उनका अप्रत्यक्ष प्रतिरोध का, ब्रिटिश शासन से संपूर्ण असहयोग करने का कार्यक्रम देश भर में जोर-शोर से शुरू हो। आश्चर्य! कांग्रेस का नाम छोड़कर 'गरम' कहलानेवालों तथा प्रत्यक्ष आंदोलनों को बढ़ावा देनेवालों में से कोई भी होमरूल की शाखा खोलने या वह कार्यक्रम तुरंत स्वीकार करने आगे नहीं आया। अपवाद थे, तो केवल एक—विपिनचंद्र पाल का, क्योंकि उपरोक्त कथनानुसार वे ही उसके प्रवर्तक थे। उन्होंने अपने 'न्यू इंडिया' पत्र के माध्यम से श्यामजी का पूरा साथ दिया, पर कोई संगठित पार्टी उनके पीछे कभी नहीं थी। पार्टी संगठन की कला कभी उनको सधी ही नहीं। संगठन-शक्तिसंपन्न गरम दल के प्रख्यात नेता तो बस, तिलक ही थे। उनसे पंडित श्यामजी का राजनीतिक पत्राचार भी बीच-बीच में चलने लगा था। श्यामजी की इच्छानुसार 'केसरी' में तिलक ने होमरूल सोसायटी की जानकारी देनेवाली—नरम दलवाली ब्रिटिशनिष्ठा के पिछलग्गूपन की बाधारहित—श्यामजी की स्वदेशनिष्ठ राजनीति की प्रशंसा करते हुए, उस आंदोलन से अपना संपूर्ण तादात्म्य प्रकट करनेवाला, पर उनसे चिपकनेवाला एक शब्द भी नहीं लिखते हुए, एक लेख लिखा। फिर भी होमरूल का वैसा आंदोलन वे स्वयं तत्काल क्यों नहीं प्रारंभ कर सकते थे, वह भी गिने-चुने शब्दों में तिलक ने १४ जुलाई, १९०५ को श्यामजी को एक व्यक्तिगत पत्र लिखकर सूचित किया। उस पत्र में तिलक लिखते हैं—'आप जैसे कुछ अन्य कार्यकर्ता यदि इंग्लैंड में होते, तो आज जो हो रहा है, उससे कहीं अधिक देशकार्य हो रहा होता। जिस स्वार्थत्यागी बाने से आपने ये संस्थाएँ स्थापित कीं, उसके लिए मैं आपका हार्दिक अभिनंदन करता हूँ। खेद की बात इतनी ही है कि इंग्लैंड आना मेरे लिए अभी कठिन है और इंग्लैंड के (विचार, आचार, प्रचार क्षेत्र में) स्वतंत्र वातावरण की जो अनुकूलता आपको प्राप्त हुई है, वह हमें यहाँ कभी भी प्राप्त नहीं होगी।'

दादाभाई स्वशासन की भाषा पहले बोलने लगे थे

श्यामजी ने सन् १९०५ में 'होमरूल सोसायटी' को जन्म दिया, उसके डेढ़-दो वर्ष पहले से ही दादाभाई अपने व्याख्यानों में बीच-बीच में 'स्वशासन' (Self Government) की माँग करने लग गए थे। हिंदुस्थान में कर्जन के कार्यकाल में उस समय अपूर्व लगनेवाला राजनीतिक जागरण और तीव्र असंतोष देश भर में

फैलता चला जा रहा था और उसे देखकर दादाभाई आदि सच्चे देशभक्त कांग्रेसी के मन में भी आनंद की लहरें उठने लगी थीं और राजनीति का अगला चरण पकड़ने का आवेश भी आया था। हिंदुस्थान में लॉर्ड कर्जन के अत्याचारी कृत्यों का लेखा ब्रिटिश जनता को बताने के लिए और उसे हिंदुस्थान की जनता में फैलते जा रहे तीव्र असंतोष की जानकारी देने के लिए ब्रिटिश कांग्रेस कमेटी की ओर से सन् १९०४ में ही एक और प्रतिनिधिमंडल गोखले के नेतृत्व में ब्रिटेन गया था। उसमें नवोदित नेता लाला लाजपतराय भी थे। उस प्रतिनिधिमंडल की जो सभाएँ ब्रिटेन में आयोजित हुईं, उनमें स्वयं दादाभाई ने ही कहा था कि हिंदुस्थान का प्रश्न फुटकर सुधार करने मात्र से सुलझने का समय अब निकल गया है। अब कनाडा, ऑस्ट्रेलिया आदि उपनिवेशों के समान ही हिंदुस्थान को स्वशासन का अधिकार दे देना ब्रिटेन और हिंदुस्थान के हित में है। दादाभाई के सहारे से गोखले ने भी कहा था कि ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन स्वशासन ही हमारी राजनीतिक आकांक्षा है। परंतु लाजपतराय की पुरोगामी आकांक्षा कुछ अलग ही दिखी। इसी समय लाजपतराय और दादाभाई, श्यामजी के इंडिया हाउस की उद्‌घाटन-सभा में भी उपस्थित थे। इतना ही नहीं, इंडिया हाउस के प्रथम सशुल्क अतिथि (Paying Guest) के रूप में वहाँ रहने के लिए लाला लाजपतराय ही आए थे। श्यामजी इस बात का उल्लेख हमेशा अभिमानपूर्वक करते थे। दादाभाई एवं गोखले द्वारा की गई स्वशासन की यह नई पुरोगामी माँग और उस प्रतिनिधिमंडल के कुछ सदस्यों की श्यामजी की संस्थाओं से प्रीति देखकर ब्रिटिश कांग्रेस कमेटी के कॉटन, वेडर्बर्न आदि ऐंग्लो-इंडियन 'दादा लोग' फिर क्रोधित हो गए। उन्होंने दादाभाई, गोखले तथा लाजपतराय को डाँटा कि 'प्रत्यक्ष कांग्रेस द्वारा अधिकृत रीति से स्वशासन जैसा अतिवादी ध्येय जब कभी भी स्वीकार नहीं किया है, तब उसके प्रतिनिधिमंडल के रूप में ब्रिटिश जनता से मिलनेवाले लोग ऐसी भाषा का प्रयोग क्यों करते हैं? कांग्रेस-विरोधी संस्थाओं से (अर्थात् श्यामजी से) संबंध क्यों रखते हैं, इसका स्पष्टीकरण दें। आपकी ऐसी करनी से भारतीय कांग्रेस के विरुद्ध ब्रिटिश जनता का मन कलुषित होगा।' इस डाँट-फटकार के आगे दादाभाई और गोखले हमेशा की तरह झुक गए और झगड़ा टाल गए। परंतु उस प्रतिनिधिमंडल में जो नया सदस्य आया था, उस लाजपतराय का ब्रिटिश कांग्रेस कमेटी के ऐंग्लो-इंडियन 'दादाओं' से पहला ही सामना था। उसने न झुकते हुए तड़ाक् से उत्तर भेजा कि 'मुझे कांग्रेस ने प्रतिनिधिमंडल में बुलाया, इसलिए आया हूँ, पर इसका अर्थ यदि यह है कि अपनी अंतरात्मा की आज्ञा से न चलकर उतना ही मैं बोलूँ और चलूँ, जितना आप सिखाएँगे और कहेंगे, तो जब आप कहेंगे, तभी मैं इस

कांग्रेसी प्रतिनिधिमंडल से त्यागपत्र देने के लिए तैयार हूँ।'

'होमरूल' शब्द का उपयोग क्यों अस्वीकारा?

उपरोक्त स्वशासन की माँग करनेवाले दादाभाई ने उसी अर्थ के निदर्शक, परंतु श्यामजी द्वारा उपयोग में लाए गए शब्द 'होमरूल' का प्रयोग कटाक्षपूर्वक नकारा। पाल बाबू का शब्द Autonomy या होमरूल या सेल्फ गवर्नमेंट—उस समय की राजनीतिक परिभाषा में ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन सबका एक ही अर्थ होता था। फिर भी 'होमरूल' शब्द उस समय के अधिकतर भारतीय नेताओं को भयंकर लगता था, इसका कारण उसका अर्थ नहीं था। कारण था—जिस राजनीतिक परंपरा का बोधचिह्न वह हो गया था, उस आयरिश राजनीति के प्रति भय। आयरिश लोगों द्वारा चलाए जा रहे सशस्त्र, नि:शस्त्र, दंगे, बहिष्कार आदि आंदोलनों के उपद्रवों से ब्रिटिश जनता में आयरिश राजनीति के प्रति चिढ़ भर गई थी। ब्रिटिश संसद् में जो आयरिश सम्माननीय सदस्य (एम.पी.) चुनकर आते थे, वे भी सारे शिष्टाचार छोड़कर पार्लियामेंट में ऊधम मचाते थे, मारामारी करते थे। इस कारण जो ब्रिटिश लोग यह कहते थे कि आयरलैंड को होमरूल दे दिया जाए, वे भी न्याय और स्नेह के कारण नहीं, अपितु कष्टों से मुक्ति पाने के लिए कहते थे। ब्रिटिश जनता को जिससे ऐसी चिढ़ हो, उस अगियाबैताल जैसी राजनीति से अपनी सौम्य और शालीन भारतीय राजनीति का शारीरिक तो क्या, शाब्दिक संबंध भी नहीं दिखना चाहिए, ऐसा कांग्रेसी नेताओं का उद्देश्य था, अन्यथा ब्रिटिश जनता उनसे भी चिढ़ती और उनके आंदोलन का सारा आधार तो ब्रिटिश जनता की कृपादृष्टि पर निर्भर था! इसलिए आयरलैंड को होमरूल दे दिया जाए, प्रकट रूप से ऐसा कहनेवाले लिबरल पार्टी के कुछ ब्रिटिश नेताओं के सहारे दादाभाई भी वैसा कहते, परंतु हिंदुस्थान को 'होमरूल चाहिए'—ऐसी घोषणा श्यामजी द्वारा किए जाने पर दादाभाई ने उसे उठाए रखने से इनकार कर दिया।

एक राजनीतिक प्रहसन

इस तरह अलग-अलग कारणों से कांग्रेस के गरम दल नेता तिलक ने या नरम दल नेता दादाभाई ने सन् १९०५ में 'हिंदुस्थान को होमरूल'—श्यामजी की इस घोषणा को प्रत्यक्षत: नहीं उठाया, पर लगभग नौ-दस वर्ष बाद इन्हीं दोनों नेताओं—तिलक और दादाभाई—में यह बताने की स्पर्धा उत्पन्न हो गई कि 'हिंदुस्थान को होमरूल' (Homerule for India) घोषणा मेरी अपनी है। नौ-दस वर्ष बाद सन् १९१५ में इधर एनी बेसेंट अपनी संस्था के रूप में 'होमरूल लीग' स्थापित करना

चाहती थीं और उसकी अध्यक्षता दादाभाई नौरोजी ने स्वीकारी; और उधर राष्ट्रीय पक्ष ने भी एक 'होमरूल लीग' स्थापित की और उसका नेतृत्व तिलक ने स्वीकारा।

'होमरूल' शब्द ने पहले-पहल अपना बहिष्कार करनेवालों से ऐसा शानदार बदला लिया। इन घटनाओं के घटित होते समय सन् १९१५ में पंडित श्यामजी यह कह सकते थे कि मेरी राजनीति अन्य भारतीय नेताओं से दस-पंद्रह वर्ष आगे की होती है! मैंने सन् १९०५ में जो समझा, अन्यों को उसे समझने में दस-पंद्रह वर्ष लगे। पंद्रह वर्ष पूर्व ही मैंने होमरूल का आंदोलन खड़ा किया था, उस शब्द के प्रयोग का साहस करके लोगों को उसका अभ्यस्त बना दिया था। अब ये उसको लेकर अगुवाई करते डर नहीं रहे हैं। यदि वे ऐसा आत्मगौरव प्रकट करते तो वह समर्थन योग्य होता।

इस होमरूल की प्राप्ति के लिए सन् १९०५ में पाल बाबू एवं पंडितजी ने जिस अप्रत्यक्ष प्रतिरोध (Passive Resistance), असहयोग (Disassociation) का उपर्युक्त कार्यक्रम बनाकर राष्ट्र के सामने रखा, उसी कार्यक्रम को पंद्रह वर्षों बाद अहिंसा की चमक चढ़ाकर गाँधीजी ने Non-violence, non-co-operation—के भारी-भरकम नाम से राष्ट्र के सामने रखा—मानो वह कार्यक्रम उन्होंने ही खोजा हो, ऐसे ठाठ से; और पहले एक वर्ष में तथा बाद में 'केवल एक मास में स्वराज प्राप्त करने का अमोघ साधन' कहकर।

उपर्युक्त संदर्भों से यह स्पष्ट होता है कि जिस ब्रिटिश-विरोधी राजनीति को प्रकट रूप से अपनाने का साहस नहीं हुआ, उस प्रकट और प्रखर राजनीति का सूत्रपात सन् १९०५ में लंदन में पंडित श्यामजी ने किया और उसके प्रचार के लिए संगठित प्रयास भी किया। तब तक ऐसी कोई भी संस्था ब्रिटेन में नहीं थी। ब्रिटिश निष्ठा मन से उतर जाने के बाद भी ब्रिटेन के वे भारतीय लोग एवं विद्यार्थी, जो ब्रिटिश कांग्रेस कमेटी, लंदन इंडियन सोसायटी आदि ब्रिटिशनिष्ठ संस्थाओं से जुड़े हुए थे, में से पर्याप्त लोग पंडित श्यामजी की नई 'इंडियन होमरूल सोसायटी' संस्था से आकर जुड़े। एक वर्ष के अंदर ही पंडितजी की इस नई पार्टी के तेज के सामने दादाभाई आदि की कांग्रेस कमेटी फीकी पड़ने लगी।

बैरिस्टर सरदार सिंह राणा

इस नए दल में श्यामजी के सहयोगियों में बैरिस्टर सरदार सिंह राणा की गणना प्रमुखता से होती है। उनका जन्म काठियावाड़ की एक प्राचीन, परंतु छोटी रियासत के वंश में हुआ था। सन् १८९८ में वे बैरिस्टरी के अध्ययन के लिए लंदन गए। जल्दी ही उन्हें राजनीतिक कार्यों में भाग लेने की इच्छा होने लगी। अत: वे

पहले दादाभाई की 'लंदन इंडियन सोसायटी' के आजीवन सदस्य बने और 'ब्रिटिश कांग्रेस कमेटी' में भी काम करने लगे। उसी समय श्यामजी से उनका परिचय हुआ। बाद में वे पेरिस में ही रहने लगे। वहाँ हीरे-मोती के व्यवसाय में वे काफी जम गए। वहाँ का व्यवसाय सँभालते हुए वे प्राय: लंदन आते रहते थे। श्यामजी की राष्ट्रीय विचारधारा से वे इतने सहमत एवं समरस हो गए कि जब श्यामजी ने 'होमरूल सोसायटी' स्थापित की, तब उन्होंने (राणाजी ने) उसका उपाध्यक्ष पद स्वीकार किया और वे उसके हर कार्यक्रम में आने लगे। उसी वर्ष अर्थात् दिसंबर १९०५ के 'इंडियन सोशियोलॉजिस्ट' के अंक में बैरिस्टर राणा ने एक पत्र भेजकर प्रकाशित कराया कि श्यामजी की योजना के अनुसार ब्रिटिश शासन की नौकरी न करने आदि की शर्तों पर दो हजार रुपए की तीन अलग-अलग भारतीय छात्रवृत्ति, दूसरी शिवाजी छात्रवृत्ति और तीसरी हिंदुस्थान का भला चाहने-करनेवाले किसी मुसलमान के नाम से दी जानी थी। वैसा कोई काम तब या आगे भी किसीने सुझाया या तय किया, ऐसा मुझे स्मरण नहीं।

इस पत्र के अंत में प्रामाणिकता से राणाजी लिखते हैं कि मेरी शिक्षा के लिए मेरे कुछ भारतीय मित्रों ने मुझे आर्थिक सहयोग दिया था। अब वैसा करने की बारी मेरी है। अत: देशबंधुओं में से कम-से-कम दो-तीन को इस स्वतंत्र देश की यात्रा कर राजनीतिक स्वतंत्रता के लाभ का स्वाद चखाने के बहाने मैं भी आर्थिक सहायता करना अपना प्रमुख कर्तव्य मानता हूँ।

राणाजी की यही छात्रवृत्ति 'केसरी' के संपादक तिलक और 'काल' के संपादक परांजपे के अनुग्रह से मुझे कैसे मिली और मेरे ससुर एवं जव्हार के राजा के हार्दिक आर्थिक समर्थन के बल पर मेरे इंग्लैंड आने का संयोग कैसे बना, यह सब विवरण इस ग्रंथ के 'पुणे बंबई' कालखंड में ही देने का मेरा विचार है। (यह भाग उनके द्वारा लिखा ही नहीं गया—संपादक)

दादाभाई के पार्लियामेंटरी मोर्चे की इतिश्री!

जनवरी १९०६ में ब्रिटिश पार्लियामेंट के नए चुनाव हुए। पार्लियामेंट में स्वयं चुनकर आने और पार्लियामेंट में काफी समय तक हर तरह से खटपट करने के बाद भी हिंदुस्थान का रत्ती भर हितसाधन दादाभाई नहीं कर पाए थे। (वह सारा विवरण हमने पहले ही लिखा है।) फिर भी इस चुनाव में अपनी आयु के अस्सी वर्ष पूरे कर रहे दादाभाई लिबरल पार्टी की ओर से पुन: खड़े हो गए। उन्हें लिबरल पार्टी से खड़ा न किया जाए, ऐसा साफ-साफ कहनेवाला समुदाय बड़ा था। आयरिश सदस्यों के कारण पार्लियामेंट को जो त्रास होता था, उसीसे वे बहुत त्रस्त थे और

उसमें इन काले आदमियों (These Black Men) को स्वयं ही चुनकर भेजना पार्लियामेंट में ऊँट का दूसरा बच्चा घुसेड़ने की गलती करने जैसा था, जिसका कड़ा विरोध लिबरल पार्टी के बहुसंख्य मतदाता भी कर रहे थे। भारतीय लोगों ने पानी की तरह पैसा बहाया था। उन्होंने गरम या नरम दल की बात भूलकर इस बात को महत्त्व दिया था कि उम्मीदवार भारतीय है। आखिर में दादाभाई ने अंध आशा से जिन लिबरल मतदाताओं की भरपूर जी-हुजूरी की, उन्हीं लिबरल दलीय मतदाताओं ने उनके विरोध में मत दिए। अन्य मतदाताओं ने तो विरोध में मत दिए ही। फलत: दादाभाई की कड़ी पराजय हुई। लिबरल पार्टी की ही जीत हुई थी—लॉर्ड मोर्ले जीतकर आए थे। ब्रिटिश कांग्रेस कमेटी के सर हेनरी कॉटन भी चुने गए थे।

इस संबंध में हिंदुस्थान के ब्रिटिशनिष्ठ एवं देशनिष्ठ—दोनों पक्षों के समाचारपत्रों ने दु:ख व्यक्त किया। सभा आदि में भी दु:ख व्यक्त किया गया। परंतु श्यामजी ने अपने 'सोशियोलॉजिस्ट' पत्र में लिखे लेख द्वारा इस पराजय का अभिनंदन कर आनंद प्रदर्शित किया—इसलिए कि वह प्रश्न व्यक्तिश: दादाभाई का नहीं था। प्रश्न तो राष्ट्रीय दिशाभ्रम का था। 'पार्लियामेंटरी मोर्चे' के संबंध में जो पोंगापंथी विचार अधिकतर कांग्रेसी नेताओं ने अपने-अपने मन में सँजो रखा था, दादाभाई की इस बुरी पराजय की लाठी पड़ते ही वह लँगड़ा-लूला हो गया, यह मुख्य लाभ था। इस संबंध में श्यामजी ने लिखा था—'पार्लियामेंटरी मोर्चे' को लड़ाने के पोंगापंथी विचार और कांग्रेस एवं अन्य कुछ स्वतंत्र उम्मीदवारों ने मिलकर हिंदुस्थान के कम-से-कम पंद्रह-बीस लाख रुपए गत बीस वर्षों में निर्वाचनों में उड़ा दिए थे। इतनी बड़ी राशि को इस तरह उड़ा देने की अपेक्षा उसमें से छात्रवृत्तियाँ दी जातीं तो सैकड़ों भारतीय छात्रों को यूरोप-अमेरिकी देशों में वैज्ञानिक, यांत्रिक, तकनीकी शिक्षा प्राप्त करने हेतु भेजा जा सकता था। अन्य भी अनेक फलदायी देशकार्य किए जा सकते थे।'

कुछ भी हुआ हो, इसके बाद दादाभाई ही नहीं, अन्य किसी भी कांग्रेसी सदस्य ने चुनाव का नाम नहीं लिया और देश के स्वाधीनता-प्रयासों में होनेवाला दिशाभ्रम बंद हो गया।

मोर्ले भारत सचिव नियुक्त

ब्रिटेन में चुनाव के बाद लिबरल पार्टी के हाथ में सत्ता आने के बाद लिबरल मंत्रिमंडल ने स्पेंसर, मिल आदि उदार दार्शनिकों से प्रत्यक्ष परिचित, उनके शिष्य कहे जानेवाले, उदारवादी दर्शन पर बड़े-बड़े ग्रंथ लिखनेवाले, कंजर्वेटिव मंत्रिमंडल द्वारा हिंदुस्थान पर किए जानेवाले अत्याचारों का हमेशा विरोध करनेवाले मोर्ले

साहब को ही भारत सचिव (Secretary of States for India) नियुक्त किया। यह समाचार मिलते ही चुनाव में हुई दादाभाई की हार का दु:ख पूरी तरह भूलकर कांग्रेस के नरम दल के नेताओं, जो बहुसंख्यक थे, ने मोर्ले साहब की जय-जयकार आरंभ कर दी। कांग्रेस को अपनी माँगों की पूर्ति की आशा अभूतपूर्व रूप से बलवती दिखने लगी। अपने मोर्ले साहब के हाथों में ही शासन आ गया—अब बड़े-बड़े शासकीय पद हम भारतीय लोगों को मिलेंगे, विधानसभाओं में व्यापक प्रतिनिधित्व मिलेगा, बंगाल के विभाजन जैसे अत्याचार दूर होंगे आदि दिवास्वप्न वे सारे ब्रिटिशनिष्ठ कांग्रेसी नेता देखने लगे। फिर भी कांग्रेस में अल्पसंख्या में बचे स्वदेशनिष्ठ नेता एवं समाचारपत्र राजनीतिक असंतोष की जो अग्नि जनता में सुलगाते जा रहे थे, उसे वैसे ही सुलगाते रहे और कांग्रेस द्वारा चाहे गए सुधार प्रत्यक्षत: स्वदेशी, बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा आदि प्रतिकारी आंदोलन वैसे ही चलाते रहने के निश्चय पर अड़े रहे। जनता भी मोर्ले का नाम तक न लेकर स्वदेशनिष्ठ तिलक, पाल, लाजपतराय—जिन्हें अनुप्रासप्रेमी लोक-समुदाय 'बाल-पाल-लाल' था—की जय-जयकार करती रही।

क्रांतिकारियों का तो मोर्ले के आने-जाने से कोई संबंध था ही नहीं। जनता में बढ़ते जा रहे असंतोष में ज्वालावर्धक पेट्रोल डालने का और उस राजनीतिक असंतोष से पर्याप्त सुलगे हुए लोगों को अपने सशस्त्र क्रांति दल की दीक्षा देकर क्रांतिकारी गुप्त संगठन का विस्तार वे जोर-शोर से करने लगे। सन् १९०५-६ की अवधि में महाराष्ट्र में 'अभिनव भारत' एवं अन्य स्थानीय छोटे-बड़े क्रांतिकारी गुटों का फैलाव कैसे तीव्रता से होने लगा और अरविंद घोष, बैरिस्टर पी. मित्र आदि बड़े-बड़े नेताओं के अप्रत्यक्ष मार्ग प्रदर्शन में 'युगांतर', 'अनुशीलन समिति' आदि सशस्त्र क्रांतिकारियों के गुप्त संगठन बंगाल भर में कैसे फैल गए, पंजाब तक उसकी लौ कैसे पहुँची, ये सारी बातें इस अध्याय में विस्तारपूर्वक नहीं दी जा सकतीं। फिर भी अनुसंधान के लिए जितना आवश्यक था, उतना उल्लेख यहाँ कर दिया गया है।

होमरूल सोसायटी की प्रथम वार्षिक सभा

ब्रिटेन में पंडित श्यामजी ने मोर्ले साहब की जय-जयकार करनेवाली ब्रिटिश कांग्रेस कमेटी के इन प्रयासों की अपने 'इंडियन सोशियोलॉजिस्ट' समाचारपत्र द्वारा खूब आलोचना की। 'इंडियन होमरूल सोसायटी' का प्रथम वार्षिक समारोह मनाने के लिए उस संस्था की साधारण सभा की बैठक २४ फरवरी, १९०६ को आयोजित हुई। उसका भी मत था कि मोर्ले साहब जैसे अच्छे और कर्जन जैसे 'बुरे' ब्रिटिश

शासनकर्ता क्या आए—क्या गए—सब बराबर है। हिंदुस्थान को होमरूल का, स्वायत्तता का अधिकार ब्रिटिशों की उदारता से मिलनेवाला नहीं है। वह तो चारों ओर से ब्रिटिश शासन संस्था के कड़े बहिष्कार, निःशस्त्र प्रतिरोध आदि से ही प्राप्त होगा। प्रस्ताव पारित करते समय दिए गए भाषणों में ये सब बातें ठोंक-बजाकर कही गई थीं।

सुरेंद्रनाथ बनर्जी की गिरफ्तारी और दंड

कांग्रेस के क्षीण आशावाद पर गरम दलवालों द्वारा की गई आलोचना का सबसे क्षोभकारक एवं प्रत्यक्ष जो अनुभव देखने को मिला, वह था बंगाल के बेहद लोकप्रिय एवं प्रसिद्ध नेता सुरेंद्रनाथ बनर्जी की गिरफ्तारी एवं आर्थिक दंड की घटना। मोर्ले साहब द्वारा भारत सचिव का पद स्वीकार करते-करते १४ अप्रैल, १९०६ को यह गिरफ्तारी हुई। 'वंदे मातरम्' की घोषणा करने को भी राजद्रोहात्मक कृत्य मानकर ब्रिटिश अधिकारियों ने बंगाल में उसपर पाबंदी लगाई थी। यह अपमान सुरेंद्रनाथ से सहन नहीं हुआ। उस प्रतिबंध को तोड़ते हुए बारीसाल में एक बड़ा भारी जुलूस सुरेंद्रनाथ ने अपने नेतृत्व में निकाला और स्वयं 'वंदे मातरम्' की गर्जना करते हुए चले। इस कृत्य के लिए उन्हें पकड़कर अपमानित किया गया और आर्थिक दंड भी लाद दिया गया।

वास्तव में देखा जाए तो सुरेंद्रनाथ बनर्जी कांग्रेस के ब्रिटिशनिष्ठ नरम दल के नेता माने जाते थे। ऐसा वे स्वयं भी कहते थे। वे, दो बार भारतीय कांग्रेस के अध्यक्ष रह चुके थे। इस कारण उनकी गिरफ्तारी होते ही ब्रिटिश कांग्रेस कमेटी, लंदन द्वारा एक सार्वजनिक सभा आयोजित कर प्रथमतः उसका विरोध करना चाहिए था, परंतु भारत सचिव मोर्ले साहब भारतीय राज व्यवस्था में भारतीय लोगों को अनेक बड़े-बड़े पद दिए बिना नहीं रहेंगे, इस भोली आशा से ग्रसित और एंग्लो-इंडियनों के पिछलग्गू बने ब्रिटिश कांग्रेस कमेटी के दादाभाई आदि देशभक्तों ने भी ब्रिटिश शासन का वैसा विरोध करने का कर्तव्य नहीं निभाया। यदि भारतीय राज-व्यवस्था में उच्चाधिकार प्राप्त स्थान देने की नीति ब्रिटिश शासन ने स्वीकारी तो वे स्थान कांग्रेस के ब्रिटिशनिष्ठ भारतीय नेताओं को ही प्राप्त होंगे, होमरूलवादी या तिलक जैसे स्वदेशनिष्ठ आंदोलनकारी लोगों को नहीं देगा, यह भी कांग्रेस के ब्रिटिशनिष्ठ वर्ग को अच्छी तरह ज्ञात था। हाँ, होमरूल सोसायटी ने सुरेंद्रनाथ की गिरफ्तारी का विरोध करने के लिए ४ मई, १९०६ को लंदन में एक सार्वजनिक सभा का आयोजन किया। पंडित श्यामजी ही उसके अध्यक्ष थे। लंदन के बहुत से हिंदुस्थानी उसमें उपस्थित थे, जिनमें विट्ठलभाई

पटेल (उस समय के युवा) और उस समय लंदन में आए हुए भाई परमानंद भी प्रमुख थे। पंडित श्यामजी ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा कि ब्रिटिश कांग्रेस कमेटी ने तो स्वयं ऐसी सभा आयोजित की ही नहीं, परंतु होमरूल लीग द्वारा आयोजित इस सभा का निमंत्रण मिलने के बाद भी दादाभाई नौरोजी या उस समय लंदन में आए हुए गोखले इस सभा में नहीं आए।

पेरिस में भारतीय राजनीति की पहली सभा

हिंदुस्थान की विदेश राजनीति का 'हरि:ओम्'!

लंदन में उपर्युक्त विरोध-सभा होते ही पेरिस में होमरूल सोसायटी के दोनों उपाध्यक्षों—बैरिस्टर राणा और गोदरेज—ने सुरेंद्रनाथ बनर्जी की गिरफ्तारी के लिए ब्रिटिश शासन का विरोध पेरिस में रहनेवाले भारतीय लोगों की एक सभा ४ मई, १९०६ को आयोजित कर किया। इस सभा में अनेक लोगों के आवेशपूर्ण भाषण हुए और विरोध-प्रस्ताव पारित हुआ। इस सभा का विशेष उल्लेख इसलिए किया गया कि तब तक ब्रिटेन में कांग्रेस ही भारतीय राजनीति चलाती रही थी। ब्रिटिश साम्राज्य को वह अपना साम्राज्य मानती थी। इसलिए ब्रिटिश साम्राज्य के बाहर के किसी देश में ब्रिटेन की ओर से हिंदुस्थान पर हो रहे अन्याय के संबंध में कुछ कहने का उद्देश्य था परराष्ट्रों में अपने ही साम्राज्य की बदनामी करना, देशद्रोह करना। यह राजनिष्ठ प्रजाजनों को अशोभनीय और ब्रिटिश जनता को क्रोधित करनेवाला अपराधपूर्ण काम है, कांग्रेस के ब्रिटिशनिष्ठ नेताओं की धारणा यही थी। इसीलिए उस समय तक ब्रिटिश साम्राज्य के बाहर के किसी भी स्वतंत्र राष्ट्र में भारतीय राजनीति का स्वतंत्र और सार्वजनिक उल्लेख कभी किया ही नहीं गया था। भारतीय लोगों द्वारा हिंदुस्थान का दु:ख विश्व के जनमत तक पहुँचाया ही नहीं गया था। परंतु कांग्रेस के अंकुश के बाहर एवं ब्रिटिश सत्ता का खुला विरोध करनेवाली 'होमरूल सोसायटी' नामक संस्था स्थापित हो जाने के बाद पंडित श्यामजी ने ब्रिटिश साम्राज्य के विरोधी दलों और ब्रिटेन से बाहर के राष्ट्रों से भारतीय राजनीति का संबंध जोड़ने का सिलसिला प्रारंभ किया। ब्रिटिश-विरोधी आयरिश दलों एवं सोशल डेमोक्रेट जैसे ब्रिटिश साम्राज्य-विरोधी दलों के हिंडमैन आदि नेताओं से उन्होंने खुले संबंध बनाए ही थे, परंतु ब्रिटिशों द्वारा हिंदुस्थान पर किए जानेवाले अत्याचारों की विरोध-सभा फ्रांस में होमरूल सोसायटी द्वारा ब्रिटेन के बाहर के राष्ट्रों में किए जाने की यह प्रथम घटना थी।

४ मई, १९०६ को पेरिस में आयोजित भारतीय राजनीति की पहली सार्वजनिक

सभा की, छोटी होने के बावजूद, ऐतिहासिक दृष्टि से एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता भी है। यद्यपि वह सभा निःशस्त्रवादी होमरूल सोसायटी की थी, तथापि उस रास्ते पेरिस में रखे गए भारतीय राजनीति के कल्पक का फैलाव होते-होते दस वर्षों तक अभिनव भारत के सशस्त्र क्रांतिकारी संगठन एवं क्रांतिकारी नेताओं का मुख्य केंद्र पेरिस ही बना रहा। बैरिस्टर राणा, मैडम कामा, बाद में श्यामजी, लाला हरदयाल आदि अग्रगण्य क्रांतिकारी नेताओं के लिए पेरिस ही काशी हो गई थी। आगे जाकर सन् १९१४ में जब फ्रांस और ब्रिटेन की तुल्यारिमित्र संधि हुई और जर्मन महायुद्ध प्रारंभ हुआ, तब भारतीय क्रांतिकारियों को अपना कार्यक्षेत्र पेरिस से बर्लिन ले जाना पड़ा। मेरे अपने क्रांतिकारी जीवन का तो पेरिस और फ्रांस देश से कितना घनिष्ठ संबंध रहा, वह इस आत्मवृत्त के प्रवाह में आगे स्पष्ट होगा।

पेरिस में उस समय जो भारतीय लोग थे, उनमें अधिकतर व्यापारी ही थे। उसमें भी हीरे-मोतियों के ही व्यापारी अधिक थे। वह व्यापारी वर्ग कांग्रेस की तब तक की बौद्धिक राजनीति से लगभग अलिप्त ही था, परंतु होमरूल सोसायटी के प्रमुख कार्यकर्ता बैरिस्टर राणा और मैडम कामा, जो पेरिस के ही निवासी थे, के प्रयासों से वहाँ की व्यापारिक मंडली में भी भारतीय राजनीति-संबंधी जागृति होने लगी थी। उपर्युक्त दोनों नेताओं में से बैरिस्टर राणा का प्रथम परिचय इसी अध्याय में पहले दिया गया है। और मैडम कामा का, लंदन पहुँचने के बाद परंतु उनकी-हमारी पहचान होने तक का परिचय मैं यहाँ करा रहा हूँ—

श्रीमती कामा (मैडम भिकाजी रुस्तमजी कामा)

इनका जन्म बंबई के एक धनाढ्य पारसी परिवार में हुआ था और वैसे ही एक धनाढ्य पारसी परिवार के रुस्तमजी कामा (बैरिस्टर) के साथ उनका विवाह हुआ था। दोनों के ही परिवार तब बंबई के उच्च श्रेणी के परिवारों में गिने जाते थे। इस कारण उन्हें राजमान्यता भी प्राप्त थी। बंबई के गवर्नर द्वारा आयोजित समारोहों में सुप्रतिष्ठित परिवार के नागरिक के रूप में कभी-कभी इस कामा दंपती को आमंत्रित किया जाता था। इनकी संतानें भी थीं। इस तरह संतति, संपत्ति, प्रतिष्ठा, राजमान्यता का लाभ—सबकुछ इन्हें प्राप्त था। श्रीमती कामा को केवल गृहस्थी में ही अटके रहने में रुचि नहीं थी। इसलिए स्थानीय सीमा में आयोजित होनेवाले छोटे-बड़े सामाजिक कार्यों में भी वे जाती-आती थीं।

जब बंबई में प्रथम बार प्लेग फैला, तब बड़ा सर्वनाश हुआ। किसी अहाते के परिवार के एक व्यक्ति को भी उस नए रोग पर काबू पाने के लिए तब तक कोई औषधि नहीं खोजी गई थी। निरोधक टीका भी तब तक पक्की तरह ज्ञात नहीं था।

प्लेग के रोगियों से भरे अस्पताल में डॉक्टर या परिचारिका का काम करना भी संकटपूर्ण था। ऐसे समय में सेवा करने के लिए जो परोपकारी समितियाँ बनीं, उनके स्वयंसेवक के रूप में श्रीमती कामा ने भी अपना नाम दिया तथा अपने प्राणों की परवाह किए बिना रोगियों के बीच जाकर बिना वेतन इतनी तन्मयता से उनकी सेवा की कि कुछ समय बाद वे स्वयं ही प्लेग की चपेट में आ गईं। भाग्य की बात इतनी ही थी कि वे उस प्राणसंकट से बच गईं, परंतु उनका स्वास्थ्य इतना क्षीण हो गया कि हिंदुस्थान की प्लेग-दूषित हवा से दूर जाकर कुछ वर्ष यूरोप में रहने की सलाह उनके चिकित्सकों ने उन्हें दी।

इसी बीच किसी पारिवारिक कलह के कारण अपने पति से उनकी दूरी बढ़ गई और बात संबंध-विच्छेद होने तक चली गई। उनकी स्वयं की आर्थिक स्थिति अच्छी थी। इस तरह स्वतंत्र होकर स्वास्थ्य-लाभ करने वे यूरोप चली गईं। फिर वे पेरिस में ही स्थायी रूप से बस गईं। मन पर किसी चिंता या गंभीर कार्यों का तनाव न आए और स्वास्थ्य जल्दी सुधर जाए, इस उद्देश्य वे फ्रांस के संपन्न लोगों द्वारा पेरिस में चलाए जानेवाले क्रीड़ा, मनोरंजन आदि कार्यक्रमों में भाग लेने लगीं। धीरे-धीरे पेरिस के कुछ संपन्न, प्रतिष्ठित, विद्वान् आदि अभिजात वर्ग के स्त्री-पुरुषों से उनका अच्छा परिचय हो गया। ऐसे अभिजात फ्रांसीसी स्त्री-पुरुषों की गीत-नृत्य आदि की मनोरंजक संस्थाओं में भी अलग दिखने के लिए उनकी रहती थी। फ्रांसीसी महिलाओं जैसा फ्रांसीसी वेश ही वे प्राय: पहनती थीं, फिर भी विशेष आयोजनों में वे बंबई की पारसी पद्धति की मूल्यवान साड़ियाँ पहनकर फ्रांसीसी महिला मंडलों में जाती थीं। उनकी वह भारतीय साड़ी और उसे पहनने की पद्धति फ्रांसीसी महिलाओं को बहुत अच्छी लगती थी, यह बात वे हमें अक्सर बताती थीं।

कुछ समय ऐसे ही निश्चिंत एवं मनोरंजक रूप से बीतने के बाद उनका शारीरिक स्वास्थ्य काफी-कुछ सुधर गया, परंतु उसके कारण उनका मन बहुत बेचैन रहने लगा। परोपकार तथा सार्वजनिक कार्य करने की उनकी मौलिक भावना फिर बलवती होने लगी। स्वयं पारसी होने के कारण उन्होंने पारसी समाज के विख्यात नेता दादाभाई नौरोजी से यूरोप में परिचय कर लिया था। जब-जब वे लंदन जाती थीं, तब-तब वहाँ के भारतीय राजनीतिक नेताओं के मध्य ही रहती थीं। इस कारण अपने देश की परतंत्रता की वेदना उन्हें तेजी से होने लगी थी। दादाभाई के नेतृत्व में जो भी राजनीतिक आंदोलन ब्रिटेन में होते थे, उनमें वे भी धीरे-धीरे सम्मिलित होने लगीं। दादाभाई के पार्लियामेंटरी चुनाव के समय तो उन्होंने स्वयंसेविका बनकर हर तरह का कार्य किया।

कर्जन के द्वारा किए जानेवाले अत्याचारों के कारण हिंदुस्थान के लोगों में

जो राजनीतिक असंतोष एवं क्रोध बढ़ने लगा था, उसके फलस्वरूप श्रीमती कामा का झुकाव गरम दल की ओर बढ़ने लगा था। इस कारण पंडित श्यामजी के कट्टर राष्ट्रीय प्रकार के 'होमरूल' आंदोलन का उदय होते ही वे 'होमरूल लीग' के आंदोलनों में जोर-शोर से भाग लेने लगीं। स्वभाव से वे निडर थीं, किसी भी विषय पर अपना विचार वे स्पष्टता से गिने-चुने शब्दों में रख देती थीं। राजनीतिक प्रचार के कार्य में वे अपने भाषणों और लेखों में स्पष्टता से कहती थीं कि ब्रिटिशों के हाथों से हिंदुस्थान का शासन हम अवश्य छीन लेंगे। हम राज्य क्रांति करेंगे। यह राज्य क्रांति शस्त्रशील न होकर शांतिशील होनेवाली है। रक्तविहीन, शांतिमय! 'Our evolution will be a bloodless and peaceful one!' अर्थात् यह स्पष्ट है कि तब तक श्रीमती कामा की राजनीतिक निष्ठा का विकास पंडित श्यामजी के निःशस्त्रवादी कार्यक्रम तक ही हुआ था।

ब्रिटेन में उस समय के भारतीय तरुण

मैंने पूर्व में कहा है कि ब्रिटेन जाने का मेरा एक प्रमुख उद्देश्य यह था कि वहाँ हिंदुस्थान के सारे प्रांतों से जानेवाले सैकड़ों बुद्धिमान एवं श्रीमान् के अतिरिक्त आगे जाकर भारतीय शासन के बड़े-बड़े अधिकार पद जिन आई.सी.एस., आई.एम.एस. परीक्षाओं के कारण प्राप्त होते हैं, उन परीक्षाओं के लिए वहाँ आए तरुण भारतीय विद्यार्थी वर्ग को सहज में ही मैं पकड़ सकूँ; उनसे बार-बार मिलूँ, उनमें देश की स्वतंत्रता के लिए तीव्र भावना जगा सकूँ तथा उनमें सशस्त्र क्रांति का प्रचार करूँ, ताकि वे जब लौटकर स्थान-स्थान पर बैरिस्टर, डॉक्टर, संपादक, नेता, मजिस्ट्रेट, कलेक्टर, न्यायाधीश या सेना में अधिकारी बनें, तो देश के सारे प्रांतों में शक्ति के उतने केंद्र क्रांति के लिए उपलब्ध हो सकें।

ब्रिटेन में जिस भारतीय तरुण विद्यार्थी वर्ग के बल पर मुझे यह उद्देश्य पूरा करना था, उस तरुण वर्ग की मानसिक प्रवृत्ति और चरित्र (जब मैं ब्रिटेन गया) तब कैसे थे?

मेरे उद्देश्य से अधिकतर प्रतिकार

उस समय ब्रिटेन में भारतीय विद्यार्थियों की संख्या कितनी थी, यह आज मैं ठीक-ठीक नहीं कह सकता, तथापि वह दो हजार तक तो होगी ही। उसमें दस प्रतिशत अपवाद छोड़ दें तो शेष अधिकतर भारतीय तरुण राजनीति से निश्चयपूर्वक दूर रहनेवाले थे। इतना ही नहीं, स्वदेश-भक्ति की भावना एवं जीवंत संस्कार का भी उनमें अभाव था। उसमें भी वे शिक्षा एवं काम की सुलभतानुसार विभिन्न नगरों

में बिखरे हुए थे। कहीं-कहीं चार-पाँच, तो कहीं-कहीं पाँच-दस। ऑक्सफोर्ड, कैंब्रिज, मैनचेस्टर, एडिनबरा इत्यादि नगरों में उनकी संख्या अधिक थी, परंतु उनका मुख्य निवास लंदन महानगर में ही था। ब्रिटेन भर में फैले हुए इन सारे भारतीय विद्यार्थियों में देशबंधुत्व की भावना और एकात्मता का संचार करनेवाले सामुदायिक अवसर भी कदाचित् ही आते थे। उनमें एकात्मता का संचार करने में कोई राजनीतिक ही नहीं, सामाजिक-सांस्कृतिक संस्था भी सफल नहीं हुई थी। उसमें भी इनमें से बहुत सारे विद्यार्थी हिंदुस्थान की छोटी-बड़ी रियासतों, लाखों रुपए की आयवाले एवं पूरी तरह अंग्रेजी बने भू-स्वामी (जमींदार), बैरिस्टर, डॉक्टर, दीवान, सरदार आदि धनवान लोगों की संतानें थीं। उन्होंने तो साहबी विलास एवं ब्रिटिशनिष्ठा की घुट्टी जन्म लेते ही पी रखी थी। बालक में बचपन से ही सब तरह के विलायती संस्कार पड़ें और वह अंदर-बाहर से 'साहब' बन जाए, इस उद्देश्य से हिंदुस्थान के अनेक धनवान और मान्यवर लोग अपने बच्चे को प्रसूति-गृह से ही विलायती गोरी दाई के हाथों सौंप देते थे और बारह-चौदह वर्ष का होते ही उसे ब्रिटेन में हैरो जैसी उधर की प्राथमिक पाठशाला में अंग्रेजी सिखाने के लिए किसी अंग्रेजी परिवार या अंग्रेजी छात्रावास में रखते थे। ऐसे लड़कों के लिए शिक्षा-शुल्क, भोजनालय एवं देखभाल 'साभार' के बहाने उपलब्ध थे।

पूरा साहब बनने के लिए ये बहुसंख्य भारतीय तरुण आपस में भी अंग्रेजी में ही बतियाते थे और उनकी अपनी जो कोई बँगला, पंजाबी आदि मातृभाषा, प्रादेशिक भाषा होगी, उसे 'मैं तो भूल गया जी' ठाठ से कहने में गौरवान्वित होते थे। वे ब्रिटिश संगीत सीखते थे। ब्रिटिश नृत्य कक्षाओं में, किसी गोरी आवारा (Street Girls) के साथ ही सही, परंतु ब्रिटिशों की तरह नाचना सीखने के लिए, मनचाहा धन उड़ा देते थे। अपना विवाह पहले ही हो चुका है, ऐसा कहें तो गोरे स्त्री-पुरुष कहेंगे, इतनी छोटी आयु में? इसलिए ये भारतीय तरुण अविवाहित होने की झूठी बातें कहते थे। किसी आवारा ब्रिटिश युवक-युवती की अपेक्षा हम कुछ भी कम नहीं हैं, अपितु अधिक ही हैं, यह जतलाने के लिए छैलपन के रंग-ढंग में वे अपने पैर पीछे नहीं रखते थे। धनिक ब्रिटिश विद्यार्थियों को भी शर्म लगे, ऐसे मूल्यवान कपड़ों एवं मूल्यवान पैंट, कोट, टाईवाले तरह-तरह के सूट वे पहनते थे। वे ब्रिटिश अभिजात्य पद्धति की तरह ही प्रतिदिन चार-चार बार भोजन करते, घूमते, नृत्य करते, सोते तथा अलग-अलग वेश बदलते थे।

छात्रावासों में रहने की अपेक्षा ब्रिटिश परिवारों में ही अधिक पैसे देकर, मिलकर रहने के लिए वे उत्सुक रहते थे। इस काम में उन्हें ब्रिटिश मध्यम वर्ग में रूढ़ 'पेइंग गेस्ट' की पद्धति बहुत उपयोगी लगती थी। वह पद्धति ऐसी थी कि

एकदम 'खुला भोजनालय' ऐसा कुछ हीनतादर्शक नाम न देकर ब्रिटिश मध्यम वर्ग के अनेक परिवार अपने घर में, परिवार में ही रहने-खाने के पैसे लेकर दो-तीन व्यक्तियों को रख लेते थे और उन्हें Paying Guest अर्थात् सशुल्क अतिथि के शब्दार्थ में हास्यास्पद लगनेवाला, परंतु उधर 'भोजनालय' से किंचित् सभ्य समझा जानेवाला नाम देते थे। उस समय भी ब्रिटिश परिवार भारतीय लोगों को सशुल्क अतिथि के रूप में रखने से सखेद टालते थे, मगर निर्धन ब्रिटिश परिवार भारतीय लोगों को सशुल्क अतिथि के रूप में अपने घर में लेने लगे थे। आगे अनुभव होने के बाद तो कुछ परिवार आर्थिक दृष्टि से अधिक लाभदायक होने के कारण भारतीय सशुल्क अतिथि ही रखने लगे थे, क्योंकि गोरे परिवार के लोगों में मिल-जुलकर रहने, बोलने, एक ही टेबल के चारों ओर कुरसी से कुरसी लगाकर बैठने में इस वर्ग के भारतीय तरुणों को इतना आनंद आता, इतना बड़प्पन लगता कि वे सवाया किराया भी उस परिवार को दे देते थे। ऐसा सशुल्क भारतीय अतिथि मिलने के बाद उस गोरे परिवार का सिगरेट और शराब का व्यय अपने-आप ही बच जाता था, क्योंकि महँगी सिगरेट और महँगी शराब का उपयोग करनेवाले ये भारतीय सशुल्क अतिथि अपने साथ ही अपने यजमान गोरे परिवार के लोगों को प्रसन्न रखने के लिए भेंट करते थे। हर तरह की चापलूसी से वे चाहते थे कि गोरा साहब उनको भी अपने समाज का ही एक सुधरा मनुष्य समझे और समानता से व्यवहार करे, इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए वे बड़े-से-बड़े प्रयास करने से भी चूकते नहीं थे। अपना देसी रहन-सहन बदलकर विलायत के साहब का रहन-सहन स्वीकार करने के बाद भी उनके भारतीयपन की एक बात बदलना उनके वश की नहीं होती थी। वह बात थी उनका काला रंग। गोरे लोगों द्वारा प्रयुक्त महँगे साबुन लगाने के बाद भी काला रंग गोरा नहीं होता था। इस कारण पूरा साहब बनने के लिए अपने सारे लिबास, विहार एवं रंग-ढंग पर किया गया व्यय पानी में चला जाता। उच्च पदों पर आसीन गोरे लॉर्ड लोगों की तरह टॉपहेड और टेलकोट पहनकर भी वे बाहर निकलें, तब भी गोरे लोग रास्ते में, नृत्यगृहों में या चाय की छोटी दुकान पर उनकी तरफ तिरस्कार से देखकर 'ब्लैकी', 'निगर', 'नेटिव' आदि अपशब्द कहने लगते। इतनी चापलूसी करने के बाद भी ब्रिटिश समाज में भारतीय होने के कारण उन्हें अपमानित होना पड़ता है, यह मलाल नहीं होता था। स्पष्ट ही है—यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोत्रऽ दोषः !!

उपर्युक्त सारी बातें हर भारतीय विद्यार्थी पर लागू थीं, ऐसा नहीं है, पर सामान्यतः ये लागू थीं। उसमें भी ब्रिटिश लोगों की ऐसी स्वाभिमानशून्य जी-हुजूरी कुछ भारतीय विद्यार्थी व्यक्तिगत रूप से करते होते या व्यक्तिगत उच्छृंखलता के

कारण या विकृत इच्छा-अनिच्छा के कारण वे वैसा करते होते, तो ऐसी व्यक्तिगत बातों का नाम-निर्देश मैं इस तरह सार्वजनिक रूप से नहीं करता। परंतु इस भारतीय वर्ग के उस सब व्यक्तिगत आवारापन या चापलूसी का उद्‌गम एक दासनुमा अराष्ट्रीय प्रवृत्ति से हुआ था। इसलिए व्यक्तिशः नहीं, बल्कि वर्गशः इन बातों का सार्वजनिक उल्लेख करना मेरा कर्तव्य है। हमारी जाति, हमारा राष्ट्र, हमारी संस्कृति—यदि उसे संस्कृति कहना हो, तो—हमारा रहन-सहन, ये सब हीन हैं, लज्जास्पद हैं और इसलिए त्याज्य हैं, ऐसा इस भारतीय विद्यार्थी वर्ग का सोच था और उन्हें इसका बड़ा दुःख था। उनके अभिभावकों ने वैसी ही घुट्टी उन्हें पिला रखी थी। उसमें भी इंग्लैंड में आते ही अंग्रेजी साम्राज्य का वैभव देखकर उनकी आँखें चौंधिया जाती थीं। अंग्रेजी भाषा, उसका वाङ्मय, अंग्रेजों की संस्कृति, उनका रूप, रंग, रहन-सहन आदि की, मूलतः स्वाभिमान का जीवन-रस जिनके मन से निचोड़ डाला गया है, ऐसे कोमल भारतीय तरुण पर प्रथम दर्शन पर ही ऐसी कुछ प्रबल मोहिनी पड़ती या डाली जाती कि उन्हें ब्रिटिश लोग किसी दैवी जाति के लगने लगते थे। उनकी उस स्वत्वशून्य भावना का मेरे शब्दों में किया गया वर्णन कदाचित् अतिशयोक्तिपूर्ण न हो जाए, इसलिए उसी काल के एक भारतीय लेखक का एक उद्धरण नीचे दे रहा हूँ। यह लेखक ऐसा अर्वाचीन हिंदू नहीं है कि उसे दूसरों में ही अच्छाई दिखती है। वह तो मुसलमान है। उसका नाम है सैयद अहमद, जो आगे जाकर 'सर' सैयद अहमद कहलाए और प्रसिद्ध हुए। उन्होंने मूलतः अलीगढ़ के मुसलमानी शिक्षा केंद्र की स्थापना की और हिंदुओं को गिराने के लिए ब्रिटिश सत्ता की जय-जयकार करने की घुट्टी मुसलमान समाज को पिलाई। जब सैयद अहमद अपनी तरुणावस्था में इंग्लैंड में रहते थे, तब अपने हिंदुस्थानी मित्रों के पास पत्र लिखते थे। सन् १८६९ में अपने एक पत्र में उन्होंने लिखा था—

'The English have reasons to believe that we in India are imbecile brutes. What I have seen and daily seeing is utterly beyond imagination, of a native in India. All good things, spiritual and worldly which should be found in man have been bestowed by the Almighty on Europe and especially on the English.' (Nehru's Autobiography, page 461)

भावार्थ यह कि 'ब्रिटिश जो यह समझते हैं कि भारतीय समाज दुर्बल और पशुवत् है, वह यूँ ही नहीं है। मैंने जो कुछ यहाँ देखा है और हर दिन देख रहा हूँ उसकी कल्पना भी इंडिया के नेटिव लोग नहीं कर सकते। आध्यात्मिक एवं भौतिक ऐसी जितनी भी अभिलाषा-योग्य बातें मनुष्य में होनी चाहिए, वे सारी-

की-सारी बातें उस सर्वशक्तिमान ईश्वर ने यूरोप को दे डाली हैं—उसमें भी विशेषकर अंग्रेजों को!'

ब्रिटेन में गए भारतीय विद्यार्थियों की ही नहीं, वहाँ स्थित अधिकतर भारतीय नागरिकों की स्वाभिमानशून्यता कितनी दयनीय अवस्था में पहुँच चुकी थी, यह सिद्ध करनेवाला सैयद अहमद का एक ही पत्र उपलब्ध है, ऐसा नहीं है। दादाभाई एवं सुरेंद्रनाथ के ब्रिटेन के प्रथम निवास-काल से लेकर मेरे लंदन पहुँचने तक अधिकतर नए विद्यार्थियों और सज्जनों के मन कैसे पूरी तरह अंग्रेजियत में सराबोर थे, यह उस समय के लेखों के उद्धरण देकर हमने इसके पूर्व ही 'पूर्वपीठिका' खंड और इस अध्याय में भी बार-बार दिखाया है।

गांधीजी भी जब विधिशास्त्र की शिक्षा प्राप्त करने अपनी युवावस्था में इंग्लैंड गए थे, तब उनकी भी प्रवृत्ति ऊपर वर्णित विद्यार्थियों जैसी, पूरी तरह अंग्रेजियतमय हो गई थी। 'टॉपहैट', 'टेलकोट' तथा नवनीत टाई—एकदम उच्चकुलीन वर्गीय अंग्रेजी 'जेंटलमैन' के वेश में वे सजे-धजे रहते थे। तब इंग्लैंड गए उनके समकालीन भारतीयों ने भी इस तरह अंग्रेजी ढंग से उनके सजने-धजने एवं अंग्रेजों की प्रशंसा से भरे हुए संभाषण करने की चर्चा की है। मोतीलाल नेहरू का मन अरविंद के पिताजी की तरह अंग्रेजी संस्कृति की प्रशंसा में इतना भरा हुआ था कि अपने पुत्र जवाहरलाल नेहरू को उन्होंने एकदम बचपन से ही अंग्रेजी संस्कृति के मर्तबान (अचार बनाने का पात्र) में रखने की इच्छा से इंग्लैंड भेज दिया था। वहाँ की प्राथमिक पाठशाला के छात्रावास और कुलीन अंग्रेजी संस्कारों में ही जवाहरलाल बढ़े। इस कारण अंग्रेजी विश्वविद्यालय में शिक्षा और विधिशास्त्र का अध्ययन पूरा कर बैरिस्टर होकर हिंदुस्थान लौटने तक ब्रिटेन में और यूरोप में उस समय भड़क रहे भारतीय राजनीति के किसी भी सौम्य अथवा दाहक आंदोलनों की रत्ती भर भी लौ उनको नहीं लगी। गांधी, नेहरू, चारुचंद्र दत्त एवं (मुझसे पहले ब्रिटेन गए) अन्य लागों की जो आत्मकथाएँ प्रकाशित हुई हैं, उनमें से अधिकतर उपर्युक्त विवरण की यथेच्छ पुष्टि करती हैं। ब्रिटिश जब हमें 'पशु' कहते, तब गुस्से से तिलमिला जाने के स्थान पर हम सच्चाई से उनके प्रति आभार व्यक्त करते हुए कहते—'एकदम सच! साहब, हम हैं ही वैसे! इसीलिए तो हमें सुधारने के लिए आप देवतुल्य ब्रिटिशों का राज हमपर स्थापित हुआ, इसे हम ईश्वरीय कृपा मानते हैं।' मेरे लंदन जाने के पूर्व के और उस समय के अधिकतर तरुण भारतीय विद्यार्थियों के मन में यही बात रहती थी। अब उसी अंग्रेजी राज को सशस्त्र क्रांति द्वारा नष्ट करने की इच्छा और तत्परता तुरत-फुरत में संचारित होना मूसल में से अंकुर फूटने जैसा था! कितनी असंभाव्य अपेक्षा!!

पर यह सच है कि मेरे मन में वही बात उबलती रहती थी, क्योंकि यह तरुण वर्ग मौलिक रूप से पूरा अकर्मण्य नहीं था। जिस जाति की खान में हम जन्मे, उसीमें वे जन्मे थे। जो जातीय रक्त हमारी धमनियों में सरसरा रहा था, वही उनकी भी धमनियों में सरसरा नहीं रहा था, तो भी बह अवश्य रहा था। उनमें से बहुतों की बुद्धिमत्ता प्रशंसनीय थी। राष्ट्रीय न हो, पर बहुतों की व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा प्रबल थी और इसीलिए वे ब्रिटिश विश्वविद्यालयों की उच्च परीक्षा में ब्रिटिश विद्यार्थियों से भी अधिक श्रेष्ठता से उत्तीर्ण होते थे। हिंदुस्थान में लौटकर आई.सी.एस., आई.एम.एस. आदि विविध विभागों के वरिष्ठ पद भी वे प्राप्त कर ही लेते थे। उनमें से अधिकतर जिस धनिक वर्ग से आए हुए होते थे, उस वर्ग के बच्चों को बचपन से ही सुखासीन रहने एवं गोरे साहबों के आगे चापलूसी करते रहने की बात घुट्टी में पिला दी गई रहती है। अत: विलायत में भी वे वैसे ही रहते थे, यह बात सच थी, परंतु उसका एक दूसरा पहलू यह भी हो सकता था कि भोग-लिप्सा से उच्चतर एवं व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा से महत्तर स्वराष्ट्र या मानवता के हित में स्वार्थत्याग करने का दूसरा उद्देश्य उनके सामने रखकर उनकी तरुण आत्मा का आह्वान तब तक किसीने किया ही नहीं था। दैहिक सुख-भोग की अपेक्षा किसी पुनीत उद्देश्य के लिए त्याग करते हुए उसमें जो आत्मिक सुख मिल सकता है, उस सामान्य स्वाद से बड़े स्वाद वाले शहद को किसीने अपनी अँगुली से उन्हें तब तक चटाया ही नहीं था।

यह भारतभूमि तेरी मातृभूमि है, जिसे इन ब्रिटिशों ने बलपूर्वक अपनी दासी बनाकर रखा है। अत: ये ब्रिटिश तेरे शत्रु हैं, ऐसी तेज राष्ट्रभाषा उन्हें तब तक किसीने सुनाई थी क्या? उन्हें समझाई थी क्या? नहीं!! जीवन का वैसा उदार अर्थ उन्हें तब तक किसीने सुनाया ही नहीं था। स्वार्थी महत्त्वाकांक्षा की अपेक्षा ऐसी किसी महत्तर महत्त्वाकांक्षा की प्रकाश-किरण उनके अँधियारे हृदय-पटल पर डालकर उसे किसीने तेजस्वी किया नहीं था। उन्हें ही क्यों कहें? दादाभाई नौरोजी, सुरेंद्रनाथ, विपिनचंद्र, पंडित श्यामजी, लाजपतराय—ऐसे-ऐसे कितनों ने ही अपनी आयु के तीस वर्ष बीतने तक प्रचलित राजनीति का स्पर्श भी नहीं किया था। वे सब भी ब्रिटिशों के राज को ईश्वरीय कृपा ही मानते थे। यह पिछले और इस अध्याय में भी हमने वर्णित किया है। तथापि उनकी इस या उस कारण से कायापलट हुई और वे आज देशभक्त जाने जाते हैं, वैसे ही आज ये जो विलायत के स्वार्थ-लंपट और राजनीति की दृष्टि से बेकार विद्यार्थी हैं, प्रयास किया जाए तो उनमें से कोई उस तरह के देशभक्त नहीं होंगे, यह कैसे कहें? उनसे भी आगे जाकर उनमें से ही एकाध क्रांतिकारी हुतात्मा भी निकल सकता है!

दूसरी बात यह कि हिंदुस्थान की उस समय की परिस्थिति में ब्रिटेन आने-जानेवाले बहुसंख्य तरुण जिस वर्ग से आते थे, वही वर्ग भारतीय समाज में सुसंपन्न, कर्ता-धर्ता, अधिकार के पदों पर विराजमान था, सर्वश्रेष्ठ था—यह सच था एवं समाज द्वारा वैसा माना भी जाता था। उस वर्ग के इन साधन-संपन्न तरुणों में से प्रयासपूर्वक यदि एक भी क्रांति (कार्य) पक्ष में आकर मिलता, तो साधनहीन सौ-सौ सामान्य तरुणों के मिलने से क्रांतिपक्ष को जो गति नहीं मिलती, उससे अधिक मिल जाती। किसी प्रकरण में ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव होने से इस संबंध में मैं इस निश्चय पर पहुँच चुका था। किसी रियासत का वारिस या युवराज या कलेक्टर या उसका पुत्र केवल सहानुभूति रखनेवाले सदस्य की ही तरह गुप्त रूप से क्रांतिकारियों से मिलता है, तो भी आवश्यकतानुसार हजारों रुपयों की सहायता मिल सकती थी या जो क्रांतिकारी पकड़-धकड़ से बचने के लिए भूमिगत हो जाते थे, वे उनकी सहायता से छिपे रहते, आश्रय पाते; शस्त्र आदि की भी सहायता मिल जाती। ऐसे अनेक उदाहरणों में से कुछ काल-क्रम से आगे दिए जाएँगे।

इस महत्त्वपूर्ण वर्ग के बहुसंख्य तरुण यद्यपि ऊपर वर्णित वैचारिक एवं आचारिक अधोगति में पड़े हुए थे, फिर भी यदि कोई क्रांतिकारी संगठन खड़ा करना हो तो उनमें भी वैसा प्रयास करना उचित था। देश में रिवॉल्वर या बम प्राप्त नहीं थे। इसलिए वे परदेश से आयात किए जा सकते थे। चूँकि स्वदेश के तरुण ही स्वाभिमानशून्य एवं निकम्मे हैं। इसलिए परदेश से तो तरुणों के जत्थे आयात नहीं किए जा सकते थे। देश में जो और जैसे आदमी हैं, उन्हींमें से क्रांतिप्रवृत्त पक्ष का निर्माण करना था। चूँकि (अब) इसी न्याय-तर्क पर चलना अनिवार्य हो गया था। अतः विलायत में इन वरिष्ठ वर्गीय, परंतु अधोगत भारतीय तरुणों में भी यथासंभव तेज क्रांति संचारित करने का प्रयत्न करके देखना भी एक कर्तव्य ही था।

तीसरा यह कि परदेश गए, राजनीतिक दृष्टि से एकदम दरिद्र लगनेवाले तरुण वर्ग से भी अधिक डरपोक, अधिक स्वाभिमानशून्य, स्वार्थ-लंपट, ब्रिटिश राजा को विष्णु का अवतार माननेवाले अनेक पंडित धर्मगुरु और असंख्य चापलूस लोग हिंदुस्थान में ही पड़े हुए थे। यह वस्तुस्थिति इस ग्रंथ के पिछले भागों में अनेक बार वर्णित हुई है। वैसे लोगों से चर्चा कर उनमें से अनेक को प्रखर क्रांतिकारी बनाने में हमें और स्वयं मुझे जो सफलता मिली, उसके व्यक्तिशः सारे उदाहरण यहाँ देना संभव नहीं है, पर कुछ उदाहरण इस ग्रंथ में पहले दिए गए हैं और आगे भी कालक्रम से प्रत्येक व्यक्ति से संबंधित भाग में मैं दूँगा। चर्चा के समय स्वाभिमानशून्य एवं ब्रिटिशपूजक व्यक्तियों की सारी आशंकाओं को भंग करनेवाली अपनी वह सारी उत्तरमाला मैंने महाराष्ट्र में 'अभिनव भारत' का कार्य करते समय

पहले ही निश्चित कर रखी थी, मानो वह विभिन्न रोगों के लिए किसी वैद्यराज द्वारा दी गई रामबाण औषधि हो। महाराष्ट्र में प्राप्त अनुभव के साथ जब मैं लंदन गया, तब वहाँ बसे ब्रिटिशपूजक बहुसंख्य विद्यार्थी वर्ग में भी देशभक्ति की ही नहीं, सशस्त्र क्रांति की भी चेतना संचारित करने की पहले-पहल असंभव-सी लगनेवाली अपेक्षा भी कुछ अंशों में संभव करके दिखाई जा सकेगी, ऐसा मुझे निश्चयपूर्वक लगा। इसलिए उस दिशा में मैंने बड़े प्रयास करने का निश्चय किया।

दस प्रतिशत अपवाद

मैंने ऊपर लिखा है कि जब मैं ब्रिटेन गया, तब वहाँ गए भारतीय विद्यार्थियों में अपवादस्वरूप दस प्रतिशत को छोड़ बहुसंख्यक विद्यार्थी अंग्रेजियत में सराबोर थे। उन्हीं बहुसंख्यक विद्यार्थियों के संबंध में इतनी देर तक मैंने विवेचन किया। परंतु क्रांति की दृष्टि से उन दस प्रतिशत का ही महत्त्व अधिक था। कारण यह था कि अल्पसंख्यक विद्यार्थी केवल अंग्रेजियत में सराबोर नहीं थे, अपितु उनके हृदय स्वाभिमान और स्वराष्ट्र-अभिमान के तेज से पहले से ही प्रकाशित थे। अधिकतर विद्यार्थी मध्यम वर्ग के थे।

हिंदुस्थान की उस समय की परिस्थिति में वरिष्ठ वर्ग तो अंग्रेज जैसा ही हो गया था। इसलिए क्रांति की दृष्टि से त्याज्य था, जबकि करोड़ों लोगों का बड़ा, परंतु निम्न वर्ग राजनीतिक दृष्टि से लूला-लँगड़ा होने के कारण त्याज्य था। शेष रहा समाज का मध्यम वर्ग। वही अकेला उस समय भारतीय राजनीति का मुख्य आधार था। स्वदेश के कल्याण के लिए उसीकी आत्मा छटपटा रही थी। उस पुण्य कार्य में स्वार्थ-त्याग करने की हिम्मतवाले अधिकतर देशभक्त इसी मध्यम वर्ग के होते थे। राज्य क्रांति की ज्वाला से विस्फोटित होनेवाले देशभक्तिपूर्ण हृदय इसी वर्ग में मिल सकते थे। सन् १८५७ के बाद की राजनीति में जो देशवीर, धर्मवीर एवं हुतात्मा बीच-बीच में दमक गए, उनमें से अधिकतर इसी वर्ग के थे। उसमें भी सन् १९०३ से १९०६ तक पुराने विचारों के ब्रिटिशनिष्ठ कांग्रेसियों के विरुद्ध जो राष्ट्रनिष्ठ लोग तिलक, पाल, अरविंद आदि नेताओं के नेतृत्व में प्रबल होकर स्वदेशी, बहिष्कार आदि ब्रिटिश-विरोधी आंदोलन बड़े प्रयासों से चला रहे थे, उस आंदोलन में यही मध्यम वर्ग आगे था। अर्थात् इन कार्यों में लगे जो मध्यमवर्गीय तरुण विलायत में आए थे, वे अधिकतर इस ब्रिटिश-विरोधी राष्ट्रनिष्ठ चैतन्य से किसी-न-किसी अनुपात में भरे हुए थे। तथापि उस राष्ट्रनिष्ठ, जिन्हें सामान्यतः 'गरम दलीय' कहा जाता था, विचार से वे राष्ट्रनिष्ठ थे। फिर भी क्रांतिकारी नहीं थे, सशस्त्र क्रांतिकारी तो थे ही नहीं। मध्यम वर्ग के संस्कारों के कारण उनका आचरण

संयत, मितव्ययी था; वे विलायत के विद्यालयों, घरों और बैठकों में यथासंभव मिल-जुलकर रहते हुए उनके गुण सीखने में तत्पर होते हुए भी गोरों की चापलूसी और जी-हुजूरी नहीं करते थे। अपनी स्वराष्ट्रीय अस्मिता के विरूद्ध किसी भी गोरे के मुँह से निकले अपशब्द के लिए उसे डपटने से वे चूकते नहीं थे।

अर्थात् जब मैं लंदन में गया, तब संपूर्ण स्वतंत्रता के ध्येय एवं सशस्त्र क्रांति के बीज बोने के लिए अधिकतम अनुकूल मनोभूमि मुझे तुरंत जहाँ प्राप्त होनी थी, ऐसे एकदम अल्पसंख्यक युवकों और 'होमरूल सोसायटी' का कुछ और प्रौढ़ वर्ग उस समय अस्तित्व में था।

सारांश

सन् १८५७ के स्वतंत्रता-संग्राम के बाद ब्रिटेन में भारतीय राजनीति का विकास किस तरह होता गया, इसकी समीक्षा मुझे जितनी आवश्यक लगी, उतनी वर्तमान अध्याय में यहाँ तक मैंने की है। इससे यह स्पष्ट होगा कि जब जुलाई १९०६ में मैं लंदन पहुँचा, तब वहाँ के भारतीय राजनीतिक क्षेत्र में मुख्यत: तीन राजनीतिक संस्थाएँ कार्यरत थीं। प्रथम दो अर्थात् दादाभाई के ब्रिटिशनिष्ठ पक्ष की 'लंदन इंडियन सोसायटी' एवं 'ब्रिटिश कांग्रेस कमेटी' तथा तीसरी गरम दल की 'इंडियन होमरूल सोसायटी'। इन तीनों संस्थाओं के ध्येय थे—सेल्फ गवर्नमेंट, ऑटोनॉमी, होमरूल आदि। उनके अलग-अलग नामों एवं आशय में काफी भिन्नता थी। फिर भी ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन स्वदेशी स्वायत्तता इसी चौखट में बैठनेवाली थी।

उनके साधनों के संबंध में देखें, तो ब्रिटिशनिष्ठ सहयोग से लेकर ब्रिटिश सत्ताद्रोही असहयोग तक काफी भिन्नता होने के बावजूद किसी संस्था ने शस्त्राचार को अपने कार्यक्रम में नहीं जोड़ा था। यह भी मैंने उनके नेताओं के लेख और भाषणों के अभिलेखों की साक्षी देकर दिखा दिया है।

फिर भी किसीने अति अहिंसा का नैतिक पाखंड नहीं रचाया था

उन दोनों पक्षों में से कोई मानता कि सशस्त्र विरोध हिंदुस्थान की परिस्थिति में अनिवार्य है, कोई कहता कि वह अनिष्ट है, तो पंडित श्यामजी आदि उस समय कहते थे कि वह अनावश्यक है। हिंदुस्थान को शस्त्राचार के अवलंबन 'औपनिवेशिक स्वायत्तता' (Colonial Self Govt.) या 'होमरूल' बिना हिंसा के ही प्राप्त हो सकता है, इतना ही उन सारे नि:शस्त्रवादी पक्षों का कहना था, पर उस समय के किसी भी ब्रिटिशनिष्ठ या ब्रिटिश-विद्रोही पक्ष या नेता ने यह बात नहीं कही थीं कि

शस्त्राचार, सशस्त्र प्रतिकार मूल रूप से पापमय है, अनैतिक है। हिंसात्मक होने के कारण किसी भी परिस्थिति में, संभव और अनिवार्य होते हुए भी ब्रिटिशों के विरुद्ध शस्त्र उठाना चूँकि नैतिक दृष्टि से एक बड़ा पाप है, अतः वह अधम कृत्य हम न तो कभी करेंगे और न सशस्त्र क्रांति से हिंदुस्थान को मिली स्वतंत्रता को हम स्वीकार करेंगे।

भ्रमपूर्ण बातें स्वयं कट्टर ब्रिटिशनिष्ठ होते हुए भी कांग्रेस के फीरोजशाह, वाच्छा आदि नेताओं में से भी किसीने ऐसा दंभपूर्ण हास्यास्पद और भ्रमपूर्ण उपदेश नहीं दिया था। इतना ही नहीं, अपितु दादाभाई, गोखले तथा सुरेंद्रनाथ से लेकर अंतिम फीरोजशाह, वाच्छा आदि तक कांग्रेस के हर नेता ने ब्रिटिश शासन द्वारा भारतीय लोगों को निःशस्त्र कर दुर्बल बनाने का तीव्र विरोध एक मत से कांग्रेस के तब तक के अधिकतर अधिवेशनों में किया था और यह शस्त्रबंदी ब्रिटिश शासन तुरंत रद्द करे, ऐसी माँग करते हुए प्रस्ताव भी पारित किए थे। अतिशय अहिंसा के अति पाखंड की बलि तब तक ब्रिटिशनिष्ठ कांग्रेस भी नहीं चढ़ी थी। फिर श्रीकृष्ण और शिवाजी के पूजक तथा मैजिनी, गैरीबाल्डी आदि यूरोपीय सशस्त्र क्रांतिकारियों का सम्मान करनेवाले तत्कालीन आयरिश आदि क्रांतिकारियों से हाथ मिलाने के इच्छुक तिलक, पाल, पंडित श्यामजी आदि ब्रिटिश सत्ता-विरोधी गरम दल के नेताओं की तो बात ही अलग थी।

पूरी तरह निःशस्त्र एवं असहाय परिस्थिति में सशस्त्र क्रांति उन्हें असंभव लगती थी। इसीलिए सारे गरम दलवाले निःशस्त्रवादी थे; इसलिए नहीं कि सशस्त्र क्रांति अधर्म है, आत्यंतिक अहिंसा ही धर्म है। इस आत्यंतिक अहिंसा के पागलपन में कांग्रेस घिसी थी, परंतु पंद्रह-बीस वर्ष बाद—गाँधी-विभ्रम के समय।

संपूर्ण स्वतंत्रतावादी सशस्त्र क्रांतिकारी पक्ष का अता-पता भी नहीं था

मैं जब लंदन पहुँचा, तब उपरोक्त तीन निःशस्त्रवादी एवं ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत स्वायत्ततावादी संस्थाओं के अतिरिक्त भारतीय राजनीति की अन्य ऐसी कोई संस्था या पक्ष वहाँ खुले रूप में अस्तित्व में नहीं था, यद्यपि ब्रिटिश सम्राट् को उखाड़कर, ब्रिटिश साम्राज्य का जुआ फेंककर हिंदुस्थान को पूर्ण स्वतंत्र कराने (Absolute Political Independence) का उद्देश्य लिये और सशस्त्र क्रांति अपरिहार्य होने के कारण ब्रिटिशों से वैसा सशस्त्र संघर्ष करने की प्रतिज्ञा करनेवाले क्रांतिकारियों का गुप्त संगठन हिंदुस्थान में सन् १९०६ में ही स्थापित हो गया था। महाराष्ट्र और बंगाल में ऐसी संस्थाएँ फूली-फली भी थीं। फिर भी ब्रिटेन, अमेरिका आदि किसी भी परराष्ट्र में रह रहे भारतीय निवासियों से उनका संपर्क उल्लेखनीय

रूप में हुआ था। सन् १९०० से १९०६ तक हिंदुस्थान की गुप्त संस्थाएँ आंतरिक प्रचार, संगठन आदि प्राथमिक कार्यों में ही लगी हुई थीं। इसलिए हिंदुस्थान में कोई भी प्रत्यक्ष एवं विस्फोटक क्रांतिकारी 'कृत्य' घटित नहीं हुआ था।

ऐसे कृत्यों के समाचार के साथ ही परदेस में रह रही भारतीय जनता में भी सशस्त्र क्रांतिशीलता का संचार होता था। गुप्त संस्थाओं के प्रचारक भी तब तक संगठित प्रचार के लिए हिंदुस्थान से विदेश नहीं गए थे। केवल ऐसे दो युवा, जिन्होंने हिंदुस्थान में ही गुप्त संस्था की सशस्त्र क्रांति की शपथ ली थी, मेरे लंदन पहुँचने के दस-बारह माह पूर्व ब्रिटेन और फ्रांस गए थे। मेरे वहाँ जाने के कई माह बाद जब उनसे मेरा परिचय हुआ, तब मुझे यह मालूम हुआ। तब तक क्रांतिकार्य हेतु उनका भी एक-दूसरे से संबंध नहीं हुआ था। क्रांति-संस्था का सूत्रपात तो बिलकुल नहीं हुआ था। वे दो व्यक्ति थे श्री पो. म. (आज के 'सेनापति') बापट और बंगाल के हेमचंद्र दास। उनमें से श्री बापट क्रांति-संस्था की स्थापना के लिए वहाँ नहीं गए थे। वैसा कोई उपक्रम भी उन्होंने तब तक नहीं किया था, परंतु हेमचंद्र दास बंगाल के 'मानिकतल्ला' संस्था की ओर से बम बनाने की विद्या सीखने के विशिष्ट उद्देश्य से ही फ्रांस गए थे। वहाँ उनसे परिचय हो जाने के बाद मैंने उन्हें 'अभिनव भारत' संस्था की शपथ दिलाई। तब से हम तीनों ही 'अभिनव भारत' संस्था में ही कार्य कर रहे थे। जल्दी ही उनका उल्लेख मुझे करना पड़ेगा, तब उन महान् क्रांतिकारियों का परिचय भी मैं करा दूँगा।

अर्थात् जब मैं लंदन पहुँचा, तब कोई भी क्रांतिकारी संस्था वहाँ कार्य नहीं कर रही थी। इतना ही नहीं, अपितु सन् १८५७ के क्रांतियुद्ध के बाद से मेरे लंदन जाने तक मध्यांतर के काल में संगठित क्रांतिकार्य उधर प्रारंभ नहीं किया गया था, ऐसा आज तक उपलब्ध सामग्री से स्पष्ट होता है। आगे नई सामग्री उपलब्ध हुई, तो अलग बात है।

अरविंद बाबू का उल्लेख

तथापि इस संबंध में जो फुटकर अपवाद के धुँधले समाचार का अन्यत्र उल्लेख प्राप्त हुआ है, वह भी यहाँ कह दूँ। पहली बात अरविंद बाबू की। अरविंद बाबू के श्रीमंत जनकों पर अंग्रेजी जीवन की ऐसी छाप पड़ी थी कि अपनी संतान का लालन-पालन शुरू से ही अंग्रेजी वातावरण में करने की उनकी उत्कट इच्छा थी। उस समय बंगाल आदि प्रांतों के अनेक अंग्रेजी शिक्षाप्राप्त लोगों की वैसी ही धारणा थी, जैसी मोतीलाल नेहरू की थी। उन्होंने भी कुछ समय के बाद अपने पुत्र (बाद में प्रसिद्ध हुए) जवाहरलाल को ऐसे ही एकदम बचपन से इंग्लैंड के प्राथमिक

पब्लिक स्कूल में भेजा था। अरविंद बाबू भी बालवय की प्राथमिक शिक्षा से लेकर इंग्लैंड की आई.सी.एस. परीक्षा तक वहीं पढ़े। उनके बड़े भाई भी वहीं थे। अरविंद बाबू आई.सी.एस. के अंतिम प्रमाण-पत्र के लिए आवश्यक अश्वारूढ़ होने की परीक्षा उत्तीर्ण नहीं कर सके। इस कारण उनके बड़े भाई और पिताजी बहुत क्रुद्ध हुए, परंतु अरविंद का मन जो एक बार उस परीक्षा से उचटा, तो उचटा ही रहा। उन्होंने तब इंग्लैंड में ही एक Lotus & sword—या Sword & Lotus ऐसे किसी नाम से एक क्रांतिकारी संस्था की स्थापना की थी। यूरोप में उस समय रह रहे सयाजीराव महाराज गायकवाड़ के कानों में अरविंद बाबू की विलक्षण बुद्धिमत्ता की सुकीर्ति पहुँची। उन्होंने अपनी रियासत के एक बड़े पद पर उनकी नियुक्ति का वचन दिया। अरविंद बाबू बड़ौदा रियासत की सेवा करने हिंदुस्थान चले आए। उनकी उस गुप्त संस्था का कुछ भी समाचार इससे अधिक उपलब्ध नहीं है, जन्मते ही उसकी मृत्यु हो गई।

चारुचंद्र दत्त का उल्लेख

उसी तरह मेरे इंग्लैंड जाने के दस-एक वर्ष पूर्व वैसा ही एक अल्पजीवी गुप्त क्रांतिकारी संस्था स्थापित करने का प्रयास एक युवक ने किया था—ऐसा अभी-अभी पुणे के अंग्रेजी पत्र 'मराठा' के १ अगस्त, १९५२ के अंक में छपे स्वर्गीय क्रांतिकारी चारुचंद्र दत्त, आई.सी.एस. की आत्मकथा के एक उद्धरण से ज्ञात होता है। स्वर्गीय दत्त लिखते हैं कि उनका जन्म सन् १८७६ में हुआ। सन् १८५७ के वीरों की बातें बचपन में सुनकर उनके भी मन में आता कि वे भी वैसा ही कार्य करें। उस समय विश्वास नामक एक साहसी आई.सी.एस. बंगाली सज्जन ब्राजील की सेना में घुसे और एक पराक्रमी सेनानी के रूप में विख्यात हुए। ब्राजील में जाकर वैसा ही सेनानी बनने की लालसा चारुचंद्र दत्त के मन में थी। सेनानी बन जाने के बाद उनका विचार हिंदुस्थान में आकर सशस्त्र क्रांति करने का था, पर छोटी आयु के होने के कारण उन्हें अपने पिता का कहना मानकर इंग्लैंड में आकर आई.सी.एस. की परीक्षा देनी पड़ी। वे सन् १८९६ में इंग्लैंड गए। वहाँ से गुप्त रूप से ब्राजील जाने का उनका विचार था।

तभी सेनानी विश्वास के दिवंगत होने का समाचार उन्हें मिला। तब उन्होंने इंग्लैंड में ही उच्च सैनिक विद्यालय में नामांकन करवाने का प्रयास किया। उन्हें पता चला कि सैंडर्स, वूलिच आदि किसी भी सैनिक विद्यालय में भारतीय छात्रों को प्रवेश नहीं दिया जाता। तब उन्होंने उस रास्ते को छोड़ ब्रिटिश शासकीय सेवा विभाग के आई.सी.एस. का ही अध्ययन जारी रखा। साथ में गुप्त रीति से सशस्त्र

क्रांति का प्रचार करने का प्रयास भी वे करते रहे। प्रसिद्ध आयरिश क्रांतिकारी माइकेल डेविड, इंग्लैंड के हिंडमैन आदि से वे मिले। उनसे उन्हें प्रोत्साहन भी मिला। जब वे दादाभाई नौरोजी से मिले, तब उन्होंने उन बदनाम नेताओं से मिलने से इनकार कर दिया। एक बार फिर वे किसी क्रांति योजना को लेकर दादाभाई से मिले, तब दादाभाई ने 'I have no time boys to waste. Go away.' स्पष्ट कहकर लौटा दिया।

इसके बाद की बीस-एक पंक्तियाँ तथा उनमें उल्लिखित नाम, घटना तथा दिनांक भी यथावत् नहीं हैं, क्योंकि वे मूल में ही असंगत हैं। उसमें तथ्य इतना ही दिखता है कि चापेकर द्वारा रैंड को मारने का समाचार जब लंदन में पहुँचता, तब उत्साहित होकर चारुचंद्र और उनके चार साथियों ने सन् १८९७ में एक साथ शपथ ली कि 'We shall never rest till we have freed India from the thralldom of Britain.' (हिंदुस्थान को ब्रिटिशों की दासता से मुक्त कराए बिना हम कभी भी शांत नहीं बैठेंगे)। वह उनकी पहली बैठक ही अंतिम रही। जो चार साथी उस दिन उन्हें मिले थे, वे जल्द ही गायब हो गए। (They were no longer with me.) चारुचंद्र भी परीक्षा में व्यस्त हो गए। आई.सी.एस. उत्तीर्ण होकर वे जल्दी ही सन् १९०० में ब्रिटिश सरकार के नौकर हो गए और आई.सी.एस. के उच्च पद पर काम करने लगे। फिर भी उन्होंने श्री अरविंद घोष के नेतृत्व में क्रांतिकारी गुप्त संगठन '**युगांतर**' के अनेक साहसी क्रांति-कार्यों में भाग लिया। उनके ये सारे कार्य हिंदुस्थान में ही घटित हुए। ब्रिटेन आदि परराष्ट्रीय भारतीय क्रांतिकारी आंदोलनों का वृत्त बताते हुए इस अध्याय से उसका कोई भी सरोकार नहीं है। इसीलिए प्रस्तुत अध्याय में उन बातों को देने का कोई कारण नहीं है। चूँकि उनकी क्रांति-संबंधी स्मृतियाँ सन् १९४७ के बाद लिखी गई। अत: उनमें कुछ भूलें हुई हैं। उन भूलों में से एक मेरे बारे में भी है, जिसका स्पष्टीकरण मैं यहीं कर देना चाहता हूँ। श्री चारुचंद्र दत्त सन् १९०८ में कर्णावती (अहमदाबाद) में जब ब्रिटिश सरकारी सेवा के अधिकारी थे, तब के क्रांतिकारी आंदोलनों के संबंध में वे लिखते हैं—

'Little dynamic groups (of revolutionary) were springing up all over the country, who made their own plans and carried them out. Their local leaders, men like Chidambaram of Tutikorin and Babu Khare of Nasik decided on their own lines of work. I remember that in 1908 an emissary of Babu Khare came to me in Ahmedabad and pressed me to supply them with a couple of revolvers from Calcutta. Vinayak Savarkar, a follower of Khare

had promised to send them weapons from Europe but had so far failed to do so. It may be mentioned here that Savarkar did send later on, some Browning automatic pistols, and that with one of them kanhere, a young Brahmin shot Jackson the district magistrate of Nasik.'

उनकी दी हुई उपरोक्त जानकारी कुछ अंशों में गलत है। चिदंबरम् पिल्लै किसी छोटे स्थानीय गुट के नहीं, विशाल गुप्त संस्था 'अभिनव भारत' के ही सदस्य थे। उन्होंने सन् १९०७ में सूरत में आयोजित कांग्रेस अधिवेशन के समय 'अभिनव भारत' की शपथ ली थी और तूतीकोरन में उसकी शाखा स्थापित की थी। दूसरी गलती यह कि नासिक के जिस नेता का नाम उन्होंने 'बाबू खरे' दिया है, वे वास्तव में बाबा साहब खरे हैं। तीसरी गलती यह कि स्व. बाबा साहब खरे का मैं अनुयायी (Follower) था, यह बात उलट-पुलट गई है। महान् क्रांतिकारी बाबा साहब खरे का मैं अनुयायी होता, तो वह बात मेरे लिए अभिमान की ही होती। परंतु वास्तविकता अलग थी। बाद में क्रांतिकारी हो गए उन महान् पुरुष के विचार भी उस काल में कितने ब्रिटिशनिष्ठ रहते थे, यह बात भी मालूम हो, इसलिए एक छोटी-सी स्मृति यहाँ दे रहा हूँ।

जब मैंने उनसे नासिक में पहली बार क्रांतिकारी पक्ष में आने का निवेदन किया था, तब बाबा साहब खरे मुझसे बड़े, कोई चालीस वर्ष के थे और मैं अठारह-उन्नीस वर्ष का था। उस समय की चर्चा में ब्रिटिश सम्राट के संबंध में मैंने स्वयं रचित पोवाड़ा का एक चरण 'घर में घुसा चोर उसे माना राजा' सुनाया। उसे सुनकर बाबा साहब खरे ने कहा, 'तात्या, आपका अब तक का भाषण मुझे पटता चला आ रहा था, पर अपने ब्रिटिश सम्राट् या सम्राज्ञी के संबंध में ऐसे खुले अराजनिष्ठ वचन मुझे सहन नहीं हो रहे हैं। अरे 'नाविष्णुः पृथ्वीपतिः' यह हम हिंदुओं का धर्मवचन है। सम्राट् को चोर कहना? ब्रिटिश अधिकारी, ये नौकरशाही (Beaurocracy) चोर हो सकती है, पर ब्रिटिश सम्राट् तो सम्राट् है, विष्णु का अवतार!'

उस समय उनके समान ऐसी भोली मान्यतावाले सैकड़ों लोग हमें मिलते थे। इसलिए 'नाविष्णुः पृथ्वीपतिः' शब्दों के वास्तविक अर्थ के संबंध में 'काल' के संचालक परांजपे की अध्यक्षता में मुझे एक व्याख्यान ही देना पड़ा था। यहाँ इतना कहना पर्याप्त है कि बाबा साहब खरे कट्टर ब्रिटिश साम्राज्यनिष्ठ थे। उनकी वह भोली समझ मेरे और विशेषतः मेरे बड़े भाई बाबाराव सावरकर के प्रयासों से पलट गई। एक-दो वर्ष बाद सन् १९०५ में उन्होंने नासिक में हुए 'अभिनव भारत' के पहले सम्मेलन में उसकी दीक्षा ली और वे संपूर्ण स्वातंत्र्यवादी एवं सशस्त्र क्रांतिकारी

हो गए। सन् १९०७ से १९१० तक वे प्रौढ़ नेता हो गए और क्रांतिकार्य के कारण पकड़े गए। वकालत करने की अनुमति सरकार ने रद्द कर दी। 'मोकासा' स्थित उनकी संपत्ति सरकार द्वारा राजहृत (जब्त) कर ली गई। बंदीकाल में उनपर हुए अत्याचारों से उनका स्वास्थ्य बिगड़ता ही चला गया। वे देश की स्वतंत्रता के लिए दुःखी होकर घिस-घिसकर मर गए। ये सारे हृदय-द्रावक एवं हृदय-क्षोभक समाचार मेरी इस ब्रिटेन-कथा से असंबद्ध होने के कारण यहाँ दिए नहीं जा सकते। तथापि श्री द. न. गोखले द्वारा लिखित क्रांतिवीर बाबाराव सावरकर के जीवन-चरित्र एवं डॉ. वि.म. भट द्वारा लिखित एवं सन् १९५० में प्रकाशित 'अभिनव भारत' ग्रंथ से जिज्ञासु उसे जान सकेंगे।

इस तरह जब मैं लंदन गया, तब भारतीय स्वतंत्रतावादी सशस्त्र क्रांतिकारी पक्ष के किसी भी प्रकट या गुप्त संगठन की बात तो जाने ही दें, ब्रिटेन जैसे राष्ट्र में छोटी-छोटी अनौपचारिक चर्चा-बैठकों का भी नाममात्र का भी अस्तित्व नहीं था।

□

प्रकरण–३

शत्रु-शिविर में

पिछले अध्याय में मैंने उसकी समालोचना की थी कि मैं जब लंदन पहुँचा, तब भारत के राजनीतिक क्षेत्र में अपने भारतीय पक्ष की क्या स्थिति थी। हमारे शत्रु-स्थान पर बैठे ब्रिटिशों से हमें अपनी मातृभूमि की मुक्ति के लिए जो संग्राम छेड़ना था, उस शत्रु-पक्ष की उस समय की परिस्थिति के संबंध में हमारे क्रांति पक्ष के, विशेषत: मेरे, क्या विचार थे—उसकी भी यथोचित रूपरेखा यहाँ मैं दे रहा हूँ।

उस समय भी ब्रिटिश जनता का यह पक्का विचार था कि ब्रिटिश साम्राज्य हिंदुस्थान पर बना ही रहना चाहिए। उसके कुछ मुख्य कारण थे।

प्रथम बात यह कि हिंदुस्थान से प्रतिवर्ष लूटकर ले जाई जानेवली अपार संपत्ति का प्रवाह ब्रिटिश सम्राट् के राजभवन से ब्रिटेन के गाँव-गाँव के झोंपड़े-झोंपड़े तक रिसता जा रहा था और उन झोंपड़ों के स्त्री-पुरुषों को उसकी पूरी जानकारी थी। हिंदुस्थान की ब्रिटिश सेना की स्थल सेना, नौसेना एवं नौकरशाही में जिन हजारों-हजार ब्रिटिश आदमियों की भरती होती थी, वह ब्रिटिश ग्रामीण ही होते थे। ब्रिटिश कारखानों में काम करनेवाले हजारों कर्मचारियों को, उन लखपति कारखानेदारों की तरह यह अच्छी तरह मालूम था कि हिंदुस्थान से आयात किए जानेवाले कपास, चमड़ा आदि कच्चा माल यदि ब्रिटिश सत्ता के बल पर सस्ते में लूटकर लाया नहीं जा सके और उनसे बनाया हुआ पक्का माल ब्रिटिश सत्ता के बल पर महँगा नहीं बेचा जा सके, तो उनके ब्रिटिश कारखाने बंद होने से बच नहीं सकते। हिंदुस्थान में आनेवाले वायसराय से लेकर छोटे लिपिक वर्ग तक ब्रिटिशों के उच्च एवं मध्यम वर्ग के हजारों लोगों के वेतन तथा पेंशन के कारण हिंदुस्थान के करोड़ों रुपए ब्रिटेन के उन-उन वर्गों की जेब में उड़ेले जाते थे, यह बात भी हर ब्रिटिश नागरिक जानता था। इस तरह ब्रिटेन के सारे वर्ग एवं स्तर की जनता का

विलासी जीवन हिंदुस्थान पर अवलंबित था और है, इसे ब्रिटेन का हर स्त्री-पुरुष अपने अनुभव से जानता था। इसलिए हिंदुस्थान केवल स्वार्थ के लिए ही ब्रिटिशों के शासनाधिकार में रहे, इस संबंध में समस्त ब्रिटिश जनता एकमत हो गई थी।

ब्रिटिश साम्राज्य का सर्वोच्च बिंदु

सामान्य रूप से ईसवी सन् की उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ब्रिटिश साम्राज्य ने अपने उत्कर्ष एवं प्रभुत्व का सर्वोच्च बिंदु पा लिया था। भूतकाल की बात छोड़ दें, तो विस्तार, विशालता, वैभव, व्यवस्था या दिग्विजयी बाहुबल में तत्कालीन कोई भी साम्राज्य ब्रिटिश साम्राज्य के पासंग भी नहीं था। 'हमारे साम्राज्य में सूर्य कभी अस्त नहीं हो सकता'—यह ब्रिटिशों की दर्पोक्ति अवश्य थी, फिर भी वह जिस स्पेनिश साम्राज्य की दर्पोक्ति की नकल थी, उससे शतगुना अधिक ब्रिटिश साम्राज्य के प्रकरण में वह यथार्थ ही थी। सीजर ने जिन राष्ट्रों के बारे में केवल सुना था और जिन राष्ट्रों एवं राज्यों के अस्तित्व का पता-ठिकाना भी उसे मालूम नहीं था, ऐसे पाताल खंड के अनेक राष्ट्रों एवं राज्यों का भी अधिराट् ब्रिटिश सम्राट् हो गया था। पृथ्वी के दोनों गोलार्द्धों में बहती अनेक स्वर्ण नदियाँ अपनी-अपनी संपत्ति के प्रवाह को अंत में ब्रिटिश राजकोष में खाली करती थीं। चारों महाद्वीपों की भूमि पर ब्रिटेन की बलशाली सेना अजेय सिद्ध हो गई थी। समुद्र की तो ब्रिटानिया स्वामिनी थी। Mistress of the sea. उसका यह अलंकरण छीन लेने की हिम्मत नेपोलियन में भी नहीं थी। 'Napoleon could do every thing but cross the English channels' (नेपोलियन कुछ भी कर सकता था, पर इंग्लिश चैनल के पार नहीं जा सकता था) ऐसा कहा जाता था।

अनेक उपजातियों और जातियों के विलीनीकरण और संगठन होते-होते जो राष्ट्र एकजान बन जाते हैं, उन्हें इस 'बनाव' के पूर्व जिस कसौटीवाले खंड (काल) से गुजरना पड़ता है, उस कालखंड में से ब्रिटिश राज पहले ही सही-सलामत निकल चुका था। कारण यह था कि उस राष्ट्र के इंग्लैंड, स्कॉटलैंड, वेल्स आदि जातीय या प्रदेशीय घटकों के अंतर्गत युद्ध पहले ही हो चुके थे। उनके धार्मिक पंथों के मध्य का कलह, राजसत्ता एवं सामंतसत्ता कलह, सामंतसत्ता एवं लोकसत्ता कलह आदि उनके आंतरिक कलह सुलगकर, भड़ककर, जलकर पहले ही बुझ गए थे। उस समय जर्मनी, रूस आदि यूरोप के अन्य राष्ट्रों में वे आंतरिक कलह सुलगते रहने और एशिया के प्राचीन महाराष्ट्र के जीर्ण-शीर्ण हो जाने के कारण उन सबमें ब्रिटेन ही कुल मिलाकर अधिक एकजीव, एकरस, लोकसम्मत घटनाबद्ध और अक्षरश: एकराट् की भाँति अधिक बलवान राष्ट्र हो गया था। आंतरिक कलह के

भय से विमुक्त हो जाने के कारण अपनी सारी राष्ट्रीय शक्ति और बुद्धि साम्राज्यीय दिग्विजय पर केंद्रित करना ब्रिटिशों के लिए संभव हो सका। इस कारण हिंदुस्थान जैसे महाराज्य को पदाक्रांत कर जब उन्होंने अपनी सत्ता स्थापित की, तब चारों ओर उनका दबदबा, बल और गौरव इतना बढ़ा कि सारे विश्व में ब्रिटेन को अगुवा राष्ट्र माना जाने लगा। अपनी इस प्रतिष्ठा का गर्व ब्रिटेन की स्वदेशाभिमानी जनता के रोम-रोम से झरता था। अपने इस मानबिंदु की प्रतिष्ठा में थोड़ी-सी भी कमी नहीं आए, इसलिए हिंदुस्थान के अपने साम्राज्य की सुरक्षा करने के लिए अपना धारदार नंगा खड्ग अजेय वीरश्री के साथ सदा हाथ में रखना अपने देशाभिमान का सर्वोच्च कर्तव्य है—ऐसी ब्रिटिश जनता की स्वयंस्फूर्त भावना हो गई थी।

उसमें भी केवल स्वार्थ के लिए या अपने देश की शान बढ़ाने या उसकी संपन्नता के लिए हिंदुस्थान जैसे दूसरे देश की स्वतंत्रता और संपत्ति का उपहास करने का आतंकवादी स्वदेशाभिमान सद्‌गुण न होकर एक अमानुषिक दुर्गुण है, ऐसी आशंका अन्य किसीको या स्वयं को भी न हो, इसलिए उन्होंने हिंदुस्थान पर कसे अपने फौलादी शिकंजे पर परोपकार का स्वर्णजल चढ़ाया था। उनकी स्कूली शिक्षा के पाठों से लेकर संसद् एवं सर्वोच्च मंत्रिमंडल के बयानों तक इसी एक बहाने का उद्‌घोष सारे ब्रिटेन में होता रहता था—'हिंदुस्थान पर ब्रिटिश साम्राज्य का शासन बनाए रखने का हमारा मुख्य उद्‌देश्य हिंदुस्थान का कल्याण करना ही है। दरिद्रता, अकाल, दुराचार आदि के कारण संत्रस्त करोड़ों-करोड़ लोगों में शांति, सुरक्षा एवं सुव्यवस्था स्थापित कर उनका उद्धार करने के लिए ही इस हिंदुस्थान पर राज करने का उत्तरदायित्व हमने स्वीकार किया है। ब्रिटिश शासन का जुआ हिंदुस्थान के कंधे पर हमने लाद रखा है, ऐसा कहने की बजाय यह कहना बेहतर होगा कि हिंदुस्थान का उद्धार करने के कर्तव्यों का जुआ ब्रिटेन अपने कंधे पर स्वेच्छा से ढो रहा है।' उस समय के ब्रिटिश समाचारपत्रों में छपनेवाला साहित्य और ब्रिटिशों द्वारा लिखे गए हिंदुस्थान के राजनीतिक साहित्य को देखने पर ब्रिटिश जनता उपर्युक्त उद्‌घोषों के बुरके के नीचे हिंदुस्थान पर लदे साम्राज्य का कैसे निरंतर समर्थन करती रही, उसका सबूत किसीको भी मिल सकता है।

उपर्युक्त उद्‌घोष का निरंतर प्रचार करते एवं यह सुनते-सुनते कि 'हम हिंदुस्थान पर उपकार करने के लिए ही उसपर राज कर रहे हैं,' यह भावना सारी ब्रिटिश जनता में इतनी बलवती हो गई थी कि अपने काले-कलूटे स्वार्थ को ढकने के लिए उसने सोने के बुरके से मुँह ढक लिया था, यह बात भी वह भूल गई। बीच-बीच में कोई हरबर्ट स्पेंसर या हिंडमैन जब ऐसा कहते कि वह भावना मूलतः एक ढोंग था, तो ब्रिटिश जनता उस अकेले-दुकेले को 'पगला' कहकर दुत्कारती थी या

'देशनिंदक' कहकर डाँटती थी।

हिंदुस्थान में ब्रिटिशों ने अपना पहला कदम जिस दिन रखा, उस दिन से ब्रिटेन का हर चर्च एवं हर मिशनरी ब्रिटिश जनता को उपदेश देकर उत्तेजित करता रहा कि हिंदुस्थान पर ब्रिटिशों का राज इसका केवल दैहिक-सांसारिक कल्याण करने के लिए नहीं, बल्कि यहाँ के पत्थरपूजक, पापी और पतित करोड़ों लोगों को बाइबिल का सत्य एवं दिव्य धर्म के पवित्र जल का अमृत पिलाकर उनकी आत्माओं को पारलौकिक सद्गति देने के लिए भी स्थापित हुआ है। तुम लोग हिंदुस्थान पर कसा अपना फौलादी शिकंजा थोड़ा-सा भी ढीला मत होने देना। जिन्होंने हिंदुस्थान में ब्रिटिश साम्राज्य की पक्की नींव डाली और नीति निर्धारित की, पहली पीढ़ी के उन ब्रिटिश प्रशासकों और धर्म-उपदेशकों के भाषणों तथा लेखों के उपर्युक्त आशय के अनगिनत उद्धरण बिखरे हुए हैं। नमूने के दो उद्धरण देखें—

ईस्ट इंडिया कंपनी के हाथों में जब सारे हिंदुस्थान का साम्राज्य आ गया, तब अपने राजनीतिक प्रशासन के मूलभूत सिद्धांतों का स्पष्टीकरण करते हुए उस कंपनी के डायरेक्टर, चेयरमैन मिस्टर मॉगल्स (Maugles) ने संसद् के हाउस ऑफ कॉमन्स में दिए अपने भाषण में कहा था—

'...Providence has entrusted the extensive empire of India to England in order that the banner of christ should wave triumphant from one end of India to the other. Every one must exert all his strength that there may be no idulatoriness on any account in continuing the grand work of making all India christian.' उपरोक्त प्रमुख शासनाधिकारी के साथ ही ब्रिटेन के एक विख्यात धर्माधिकारी रेवरेंड केनेडी (Kennedy) ने भी सन् १८५६ के पहले ही कहा था—

'...Whatever misfortunes come on us as long as our empire in India continued our chief work is the propogation of Christianity in the land, until Hindustan from cape-camorin to the Himalayas embrases the religion of Christ we must use all power and all the authority in our hands until India becomes a magnificiant nation, the bulwork of Christianity in the East.'

भावार्थ यह कि हिंदुस्थान के अपने साम्राज्य से अर्थात् शस्त्र-बल की शक्ति से संपूर्ण हिंदुस्थान को ईसाइस्तान बनाना चाहिए। पूरे हिंदुस्थान को पूर्व दिशा की ओर ईसाइयत का एक विशाल किला बनाया जाए। तभी हम वास्तव में ब्रिटिश

कहलाएँगे। राजनीतिक ठग ऐसी ही धार्मिक प्रतिज्ञाएँ करते रहते हैं। हमारे सारे भोले नेता जिनकी अति उदारता का सम्मान करते हैं, उन मैक्समूलर और मैकाले की छिपी इच्छा एवं महत्त्वाकांक्षा भी यही थी, यह सिद्ध करनेवाले अंतःस्थ पत्र सामने आ चुके हैं, पर उनका उल्लेख बाद में करेंगे। हिंदुओं पर छल-बल से भी ईसाइयत लादने का कितना महत्तम प्रयास ब्रिटिशों ने किया था, इस संबंध में अधिक जानकारी किसीको चाहिए तो वे हमारे '१८५७ का स्वातंत्र्य-समर' का अध्याय 'आग में तेल' अवश्य पढ़ें।

परंतु हिंदुस्थान पर लादी जानेवाली ईसाइयत बाइबिल की ईसाइयत नहीं थी, वह तो ब्रिटिश ईसाइयत थी। 'तेरे एक गाल पर कोई चाँटा मारे, तो तू दूसरा गाल आगे कर' पर आधारित सारे साम्राज्य को ही नष्ट करनेवाली वह रोनटा बाइबिल उनकी ईसाइयत का धर्मग्रंथ नहीं थी। उनकी बाइबिल तो कहती थी कि हमने हिंदुस्थान का साम्राज्य तलवार से जीता है और उसकी रक्षा भी तलवार से ही करेंगे। इसीलिए वे एक हाथ में बंदूक और दूसरे हाथ में बाइबिल लेकर निकले थे। ईसाइयत के प्रचार के लिए वे अपने ब्रिटिश साम्राज्य की शक्ति का आक्रामक उपयोग कर रहे थे और ईश्वर की प्रार्थना के समय इस कार्य के लिए अपनी दैवी सहायता की याचना भी करते थे।

याद रहे कि ठगों की भी एक देवी होती है और गलाकाटी, राहजनी के लिए निकलने के पूर्व वे ठग भी अपनी देवी से सहायता की याचना करते हैं। इसलिए जैसे ठगों को अपनी देवी प्रिय होती है, वैसे ही यह ब्रिटिश ईसाइयत हिंदुस्थान में उनके साम्राज्य को शक्ति देनेवाली होने के कारण उन्हें प्रिय थी। इसलिए वह हिंदुस्थान पर उन्हें लादनी थी। उन्हें मालूम था कि छल, बल, मन या धन से एक बार कोई हिंदू से ईसाई बना, तो अंत तक, बहुधा वंश-परंपरा से वह हिंदू जाति से पराया हो जाता है। उसका धार्मिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक जीवन भी ब्रिटिशों के समरस हो जाता है। स्वयं ही वह हिंदू का शत्रु एवं ब्रिटिशों का दास बन जाता है। उस समय तक ईसाई प्रचारकों ने लाखों हिंदुओं को धर्मांतरित कर दिया था। पीढ़ी-दर-पीढ़ी उन धर्मांतरित ईसाइयों की संख्या बढ़ती जा रही थी और हिंदू राष्ट्र का संख्या-बल उसी अनुपात में घटता जा रहा था। लाखों भारतीय ईसाइयों की वह जाति ब्रिटिश साम्राज्य को अपने धर्म का राज अर्थात् अपना ही राज तथा हिंदू राष्ट्र को परधर्मीय और परपक्षीय मानती थी। ब्रिटिश साम्राज्यनिष्ठ की जड़ें हिंदू राष्ट्र की अंतःप्रेरणा को ही फाड़कर गहरी जमती जा रही थीं। इस काम में ब्रिटिश ईसाइयत की सलीब उनकी तलवार जितनी ही प्रभावशाली थी!

अर्थात् वे ढोंग करते थे। उन्हें ईसाइयत के लिए ब्रिटिश साम्राज्य नहीं

चाहिए था, साम्राज्य के लिए ईसाइयत चाहिए थी।

साम्राज्य-लोभ से आतंकवादी हुए एवं आतंकवाद को ही ईश्वरीय धर्म-कर्तव्य बतानेवाली ब्रिटिश जनता की मन:स्थिति 'पहले से ही बंदर और फिर शराब पिया हुआ' जैसी हो गई थी। अत: जो हिंदुस्थानी साम्राज्य को अविचल रख सकें, ऐसे ही लोगों को ब्रिटिश जनता अपने प्रतिनिधिस्वरूप पार्लियामेंट में चुनकर भेजती थी। लंदन स्थित पार्लियामेंट और उसका मंत्रिमंडल हिंदुस्थान का साम्राज्य चलाने के लिए वायसराय से लेकर निम्नतर सैनिक तथा सेवक तक के प्रशासक वर्ग की नियुक्ति करता था। इस पूरे वर्ग को उस समय के रूढ़-से 'ऐंग्लो-इंडियन' शब्द को कुछ कोमल करके कहें, तो हिंदुस्थान का प्रत्यक्ष राज चलानेवाला यह ऐंग्लो-इंडियन वर्ग स्वयं में स्वतंत्र नहीं, बल्कि दास था। यदि उसकी कोई नीति या करतूत ब्रिटेन की जनता को अच्छी नहीं लगी हो, तो वह जनता वायसराय से लेकर उन सबकी या किसीकी भी तुरंत छुट्टी कर सकती थी; नए चुनाव कराकर अपने नापसंद मंत्रिमंडल को बदल सकती थी और अपनी पसंद का मंत्रिमंडल तथा साथ ही हिंदुस्थान के प्रशासक वर्ग को भी बदलकर नियुक्त कर सकती थी।

ब्रिटेन के सामान्य घरेलू प्रश्नों पर भी ब्रिटिश जनता मतपेटी की शक्ति से मंत्रिमंडलों की उठा-पटक करती रही है, परंतु हिंदुस्थान में ये ऐंग्लो-इंडियन प्रशासक—ब्रिटिश जनता का साम्राज्य चलाते हुए अपहरण, अन्याय, अत्याचार, लूटमार, यंत्रणा आदि हर क्षण कर रहे हैं। उसके लिए ब्रिटिश जनता ने इन ऐंग्लो-इंडियनों को एक बार भी झटका नहीं दिया। उलटे हिंदुस्थान पर जिसने कठोर तथा कड़ा शासन चलाया और ब्रिटिश साम्राज्य का दबदबा बढ़ाया, उन अत्याचारी प्रशासकों—क्लाइव, डलहौजी, केनिंग, कर्जन आदि को ब्रिटिश जनता ने एक राष्ट्रवीर की तरह सम्मानित किया। अर्थात् ब्रिटिश जनता और उसमें से ही हिंदुस्थान में भेजे जानेवाले ये ऐंग्लो-इंडियन प्रशासक मूल में 'दो' थे ही नहीं—वे सारे एक ही माला के मनके थे। 'अंतिम शस्त्र कुंठित होने और शरीर से रक्त की अंतिम बूँद गिरने तक हम हिंदुस्थान की अपनी साम्राज्य-सत्ता की डोर छोड़ेंगे नहीं'—ऐसी घोषणा लॉर्ड कर्जन ने सन् १९०४-५ में अनेक बार की थी और ब्रिटिश रानी के सन् १८५७ के घोषणा-पत्र, जिसे भारतीय कांग्रेस ने अपना 'मैग्नाकार्टा' कहकर पूजा, को 'एक असंभव और बेकार का कागज' (An impossible charter) कहकर रद्दी घोषित कर दिया था। वे शब्द यद्यपि लॉर्ड कर्जन के थे, फिर भी उन शब्दों द्वारा व्यक्त गर्जन सारी ब्रिटिश जनता का गर्जन था।

शत्रु-शिविर की यह यथार्थ परिस्थिति क्रांतिकारी गुट ने, और अपनी बात कहूँ तो मैंने, पूरी तरह समझ ली थी, क्योंकि परिस्थिति को भयावह और अपनी

शक्ति के बाहर मानकर उसे निडरता के साथ तौलने से टालना भीरुता है और उस परिस्थिति की भयानकता को नकारना तो आत्मघातक आत्मवंचना ही है—यह हमें पूरी तरह मालूम था।

फिर भी यह बात सच है कि कदाचित् उपर्युक्त डर के कारण ही उस समय के कांग्रेस पार्टी के नरमदलीय लोगों—देशभक्त दादाभाई से लेकर गोखले तक ने अपनी ऐसी आत्म-वंचना जाने-अनजाने कर ली थी। 'ब्रिटिश जनता' न्यायप्रिय, निरपराध एवं आतंकवाद की साम्राज्यशाही को अमान्य करनेवाली है, परंतु हिंदुस्थान में नियुक्त उसका प्रशासक 'ऐंग्लो-इंडियन' वर्ग ही हिंदुस्थान पर होनेवाले अन्याय तथा अत्याचारों के लिए उत्तरदायी है, ऐसी एक सुविधा भरी, परंतु पूर्ण रूप से भ्रांतिमूलक समझ इन नरम दलवालों ने बना ली थी। इसीलिए ब्रिटिश जनता की 'मनुहार' कर इस ऐंग्लो-इंडियन वर्ग को ठिकाने लगाने के लिए किए गए उनके सारे प्रयास दिशाभ्रम करनेवाले एवं विफल सिद्ध हुए, इसकी आवश्यक चर्चा इस ग्रंथ में पहले की जा चुकी है। इस विषय में यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि ऐसे कुछ मौलिक मतभेद के कारण ही नरम दल के नेताओं के प्रति अपने मन के आदर और उनकी देश-सेवा के संबंध में उमड़ती कृतज्ञता बार-बार प्रकट करते हुए भी उनकी राजनीतिक दिशाभ्रम की नीति एवं कार्यों की मुझे एवं क्रांतिकारी पक्ष को कड़ी आलोचना करनी पड़ती थी। फिर भी हम क्रांतिकारियों पर गोलियों की जैसी वर्षा वे करते थे, वैसा मैंने कभी नहीं किया।

जब मैं लंदन पहुँचा, तब वही बात फूलने-फलने लगी और पाल बाबू, पंडित श्यामजी आदि की 'असहयोगवादी' पार्टी और कार्यक्रम पर लागू थी। यद्यपि नरम दल की तरह उन्हें ब्रिटिश जनता निरपराध और न्यायप्रिय नहीं लगती थी। उसको मनाने की बजाय सक्रिय प्रतिकार का उन्हें चुभनेवाला कोई कार्यक्रम हाथ में लिया जाए, ऐसा लगता था। फिर भी वह सक्रिय कार्यक्रम केवल और पूर्णतः निःशस्त्र ही होना चाहिए, ऐसा उनका सिद्धांत था। कारण यह कि भारतीय लोग यदि ऐसा निःशस्त्र प्रतिकार ही करते रहे, तो ब्रिटिश जनता हमपर सशस्त्र आक्रमण करने का अवैध (Illegitimate) और असंवैधानिक (Unlawful) अत्याचार कभी नहीं करेगी, बल्कि उसे वैसी हिम्मत ही नहीं होगी—ऐसा उन्हें विश्वास था। इस संबंध में पं. श्यामजी के लिखित विचार इस अध्याय में हमने पहले ही उद्धृत किए हैं। अर्थात् अंतिम रूप से ब्रिटिश जनता की न्यायप्रियता एवं विधिनिष्ठा पर इन गरम दलवालों में 'गरम' कहलानेवाले गुट का भी किसी-न-किसी रीति से विश्वास था। वह भी नरम दल की ब्रिटिशनिष्ठा ही थी।

पर हम क्रांतिकारी अपने उस शत्रु के इतिहास एवं स्वभाव का विश्लेषण

करते-करते यह अच्छी तरह जान गए थे कि वह ब्रिटिश जनता अपने साम्राज्य के संबंध में अत्याचारमूलक शस्त्र-बल से हिंदुस्थान पर शासन करने से कभी झेंपनेवाली या कच्ची पड़नेवाली या असमर्थ नहीं है तथा उसका समूचा ब्रिटिश साम्राज्य अंतिम रूप से तलवार तथा संगीनों की शक्ति पर ही चल रहा है। इस कारण उस 'गरम' दल के स्वदेशी, बहिष्कार आदि अधिकतर नि:शस्त्र आंदोलन में सम्मिलित होकर हमारा यह सशस्त्र क्रांतिकारी पक्ष, जैसाकि इस ग्रंथ में पहले अनेक बार कहा गया है, उनसे सहयोग करता रहा। उनके अधिकतर नेताओं से हमारे गुरुजनों के व्यक्तिगत स्नेह-संबंध थे। फिर भी उनके Passive Resistance (नि:शस्त्र प्रतिकार) के कार्यक्रम पर राष्ट्र को दिशाभ्रम से बचाने के लिए हमें अपना कड़ा विरोध प्रकट करना पड़ता था।

क्रांतिकारी दल को ब्रिटिशों के शस्त्र-बल की जानकारी

भारतीय राजनीति में उस समय दो प्रमुख धाराएँ—नरम और गरम दल थीं, जिन्हें मान-मनौवल या ब्रिटिश शासन के नि:शस्त्र प्रतिकार के रूप में भी जाना जा सकता है। इन दोनों में शामिल लोग मूल रूप से यह मानते थे कि ब्रिटिश के शस्त्र-बल को टालकर ही हिंदुस्थान के लिए स्वायत्तता प्राप्त की जा सकती है। अत: ब्रिटिश शस्त्र-बल की यथार्थ जानकारी या चिंता ने उन्हें कभी सताया नहीं। दादाभाई से पाल बाबू तक उनके तत्कालीन कतिपय नेताओं के भाषणों और लेखों की मोटी-मोटी पुस्तकें उपलब्ध हैं। उनमें ब्रिटिशों ने ब्रिटिश शस्त्र-बलों का उपयोग हिंदुस्थान के विरुद्ध किया, ऐसी आशंका मनोरंजन के लिए भी कहीं प्रकट हुई नहीं दिखती और गुप्त राजनीति न करने की तो उनकी प्रतिज्ञा ही थी। इन दोनों धाराओं के कार्यक्रम में 'ब्रिटिश शस्त्र-बल' कोई घटक ही नहीं था।

इसके विपरीत क्रांतिकारियों की राजनीति का श्रीगणेश ही सशस्त्र प्रतिकार से आरंभ होता था। उनके पक्ष के हर एक अनुयायी को भले ही न हो, पर नेता को तो अपने पराक्रमी ब्रिटिश शत्रु की शक्ति को नापने-जोखने के सिवा दूसरी गति ही नहीं थी, क्योंकि उन्हें उसीका सामना करना था। ब्रिटिश शस्त्र-बल की जानकारी ही नहीं, अपितु उसकी चिंता भी क्रांतिकारियों को थी और वह रखनी भी पड़ती थी। भारत की संपूर्ण स्वतंत्रता के लिए ब्रिटिशों का सशस्त्र प्रतिकार करने की बात उठाते ही ब्रिटिशों की संगीनों, गोलियों एवं फाँसी की पहली बलि उन्हीं क्रांतिकारियों की होनी थी। उनके घर-दरवाजे पर ही हल चलाया जाना था। इसीलिए जो ब्रिटिश अपने शत्रु थे, उनकी शस्त्र-शक्ति को तुच्छ या नगण्य समझना उन्हें शोभनीय नहीं लगता था।

आश्चर्य यह कि आरामकुरसी पर पड़े-पड़े जो किया जा सके, वही योग्य और सभ्य राजनीति है, ऐसा समझनेवाले अधिकतर नरमदलीय लोग और गरम दल के कुछ लोग भी सशस्त्र क्रांतिकारियों पर टूट पड़ते और ब्रिटिश समाचारपत्रों से भी अधिक अनर्गल लेख लिखते। व्यक्तिगत बातचीत का अवसर आने पर युवकों को झाड़ पिलाते हुए वे हमेशा यही कहते कि 'सिरफिरे और मूर्ख हैं ये लड़के-लपाड़े! कर रहे हैं स्वतंत्रता की बातें और उसके लिए करेंगे अंग्रेजों का सशस्त्र प्रतिकार! अंग्रेजों की विशाल शस्त्र-शक्ति की कल्पना भी इन मूर्खों को है! अरे, तुम्हारी इन दस-बीस लाठियों और बहुत हुआ तो दो-चार रिवॉल्वरों से डरकर अंग्रेज हिंदुस्थान से भागेंगे क्या? अरे, उनके मन में आ जाए तो तोपें चलाकर सारा देश उड़ा देंगे। ये बकवास करके अपने जीवन का नाश अवश्य कर लेंगे। पता है—फाँसी पर लटकोगे? हमें नरम कहते हो, मूर्ख कहते हो, पर यदि अपनी इन बेहूदगियों से अंग्रेजी सार्जेंटों की कैंची में फँसे और उन्होंने दस-बीस कोड़े लगाकर चमड़ी उधेड़ दी, तो उन अंग्रेजों के तलुवे चाटने लग जाओगे!! यदि तुम्हें वास्तव में देश-सेवा करनी है, तो हमारे रास्ते चलो, अर्थात् नरमदलीय बनकर नरम मार्ग पर चलो। निःशस्त्र प्रतिकारवादी कहते, असहयोग के रास्ते चलो।' उस समय की ब्रिटिश नरमदलीय और कुछ गरमदलीय अंग्रेजी या देशी भाषा के समाचारपत्र सशस्त्र क्रांतिवालों के लिए 'सिरफिरे, अत्याचारी, आतंकवादी, खूनी' आदि अपशब्दों से भरे रहते थे। जो भी चाहे, उन्हें देख सकता है।

परंतु इन शिष्ट वर्गों के ऐसे उपदेशों या आलोचना से अंग्रेजों की शक्ति के संबंध में क्रांतिकारी पूरे अज्ञानी होते हैं, यह सिद्ध न होकर उलटे यह सिद्ध होता था कि सशस्त्र क्रांतिकारियों के कार्यक्रम के संबंध में ये शिष्टजन अवश्य पूरी तरह अज्ञानी हैं। 'दस-बीस लाठियों या दो-चार रिवॉल्वरों से डरकर अंग्रेज भाग जाएँगे'—ऐसा क्रांतिकारी कहते हैं, यह इन शिष्टों को किसने बताया? और सबसे आश्चर्य की बात यह है कि यदि तोपें चलाकर देश उड़ा देने की क्षमता अंग्रेजों में है—यह शिष्टों को ज्ञात था—तो इन नरम या गरम दलीय लोगों की अखबारी चिंदियों से, कांग्रेस के शाब्दिक प्रस्तावों से या हम आपसे रूठे हैं, नहीं बोलते, असहयोग की ऐसी बचकानी निःशस्त्र धमकियों से वही अंग्रेज, अपने सारे शस्त्रागार बगल में दबाकर देश छोड़कर भाग जाएगा, ऐसी विचित्र बात राजनीति के उन धुरंधरों को कैसे विश्वसनीय लगती थी! इस विश्वास से यह सिद्ध होता है कि ब्रिटिश जाति के स्वभाव, राजनीतिक आकांक्षा एवं शक्तिशाली शस्त्रागार की वास्तविक जानकारी यदि किसी को नहीं हुई, तो वह इन नरम-गरम अर्थात् निःशस्त्र प्रतिकारवालों को ही।

अपनी सीमा तक तो मैं कह सकता हूँ कि ब्रिटिशों के शस्त्र-बल को मैंने कभी भी तुच्छ नहीं माना। एकदम प्रारंभ से जितने भी युवा या प्रौढ़ मेरे निकट आए और जिन्हें मैंने शपथबद्ध किया, उन सब छोटे-बड़े क्रांतिकारियों को किस-किस तरह का त्याग करना पड़ेगा, यह स्पष्ट रूप से मैं बार-बार बताता रहा था। घर, सुख, संपत्ति, नाम तथा इससे भी अधिक प्रीति और प्राण का भी त्याग करना पड़ सकता है, यह बात 'अभिनव भारत' ('मित्र मेला' के दिनों से ही) की प्रति सप्ताह आयोजित होनेवाली बैठकों में (अनेक देशों में घटित राज्य क्रांति के इतिहास के आधार पर) मैं अपने व्याख्यानों में बार-बार कहता था। इंग्लैंड जाने के पहले महाराष्ट्र की शताधिक गुप्त बैठकों में दिए गए मेरे उपदेशों का निहितार्थ यही था कि अत्याचारी ही क्यों न हो, पर जिन्हें साम्राज्य स्थापित करना है, ऐसी किसी दिग्विजयी जाति में जो विशेष गुण या अवगुण होने चाहिए, वे सब आज की ब्रिटिश जाति में पूर्ण रूप से हैं। वे शूर भी हैं और क्रूर भी। जैसे क्रूर हैं, वैसे ही कुटिल भी हैं। हिंदुस्थान का साम्राज्य उन्होंने यूँ ही नहीं जीता और चलाया। मैं बार-बार कहता हूँ कि बाहुबल ही उनका बाइबिल है, पर बाहुबल के साथ ही बुद्धिबल में भी उनकी आज कोई बराबरी नहीं। इसीलिए देखिए कि इस विशाल देश पर उनका साम्राज्य घड़ी के काँटे-सा कैसे नियमित चल रहा है। यह साम्राज्य चलाने के लिए उनका जो प्रशिक्षित (Trained) वर्ग हिंदुस्थान में आता है, उन ऐंग्लो-इंडियनों ने हिंदुस्थान के भूगोल, भाषा, जाति और इतिहास की जानकारी आदमी-आदमी गिनकर एकत्र की है, उसका अध्ययन किया है। गवर्नर जनरल के मंत्रिमंडल से लेकर गाँव-गाँव की चौपाल तक उनका संपूर्ण राज्य-प्रशासन घंटे-घंटे और मिनट-मिनट का हिसाब रखते हुए 'अखंड सावधान' रहकर चलाया जा रहा है। 'साहब' नाम की धौंस उन्होंने प्रथमत: बाहुबल से हमपर ऐसी बैठाई कि अब उनका प्रशिक्षित ऐंग्लो-इंडियन कार्यकारी वर्ग केवल बुद्धिबल से, भारतीयों के बल पर ही अपना ब्रिटिश साम्राज्य किसी स्वचालित यंत्र-सा चला रहा है।

यही कारण है कि 'ब्रिटिश जनता' इसकी कोई पूछताछ नहीं करती कि हिंदुस्थान का शासन कैसे चल रहा है। उसका प्रशिक्षित ऐंग्लो-इंडियन वर्ग हिंदुस्थान में उसका साम्राज्य शक्ति और बुद्धि से एक मशीन की तरह चला रहा है या नहीं, इतना ही वह कभी-कभी देख लेती है। राज्य प्रशासन के चलते फिर किसीपर हिंदुस्थान में अन्याय होता है या नहीं, हिंदुस्थान की जनता दो कौर खाती है या अकाल में तड़पती हुई मर रही है, प्रशासन लोक-रक्षक है या लोक-भक्षक, इसकी रत्ती भर भी चिंता ब्रिटिश जनता को नहीं होती। इसी कारण ब्रिटेन में किसी क्रिकेट मैच या खदान में हुई साधारण दुर्घटना के कारण जनता में जितनी खलबली मचती

है, उतनी कांग्रेस के विशाल अधिवेशनों या हिंदुस्थान में आनेवाले भूचाल या दुःसह अकाल से भी नहीं मचती। ब्रिटिश जनता उन सबकी चिंता नहीं करती। यदि ब्रिटिश जनता को हिंदुस्थान के संबंध में कोई चिंता सताती है, तो वह है उसके शस्त्र-बल को प्रति-आह्वान देनेवाली सशस्त्र क्रांति की। वह सशस्त्र क्रांति सन् १८५७ के स्वतंत्रता-संग्राम की तरह प्रचंड हो या फड़के, चापेकर आदि स्थानीय या फिर प्राथमिक क्रांतिकारियों की ही क्यों न हो।

मेरे संबंध में भेजा गया पहला गुप्त प्रतिवेदन

मेरे जैसे क्रांतिकारियों पर ब्रिटिश शासन के अधिकारी कैसी गृध्र-दृष्टि गड़ाए रहते थे, इसके प्रत्यक्ष उदाहरण के रूप में अपने ही अनुभव का वर्णन मैं यहाँ करना चाहता हूँ—

जुलाई १९०६ में मैं लंदन पहुँचा। तब मुझे यह बात मालूम नहीं थी कि मेरे पीछे-पीछे बंबई सरकार के गुप्तचर विभाग ने महाराष्ट्र में तब तक के मेरे राजनीतिक आंदोलनों का गुप्त प्रतिवेदन लंदन स्थित ब्रिटिश गुप्तचर विभाग के पास भेजकर मुझपर नजर रखने की बात कही है। सन् १९१० में जब मुझे पकड़कर लंदन में मुझपर कार्रवाई की गई, तब कहीं जाकर यह बात खुली। अर्थात् तब मेरी आयु बीस-बाईस वर्ष की ही थी, जब ब्रिटिशों के गुप्तचर विभाग ने मेरे नाम का खाता खोलकर मेरा झूठा-सच्चा इतिहास गुप्त रीति से लिख रखने का ऐतिहासिक कार्य अपने खर्चे से शुरू किया था और वह कार्य सन् १९४७ में ब्रिटिश शासन का अंत होने तक ब्रिटेन तथा हिंदुस्थान के कई स्थानों के गुप्तचर विभाग ने निरंतर जारी रखा था। स्वयं मेरे बचपन की उठा-पटक, जिन्हें मैं भूल गया था, को भी बड़ी लगन से, किसी भी तरह अखंड चालीस वर्ष तक लिखते रहने की ब्रिटिशों की यह इतिहासप्रियता आभार-योग्य अवश्य है, क्योंकि इन गुप्त प्रतिवेदनों में से जो कुछ प्रतिवृत्त खुले, उनका बड़ा उपयोग यह आत्म-चरित्र लिखते समय हो रहा है।

मांटगुमरी आई.सी.एस. प्रतिवेदन

इन छोटे-बड़े सरकारी गुप्तचर प्रतिवेदनों में से जो पहला प्रतिवेदन आज उपलब्ध है, उसे सन् १९०६ में नासिक के प्रथम श्रेणी (मजिस्ट्रेट) मांटगुमरी आई.सी.एस. ने लिखा था। उस समय की मेरी राजनीतिक हलचलों के संबंध में उनके अधीनस्थ छोटे-बड़े सरकारी अधिकारियों ने नासिक, पुणे, बंबई आदि से जो फुटकर गुप्त समाचार भेजे थे, उसका सारांश एकत्र कर एवं उसपर अपनी टिप्पणी लिखकर मांटगुमरी साहब द्वारा मेरे संबंध में अंग्रेजी भाषा में लिखा गया अधिकृत

प्रतिवेदन बंबई सरकार के वरिष्ठ गुप्तचर विभाग के पास भेजा गया था। यह अधिकृत प्रतिवेदन मार्च से मई १९०६ की अवधि में किसी समय लिखा गया होगा, यह इस कथन से पुष्ट होता है कि सावरकर वर्तमान में बंबई में एल.एल.बी. का अध्ययन कर रहे हैं—ऐसा उल्लेख उस प्रतिवेदन में है। इस अवधि में—अर्थात् मई १९०६ के माह-दो माह बाद—ही मैं लंदन चला गया था। इसका अर्थ यह हुआ कि लंदन स्थित गुप्तचर विभाग को उधर मेरे जाने के तुरंत बाद ही मेरा प्रथम परिचय 'संदिग्ध क्रांतिकारी' के रूप में बंबई प्रांत के सरकारी गुप्तचर विभाग ने करा दिया, वह इसी अधिकृत प्रतिवेदन के आधार पर होना चाहिए। इस तरह जब मैं लंदन गया, तब ब्रिटिश सरकार के अधिकारियों का मेरे संबंध में क्या मत था, इसके एक असल साक्ष्य के रूप में उस अंग्रेजी प्रतिवेदन के उपयुक्त भाग का अनुवाद मैं यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ। मांटगुमरी साहब अपने गुप्त प्रतिवेदन में लिखते हैं—

'वी.डी. सावरकर नासिक के रहनेवाले हैं और उन्हें बचपन से ही चर्चा करने में रुचि है। वे अभी लगभग बाईस वर्ष के होंगे या न होंगे, परंतु अभी ही वे एक वाक्पटु के रूप में ख्यात हो गए हैं (He has already grown into an accomplished orator of an enviable rank)। श्री शि.म. परांजपे के विचारों का पूर्ण प्रभाव सावरकर पर है। इसलिए अल्प आयु में ही सावरकर को महत्त्व प्राप्त हो गया है। परंतु चमकवाली हर वस्तु टिकाऊ नहीं होती—इस कहावत का उनके संबंध में अनुभव आ सकता है, ऐसा मेरा अनुमान है। वर्तमान में वे बंबई में एल.एल.बी. का अध्ययन कर रहे हैं, परंतु उन्होंने बी.ए. की उपाधि पुणे के फर्ग्युसन महाविद्यालय से प्राप्त की। इस महाविद्यालय के विद्यार्थी वर्तमान परिस्थिति से असंतुष्ट रहते हैं—ऐसा हमेशा का अनुभव है।

'महाविद्यालय में सावरकर का अपना एक गुट था और उससे उनकी प्रवृत्ति समझ में आती है।

'सावरकर बहुत गति से बात करते हैं। वे साहसी हैं। बात करने का उनका ढंग बहुत प्रभावशाली है और बोलने के आवेश में श्रोताओं की तालियों के कारण वे इतने उत्तेजित हो जाते हैं कि यह भी भूल जाते हैं कि चारों ओर से गुप्तचरों ने उन्हें घेर रखा है।

'उनके साथ के छात्रों की वैसी श्रद्धा उनपर नहीं दिखती, क्योंकि उनके बोलने और करने में बहुत अंतर होता है। वे स्वयं स्वधर्माभिमान के विचारों का प्रचार करते हैं, पर स्वयं बाल रखते हैं (तब पुरुषों के बाल घुटे होते थे), शर्ट पहनते हैं और छोटा कोट भी पहनते हैं।

'महाविद्यालय में पहले उन्होंने स्वदेशी आंदोलन चलाया और दशहरे के

दिन विदेशी कपड़ों की होली जलाने में अगुवाई की। इस उद्धत आचरण के लिए महाविद्यालय-प्रमुख ने उन्हें दंडित किया। उस अर्थदंड को भरने के लिए किया गया चंदा इतना अधिक इकट्ठा हुआ कि अर्थदंड चुकाने के बाद भी कुछ धन शेष रह गया। इस शेष धन को 'काले' नामक सज्जन की 'पैसा फंड' संस्था को दे दिया गया।

'उस समय से लोग सावरकर को एक हुतात्मा मानने लगे पर महाविद्यालय के प्राचार्य रैंगलर श्री आर.पी. परांजपे उन्हें मूर्ख कहते हैं।

'पुणे में रैंगलर परांजपे का कोई विशेष सम्मान नहीं है, केवल कुछ सुधारक लोग उनको महत्त्व देते हैं।

'श्री शि.म. परांजपे ने सावरकर के विचारों को महत्त्व दिया और अपने 'काल' समाचारपत्र में उनके पक्ष में लिखकर लोगों की सहानुभूति उन्हें प्राप्त करा दी। उस समय से सावरकर का सार्वजनिक जीवन प्रारंभ हुआ, ऐसा कहा जाता है। वह किस विचार का प्रचार कर रहा है, इसकी समझ उसे नहीं है। मेरे विचार से सावरकर अभी बच्चा है और वह अपने जीवन को नष्ट कर रहा है। इतना ही नहीं, कोमल वय के लड़कों के मन में आड़े-टेढ़े विचार भरकर वह उनका भी जीवन नष्ट कर रहा है। नासिक के सन्मित्र समाज से सावरकर का संबंध काफी दिखता है। इस समाज ने स्वदेशी आंदोलन का प्रचार करने के लिए बहुत दौरे किए हैं।

'२३ फरवरी, १९०६ को सावरकर ने पुणे में एक सभा आयोजित की थी। उसके अध्यक्ष भी वही थे। पुणे के कुछ विद्यार्थी स्वामी अगम्य गुरु से मिलने गए थे। इस महात्मा की इच्छा थी कि जबलपुर की ही तरह पुणे में भी एक संस्था की स्थापना यहाँ के विद्यार्थी करें और उसकी ओर से हिंदुस्थान की स्वतंत्रता के लिए आंदोलन करें। (इस अगम्य गुरु ने एक इंडो-यूरोपियन आंदोलन प्रारंभ किया था।) विद्यार्थियों ने ऐसी संस्था की स्थापना का प्रस्ताव मान लिया और उनसे पूछा कि हम क्या करें। उन्होंने उन्हें पुणे में नौ व्यक्तियों की एक प्रतिनिधि समिति बनाने के लिए कहा। ये नौ लोग फिर सारी बातें दूसरों को कहें, यह योजना बनी।

'इन विद्यार्थियों ने तार भेजकर सावरकर को पुणे में बुलाया। वे आए और उन्होंने अगम्य गुरु से भेंट की। शाम को सभा की अध्यक्षता भी उन्होंने ही की। उन्होंने मराठी में जो भाषण दिया, उसका सारांश इस प्रकार है—

'मित्रो, अपने देश की स्थिति बहुत बुरी हो गई है। इस कारण हमपर बहुत बड़ा उत्तरदायित्व आ गया है। अब हमें एक हो जाना चाहिए और एक संस्था बनानी चाहिए। हममें से हर एक को उपदेश देना गुरुजी के लिए संभव नहीं है। इसलिए उनके आदेश से मैं यहाँ आया हूँ।

'हम अब नौ आदमियों की एक समिति बनाएँ। इस समिति को क्या और कैसे करना है—यह गुरुजी बताएँगे। इसलिए इस कार्य हेतु आपमें से जो समर्थ हैं, उनकी एक समिति बनाएँ।

'इसके बाद पांगारकर नामक विद्यार्थी ने एक उबाऊ निबंध पढ़ा। उसमें ऐसी संस्था का महत्त्व बताया गया था। सभा के अंत में सावरकर का आवेश भरा भाषण हुआ। कोई सेनापति रण में शत्रु-सेना पर टूट पड़ने के लिए जैसा भाषण करता है, वैसा ही सावरकर बोल रहे थे। वे पैंतीस मिनट तक बोले।

'उन्होंने कहा, मित्रो, हम अब पुरानी पीढ़ी पर अवलंबित न रहें—वह व्यर्थ है।

'देशबंधुओ, आज अपने देश की स्थिति कितनी विपन्न हो गई है, यह मैंने आपसे कहा है। यह स्थिति सहन करना अब संभव नहीं है। यह परिस्थिति अब पलटनी ही चाहिए। पुरानी पीढ़ी के लोगों का तेज अब नष्ट हो गया है। वे बूढ़े हो गए हैं। वे अब कुछ कर सकेंगे, ऐसा नहीं दिखता।

'उन्हें दुनिया का अनुभव है। वे तरुण पीढ़ी पर अपने विचारों के संस्कार डालें, वही काफी होगा। मैजिनी बूढ़ा था और उसके अनुयायी तरुण थे। उन्होंने इन अनुयायियों को उपदेश किया और क्रांति की बात कही। तरुणों ने वैसा ही किया।

'बूढ़े आदमी अनुभवी होते हैं। फिर भी स्वातंत्र्य-लक्ष्मी को नए खिलते कमल के फूलों की माला चाहिए होती है। उसे सूखे फूल अप्रिय लगते हैं। उन सूखे फूलों के निर्माल्य को कुएँ में डालना होता है। इसलिए हमें एक होकर भारत की स्वातंत्र्य-लक्ष्मी को नई पीढ़ी के सिर रूपी कमल अर्पित करने चाहिए।

'रामदास कहते हैं—बहुत लोक मेळवावे! एका विचारे भारावे। मिळोनिया करून घसरावे। म्लेंच्छावरी (मुझे अंतिम शब्द स्मरण नहीं आ रहा है)।

'मुझे सामने खुफिया पुलिसवाले दिख रहे हैं। खुशी यह है कि वे आए हैं। यदि वे हमें हमारे अंगीकृत कार्य में सहयोग करेंगे, तो देश का भाग्य जाग जाएगा। खुफिया पुलिस भी हमारे साथ है, यह जानकर सबको खुशी होगी।

'हम रामदास के उपदेशों को याद रखें और उनके आदेशों का पालन करें। अपना सबकुछ हमने खोया है। कष्ट ही अपना मार्ग है। जो गया, उसके लिए हमें रोना नहीं चाहिए, पर जो गया, उसे प्राप्त करने के लिए हमें रक्त-स्नान करना होगा। स्त्रियाँ रोती हैं, पुरुष लड़ते हैं। हमने क्या खोया है, यह ध्यान में लाएँ। हमने अपना धर्म खोया है। उसे हमें फिर से पाना है।''

खुफिया पुलिस के अधिकतर प्रतिवेदनों में गलत जानकारी, विसंगति और तथ्यों का सच-झूठ तथा अपने अभिप्राय की खिचड़ी होती है। उपर्युक्त प्रतिवेदन में

भी ऐसा ही है, जिसपर हँसी आती है। जैसे उसमें कहा गया है कि महाविद्यालय में सावरकर का अपना एक स्वतंत्र गुट रहता था, परंतु तुरंत ही कहा गया है कि उनकी बराबरी के विद्यार्थियों की श्रद्धा उनपर नहीं है। वे जैसा कहते हैं, वैसा करते नहीं हैं, क्योंकि वे कहते हैं कि स्वधर्म का अभिमान रखें, पर वे स्वयं सिर पर बाल रखते हैं, छोटा कोट पहनते हैं, शर्ट भी पहनते हैं।

यदि मांटगुमरी साहब को यह कहना है कि मेरे बराबर वय के सारे महाराष्ट्र के विद्यार्थियों की श्रद्धा या भक्ति मुझपर नहीं थी, तो वह बात विश्व के किसी भी नेता या व्यक्ति के लिए कही जा सकती है। नेता यदि सुधारक है तो 'सनातनी' वर्ग की श्रद्धा उसपर नहीं रहेगी। वैसी ही बात अन्य प्रश्नों की है, मगर बराबरी के किसी भी विद्यार्थी गुट की श्रद्धा मुझपर नहीं है, ऐसा मांटगुमरी साहब का कहना उनके अपने पूर्व कथन से झूठा पड़ जाता है, क्योंकि वही कहते हैं कि सावरकर का एक स्वतंत्र गुट महाविद्यालय में था। उस गुट की जो श्रद्धा और भक्ति उसपर (मुझपर) थी, उस कारण अन्य विद्यार्थी वर्ग और प्राध्यापक वर्ग भी उस गुट को 'सावरकर कैंप' ही कहता और जानता था। फिर स्वधर्माभिमानी होना, पर छोटा कोट पहनना आदि मांटगुमरी की बातें या उनके किसी भारतीय गुप्तचर द्वारा सुझाई गई व्यवस्था भी मनोरंजक है।

इसीके आगे उस प्रतिवेदन में यह कहा गया है कि अगम्य गुरु के कहने पर पुणे के सामान्य विद्यार्थी वर्ग ने यह जानने के लिए कि अपना प्रतिनिधि किसे नियुक्त किया जाए, एक बैठक का आयोजन किया। तब उसमें अनेक युवा मेरे गुट के न होते हुए भी और उसमें फर्ग्युसन कॉलेज के बाहर के विद्यालयों तथा महाविद्यालयों के अनेक विद्यार्थी होते हुए भी उन्होंने मुझे पुणे के विद्यार्थियों का नेता चुना। उन लोगों ने बंबई से मुझे तार भेजकर तत्काल बुला लिया और पुणे के विद्यार्थी वर्ग की सार्वजनिक सभा का अध्यक्ष भी मुझे बनाया। ये सब बातें मांटगुमरी साहब उसी प्रतिवेदन में कहते हैं। तो क्या इसे मेरी बराबरी के विद्यार्थियों की मुझपर श्रद्धा या भक्ति नहीं होने का सबूत माना जाए? सारांश यह कि ऐसे विसंगत तथ्य मांटगुमरी जैसे आई.सी.एस. अधिकारी ने प्रकट किए हैं। ब्रिटिश सरकार की दृष्टि में महत्त्वपूर्ण उक्त गुप्त प्रतिवेदन में इतनी अक्षम्य ढिलाई देखने को मिलती है। मांटगुमरी मानो एकदम गुप्त रूप से अपने प्रतिवेदन के माध्यम से वरिष्ठ अधिकारियों के कान में कह रहे हैं कि 'नासिक के सन्मित्र समाज से सावरकर का बहुत जुड़ाव दिखता है। इस सन्मित्र समाज ने स्वदेशी के प्रचार के लिए बहुत दौरे किए।'

अब यह तथ्य बच्चों को भी मालूम है कि सन्मित्र समाज नासिक में नहीं था, वह तो पुणे की संस्था थी। दूसरी बात यह भी कि सन्मित्र समाज ने स्वदेशी के

प्रचार दौरे कभी किए ही नहीं। उनके कार्य की सीमा थी प्रतिवर्ष 'गणेशोत्सव' करना और एक जोरदार मेले[१] का आयोजन करना। उस मेले के गीत सदा चेतना जगानेवाले एवं बहुत लोकप्रिय होते थे, पर 'सन्मित्र समाज' इससे अधिक कुछ करनेवाली अर्थात् राजनीतिक खटपट करनेवाली संस्था नहीं थी। क्रांतिकारियों की तो वह संस्था थी ही नहीं। अर्थात् उससे मेरा संपर्क बिलकुल नहीं था। सच बात यह है कि नासिक के जिस सुप्रसिद्ध 'मित्र मेला' संस्था से मेरा संबंध था और जो उसके गुप्त तथा प्रकट राजनीतिक प्रचार के अनेक कार्यक्रमों के एक उपांग के रूप में स्वदेशी के प्रचार के लिए खलबली मचाते दौरे आयोजित करती थी, महाराष्ट्र में प्रसिद्ध 'गणेशोत्सव' मेले लगाती थी, उस संस्था के 'मित्र मेला' नाम एवं पुणे के 'सन्मित्र समाज' नाम का मजिस्ट्रेट साहब के सिर में गड़बड़ घोटाला हो गया। उन्होंने 'नासिक सन्मित्र समाज' नामक एक नया सामासिक शब्द बनाया। उससे भी अधिक आश्चर्य की बात यह है कि नासिक में हमारी स्थापित की हुई 'मित्र मेला' नामक गुप्त संस्था के नाम का उल्लेख सन् १९०६ के उस प्राधिकृत प्रतिवेदन में नहीं है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मेरे विलायत जाने तक 'मित्र मेला' या 'अभिनव भारत'—इन दोनों क्रांतिकारी गुप्त संस्थाओं के संबंध में बंबई सरकार के गुप्तचर विभाग को विस्तृत जानकारी तो क्या, कोई संक्षिप्त अधिकृत जानकारी भी नहीं थी।

मांटगुमरी के इस प्रतिवेदन में पुणे के जिस भाषण का विवरण दिया गया है, उसमें मैंने कहा है कि मैजिनी बूढ़ा था, परंतु उसके अनुयायी तरुण थे। इस भाषण के पूर्व मैजिनी के चरित्र पर और 'तरुण इटली' नामक गुप्त संस्था पर मेरे खुले भाषण फर्ग्युसन कॉलेज में हुए थे। 'मित्र मेला' में इसी विषय पर अनेक बार गुप्त भाषण भी मैंने दिए थे। उनमें मैंने कहा था कि 'तरुण इटली' का संस्थापक मैजिनी स्वयं एक तरुण क्रांतिकारी था। यह बात मैं जोर देकर कहता था। ऐसी स्थिति में इस तरह का वाक्य मेरे मुँह से निकलना संभव ही नहीं था कि मैजिनी बूढ़ा था, तब उसने तरुण इतालवी अनुयायियों की क्रांतिकारी संस्था स्थापित की। अर्थात् मांटगुमरी साहब को कॉलेज या गुप्त संस्था में हुए मेरे भाषणों का तब तक पता ही नहीं लगा था—या तो यह बात होगी या उन्हें मैजिनी के चरित्र के बारे में कुछ भी मालूम नहीं होगा या ये दोनों ही कारण होंगे। इसलिए उन्होंने इस वाक्य पर आँखें मूँदकर विश्वास किया और कहा कि वह मेरे मुँह से निकला। मैजिनी जब बूढ़ा हुआ, तब तक इटली स्वतंत्र हो गया था और तरुणों की क्रांतिकारी संस्था स्थापित करने का कार्य भी समाप्त हो गया था।—यह उस समय बेचारे मांटगुमरी को क्या मालूम!

---

१. महाराष्ट्र में बच्चों के गीत-गायनादि कार्यक्रमों को भी 'मेला' कहते हैं।

पूर्ण असावधानी एवं शिथिलता से लिखे गए उस प्रतिवेदन में भी पुणे में दिए गए मेरे भाषण के दो-चार उल्लेख सही-सही हैं। उनमें से एक का एक उल्लेख मैं यहाँ कर रहा हूँ। जनता में ब्रिटिश-द्रोह का संचार करने के लिए जो खुले भाषण मैं दिया करता था, उनमें से भी मैं यथासंभव ब्रिटिशों के राजद्रोह-संबंधी 'विधि' की पकड़ में पक्की तरह न फँसने के लिए कितनी ही युक्तियों का सहारा अचानक लेता था, यह साफ है। उपर्युक्त भाषण में इस प्रतिवेदन के अनुसार गुरु रामदास की जिस ओवी को मैं अपने भाषण का मुख्य सूत्र मानकर विश्लेषित कर रहा था, उसमें 'बहुत लोक मेळवावे। एका विचारे भारावे। मिळोनिया करून घसरावे।' ये तीन चरण कहने के बाद अंतिम चरण का एकमात्र शब्द 'म्लेंच्छावरी' का उच्चारण टाल गया और मैंने यह कहा कि घसरावे पर किसपर? क्या करें? अंतिम चरण मैं भूल गया हूँ। ऐसा कह 'संकटावरी'—एक नए शब्द का उपयोग मैंने किया। वास्तव में वह चरण मुझे कंठस्थ था। वह ओवी महाराष्ट्र मानस में पक्की तरह घुटी हुई है। इसलिए श्रोताओं को भी 'म्लेच्छावरी' शब्द ज्ञात था, परंतु यदि मैं उसे स्वयं कहता, तो उसका स्पष्ट अर्थ होता 'अंग्रेजों पर'। इसलिए वह चरण ऐन समय पर—मैं भूल गया—ऐसा कहते ही उस भरी-पूरी सभा के श्रोता भी चमके और उन्हें वह संकेत समझ में भी आ गया। उन्होंने ताली बजाकर उसकी दाद भी दी।

उसी तरह उक्त प्रतिवेदन में जिस व्याख्यान की चर्चा है, उसकी अंतिम पंक्तियाँ भी केवल मेरी चतुराई की हैं। 'गुप्तचर व्याख्यान सुनने आए हैं, यह मुझे ज्ञात है। मेरे व्याख्यान, मेरे विचार उन्हें भी ज्ञात हो रहे हैं, इसकी मुझे खुशी है, क्योंकि वे भी अपने बंधु ही हैं। उनके विचारों में परिवर्तन होगा और वे भी कल-परसों हमसे मिलेंगे ही।' हालाँकि यह बात मैंने खुलकर जानबूझकर कही, तब भी मन में सावधान रहकर व्याख्यान के अंत में मैंने कहा, 'हमने जो गँवाया है, उसे फिर से कमाना चाहिए' और एक झाँसा देकर सारे व्याख्यान का स्वरूप धार्मिक कर देने के लिए उसके सारांश के रूप में एक द्विअर्थी वाक्य पिरोते हुए पूछा—हमने क्या गँवाया है, यह आप जान गए या नहीं? हमने अपना धर्म गँवाया है, उसकी संस्थापना करनी चाहिए। 'राज' शब्द का प्रयोग न कर वहाँ 'धर्म' जैसे द्विअर्थी शब्द का जो प्रयोग मैंने किया, उसका उद्देश्य श्रोताओं के मन में क्रांतिप्रवणता को जगाते हुए भी उस समय की 'विधि' की पकड़ में नहीं आना था।

इससे यह भी सिद्ध होता है कि अपने प्रतिवेदन में मांटगुमरी का कहना कैसे झूठा पड़ जाता है। प्रतिवेदन में कहा गया था—सावरकर भाषण देते हुए इतने उत्तेजित हो जाते हैं कि सभा में गुप्तचर आए हुए हैं, इसका भी होश उन्हें नहीं रहता

है। क्योंकि उस भाषण में ही मैंने यह कहा था कि सभा को सुनने गुप्तचर आए हुए हैं और वे मेरा भाषण ध्यान से सुन रहे हैं। मैंने उनका अभिनंदन भी किया, ये बातें भी उसी प्रतिवेदन में मांटगुमरी ने लिखी हैं।

मुझे उपलब्ध गुप्तचर विभाग के मुझसे संबद्ध इस पहले मांटगुमरी प्रतिवेदन की इतनी धुनाई मैंने ऊपर केवल उसमें छिपी गलतियों या विसंगतियों को दिखाने के लिए नहीं की। मुख्य बात दूसरी ही थी। वह यह कि इसी प्रतिवेदन के आधार पर दस-बारह वर्षों बाद सन् १९१८ में ब्रिटिश-विरोधी सशस्त्र क्रांतिकारी आंदोलन का समग्र विवरण लिखकर, जाँचकर उस आंदोलन को कुचल डालने के लिए क्या-क्या उपाय किए जाएँ या क्या-क्या योजना बनाई जाए, यह सब सुझाने के लिए एक स्वतंत्र समिति नियुक्त की गई थी। उस समिति की प्रख्यात 'रौलट रिपोर्ट' में मेरे बारे में प्रारंभिक जानकारी भ्रमपूर्ण होते हुए भी उसे साधार, इतिहास के रूप में प्रकाशित किया गया।

रौलट रिपोर्ट

यह 'रौलट रिपोर्ट' लिखने के लिए ब्रिटेन के एक वरिष्ठ न्यायमूर्ति रौलट साहब को हिंदुस्थान सरकार ने उस समिति का अध्यक्ष नियुक्त किया था। मद्रास और बंबई के वरिष्ठ न्यायमूर्ति तथा कुछ अन्य अधिकारी उस समिति के सदस्य थे। इस समिति का नाम 'सेडिशन कमेटी' था। उसका कामकाज बहुत गोपनीय (In Camera) ढंग से हुआ। राजद्रोह से संबंधित जितने कागज-पत्र, गुप्तचरों के प्रतिवेदन, क्रांतिकारियों पर सारे हिंदुस्थान में चलाए गए सैकड़ों मुकदमों के विवरण आदि अधिकृत जानकर ब्रिटिश सरकार के अभिलेखागार में संगृहीत किए गए थे, इस सरकारी समिति ने उन सबकी छान-बीन कर सन् १९१८ में दो-ढाई सौ पृष्ठों का राजद्रोह समिति का प्रतिवेदन तैयार किया और हिंदुस्थान की केंद्रीय ब्रिटिश सरकार के सामने प्रस्तुत किया। भारत सरकार ने उसे छापकर प्रकाशित भी कर दिया। इस अधिकृत प्रतिवेदन को संक्षेप में 'रौलट रिपोर्ट' कहा जाने लगा। इस पुस्तक में कितनी ही गलत एवं भ्रमपूर्ण बातें यहाँ-वहाँ लिखी गई थीं। फिर भी सन् १८९० से १९१८ तक हिंदुस्थान के सशस्त्र क्रांतिकारियों द्वारा स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए किए गए कुल पराक्रमी प्रयासों का विवरण इसमें जितने विस्तार से, साधार एवं क्रमशः दिया गया है, उतना वह उस समय की किसी भी पुस्तक में नहीं दिया गया—यह मानना पड़ेगा। फिर भी यह रौलट रिपोर्ट मुख्य रूप से ब्रिटिश हिंदुस्थान के गुप्तचर विभाग के गोपनीय प्रतिवेदनों के आधार पर तैयार होने और इन गुप्तचरों की अनेक कपोल कथाएँ अपने प्रतिवेदन में भरने के आदी होने के कारण हिंदुस्थानी

सरकार की अधिकृत रौलट रिपोर्ट में भी अनेक गलतियाँ एवं आधारहीन जानकारियाँ अधिकृत रूप में दी गई है। जैसे अपने ही बारे में कहूँ, तो जिस सन् १९०६ की बातें मैं यहाँ लिख रहा हूँ, उसके पूर्व की (मेरे संबंध में) जानकारी इस रौलट रिपोर्ट के पृष्ठ पाँच पर दी गई है, उसीमें कई गलतियाँ हैं।

इस जानकारी से यह स्पष्ट दिखता है कि नासिक के मजिस्ट्रेट मांटगुमरी द्वारा भेजा हुआ गोपनीय प्रतिवेदन, जो मैंने उद्धृत किया है, की पूरी-की-पूरी नकल रौलट साहब ने उतारी है। रौलट रिपोर्ट में लिखा है—'Before leaving India Vinayak Savarkar had been drawn into a movement initiated early in 1905 by a person styling himself Shri Agamya Guru Paramhansa. As a part of this movement a number of students early in 1906 started in Poona a Society which elected Vinayak Savarkar as their leader...' मेरे राजनीतिक चरित्र का प्रारंभ इस अगम्य गुरु से सन् १९०५ में बनाए किंचित् संबंधों से करना ही कितनी बड़ी गलती है—यह मेरे इस आत्म-चरित्र के प्रकाशित प्रथम खंड और अन्यों द्वारा लिखे गए ग्रंथों से स्पष्ट हो गया है। सन् १८९९ में क्रांतिकारी गुप्त संस्था की स्थापना कर मैंने और मेरे सहयोगियों ने सन् १९०६ के इस अगम्य गुरु के कुछ क्षणों के संबंधों से कई गुना अधिक महत्त्व के कितने ही विविध खुले एवं गुप्त राजनीतिक आंदोलन किए थे। उनका जरा सा भी उल्लेख इस अधिकृत रौलट रिपोर्ट में नहीं था। अगम्य गुरु का कोई_आंदोलन (Movement) था और उसमें मैं सम्मिलित हुआ, ऐसा कहना दूसरी गलती है। उस अगम्य गुरु के आंदोलन की एक शाखा के रूप में पुणे में एक संस्था स्थापित हुई, ऐसा कहना तीसरी गलती है, क्योंकि अगम्य गुरु का 'आंदोलन' कहा जाने लायक कोई आंदोलन कभी था ही नहीं। २२ फरवरी, १९०६ की सभा में दिए गए मेरे भाषण को मांटगुमरी ने उद्धृत किया था। उस सभा के संबंध में मांटगुमरी लिखते हैं—'The Mahatma Agamya Guru at his meeting advised the raising of funds.' यह चौथी गलती है, क्योंकि वे महात्मा इस सभा में आए ही नहीं थे।

रौलट रिपोर्ट की अगली जानकारी तो बिलकुल हास्यास्पद है। वह प्रतिवेदन कहता है—

'After Savarkar left India in June, 1906, the Society (Started by Agamya Guru in Poona) subsequently joined Abhinava Bharat Society, founded by Ganesha, Vinayak Savarkar's elder brother. At the time of his departure from India Vinayak Savarkar

and his brother were the leaders of an association known as the 'Mitra Mela', started about 1899, in connection with the Ganapati Celebrations.'

अर्थात् 'सावरकर के विलायत जाने के बाद अगम्य गुरु की संस्था के पुणे के विद्यार्थियों ने शाखा तोड़ी'—चूक! क्योंकि ऐसी कोई भी शाखा बनी ही नहीं थी। 'उसमें से कुछ लोग बाद में 'अभिनव भारत' संस्था में गए'—चूक! क्योंकि 'अभिनव भारत' में वे पहले से ही थे। 'अभिनव भारत संस्था गणेश सावरकर ने स्थापित की थी'—चूक! 'मित्र मेला गणपति उत्सव का आयोजन करता था'—घोर चूक!

ऐसी चूकों से भरे रौलट रिपोर्ट के मुझसे संबंधित झूठे अनुच्छेदों को यदि कोई अनाड़ी आदमी पढ़े तो उसको ऐसा आभास होगा कि मेरा राजनीतिक जीवन फरवरी, १९०६ में अगम्य गुरु से मेरा संबंध होने से ही आरंभ हुआ, मानो वे ही मेरे प्रथम राजनीतिक गुरु थे। उनकी 'संस्था में सम्मिलित' होने एवं उनके गुरु-प्रसाद से ही मैं क्रांतिकारी बना। तब तक 'मित्र मेला' में मैं केवल गणपति उत्सव मनाया करता था!

अगम्य गुरु की कपोल कथा

कपोल कथाओं की जड़ में भी एक तथ्यपरक बिंदु होता है। रौलट रिपोर्ट तथा मांटगुमरी रिपोर्ट में अगम्य गुरु के संबंध में जो उपर्युक्त कपोल कथा है, उसकी जड़ में यह एक बिंदु है कि सन् १९०६ के प्रारंभ में 'महात्मा श्री अगम्य गुरु परमहंस' के नाम से अपना परिचय कराते हुए एक स्वामी पुणे में आए। उन्होंने कुछ व्याख्यान दिए जिनमें गरम दलीय राजनीति जैसी कुछ बातें भी थीं। उन्होंने कहा कि जिन तरुणों को संगठित होकर देशकार्य करने की चाह हो, वे मुझसे मिलें। साधु, महात्मा, स्वामी या परमहंस आदि के पीछे दो-चार लोग आकर्षित होते ही हैं—फिर उनमें राजनीति पर टीका करते हुए कुछ बोलनेवाले! इस कारण यह कोई छिपा हुआ राजनीतिक साधु है, इस भावना से कुछ विद्यार्थी उनके यहाँ जाने-आने लगे। साधु में कुछ दम है या नहीं, यह परखने के लिए उन भक्त विद्यार्थियों में 'अभिनव भारत' के दो-तीन सदस्य भी मिल गए। उनके द्वारा पूछे जानेवाले राजनीतिक प्रश्नों पर ये स्वामी मौन रहते और बार-बार यह कहते कि पहले आप धन-संग्रह करके लाओ। फिर अपनी एक समिति बनाओ और फिर उसे तथा उसके नेता को मेरे पास भेजो। तब मुझे जो महत्त्वपूर्ण मार्ग प्रदर्शन देना है, वह मैं करूँगा।

स्वामीजी द्वारा अपने चारों ओर इस तरह का घेरा बना लेने के कारण उन

भक्त विद्यार्थियों को लगा कि यह साधु कुछ-कुछ गुरु रामदास स्वामी जैसे हैं। तब उन्होंने मेरे दो-तीन तरुण मित्रों से आग्रह किया कि वे विद्यार्थियों की अगुवाई करने के लिए मुझे तार देकर बंबई से बुला लें। मेरे उन मित्रों द्वारा भेजा गया तार मिलते ही मैं पुणे आ गया। तब तक मैंने उन अगम्य गुरु का नाम भी नहीं सुना था। पुणे में आने का समाचार सुनते ही विद्यालय तथा महाविद्यालय के अनेक विद्यार्थियों ने मेरा एक व्याख्यान निश्चित किया। २३ फरवरी, १९०६ को इस तरह एक बड़ी सभा हुई। उसमें स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए 'विद्यार्थी संगठन' विषय पर ही मैंने व्याख्यान दिया। मांटगुमरी के पूर्वोक्त प्रतिवेदन में जिस सभा का उल्लेख है, यह वही थी। सभा में श्रोताओं की बहुत भीड़ और वहाँ के तरुणों का तुमुल उत्साह देखकर, उसी सभा में मंच पर ही कुछ विद्यार्थियों ने यह सुझाव दिया कि अगम्य गुरु से मिलने के लिए मेरी अगुवाई में जो समिति बनानी थी, वह बना ली जाए। उस सुझाव के अनुसार उस सभा में नौ जनों और उनके अगुवा के स्थान पर मेरा चयन किया गया।

सभा-समाप्ति के बाद मैं उस समिति को लेकर अगम्य गुरु के पास गया। राष्ट्रीय राजनीति का कौन सा कार्यक्रम, कौन सा मार्ग प्रदर्शन आप करनेवाले हैं, वह आप अपनी योजनानुसार इन विद्यार्थियों की इस समिति से कहें—ऐसा निवेदन मैंने उनसे किया। परंतु स्वामीजी बोलने लगे कुछ योग-प्राणायाम आदि के शब्द, अपनी यात्राओं की बेकार बातें, फिर बीच में ही वे वहाँ 'ईश्वर का अधिष्ठान चाहिए' आदि रामकहानी सुनाने लगे। राजनीति का नाम भी वे नहीं ले रहे थे। अंत में मुझे ऐसा लगा कि सारा समय यों ही जा रहा है। इसलिए मैंने उन्हें बीच में ही टोककर कहा—राजनीतिक आंदोलन के संबंध में आप इन विद्यार्थियों का जो महत्त्वपूर्ण मार्ग प्रदर्शन करनेवाले थे, वह बताइए।

तब वह तुच्छता से बोले, 'इन विद्यार्थियों का कैसा मार्ग प्रदर्शन करूँ? इनसे क्या होना है? मैंने इन्हें दस बार कहा कि पैसा इकट्ठा करके लाओ, पर वह तो किसीने किया नहीं। आप भी जाइए और पैसा इकट्ठा करके आइए, फिर बात करेंगे। तब तक कोई बात नहीं करनी है।'

उनका यह उत्तर सुनकर मैं उनकी कुल-पात्रता पहचान गया। विद्यार्थी भी अपने-अपने घर चले गए। फिर उस समिति में चुने गए अपने दो-तीन अभिनव भारतीय मित्रों को अलग कर मैंने कहा कि तुमने अपने नाम से मुझे तार क्यों भेजा? तुम्हारे नाम देखकर मैं आया। ऐसे कितने ही साधु, संन्यासी, महाराज मैंने देखे हैं। ऐसे अधिकतर लोग राजक्रांति के नाम से ही काँपने लगते हैं। अधिकतर कुछ छीनने-झपटनेवाले होते हैं। इस अगम्य गुरु का पानी मैंने जाँच लिया है। तुम उस समिति में से अपने नाम हटा लो। मैं फिर से उनके पास नहीं जाऊँगा—इतना

कहकर मैं बंबई लौट गया। उधर अगम्य गुरु का क्या हुआ, मैंने उसकी पूछताछ नहीं की। वे पुणे से तुरंत ही कहीं निकल गए, ऐसा मैंने बाद में सुना।

जैसा ऊपर वर्णित है, आधा घंटा या कुछ अधिक समय के लिए अगम्य गुरु से मेरी भेंट हुई, उतना ही पूरे जीवन में उनसे मेरा संपर्क हुआ। मांटगुमरी एवं रौलट के अधिकृत प्रतिवेदन में यदि अगम्य गुरु के संबंध में पहले दी हुई कपोल कथा विश्वसनीय कथा के रूप में नहीं आई होती, तो मेरे इस आत्मवृत्त में उनके नाम का उल्लेख भी नहीं हुआ होता, क्योंकि उनका नाम भी मेरी स्मृति में नहीं था। वह क्षुद्र और क्षणिक प्रसंग मैं भूल गया था। फिर सन् १९२४ में जब मैं अंदमान की कारा से छूटकर आया और रत्नगिरि में स्थानबद्ध हुआ, तब मुझे रौलट प्रतिवेदन पढ़ने को मिला। उसमें जब मैंने अगम्य गुरु की यह कपोल कथा पढ़ी, तब वह बात याद हो आई और उस राई के पर्वत को देखकर हँसी आ गई।

यहाँ यह भी कहना अनिवार्य है कि ऊपर कहे अनुसार सन् १९२४ के बाद रत्नगिरि में मेरी स्थानबद्ध अवस्था में तिलक के सहयोगी रहे सतारा के प्रसिद्ध नेता दादाराव करंदीकर मुझसे मिले। उस भेंट में उन्होंने मुझे बताया कि 'सन् १९०८ में जब वे लंदन में थे, उपर्युक्त अगम्य गुरु उनसे मिले थे। एक अंग्रेज कन्या का शीलभंग करने के आरोप में उनपर ब्रिटिश न्यायालय में मुकदमा चलाया गया और उन्हें कारावास का दंड भुगतना पड़ा।' दादाराव करंदीकर के लंदन से भेजे हुए कुछ पत्र Letters from England नामक एक पुस्तक में संकलित हैं। उसमें २७ अक्तूबर, १९०६ के पत्र में दादाराव ने उपर्युक्त मुकदमे का उल्लेख किया है और लिखा है कि 'उपर्युक्त मुकदमे में मिला चार माह का दंड भुगतकर लौटने के बाद अगम्य गुरु मुझसे (दादाराव से) मिले। अगम्य गुरु (नाटक) का पहला अंक समाप्त हुआ, अब उनके अगले कार्यक्रम निश्चित होंगे।' बाद में उनके कार्यक्रम या उनके नाम का कहीं भी उल्लेख नहीं मिला।

यदि पुणे में हुई उनकी-मेरी कुल एक घंटे की भेंट में उनके नाम का उल्लेख मेरे नाम से जुड़कर नहीं आया होता और रौलट प्रतिवेदन जैसे अधिकृत प्रतिवेदन में उनका निरर्थक उल्लेख नहीं आया होता, तो उनका नाम कभी भी, कहीं भी सुनाई नहीं देता, परंतु अब, मेरे चरित्र की स्मृति जब तक जीवित है, तब तक वह उतनी भेंट और उनके नाम की स्मृति भी बिलकुल नष्ट नहीं होगी, यह बात सच है!

रौलट प्रतिवेदन में मेरे संबंध की प्रारंभिक जानकारी देते हुए 'विहारी' समाचारपत्र के संबंध में जो उल्लेख हुआ है, वह भी कैसा भ्रांतिपूर्ण है, यह देखें। उस प्रतिवेदन के चौथे पृष्ठ पर लिखा है—

'Another paper edited by Chitpawan Brahmins in poona

was the Vihari. Criminal proceeding were successfully taken against three successive editors for seditious articles which appeared in it, in 1906, 07, 08 years.'

अब 'विहारी' नामक समाचारपत्र पुणे से प्रकाशित नहीं होता था, वह बंबई से निकलता था। उसके संचालक श्री फड़के कभी भी पुणेवासी नहीं थे। उसके पहले संपादक श्री चिपळूणकर मुझसे परिचय के बाद 'अभिनव भारत' के सदस्य हो गए, वे भी पुणेवासी नहीं थे। उनके पीछे-पीछे मैं 'विहारी' पत्र में चुपचाप लिखने लगा। मेरे गुमनाम लेखों के कारण महाराष्ट्र भर में उसकी ख्याति और खपत बढ़ गई, पर मैं भी पुणेवासी नहीं था। उसमें भी आश्चर्य की बात यह कि मैं गुमनामी में वह समाचारपत्र चला रहा था। रौलट प्रतिवेदन को इसका पता भी नहीं था। मेरे लंदन चले जाने के बाद श्री फड़के 'विहारी' के कार्यकारी संपादक रहे, पर वे भी पुणेवासी नहीं थे। उन्हें राजद्रोही लेखों के लिए दंडित किए जाने के बाद श्री मंडलीक भी कार्यकारी संपादक रहे, पर वे भी पुणेवासी नहीं थे। उन्हें भी 'राजद्रोही' लेखों के लिए दंडित किया गया। तब कहीं जाकर वह समाचारपत्र बंद हुआ। अर्थात् रौलट रिपोर्ट के ऊपरी उद्धरण के अनुसार, अंत तक उस समाचारपत्र से किसी भी पुणेवासी का संबंध नहीं था। हाँ, यह बात सच है कि हम सब चित्तपावन ब्राह्मण थे। यहाँ यह उल्लेख भी करना प्रासंगिक होगा कि श्री फड़के एवं श्री मंडलीक—ये दोनों ही 'अभिनव भारत' के सदस्य हो गए थे, परंतु गुप्त संस्थाओं के समाचारों को संग्रहीत करने के लिए ही गठित उस रौलट समिति को इन गुप्त बातों का पता नहीं था।

क्रांतिकारी गुप्त संस्था का अभिमान भरा क्रांतिकौशल

केवल दिखाने के लिए जिन दो-चार बातों का उल्लेख ऊपर किया गया है, उनसे यह साफ दिख जाता है कि हिंदुस्थान की केंद्रीय सरकार की रौलट रिपोर्ट जैसे अधिकृत प्रतिवेदन में भी क्रांतिकारियों के विषय में क्रांतिकारी गुप्त बातों का पता-ठिकाना ज्ञात नहीं था, उसी तरह उसमें अनेक भ्रांत एवं उलटी-सुलटी जानकारियाँ भी दी हुई हैं। केवल मेरे ही संबंध में यह स्थिति नहीं है, अपितु 'अभिनव भारत' की तरह ही हिंदुस्थान में स्थापित अनेक गुप्त संस्थाओं, गुप्त षड्यंत्रों एवं क्रांतिकारी व्यक्तियों के संबंध में ऐसी बातें इस रौलट प्रतिवेदन में अंत तक बिखरी हुई हैं। इससे जितना आश्चर्य होता है, उतना ही अभिमान भी। अभिमान इसलिए कि रौलट प्रतिवेदन में इस कमी का मुख्य कारण यही था कि जिस ब्रिटिश भारतीय सरकार के

गुप्तचर विभाग ने क्रांतिकारियों के संबंध में गुप्त जानकारी रौलट समिति के पास भेजी, वह उस गुप्तचर विभाग की हिंदुस्थान भर में फैली हुई, राजसत्ता के प्रबल साथ और हाथ में असीम साधनों से संपन्न हजारों आँखों में धूल डालकर हमारी भारतीय क्रांतिकारी गुप्त संस्थाओं ने अनेक बार अपने गुप्त षड्यंत्र सफलता से संपन्न किए। खुदीराम, मदनलाल धींगरा, कान्हेरे, भगत सिंह आदि से लेकर सन् १९४० में लंदन पहुँचकर ओ' डायर का वध करनेवाले ऊधम सिंह तक गुप्त क्रांतिकारियों ने अपने काम सफलता से संपन्न किए, मगर ब्रिटिशों के विशाल एवं विश्वविख्यात स्कॉटलैंड जैसे गुप्तचर विभाग को भी उनके षड्यंत्रों का पता नहीं लगा! हमारे भारतीय क्रांतिकारियों के इन गुप्त षड्यंत्रों के कौशल का अभिमान किसे न हो!

ब्रिटिश गुप्तचर प्रतिवेदनों के ही आधार पर भारतीय राजक्रांति का इतिहास न लिखा जाए

मांटगुमरी के साथ रौलट समिति के प्रतिवेदनों की जो विस्तृत उलट-पलट यहाँ मैंने अपने हित में की है, वह वास्तव में एक उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए की गई है, ताकि इस सिद्धांत का दिग्दर्शन किया जा सके कि हिंदुस्थान या ब्रिटेन दोनों ही स्थानों से सरकारी गुप्तचर विभाग के अधिकृत कहलानेवाले प्रतिवेदन में अनेक स्थानों पर और कई तरह से भारतीय क्रांतिकारियों के गुप्त आंदोलनों और रणकर्मों के संबंध में गलत जानकारियाँ भरी हुई हैं। अत: उन ब्रिटिश सरकारी प्रतिवेदनों के ही आधार पर हमारे स्वतंत्रता-संग्राम का इतिहास नहीं लिखा जाना चाहिए, अन्यथा उसमें दी हुई गलत जानकारियाँ भी सत्य घटना के रूप में इतिहास में स्थान पा लेंगी।

इसका एक प्रमाण तो उपर्युक्त मांटगुमरी प्रतिवेदन का ही दिया जा सकता है। वास्तव में एक अर्थ में क्षुद्र होते हुए भी इस प्रतिवेदन का मेरे ही संबंध में किस तरह कितना दूरगामी प्रभाव होता गया, यह देखें। सन् १९०६ की मांटगुमरी रिपोर्ट में मेरे संबंध में गलत जानकारी दी गई थी। बंबई सरकार के पास भेजी गई उसी रिपोर्ट को आधार मानकर सन् १९१८ में केंद्रीय सरकार को जो रौलट रिपोर्ट भेजी गई, उसमें भी उसी मिथ्या जानकारी के आधार पर मेरा प्रारंभिक परिचय करा दिया गया। फिर यह रौलट रिपोर्ट हिंदुस्थान की केंद्रीय सरकार ने ही प्रकाशित की। इस कारण श्री याज्ञिक जैसे सच्चे इतिहासकार ने भी सहज भाव से उसी प्रतिवेदन को आधार मानकर सन् १९५० में अंग्रेजी में एक ग्रंथ लिखा। 'पंडित श्यामजी का चरित्र' नामक उस ग्रंथ में रौलट रिपोर्ट का उद्धरण लेकर उसकी गलतियोंवाला ही मेरा प्रारंभिक परिचय अनजाने में सत्य जानकर उन्होंने उतार दिया और शिवाजी से

लेकर तिलक, परांजपे तक किसीका भी नाम न लेते हुए मेरे राजनीतिक गुरु का पद किसी ऐरे-गैरे अगम्य गुरु को अर्पित कर दिया। वैसा ही भ्रम मेरा चरित्र लिखनेवाले कुछ अन्य सच्चे इतिहास-लेखकों को भी हुआ है।

जो बात मेरे संबंध में है, वही बात सैकड़ों अन्य प्रख्यात भारतीय क्रांतिकारियों और क्रांति के समग्र इतिहास के संबंध में भी है। इतिहास का ऐसा दिशाभ्रम न हो, इस उद्देश्य से सावधानी भरी चेतावनी देने के लिए ही उदाहरण-रूप में मांटगुमरी के गुप्त प्रतिवेदन की इतनी सविस्तार चर्चा मैंने यहाँ की है।

तथापि यह भी भूलना नहीं चाहिए कि ब्रिटिश सरकार के गुप्तचर विभाग के प्रतिवेदन बहुत ही महत्त्वपूर्ण और अंशतः आधारभूत मानी जाने योग्य उपयुक्त जानकारी दे सकते हैं। उतने तक के लिए उनका इतिहास-लेखन में बहुत सा उपयोग हो सकता है, परंतु उन्हें ही एकमेव ऐतिहासिक आधार न माना जाए। अब हिंदुस्थान के अनेक क्रांतिकारी देशभक्त अपने-अपने आत्मवृत्त में अपनी-अपनी क्रांतिकारी संस्थाओं के इतिहास बँगला, मराठी, अंग्रेजी, हिंदी एवं अन्य भाषाओं में प्रकाशित कर रहे हैं। उनके उन ग्रंथों से 'रौलट प्रतिवेदन' जैसे ब्रिटिश सरकारी गुप्त प्रतिवेदनों को मिलाकर, जाँचकर देखने के बाद या वैसा स्वतंत्र सबूत मिलने पर जो तथ्यपरक भाग उस ब्रिटिश प्रतिवेदन में मिले, राज्य क्रांति का स्वतंत्र इतिहास लिखते समय उतना ही आधारभूत मानना होगा।

□

प्रकरण–४

जोसेफ मैजिनी : आत्मकथा और राजनीति

इंडिया हाउस के निवासियों से जान-पहचान करने में सात-आठ दिन निकल चुके थे। तब एक बार बातचीत करते हुए मैंने वहाँ के गृहचालक श्री मुखर्जी से सहज रूप में पूछा, 'मैजिनी की आत्मकथा एवं उसके समग्र लेखों का अनुवाद अंग्रेजी में हो चुका है, ऐसा मैंने पढ़ा है। वह ग्रंथ अभी तक मुझे पढ़ने को नहीं मिला। लंदन के बड़े-बड़े ग्रंथालयों में आपकी जान-पहचान है, ऐसा आपने एक बार कहा था। वह ग्रंथ वहाँ कहीं हो, तो क्या मेरे लिए आप उपलब्ध करा सकेंगे?' 'मैजिनी की आत्मकथा?' बुदबुदाते हुए उन्होंने अपनी लंबी भूरी दाढ़ी पर ऊपर से नीचे दो-तीन बार हाथ फेरा और छत की ओर देखा, मानो वे अपने सिर के ऊपर कुछ खोज रहे हों। फिर एक क्षण चुप रहकर बोले, 'यहाँ की पुस्तकों की आलमारी में ऐसी कोई पुस्तक होगी; ठहरिए, देखता हूँ।' फिर अंदर जाकर एक पुस्तक लेकर वे बाहर आ गए। 'यही है क्या?' ऐसा कहकर वह पुस्तक उन्होंने मुझे दे दी।

वही नाम उस पुस्तक का है, यह देखते ही मुझे बहुत खुशी हुई, पर तीन सौ पृष्ठों की एक साधारण पुस्तक में समा जाए मैजिनी का चरित्र एवं लेखन—क्या इतना संक्षिप्त है? इस आशंका से मेरा मन कुछ खट्टा हुआ। आवरण के पुट्ठे के अंदर का मुखपृष्ठ मैंने ढंग से पढ़ा तो उसमें 'प्रथम खंड' छपा हुआ था और अंदर स्पष्ट ही लिखा था कि प्रकाशकों ने वह ग्रंथ छह खंडों में प्रकाशित किया है। उसे मैंने श्री मुखर्जी को दिखाया, तब उन्होंने कहा, 'आइए, आप अंदर आइए। देखें, उसी आलमारी में कोई और खंड है क्या? आलमारी में पुस्तकें कितने ही क्रम से लगाई जाएँ, दो दिन में ही लोग इधर-उधर कर उनकी खिचड़ी बना देते हैं! इसलिए आलमारियाँ बंद ही कर दी हैं मैंने।'

वे आगे बढ़े, मैं पीछे-पीछे गया। आलमारी में पुस्तकों को उलटते-पुलटते

मैजिनी की उन पुस्तकों के बीच-बीच के तीन खंड मिले। क्रम से सभी (छह) नहीं मिल सके, परंतु जो मिले, उन्हें देखकर ही मुझे आश्चर्यमिश्रित आनंद हुआ, जैसे किसी प्राचीन किले में खुदाई करते समय मुहरों से भरा घड़ा मिल गया हो। वे तीन खंड मैंने एक हफ्ते में ही पढ़ डाले। बीच-बीच के जो खंड नहीं मिले थे, उनके लिए मैं मुखर्जी महोदय के पीछे पड़ा हुआ था। ऐसे गंभीर साहित्य की पुस्तकें पढ़ने की मेरी ललक एवं अध्यवसाय देखकर उन्हें भी मेरे प्रति बहुत स्नेह हो आया था। उनके पीछे मेरे पड़ने का कोई त्रास इसीलिए उन्हें नहीं हुआ; उलटे वे ग्रंथ मुझे कहीं मिल नहीं रहे हैं, इसलिए कुछ खेद ही उन्हें था।

आठ-दस दिन बाद एक शाम वे बाहर से आए तो सीधे मेरे कमरे में ही आ गए। मेरी मेज पर पुस्तकों का एक गट्ठा धम् से रखते हुए हँसकर बोले, 'ये लीजिए आपके शेष ग्रंथ, मिस्टर सावरकर!' मैजिनी की आत्मकथा एवं समग्र लेख-संग्रह, ग्रंथ-क्रम से छहों खंड इस तरह उपलब्ध करा देने के लिए मैंने मुखर्जी महोदय के प्रति आभार व्यक्त किया। वे खंड भी मैंने तुरत-फुरत पूरे पढ़ डाले।

भारतीय राजनीति पर मैजिनी के चरित्र का प्रभाव : गैरीबाल्डी के संबंध में एक स्मृति

सन् १८५७ के भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम के आठ-नौ वर्ष पूर्व सन् १८४८-४९ में मैजिनी और जनरल गैरीबाल्डी के नेतृत्व में पूरे इटली, विशेषकर रोम में इटली की स्वतंत्रता के लिए क्रांतियुद्ध भड़क उठा था। उस विद्रोह में इटली के क्रांतिकारियों का पराभव हुआ और मैजिनी आदि क्रांतिकारी नेताओं को विदेश भाग जाना पड़ा। इटली की तरह और भी जो देश पराधीन हैं, उन सबको स्वाधीन होने का अधिकार है और उन सबके प्रति हमें सहानुभूति दिखानी चाहिए, ऐसे विचार थे इटली के उन महान् देशभक्तों के। अत: हिंदुस्थान में जब सन् १८५७ का स्वतंत्रता-संग्राम छिड़ा था, तब उसके समाचार सुन भारतीय क्रांतिकारियों के प्रति उनमें सहानुभूति उमड़ पड़ी थी। अंग्रेजों ने कितने ही समाचार दबाए या उलट-पुलट किए, तब भी कानपुर, कालपी आदि घटनाओं, विशेषकर सेनापति तात्या टोपे ने भागते-दौड़ते छापामार युद्ध करते किसी तरह दस-बारह ब्रिटिश सेनानियों को परेशान कर रखा था, उसके वर्णन यूरोप में फ्रांसीसी आदि समाचारपत्रों में आ ही रहे थे। उसे पढ़कर स्वदेश की स्वतंत्रता हेतु संघर्ष कर रहे क्रांतिकारियों के लिए सहानुभूति रखनेवाला वर्ग भी यूरोप में उभर आया था। उस समय जनरल गैरीबाल्डी ने तो तात्या टोपे आदि शूर क्रांतिकारी सेनापति के कंधे-से-कंधा मिलाकर ब्रिटिशों के विरुद्ध भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम में लड़ने के लिए हिंदुस्थान में आने की इच्छा

भी प्रदर्शित की थी, परंतु उसी समय इटली में फिर एक बार क्रांतिकारी युद्ध प्रारंभ करने की योजना बन जाने के कारण अन्य विचारों को एक तरफ रखते हुए, इटली के अपने युद्ध में ही भिड़ जाना उनका प्रथम कर्तव्य हो गया।

सन् १८५७ के संग्राम के बाद हिंदुस्थान में अंग्रेजी-शिक्षितों की जो राजनीति चली, उसमें सुरेंद्रनाथ की पीढ़ी से लेकर अनेक भारतीय नेताओं को मैजिनी के चरित्र से भी स्वदेशभक्ति की प्रेरणा मिलती रही थी। दो-तीन मुख्य उदाहरण ही देखें। ब्रिटिशों की नौकरी से उन्हें निकाल देने के बाद जब सुरेंद्रनाथ ने स्वयं को स्वदेश-सेवा में लगा देने का निश्चय किया, तब उन्होंने मैजिनी के चरित्र का अध्ययन किया। उसका इतना अच्छा प्रभाव उनके मन पर पड़ा कि बंगाल की तरुण पीढ़ी में वैसे तेजस्वी देशभक्त के तेज का संचार करने के लिए सुरेंद्रनाथ ने वही विषय चुना और 'मैजिनी तथा उसके तरुण इटली' विषय पर बंगाल में जगह-जगह—सन् १८७५ से १८७८ तक—अनेक व्याख्यान दिए। उस समय इटली को स्वतंत्र हुए एवं मैजिनी की मृत्यु हुए दस-पाँच वर्ष ही बीते थे। सुरेंद्रनाथ के उन धधकते व्याख्यानों से बंगाल के उस समय के बीस-तीस की आयु के सैकड़ों तरुणों के हृदय में स्वयं को स्वदेश-सेवा के लिए सक्रियता से समर्पित करने की पहली चेतना जाग उठी। 'तरुण इटली' की तरह न सही, मगर गुप्त संस्था स्थापित करने की होड़ तो उनमें लग ही गई।

उन्हीं लोगों में विपिनचंद्र पाल भी थे। उनकी आयु तब तीस के आसपास होगी। उस समय तक राजनीति से उनका कोई संबंध नहीं था, पर उन्होंने ब्रह्म समाज में सामाजिक अगुवाई के कुछ काम किए थे। वे अपने आत्म-चरित्र में लिखते हैं कि सुरेंद्रनाथ द्वारा मैजिनी पर दिए जानेवाले व्याख्यानों में से एक जोशीला व्याख्यान मैंने भी सुना और स्वदेश की राजनीतिक मुक्ति के लिए राजनीति में हिस्सा लेने की चाहत उस दिन से मेरे भी मन में तेजी से उभरने लगी।

रहस्यमयता का केवल आस्वाद

सुरेंद्रनाथ अपने आत्म-चरित्र में लिखते हैं कि मैजिनी पर दिए जानेवाले अपने व्याख्यानों में मैं हठपूर्वक कहता था कि मैजिनी जैसे उग्र देशभक्त बनो, उग्र त्यागी बनो, मानवता के उपासक बनो और सारा जीवन अपनी मातृभूमि की सेवा में अर्पित कर दो, परंतु मैजिनी के सशस्त्र क्रांतिवाले रास्ते पर भूलकर भी कदम नहीं रखना। 'I took care to tell the young man to abjure Mazzini's revolutionary ideas.' वे रास्ते इटली की परिस्थिति में वहाँ के लिए लाभप्रद रहे, परंतु हिंदुस्थान का अर्थ इटली नहीं है। हिंदुस्थान की परिस्थिति में वे अपने

हिंदुस्थान के लिए हानिकारक होंगे। स्वदेश की उन्नति के लिए अपने सारे प्रयास विधि-अनुसार एवं संपूर्ण शांति से ही किए जाने चाहिए—Legal and constitutional and absolutely peaceful. इसी रास्ते से इस देश की उन्नति हो सकेगी।

पाल बाबू भी लिखते हैं कि सुरेंद्रनाथ के भी यही विचार थे। फिर मैजिनी के व्याख्यान सुनने के बाद जो अनेक गुप्त संस्थाएँ स्थापित होती गईं, जैसाकि हमने ऊपर लिखा है, उसका अर्थ क्या था? वे 'गुप्त' क्यों थीं? इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए पाल बाबू की आत्मकथा की तद्‌विषयक अपने अनुभव की बातों को ही हम नीचे उद्‌धृत कर रहे हैं—

'Between 1875-1878 after Surendra Nath's lecture on Mazzini's young Italy, young men (in Bengal) formed a number of secret societies, though without any revolutionary motive or plan of secret assassinations as the way to national emancipation. Surendra Nath was himself I think the president of quite a number of these secret societies. These societies had no plan or policy of political action to liberate their people from British yoke. They only gave a philip to patriotism. They never seriously meant to rise in revolt against the British. They practically did nothing and passed away like a fashion.' (Page 248)

भावार्थ यह कि 'सुरेंद्रनाथ द्वारा सन् १८७५ से १८७८ के बीच की अवधि में मैजिनी के यंग इटली के गुप्त संगठन पर दिए जानेवाले व्याख्यानों से प्रेरित होकर बंगाली युवकों ने अनेक गुप्त संस्थाओं की स्थापना की, परंतु उनके सामने तरुण इटली की तरह राज्य क्रांति या सशस्त्र विद्रोह करने का कोई उद्‌देश्य नहीं था। इन गुप्त संगठनों ने राष्ट्र को स्वतंत्र करने के लिए हत्याकांड की कोई योजना भी नहीं बनाई थी। मुझे लगता है कि इन गुप्त संगठनों में से अनेक के अध्यक्ष स्वयं सुरेंद्रनाथ ही थे। तथापि ब्रिटिश दासता से अपनी मातृभूमि को मुक्त करने के लिए कोई भी राजनीतिक कार्यक्रम इन संस्थाओं ने नहीं बनाया था। फिर विद्रोह करने जैसी बात तो दूर रही! तरुणों के मन में देशभक्ति की ज्योति फैलाने के लिए ही उनका यह प्रयास था और उतना ही उसका उपयोग हुआ। इससे अधिक कुछ भी न कर अपने को 'गुप्त' कहनेवाले ये संगठन काल-प्रवाह में उसी तरह खुद विलीन हो गए, जिस तरह कोई लहर अपने आप विलुप्त हो जाती है।'

तात्पर्य यह कि 'तरुण इटली का गुप्त संगठन' शब्द-समुच्चय में से 'तरुण

इटली' निकाल देने के बाद बचे 'गुप्त' शब्द की रहस्यमयता का आस्वाद लेने के लिए वह 'गुप्त' शब्द उन संगठनों के साथ जुड़ गया था। 'तरुण इटली' की तरह ये संगठन सशस्त्र क्रांतिकारी संगठन थे, इसलिए इनके साथ 'गुप्त' शब्द नहीं जोड़ा गया था। या यों कहें कि मैजिनी में से 'क्रांतिकारी मैजिनी' हटा देने पर जो 'देशभक्त मैजिनी' शेष रहता है, उसीका आदर्श अपने सामने रखो—ऐसा जो सुरेंद्रनाथ कहते थे, उतनी ही कार्यवाही इन संगठनों द्वारा हो पाना सहज था!

फिर भी हमने पहले भाग में लिखा है कि बंगाल में सशस्त्र क्रांति का ऐसा कोई भी आंदोलन सन् १८९५ तक अस्तित्व में नहीं था, ऐसा उपलब्ध साक्ष्य से दिखता है। हमारे इस कथन को नाममात्र के लिए स्थापित उपर्युक्त गुप्त संगठनों की लहर गलत नहीं ठहराती। वैसे ही न्यायत: भविष्य में घटित होनेवाले एक संयोग का उल्लेख यहाँ कर देना चाहिए कि सुरेंद्रनाथ ने मैजिनी और उसके सशस्त्र क्रांतिकारी गुप्त संगठन 'तरुण इटली' के संबंध के जो विचार सन् १८७५ में तत्कालीन बंगीय तरुण पीढ़ी की मनोभूमि में बोए, वे—सुरेंद्र बाबू का वैसा कोई उद्देश्य हो या न हो, अन्य विस्फोटक विचारों से सम्मिश्रित होते गए और कोई पच्चीस-तीस वर्ष बाद ऐसे कुछ संगठन प्रकट वेग से उग आए कि नाममात्र की जगह ख्यातनाम गुप्त संगठनों का जाल-सा बंगाल की भूमि पर छा गया। बंगभूमि आजादी के दीवाने सशस्त्र क्रांतिकारियों की एक बड़ी सुरंग बन गई। परंतु वह कथा आगे की है।

सुरेंद्रनाथ, विपिनचंद्र पाल और तत्कालीन बंगीय तरुण पीढ़ी के मन पर मैजिनी के चरित्र का कितना और कैसा स्फूर्तिदायक परिणाम हुआ था, यह जानने के बाद अब पंजाब का उदाहरण लें, वह भी स्वयं लाला लाजपतराय का ही। अपनी आयु के तीस वर्ष तक लालाजी साधारण रूप से ब्रिटिशनिष्ठ थे। अत: राजनीति से किसी तरह का संबंध उन्होंने नहीं रखा था, यह पहले भाग में कहा गया है। इधर कांग्रेस की स्थापना के थोड़ा पहले ही सुरेंद्रनाथ ने बंगाल में जो 'नेशनल लीग' नामक संस्था स्थापित की थी, उसका प्रसार करने के लिए सन् १८८४ में वे व्याख्यान देने पंजाब गए। तब उन्होंने अपने प्रिय विषय 'मैजिनी और यंग इटली' पर भी व्याख्यान दिया। उस समय लाला लाजपतराय भी उपस्थित थे। उस प्रभावी व्याख्यान और मैजिनी के क्रांतिकारी चरित्र का इतना प्रभाव लालाजी पर पड़ा कि अपने देश को राजनीतिक दासता से मुक्त करने के लिए राजनीति में उतरकर मैजिनी की तरह लोगों में राजनीतिक चैतन्य स्वयं ही भरनी चाहिए, इसका उन्हें तीव्र एहसास हुआ। यह उन्होंने अपने आत्म-चरित्र में लिखा है। फिर उन्होंने मैजिनी के चरित्र का अध्ययन स्वतंत्र रूप से किया। पंजाब की युवा पीढ़ी में अपने देश को

आजाद करने की लालसा से लालाजी ने उर्दू भाषा में स्वयं ही मैजिनी का एक स्फूर्तिदायी चरित्र लिखा और प्रकाशित भी किया।

यद्यपि महाराष्ट्रीय क्रांतिकारियों की ब्रिटिश-विरोधी संघर्ष-परंपरा सन् १८५७ से अखंड चली आ रही थी, फिर भी महाराष्ट्र को मैजिनी का परिचय बंगाल की अपेक्षा विलंब से मिला। कारण यह था कि महाराष्ट्र की भूमि में क्रांतिकारी राजनीति के बीज और जड़ पहले से ही जमे हुए थे, कहीं बाहर से बीज, मूल लाकर उसकी खेती नहीं करनी थी। सन् १८५७ से 'अभिनव भारत' के क्रांतिकारियों समेत सारे महाराष्ट्रीय क्रांतिकारियों के कुल देवता और स्फूर्ति-केंद्र श्रीराम, श्रीकृष्ण तथा शिवाजी थे! उन्हींके वीर-चरित्र के माध्यम से वे अपने क्रांति-संदेश भेजा करते थे। मैजिनी तक की ही बात करें तो वासुदेव बलवंत एवं चापेकर के शस्त्राचारी विद्रोह तक महाराष्ट्र को मैजिनी की उल्लेखनीय पहचान नहीं थी। मेरी स्मृति के अनुसार मराठी में मैजिनी का पहला चरित्र सन् १९०० के आसपास श्री घाणेकर द्वारा लिखा गया था। उसी अवधि में यूरोप के कतिपय राष्ट्रों द्वारा स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए किए गए अर्वाचीन क्रांतियुद्धों का, उनके गुप्त संगठनों का और उसमें लड़े-भिड़े क्रांतिवीरों का संक्षिप्त इतिहास पुणे के 'काल' पत्र ने देना प्रारंभ किया। ये लेख स्वयं परांजपे ही अपनी उत्तेजक लेखनी से लिखते थे। उसमें 'तरुण इटली' पर भी एक विचारोत्तेजक लेख छपा था।

श्री घाणेकर द्वारा लिखित मैजिनी का वह संक्षिप्त चरित्र एवं 'काल' पत्र में छपा 'तरुण इटली' पर लिखा लेख—इन दोनों में इटली की क्रांति की आधी-अधूरी जानकारी पढ़कर मैं इस निश्चय पर पहुँचा कि इटली की वीररसपूर्ण और सिद्धांतनिष्ठ क्रांति का यह इतिहास अपने 'अभिनव भारत' के क्रांति-प्रयासों में काफी हद तक मार्ग प्रदर्शक हो सकेगा। चूँकि पराधीन इटली की परिस्थिति और पराधीन हिंदुस्थान की परिस्थिति में बहुत साम्य है। इसलिए अपने गुप्त संगठन, विद्यालयों, महाविद्यालयों और सार्वजनिक सभाओं में लंदन (सन् १९०६ में) जाने के पूर्व इटली के क्रांतियुद्ध एवं मैजिनी के 'तरुण इटली' पर मैं अनेक व्याख्यान देता रहा था।

उसी समय मैजिनी का एक अंग्रेजी चरित्र भी हिंदुस्थान में ही मेरे पढ़ने में आया। उसमें मुझे यह भी पता चला कि स्वयं मैजिनी द्वारा अपनी इतालवी भाषा में लिखे क्रांतिकारी लेखों एवं आत्मकथा का अंग्रेजी भाषा में अनूदित छह खंडों का एक ग्रंथ प्रकाशित हो चुका है। वह इंग्लैंड में उस समय हाल ही में प्रकाशित हुआ था। अत: हिंदुस्थान में अप्राप्य था, यह मुझे खोज करने पर पता चला था, तथापि वे सारे खंड पढ़ने की उत्कंठा मेरे मन में जाग गई थी। वह उत्कंठा ऊपर दिए गए

वर्णन के अनुसार इंग्लैंड में आते ही छहों खंड मिलने से पूरी हो गई।

मैजिनी के लेखों के मराठी अनुवाद का निश्चय

जैसे-जैसे मैं वह ग्रंथ पढ़ता गया, वैसे-वैसे मुझे मालूम होता गया कि हिंदुस्थान छोड़ने के पूर्व गुप्त संगठनों में अपने सहयोगियों को जो-जो क्रांतिकारी मार्ग प्रदर्शन मैं करता था, उसमें और मैजिनी द्वारा 'तरुण इटली' के लिए प्रारंभ से जो-जो मार्ग प्रदर्शक लेख लिखे गए, उनमें आश्चर्यजनक साम्य है। गुप्त संगठनों के कार्यक्रम के दो विभाग होने चाहिए—प्रचारक एवं आचारक। प्रकट और गुप्त—ऐसे उन विभागों के अनुसार दो प्रकार के कार्यक्रम होने चाहिए। शस्त्रों का सहारा लिये बिना अर्थात् केवल अहिंसा मार्ग से पूर्ण स्वतंत्रता मिलना कभी भी संभव नहीं है। फिर भी जनता में प्राथमिक जागृति उत्पन्न करने के लिए निःशस्त्र आंदोलन भी चलाए जाने चाहिए। ब्रिटेन के शत्रु-स्थान पर बैठे एशिया, यूरोप, अमेरिका आदि विदेशी राष्ट्रों से क्यों और कैसे संबंध जोड़ने चाहिए, वक्रयुद्ध की राजनीति से शत्रु के हर केंद्र पर, हर अधिकारी पर छापा मारकर यथासंभव व्यक्तिगत एवं सामुदायिक मार-काट करते हुए, ब्रिटिश सत्ता द्वारा खड़े किए लाखों स्वदेशी सैनिकों को गुप्त रीति से क्रांतिप्रवण कर स्थानीय एवं व्यक्तिगत विद्रोह (Rising), सैनिक विद्रोह, परदेस में ब्रिटेन से किसी राष्ट्र का युद्ध शुरू होते ही वहाँ जाकर उनसे मिलकर ब्रिटिशों के विरोध में विद्रोह और अगर वह विद्रोह फँस गया तो अवसर मिलते ही दूसरा विद्रोह, ऐसा शिकार कर हिंदुस्थान की ब्रिटिश सत्ता को शस्त्राचार के घन-घावों से यथासंभव ढीला-ढाला कर देना चाहिए। उपरोक्त उपायों से लड़े जानेवाले सर्वव्यापी क्रांतियुद्ध का जो कार्यक्रम मैं 'अभिनव भारत' के अपने क्रांतिकारी साथियों के सामने रखता रहा था और सामान्य जनता में ब्रिटिश सत्ता के प्रति घृणा उकसाने के लिए खुली सभाओं के व्याख्यानों में यथासंभव कानून की पकड़ में न आते हुए—अर्थात् घुमाकर, वक्रोक्ति से बात करता था—मुझे आश्चर्य होता गया कि उसी कार्यक्रम का एवं वक्रोक्ति का प्रबल पुरस्कार मुझे उन ग्रंथों में देखने को मिला और कहीं-कहीं तो मैं जो-जो वाक्य और शब्द कहता या उपदेश करता, उन्हीं सूत्रों का उपयोग मैजिनी के इन लेखों में किया हुआ था।

इटली जैसे देश के सफल यूरोपीय एवं (अद्यतन) आधुनिक राज्य क्रांति के एक प्रमुख उद्घोषक मैजिनी और मेरे द्वारा व्यक्त अभिनव विचार-पद्धति एवं कार्य-पद्धति में इतना साम्य देखकर, भारत माता को स्वतंत्र करने के लिए तैयार अपनी अखिल भारतीय योजना पर मेरा आत्मविश्वास सौ गुना बढ़ गया।

उसी कारण से यह भी स्पष्ट था कि यदि मैजिनी के ये लेख पढ़ने को मिलें

तो 'अभिनव भारत' के मेरे सैकड़ों सहयोगियों का भी मेरे मार्ग प्रदर्शन पर विश्वास और उनकी आत्मनिष्ठा बढ़े बिना नहीं रहेगी। हमारी गुप्त संस्था के मैं और मेरे सहयोगी सन् १९०६ में बीस-बाईस वर्ष की आयु के थे। इस कारण अर्थात् हमारी छोटी आयु देखकर हमारे क्रांतिकारी आंदोलन को 'बचकाना' कहनेवाले बड़काना नेता नरम दल में ही नहीं, अपितु गरम दल में भी थे। समाज के उस समय के प्रस्थापित नेता भी वे ही थे। परंतु मैजिनी, गैरीबाल्डी की तरुणावस्था में, अर्थात् सन् १८३० के आसपास, उनकी पीढ़ी के प्रौढ़ नेताओं एवं लोगों ने उनकी भी 'तरुण इटली' आदि आंदोलनों का बचपना-सिर्रापना कहकर ऐसा ही उपहास किया होगा। उनको उन्होंने जो कड़कते उत्तर उस समय दिए थे, वे सब इन लेखों में समाए थे और उसमें भी हमारी तरुणावस्था के अर्थात् सन् १९००-१९०६ की अवधि में उनकी तरुणावस्था में लोगों को 'बचकाने' लगे। गैरीबाल्डी और मैजिनी 'बचकाने' कहे गए अपने उस क्रांतिकारी आंदोलन के बल पर इटली की राज्य क्रांति सफल कर दिखानेवाले महान् राष्ट्र-निर्माता के रूप में गौरव पा रहे थे। अब पुन: हिंदुस्थान में भी नरम-गरम दल के नेताओं में उन्हें 'बचकाना' कहने की हिम्मत करनेवाला मिलना कठिन था। इसलिए गैरीबाल्डी और मैजिनी के लेखों का दृढ़ आधार हमारे आंदोलन को है, वे जिस रास्ते पर चलकर सफल हुए, उसी रास्ते से परिस्थितियों के कारण बाधित गति से हम बढ़ रहे हैं, यह बात इन लेखों के अध्ययन से सिद्ध होकर आम जनता में भी क्रांतिकारी दल के विषय में दृढ़ श्रद्धा उत्पन्न कर सकेगी, यह तय था।

ऐसे बहुत से हानि-लाभ सोचकर मैंने मैजिनी के आत्म-चरित्र एवं राजनीतिक लेखों का मराठी अनुवाद करने का निर्णय लिया।

अनुवाद-संबंधी मेरी नीति

महाराष्ट्र की सारी जनता को वे क्रांतिकारी लेख बिना किसी अड़चन के पढ़ने को मिलें, इसके लिए यदि उन्हें मराठी में अनूदित कर प्रकाशित करना है तो यथासंभव वे कानून की सीमा में ही लिखे जाने चाहिए थे। वैसे, सीमा सँभालने के दो तरीके थे। पहला जो सुरेंद्रनाथ ने काम में लिया था, उन्होंने मैजिनी के चरित्र या लेख छापे नहीं थे। केवल मौखिक व्याख्यान से वे मैजिनी की स्फूर्तिदायक जानकारी देते थे। फिर भी हर व्याख्यान के बाद वे जोर देकर कहते थे कि 'इटली की परिस्थिति में 'तरुण इटली' आदि शस्त्राचारी संगठन और क्रांतिकर्म कितने भी उपयोगी सिद्ध हुए हों, फिर भी तरुण मैजिनी के सशस्त्र क्रांति के रास्ते पर तुम हिंदुस्थानी गलती से भी पैर आगे नहीं बढ़ाना। अपने देश के लिए वह घातक है।'

परंतु उस पुस्तक की प्रस्तावना में मेरे द्वारा ऐसा लिखा जाना व्यदतो व्याघात होता। क्योंकि मैजिनी के लेखों में से सशस्त्र क्रांति-संबंधी लेखों का ही पारायण महाराष्ट्र करे और उनकी सशस्त्र क्रांति के रास्ते पर अपनी परिस्थिति के अनुसार चले, यही तो पुस्तक लिखने का मेरा एकमात्र उद्देश्य था। इसलिए यह पहली युक्ति त्याज्य थी। दूसरी युक्ति यह थी कि मैजिनी के लेख एवं चरित्र-भाग को चुनकर जैसे-का-तैसा, स्वयं का एक अक्षर भी न मिलाते हुए छापा जाए। मैंने ऐसे ही छापने का निश्चय किया, तथापि एक कदम आगे बढ़ना आवश्यक था। वह ग्रंथ केवल ऐतिहासिक नहीं है, केवल पठनीय नहीं है, अपने देश को आजाद करने के लिए भी अनुकरणीय है। उसकी इस विशेषता को यदि साफ तौर पर नहीं कह पाते, तो भी परोक्ष रीति से वैसा करना आवश्यक था, अन्यथा सामान्य जनता की दृष्टि में उसकी विशेषता सहज रूप से नहीं आती। इसलिए मैंने इस ग्रंथ पर अपनी एक प्रस्तावना लिखने की सोची। हिंदुस्थान की परिस्थिति में भी उन इतालवी क्रांति लेखों का जो भी सैद्धांतिक या क्रियात्मक भाग लागू हो रहा था, वह सब चुनकर ऐसी पद्धति से बाँधा जाए और बीच-बीच में ऐसे सूचक वाक्य रखे जाएँ कि वह प्रस्तावना पढ़ते समय चतुर पाठकों के हृदय क्रांतिकारी विचारों से थरथरा जाएँ और हिंदुस्थान में भी क्रांति-संगठन एवं क्रांति के सशस्त्र विद्रोह (Risings) इस तरह किए जाएँ कि वह बिना किसी अन्य मार्ग-दर्शन के अपने-आप हो जाएँ।

इस नीति से उन छह खंडों को पढ़ते ही जुलाई, १९०६ से मैं उनका मराठी अनुवाद तेजी से करने लगा। अन्य पत्र-व्यवहार, क्रांति-प्रचार, 'काल' और 'विहारी' के लिए समाचार, लेख आदि लिखने-भेजने के वहाँ के काम सँभालते हुए भी तीन सौ पृष्ठों का वह ग्रंथ मैंने दो-ढाई मास में लिख डाला। ऊपर कहे अनुसार सूचक और चेतक प्रकार की लगभग पच्चीस पृष्ठों की प्रस्तावना भी स्वतंत्र रूप से लिखकर मैंने उसमें जोड़ दी। इस प्रस्तावना के अंत में वह पूर्ण होने का स्थल एवं काल इस तरह मुद्रित है—'लंदन, इंडिया हाउस, तारीख २८ सितंबर, १९०६।'

मैंने ग्रंथ को तेजी से लिखकर पूरा तो कर लिया, पर उसे प्रकाशित करने का पेचीदा एवं कठिन काम अभी बाकी था। मेरे सभी सार्वजनिक कार्य का आधे से अधिक भाग मेरे ज्येष्ठ बंधु बाबाराव सावरकर पर आ पड़ता था। यदि नाम मिल गया तो उतना श्रेय मेरे भाग में आता था, परंतु सारे कष्ट उनके भाग में जाते थे। हमारी पुरातन संपदा का बँटवारा भाई-बंधुओं में इसी तरह होता था। वैसा ही इस प्रकरण में भी हुआ। मैंने ग्रंथ लिखकर डाक से हिंदुस्थान में बाबा के यहाँ भेजा और 'छपाएँ' इतना लिखा। ग्रंथ था भीषण। पुलिस और अधिकारियों की टेढ़ी नजर हमारी हर दौड़-धूप पर, विशेषत: बाबा पर पहले से ही थी। छपाई का खर्च देने के

लिए पास में फूटी कौड़ी भी नहीं थी। हर कोई टाँग अड़ाए खड़ा मिलता। हम सबके अंतिम आधार थे लोकमान्य तिलक। उनके यहाँ जाकर बाबा ने ग्रंथ दिखाया। बड़ेपन से उन्होंने उसे देखा और तथ्यपरक सलाह देते हुए कहा, 'ऐसा ग्रंथ छापना खतरे का काम है, यह जानकर जो कुछ करना हो, वह करें।'

अंत में जोखिम उठाने का निश्चय कर महाराष्ट्र के कुछ एकनिष्ठ सहयोगियों के दम पर बाबा ने ग्रंथ को छापना हर तरह से संभव बनाया। छापाखाने भी छापने की हिम्मत नहीं कर पा रहे थे। पुणे के सुप्रसिद्ध 'जगद्हितेच्छु मुद्रणालय' में कार्यरत 'अभिनव भारत' के कुछ सदस्यों के अंदरूनी प्रयासों से उस मुद्रणालय ने वह काम हाथ में लिया। इस तरह वह हस्तलिखित पांडुलिपि १७ दिसंबर, १९०६ को 'जगद्हितेच्छु' को छापने के लिए दी गई। ग्रंथ प्रकाशित होने के बाद सरकारी कोपदृष्टि आने के पूर्व ही तुरत-फुरत यथासंभव उसकी बिक्री कर डालने के लिए बाबाराव ने उस ग्रंथ की अग्रिम बिक्री के विज्ञापन समाचारपत्रों में दिए। सावरकर लिखित पुस्तक प्रकाशित हो रही है, यह जानते ही पैसा भेजकर माँग करनेवाले ग्राहकों की भीड़ लग गई। 'अभिनव भारत' नामक कोई क्रांतिकारी गुप्त संगठन अस्तित्व में नहीं है, वह कानून के अनुसार एक पुस्तक प्रकाशित करनेवाली संस्था का नाम है, ऐसा आभास उत्पन्न करने के लिए 'लघु अभिनव भारतमाला' नामक एक पुस्तकमाला पहले ही अस्तित्व में थी और उसके द्वारा मेरा सिंहगढ़ का पोवाड़ा, बाजी देशपांडे का पोवाड़ा, गोविंद कविकृत अफजल खान वध का पोवाड़ा आदि छोटी पुस्तिकाएँ प्रकाशित करने का काम पहले से ही चल रहा था। अब इस प्रकाशन-संस्था की बड़े-बड़े ग्रंथ प्रकाशित करनेवाली दूसरी शाखा 'विशाल अभिनव भारतमाला' भी प्रकाश में आ गई। उसके प्रथम पुष्प के रूप में मेरी पुस्तक 'जोसेफ मैजिनी : आत्मकथा और राजनीति' का प्रकाशन हुआ। लगभग तीन सौ पृष्ठों के उस ग्रंथ का मूल्य डेढ़ रुपया रखा गया था। वह ग्रंथ 'केसरी' के संचालक 'लोकमान्य' तिलक और 'काल' के संचालक 'लोकमान्य' परांजपे को अर्पित किया गया था।

राजमान्य या लोकमान्य

उपर्युक्त अर्पण-पत्र में प्रयुक्त 'लोकमान्य' शब्द के संबंध में मेरी एक स्मृति है। व्यक्ति-विशेष का उल्लेख सम्मानसहित करने की महाराष्ट्र की अपनी एक पद्धति के अनुसार नाम के पूर्व 'राजमान्य राजश्री' उपपद लगाकर फिर नाम लिखा जाता है या उसका उच्चारण किया जाता है। इस रूढ़ पद्धति को लक्ष्य करते हुए शिवराम पंत परांजपे ने अपने 'काल' पत्र में 'राजमान्य या लोकमान्य' शीर्षक का एक चटकदार लेख लिखा। लोगों के मन में राजनीतिक पराधीनता के प्रति क्रोध

उत्पन्न करने के लिए परांजपे कौन सा बहाना कहाँ से खोज निकालेंगे, इसका पूर्वानुमान कभी कोई नहीं लगा सकता था, यह लेख इसका उत्तम उदाहरण था। उस लेख के जिस आशय की सुध मुझे है, उसे अपनी भाषा में यही कह सकता हूँ कि जब हम स्वतंत्र थे, अपना राज्य था, राजा अपना स्वकीय था, तब किसी व्यक्ति को 'राजमान्य' या 'राजश्री' उपपद लगाना गौरव की बात थी, पर आज वह स्वराज कहाँ है ? आज हम सब हैं परसत्ता के गुलाम। परसत्ता के दास आपस में एक-दूसरे को 'राजमान्य' और 'राजश्री' कहें-कहलवाएँ, इसका अर्थ तो एक-दूसरे का अपमान करने जैसा है। इसलिए अब हम सब भारतीय 'राजमान्य' या 'राजश्री' उपपद न लगाकर परस्पर 'देशबंधु' उपपद से एक-दूसरे को संबोधित करें। उसमें भी जो आज परसत्ता की आँखों की किरकिरी बने हुए हमारे लोकनेता हैं, उन्हें भी 'राजमान्य' कहना उनका अपमान करने जैसा है। लोकनेता तिलक का ही उदाहरण लें। आज परसत्ता में तिलक को 'राजमान्य' कहने का अर्थ उनका 'तिलक' पद ही छीन लेने जैसा है। इसलिए इसके बाद हम तिलक जैसे लोकनेता को 'लोकमान्य' तिलक ही संबोधित करें।

'काल' पत्र की यह सूचना इतनी लोकप्रिय हो गई कि विशेषत: उस समय की तरुण पीढ़ी ने पत्राचार, भाषणों एवं लेखों में 'रा.रा.' (राजमान्य राजश्री) अमुक लिखंना छोड़ ही दिया तथा उस समय के बाद के तीस-एक वर्ष तक 'देशबंधु' अमुक लिखने और बोलने का रिवाज-सा पड़ गया, जैसे अब अधिकतर श्रीयुत् या श्री उपपद लिखा जाता है। तिलक को तो तब से केवल महाराष्ट्र ही नहीं, अपितु सारा भारत 'लोकमान्य' के महान् उपपद से ही संबोधित करने लगा। यह तो उनका उपनाम ही हो गया।

मैजिनी की पुस्तक दोनों को ही अर्पित क्यों?

अपनी पुस्तक 'काल' के संपादक को अर्पित करने की बात मेरे मन में थी ही, क्योंकि 'काल' में लिखे उनके लेख 'तरुण इटली' के कारण ही मेरे मन में मैजिनी के संबंध में विशेष उत्सुकता जागी थी। दूसरे यह भी कि लोगों में हमारे क्रांतिकारी वर्ग के प्रेरक के रूप में परांजपे यथार्थ में प्रशंसित थे। इस कारण जनता में उनकी प्रतिष्ठा जितनी बढ़े, उतनी हमारे दिल में भी प्रतिष्ठा बढ़नी थी। हमारे दल में तिलकजी के प्रति जैसा सम्मान-भाव था, वैसा ही परांजपे के प्रति उत्कट प्रेम था। इसलिए हम इन दोनों के ही लिए 'लोकमान्य' उपपद लगाते थे। कुल मिलाकर 'काल' में प्रकाशित होनेवाले क्रांतिकारी लेखों के लिए और वे हमें व्यक्तिश: जो महत्त्वपूर्ण प्रोत्साहन देते थे, उससे उऋण होने के लिए मेरा 'मैजिनी'

ग्रंथ परांजपे को तो अर्पित करना ही था। इसके लिए मैंने उनकी सहमति भी प्राप्त कर ली थी, परंतु प्रथम सम्मान तो तिलकजी का ही होना चाहिए, यह हमारी भावना थी। इसलिए वह दोनों को अर्पित की जाए, ऐसा सोचा। तथापि बाबाराव ने वह पुस्तक जब तिलकजी को दिखाई थी, तब उन्होंने कहा था कि पुस्तक छापना जोखिम भरा है। अब आशंका यह थी कि तिलकजी को जबरन ऐसी जोखिम भरी पुस्तक अर्पित करना क्या उन्हें पसंद आएगा? उनके महान् कार्य में इस कारण कोई बाधा उत्पन्न न हो, यह हमारी भावना थी। यदि तिलक को अर्पित न करते हुए अकेले परांजपे को अर्पित कर दें तो ऐसी अफवाह खाली दिमागवालों द्वारा उड़ाए जाने का भय था कि 'सशस्त्र क्रांतिकारी दल तिलक के प्रति सम्मान-भाव नहीं रखता'। ऐसे में बाबाराव ने मुझे सूचित किया कि 'अर्पण' के संबंध में उन्होंने स्वयं तिलकजी से जब पूछा, तब उन्होंने कहा, 'आपको जो उचित लगे करो, मेरी 'न' नहीं है।' यह ज्ञात होते ही जैसे प्रश्न सुलझ गया। तिलकजी का प्रथम उल्लेख कर 'केसरीकर्ते लोकमान्य तिलक व काळकर्ते लोकमान्य परांजपे यासी समर्पण'—यह अर्पण-पत्रिका मैंने लिखी।

दिसंबर १९०६ में छपने के लिए दी गई पुस्तक जून १९०७ में छपकर आ गई। उसे पढ़ने की इतनी उत्सुकता लोगों में थी कि दो हजार प्रीतियों की प्रथमावृत्ति जुलाई में ही उठ गई, फिर भी माँग बनी रही। बहुतों ने दूसरे संस्करण के लिए भी अपनी माँग प्रस्तुत करने की सूचना दी। उस समय की मराठी पुस्तकों की बिक्री का औसत देखते हुए तुरत-फुरत बिक्री का यह सचमुच अनुपम उदाहरण था। विदर्भ सहित पूरे महाराष्ट्र के अधिकतर समाचारपत्रों ने पुस्तक पर विस्तार से सम्मतियाँ लिखीं। 'विहारी' जैसे राष्ट्रीय विचारधारा के समाचारपत्रों ने संपादकीय भी लिखे। 'केसरी' ने भी संपादकीय लिखा। जनता ने जिस उत्साह और स्नेह से पुस्तक का स्वागत किया, उसका प्रतिनिधित्व 'काल' पत्र के संपादकीय में व्यक्त हुआ। इसलिए उस विस्तृत संपादकीय का एक अंश यहाँ नीचे दे रहा हूँ—

'महाराष्ट्र के पाठकों का देशभक्त सावरकर से परिचय इसके पूर्व ही हो चुका है। अपने स्वाभाविक उत्साह, उज्ज्वल देशभक्ति, अपने सप्रमाण लेखन, आवेशयुक्त भाषा-शैली आदि से महाराष्ट्र के लिए वे पूर्वपरिचित हो चुके हैं। बंबई विश्वविद्यालय से बी.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण कर लेने के बाद कानून की पढ़ाई कर बैरिस्टरी की परीक्षा देने के उद्देश्य से डेढ़-एक वर्ष के लिए वे विलायत में रह रहे हैं।

'देशभक्त सावरकर यद्यपि विलायत गए हैं। फिर भी वे स्वदेश को, स्वेदशबंधुओं को और स्वभाषा को क्षण भर भी भूले नहीं हैं, यह उनकी प्रस्तुति से

स्पष्ट हो रहा है। परदेस के भव्य भवन, विशाल कारखाने और विपुल संपत्ति देखकर चुँधिया न जाते हुए अपना गुलाम देश इस देश जैसा कैसे होगा, ऐसी ज्वाला जिस हृदय में सतत प्रज्वलित हो, वही हृदय परदेस जाए तो उससे स्वदेश का लाभ होगा। ऐसे हृदय वृक्षमूल की तरह परदेस का स्वतंत्रता-पोषक रस खींचकर उसके अति ताप से झुलसते जा रहे अपने देश के वृक्षों को फिर से पल्लवित करते हैं। परदेस में गई स्वदेशभक्ति कभी भी व्यर्थ नहीं जाती।

'दे. सावरकर ने अंग्रेजी भाषा के जन्म-स्थान पर जाकर वहाँ अपनी जन्मभूमि की स्वभाषा मराठी में ग्रंथ लिखकर प्रकाशित किया···लंदन में बैठकर स्वदेश की सच्ची उन्नति के मार्ग के विषय में मराठी में लिखा यही प्रथम ग्रंथ है··· ।

'स्वतंत्रता देवी के परम भक्त मैजिनी के स्वदेश को स्वतंत्र कर देनेवाले स्वतंत्रता-भक्ति से भरे लेख, उनका इंग्लैंड जैसी स्वतंत्र वायु में स्वदेशाभिमानी सावरकर द्वारा किया गया अनुवाद और उसे पढ़ने के लिए उत्सुक हुए हिंदुस्थान के परतंत्र लोग, ऐसा त्रिवेणी संगम हो जाने पर उसका जल हिंदुस्थान के सारे लोगों को क्लेशों से मुक्त किए बिना कभी नहीं रहेगा··· ।

'मैजिनी के ये लेख अमृत-प्रवाह हैं। स्वतंत्रता के इन वेद-मंत्रों में विलक्षण शक्ति है। इस मंत्र का जाप कर यदि कोई जुल्म के साँप पर उसका प्रयोग करेगा तो उस साँप का विष इससे तत्काल उतर जाएगा···ऐसी अद्‌भुत शक्ति से संपन्न मैजिनी के महामंत्र को देशभक्त सावरकर ने अपनी महाराष्ट्र-भाषा में लाकर उसका परिचय सब लोगों से करा दिया। इसके लिए उनका जितना भी आभार माना जाए, कम है। जो पढ़ सकता है, वह ऐसी पुस्तकें बिना पढ़े कभी न रहे और जिन्हें पढ़ना नहीं आता, परंतु सुन सकते हैं, वे ऐसी पुस्तकें सुने बिना कभी न रहें। भगवत्‌गीता का श्रवण और मनन जैसे अपने हर भक्त को जीवनमुक्त कर देता है, वैसी ही अलौकिक शक्ति इसमें है।'

इस पुस्तक की (मेरे द्वारा लिखित) प्रस्तावना के कुछ अंश मैं यहाँ दे रहा हूँ। वह इसलिए कि वह प्रस्तावना सहज ही विधि के शिकंजे में न आए, इसका ध्यान रखते हुए यद्यपि मैंने स्पष्टता से ऐसा नहीं लिखा था कि मैजिनी के सशस्त्र क्रांति मार्ग का अनुसरण हिंदुस्थान करे, तथापि अपरिहार्य रूप से वही सूचना देनेवाली उसकी कुशल रचना कैसी थी, इसका और तब की मेरी भाषा एवं मनोवृत्ति का उस समय लिखे गए लेखों के इस अंश से जैसा अचूक बोध होगा, वैसा केवल आज की भाषा में कही गई स्मृतियों से नहीं होगा। प्रस्तावना के वे अंश हैं—

'···मैजिनी पूछता है, 'कहिए धर्माधिकारीजी! आपका भी जन्म इसी भूमि पर हुआ है न? आपको भी इसी भूमि ने पाला-पोसा है न? इसीके दूध पर आप बढ़े

हैं न? फिर जब वह अत्याचारों से पीड़ित है, तब आप चुप बैठे स्वर्ग में कैसे पहुँचेंगे? धर्म आजकल आपकी छावनी में नहीं है, वह हमारी छावनी में आया हुआ है। यदि आप यह चाहते हैं कि धर्म की वास्तविक जय-जयकार हो, तो आप हमसे मित्रता करें। राजनीति में धर्म है, धर्म में राजनीति है, यह परमेश्वर के घर का सत्य है; यह जानकर यदि मेरी प्रिय देशभूमि के दो करोड़ लोग ऐसा सोचकर उठें कि अब स्वतंत्रता प्राप्त करनी ही है, तो ऑस्ट्रिया तो क्या, इकट्ठे तीन ऑस्ट्रिया का भी विध्वंस कर अपनी स्वतंत्रता प्राप्त की जा सकेगी।' दो करोड़ देशबंधुओं पर मैजिनी का इतना विश्वास! फिर यदि उनके देश की जनसंख्या इससे दसगुनी होती तथा उसका शत्रु ऑस्ट्रिया ही होता तो वह स्वदेश को स्वतंत्र करने में एक पल भी नहीं लगाता। मर्दों की बात ऐसी ही होती है।

'मैजिनी कहता है, 'इटली का स्वामित्व ऑस्ट्रिया की ओर गया है। पचहत्तर हजार ऑस्ट्रियन सिपाही इटली पर राज कर रहे हैं। इटली गुलामों का बाजार बना हुआ है। यहाँ जो देसी रियासतें हैं, वे ऑस्ट्रिया के भय से भीगी बिल्ली बनी हुई हैं। इटली एक बड़ा कारावास बना हुआ है और उसपर ऑस्ट्रियाई सिपाहियों का पहरा बना हुआ है। इटली का नाम पुछ गया है। इटली का झंडा फट गया है। (ऐसी स्थिति में) तुम्हें भीख माँगकर स्वतंत्रता मिलेगी, ऐसी आशा है क्या? ऑस्ट्रिया ने हमें जीता है हमारे निवेदनों की पर्चियों से हमें मुक्त करने के लिए नहीं।' (गुलाम) राष्ट्रों के इतिहास में अधिकतर दिखनेवाला 'भिक्षां देहि' का व्यसन इटली को लग गया था, परंतु वह तुरंत ही छूट गया। सौ-सौ वर्षों तक विदेशियों के दरवाजे पर लातें खाते रहने एवं हजारों बार विश्वास-भंग होने के बाद फिर एक बार कटोरा लेकर भिक्षा माँगें, इटली देश इतना राजनिष्ठ नहीं हुआ था।

उसी समय पोलैंड, स्पेन आदि देशों में राज्य क्रांति की लहर उठी थी। इसलिए भी इटली के लोगों में आत्मनिष्ठा उत्पन्न हो गई। ऐसी राज्य क्रांतियाँ (स्वतंत्रता के लिए) इधर-उधर हो रही हों और उनकी ओर देखकर भी जिन्हें अपनी गुलामी एवं 'भिक्षां देहि' की लज्जा उत्पन्न नहीं होती, ऐसे देश पृथ्वी पर कम नहीं हैं। परंतु इटली इतना मूर्ख नहीं था…' बाद में इटली में स्वदेशी आंदोलन शुरू हो गया। विद्यार्थियों ने ऑस्ट्रिया की तंबाकू का कड़ा बहिष्कार प्रारंभ किया। सड़कों पर नाकेबंदी की और जिसे भी ऑस्ट्रिया की बीड़ी पीते देखा, उसे पीटा। इस स्वदेशी आंदोलन को जल्दी ही राजनीतिक रूप प्राप्त हो गया। इतिहास की पुनरावृत्ति इसी तरह होती है। इतिहास में स्वदेशी आंदोलन की परिणति राज्य क्रांति में एवं स्वतंत्रता-प्राप्ति में हो जाने के ये उदाहरण कोई अकस्मात् घटित नहीं हुए। दुर्घटनाएँ नहीं थीं वे। दूसरों द्वारा मचाई जा रही लूट को रोकना और अपने अधिकार का

उपभोग करना ही स्वदेशी आंदोलन है। सामान्य जन 'अपने अधिकार क्या हैं' एकदम जान नहीं पाता। पहले-पहल उसकी ग्रहण-शक्ति को इतना ही समझ में आता है कि विदेशी व्यापार से हम डूब रहे हैं, इसलिए वे उस विदेशी व्यापार का बहिष्कार करने के लिए तैयार हो जाते हैं। विदेशी व्यापारी अपने व्यापार-संरक्षण के लिए अत्याचारी उपाय अपनाने लगते हैं। अत्याचार आरंभ होते ही सामान्य जन को यह समझ में आने लगता है कि निर्जीव विदेशी कपड़ों, तंबाकू, चाय आदि का बहिष्कार करने से कुछ नहीं होगा। ये निर्जीव वस्तुएँ हैं। अपना क्रोध तो उन सजीव वस्तुओं के लिए प्रकट होना चाहिए, जिनके सहारे निर्जीव वस्तुएँ टिकी हैं। तंबाकू को नहीं, अपितु उन ऑस्ट्रियन लोगों को और चाय को नहीं, अपितु अंग्रेज लोगों को ही अपने देश से बाहर निकालना चाहिए।

(इस तरह) भिक्षा माँगने से कुछ भी प्राप्त होनेवाला नहीं है। अंत में शक्ति देवी की उपासना से ही कुछ होगा, इसकी संभावना सामान्य लोगों को धुँधली-सी दिखती है। फिर भी उनकी समझ में यह नहीं आता है कि राष्ट्र को सशस्त्र एवं सशक्त कैसे किया जाए। मैजिनी कहता है—उस स्थिति में गुलामी से छूटने के लिए गुप्त संगठनों के सिवाय कोई दूसरा उपाय नहीं है। जहाँ सत्य कहने पर (किसी भी) अधम सत्ता ने रोक नहीं लगाई है, वहाँ गुप्त संगठन एवं गुप्त षड्यंत्र अपराध होगा, परंतु जहाँ सत्य कहने पर अधमों के अत्याचारों के कारण रोक लगी हुई है, वहाँ गुप्त संगठन ही पवित्रतम उपाय है। सत्य कहने का वही एक मार्ग है। जब स्वदेश को विदेशी एक बड़ा कारागार बना देते हैं, तब स्वतंत्रता के पवित्र वातावरण में साँस लेने का ईश्वरीय अधिकार प्राप्त करने के लिए हम कैदियों के लिए गुप्त षड्यंत्र ही एक मार्ग बचता है। हम गुप्त संगठन बनाएँगे, गुप्त षड्यंत्र करेंगे, समय आने पर कारा की खिड़कियाँ उखाड़ फेंकेंगे, उनके दरवाजों को लात मारकर तोड़ देंगे और उन कारावालों के सीने पर नाचते-गाते खुली हवा में आएँगे—हम स्वतंत्र होंगे।*

इन गुप्त संगठनों का सहारा यूरोप के अधिकतम स्वतंत्रता-प्रेरित राष्ट्रों ने लिया है। गुप्त संगठनों के माध्यम से स्वतंत्रता का प्रशिक्षण बहुत सरलता से दिया जा सकता है। समाचारपत्रों में खुला लेखन करके या सार्वजनिक भाषण करके ऐसा करना असंभव होता है। चूँकि युवा व सामान्य लोगों की ग्रहण-शक्ति सूक्ष्म नहीं होती। अत: उन्हें समाचारपत्र या सार्वजनिक व्याख्यानों में छिपा अथवा प्रतीकात्मक अर्थ समझ में नहीं आता, परंतु गुप्त सभा आयोजित कर उसमें स्वतंत्रता की शिक्षा खुले रूप में देना संभव होता है, और यह भी कि केवल स्वतंत्रता प्राप्त करो, इतना ही कहकर बैठा नहीं जा सकता, स्वातंत्र्य-युद्ध की तैयारी करना भी आवश्यक होता

है। यह काम खुले रूप में करना बहुत कठिन होता है। वह गुप्त रूप से ही करना पड़ता है। इसलिए मैजिनी ने 'तरुण इटली' नामक गुप्त संगठन की स्थापना की। 'तरुण इटली' दोहरे कार्यक्रम की योजना बनाता रहा। लोकशिक्षा एवं युद्ध शिक्षा, दास-मुक्ति, राष्ट्रीय एकता, लोकसत्ता आदि चौमुखी शिक्षा 'तरुण इटली' में दी जाती थी। युद्ध के बिना स्वतंत्रता मिलनेवाली नहीं है। किसी सत्य की जय-जयकार करनी हो या किसी असत्य का विनाश करना हो तो युद्ध पवित्र होता है, परंतु इटली में वैसी लड़ाई लड़ना कठिन हो गया था। उनके पास युद्ध के लिए हथियार नहीं थे या उन्हें रखने की अनुमति नहीं थी। ऐसी स्थिति में इटली के अतिरिक्त दूसरा कोई राष्ट्र होता, तो वह अत्यंत भयभीत हो जाता। युद्ध का नाम लेने से भी लोग डरने लगते, परंतु इटली ऐसे संकटों की चिंता करनेवाला नहीं था। वहाँ के शूर और युवा लोगों ने स्पेन, अमेरिका, जर्मनी, पोलैंड आदि देशों में जाकर युद्ध-कला का ज्ञान प्राप्त किया। गैरीबाल्डी, विसीओटी आदि 'तरुण इटली' के सदस्य इसी रीति से प्रत्यक्ष युद्ध करने में निपुण हो गए। गुप्त संगठन अन्य देशों से हथियार खरीदते और उन्हें भरे माल में छिपाकर जहाज से भेजते। बहुत बार यह बात खुल जाती। जैसे एक बार मैजिनी के फ्रांसीसी मित्र ने जहाज द्वारा शस्त्र भेजा, परंतु वह इटली के किनारे लगने से पहले ही समुद्र में पकड़ा गया। वह जहाज जब्त किया गया और उसपर लदे शस्त्र एवं माल छीन लिये गए। स्वतंत्रता के युद्ध जैसे महान् कार्य में ऐसे संकट तो आएँगे ही। उनसे डरकर लोग गुलामी में फँसे रहते हैं, पर मर्द उनसे टकराकर स्वतंत्रता प्राप्त करते हैं—ऐसा वे शूर युवा मानते थे।

'उस अवधि में इटली के देशभक्तों ने सेना को मनाने की युक्ति निकाली। विदेशी सरकार को तद्देशीय सैन्य रखे बिना किसी भी देश पर राज करना संभव नहीं होता। ऐसी स्थिति में सैनिकों को स्वदेश की ओर मोड़ा जा सके, तो उसका दोहरा उपयोग होता है। पहला तो यह कि विदेशियों का विश्वास उखड़ने लगता है और ठीक समय में वे घबरा जाते हैं; दूसरा यह कि राष्ट्रपक्ष को ऐसे तैयार एवं सशस्त्र सैनिक मिल जाते हैं।...ऐसी तैयारी हो जाने के बाद बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ लड़कर युद्ध नहीं करना पड़ता, फिर तो केवल छापामार युद्ध करना पड़ता है। (मैजिनी कहता है) 'विदेशी सत्ता को पलट देने की जिस-जिसकी इच्छा हो, हर वह दलित राष्ट्र निश्चयी एवं पक्के देशभक्तों द्वारा निश्चय करते ही छापामार युद्ध प्रारंभ कर सकता है, क्योंकि उस युद्ध के लिए विशेष ज्ञान नहीं चाहिए। जैसे-जैसे युद्ध होता जाता है, वैसे-वैसे उन देशभक्तों को लड़ाई का अधिक अनुभव मिलता जाता है। छापामार युद्ध में भारी हार का भय नहीं रहता। छापामार टोलियाँ छोटी-हलकी होने के कारण हवा की भाँति चारों ओर घूम सकती हैं।'

इटली में (गुप्त संगठनों के विद्रोह के कारण) सन् १८३१ से १८७० तक प्रतिवर्ष कहीं-न-कहीं एक विद्रोह होता ही रहा। ऐसे पक्के निश्चय से इटली अनंत पराजय सहन करते हुए लड़ता रहा। (मैजिनी कहता है) 'हर पराजय जय की ओर बढ़ती सीढ़ी होती है।' सन् १८२० में पराजय हुई, १८३१ में पराजय हुई, १८४८ में पराजय हुई—फिर भी पुन: प्रयास करें···रोम में सन् १८४८ में (इटली के क्रांतिकारियों की) फ्रांसीसियों से चल रही लड़ाई में गैरीबाल्डी सेना से लड़ रहा था। इतने में उसे सिनेट (क्रांतिकारी राज्य मंत्रिमंडल) द्वारा आमंत्रित किया गया और वह जैसा था, वैसा ही वहाँ चला गया। सिनेट ने तालियों की प्रचंड गूँज से उसका स्वागत किया। उसे उस जयनाद का अर्थ समझ में नहीं आया। उसने स्वयं की ओर देखा। उसके शरीर की नस-नस से रक्त टपक रहा था, उसे स्पर्श करती निकल गई गोलियों और शस्त्र से कपड़ों की जाली बन गई थी और वार करते-करते तलवार इतनी झुक गई थी कि म्यान में वह आधी भी नहीं घुस पाई थी। ऐसी उस तलवार को अनंत प्रणाम! जब तक विश्व में ऐसी एक भी तलवार है, तब तक गुलाम राष्ट्रों को स्वतंत्र होने की आशा करने में कोई हानि नहीं है।

अंत में फ्रांस ऑस्ट्रिया और जर्मनी के बीच जो युद्ध हुआ, उसमें ऑस्ट्रिया और फ्रांस—इटली के ये दोनों शत्रु—अपने पर आए संकट में फँस गए। तब सन् १८५९ में इटली में फिर से राज्य क्रांति की लहर उठी और आधी इटली स्वतंत्र हो गई। सन् १८६६ में वेनिस स्वतंत्र हुआ, सन् १८७० में रोम स्वतंत्र हुआ और रोम में मैजिनी ने प्रवेश किया···सन् १८३१ में सावोना के कारागार में बंद युवा मैजिनी और सन् १८७१ में स्वतंत्र इटली की, एक राष्ट्रीय इटली की इस स्वतंत्र राजधानी रोम में प्रवेश करनेवाला मैजिनी! क्या इटली का कोई चित्रकार ये दो चित्र बनाएगा? (एक वर्ष के अंदर ही मैजिनी की मृत्यु हो गई। जेनेवा में मैजिनी की मृत देह की उत्तर विधि जब चल रही थी, तब हजारों इटलीवासी अपने राष्ट्रपिता का अंतिम दर्शन पाने के लिए भीड़ लगाए हुए थे और दर्शन पाते ही बिलख-बिलखकर रोने लगते थे।) परमेश्वर ने हर देश के लिए एक-एक मैजिनी रखा हो, तो किसीको भी इटली से ईर्ष्या करने का कोई कारण नहीं!'

मैजिनी के चरित्र में जोड़ी गई अपनी प्रस्तावना से उपर्युक्त कुछ उद्धरण मैंने लिये हैं। अब मैजिनी के लेखों के अनुवाद से कुछ उद्धरण नीचे दे रहा हूँ—

'तरुणो! स्वदेश की भूमि को प्यार करो। जहाँ तुम्हारे पूर्वज स्वर्गीय निद्रा ले रहे हैं, वह भूमि तुम्हारी स्वदेशभूमि है! जिस भाषा में तुम्हारे प्रेम की मूर्ति ने तुमसे पहला 'प्रेम' शब्द बोला, वह भाषा जहाँ बोली जाती है, वह तुम्हारी स्वदेशभूमि है। स्वदेश तुम्हारे लिए ईश्वर द्वारा दिया हुआ घर है! स्वदेश ही तुम्हारा अभिमान,

तुम्हारा वैभव, तुम्हारा गौरव-चिह्न है। उस स्वदेश को अपने विचार, अपना रक्त अर्पण करो। उस स्वदेश को अपने पूर्वजों के भविष्य की तरह भव्यता और सुंदरता की ओर ले जाओ। उसे किसी भी तरह कालिमा से बचाते हुए दुनिया से जा रहे हैं, ऐसा कह सको, ऐसी चिंता करो। तुमने ऐसी चिंता की, तो तुम्हारे जाने के पहले देश स्वतंत्र हो जाएगा। वह स्वदेश एक (एकात्म) रहना चाहिए। उसके टुकड़े नहीं होने चाहिए। ईश्वर ने अपनी अँगुलियों से तुम्हारे राष्ट्र की सीमाएँ निश्चित की हैं। ईश्वर ने तुम्हारे लिए आल्प्स एवं समुद्र का पहरा बैठाया है, परंतु उसके जिस आकाश को आज दासता का कलंक लगा है, उस आकाश के नीचे रहने के लिए तुम्हारे ढाई करोड़ लोगों में से एक भी रहना नहीं चाहिए। फिर भी चलो…स्वदेश को पहले मुक्त करें! चलो, पहले परतंत्रता को नष्ट करें!! अन्य शब्द न कहते हुए केवल रणघोष की ही गर्जना करें।

'मानव जाति से प्रेम करो! स्वदेश तुम्हारा पालना है और मनुष्य जाति तुम्हारी माता है। अन्य राष्ट्र गुलामी से छूटने के लिए प्रयासरत हैं। उनकी भी यथासंभव सहायता करो। प्राणियों पर दया रखो। तरुणो, ध्येय से अत्यंत प्रेम करो, उसे पूजनीय मानो! ध्येय के लिए स्वार्थ-त्याग करो, दुःख को त्रास मत समझो। संकटों से घबराओ नहीं। जीवन एक सुख नहीं, कर्तव्य है।

'एक बार यदि आदमी ऐसा निश्चय करे कि मैं स्वतंत्रता, स्वदेश एवं मानवता की भक्ति करूँगा तो फिर उसे स्वतंत्रता के लिए, स्वदेश के लिए, मानवता के लिए लड़ना ही होगा। अखंड लड़ना होगा, जीवन भर लड़ना होगा। हरसंभव शस्त्र से लड़ना होगा। द्वेष और निंदा का सामना करना होगा। (लोगों द्वारा किए जानेवाले) तिरस्कार से मृत्यु तक सारे संकट तुच्छ मानने होंगे। दूसरे किसी भी फल की आकांक्षा न कर केवल कर्तव्य के लिए तत्पर रहना होगा।

'(मैजिनी का राजनीतिक संविधान-संबंधी कार्यक्रम) हमारे हृदय की प्रथम इच्छा है कि हमारे जीवन का प्रथम कर्तव्य दास्य-मुक्ति है। (ऑस्ट्रिया और फ्रांस) इन विदेशियों के हाथों से इटली को पूर्ण स्वतंत्र करने के लिए हम प्रथम प्रयास करेंगे। फिर दूसरा उद्देश्य राष्ट्रीय एकता कायम करना है। विदेशी शासन और अनेक रियासतों के कारण आज हमारे राष्ट्र के सैकड़ों टुकड़े हो गए हैं। किसी संजीवनी से जोड़े बिना, इटली के एक हुए बिना (खंडित स्वतंत्रता मिलने पर भी) यह स्वतंत्रता कभी बनी नहीं रह सकेगी। (इस तरह देश स्वतंत्र एवं अखंड होने के बाद हमारा तीसरा उद्देश्य लोकसत्ता स्थापित करना है) यदि किसी इतालवी रियासत का प्रमुख स्वतंत्रता एवं राष्ट्र की एकता का विश्वास दिलाता हो, तो खुशी से मेरी निष्ठा है, इसलिए नहीं—क्योंकि वैसा होना असंभव है—लोकसत्ता के लिए

किए जा रहे अपने प्रयास स्थगित करूँगा, किए भी हैं और यह मैंने खुले तौर पर सबको सूचित किया है। इतना ही नहीं, अपितु ऑस्ट्रिया के नाश के लिए (लोकसत्तात्मक एवं राज्यसत्तात्मक—सभी इतालवी क्रांतिकारी) एक हो जाएँ।'

मैजिनी के लेखों में से अधिकतर के संक्षिप्त भाग को ही मैंने मराठी पाठकों के लिए उपयोगी होने की दृष्टि से अनूदित किया था। मेरे तीन सौ पृष्ठों के छोटे-से ग्रंथ में मैजिनी के लेखों के छह खंड समाना संभव नहीं था, तथापि उसके आत्म-चरित्र के एक प्रकरण का सविस्तार अनुवाद मैंने अवश्य किया था।

उस प्रकरण में, सेवाय प्रांत के इतालवी क्रांतिकारियों का विद्रोह जब विफल हो गया, तब 'तरुण इटली' नामक संस्था की गुप्तता का भयानक विस्फोट हो गया, जैसीकि अधिकतर गुप्त संस्थाओं में कमी होती है। विद्रोह में सम्मिलित सैनिकों की और 'तरुण इटली' के सदस्यों की पूरे प्रांत में जोरदार पकड़-धकड़ हुई। गुप्त आरक्षकों के छल एवं शारीरिक अत्याचारों के कारण सैकड़ों क्रांतिकारियों ने जब नाम बताए, तो अन्य अनेक ने वैसा विश्वासघात घटित होने के पूर्व ही बंदीगृह में और बाहर आत्महत्या कर ली, सैकड़ों परिवारों के घर-दरवाजे जोत डाले गए, अनेक को गोलियों से भूना गया, अनेक को फाँसी पर लटकाया गया, सैकड़ों क्रांतिकारी सीमा पार जाकर यूरोप भर में भूख-प्यास से लड़ते बेहाल घूमते रहे—इनमें मैजिनी और गैरीबाल्डी भी थे। उस भयानक अवधि का वर्णन मैजिनी ने उस अध्याय में किया है।

महाराष्ट्र में मेरा यह अनुवाद जब प्रकाशित हुआ, तब अर्थात् सन् १९०७-८ में 'अभिनव भारत' गुप्त संस्था की सैकड़ों छोटी-बड़ी शाखाएँ विदर्भ से लेकर ग्वालियर तक फैली हुई थीं। देखा-देखी अन्य स्थानीय गुटों की भी गुप्त संस्थाएँ बन रही थीं। अपने लंदन जाने के पहले से ही मैं अपने इन सारे क्रांतिकारी सहयोगियों को जताया करता था कि 'आज हम अपने देश को स्वतंत्र करने के आकर्षक ध्येय से भरी हुई गुप्त संस्थाओं में प्रवेश कर रहे हैं। ऐसी गुप्त संस्थाओं की प्रतिज्ञा लेते समय उदात्त हृदय को एक दिव्य उन्माद चढ़ जाता है, परंतु उस उन्माद में भी हर क्रांतिकारी इसका स्पष्ट ध्यान रखे कि उस प्रतिज्ञा का कितना भयंकर परिणाम आगे भोगना पड़ेगा।' विश्व के विभिन्न इतिहासों से ऐसे उदाहरण देकर मैं उनके मन पर यह बात बार-बार बैठाता रहता था। इटली की सफल क्रांति के इतिहास में भी अनेक गुप्त संस्थाओं को अपनी ऐसी प्रतिज्ञा के लिए कितने भयंकर अत्याचार और परिणाम सहने पड़े थे। मैजिनी ने इस अध्याय में उसका पूरा वर्णन किया है। इसीलिए मैंने इसका पूरा अनुवाद किया। स्वयं मैजिनी को उस असह्य पीड़ा के कारण पागल हो जाने की स्थिति में कैसे आना पड़ा, उसे भी इस

अध्याय में उसने (मैजिनी ने) सत्यता से कहा है। स्वतंत्रता के लिए हम क्रांतिकारियों ने जो प्रतिज्ञा की थी, उन्हें ऐसे भयंकर परिणामों का आभास पहले से ही था, इसीलिए हमपर भी जब वैसे संकट आएँ तब अनेक वीर स्वयं से, अपने सगे-संबंधियों से, सहयोगियों से एवं लोगों से कह सकें—

> नहीं लिया व्रत हमने अंधेपन से
> लब्ध प्रकाश इतिहास-निसर्ग माने॥
> जो दिव्य दाहक ही होगा
> समझकर संकल्प लिया यह सती का॥

उसी अवधि में लिखे गए (और आज भी उपलब्ध) उस लेखन की एक कविता में उपर्युक्त पद आया हुआ है। मैं क्रांतिकारियों को उस समय पहले से चेताया करता था कि 'गुप्त संस्था की शपथ लेने के पहले ही उसके भीषण परिणाम जान लो। उनको भोगने के लिए मन की सिद्धता करो और वैसा साहस हो, तब ही शपथ लो, नहीं तो सशस्त्र क्रांतिमार्ग छोड़कर 'नरम' या 'राष्ट्रीय' दल के सापेक्षतः सौम्य एवं सुरक्षित मार्ग से चलकर जो कुछ देश-सेवा करते बने, वह करो, क्योंकि प्राथमिक ही सही, पर वह भी सच्ची देश-सेवा ही है।' मेरी वह स्मृति जैसी-की-तैसी बनी हुई है। इसका अभिलेखीय साक्ष्य (Documentary Evidence) ही उस समय का यह पद है।

यह पुस्तक कोई उपन्यास नहीं थी। फिर भी सर्वसामान्य महाराष्ट्रीय जनता ने उसे जिस अपूर्व उत्कंठा से खरीदा और उसका स्वागत किया, उससे अप्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रीय वृत्ति और प्रत्यक्षतः ऊपर उल्लिखित गुप्त संगठनों के आंदोलनों से महाराष्ट्रीय जनता की मनोभूमिका की क्रांतिप्रवणता साफ हो जाती है। जिस क्रांति-संबंधी मार्ग प्रदर्शन की उत्कट जिज्ञासा उसे थी, वही उसे सुनने को मिला। गरमी के अंत में तपती भूमि जिस तरह वर्षा की पहली झड़ी को गटागट पी जाती है, उसी तरह स्वतंत्रता के लिए उत्सुक, परंतु उस समय की प्रतिकूल परिस्थिति में किंकर्तव्यविमूढ़ हुए महाराष्ट्रीय देशभक्तों की मनोभूमि ने इस पुस्तक से मैजिनी के क्रांतिकारी उपदेशरूपी अमृत का आकंठ पान किया। हर पुस्तक को बीस-पच्चीस लोग पढ़ते, ऐसा सरकारी गुप्तचरों के प्रतिवेदन कहते हैं···हरिविजय, रामविजय आदि धर्मग्रंथों को जैसे पालकी में रखकर जुलूस निकाले जाते हैं, वैसा ही सम्मान लोगों ने इस ग्रंथ को दिया। अनेक तेजस्वी पालकों ने अपने पुत्र-पुत्रियों से इस ग्रंथ की प्रस्तावना को कंठस्थ करा लिया, ऐसा श्री केलकर आदि क्रांतिकारियों ने अपने स्मृति-ग्रंथों में लिखा है।

मैजिनी के शब्दों से ही क्यों न हो, राज्य क्रांति का ऐसा खुला प्रशिक्षण देनेवाला ग्रंथ ब्रिटिश सरकारी अधिकारियों की टेढ़ी दृष्टि से बच पाना संभव ही नहीं था। हालाँकि वे सावधान रहकर उसके प्रतिकार की योजना बना रहे थे, परंतु दो माह के अंदर ही उसका पहला संस्करण हाथो-हाथ बिक गया था। दूसरा संस्करण तुरंत प्रकाशित करने का विज्ञापन बाबाराव सावरकर ने समाचारपत्रों में दिया। सरकारी अधिकारियों ने उस प्रचार को तुरंत प्रतिबंधित करने की ठानी। यह प्रतिबंध उस समय की विधि के अनुसार दो तरह से लगाया जा सकता था। पहला, राजद्रोह का आरोप लगाकर 'मैजिनी' पुस्तक के लेखक, प्रकाशक तथा मुद्रक पर मुकदमा चलाकर, जिसमें न्यायालय में उस पुस्तक के राजद्रोही सिद्ध होते ही उन तीनों को दंडित भी किया जा सकता था और पुस्तक कभी भी राजसात् (जब्त) की जा सकती थी। दूसरे, अधिकारियों को पहला तरीका आशंकाभरा लगा, क्योंकि उपरोक्त वर्णन के अनुसार मेरी प्रस्तावना में या मैजिनी के लेखों के अनुवाद में ऐसा साफ तौर पर कहीं भी नहीं कहा गया था कि हिंदुस्थान को ब्रिटिशों के विरुद्ध इस मार्ग से सशस्त्र क्रांति करनी चाहिए। ब्रिटिशों का नाम भी उसमें कहीं खोजना कठिन था। मैंने प्रस्तावना एवं पुस्तक लिखते समय जो सावधानी यथासंभव बरती थी, उसका ऐसा कुछ उपयोग हो गया, क्योंकि न्यायालय में वह पुस्तक, उसके लेखक, प्रकाशक आदि विधि के अधीन राजद्रोही माने ही जाएँगे, ऐसा पक्का विश्वास सरकारी अधिकारियों को नहीं होगा और यदि वह पुस्तक न्यायालय में राजद्रोही नहीं ठहराई गई, तो उसे राजसात् करना भी कठिन हो जाता।

इस बाधा के कारण लेखक-प्रकाशक को कड़ा दंड देकर उन्हें रास्ते पर लाने की जो उमंग सरकारी अधिकारियों के मन में थी, वह उन्हें छोड़ देनी पड़ी, परंतु प्रस्तावना लिखने की मेरी सावधानी के कारण हम तीनों—लेखक, मुद्रक और प्रकाशक उस मुकदमे के संकट से बच गए। फिर भी हम पुस्तक को बचा नहीं सके। चूँकि उस समय की विधि के अनुसार, न्यायालय में न जाते हुए भी इच्छित पुस्तक राजसात् करने का अधिकार अधिकारियों के पास था, इसलिए सरकार ने अधिक पक्के और परिणामकारी दूसरे रास्ते को पकड़ा और प्रकरण को न्यायालय में न ले जाकर उस ('मैजिनी' पुस्तक) को प्रथम संस्करण सहित राजसात् किए जाने का आदेश राजपत्र में प्रकाशित कर दिया।

राजसात् करने का सरकारी आदेश जारी होते ही उस पुस्तक की प्रतियों को जब्त करने के लिए सैकड़ों जगहों पर घरों, दुकानों एवं व्यक्तियों की तलाशी ली गई। लोगों ने भी प्रतिकार करने एवं पुस्तक छिपाने के लिए कमर कसी। पक्की सूचना के आधार पर सिपाहियों ने जहाँ कहीं पुस्तकें पाईं, समाचारपत्र उस पकड़-

धकड़ के किस्से सरकार को चिढ़ाने के लिए जान-बूझकर प्रकाशित करते। कहीं-कहीं आले में दस-पाँच प्रतियाँ रख दी जातीं और फिर उन आलों को इस तरह बंद कर दिया जाता कि वह सपाट दीवार जैसा लगे। कहीं पुराने कुओं और बावड़ियों के गुप्त गह्वरों में छिपाई हुई पुस्तकें भी मिलीं। इस तरह कुल चार-पाँच सौ प्रतियाँ मिलीं। उन्हें छोड़ दें, तो शेष सभी प्रतियों को लगभग चौबीस वर्षों तक लोगों ने संकटों की चिंता किए बिना किसी प्राच्य वस्तु की भाँति महाराष्ट्र भर में सहेजकर रखा। फिर जब 'अभिनव भारत' की अनेक शाखाओं पर अलग-अलग गुप्त षड्यंत्र के आरोपों पर मुकदमे चले, तब किसीके घर में उस पुस्तक की कोई एक प्रति मिलना उस मनुष्य के क्रांतिकारी होने का पक्का साक्ष्य माना जाने लगा। फिर भी लोगों ने उन प्रतियों को सँभाले रखा और लुके-छिपे कम-से-कम दो पीढ़ियों के तरुणों ने उस पुस्तक का पारायण चालू रखा।

इस पुस्तक को राजसात् किए जाने के आदेशों को हटवाने के प्रयास भी जनता ने बार-बार किए। सभाओं में खुले रूप में उसके उद्धरण पढ़कर लोगों ने कानून को तोड़ा और उसके लिए जेल भी गए। फिर भी अंग्रेजी सरकार टस से मस नहीं हुई।

कालक्रम के अनुसार, बहुत आगे की बात होते हुए भी पुस्तक के विषय में जो कुछ कहना है, वह यहीं पर कह देना चाहता हूँ। पुस्तक राजसात् किए जाने के तीस वर्ष बाद जब हिंदुस्थान को प्रांतीय स्वायत्तता मिली, तब जनता का कहा जानेवाला कांग्रेसी शासन बंबई प्रांत में आया, परंतु उस शासन को भी पुस्तक पर लगा प्रतिबंध उठाने का साहस नहीं हुआ, क्योंकि उस पुस्तक के क्रांतिकारी कार्यक्रम का प्रचार जनता में न होने पाए, ऐसा उस समय के 'अहिंसक' कांग्रेसी गुट का भी प्रयास अंग्रेजों-जैसा ही था। वास्तव में उस समय जो कांग्रेसी, हिंदू महासभाई, रॉयिस्ट, सोशलिस्ट आदि राजनीतिक गुट थे, उनमें से अनेक को देशभक्ति की, देश की स्वतंत्रता की एवं क्रांतिप्रवणता की प्रथम प्रेरणा उनके तरुण वय में 'अभिनव भारत' की इस पुस्तक जैसे प्रकट वाङ्मय से ही मिली थी। उनमें से अनेक नेताओं ने तरुणाई में 'अभिनव भारत' संस्था की सदस्यता भी स्वीकार की थी और हमारे पोवाड़े तथा इस पुस्तक का चुना हुआ भाग कंठस्थ भी किया था। तथापि हिंदू महासभावालों और हिंदुत्वनिष्ठों का अपवाद छोड़ दें, तो शेष कोई भी पक्ष अंग्रेजों द्वारा राजसात् क्रांतिकारी वाङ्मय मुक्त करने की माँग करने आगे नहीं आया।

तथापि काल और राजनीति इतने वेग से आगे जा रहे थे कि सन् १९०७ में प्रकाशित होने के लगभग चालीस वर्ष बीत जाने के बाद बंबई प्रांत में जब कांग्रेस

का मंत्रिमंडल फिर से बना, तब उस समय के मुख्यमंत्री श्री बाबाराव खेर, जो तरुणाई में महाविद्यालय के विद्यार्थी थे और 'अभिनव भारत' के प्रतिज्ञाबद्ध सदस्य बने थे, के मंत्रिमंडल ने लोगों की यह माँग पूरी की और इस पुस्तक पर तथा कुल 'सावरकर वाङ्मय' पर लगा प्रतिबंध सन् १९४६ में उठा लिया गया। तब कहीं जाकर इसका दूसरा संस्करण निकालना संभव हुआ। यदि जनता ने इस ग्रंथ के प्रथम संस्करण की प्रतियाँ चालीस वर्ष तक गुप्त रूप से सँभालकर नहीं रखी होती, तो दूसरा संस्करण छापने के लिए मूल प्रति भी उपलब्ध नहीं होती। परंतु जनता ने वह पुस्तक सहेजकर रखी थी। इसलिए पढ़-पढ़कर खस्ता हाल हुई उन सारी पुरानी प्रतियों को पुराने क्रांतिकारियों ने प्रतिबंध उठाए जाते ही मेरे पास भेज दीं। इस पुस्तक का दूसरा संस्करण पहले संस्करण के लगभग चालीस वर्ष बाद सन् १९४६ में मेरे ही हाथों प्रकाशित हुआ।

इस अध्याय में मैजिनी की आत्मकथा, इस छोटी सी पुस्तक की आत्मकथा देने का विचार होने के कारण मैजिनी का ही विशेष उल्लेख हुआ है। फिर भी इटली के स्वतंत्रता-संग्राम के छिटपुट संदर्भों में वर्णित मैजिनी की तरह ही जिन तीन महान् पुरुषों के कर्तव्यों के कारण इटली स्वतंत्र एवं एकराष्ट्र हो सका, उनका भी उल्लेख यहाँ करना आवश्यक है। वैसा न करना पक्षपात एवं कृतघ्नता होगी। मेरी क्रांतिकारी योजनाओं और प्रयासों पर उनके इतिहास का भी बहुत प्रभाव पड़ा था। सेनापति गैरीबाल्डी के खड्ग के कारण आधे से अधिक इटली आजाद हो सका था। फिर भी केवल क्रांतिकारियों के द्वारा बीच-बीच में किए जानेवाले पराक्रमी विद्रोह के कारण इटली, ऑस्ट्रिया एवं फ्रांस की संगठित सेनाओं के हाथों से पूरी तरह सदा के लिए स्वतंत्र नहीं हो सका था। इटली की सारी रियासतें एवं प्रदेश परतंत्र हो जाने के बाद भी सौभाग्य से पिडमांट नामक एक रियासत नाममात्र के लिए ही सही, पर स्वतंत्र रह गई थी। नेपाल की तरह ही उसकी भी स्थिति थी, परंतु उस कारण एक संगठित रणदक्ष, शस्त्रसज्ज एवं रियासत का स्वदेशाभिमानी राजा विक्टर एम्यानुअल ने इटली के क्रांतिकारियों के साहसी विद्रोह का नेतृत्व अंत में खुलेआम स्वीकार कर लिया। क्रांतिकारी जिस-जिस प्रांत को मुक्त करते, उस-उस प्रांत को वह राजा अपनी रियासत में जोड़ लेने का साहस करने लगा। ऑस्ट्रिया के साथ इस कारण उसका प्रत्यक्ष युद्ध भी आरंभ हो गया। यदि इस युद्ध में वह हार जाता, तो उसकी छोटी रियासत 'पिडमांट' भी उसके हाथ से चली जाती। परंतु स्वतंत्र और अखंड इटली का उन्नत राजमुकुट प्राप्त करने की महत्त्वाकांक्षा पूरी करने के लिए उसने अपनी छोटी रियासत को बिना डरे दाँव पर लगा दिया। सारे इटली का सक्रिय सहयोग उसे मिलने लगा।

अंत में रण-देवता उसपर प्रसन्न हुआ। फ्रांस और इटली—दोनों की ही सेनाएँ इटली से बाहर खदेड़ दी गईं और रोम में 'पिडमांट' रियासत के नरेश का स्वतंत्र एवं अखंड इतालवी राष्ट्र के राजा (King of Italy) के रूप में राष्ट्र ने राज्याभिषेक किया। इस राजा के साहस को जितना श्रेय दिया गया, उससे अधिक श्रेय उसके राष्ट्रभक्त, कूटनीतिज्ञ एवं वज्र संकल्पवाले प्रधानमंत्री काउंट कावूर को है। इटली के लिए इंग्लैंड आदि राष्ट्रों की बहुत सहानुभूति एवं गुप्त सहयोग प्राप्त कर ऑस्ट्रिया और फ्रांस को अकेला कर देने एवं आपसी युद्ध में भिड़ा देने का कार्य करने की कावूर की राजनीतिपटुता इटली के स्वतंत्रता-संग्राम को सफल करनेवाले गैरीबाल्डी और मैजिनी के क्रांतिकार्य के बराबर ही सहायक हुई थी। इसीलिए मैजिनी, गैरीबाल्डी, काउंट कावूर एवं राजा विक्टर एम्यानुअल—इन चार महापुरुषों को इतिहास में इटली के राष्ट्र-निर्माता के रूप में सम्मान प्राप्त है।

इसीलिए मैजिनी के साहित्य का अध्ययन करते हुए मैंने इटली की राज्य क्रांति के इन चार महापुरुषों के चरित्रों का एवं उस इतालवी स्वतंत्रता-संग्राम के संकलित इतिहास का भी भरपूर अध्ययन किया। ट्रावेलिगन का लिखा गैरीबाल्डी का विस्तृत एवं वीर-रस से भरा चरित्र, कावूर का चरित्र, एक प्रतिभाशाली महिला (उसका नाम मुझे याद नहीं आ रहा है) द्वारा अंग्रेजी में लिखा 'लिबरेशन ऑफ इटली' नामक सुंदर पुस्तक, 'यूनियन ऑफ इटली' नामक पुस्तक, ये सभी तो मुझे अभी भी अच्छी तरह याद हैं। इटली के उस लोमहर्षक एवं सफल स्वतंत्रता-संग्राम के संबंध में उस समय अंग्रेजी भाषा में प्रकाशित अधिकतम पुस्तकें मैंने उन वर्षों—सन् १९०६-७—में पढ़ी थीं। मुझे उस विषय की इतनी लगन तब लगी थी।

चूँकि उस सारे इतिहास के, विशेषकर इटली के उन तीन-चार राष्ट्रपुरुषों के चरित्र-अध्ययन के कारण हमारी स्वतंत्रता की लड़ाई में वैसे ही भगीरथ प्रयास एवं वैसे ही महान् कार्य करने में हम हजारों क्रांतिकारियों तथा सुरेंद्रनाथ की पीढ़ी से आगे के भारतीय सुशिक्षित वर्ग को कुछ अंशों में उत्साह, क्षमता और मार्ग प्रदर्शन प्राप्त हुआ था। इसलिए उनसे अंशत: उऋण होने के लिए उन मैजिनी, गैरीबाल्डी, कावूर तथा विक्टर एम्यानुअल को और सामूहिकता से इटली के उस संग्राम के सभी स्वतंत्रता सेनानियों को मैं यहाँ ससम्मान नमस्कार कर रहा हूँ। यहीं मुझे एक प्रसिद्ध अंग्रेज व्यक्ति द्वारा (उसका नाम ठीक से स्मरण नहीं आ रहा है, पर संभवत: 'मेरिडिथ' होगा) इटली की स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद लिखी गई छोटी सी कविता का मार्मिक पद थोड़ा-बहुत याद आ रहा है, जिसमें उसीकी काव्यमयी भाषा में

स्वतंत्र इटली को संबोधित किया गया है—

Italia, to vindicate thy name
Mazzini, Cavour, Garribaldi three
Thy soul, thy brain, thy sword, they set thee free
From ruinous discord with one lustrous aim!!
May He beless Thee and them!!

□

प्रकरण–५

'फ्री इंडिया सोसायटी' की स्थापना और '१८५७ का भारतीय स्वातंत्र्य-समर' ग्रंथ का लेखन

(भारतीय हृदय-सम्राट् स्वातंत्र्यवीर विनायक दामोदर सावरकर द्वारा लिखी हुई आत्मकथा के इस अध्याय की मूल प्रति 'पूरी' नहीं मिली। इधर-उधर के कुछ पृष्ठ अब मिले हैं, परंतु उनके आधार पर वह कथा फिर से पूरी तरह संपादित करना अपनी रुग्णता के कारण अत्यधिक कठिन लगता है। इसलिए इस विषय का जो-जो भाग उन्हें बीच-बीच में स्मरण आता गया, वो-वो उन्होंने अपने कार्यवाह श्री शांताराम शिवराम सावरकर उपनाम बालाराव सावरकर को जब-तब मौखिक कहा और उन सब विचारों को एकत्र कर सुसंगत रूप से लिखने का दायित्व भी उन्हें सौंपा। उसीके अनुसार वह टूटी-टूटी कथा यथाशक्य सावरकरजी जैसा कहते, वैसा उन्हींके शब्दों में लिखने का प्रयास किया गया है। फिर भी कुल मिलाकर इसकी भाषा कार्यवाह की है। इस अध्याय का पूरा लेखन जब पढ़कर वीर सावरकर को सुनाया गया, तब वे बोले, 'यह सब यथावत् है, इसे ऐसे ही प्रकाशित करें।'

इस तरह वह अध्याय हम यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। —प्रकाशक)

'फ्री इंडिया सोसायटी' की स्थापना

लंदन जाने से पूर्व संभाव्य कार्यों की रूपरेखा दृष्टि में लिये हिंदुस्थान में ही मैंने 'अभिनव भारत' नामक क्रांतिकारी गुप्त संस्था स्थापित की थी, यह आत्मकथा के इस अध्याय के पहले अध्याय में हमने कहा है। इस तरह लंदन पहुँचने पर वहाँ पढ़ने के लिए आए तरुणों को संगठित कर उनके मन में सशस्त्र क्रांति की

प्रेरणा उत्पन्न करने के लिए व्यक्तिगत चर्चा, सार्वजनिक व्याख्यान, ग्रंथ-लेखन एवं उसका प्रचार तथा इसी तरह उस समय के 'बम' आदि अत्याधुनिक एवं अन्य आवश्यक शस्त्रास्त्रों का प्रशिक्षण, (उनका) संग्रह एवं प्रसार आदि सशस्त्र क्रांति के लिए प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से उपयोगी सिद्ध होनेवाले कार्यों को करना प्रारंभ किया। इन सब प्रयासों में अंग्रेजी सेना में शामिल भारतीय सैनिकों में राज्य क्रांति का प्रसार करने के लिए आवश्यक सारे प्रयास करने पर ही मैंने मुख्यत: अधिक बल दिया।

जो काम प्रकटत: करना आवश्यक था, उसे करने के लिए मैंने लंदन में 'फ्री इंडिया सोसायटी' नामक एक सार्वजनिक संस्था स्थापित की। इस संस्था के संबंध में आगे यथास्थान विस्तृत जानकारी दी जाएगी। अभी इतना ही कहना है कि इस संस्था की ओर से जो प्रकट आंदोलन मैं करता था, उसमें से एक थी हर सप्ताह आयोजित होनेवाली वहाँ के भारतीयों की सभा। इस सभा में मैं हर सप्ताह साधारण रूप से एक व्याख्यान देता था। उसमें मैजिनी का जीवन और कार्य तथा सन् १८५७ के स्वतंत्रता-संग्राम के भारतीय वीरों आदि के चरित्र के बारे में बताते हुए वर्तमान में हिंदुस्थान को ब्रिटिशों के चंगुल से मुक्त कराने के लिए हम क्या कर सकते हैं, यह श्रोताओं के मन में बैठाने का प्रयास मैं करता था। मैजिनी का चरित्र कहते-कहते इटली में जैसे मैजिनी बना, उसने 'तरुण इटली' संस्था स्थापित कर, उस देश के सैनिकों के अंत:करण चेताकर और पड़ोस की रियासतों के स्वतंत्रता-प्रेमी वीरों की सहायता लेकर सशस्त्र क्रांति द्वारा जैसे इटली को मुक्त किया, उसी तरह हमें भी देश में सशस्त्र क्रांति संगठन खड़ा करके, सैनिकों के मन क्रांति के विचार से प्रज्वलित करके विदेशी ब्रिटिश सत्ता को उखाड़ फेंककर हिंदुस्थान को स्वतंत्र करना चाहिए—ऐसा विचार मैं इन भाषणों में प्रकट करता था।

अनेक को सशस्त्र क्रांति असंभव लगती थी

सुनिश्चित एवं ऐतिहासिक निष्कर्ष पर आधारित मेरे ये विचार, मुझे मिलनेवाले तरुण एवं प्रौढ़ भारतीयों में से अनेक को समझ में नहीं आते थे। वे पूछते थे कि इटली और हिंदुस्थान की तुलना आप कैसे कर सकते हैं? इटली यूरोप का एक प्रगतिशील देश था। चूँकि उसके आसपास के सारे देश स्वतंत्र थे। अत: इटली में भी स्वतंत्रता की हवा बह रही थी। वहाँ की छोटी-बड़ी रियासतों की अपनी स्वतंत्र सेनाएँ थीं। उन सेनाओं के हाथों में इटली पर शासन करते हुए ऑस्ट्रिया, फ्रांस आदि राष्ट्रों जैसे ही काफी कुछ उन्नत शस्त्र भी थे। वह देश स्वतंत्रता का इच्छुक भी था। इसलिए वहाँ मैजिनी, गैरीबाल्डी आदि के प्रयास सफल हो सके। जब मैं

इसकी तुलना भारत से करता, तो वे सशंकित युवा एवं प्रौढ़ पूछते कि हिंदुस्थान में शस्त्र हैं ही कहाँ? अंग्रेजों की तोपों और बंदूकों के सामने हमारी नैया पार कैसे लगेगी? हिंदुस्थान में ब्रिटिशों के अधीन जो भारतीय सेना है, उसके सैनिक किराए के, अशिक्षित एवं अंग्रेजनिष्ठ हैं। अंग्रेजों के विरुद्ध वे कभी भी विद्रोह नहीं कर सकेंगे और हिंदुस्थानी जनता को तो ब्रिटिशों ने पूरी तरह नि:शस्त्र कर रखा है। इन कारणों से हिंदुस्थान में सशस्त्र क्रांति करना कैसे संभव है? वे यह भी कहते थे कि सशस्त्र क्रांति के मार्ग से ब्रिटिश सत्ता उखाड़ फेंकने का विचार करना तो दिवास्वप्न ही है।

'फ्री इंडिया सोसायटी' में व्याख्यान सुनने के लिए आनेवाले ये विद्यार्थी भारत के चुने हुए बुद्धिमान तरुण थे, और उनके विचारों की दिशा ऐसी थी। अर्थात् मेरे लिए ये प्रश्न और विचार नए नहीं थे। भारत में भी नासिक, पुणे, बंबई आदि स्थानों पर मुझे मिलनेवाले अधिकतर तरुण विद्यार्थी एवं प्रौढ़ नेता उपरोक्त आशंकाएँ प्रकट करते हुए कहते कि सशस्त्र क्रांति का रास्ता पूर्णत: अव्यवहार्य, असंभव एवं हास्यास्पद है। इतना ही नहीं, वह आत्मघाती भी है।

ऐसे विचार प्रकट करनेवाले लोगों को भी मेरा दृढ़ उत्तर यही होता कि अंग्रेजों के अधीन जो भारतीय सेना है और उसके सैनिकों के हाथ में जो शस्त्र हैं, वे अपने ही हैं। वे सैनिक अशिक्षित हैं, परंतु उनके भी हृदय में स्वतंत्रता की इच्छा होगी ही। उनके हृदय में बसी स्वतंत्रता की वही ज्योति प्रज्वलित करो। उसमें चेतना जगाओ। फिर देखो, विदेशी अंग्रेजों पर वही शस्त्र कैसे पलटते हैं!

सशस्त्र क्रांति का प्रत्यक्ष उदाहरण : १८५७

जनता और सैनिकों में अपनी उपर्युक्त विचार-प्रणाली फैलाने तथा उनके मन को ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध चेताकर उन्हें क्रांतिप्रवण करने के लिए केवल पचास वर्ष पूर्व भारत में इसी तरह सन् १८५७ का जो स्वतंत्रता-संग्राम हुआ, उसका साधार एवं स्फूर्तिदायी इतिहास लिखकर प्रस्तुत करने की योजना का मैंने विचार बनाया और मैजिनी का चरित्र लिख लेने के थोड़े ही दिन बाद उस दृष्टि से आवश्यक साधन जुटाने के प्रयास प्रारंभ किए। यह ग्रंथ सरल और अध्ययन-योग्य हो, इसलिए सन् १८५७ के समर के संबंध में ब्रिटिशों ने जो लिख रखा है, उसे देखने और पढ़ने का प्रयास मैंने प्रारंभ किया। इस कार्य में मैजिनी का चरित्र-लेखन करने के लिए पुस्तकें उपलब्ध करा देनेवाले मुखर्जी महाशय से मैं मिला और पूछा कि सन् १८५७ में भारत में हुए सैनिक विद्रोह के संबंध में क्या आप कुछ पुस्तकें उपलब्ध करा देंगे? समूल्य मिलें तो भी चलेगा। उस घटना पर ग्रंथ

लिखने का मेरा विचार है।

श्री मुखर्जी प्रौढ़ एवं अनुभवी सज्जन थे। 'फ्री इंडिया सोसायटी' के व्याख्यानों के वे भी एक श्रोता थे। इतना ही नहीं, 'अभिनव भारत' की शपथ उन्होंने मुझसे ली थी। थोड़ा सोचकर वे बोले कि 'के' (Keye) नामक लेखक की इस विषय पर लिखी एक पुस्तक मैंने देखी है। अपने ग्रंथालय में भी वह होगी। दो-चार दिनों में ही खोजता हूँ।

अपने कहे अनुसार उन्होंने वह पुस्तक लाकर मुझे दे दी। उस पुस्तक में क्या-क्या है, इसकी कोई कल्पना उन्हें नहीं थी, क्योंकि उन्होंने स्वयं उसे पढ़ा नहीं था। सन् १८५७ में अपने सैनिकों ने जो विद्रोह किया, भारत की स्वतंत्रता के लिए किया गया वह बहुत बड़ा प्रयास था। अगर एकाध अपवाद छोड़ दें तो उस समय किसी भी भारतीय को इसकी जानकारी नहीं थी। इतना ही नहीं, हमारे यहाँ के सुशिक्षित लोग उलटे यह कहते थे कि सन् १८५७ में सिपाहियों ने विद्रोह कर बड़ी भूल की। उन्होंने बिना अपराध के अंग्रेज महिलाओं और बच्चों को क्रूरता से मृत्यु के घाट उतारा, सुशिक्षित अंग्रेज महिलाओं पर अत्याचार किए। ऐसे सिपाही भारत के उज्ज्वल नाम को कलंक लगानेवाले राक्षस ही थे। उनके उस विद्रोह के कारण भारत की बड़ी भारी हानि हुई। दयालु, मेहनती एवं प्रबुद्ध माई-बाप अंग्रेजी सरकार ने अब तक भारत की जो प्रगति की होती, उसमें उन डकैत, क्रूर एवं धर्मांध सिपाहियों द्वारा विद्रोह किए जाने की मूर्खता से बहुत बड़ी बाधा उत्पन्न हुई है। उस समय के सुशिक्षित समाज की यही सच्ची भावना थी और सन् १८५७ पर लिखी पुस्तकों को वे बिलकुल ही महत्त्व नहीं देते थे।

इस कारण 'के' (Keye) की पुस्तक मुझे सौंपते हुए मुखर्जी महाशय ने मुझसे पूछा, ये पुस्तकें क्यों पढ़ते हैं आप? क्या है इनमें? मुखर्जी महाशय का वह प्रश्न कि 'क्या है इनमें'—यह बात इस ग्रंथ को पढ़ने से सत्य सिद्ध हुई। वह ग्रंथ था—The Sepoy Mutiny in India (Part-I) by Sir John William Keye. कारण, 'के' (Keye) का वह ग्रंथ पढ़ने के बाद मुझे भी ऐसा लगने लगा कि सन् १८५७ का वह संग्राम यदि इतना ही है तो फिर उसपर मैं लिखूँ क्या? सन् १८५७ के महान् एवं स्फूर्तिदायक प्रसंगों, लड़ाइयों एवं वीरों का कुछ भी वर्णन इस पुस्तक में नहीं था, बल्कि सन् १८५७ के पहले के प्रसंग—टीपू के बच्चों के लिए सिपाहियों द्वारा किया गया विद्रोह एवं अन्य सटर-पटर बातों की जानकारियाँ इसमें थीं। अंतिम एक-दो अध्यायों में मेरठ के विद्रोह तक का उल्लेख था। अर्थात् उसमें नाना साहब, तात्या टोपे, रानी लक्ष्मीबाई, मौलाना अहमद शाह आदि वीरों के पराक्रमों का उल्लेख भी नहीं था। उस ग्रंथ को पढ़ने के बाद ऐसा लगने लगा कि नए सैनिकों एवं युवाओं

को सशस्त्र क्रांति की स्फूर्ति दे सके, ऐसी दिव्य शक्ति इतने ही साधन से कैसे निर्मित हो सकेगी? सिपाहियों का विद्रोह क्या इतना ही छोटा था? मन में इन विचारों के आने से मैं निराश हो गया। ऐसी मन:स्थिति में उस ग्रंथ का अंतिम भाग पढ़ते समय बारीकी से देखने पर छोटी, परंतु अत्यंत महत्त्व की एक प्रचारात्मक टिप्पणी मुझे मिली। उसमें लिखा था कि इसके बाद इस ग्रंथ के और पाँच खंड प्रकाशित किए जा चुके हैं। 'के' महोदय के सहयोगी श्री मॅलिसन ने 'के' द्वारा लिखित इस खंड का अंतर्भाव करते हुए और उसमें अगले सारे विवरणों को मिलाते हुए उन सबको छह खंडों के विशाल ग्रंथ में संयोजित किया, जो अब 'के' तथा 'मॅलिसन' के संयुक्त नाम से प्रकाशित किया जा चुका है।

'के' ऐंड मॅलिसन का विस्तृत ग्रंथ

अंतिम पृष्ठ पर छपी उस छोटी सी पंक्ति को पढ़कर मेरा निराश मन फिर थोड़ा उत्साहित हो गया। मुखर्जी महोदय को वह पंक्ति दिखाकर मैंने कहा कि चाहे जैसे भी हो, परंतु छह खंडों का के-मॅलिसन का यह ग्रंथ मुझे उपलब्ध करा दीजिए। चोर-बाजार में मिले, तो भी खोजकर ला दें। आप यहीं के निवासी हैं, बहुतों से आपकी जान-पहचान है, पूरा बाजार आपको मालूम है। अत: आप ही यह काम कर सकते हैं।

मेरा यह निवेदन सुनकर मुखर्जी महोदय ने वे ग्रंथ ला देने का आश्वासन मुझे दिया। सात-आठ दिनों में ही उन्होंने पुराने बाजार में 'के' एवं मॅलिसन (Keye एवं Mallison) का Sepoy Mutiny, 1857 का समग्र ग्रंथ खरीदकर ला दिया। वह ग्रंथ जैसे-जैसे मैं पढ़ने लगा, वैसे-वैसे सन् १८५७ का भारतीय सैनिकों द्वारा रचा वह प्रचंड रणयज्ञ और उसमें अनेक आहुतियाँ देकर उसकी ज्वालाएँ प्रज्वलित करनेवाले नाना साहब, तात्या टोपे, झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, मौलवी अहमद शाह, बिहार के वयोवृद्ध वीर कुँवर सिंह आदि के पराक्रम के कार्य मेरी दृष्टि के सामने तैरने लगे। अर्थात् चूँकि यह ग्रंथ अंग्रेज इतिहासकार 'के' और मॅलिसन ने लिखा था। इसलिए यह साफ था कि इन भारतीय वीरों के पराक्रम के वर्णन पक्षपातरहित मानसिकता से नहीं लिखे हुए थे। इतना ही नहीं, उस ग्रंथ के पृष्ठ बड़े-बड़े अंग्रेज सेनापतियों को भी परास्त करनेवाले वीरों की बेवजह निंदा से भरे हुए थे। ऐसा होते हुए भी उस ग्रंथ से इसकी बहुत कुछ यथार्थ कल्पना मैं कर सका कि सन् १८५७ के सिपाहियों के विद्रोह का फैलाव कितना प्रचंड था। उस ग्रंथ से मुझे एक और महत्त्वपूर्ण जानकारी मिली। उसमें जो संदर्भ एवं टिप्पणियाँ दी हुई थीं, उनसे यह ध्यान में आया कि इस संबंध में अंग्रेजों ने विशाल वाङ्मय रचा है। वह सारा

वाङ्मय पढ़ने का निश्चय मैंने किया और उसे कैसे प्राप्त किया जाए, इसका प्रयास मैं करने लगा।

इंडिया ऑफिस कांग्रेस संग्रहालय

उस ग्रंथ में दी हुई टिप्पणियाँ और संदर्भित पुस्तकों के नाम मुखर्जी महोदय को दिखाकर मैंने कहा कि ये सारे ग्रंथ एवं संदर्भ देखने की मेरी तीव्र इच्छा है। इस जानकारी को सम्मिलित कर लेने से मेरा संकल्पित ग्रंथ अधिक साधार एवं परिपूर्ण हो सकेगा। ये साहित्य मुझे किस तरह उपलब्ध हो सकेगा, इसका मार्ग प्रदर्शन आप करें।

'देखता हूँ प्रयास करके', उन्होंने कहा। कुछ ही दिनों बाद उन्होंने कहा कि भारत के शासन का संचालन करनेवाला ब्रिटिश शासन का 'इंडिया ऑफिस' नामक जो महत्त्वपूर्ण कार्यालय है, उसके विशाल एवं अधिकृत ग्रंथ संग्रहालय में सन् १८५७ के संबंध में अनेक कागज-पत्र हैं। 'के'-मॅलिसनवाले ग्रंथ के बाद भी इसी विषय पर प्रकाशित अनेक ग्रंथ देखने और पढ़ने के लिए वहाँ अच्छी सुविधा दी गई है, पर वहाँ प्रवेश मिलना बहुत कठिन है। अनेक बंधन भी हैं। वहाँ प्रवेश प्राप्त कर अध्ययन करने के लिए बड़े लोगों की अनुशंसा और पहचान-पत्र देना आवश्यक है।

मुखर्जी महोदय द्वारा दी गई इस जानकारी के बाद यह प्रश्न उठा कि अब क्या किया जाए? पंडित श्यामजी कृष्ण वर्मा या अन्य बड़े नेताओं से बात कर उनका सहयोग लेना भी लगभग असंभव था। एक कारण तो यह कि उनके विचार से भी सन् १८५७ का वह भारतीय सैनिक विद्रोह धर्मांध एवं क्रूर सिपाहियों की एक आत्मघाती शरारत थी, और दूसरा कारण यह कि पंडित श्यामजी या उनके विचार के नेता भारतीय जनता को अधिक अधिकार दिलाने के लिए आंदोलन करनेवाले थे। अतः ब्रिटिश शासकों की दृष्टि से वे साम्राज्यद्रोही एवं अविश्वासी ही थे। इस कारण ब्रिटिश साम्राज्य के ग्रंथालय में प्रवेश दिलाने की दृष्टि से उनकी पहचान अनुपयोगी सिद्ध होनेवाली थी।

मुखर्जी महोदय लंदन में काफी वर्षों से रह रहे थे। उन्होंने एक ब्रिटिश महिला से विवाह किया था। उस महिला से उन्हें 'पुने' नामक एक पुत्र भी था। मुखर्जी रंग के काले थे, पर उनकी पत्नी गोरी थीं। वे श्यामजी के इंडिया हाउस के प्रबंधक थे और उनकी पत्नी शिक्षिका थीं। इस कारण मुखर्जी दंपती का अंग्रेजी समाज में आना-जाना एवं परिचय भी बहुत था। उसका उपयोग कर मुखर्जी महोदय ने थोड़े ही दिनों में 'इंडिया ऑफिस' में जाकर वहाँ की शर्तों और नियमों

के अनुसार लगनेवाले सारे हस्ताक्षर, पहचान-पत्र, अनुशंसा-पत्र आदि प्राप्त कर उस ग्रंथालय में जाकर बैठने की अनुमति मुझे दिलवा दी। अनुमति के लिए आवेदन करते ही मुखर्जी महोदय को मैंने स्पष्ट जता दिया था कि यह ग्रंथ लिखने के पीछे मेरा उद्‌देश्य क्या है, इसकी भनक भी किसीको नहीं लगनी चाहिए।

अंग्रेजों का दीर्घ उद्योग एवं सुव्यवस्था

वह अनुमति-पत्र हाथ में आने के दूसरे दिन ही मुखर्जी महोदय के साथ मैं उस ग्रंथालय में गया। वहाँ के प्रमुख ग्रंथपाल ने मेरा अनुमति-पत्र देखा। सन् १८५७ पर पुस्तक लिखने का विचार है, उससे संबंधित ग्रंथ मुझे पढ़ने हैं, यह देखकर वे मुझे उस भव्य ग्रंथालय के सन् १८५७ के ग्रंथ, उससे संबंधित पत्राचार एवं अन्य कागज-पत्रों के कक्ष की ओर ले गए। वहाँ व्यवस्थित ढंग से बाँधकर रखी सैकड़ों पत्रावलियाँ क्रमवार लगी हुई मैंने देखीं। सन् १८५७ के विद्रोह पर इतना सारा साहित्य होगा, मुझे इसका विश्वास नहीं हो पा रहा था। इसलिए मैंने पुस्तकालयाध्यक्ष महोदय से पूछा कि इसमें सन् १८५७ से संबंधित कौन सा भाग है ? इसपर उन्होंने कहा कि इस कक्ष के सभी ग्रंथों और पत्रावलियों में बद्ध कागज सन् १८५७ के उन क्रूर सिपाहियों के पापों से ही भरे हुए हैं। उनके इन शब्दों पर मुझे मन-ही-मन बहुत क्रोध आया, किंतु पुस्तकालयाध्यक्ष से वहाँ की व्यवस्था की जानकारी मैंने प्राप्त की। वहाँ के नियम क्या हैं, इत्यादि जानकारी प्राप्त कर मैं उस दिन ग्रंथ-संग्रहालय से बाहर आ गया।

पुस्तकालयाध्यक्ष को चकमा दिया

दूसरे दिन प्रात: भोजन से निपटकर ठीक ११ बजे संग्रहालय के खुलते ही मैं वहाँ पहुँच गया। सन् १८५७ के कक्ष के ग्रंथों एवं कागजों की सूची देखी। पुस्तकालयाध्यक्ष ने यह बताते हुए कि कुछ ग्रंथ महत्त्व के हैं, पहले उन्हें पढ़ने के लिए मुझे कहा। मेरा निश्चय तो वह सारा साहित्य पढ़कर देखने का था। अत: वहाँ की सारी पुस्तकें एवं पत्रावलियाँ एक के बाद एक निकालकर, उन्हें पूरा पढ़कर उनके महत्त्व के भाग को लिख लेने का काम मैं तेजी से करने लगा। उस अध्ययन में मेरा मन इतना रम गया कि जिस विधिशास्त्र (बैरिस्टरी) के अध्ययन के लिए मैं लंदन गया था, उसकी ओर से उन दिनों मेरा ध्यान दूर होता गया। मेरा यह अध्यवसाय, लगन एवं अध्ययन-वृत्ति देखकर वहाँ के अनुभवी पुस्तकालयाध्यक्ष के भी मन में मेरे प्रति सौहार्द की भावना पैदा हुई होगी, क्योंकि जो कुछ भी मैं पूछता या माँगता, वही जानकारी और सहायता वह मुझे देता रहा। मेरे पास आकर

वह गपें भी मारता था। सन् १८५७ में ब्रिटिशों के विरुद्ध विद्रोह करनेवाले वे सिपाही कैसे धर्मांध, क्रूर, राक्षस-वृत्ति के एवं नमकहराम थे, अंग्रेज महिलाओं और बच्चों की कैसी क्रूर हत्या उन्होंने की एवं मानवता पर कलंक लगाया; आग लगाने, लूटने, काटने का किस तरह नंगा नाच किया और इतना करके भी कैसे पराभूत हुए, इसका वर्णन वह करता। स्वधर्म और स्वराज के लिए प्राण न्योछावर कर ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध लड़नेवाले उन बहादुर सैनिकों, रियासतदारों एवं लोगों के लिए मेरे मन में अनादर और द्वेष उत्पन्न हो जाए, ऐसा प्रयास वह करता रहता था। उसे यह आशा थी कि मेरे जैसा अध्ययनरत एवं सतेज युवक यदि सन् १८५७ के उन सिपाहियों के विरुद्ध उनके मन के अनुसार कोई साधार ग्रंथ लिखे तो भारतीय जनता के मन में उन सिपाहियों एवं विद्रोह के रास्ते के प्रति अपने आप ही घृणा उत्पन्न हो जाएगी। इस दृष्टिकोण से जो कुछ बड़बड़ वह करता, मैं चुप-चाप सुन लेता।

मेरे मन में इस संग्राम के संबंध में जो आदर की भावनाएँ थीं, वह मैं उस पुस्तकालयाध्यक्ष को कभी नहीं बताता था, क्योंकि उसका विश्वास प्राप्त करके उसके पास रखे गुप्त कागज-पत्रों को प्राप्त करने की गुप्त नीति मैंने बनाई थी। इस कारण मुझपर उसका इतना विश्वास हो गया था कि गोपनीय रूप में रखी उस समय की पार्लियामेंट की चर्चा के समग्र प्रतिवृत्त, भारत से भेजे गए बड़े-बड़े ब्रिटिश सेनाधिकारियों के पत्र एवं नागर (सिविल) अधिकारियों के गोपनीय पत्र, विरोधी पार्टियों के नेताओं के व्याख्यान आदि सब कागज, जो सामान्यत: ब्रिटिश लेखक को भी मिलना कठिन था, भी उस पुस्तकालयाध्यक्ष ने मुझे दिखाए। उनको पढ़ने के बाद सन् १८५७-५८ में अलग-अलग विचारों एवं दलों के राजनीतिज्ञों के उस संग्राम के संबंध में क्या मत थे, यह समग्र रूप से मैं समझ सका।

अर्थात् यह दूसरा पक्ष लिखनेवालों में से किसी भी ब्रिटिश लेखक, प्रवक्ता, सेनापति या सैनिक ने सन् १८५७ में उनके भारतीय साम्राज्य को विनष्ट करने, स्वधर्म और स्वराज के लिए लड़नेवाले उन बहादुर सैनिकों का गुणगान नहीं किया था। स्वयं को 'निष्पक्ष इतिहासकार' कहनेवाले किसी ब्रिटिश ने इसका भी उल्लेख किया हो कि वे सैनिक भारत की स्वतंत्रता के लिए लड़े, ऐसा मुझे उस विशाल संग्रह में कहीं नहीं मिला। वह युद्ध कहाँ-कहाँ, कैसे-कैसे सुलगता गया, उसमें क्या-क्या घटना घटित हुई, इस संबंध में भरपूर जानकारी मिली। उस विषय में ब्रिटिश सैनिकों, नागरिकों एवं सामाजिक नेताओं की सम्मतियाँ और भावनाएँ कैसी थीं, यह उस ग्रंथालय का साहित्य पढ़ने से मुझे मालूम हो गया। उन कागजों को पढ़ने से मेरा मत निश्चित हो गया कि सन् १८५७ में भारतीय सैनिकों, रियासतदारों और प्रदेशों की जनता ने मिलकर विदेशी अंग्रेजी शासन के विरुद्ध जी-जान लगाकर

जो विद्रोह किया, वह उनकी पूर्ण कल्पना से भी अधिक विस्तृत आकार का था। विशिष्ट ध्येय से प्रेरित एवं उसके लिए पूर्ण योजना बनाकर किया हुआ वह एक बहुत बड़ा स्वतंत्रता-संग्राम था। यद्यपि उस समय वह पूरी तरह सफल नहीं हो सका, फिर भी उसके कारण अंग्रेजी शासन को बड़ा धक्का लगा। उस युद्ध के कारण भारत की प्रगति में कोई बाधा नहीं आई, उलटे अंग्रेजों के विरुद्ध बहुत बड़ा विद्रोह कैसे करें, इसका एक आदर्श भावी समय के लिए निर्मित हुआ। इस विचारधारा को पकड़कर ही मैंने '१८५७ का स्वातंत्र्य-समर' नामक ग्रंथ की रूपरेखा तैयार की।

इंडिया ऑफिस जाने पर रोक

इंडिया ऑफिस के उस पुस्तकालय में बैठकर वहाँ के ब्रिटिश पुस्तकालयाध्यक्ष का विश्वास प्राप्त कर वहाँ के एकदम गोपनीय ब्रिटिश कागज-पत्र मैं जिस अवधि में पढ़ रहा था, उसीमें उसी अध्ययन के आधार पर इंडिया हाउस के बाहर भारतीय तरुणों की गुप्त बैठकों में सन् १८५७ के पराक्रमी एवं राजनीतिज्ञ भारतीय वीरों की कथाएँ भी मैं कहता था। उन युवाओं को फिर से वैसा ही विद्रोह करने और उनके जैसा आत्मसमर्पण सिद्ध करने के लिए मैं चेताया करता था और उसी जानकारी के आधार पर अपने ध्येय के अनुसार '१८५७ का भारतीय स्वातंत्र्य-समर' ग्रंथ भी लिख रहा था। उसी अवधि में सन् १८५७ का ५०वाँ स्मृति दिवस हमने लंदन में प्रकट रूप से किस तरह मनाया, उसकी जानकारी उस समय 'काल' पत्र में लिखी और अब 'लंदन के समाचार' नाम से प्रकाशित मेरी पुस्तक में है। इस आत्मकथा में भी वह उचित स्थान पर लिखी जाएगी। अभी इतना ही कहूँ कि मेरे व्याख्यानों और ग्रंथ-लेखन का समाचार हमारी गुप्त बैठकों में घुसेड़े हुए एक गुप्तचर ने अपने प्रमुखों को दिया। मेरे द्वारा लिखा जानेवाला ग्रंथ कैसा प्रक्षोभक एवं साम्राज्य-द्रोह फैलानेवाला होगा, इसका ब्योरा उसने अपने अधिकारियों को अवश्य दिया होगा। इतना ही नहीं, उन अधिकारियों की तसल्ली के लिए उसने उसके कुछ पृष्ठ भी उनको सौंपे होंगे। उन्हें पढ़कर ब्रिटिश गुप्तचर विभाग एवं राजनीतिज्ञों की परेशानी बढ़ गई। उन्होंने चिढ़कर मेरे और मेरे ग्रंथ के प्रति अपनी नजर टेढ़ी कर ली। 'इंडिया ऑफिस' के पुस्तकालयाध्यक्ष को उन्होंने आदेश दिया कि मुझे प्रवेश न दें। वह आदेश सुनकर पुस्तकालयाध्यक्ष आश्चर्य में पड़ गया, परंतु 'आदेश के अनुसार आपको प्रवेश न देते हुए मुझे खेद है'—यह उसने कहा।

इससे मेरे सम्मुख समस्या खड़ी हो गई। तब तक मैंने अपना ग्रंथ मराठी में लिखकर पूरा कर लिया था। उस ग्रंथ में काफी संदर्भ भी दिए थे। परंतु वे संदर्भ

यथातथ्य हैं या नहीं, इसकी जाँच एक बार करनी थी। उस काम को पूरा करने का बीड़ा मैंने उठाया। उस समय के मेरे एकनिष्ठ सहयोगी—पूर्व जीवन में ब्रिटिशनिष्ठ और मेरे ही हाथों से 'अभिनव भारत' की शपथ लेनेवाले श्री बी.एस. अय्यर, जिन्हें हम 'ऋषिजी' कहते थे, तब तक ब्रिटिश गुप्तचरों की आँखों में नहीं चढ़े थे। उन्होंने अपनी पहचान के भरोसे उस ग्रंथालय में प्रवेश प्राप्त किया और मैंने जो-जो संदर्भ दिए थे, उनकी जाँच करके उन्होंने मुझे उपलब्ध करा दिए।

ग्रंथ तो लिखा गया, पर···

इस तरह मैंने '१८५७ का स्वातंत्र्य-समर' नामक ग्रंथ लिखकर पूरा किया। हजारों रुपए खर्च कर उसकी प्रतियाँ किस तरह देश-विदेश पहुँचाई गईं, इसके लिए किस-किसने अनंत यातनाएँ भोगीं, बाद में उस ग्रंथ के संस्करण किस-किसने कैसे-कैसे निकाले—आदि के संबंध में रोमांचकारी ऐतिहासिक सत्यकथा नीचे दे रहा हूँ। प्रकाशित होने के पहले ही सन् १९०८ में वह ग्रंथ ब्रिटिश सरकार द्वारा जब्त कर लिया गया और फिर लगभग चालीस वर्ष बाद (आजादी मिलने के कुछ समय बाद) भारतीय सरकार ने उसे मुक्त किया। अंग्रेजी अनुवाद का पहला संस्करण श्री ढवले ने प्रकाशित किया। तब सन् १९४७ में उस संस्करण के लिए मैंने स्वयं अंग्रेजी में The Story of the History नाम से वह सत्यकथा लिखी एवं श्री ग.म. जोशी के नाम से प्रकाशित की। उसमें अभी प्राप्त कुछ नई जानकारियाँ जोड़कर उसे अपने ही शब्दों में अंग्रेजी में दे रहा हूँ।

(उपर्युक्त प्रस्तावना '१८५७ का स्वातंत्र्य-समर' ग्रंथ के प्रारंभ में उसी खंड में दी जाएगी। उसकी पुनरुक्ति को हम यहाँ टाल रहे हैं। —**संपादक**)

☐

परिशिष्ट-१

पिस्तौलें एवं पुस्तकें लानेवाले क्रांतिकारी तरुण चंजेरी राव

(शत्रु के शिविर में रहते हुए वीर सावरकर अपना क्रांतिकार्य कैसे चलाते थे—इसपर उत्तम प्रकाश डालनेवाला गुप्तचरों का एक प्रतिवेदन यहाँ हम दे रहे हैं जो श्री चंजेरी राव से संबंधित है। यह प्रतिवेदन Source Material for a History of Freedom Movement in India (Collected from Bombay Government Records) Vol II, 1885-1920 नामक ग्रंथ से लिया गया है। उपर्युक्त ग्रंथ शासन ने प्रकाशित किया है। भारतीय स्वतंत्रता-आंदोलन का इतिहास लिखने के लिए सरकार ने एक समिति नियुक्त की थी। उस समिति ने ब्रिटिश शासनकाल के गुप्तचरों के प्रतिवेदन के महत्त्वपूर्ण भाग को लेकर वह ग्रंथ संकलित किया है। वह ग्रंथ शासकीय अधिकारियों के विचार जानने का एक महत्त्वपूर्ण आधार बन गया है। उस ग्रंथ से वीर सावरकर के उस समय के आंदोलन पर बहुत प्रकाश पड़ता है।

ऐसा होते हुए भी वह ग्रंथ पढ़ते समय एक सावधानी रखना आवश्यक है। सिपाहियों या न्यायालय के सामने जो निवेदन किया जाता है, वह पूरी तरह सत्य ही हो, ऐसा नहीं है। उसमें उगले हुए कुछ बयान स्वयं के एवं अपने मित्रों को बचाने के लिए होते हैं तो कुछ अपने शत्रु को फँसाने के लिए, उसे धोखा देने के लिए भी दिए जाते हैं। इस प्रतिवेदन के श्री राव के निवेदन में भी इस तरह के जो बयान हैं, उन्हें सुधी पाठक समझ सकते हैं। गुप्तचरों के प्रतिवेदन शब्दशः कभी भी विश्वसनीय नहीं होते, इसका तर्कशुद्ध विवेचन इसी ग्रंथ के अध्याय ३, पृष्ठ ११७ से १२९ तक इस आत्म-चरित्र के लेखक हिंदूहृदय-सम्राट् स्वातंत्र्यवीर वि. दा. सावरकर ने स्वयं ही किया है। श्री राव का यह निवेदन सुनकर वीर सावरकर ने जो मत प्रकट किए, वे भी इस निवेदन में पृष्ठ के नीचे दिए गए हैं।

—शां. शि. सावरकर)

गुप्तचर प्रतिवेदन

(आधार Bombay Secret Abstracts 1910; पृष्ठ १६७, अनुच्छेद २९९)

बंबई, २८ जनवरी, १९१०; सीमा-शुल्क समाहर्त्ता (कलेक्टर ऑफ कस्टम) लिखते हैं—

'आज प्रातः ही नौका से आए एस.एस. सिडने नामक एक क्रांतिकारी को हमने पकड़ा है, यह जानकर आपकी उत्सुकता अधिक बढ़ेगी।

'उसके पास की पेटी के तल में एक चोर-तली थी। उसमें उसने ब्राउनिंग पिस्तौल, कारतूस एवं '१८५७ का स्वातंत्र्य-समर' की प्रतियाँ छिपा रखीं थीं। उसने बम बनाने के कागज अपनी पीठ से बाँधकर ऊपर से कपड़े पहन रखे थे और जूते के तले में राजद्रोही परचे छिपा लिये थे।

'पकड़े गए व्यक्ति का नाम 'राव' है। उसे पुलिस के हवाले कर दिया गया है। उसे मुख्य विभागीय दंडाधिकारी के सामने प्रस्तुत किया जाएगा।'

बंबई, दिनांक २८—आरक्षी उपायुक्त लिखते हैं—'सूचना के अनुसार मैंने आरोपी राव को विभागीय दंडाधिकारी-तृतीय श्री ड्रेकप के सामने खड़ा किया। उसपर बिना अनुमति एक पिस्तौल और पचास कारतूस लाने का आरोप है। सीमा शुल्क विभाग के श्री लॉरीमर एवं निरीक्षक श्री फॉवेल का साक्ष्य और वह पेटी एवं राजद्रोही वाङ्मय दर्शनीय प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं। आरोपी पर आरोप इनकी सहायता से लगाया गया, पर उसने कहा कि मैं निर्दोष हूँ, क्योंकि उस पेटी के तल में क्या रखा है, इसकी कोई जानकारी मुझे नहीं है। इसपर मैंने दंडाधिकारी से कहा कि इसकी पीठ से बँधा राजद्रोही साहित्य मिला है और इस पेटी की किराया-पावती भी इसीके पास मिली है। यह अपराध कितना गंभीर है, वह भी दंडाधिकारी को बताते हुए मैंने निवेदन किया कि इसे कड़ा दंड दिया जाए। दंडाधिकारी ने उसे दो वर्ष का सश्रम कारावास एवं ५०० रुपए दंड तथा वह न देने पर और छह माह के कारावास का दंड दिया, जो उस दंडाधिकारी की अधिकार-सीमा में संभव अधिकतम कड़ा दंड था। मैं स्वयं उस आरोपी को भायखला कारावास में लेकर गया। उसकी फिर से जाँच की जानी है। इसलिए उसे अलग रखने का आदेश वहाँ के अधिकारियों को देकर उन्हें आरोपी सौंपा दिया।'

चंजेरी राव के निवेदन के कुछ अंश

मेरा जन्म कोयंबटूर जिले के एरोडे गाँव में सन् १८७७ में हुआ। मेरे पिता भूस्वामी थे। वे सन् १९३० में मरे।

मेरी शिक्षा एरोडे, कोयंबटूर, त्रिचनापल्ली एवं दक्षिण अर्काट में हुई। मैं मैट्रिक परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो सका। सन् १८९६ में आरक्षक प्रथम वर्ग के पद पर मैं त्रिचनापल्ली मंडल में सरकारी सेवक बना और इंसेन केंद्रीय कारावास में प्रथम बंदीपाल के पद पर रहा। वहाँ से इस्तीफा देकर नगरपालिका में प्लेग निरीक्षक की अच्छी नौकरी मैंने पकड़ी और अगस्त १९०९ में इंग्लैंड जाने के पूर्व तक मैं वहीं काम करता रहा। उस समय मुझे मूल वेतन १२५ रुपए, मकान किराया २४ रुपए तथा वास्तविक यात्रा-व्यय मिलता था। इंग्लिश सैनिटरी इंस्पेक्टर की परीक्षा उत्तीर्ण होकर आनेवाले को २०० से ३०० रुपए तक की वरिष्ठ अधिकारी की जगह देने का नियम होने के कारण उस प्रमाण-पत्र को प्राप्त करने के लिए छह माह की छुट्टी लेकर मैं इंग्लैंड गया। तीन वर्ष की नौकरी में मैंने कुछ धन-संग्रह किया था। इसके अतिरिक्त मैंने अपने मित्र से १००० रुपए उधार लिये, पत्नी के आभूषण भी बेचे और रुपए जमा किए। मेरी पत्नी रंगून में मेरे साथ ही रहती थी। उसे, अपने पुत्र और अपनी बहन को भारत में तितिरुत्र भेजकर मैं इंग्लैंड गया। उस समय मैं राष्ट्रवादी नहीं था। राजनीति से परिचय नहीं था। स्वदेशी वस्त्र भी नहीं पहनता था। रंगून में मैं किसी भी राजनीतिक पार्टी का सदस्य नहीं था।

२३ जुलाई, १९०९ को रंगून छोड़कर मैं मद्रास के रास्ते बंबई पहुँचा तथा वहाँ से एस.एस. विली डे ला किओटाट नामक वाष्प नौका से मार्सेलिस और वहाँ से सीधा लंदन गया। मैंने इंग्लैंड के किसी भी व्यक्ति के नाम से परिचय-पत्र नहीं लिया था।

कोई बी.बी.एस. अय्यर मेरे यहाँ हमेशा आते थे और हम राजनीति पर चर्चा करते थे। सरकारी सेवा से त्याग-पत्र देने का जब अवसर आया, तब श्री अय्यर और श्री स्वामी—दोनों ने ही उसका विरोध किया। उनका कहना था कि मैं नौकरी करते हुए ही उनकी अधिक सहायता कर सकूँगा। वे कहते कि इसी तरह वे अपना दाँव अधिक अच्छी तरह साध सकेंगे। 'सदरलैंड प्लेस' में हुई राजनीतिक सभा में मैं उपस्थित था। उस सभा का विषय था—भारत में शस्त्र कैसे ले जाएँ और अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध कैसे लड़ें। उस सभा में अय्यर, राजन, माधवराव और ज्ञानचंद शर्मा के भाषण हुए। सभा में केवल छह लोग थे। उनमें एक बनर्जी और एक अली था। उसके पिता ने अंग्रेज महिला से विवाह किया था और वे 'सिंक्लेर गार्डन' में रहते थे। दूसरी सभा नीति सेन द्वारकादास १२८ हॉलैंड पार्क एवेन्यू में हुई थी। ब्रिटिशों के विरुद्ध कैसे लड़ा जाए, शस्त्र और पैसे किस तरह जमा किए जाएँ एवं भारत भेजे जाएँ—इस सभा में भी इसी विषय पर चर्चा हुई। मुझे बोलने के लिए कहा गया। तब मैंने कहा कि लोगों को शिक्षा देना आज की पहली आवश्यकता है। नीति सेन खड़े

हुए और हिंदुस्थानी में बोले कि मैं मूर्खों जैसा बोल रहा हूँ। तब मैं बैठ गया। विदेशी लोगों को देश के बाहर किस तरह हाँका जाए, यह नीति सेन ने बताया। वे अच्छे वक्ता नहीं हैं। कोई सत्यानंद प्रसाद इस सभा में आते थे और बोलते थे। उस समय सावरकर बीमार होने के कारण अस्पताल में रहते थे। बाद में मैं उनसे मिला। उस चर्चा का उद्देश्य क्या था, शस्त्र भेजे जाते थे या नहीं—यह मुझे पता नहीं चला। एक आदमी क्या करता है, यह दूसरे को मालूम नहीं होता था···

उस समय सावरकर एवं अय्यर ११ अपर ॲडिसन गार्डन्स में रहते थे। दूसरी सभा के बाद श्री माधवराव मुझे वहाँ ले गए। वहाँ शपथ लेने के लिए मुझे बाध्य किया गया।[१] पहले मैंने 'नहीं' कहा। तब उन्होंने मुझे धमकियाँ दीं। शासकीय सेवक होने के कारण मैं उनका अधिक महत्त्व का काम कर सकता हूँ। इसलिए मैं उनमें मिलूँ—इसके वे बहुत इच्छुक थे।[२] उनके कहे अनुसार न चलनेवाले एक व्यक्ति को उन्होंने भारत में कारावास में डाल रखा है, यह भी उन्होंने मुझे बताया। इस तरह डराने से मैंने 'हाँ' की। उनका कहना था कि अकाल, प्लेग, चेचक आदि के कारण भारत में इतने लोग मरते हैं। अत: अन्य कारण से कुछ और लोग मर गए तो उसकी चिंता नहीं करनी चाहिए। यह तर्क राजन ने दिया था।

शपथ इस प्रकार थी—ईश्वर, भारत माता और अपने पूर्वजों का स्मरण कर प्रतिज्ञा करता हूँ कि जैसे अपने देश को संपूर्ण स्वतंत्रा मिले बगैर उसे विश्व के देशों में सम्मान प्राप्त नहीं होगा, वैसे ही रक्तपात और कठोर युद्ध के बिना यह राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त नहीं होगी, ऐसा निश्चय होने के कारण मैं शपथपूर्वक घोषित करता हूँ कि इस क्षण से अपने देश को स्वतंत्र कराने के लिए प्राण का भी डर न मानते हुए मैं यथासंभव सारे प्रयास करूँगा। शपथ लेकर कहता हूँ कि मैं इस संस्था के प्रति सत्यवादी और एकनिष्ठ रहूँगा। यदि मैंने अंशत: भी यह शपथ भंग की, तो मुझे प्राणांत दंड मिले। वंदे मातरम्!!

मध्य रात्रि में मुझे वह शपथ दिलाई गई थी। संस्था के एक नेता श्री अय्यर ने मुझसे जैसा कहा, मैंने उसी तरह उसका उच्चारण किया।

आपसे मेरा नम्र निवेदन है कि इस शपथ के संबंध में मैंने आपसे कुछ कहा

---

१. जबरन किसीको भी शपथ नहीं दिलाई जाती थी। इतना ही नहीं, कड़ी परीक्षा लेने के बाद ही शपथ दिलाने की पद्धति थी। यह सावधानी बरतनी ही पड़ती थी। अपने बचाव के लिए श्री राव ने जबरन शपथ की बात कही होगी।

२. यह सच है। अपने कुछ लोग शासकीय सेवा में प्रविष्ट कर कार्य को अधिक सरल बनाने की हमारी रीति थी।

है या आपको कुछ जानकारी दी है, यह उनमें से किसीको भी ज्ञात न हो, यह सावधानी आप बरतें, क्योंकि उनको यह ज्ञात होने पर वे मुझे पकड़ेंगे और गोलियों से भूनकर मार डालेंगे, ऐसा मुझे विश्वास है।

श्री माधवराव मुझे अय्यर के यहाँ ले गए थे। उस समय वहाँ चट्टोपाध्याय, अय्यर, बनर्जी और एक श्री कुंटे[१] जो ग्वालियर के हैं और जिन्हें ग्वालियर के शासन से पैसा मिलता है—इतने लोग थे। एकदम ऊपरी मंजिल के एक कमरे में मुझे ले जाया गया। वहाँ मेरे साथ अकेले अय्यर थे। उन्होंने ही मुझे शपथ दिलाई। भक्तिभाव से हाथ जोड़कर मुझे वह शपथ लेनी पड़ी। अनधिकृत लोगों को उस शपथ के शब्द मालूम हो गए हैं, यह पता चलने पर वे शपथ ही बदल देते हैं।

मेरी जानकारी के अनुसार, लंदन की इस संस्था के प्रमुख श्री सावरकर एवं अय्यर हैं। शुल्क के रूप में मुझे सावरन देना पड़ा। अय्यर के साथ ही मैं नीचे आया और कुछ अन्य बातें करके घर जाने के लिए निकला। यह सब दिसंबर माह में हुआ। ३ जनवरी को मैंने इंग्लैंड छोड़ा।

सावरकर हमारे यहाँ आए। उनसे मेरा परिचय कराया गया। उन्होंने पूछा, 'आप श्री राव हैं क्या?' मैंने 'हाँ' में उत्तर दिया। उन्होंने कहा कि आप सरकारी नौकरी में हैं, यह जानकर मुझे बड़ी खुशी हुई है। हमें ऐसे ही आदमी चाहिए। आप हिंदुस्थान कब लौटेंगे? मैंने उन्हें इस प्रश्न का उत्तर दिया। उसके बाद लंदन में फिर कभी उनसे मेरी भेंट नहीं हुई। लंदन में मुझे मोर्ले को मारने के लिए कहा गया था। मैंने इनकार कर दिया और कहा कि मुझे फाँसी पर लटककर मरना नहीं है। उन्होंने मुझे कहा कि वह काम तुम्हें करना ही होगा, नहीं तो तुम्हें ही मार डाला जाएगा। मैंने उनसे कहा कि ऐसा कायरतापूर्ण काम मैं नहीं करूँगा। किसीसे पिस्तौल या तलवार लेकर आमने-सामने द्वंद्व-युद्ध करना और किसीको असावधान अवस्था में मार डालना, इसमें बहुत अंतर है। अय्यर और माधवराव मुझे यह कार्य करने के लिए उकसा रहे थे। पहले इस विषय पर माधवराव ने चर्चा की। मैं श्री अर्नोल्ड एवं सचिव श्रीमती वाईट से मिलने गया था। इसलिए मुझे चिढ़ाते हुए माधवराव ने पूछा था, 'तुम मोर्ले से मिलने क्यों नहीं जाते? वह हेम्प्टन में कहीं रहता है। रिवॉल्वर लेकर उससे मिलना बहुत अच्छा रहेगा।' मेरे पास रिवॉल्वर नहीं था। माधवराव के पास एक रिवॉल्वर था। मैंने जिस तरह का रिवॉल्वर बाहर निकाला, उसी तरह का वह था।

उसके बाद श्री अय्यर ने मुझे पेरिस के तिरुमल आचार्य के नाम एक पत्र

---

१. '१८५७ का स्वातंत्र्य-समर' का अंग्रेजी अनुवाद करने में वे सहायक हुए थे।

दिया। उस पत्र में क्या था, यह मुझे मालूम नहीं। उन्होंने मुझसे कहा कि चोर-खानेवाले एक संदूक में मुझे पच्चीस पिस्तौलें ले जानी होंगी। मैं जिस दिन निकला, उसी दिन सुदरलैंड पर श्री अय्यर आए और उन्होंने मुझे पत्र दिया।

लॉर्ड मोर्ले को मारने से मैंने इनकार किया। इसलिए उसके बदले में यह काम करने के लिए मुझसे कहा गया।

अय्यर और माधवराव से मेरी जो बात हुई, उससे मुझे विश्वास है कि लॉर्ड मोर्ले एवं लॉर्ड कर्जन को मारने का उनका विचार पक्का है। कर्जन वायली को जब धींगरा ने मारा, तभी उन दोनों को मारने का निश्चय हुआ था। मैं तब इंग्लैंड में नहीं था, पर उन्होंने मुझसे जो कहा, उससे ऐसा लगा कि लॉर्ड कर्जन वहाँ उपस्थित थे और धींगरा के सहयोगी ने उसे कहा कि 'वह देखो, उस ओर जा रहा है।' पर वह धींगरा को दिख नहीं सका। वह सहयोगी[१] कौन था, यह मुझे मालूम नहीं। यह कथा अय्यर और माधवराव ने मुझसे कही। लंदन में मुझे यह भी पता चला कि बंबई के दो न्यायमूर्तियों को मार डालने की बात तय हुई है। उनमें से एक भारतीय श्री चंदावरकर थे और दूसरे तिलक को दंडित करनेवाले थे। उस संबंध में योजना निश्चित हुई या नहीं, यह मुझे मालूम नहीं, पर मुझे लगता है कि उन दोनों में से कोई एक इस काम के लिए आगे आएगा या यहाँ के किसीको यह काम करने के लिए पत्र लिखा जाएगा। एक और न्यायमूर्ति का नाम खून करने के लिए लिया जा रहा है। वे हैं चिदंबरम् पिल्लै को दंडित करनेवाले न्यायमूर्ति।

इस संस्था का उद्‌देश्य दो-तीन वर्ष में संपूर्ण क्रांति होने तक अभी राजनीतिज्ञों का वध करते रहने का है। जनता उनका नेतृत्व स्वीकार करे, इसके लिए लोगों के मन पर राजद्रोह की शिक्षा पक्की करने की उनकी योजना है। उच्च अधिकारी, जिला एवं पुलिस प्रमुख आदि का भी वध करने की योजना थी, जिससे उसमें से सामान्य क्रांति जन्म ले। इस तैयारी के समय जिसमें लड़ने की इच्छा है, उन सबको शस्त्र उपलब्ध कराने की भी योजना है।

चार जनवरी को मैं पेरिस पहुँचा और तिरुमल आचार्य से मिलने गया। उनके साथ ७५ फाबौर्ग दु टेंपल नामक स्थान पर गोविंद अमीन नाम का एक गुजराती रहता था। उसके साथ मैं वहाँ रहा।

दिनांक ८ को दोपहर में हम श्यामजी कृष्ण वर्मा के घर गए। हमने चाय पी। राणा, मैडम कामा और हरदयाल वहाँ नहीं थे। अन्य भारतीय थे। नीति सेन भी वहाँ थे। मैं, सावरकर, गोविंद और सत्यानंद प्रसाद वहाँ ठहरें और भोजन करें, ऐसा

---

१. यह सहयोगी श्री कोरेगाँवकर या ज्ञानचंद वर्मा हो सकते हैं।

निवेदन श्यामजी ने किया। श्यामजी ने कहा कि उन्होंने सौ पिस्तौलें भारत में भेजने का वचन दिया है। अत: मैं कुछ भी शंका न करूँ और उनमें से २५ पिस्तौलें भारत में ले जाऊँ।[१] मैंने कहा कि ये धोखे का काम है। गोविंद ने कहा कि किसीको शंका नहीं होगी। इस तरह वह पक्का बाँधा जाएगा। तब मैंने 'हाँ' कहा। फिर मैंने सावरकर से कहा, यह बहुत धोखे का काम है, लेकिन ग्रंथ और प्रचार-सामग्री लाने को कहा। गोविंद ने एक रिवॉल्वर लाने के लिए मुझे तैयार किया। बात करते हुए गोविंद ने कहा कि वह रिवॉल्वर लेकर आनेवाला है। दिनांक ९ को मैडम कामा के यहाँ मुझे ले जाया गया और फिर से वही शपथ लेने के लिए बाध्य किया गया। सावरकर और मैडम कामा वहाँ थे, पर ऊपर के कमरे में मुझे शपथ दिलाते समय अकेले सावरकर ही वहाँ उपस्थित थे।

हम फिर नीचे आए। तब वहाँ गोविंद, तिरुमल आचार्य, सत्यानंद प्रसाद आदि थे। हमने चाय पी। वहाँ मुझे एक वर्मा मिले। वे अच्छे ऊँचे, छरहरे, चश्माधारी, गोरे थे, परंतु उनके आदि अक्षर मुझे ज्ञात नहीं। कदाचित् वह जी.के. हो। बम कैसे बनाया जाए, यह सीखने वे पेरिस आए थे। पेटी लाने के लिए मैंने पैसे दिए। जिस दिन पैसे दिए, वही दिनांक पावती पर है। गोविंद मुझे दुकान में ले गया और उसीने सारी व्यवस्था की। पेटी का मूल्य २५ फ्रैंक्स था, परंतु उसमें परिवर्तन करने के लिए हमें ५ फ्रैंक्स और देने पड़े।

वह पेटी लेकर गोविंद मेरे यहाँ आया। चोर-तली में क्या है, यह उसने मुझे बताया। वह पेटी राणा के यहाँ बंद की गई होगी, क्योंकि 'स्वातंत्र्य-समर' की प्रतियाँ वहीं रखी हैं। राणा के भंडार-कक्ष में मुझे कभी जाने नहीं दिया गया, पर तिरुमल आचार्य और राणा के चिरंचीव हमेशा अंदर जाते, बाहर आते थे। वही हमेशा ग्रंथों के बंडल डाक से भेजते थे। सावरकर और अन्य ने मुझसे कहा कि सुरक्षित पहुँचते ही मैं राणा को तार द्वारा वैसा सूचित करूँ। वे भारत में लौटे, तो उनको पकड़ा जाएगा, ऐसी कुछ घटनाएँ क्या भारत में घटित हो रही हैं—इस संबंध में सारी परिस्थिति ठीक से देखकर, पूछताछ कर उन्हें पत्र लिखकर सूचित करने का काम मुझे सौंपा गया। उन सबको दो-तीन मास में भारत लौट आना था।

□

---

१. श्यामजी ऐसा किसीको नहीं कहते थे।

परिशिष्ट-२

षड्यंत्र के अभियोग के न्यायमूर्ति के निर्णय का एक अंश

(स्वातंत्र्यवीर सावरकर द्वारा यूरोप में चलाए गए आंदोलन के बारे में न्यायमूर्ति कहते हैं) सावरकर के यूरोपीय आंदोलन के बारे में जो सबूत पेश किए गए हैं, उनपर अब हम गौर करेंगे। इन सबूतों में 'इंडिया हाउस' में १९०८ से लेकर फरवरी १९०९ तक रहनेवाले बावरची का निवेदन, अक्तूबर १९०६ से लंदन में विनायक को पहचाननेवाले एक अभियांत्रिक (इंजीनियरिंग) विद्यार्थी का निवेदन और विनायक द्वारा उनके भारत स्थित मित्रों को लिखे गए पत्र तथा उसके पास और उसके हस्तक के पास पाए गए उनकी कलम से लिखे गए प्रकाशन, इनका समावेश है।

ऊपर उल्लिखित लंदन के गवाह के सबूतों पर अविश्वास करने लायक एक भी कारण हमें उपलब्ध नहीं हुआ है। इससे सिद्ध होता है कि 'इंडिया हाउस' में उग्र क्रांतिकारियों का जो गुट था, उसका नेता विनायक ही था। वहाँ रहते हुए उसने भारतीय बगावत का इतिहास—जो 'भारतीय स्वातंत्र्य युद्ध!' कहलाता है—मराठी में लिखा और उसका अंग्रेजी अनुवाद इंडिया हाउस में रहनेवाले अन्य लोगों ने किया। लंदन में विभिन्न निश्चित स्थानों पर उसी ने १९०७ तथा १९०८ में सभाओं को संगठित करके बगावत का शुभारंभ दिन मनाया। उस बगावत में जो भारतीय बागी मारे गए, उनकी प्रशंसा करनेवाला 'हे हुतात्माओं' (oh Martyrs) नामक प्रक्षोभक पत्रक इसी ने निकाला और इसकी अनेक प्रतियाँ तथा इस अभियोग में सबूत के तौर पर दाखिल किए हुए 'बगावती पदकचिह्न' भारत में जगह-जगह पर भेज दिए। उसने उसका आंदोलन मात्र लिखने-बोलने तक पर्याप्त नहीं रखा। अगस्त तथा सितंबर १९०८ में वह इंडिया हाउसवाले अपने अन्य साथियों के साथ अराजक कृत्य करने हेतु आवश्यक तथा उचित, भयानक व विस्फोटक बम बनाने

की कृति बतलानेवाले अनेक पत्रक मुद्रित करने तथा बाँटने की कोशिश में था। उनमें अनेक पत्रक भारत में विभिन्न स्थानों पर भेजे गए। लंदन के दो गवाहों को विनायक ने ही 'अभिनव भारत' संस्था की शपथ दिलाई और बताया कि इस संस्था की शाखाएँ दुनिया भर में हैं।

...इस अभियोग के इन सबूतों का और परामर्श करने से पहले एक और सबूत का जिक्र करेंगे। वह है, १३ मार्च, १९१० को विनायक को लंदन के विक्टोरिया नामक स्थान पर जब गिरफ्तार किया, तब उसके बैग में 'Choose Oh Indian Princes' शीर्षक के पत्रक की प्रतियाँ पाई गईं, जो उसने संस्थानिकों को उकसाने के लिए निकाला था।

□□□

लंदन के समाचार

लंदन के समाचार

हे हिंदुस्थान! जो पचा सको, वह खाओ!!

गत सप्ताह लंदन नगर में कई महत्त्वपूर्ण बातें हुईं। दिनांक २० को भारत के आर्थिक बजट पर चर्चा होनी थी। अपने देश की ओर से भीख माँगते घूम रहे प्रतिनिधियों के प्राण उस चर्चा में अटके हुए थे। बजट के दिन सुबह ही 'डेली न्यूज' आदि समाचारपत्रों में भीख के लिए पुकार की गई थी। My nation stands expectant (मेरे राष्ट्र को आशा है) ऐसा कहकर गोखले ने ठीक नहीं किया था। गोखले को आशा होगी, परंतु वह हिंदुस्थान के लोगों की आशा नहीं थी। वेडर्बर्न एवं सर हेनरी कॉटन की टर्र-टर्र में जिन्हें हिंदुस्थान के लिए उनकी वास्तविक चिंता दिखती है, उन्हें—हिंदुस्थान का कितना पैसा इस वर्ष लूटें और अगले वर्ष कितना और किस तरह लूटें—यह निश्चित करने के लिए होनेवाली बजट-चर्चा में यदि अभागे हिंदुस्थान की उन्नति दिखे, तो उनके लिए ठीक है, परंतु अंत में क्या हुआ? किसीकी आशा सफल हुई? लिबरल मोर्ले ने क्या किया? सौ साल से भीख माँगते हुए परसों मोर्ले के कुटिल भाषण के सिवाय आज तक भारत की झोली में क्या पड़ा? 'राष्ट्रीय सभा के नेता अफीम खाते हैं,' यही तो उसने कहा न? पागल लोगो! तुम कब होश में आओगे? हेनरी कॉटन की चर्चा के अनुसार थर्मामीटर से स्वायत्त शासन मापते हुए कड़ी या सौम्य भाषा में बात कर देश को Self Government प्राप्त करा देने के तुम्हारे प्रयासों का तिरस्कार विश्व के राष्ट्र कर रहे हैं, इसकी समझ तुम्हें कब आएगी? वैसे ही विश्व के सारे स्वतंत्र एवं स्वाभिमानी पुरुषों में तुम्हारी 'छी:-थू' हो रही है। इसपर तुम्हें कब लज्जा आएगी?

पार्लियामेंट की सभा में होनेवाला उपर्युक्त तमाशा जब समाप्त हो रहा था, ठीक उसी समय चंडास हॉल में कुछ अलग ही कार्यक्रम हो रहा था। 'सोशल डेमोक्रेटिक फेडरेशन' नामक एक सुपरिचित संस्था की व्याख्यानमाला शुरू थी।

उसमें दिनांक २२ को बैरिस्टर एट लॉ देशबंधु पारीख का The Recent Persecution in Bengal विषय पर व्याख्यान हुआ। पारीख इंग्लैंड में ही प्रैक्टिस कर रहे हैं। वे इंडियन होमरूल सोसायटी के उपाध्यक्ष हैं। उनका भाषण घंटा भर चला। उसमें उन्होंने एक बार बंगाली विद्यार्थियों पर हुए अत्याचारों के कुछ दृष्टांत देकर पूछा, 'जहाँ के लोग परतंत्रता में जीते हैं और जहाँ विधिसम्मत रास्तों से जाना संभव नहीं है, वहाँ इस स्थिति में मेरा राष्ट्र अब क्या करे?' यह वाक्य सुनकर एक सदस्य एकाएक चिल्लाया, 'क्या करे?' यह प्रश्न जिसने पूछा था, वह सोशल डेमोक्रेटिक नेता था। भाषण समाप्त होने के बाद प्रश्न पूछे जाने लगे थे। एक आयरिश तरुण—वह आयरिश ही होगा, ऐसा मैं समझता हूँ—ने सुझाया, ऐसे समय में आयरिश नेशनलिस्ट जैसी स्वावलंबी पार्टी की तरह हिंदुस्थान ब्रिटिशों की किसी तरह की सहायता न करे और आयरलैंड व हिंदुस्थान एकबारगी एक-दूसरे की सहायता से उभय पक्षों का कल्याण कर लें।

उसके बाद हार्वे नामक एक विद्वान् का भाषण हुआ। उस भाषण का सारांश था कि जहाँ गुलामी की अति हो गई हो और कानून को सत्ताधारी लोग अपनी ही तलवार से चीर रहे हों, वहाँ राष्ट्र को चैतन्य बनाए रखने के दो ही उपाय होते हैं। पहला—जरनल पैसिव रेसिस्टेंस और दूसरा गुप्त संगठन। Passive Resistance का अर्थ अप्रत्यक्ष विद्रोह है, परंतु अप्रत्यक्ष विद्रोह करने की हिम्मत एक गुलाम राष्ट्र में नहीं होती। किसी भी सरकार को सहायता नहीं करने की बुद्धि उत्पन्न होना और वैसा व्यवहार सबके द्वारा होना सहज नहीं है। इसके लिए समाज को राजनीतिक शिक्षा में बहुत संस्कारित किया जाना चाहिए, परंतु ऐसी राजनीतिक शिक्षा देना सत्ताधीशों की कड़ी नजर के होते हुए असंभव ही होता है। इसलिए पहले दूसरा उपाय काम में लाना होता है और वह है—Secret Societies (गुप्त संगठन)। ये गुप्त संगठन लोगों में स्वदेशप्रेम जगाएँ और अपने संगठन-कौशल से विशाल संघ बनाएँ। रूस में यही हो रहा है और अब रूस की स्वतंत्रता दूर नहीं है। यह सारा काम गुप्त संगठनों का है, आदि-आदि।

उसके बाद एक महिला का भाषण हुआ। महिला की शांत और उदात्त मुद्रा तथा मनोविज्ञान शास्त्र पर हुए उनके भाषण से ऐसा लगा कि महिला सुशिक्षित होंगी। वे भी आयरिश होंगी। उन्होंने रूस और हिंदुस्थान की तुलना की तथा कहा कि जहाँ-जहाँ मानव गुलामी में जी रहा है, वहाँ-वहाँ मेरा मन जाता है। विश्व में कोई भी गुलाम नहीं रहे, ऐसी स्थिति आने तक मुझे चैन नहीं है। इतने में एक साहब उठ खड़े हुए। उन्होंने देशभक्त पारीख से कहा कि लेबर पार्टी की आर्थिक सहायता हिंदुस्थान करे। इससे लाभ यह होगा कि जब कभी लेबर पार्टी शासन में आएगी,

तब वह हिंदुस्थान की सहायता अवश्य करेगी। इन्हें आज तक की गई आर्थिक सहायता पूरी नहीं पड़ी। पारीख और अन्य सोशलिस्ट लोगों ने इस कंगाल साहब का बहुत मजाक उड़ाया। अध्यक्ष ने कहा, 'हिंदुस्थान के लोगों को हिंदुस्थान में ही काम करना चाहिए। अमुक पार्टी इंग्लैंड में शासन सँभालेगी, इसलिए उसे पैसे भेजने या हिंदुस्थान की परिस्थिति की जानकारी देने के लिए यहाँ प्रतिनिधि भेजने से कुछ भी होनेवाला नहीं है। हिंदुस्थान को भाषण-स्वतंत्रता एवं लेखन-स्वतंत्रता दी गई है—मोर्ले ऐसा पार्लियामेंट में कहें और बंगाल में इसके विपरीत स्थिति हो, यह लांछन की बात है।

हिंदुस्थान को लगे रोग के लिए इस तरह दो दवाएँ मिली हैं। हाउस ऑफ कॉमन्स के दवाखाने में देशभक्त गोखले को मोर्ले नामक डॉक्टर ने एक शीशी दी और चंडास हॉल के आरोग्य भवन में श्री हार्वे नामक वैद्यराज ने देशभक्त पारीख को एक औषधि दी।

हिंदुस्थान जो पचा सके, वह खाए।

१७ अगस्त, १९०६

राष्ट्रीय युवा सेना

ब्रिटिश साम्राज्य की स्थिति बड़े घर के ढोल में पोल जैसी है। इस साम्राज्य के बाहरी स्वरूप को देखकर जो लोग विस्मित हो जाते हैं, उन्हें इसकी कल्पना भी नहीं होती कि यह साम्राज्य अंदर से कितना पोला है। छह-सात हजार कोस दूर के पराजित हिंदुस्थान देश में अंग्रेजों का डर व्याप्त है। हिंदुस्थान के तीस करोड़ लोगों को ही क्यों, पूरे विश्व को अपनी मुट्ठी में रख सके—ऐसी इंग्लैंड की शक्ति है—ऐसी सामान्य धारणा है। इंग्लैंड नंदनवन, कामधेनु या स्वर्ग जैसा लगता है, परंतु यहाँ आने पर प्रत्यक्ष स्थिति देखने पर क्या दिखता है? पार्लियामेंट के स्थान पैसे से बिक रहे हैं। खाने को मिलता नहीं, इसलिए हजारों लोग मर रहे हैं। रोजगार मिलता नहीं, इसलिए गुंडे दंगे करते हैं। घूस लेना, झूठ बोलना, गुंडागर्दी करना इतना सामान्य है कि उसकी जाँच भी नहीं होती। हर सार्वजनिक स्थान पर, हर ऐतिहासिक स्थान पर, हर प्रदर्शनी के स्थान पर मनुष्य को एक बड़ा पटल टँगा दिखता है, जिसपर लिखा रहता है—Beware of Pick Pockets (जेबकतरों से सावधान)। ये शब्द क्या प्रदर्शित करते हैं? इंग्लैंड में इतने जेबकतरे हैं कि हर स्थान पर पुलिस के साथ वे भी मानो पहरे पर बैठे हैं, पर इंग्लैंड में जेबकतरा कौन नहीं है? Beware of Pick Pockets—यह पटल केवल इंग्लैंड में ही नहीं, अपितु हर देश के दरवाजे पर लगाया गया होता, तो कितना अच्छा होता! क्योंकि इंग्लैंड के

जेबकतरों का यह डर केवल इंग्लैंड में ही न होकर विश्व के सारे देशों में घुसा हुआ है। अंग्रेज लोग व्यवहारशास्त्र में पारंगत हैं, इसका यह एक नमूना ही है, क्योंकि जेब कतरने के इस धंधे में भी उन्होंने अर्थशास्त्र के सिद्धांत को लागू किया है। वे सिद्धांत को त्यागकर कभी कोई काम नहीं करते। उन्होंने जेब कतरने के धंधे में श्रम का विभाजन कर रखा है। जेब दो तरह की होती हैं—व्यक्ति की जेब और राष्ट्र की जेब। व्यक्ति की जेब करतने के लिए इंग्लैंड में लोग कितनी ईमानदारी से प्रयास करते हैं, यह हर स्थान पर लगे पटलों से स्पष्ट दिख जाता है और राष्ट्रों की जेब कतरने में अंग्रेज कितने निपुण हैं, यह हिंदुस्थान के लोगों से कहने का अर्थ होगा कि अंग्रेजों के इस सद्‌गुण की कोई कल्पना ही 'नेटिवों' को नहीं है!

जुलू लोगों से हुए युद्ध में अंग्रेजों ने पशुओं से भी अधिक वहशीपन दिखाया था, ऐसा उनके ही अखबारों में छपता रहता था। जैसे, एक जुलू नारी अपने पुत्र को लिये खड़ी थी और उसे कुछ समझा रही थी। इतने में एक बहादुर अंग्रेज सिपाही उधर से निकला। उसने उस औरत से कहा कि आप अब अधिक कष्ट न करें, मैं लड़के को समझा देता हूँ। ऐसा कहकर उसने उस लड़के को गोली मार दी। सैकड़ों अधम कृत्यों में से यह एक नमूना मैं दे रहा हूँ। ऐसे कृत्यों के बारे में अंग्रेज सिपाही ही अपने देश के अंग्रेजी समाचारपत्रों को सूचित कर रहे थे। बोअर युद्ध में बोअर लोगों को इंग्लैंड से ही शस्त्र मिले थे, ऐसा कहा जाता था, परंतु अब इस जुलू युद्ध में भी इस सद्‌गुण में अंग्रेजों ने बहुत प्रगति की है। जुलुओं को बंदूकों का निर्यात इंग्लैंड से ही हुआ। इतना ही नहीं, अपितु फौजी कमीशन की जाँच-पड़ताल से यह सिद्ध हो गया है कि करोड़ों रुपयों का लेन-देन होता था और बड़े-बड़े अधिकारियों की सहायता से घूसखोरी भी खुलेआम चल रही थी।

ऐसी हजारों बातों से यह अनुमान लग जाता है कि इंग्लैंड की भीतरी स्थिति कितनी सड़ गई है। बाहर की तड़क-भड़क देखकर गरीब लोग हताश हो जाते हैं, उन्हें ऐसा लगने लगता है कि इंग्लैंड एक अजर-अमर बड़ा विशाल राक्षस है। वस्तुत: वैसा कुछ भी नहीं है। इंग्लैंड का मन सड़ गया है। उसमें जो महानता कभी रही होगी, वह नष्ट हो गई है। साम्राज्य के अवसान-काल के जो चिह्न होने चाहिए, वे सब अब दिखने लगे हैं। वे स्वयं उन्हें ही उतने समझ में आ रहे हैं, जितने किसी और को नहीं आ सकते। हमारे हिंदुस्थान में ऐसी कुछ मान्यता है कि इंग्लैंड का मन तो नीतिभ्रष्ट हो गया है, पर उसकी शक्ति बहुत बढ़ी है। जिस राष्ट्र के पास टूटी तलवार या फूटी नाव भी नहीं है, उसे यह सुनते ही भय हो जाता है कि अंग्रेजों के पास अधिकतम बंदूकें और युद्धपोत हैं, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं, पर इंग्लैंड की अधीनता वाला साम्राज्य कितना विशाल है, इस मुद्दे पर विचार करें तो यह समझ

में आ जाता है कि उसकी शक्ति कितनी अल्प है। यदि कभी जर्मनी ने इंग्लैंड पर आक्रमण किया तो स्वयं इंग्लैंड के संरक्षण की ही आशंका उत्पन्न हो जाएगी। फिर आयरलैंड, मिस्र, जुलूलैंड आदि के संरक्षण का तो नाम ही न लें और फिर तीस करोड़ लोगों की भीड़वाला वह हिंदुस्थान देश हिमालय पर्वत और समुद्र-देवताओं से रक्षित, शिवाजी, महाराणा प्रताप, गुरु गोविंदसिंह आदि के पिता समान ऐसे देश को अनंत काल तक अपने अधीन रखने की व्यवस्था कैसे की जाए? हिंदू लोगों की राजनिष्ठा वह व्यवस्था जब तक कर रही है, तब तक सब ठीक है। हिंदू लोगों की देशनिष्ठा जाग गई, तो आगे क्या करना होगा, इसका विचार अंग्रेजों को करना तो चाहिए, किंतु ऐसा करते ही वे बौरा जाते हैं। मि. सिली अपनी पुस्तक में लिखते हैं कि हिंदुस्थान के लोग देशनिष्ठ हो गए, तो फिर हम एक दिन भी वहाँ नहीं रह पाएँगे। इंग्लैंड की कंगाल नाविक शक्ति हिंदुस्थान को किस तरह अधीन रख सकेगी! साम्राज्य सँभालने में इंग्लैंड कितना असमर्थ है, यह धूर्त अंग्रेजों ने कभी का जान लिया है। उनका साम्राज्य डूबेगा, यह उन्हें पूरी तरह ज्ञात हो गया है। अब उनके सारे प्रयास केवल इसलिए हैं कि जितना अधिक टिक सकें उतना टिक लें। प्रश्न परिणाम का नहीं, विलंबन का है।

अंग्रेज लोग जितने बलवान हमें लगते हैं, उतने बलवान वे हैं नहीं। हमारे यहाँ चुने हुए अंग्रेज आते हैं और चाहे जितने बढ़ते हैं, पर स्वयं उनके देश में देखें, तो हमारे सामान्य आदमी में और उनके सामान्य आदमी में कोई डरावना भेद नहीं है। कुछ वर्ष पहले राज्यारोहण के समय भारतीय सिपाही यहाँ आए थे—नेपाली, सिख और मराठा सिपाही। शरीर व साहस में अंग्रेज सिपाहियों से रत्ती भर अधिक ही थे। स्वदेशाभिमान में वे कम हैं, इसलिए अंग्रेजों के अधीन हैं। अंग्रेजों के शरीर की अवनति बड़े वेग से हो रही है। गत पच्चीस वर्षों में सेना के जवानों के लिए जो ऊँचाई और वजन निर्धारित था, उतना अब सौ में से दस में भी नहीं मिलता। इसलिए वह शर्त अब कम की गई है। अंग्रेज युवा सिपाही बनने के स्थान पर दुकानदार बनना चाहता है। इसलिए लॉर्ड रॉबर्ट्स गुस्सा हो रहे हैं और उन्होंने इस अंग्रेजी शरीर-क्षय से डरकर राइफल क्लब की स्थापना करने की योजना जोरों से जारी रखी है। अनेक समाचारपत्रों में इसकी चर्चा प्रारंभ हो चुकी है और हर कोई अपनी-अपनी ओर से अंग्रेजों की शारीरिक दुर्बलता दूर करने के उपाय सुझाने में लगा हुआ है। अंग्रेज अब बहुत घबराए हुए हैं। उसमें भी आयरलैंड में आंदोलन, मिस्र में आंदोलन, हिंदुस्थान में आंदोलन, तुर्किस्तान में जर्मनों का आंदोलन—ऐसे चारों ओर के आंदोलनों से लंदन का दिल धड़क रहा है। जिस नौसेना एवं सेना को देखकर हम हिंदू लोग भयभीत हो जाते हैं, उस नौसेना और सेना की वास्तविकता

इंग्लैंड को पूरी तरह समझ में आ गई है। यदि आयरलैंड और हिंदुस्थान ने अपने-अपने सैनिक वापस बुलवा लिये तो इंग्लैंड की सेना कितनी रह जाएगी? यह सेना तो आधे इंग्लैंड की भी रक्षा नहीं कर पाएगी। इस डर से काँपते हुए इंग्लैंड के दैनिक समाचारपत्रों में उपर्युक्त आशय की चर्चाएँ चल रही हैं। नमूने के लिए एक समाचारपत्र की चर्चा यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ।

'डेली मिरर' नामक एक समाचारपत्र लंदन से प्रकाशित होता है। इसकी लाखों प्रतियाँ हर दिन बिकती हैं। यह बच्चों में बहुत प्रिय है, इसलिए बच्चों को सैनिक प्रशिक्षण की आवश्यकता पर इसमें एक लेखमाला प्रारंभ की गई है। अंग्रेजी युवकों की शारीरिक क्षमता दिन-ब-दिन कितनी घटती जा रही है, इसका पूर्ण दिग्दर्शन कराकर हिंदुस्थान का स्वदेशी आंदोलन, मिस्र में चल रही गड़बड़ आदि बातों से अंग्रेजों के दूसरे का खेत चरने या दूसरे के पैरों पर खड़े रहने के दिन समाप्त हो रहे हैं। कम-से-कम इंग्लैंड के संरक्षण के लिए इसे बढ़ाने के उपदेश दिए जा रहे हैं। स्वयंसेवकों की सेना बनाए बिना इंग्लैंड का बचाव कठिन है, यह बात उस समाचारपत्र के संचालक लॉर्ड राबर्ट्स तक के ध्यान में आ गई है। अनिवार्य सैनिक प्रशिक्षण प्रारंभ करना चाहिए, ऐसा एक पार्टी कहती है तो दूसरी का कहना है कि सैनिक प्रशिक्षण के महत्त्वपूर्ण अंग इतने लोकप्रिय कर देने चाहिए कि लोग स्वयं-प्रेरणा से सैनिक प्रशिक्षण लें। ऐसा परिवर्तन होने के लिए उनमें युवावस्था से ही शारीरिक शिक्षा की अभिरुचि उत्पन्न करनी चाहिए। 'डेली मिरर' में एक सैनिक अधिकारी कहता है कि विद्यार्थियों में बचपन से ही व्यायाम की अभिरुचि जगाई जाए, तो वह आजन्म व्यायाम जारी रखेगा। किसी बाईस वर्ष के युवा में व्यायाम की अभिरुचि उत्पन्न करने का प्रयास करें, तो वह बहुत कठिन बात होगी, ऐसा अनुभव है। जितना बचपन में कर सकें, उतना व्यायाम यदि बच्चा करता जाए तो शरीर को वैसी ही आदत हो जाती है और शरीर की शक्ति बढ़ती जाती है। परंतु एक बार हड्डियाँ एवं स्नायु कड़े हो गए, तो उन्हें फिर मोड़ना असंभव हो जाता है। इसलिए उनका कहना है कि चौदह वर्ष की आयु से ही व्यायाम सिखाना आवश्यक है।

वर्तमान समय में स्वदेश संरक्षण के लिए व्यायाम से अधिक प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए और वह प्रशिक्षण युवावस्था से ही दिया जाए, ऐसा सर्वानुमति से निश्चय हो रहा है। इस तरह दोनों ही तरह की शिक्षाएँ विद्याध्ययन के साथ दी जाएँ तो स्वयंसेवक सिपाही तैयार हो जाएगा। अपने यहाँ सैन्य शिक्षा के संबंध में लोगों की अजीब-सी समझ है। सैन्य शिक्षा का अभिप्राय है एक बड़े उलटफेर वाला, धोखे का कठिन काम, ऐसा माना जाता है। सालोसाल सैनिक शिक्षा लिये बिना वह पूरा नहीं होता, ऐसा समझा जाता है, परंतु वास्तविकता इससे बिलकुल उलटी है।

उत्तम सेनानी बनने के लिए बरसों क्या, जीवन भर प्रशिक्षण लिया जाए, तो भी कम ही होता है। सैनिकी दाँव-पेचों में नेपोलियन से भी चूकें हुईं। स्वदेश की सुरक्षा के लिए सैनिक स्वयंसेवक बनने और मर्दानगी विकसित करने के लिए सैन्य प्रशिक्षण लेना सरल है। जो आदमी चाहे, सिपाही बन सकता है। ऐसे सिपाही बनने के लिए बड़ी बुद्धि या लंबा समय भी नहीं लगता। बहुत अनाड़ी एवं मतिमंद अंग्रेज उत्तम सिपाही बन जाता है और समय कितना लगता है, यह मैं 'स्पेक्टेक्टर' नामक समाचारपत्र के शब्दों में ही कहता हूँ— Soldiers can be thoroughly trained in six months and made to enjoy their training instead of dragging through it, as they do at present. (अच्छा सिपाही बनने के लिए छह माह से अधिक का समय नहीं लगता और उन छह माह में भी वह कार्य हँसते-खेलते किया जा सकता है।)

सैनिक शिक्षा में तीन बड़े कार्य हैं—Riding (घुड़सवारी), Shooting (गोलीबारी, निशाने पर गोली मारना) और Drill (कवायद)। छापामार युद्ध में कवायद की विशेष आवश्यकता नहीं होती। ये तीनों ही बचपन में आसानी से सिखाए जा सकते हैं। It is much easier to teach boys to shoot and ride and soldier generally, than it is to teach young men. इतना प्रशिक्षण चौदह-पंद्रह की ही आयु में दिया जाए, तो उस युवा को सिपाही बनने का चस्का लग जाता है, उसका शरीर भी मजबूत हो जाता है। क्रिकेट खेलने की अपेक्षा गोली चलाने, व्यायाम करने एवं घोड़े पर बैठने में वह अधिक समय बड़े आनंद व हौसले से खर्च करता है। स्वदेश पर यदि किसीने आक्रमण किया और मातृभूमि की स्वतंत्रता के आँचल को हाथ लगाया, तो उस दुष्ट की छाती पर नाचने या उसका रक्तपान करने की शक्ति उस युवा में आ जाती है।

'डेली मिरर' कहता है—इस तरह सारा इंग्लैंड सिपाही-राष्ट्र बनाया जा सकता है। स्वदेश की स्वतंत्रता हेतु बलिदान देने के लिए हर युवक की देह उपयुक्त होगी। इससे अधिक धन्यता किसमें है? और इसलिए 'डेली मिरर' ने Boy army for Britain (ब्रिटेन के लिए युवा सैन्य) तैयार करना प्रारंभ किया और ऐसा आह्वान किया कि उस पत्र के युवा ग्राहकों में से जो चाहे, वह आवेदन करे। इसके बाद A striking and patriotic response to our proposal शीर्षक का एक लेख आया। उसमें एक देशभक्त ने ऐसा वचन दिया कि मैं डेढ़-दो माह में चौदह-पंद्रह वर्ष के बच्चों का एक पथक् गोली-चालन, घुड़सवारी, कवायद और तलवारबाजी सिखाकर तैयार कर दूँगा। अब यह तरुण सेना तैयार होगी, इसमें कोई शंका नहीं। इस सारी तैयारी का उद्देश्य क्या था?—in case a foreign foe invaded

our shores every Englishman ought to be in a position to assist to expel the invader. इंग्लैंड पर कोई दूसरा आक्रमण करे तो हर युवक अपने देश की स्वतंत्रता के लिए रणभूमि में कूद सके, यही इसका उद्‌देश्य था।

अपने देश की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए रणभूमि में कूदने की तैयारी करना एक पवित्र महत्त्वाकांक्षा है। राष्ट्र की चेतना ही उसकी राजनीतिक स्वतंत्रता होती है। वह यदि है, तो राष्ट्र अपनी उन्नति करने में समर्थ हो सकता है। यह स्वतंत्रता राष्ट्र की मानसिक, शारीरिक एवं सैनिक शिक्षा पर अवलंबित रहती है, परंतु कुछ अदूरदर्शी नेता उस तरह की शारीरिक शिक्षा की ओर ध्यान नहीं देते। इस दुनिया में दुर्बल के लिए कोई स्थान नहीं है। हर देश को चाहिए कि तरुण राष्ट्रीय सेना, जैसी ऊपर वर्णित है वैसी तैयार करे। यह काम कठिन नहीं है, परंतु उधर किसीका ध्यान नहीं गया। वही ठीक है, नहीं तो फिर क्रिकेट के लिए समय कम पड़ेगा।

१८ सितंबर, १९०६

समाप्ति का आरंभ

गत सप्ताह लंदन शहर में हिंदुस्थान को लेकर जितनी खलबली मची, उतनी सन् १८५७ के बाद आज तक वास्तव में कभी नहीं मची थी। सन् १८५७ के बाद अंग्रेज लोग हमें बिलकुल भूल गए थे, ऐसा कहकर मैं उनके प्यार को अस्वीकार कर रहा हूँ, ऐसा बिलकुल नहीं है। सन् १८५७ से ह्यूम, कॉटन, वेडर्बर्न आदि प्रेमियों का झुंड-का-झुंड हिंदुस्थान की चरागाह में चरते-चरते हमसे प्रेम करता रहा है, यह मैं अस्वीकार नहीं कर रहा हूँ। उसी तरह हमारे आधुनिक मैजिनी नामदार गोखले सी.आई.ई. द्वारा इंग्लैंड पर किए गए आक्रमण के समय हिंदुस्थान ने इंग्लैंड को यथेच्छ पदाक्रांत किया है, यह भी मैं स्वीकार करता हूँ।

गत सप्ताह इन सब घटनाओं से भी अधिक खलबली मची है। जैसाकि 'इंडिया' नामक समाचारपत्र ने कहा है, नामदार गोखले सी.आई.ई. लंदन से 'अपने कामकाज की फतह' करके लौटे ही थे कि अपशकुन होने लगे। गोखले ने मोर्ले के कान में यह कह रखा था कि हिंदुस्थान में राजद्रोह नहीं है। 'डेली न्यूज' के संवाददाता को फुलर का त्याग-पत्र स्वीकार होने का समाचार जब मिला, तब नामदार गोखले ने ऐसा स्पष्ट वचन दिया था—The public opinion will come to normal state. (अब सार्वजनिक आंदोलन शांत हो जाएगा)। स्पष्ट है कि सारा आंदोलन फुलर साहब के विरुद्ध ही था। देश के चालीस करोड़ रुपए लूटे जा रहे हैं, इसलिए हम कोई आंदोलन नहीं कर रहे थे। अकाल से हर वर्ष रूस-जापान युद्ध के बराबर की संख्या में लोग मर रहे हैं, इस कारण या स्वदेश को

दरिद्रता के नरक में सड़ना पड़ रहा है, इस कारण भी हमारा आंदोलन नहीं था। गत कुछ वर्षों का हमारा आंदोलन केवल फुलर के त्याग-पत्र के लिए था। अब वह त्याग-पत्र मिल जाने से लोगों के मन फिर पहले जैसे ठंडे हो जाएँगे। चाहे फिर स्वदेश के पैरों में पड़ी बेड़ियाँ रत्ती भर भी ढीली न हुई हों, परंतु The public opinion will come to its normal state!—इस रीति से सबको समझाकर एवं ब्रिटिश राज्य को Providential dispensation स्वयं मानकर ना. गोखले सी.आई.ई. हिंदुस्थान के लिए चल पड़े। तभी एक भयानक तार आ गया—राजा एडवर्ड पदच्युत हो गए हैं और बाबू सुरेंद्रनाथ बनर्जी भारत के नए सम्राट् हो गए हैं!

सायंकालीन समाचारपत्र में यह तार प्रकाशित होते ही सारा लंदन हिलने लग गया। किसीकी समझ में कुछ भी नहीं आ रहा था। आज प्रातः तक हिंदुस्थान अपने कब्जे में था और केवल बारह घंटे के भीतर वह एक बंगाली बाबू के कब्जे में चला गया, यह सुनकर सबका खाना हराम हो गया। व्यापारी चिंताग्रस्त हो गए कि अब अपने व्यापार का क्या होगा? पेंशनभोगी इस चिंता में पड़ गए कि पेंशन का क्या होगा? सर हेनरी कॉटन और वेडर्बर्न इसी सोच में पड़ गए कि अब हिंदुस्थान का क्या होगा? इन अंग्रेज लोगों से भी अधिक चिंता ब्रिटिश कांग्रेस समिति के भारतीय सदस्यों को हुई। उनको तो रात भर नींद नहीं आई। इन सबको गोखले ने कुछ ही समय पूर्व निश्चयपूर्वक कहा था कि अंग्रेजों का राज ईश्वर ने हमारे लाभ के लिए ही भेजा है और जब तक चाँद-सूरज-धरती हैं, तब तक इस ईश्वरी कृपा को स्वीकार कर हमें उसे सीने से लगाए रहना चाहिए। परंतु बाबू सुरेंद्रनाथ ने स्वयं को अभिषिक्त कराकर ईश्वरप्रदत्त अंग्रेजी राज्य को दुत्कार दिया, अब यदि यह बात ईश्वर के कान तक गई तो वह क्या सोचेगा? दुःख में सुख इतना ही है कि अंग्रेज लोग मूर्तिपूजक नहीं हैं और उनके ईश्वर के कान ही नहीं हैं, नहीं तो इसके पहले ही उन्होंने यह बात सुन ली होती। मगर सर हेनरी कॉटन के तो कान हैं, उसका क्या करना? उन्हें तो यह बात हिंदुस्थान से ही सीधे मालूम हो गई होगी। वे हिंदुस्थान के हित में ही गुस्सा हुए होंगे और सर हेनरी कॉटन यदि गुस्सा हो गए तो ईश्वर चाहे गुस्सा हो या न हो, पर सुरेंद्रनाथ ने तो यह घोर पाप किया ही है।

अब इस पाप का प्रायश्चित्त किसी तरह करना चाहिए, इसके लिए देशभक्त दत्त ने 'लंदन टाइम्स' को दो पत्र भेजे। उनमें यह लिखा कि सुरेंद्रनाथ को केवल कुछ ब्राह्मणों ने आशीर्वाद दिया और इस तरह के आशीर्वचन की एक परंपरा हिंदुओं में है। इसलिए उससे डरने की कोई बात नहीं है। ऐसा सूचित कर आगे यह भी लिखा कि सुरेंद्रनाथ को आजकल बड़ा घमंड हो गया है। इसलिए उनके हाथों ऐसी हास्यास्पद घटनाएँ हो रही हैं। ब्राह्मणों के आशीर्वचनों की भूख सुरेंद्रनाथ को

क्यों लगी, यह मेरी समझ में नहीं आ रहा है। इतना लिखकर नीचे हस्ताक्षर किए—R.C. Dutt। फिर उन्हें आशंका हुई कि मुझपर अंग्रेजों को विश्वास कैसे होगा? मुझमें क्या ऐसा कुछ है? कुछ देर सोचने के बाद एक उत्तम उपाय उन्हें सूझा और उपरोक्त हस्ताक्षर के नीचे की खाली जगह में 'Late Civil Servant' (आपका ही एक बंदा गुलाम) जैसी महान् उपाधि को भी नम्रतापूर्वक लिखकर अपनी राजनिष्ठा प्रदर्शित की। यह पत्र प्रकाशित हो जाने के बाद लंदन के साहब लोगों को थोड़ा धीरज बँधा। हिंदुस्थान पूरी तरह हाथ से छूटा नहीं, यह जानकर खुशी हुई और हर कोई अंग्रेज देशभक्त दत्त को शाबाशी देने लगा।

परंतु संकट कभी अकेले नहीं आता। देशभक्त दत्त ने सुरेंद्रनाथ के राज्याभिषेक का संकट दूर किया और अंग्रेज अपने एक गुलाम के आश्वासन पर विश्वास कर चुप बैठे थे। तभी बंगाल में सुरेंद्रनाथ के राज्याभिषेक से भी अधिक भयानक बात घटित होने का समाचार प्राप्त हुआ। दैनिक समाचारपत्र 'डेली न्यूज' में एक समाचार प्रकाशित हुआ कि बंगाल में Golden Bengal नामक गुप्त संस्था के कार्यरत होने का पता लगा है। उसकी शाखाओं का बहुत बड़ा विस्तार है और उसने अभी एक परचा प्रकाशित किया है जिसका शीर्षक है Why to cry, drive out the Saheb।

सुरेंद्रनाथ ने अपने राज्यारोहण के अवसर पर दिए गए भाषण में कहा कि विलायती शक्कर में सुअर और गाय का रक्त मिलाया जाता है। इस तरह सारे बंगाल में सन् १८५७ के समय जो कुछ चल रहा था वह फिर शुरू हो गया है। 'वंदे मातरम्' नाम के 'छिछोरे' पत्र ने लिखा है—'They (The English) desire to make the Government of India popular, without ceasing in any sense to be essentially English. We desire to make it outonomous and absolutely free of British control.' (अंग्रेज लोगों की यह हार्दिक इच्छा है कि हिंदुस्थान पर उनकी सत्ता बनी रहे, परंतु हमारी इच्छा है कि हमपर अंग्रेजों का रत्ती भर भी शासन न रहे और हम पूर्ण स्वतंत्र हो जाएँ।) इस लंबे तार से अंग्रेजों का धैर्य सचमुच बहुत गिर गया है। जो डरता है, उसे हमेशा ऐसा लगता है कि ब्रह्मराक्षस पीछे पड़ा है। इंग्लैंड में क्या स्थिति है, इसकी थोड़ी-बहुत जानकारी भी मिल सके, इसलिए इंग्लैंड के कुछ प्रमुख समाचारपत्रों के उद्धरण यहाँ दे रहा हूँ—

डेली क्रॉनिकल 'Hindu unrest' शीर्षक से लिखता है—'The coronation of King Banerjee in Bengal is the climax of political unrest in Bengal. He is typical Babu, a frothy speakar with no

backing of judgement or character. The cry Vande Mataram has a seditious meaning attached to it. Partition of Bengal was the greatest mistake of Lord Curzon...' राजा बनर्जी के राज्याभिषेक से बंगाल में यह आंदोलन बढ़ा ही है।

'डेली मिरर' ने दादाभाई के पास अपना संवाददाता भेजा और उनसे पूछा कि क्या बंगाल में विद्रोह होगा? दादाभाई ने कहा कि वह सबकुछ सरकार के व्यवहार पर निर्भर है, परंतु विद्रोह आदि कुछ होगा नहीं। 'डेली टेलीग्राफ' लिखता है—'He (Banerjee) has just surpassed himself by being crowned and apointed king whether of India or Bengal only is not stated. In the old days the shift of such an imposter would have been short. The Government would either have clapped him under restraint as dangerous lunatic or ended his days in summary fashion. But now Banerjee's neck is quite safe...mined up with the Swadeshi movement this is a vague, elusive nationalist feeling which is fostered by a cheap national press. One can form any clear idea as to how much of this wild inflamatory oratory is merely the talk of Banderlog.'

सुरेंद्र बाबू को इस पत्र ने डटकर गालियाँ दी हैं। हिंदुस्थान विद्रोह के कगार पर है। यह आंदोलन और कुछ दिन चला, तो समाचारपत्रों एवं वक्ताओं द्वारा पालित इस आंदोलन से विस्फोट होगा, ऐसा उस भविष्यवक्ता का कथन है।

The Standard में तो एक बहुत लंबा लेख छपा है—'It appears that we are on the eve of an eruption, which though it might take a different form would be hardly less deplorable than the storm that was brewing half a century ago. There is certainly an active and malignant agitation against the Government Sedilion is openly preached and outhority deified. To the cry 'India for the Indians' has been added the watchword 'Down with the master foe.' The coronation of the babu king cannot be overlooked etc.'

हिंदुस्थान सन् १८५७ जैसे विद्रोह की तैयारी में है। खुलेआम अंग्रेजों से वैर करना सिखाया जा रहा है और 'हिंदुस्थान हिंदुओं का है' इस महामंत्र का जाप चल रहा है। यह पत्र आगे कहता है कि इससे हिंदुस्थान का कल्याण नहीं होगा। ब्रिटिश राज में मिलनेवाली नौकरियाँ आदि की सुविधाएँ उन्हें अन्यत्र कहीं भी

मिलनेवाली नहीं हैं।

'डेली ग्राफिक' पत्र में Emperor Banerjee शीर्षक से लेख छपा है। इस पत्र ने सुरेंद्रनाथ का एक चित्र भी छापा है। 'वंदे मातरम्' पत्र का एक उद्धरण तो अधिकतर पत्रों ने प्रकाशित किया ही है। 'डेली न्यूज' के संवाददाता के सामने हेनरी कॉटन ने एक लंबा वक्तव्य देकर यह सिद्ध किया है कि हिंदुस्थान को अब कुछ और सुविधाएँ देना आवश्यक है, अन्यथा उसके सुशिक्षित वर्ग का ब्रिटिश शासन पर बना हुआ विश्वास और उसकी राजनिष्ठा अभंग नहीं रह सकती। 'लंदन टाइम्स' ने भी ऐसी ही बातें लिखी हैं। स्कॉटलैंड के प्रमुख दैनिक पत्रों ने भी विद्रोह की बात कही है।

एक संस्कृत पंडित ने 'मातरम्' शब्द की व्युत्पत्ति करते-करते यह सिद्ध किया है कि 'माता' का अर्थ काली देवी ही है और काली संहारकर्ता देवी है। इसलिए 'वंदे मातरम्' माने 'हे काली, तू अंग्रेजों का संहार कर।'

अंग्रेजों का संहार कर! ऐसे बुरे स्वप्न अंग्रेजों को क्यों आने लगे हैं? ईश्वर के मन में जो होता है, वही वह करता है—ऐसा हम हिंदुओं का विश्वास है। इसलिए हम जबरन कहनेवालों में से नहीं हैं कि 'ईश्वर! तू ऐसा कर, वैसा कर'। ईश्वर के मन में आ जाए तो एक क्षण में संहार या संरक्षण—कुछ भी कर डालने की उसकी शक्ति है। तू संहार कर, उसे ऐसा आदेश देने की हमारी इच्छा नहीं है, हमारी योग्यता भी नहीं है। हम उसका वंदन करेंगे। फिर उसे जो उचित लगे, वैसा वह करेगा। हिंदुस्थान के लोगों में दृढ़ श्रद्धा उत्पन्न हो रही है, यह बात सत्य है। हमारा राष्ट्र उन्नति के रास्ते पर चल रहा है, इसमें शंका नहीं है, लेकिन इसलिए वहाँ गुप्त समितियों के जाल बिछे हैं या वहाँ कल ही विद्रोह होनेवाला है, ऐसा डर बिना कारण अंग्रेज क्यों पालें? गुप्त समितियाँ बनाने के लिए हम क्या रूसी हैं? हम भारतीय लोग हैं! अंग्रेजी राज ईश्वरीय प्रसाद है, यह बात हमारे नेता प्रतिज्ञापूर्वक कह रहे हैं। इतनी राजनिष्ठा होते हुए उपर्युक्त तर्क संभव नहीं दिखता। कुछ भी हो, परंतु एक पत्रकार द्वारा दी हुई सूचना अवश्य अपने देशबंधुओं को ध्यान में रखनी चाहिए। वह सूचना है कि स्वदेशी आंदोलन से मुसलमानों को बहुत हानि हो रही है। इसलिए हम वह आंदोलन बंद कर अपने मुसलमान भाइयों का प्रेम प्राप्त करें, इसीमें हिंदुस्थान का भला है।

इस तरह आजकल हिंदुस्थान के लिए 'भवति न भवति' चल रही है। टोरियों या कंजर्वेटिवों के मतानुसार, हिंदुस्थान का साहसिक आंदोलन अत्याचारपूर्वक कुचल देना चाहिए एवं ब्रिटिश शासन पक्का कर देना चाहिए। लिबरल पत्रों के अनुसार, अब अगर अधिक अत्याचार किए गए तो भारतीय लोग अधिक गुस्सा

होंगे। इसलिए थोड़ी सुविधाएँ देकर उन्हें संतुष्ट किया जाए और ब्रिटिश शासन चिरस्थायी किया जाए। हालाँकि इन सबमें साधनों के संबंध में अंतर है, फिर भी सौभाग्य से सबकी हार्दिक इच्छा थी कि ब्रिटिश शासन चिरस्थायी किया जाए। और यही इच्छा हिंदू लोगों की भी है। यह सिद्ध करने के लिए हेनरी कॉटन, देशभक्त दत्त एवं गोखले का ससम्मान उल्लेख कर उनके मन को हिंदुस्थान के अंतिम कल्याण के लिए तैयार किया जाए, ऐसी अनुशंसा की है। यह अंतिम कल्याण अर्थात् धीरे-धीरे सरककर आनेवाला ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन स्वराज है। हिंटमन के 'जस्टिस' पत्र के ताजे अंक में लिखा है कि अंत में इंग्लैंड हिंदुस्थान की चिंता करने लगा। हिंदुस्थान जाग्रत हो गया है। वर्तमान के आंदोलन तो The Begenig of the End (अंत का आरंभ) है। जिधर सत्य है, उधर विजय है।

५ अक्तूबर, १९०६

राष्ट्रीय सभा की बकरियाँ

लंदन : संकट जब आने लगते हैं, तब वे अनेक दरवाजों से अंदर घुसते हैं। इंग्लैंड के भाग्य का क्या हुआ, कौन जाने? सोना सँभालने जाते हैं तो हाथ में मिट्टी आ जाती है, ऐसी स्थिति चल रही है। आयरलैंड, मिस्र, हिंदुस्थान—जहाँ देखो उधर अनिष्ट ग्रहों का ही उदय हुआ दिखता है। आयरलैंड में शांतम् पापम् करने के लिए 'होमरूल' देने का लालच दिया। परंतु उस प्रयास से आयरिश लोग फँसे नहीं, उलटे अधिक ही दंगा करने लगे। मिस्र में अंग्रेजी शान बनाए रखने के लिए कुछ मुसलमानों को अत्यंत क्रूरता से दंडित किया, परंतु उसके कारण डर बढ़ने की जगह द्वेष ही बढ़ता चला गया। यह द्वेष-बुद्धि केवल मिस्र में ही रुक जाती तो अच्छा होता, परंतु अपने धर्म के निरपराध लोगों को पशुओं से भी अधिक क्रूरता से अंग्रेजों को मारते देखकर असल मुसलमान जाति एवं धर्म के सभी मोहम्मदी लोग इस क्रूरता से आग-बबूला हो गए। हिंदुस्थान में तो पूछो ही नहीं? सुरेंद्रनाथ बनर्जी के नेतृत्व में स्वराज की जय-जयकार हो रही है। ऐसी स्थिति में किसी भी विचारवान व्यक्ति को कँपकँपी होने लगे तो आश्चर्य नहीं। ऐसी कँपकँपी अंग्रेज पत्रकारों को कितनी हो रही होगी, यह मेरे द्वारा प्रस्तुत अंग्रेजी उद्धरणों से पता चल गया होगा। परंतु उसके बाद एक अतिशय बुरी बात घटित हो गई है।

हिंदुस्थान में चाहे जो भी आंदोलन चले और चाहे जैसा बचपना शुरू हो जाए, जब तक हेनरी कॉटन हैं, तब तक हिंदुस्थान के कल्याण की कोई चिंता नहीं, ऐसी आशा एवं विश्वास लिये अंग्रेज निश्चिंत बैठे थे। उनकी यह भावना अकारण भी नहीं थी। राष्ट्रीय सभा की बकरियों ने हेनरी कॉटन के गले में माला पहनाई थी।

इससे यह स्पष्ट हो गया था कि उन बकरियों को हेनरी कॉटन पर अटूट विश्वास था। एक अच्छी बात यह भी थी कि इस प्रेम और विश्वास को प्राप्त करने के लिए उन्होंने भी कम प्रयास नहीं किए थे। स्वयं वे अजातशत्रु की जाति के होते हुए भी राष्ट्रीय बकरी ढोरसाल बाड़े में बकरी का चमड़ा ओढ़कर ही घुसे थे, ताकि बकरियाँ डर न जाएँ। 'रोम में जाओ तो रोम जैसा करो'—इस कहावत के अनुसार हेनरी कॉटन 'बकरियों में रहो तो बकरियों जैसे रहो' इस विचार से रहे और वही ठीक था। परंतु परसों एकाएक उनके हाथों एक भूल हो गई। सुरेंद्रनाथ बनर्जी एवं विपिनचंद्र पाल के आंदोलन के बारे में सुनकर अंग्रेजों को गुस्सा आना एकदम स्वाभाविक है। परंतु ऐसा गुस्सा क्या कोई दिखाता है? ऐसे समय में आत्म-संयम ही रखना पड़ता है। बकरी का चमड़ा ओढ़ लेने के लिए उन्होंने जैसे अंत तक कड़ा आत्मसंयम बरता, वैसा ही थोड़ा और धैर्य रखे रहते तो मुसीबत टल जाती और बहार आ जाती, परंतु काम एष क्रोध एष! क्रोध के आवेश में हुआ या क्या जानें क्या हुआ, पर हेनरी ने ओढ़ी हुई बकरी की वह खाल फाड़कर दूर फेंक दी।

परसों स्व. तैयबजी की शोक सभा के समय सर हेनरी कॉटन ने भाषण दिया और उसमें वे पुराने नेताओं की राजनिष्ठा एवं उदारता के लिए उनकी स्तुति करते-करते रोते-चिल्लाते और गुस्से से फड़फड़ाते हुए कहने लगे कि मेरे सामने युवा इंडियन बैठे हैं। उन्हें मैं सच्चाई और अंतर्मन से हिंदुस्थान के भले के लिए कहता हूँ कि वे पुराने महात्माओं का अनुसरण करें। हिंदुस्थान में आजकल जो आतंकवादी एवं अघोरपंथी लोग हो गए हैं, उनकी वे न सुनें। वे कहते हैं कि हमें पूर्ण स्वतंत्रता चाहिए, अर्थात् अंग्रेजों का शासन नष्ट करना है। अरे रे, ऐसा मत करो! राष्ट्रीय सभा जो करती है, वही ठीक है। ब्रिटिशों का शासन समाप्त कर पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करनी है, ऐसा कहना भी बड़ा अनर्थकारी है। सभा में कोई चिल्लाया—नहीं! नहीं!! वह अनर्थकारी ही है! हेनरी कॉटन हिंदुस्थान के मित्र हैं। भेड़िया आया रे, भेड़िया आया! राष्ट्रीय बकरियाँ जितनी जल्दी सावधान हो जाएँ, उतना ही अच्छा।

हेनरी कॉटन की चर्चा 'डेली न्यूज' के संवाददाता से हुई, यह पहले ही मैंने सूचित किया है। उसपर इस बार के 'इंडियन सोशियोलॉजिस्ट' में छपी वार्त्ता पढ़ने लायक है। हिंदुस्थान में बहुत सारे लोग आजादी की माँग कर रहे हैं। इसलिए हेनरी कॉटन उन्हें 'अघोरपंथी' कह रहे हैं, वह ठीक ही है। परंतु यह अघोरपंथी राजनीतिक स्वतंत्रता माँग रहे हैं। इस अघोरपंथ की एक विशाल सभा कुछ दिनों पूर्व ही हाइड पार्क में हुई। इस अघोरपंथ में सारी महिलाओं ने अपना नाम लिखा दिया है। इस सभा में मिस पॅथर्स का भाषण हुआ। उसका एक उद्धरण दे रहा हूँ—'हम यह भली-भाँति जानती हैं कि इंग्लैंड में महिलाओं की जो बहुत बुरी स्थिति है, उसका

मुख्य कारण हमारी राजनीतिक परतंत्रता है। हमें पूर्ण राजनीतिक स्वतंत्रता चाहिए। इस कार्य में पुरुष हमारी सहायता करें, यह हमारी इच्छा है। परंतु यदि वे खुशी से हमें राजनीतिक स्वतंत्रता देना नहीं चाहते तो हम साफ कहे देते हैं कि हम महिलाएँ उनसे वह छीन लेने में समर्थ हैं। हमारे मन में आ जाए तो हम इंग्लैंड के सारे कामकाज एक दिन में बंद कर सकती हैं और राजनीतिक स्वतंत्रता छीनकर ले सकती हैं।'

भारतीय देशबंधु! जरा देखें, यह एक स्त्री बोल रही है और हम पुरुष अभी भी नरम हैं। गुलामी की चक्की में फिर कभी कोई देश न पीसा जाए।

गुलामी के प्रति घृणा होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। वह घृणा आज तक उत्पन्न नहीं हुई, यही आश्चर्य है! पर अब हेनरी कॉटन कितना भी गुस्सा हों—गुलामी का अंत अब पास आ गया है, इसमें कोई शंका नहीं। दादाभाई की अध्यक्षता की आड़ में छिपकर हेनरी कॉटन ने जिस अघोरपंथ पर गोलियाँ चलाईं, उसी पंथ में देशभक्त श्यामजी कृष्ण वर्मा की गिनती होती है। उनके लिए अंग्रेजी पत्र भले ही दाँतों से होंठ दबाते हों, हिंदुस्थान की भाग्य-किरण जिस तरह वर्तमान में चमक रही है, उसकी गिनती तो इतिहास में करनी ही पड़ेगी, इसमें कोई शंका नहीं। देशभक्त श्यामजी ने एँडमंड बर्क के नाम पर जो छात्रवृत्ति शुरू की है, वह इस वर्ष महाराष्ट्र के अपने देशबंधु श्री प्रधान बी.ए., एल.एल.बी. को दी गई है, यह तो अब सबको मालूम ही है। उस छात्रवृत्ति के नियमानुसार श्री प्रधान ने परसों अपना निबंध पढ़ा। विषय था—भावी भारत का निर्माण। श्री प्रधान ने अपने विषय का बहुत ही विस्तृत, जोरदार, सुंदर एवं यथार्थ विवेचन किया है। वह निबंध प्रकाशित होगा ही। भावी भारत का निर्माण कैसे किया जाए, यह कहने से पहले उन्होंने वर्तमान स्थिति की शोचनीय दशा का वर्णन बहुत मार्मिकता के साथ किया।

मुसलमानी शासन की अपेक्षा अंग्रेजी चक्की अनेक प्रकार से स्वदेश भूमि के नाश का कारण सिद्ध हुई है। वर्तमान में जो शांति दिख रही है, वह जीवित लोगों की शांति न होकर मरे हुए लोगों की शांति है। इस शांति के लिए यदि अंग्रेजों का आभार मानें तो श्मशान की शांति के लिए मृत्यु का भी आभार क्यों न मानें, यह समझना बहुत कठिन है। वर्तमान में देश की जो दु:स्थिति है, उसे टालने के लिए प्रधान कहते हैं—पूर्ण राजनीतिक स्वतंत्रता ही एकमात्र उपाय है। स्वतंत्रता प्राकृतिक देन है। उसे प्राप्त करना आज कठिन दिख रहा है। इसलिए उसे कल प्राप्त किया ही नहीं जा सकता, यह नहीं कहा जा सकता। इटली की स्वतंत्रता को कल तक 'स्वप्न-सृष्टि' कहा जाता था। आज वही स्वप्न-सृष्टि सत्य हो गई है और इटली, उसका रोम, उसका आल्पस स्वतंत्रता के ध्वज को अपने पवित्र मस्तक पर धारण कर सारे

विश्व को स्वतंत्रता के गीत सुना रहे हैं। अर्थात् आज की परिस्थिति बदलने के सिवाय दूसरा उपाय नहीं है। इसलिए पूर्ण राजनीतिक स्वतंत्रता चाहिए। इसे प्राप्त करने के एक-दो उपाय भी उन्होंने सुझाए। इसमें पहला है—चारों ओर शिक्षा का प्रसार। लोगों को राजनीतिक अधिकार समझाए जाएँ। मुसलमान बंधु और सब भारतीय लोग एक हो जाएँ और निश्चय करें कि स्वतंत्रता प्राप्त किए बिना रुकेंगे नहीं। हममें पात्रता होते ही प्रतिनिधि स्वतंत्रता आदि देने का वचन अंग्रेजों ने दिया ही है। देशभक्त प्रधान का भाषण हो जाने के बाद देशभक्त लोकमान्य श्यामजी का आभार-प्रदर्शन का व्याख्यान हुआ और 'वंदे मातरम्' राष्ट्रगीत देशबंधु टैगोर—बंगाल के महर्षि टैगोर के प्रपौत्र द्वारा सुस्वर, सुमंगल रीति से गाने के बाद सभा समाप्त हुई।

यह समाचार हेनरी कॉटन को जब मालूम होगा, तब उन्हें कैसा लगेगा? ईश्वर उन्हें शांति दे!

२६ *अक्तूबर,* १९०६

हिंदुस्थान के मदारी

लंदन, ५ अक्तूबर, १९०६, शनिवार। समय काटने के लिए मैं 'वैरायटी हिपोड्रोम' में गया था। वैरायटी थिएटर अपने देश के लोगों के लिए नया है। इसलिए संक्षेप में उसके बारे में बता दूँ तो ठीक होगा। इस थिएटर में गानेवाले का गाना, नाचनेवालों का नाच, जोकरों की जोकराई, पशु-पक्षियों के तरह-तरह के खेल, साइकिल के प्रेक्षणीय कार्य, कवायद, सुंदर शरीर वाले मनुष्यों के ट्रॅपीज की काम-कुश्तियाँ, जुजुत्सु के खेल, अंग्रेजी जादू आदि देखने व सुनने को मिलते हैं—वह एक तरह की खिचड़ी ही होती है। हिपोड्रोम में जाने के बाद मैंने एक कार्यक्रम खरीद लिया और उसे पढ़ने लगा तो उसमें Indian Fakirs, Hindu/Conjurers लिखा था। ये क्या दिखाएँगे—इसकी बड़ी उत्सुकता हो गई।

कुछ समय बाद वे आए। उनकी पोशाक, उनकी तुमड़ी-डमरू, पोटली—सारी चीजें वैसी ही थीं, जैसी हिंदुस्थान में होती हैं। प्रेक्षकों को उनकी पोशाक तो नई लगी ही, उसने जो खेल करके दिखाए, वे भी उनके लिए नए ही थे। कुल मिलाकर सारे खेल बड़े सफाई से करके दिखाए। प्रेक्षकों ने जो तालियाँ पीटीं, उनसे लगा कि उन्हें आनंद आया। खेल वैस ही थे, जैसे अपने यहाँ दिखाए जाते हैं। उस मदारी ने अपने में से एक को पिटारे में एक जाली में डालकर गायब कर दिया और फिर से उसी पिटारे से उसे बाहर निकाला, यह देखकर यहाँ के लोगों को आश्चर्य हुआ। खेल सबके सामने और एकदम पास करके दिखाए थे। उसकी ओर सबकी आँखें लगी हुई थीं। कई लोगों ने दूरबीन भी लगा रखी थी। परंतु उन्होंने अपना काम

बड़ी फुरती और कौशल से किया। लोग उनका काम देखकर खुश हो गए। मदारियों को भी मैनेजर से अच्छे पैसे मिले होंगे। अंत में सैन फ्रांसिस्को के भूकंप का दृश्य देखकर मैं लौट आया।

कुछ देर बाद जब मैं सो गया, तब सुंदर सा एक स्वप्न देखा। हिंदुस्थान के मंच पर हिंदू मदारी बड़े आश्चर्यजनक एवं साहस के खेल दिखा रहे हैं। उनकी ओर दूर-दूर के राष्ट्र के लोगों की आँखें लगी हुई हैं। कितने ही (छिद्रान्वेषी) निंदक अपनी आँखों पर दूरबीन लगाकर बैठे हैं और यह देख रहे हैं कि उन मदारियों से कहाँ गलती होती है। कितने ही इस विचार से दुबले हो रहे हैं कि ये क्या कर दिखाएँगे? खेल बंगभंग से शुरू हुआ है। ये लोग कांग्रेस के वेश में मुँह से धुआँ निकाल रहे हैं और बीच-बीच में अग्नि की लपटें भी दिखा रहे हैं, पर प्रेक्षकों को उसमें कुछ विशेष नहीं लगा और उनपर इसका कुछ भी प्रभाव नहीं दिखा।

बहुत देर बाद उन्होंने स्वदेशी का खेल खेलना शुरू किया। सारे प्रेक्षक आँखें गड़ाकर देखने लगे। निंदक कहने लगे, यह खेल अटक जाएगा, किंतु उनको निराश होना पड़ा। इसलिए दूसरे हँसने लगे। यह खेल तो बहुत बढ़िया खेला गया। फिर एक दूसरा खेल शुरू हुआ। हिंदुस्थान एक पिटारे में कंगाली, प्लेग, आपस के झगड़े, मत्सर, बुरी राज-व्यवस्था, परतंत्रता आदि के जाल में फँसा हुआ दिखा। उसे इस स्थिति में सबके सामने गायब कर फिर उसी पिटारे में बंधनरहित करने का विचार उस मदारी का चल रहा था। वह क्या करेगा, इस ओर सबका ध्यान लगा हुआ था। सभी बड़ी उत्सुकता से और एकाग्र होकर देख रहे थे। इतने में मेरी नींद खुल गई। अरे रे! कितनी बुरी बात हो गई। कितनी निराशा!! क्या हुआ, यह देख नहीं पाया। फिर से सो जाने का विचार आया। आँखें बंद कीं, तो अलग ही स्वप्न दिखाई दिया। संक्षेप में वह ऐसा था—जिस किसी हिंदू मदारी को इंग्लैंड के रंगमंच पर जाकर कुछ काम कर दिखाना है और कुछ लाभ प्राप्त करना है, उसका कुछ भला भीख माँगने से भी होनेवाला नहीं। भिखारी के लिए इंग्लैंड के रंगमंच पर कोई स्थान नहीं है। स्थान तो है ही नहीं, उसे वहाँ उपहास ही मिलेगा। अवश्य ही मदारी का यह अनुभव सबके काम का है।

२ नवंबर, १९०६

इसका क्या अर्थ है?

लंदन, २ नवंबर, १९०६। लंदन की पार्लियामेंट में आजकल हिंदुस्थान के संबंध में काफी कुछ चर्चा होने लगी है। देशबंधु सुरेंद्रनाथ बाबू को इधर से इसी आशय के पत्र गए हैं, यह सबको मालूम है। उनमें से एक पत्र में ऐसी संभावना

उसमें व्यक्त की गई थी कि बंगाल का आंदोलन यदि इतने ही जोर से चलाया गया और कुछ आवेदनों-निवेदनों के बंडल फिर इंग्लैंड भेजे गए तो बंगाल का विभाजन रद्द करने का मंत्रिमंडल का विचार हो सकता है।

यह पत्र प्रकाशित होते ही लॉर्ड मोर्ले पर प्रश्नों की झड़ी लग गई। क्या विभाजन रद्द होने की कोई संभावना है? इस आशय के प्रश्नों से त्रस्त होकर मोर्ले साहब ने फिर से चिल्लाकर कहा कि 'विभाजन पक्का है और कभी भी रद्द होनेवाला नहीं है।' राजनीति के आदमियों में स्पष्ट एवं सत्य बोलने का दुर्गुण कभी नहीं होना चाहिए। स्पष्ट अर्थात् सच भी नहीं, झूठ भी नहीं; पूरा झूठ तब भी चलेगा, परंतु पूरा सच कभी भी न बोलें। ये सारे सिद्धांत मोर्ले साहब को मालूम नहीं, ऐसा नहीं है। स्पष्ट एवं सत्य बोलने का दुर्गुण उनमें है, ऐसा कहने का साहस मोर्ले के बजट भाषण के बाद नामदार गोखले भी नहीं कर सकते। हिंदुस्थान श्रीमंत हो रहा है, इस वाक्य में मोर्ले के बजट-भाषण का सबकुछ आ गया है। अब हिंदुस्थान श्रीमंत हो रहा है, इस वाक्य में सत्य का दुर्गुण रत्ती भर भी नहीं है। अपनी कूटनीतिक परंपरा का निर्वाह करते हुए मोर्ले साहब यथाशक्ति एवं यथागति प्रयास कर रहे हैं कि इस सत्य के दुर्गुण का स्पर्श भी न हो परंतु परसों गुस्से में वे स्पष्ट बोल गए। विभाजन रद्द नहीं होगा, ऐसा कहने से हिंदुस्थान पर क्या प्रभाव होगा, इसकी अच्छी कल्पना जिन्हें है, उन्हें यह उत्तर सुनकर बहुत दुःख होगा। उन्हें अपनी बाजी उलट जाने का डर लगेगा। घास का पूला दिखाते-दिखाते गाय को कसाईखाने में जितनी जल्दी और सरलता से लाया जा सकता है, उतना उसे सच बात बताकर कभी भी नहीं लाया जा सकता। इस तरह छकाकर, मजे से गाय को कसाईखाने में लाने में एक अलग तरह का मजा रहता है। विभाजन रद्द करते हैं, आज करते हैं, कल करते हैं, करते हैं, शीघ्र ही—ऐसा कहते रहने से बंगाल की गाएँ पीठ पर पूँछ का बोझा लिये चहुँओर दौड़ती चलतीं और फिर उनकी सभाएँ होतीं, उनके निवेदन प्राप्त होते, उनका ठंडा गुस्सा प्रकट होता और इन सबका मजा भी देखने को मिलता।

परंतु अब ये सारा अवसर नहीं आएगा, यह सुनकर इंग्लैंड के अपने खास दोस्त का मन तड़पने लगा है। बंगाल की गाएँ राजनिष्ठ हैं। अतः फिर एक बार प्रयास करके देखें। कल से फिर प्रयास करके देखने का नाटक किया जा रहा है। कल मि. रेडमंड एवं लेबर पार्टी के एक-दो सदस्यों ने मोर्ले से प्रश्न पूछे—क्या आप विभाजन के कागज पार्लियामेंट में प्रस्तुत करेंगे? मोर्ले साहब ने कहा—उन कागजों में कोई विशेष बात नहीं है। फिर प्रश्न किया गया—पार्लियामेंट में प्रस्तुत करने में क्या आपत्ति है? उत्तर मिला—वे एक बार पहले भी पार्लियामेंट में प्रस्तुत

किए जा चुके हैं, ठीक दिनांक मुझे स्मरण नहीं है। मैं उस समय वह विभाग नहीं देखता था।

मोर्ले साहब के हृदय में हिंदुस्थान के प्रतिपूर्ण सहानुभूति है—इस संबंध में हममें से अनेक गरमदलीय लोगों में मतभेद नहीं है। परंतु यह सहानुभूति उनके स्टेट सेक्रेटरी होने के बाद उत्पन्न हुई है, यह सुनकर जिनके मतभेद नहीं हैं, उनको बड़ी निराशा हुई है।

वैसे, इसका स्पष्टीकरण करना बड़ा सरल है। इस स्थान पर आने से पूर्व मोर्ले की जेब और मन—दोनों ही खाली थे। जब तक इनकी जेब का ध्यान हिंदुस्थान की ओर नहीं था, तब तक उनका मन भी हिंदुस्थान की ओर नहीं था। परंतु जब यह पद मिला तो स्वभावत: यह स्थिति बदल गई। कोट की जेब जैसे-जैसे हिंदुस्थान के वेतन से भरने लगी, वैसे-वैसे मन की जेब भी हिंदुस्थान की सहानुभूति से भरने लगी। पार्लियामेंट में कल हुए प्रश्नोत्तर का समाचार सुनकर एक भारतीय युवा मुझसे कहने लगा—लिबरल पार्टी का शासन होने के बाद से हिंदुस्थान के संबंध में कितनी चर्चा होने लगी है, देखा आपने? ऐसे में आवेदन करके और सदस्यों से मिलकर जोर लगाएँ तो फतह हो जाएगी। ऐसे वाक्य कहनेवाले तरुण आज भी निकल रहे हैं, यह सचमुच बड़े दुर्भाग्य की बात है। हिंदुस्थान में आज क्या हो रहा है, यदि इधर पार्लियामेंट का या अंग्रेजों का ध्यान हो तो वह आवेदनों से नहीं, गोखले के मिलने-जुलने से भी नहीं, बल्कि हिंदुस्थान में उदयोन्मुख स्वतंत्रता-पक्ष के जोश के कारण है। अंग्रेजी पार्लियामेंट का ध्यान अब हिंदुस्थान की ओर प्रथमत: जा रहा है, ऐसी दूसरी एक भ्रांत भावना हममें प्रचलित है। मगर आज जितना है, इससे लाखगुना अधिक ध्यान हिंदुस्थान ने एक बार आकर्षित किया था सन् १८५७ के दावानल की भयानक आग से। तब इंग्लैंड के पार्लियामेंट में ही नहीं, इंग्लैंड की हर झोंपड़ी में भी हिंदुस्थान के संबंध में प्रश्नोत्तर हुए थे।

वैसा ही दावानल सुलगाने के लिए दादाभाई नौरोजी हिंदुस्थान जा रहे हैं, ऐसा कहा जा रहा है। परंतु उन्हें कांग्रेस की अध्यक्षता तीसरी बार मिली है। इसीलिए वहाँ एक शानदार भोज है, जिसमें कितने ही एम.पी. आनेवाले हैं। हिंदुस्थान की राष्ट्रीय सभा का अध्यक्ष पद दादाभाई को मिला, इसलिए अंग्रेजों को इतना आनंद क्यों हुआ होगा? तिलक को यह स्थान मिला होता तो हिंदवासियों को जितना आनंद एवं हर्ष हुआ होता, उतना ही दादाभाई का निर्वाचन होने से अंग्रेजों को हो रहा है, इसका क्या अर्थ है?

देशभक्त पांडुरंग महादेव बापट बी.ए. ने कुछ दिनों पूर्व इस आशय की एक छोटी सी पुस्तक प्रकाशित की थी, जिसमें जोर देकर कहा गया था कि हिंदुस्थान को

होमरूल चाहिए। स्वदेश के लिए 'स्वराज' माँगने के इस अपराध में बंबई विश्वविद्यालय ने उन्हें दी हुई 'मंगलदास नथुभाई छात्रवृत्ति' वापस ले ली है, यह समाचार यहाँ आ गया है। स्वदेश गुलाम ही बना रहे, ऐसा जो कहेगा, उसे ही यह मेरी छात्रवृत्ति दी जाए, क्या ऐसी कोई शर्त मंगलदास नथुभाई ने छात्रवृत्ति घोषित करते हुए की थी? हिंदुस्थान के तरुण रक्त में प्रकृति द्वारा उत्पन्न की हुई स्वातंत्र्य-शक्ति को ऐसी पगलाई धमकी से कुचल डालने के दिन अब नहीं रहे।

२३ नवंबर, १९०६

क्रांति के प्रवाह

लंदन : विश्व-नियम के अनुसार क्रांति और उत्क्रांति के प्रवाह अखंड और निरंतर बहते रहते हैं। काल के उतार से अकल्पनीय वेग से धड़धड़ाते गिरनेवाले प्रपातों को 'क्रांति' कहा जाता है एवं सम प्रदेश पर बहते नदी जैसे विश्ववृत्ति के प्रगमनात्मक प्रवाह को 'उत्क्रांति' कहते हैं। क्रांति से उत्क्रांति और उत्क्रांति से क्रांति उत्पन्न होती है। ये उत्क्रांति-क्रांतिचक्र कालचक्र के प्रारंभ से ही गतिमान हैं। तत्त्वक्रांति, धर्मक्रांति, राज्य क्रांति आदि अलग-अलग स्वरूप लिये भिन्न-भिन्न काल में विश्ववृत्ति प्रगमन करते हुए आगे बढ़ती रही है और भविष्य में भी प्रगमन करती रहेगी। जमा हुआ या रुके प्रवाह वाले गड्ढे का पानी जैसे सड़ जाता है, उसी तरह स्थिरता एवं शिथिलताप्राप्त मनुष्य या राष्ट्र के शरीर का पानी भी सड़ने लगता है। इस सड़न को बंद करके उस रुके पानी की गति रोके हुए बाँध का विध्वंस कर उसका प्रवाह चालू करना पड़ता है। प्रवाह विश्व की निसर्ग वृत्ति है। अत: जल्दी या देर से, मूल रूप में या रूपांतरित, जैसे भी हो, गतिशून्य को गति मिलने लगती है। इस चलन के प्रारंभ में निर्बंध को फोड़कर बाहर घुसनेवाले प्रवाह के प्रथम धक्के को या गतिशून्य मनुष्य के या सड़ने की चाहत रखनेवाले राष्ट्र के पैरों को बाँध रखनेवाली बेड़ियों पर पड़ती प्रगति के घन की मार से टूटते समय होनेवाली 'तड़ाक्' की ध्वनि को 'क्रांति' कहते हैं। इस प्रतिक्रिया का विशेष वेग जब कम हो जाता है और उसे मूल तथा सामान्य गति प्राप्त हो जाती है तो एक गति से होनेवाले प्रगमन को 'उत्क्रांति' कहते हैं। विश्व में धर्मक्रांति समाप्त हो गई है और वर्तमान में धर्म की उत्क्रांति चल रही है। परंतु विश्व राजनीति की उत्क्रांति होने में सैकड़ों स्वार्थी तथा अन्याय के बाँध बाधा बने रहे हैं। इस कारण अभी बहुत सी राज्य क्रांतियाँ एवं समाज-क्रांतियाँ होनी हैं। वे जब तक नहीं होतीं, तब तक विश्व का प्रगमन नहीं होगा और चूँकि प्रगमन विश्ववृत्ति है, अत: ये क्रांतियाँ भी होनी ही हैं। ऐसी प्रगमनात्मक क्रांतियों में से वर्तमान में कितनी क्रांतियाँ चल रही हैं या प्रारंभ

होना चाहती हैं, कितने जमे पानी के गड्ढे भूकंप के उछाल से अपने बाँध फोड़ने के लिए धक्के दे रहे हैं या धक्के देने की तैयारी में हैं और कितने राष्ट्र अपनी गुलामी की जंजीरों पर चोट कर रहे हैं या चोट करने का अवसर एवं साधन एकत्र कर रहे हैं, इसका अनुमान लगाना अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इस महत्त्वपूर्ण विषय पर एक सोशलिस्ट महनीय विद्वान् श्री हिंडमैन का 'क्रांति के प्रवाह' (The Rapids of Revolutions) विषय पर जो एक महत्त्वपूर्ण भाषण हुआ, वह अपने पाठकों के लिए दे रहा हूँ। उसमें से जिन भारतीय लोगों को सीखने की इच्छा हो, उन्हें सीखने के लिए बहुत कुछ है।

सबसे पहले श्री हिंडमैन ने इंग्लैंड की विभिन्न वर्तमान राजनीतिक पार्टियों एवं उनके बीच स्थित विरोधों का विवरण दिया। उसमें हिंदुस्थान के लोगों की रुचि का कुछ भी न हो, क्योंकि गुलामों को स्वतंत्र विचार सहज में पसंद नहीं आते, फिर भी सीखने लायक यह था कि श्री हिंडमैन के मतानुसार लिबरल तथा कंजर्वेटिव—इन दो पार्टियों में केवल नाम की ही भिन्नता है। वैसे, ये दोनों ही अनुदार विचार के हैं। एक पार्टी थोड़ी गड़बड़ाती है, इसलिए मन का दुष्ट प्रयोजन वह खुलेपन से कह डालती है। दूसरी पार्टी चालाक है, इसलिए अपने दुष्ट प्रयोजन को मीठी भाषा में कहती है। पहली पार्टी केवल दुष्ट है, पर दूसरी लिबरल पार्टी दुष्ट एवं विश्वासघाती—दोनों है। इन विश्वासघाती लोगों के हाथों में इंग्लैंड का राज-तंत्र आए आज एक वर्ष हो रहा है। इस एक वर्ष में उन्होंने कौन सा उदार कार्य किया है ? जो कृत्य किए हैं, वे कंजर्वेटिवों के कृत्यों से किसी भी तरह भिन्न नहीं हैं। उन्होंने मिस्र के लिए क्या किया ? हिंदुस्थान के लिए क्या किया ? अन्याय और अधमता से करोड़ों रुपए लूटकर लाए जाते हैं। उसमें एक दमड़ी भी उन्होंने क्या कम की है ? फिर इस नाम-भिन्नता से अंतर क्या पड़ा ? (श्री हिंडमैन यहाँ थोड़े चूक रहे हैं, ऐसा मुझे लगता है। लिबरल पार्टी आने के बाद से कुछ भी अंतर नहीं पड़ा, यह कहना असत्य है। जैसे मोर्ले को ही लें। वे अपनी पहली अवस्था में पुस्तकें बेच-बेचकर पेट भरा करते थे, परंतु शासन में लिबरल पार्टी के आते ही हिंदुस्थान के वेतन से प्राप्त हुई उनकी दूसरी अवस्था, मोर्ले का गत वर्ष का चेहरा और अब साल भर बाद का हिंदुस्थान के पैसे से लाल हुआ चेहरा, इसमें जो अंतर है, उसे हिंडमैन को भूलना नहीं चाहिए था।) श्री बाल्फर ठीक कहते हैं कि लिबरल तथा कंजर्वेटिव एक-दूसरे के स्वाँग रचने तक ही भिन्न हैं। अधमता में तो दोनों एक समान हैं। इंग्लैंड में ये दोनों गड्ढे में जमा पानी की तरह सड़ रहे हैं।

यद्यपि यह सच है तो भी क्रांति का प्रवाह शुरू हो गया है, इसके चिह्न साफ दिख रहे हैं। लोकपक्ष बलवान हो रहा है। समता एवं स्वतंत्रता की विजय केवल

इंग्लैंड में ही नहीं, अपितु पूरे विश्व में हो, यह कहनेवालों की संख्या बढ़ रहा ह। रूस में तो लोकशक्ति के आघातों से जुल्म का बाँध करीब-करीब टूट ही चुका है। मैं जब यहाँ बोल रहा हूँ, तब रूस में जुल्मी जमींदारों के अधिकार अस्वीकार कर पूँजीपतियों पर जोरदार आक्रमण हो रहे हैं और जल्दी ही रूस में क्रांतिकारियों की विजय देखकर लोगों को खुशी होगी। क्रांति दमन से दबती नहीं है। उसे जितना दबाया जाता है, वह उतनी ही ऊपर उछलती है। प्रगमन की ओर ले जानेवाली होने के कारण क्रांति पवित्र वृत्ति है, ऐसा मैं मानता हूँ। क्रांति का प्रवाह जीवंतता का चिह्न है। इस क्रांति का प्रवाह बहुत वेग से शुरू हो चुका है। वह इस सदी के प्रारंभ से इतने वेग से धो-धो करते बढ़ता जा रहा है कि उसके अनिवार्य वेग से पूर्व दिशा अपनी नींद त्यागकर भड़भड़ाकर उठने लगी है।

एशिया में राज्य क्रांति शुरू हो गई है। अब उसे कोई भी रोक नहीं सकता है। उसे रोकने के लिए जो कोई उसके सामने खड़ा रहेगा, उसे पास की किसी चट्टान पर फेंककर, छिन्न-भिन्न कर अपना रास्ता साफ करके यह क्रांति-प्रवाह अपने अनुकूल वेग से ऐसे ही बढ़ता जाएगा। कोई भी अपने गर्व से फूलकर उसके मार्ग का रोड़ा न बने, क्योंकि वह गर्व से फूलना एशिया की इस राज्य क्रांति के सामने कीड़े मसलने के बराबर होगा। यह मैं अनुमान से नहीं, जापान के आधार पर कह रहा हूँ। इस भात खाते ठिगने राष्ट्र ने मांसभक्षी एवं भारी-भरकम रूस को राजक्रांति के बल पर ही चित किया। राज्य क्रांति के प्रवाह को रोकने के लिए यह बित्ता भर का रूस जब रास्ते में आया तो उसे घास के एक तिनके से भी गया-गुजरा समझकर उस प्रचंड प्रवाह ने उलटकर दूर फेंक दिया—इतनी दूर कि फिर से उस प्रवाह के रास्ते को रोकने के लिए आगे आने का साहस उसमें नहीं था। जापान से निकलकर वह प्रवाह अब चीन में प्रवेश करनेवाला है, नहीं, प्रवेश कर गया है। मुझे निश्चित रूप से यह ज्ञात है कि चीन में अब भयंकर जागृति हो गई है। वहाँ शिक्षा, राजनीति की शिक्षा एवं स्वदेशाभिमान का फैलाव बड़े वेग से हो रहा है और चीन की इस जागृति का प्रभाव सारे विश्व में हुए बिना नहीं रहेगा। राज्य क्रांति का यह अकेला ही प्रवाह है, ऐसा नहीं है। चीन में स्वतंत्रता काफी कुछ अंशों में विद्यमान थी, इसलिए वहाँ जागृति एवं क्रांति करनेवाला प्रवाह चाहे कितने भी जोर का हो, परतंत्र देशों को स्वतंत्रता की चेतना देनेवाले प्रवाह से कम जोर का ही होगा।

सौभाग्य से एशिया में परतंत्र देशों को स्वतंत्र करने की शक्ति देनेवाला राज्य क्रांति का एक प्रचंड प्रवाह शुरू हो गया है। यह प्रवाह है हिंदुस्थान की जागृति का। अनंत यातनाओं से बधिर हुए हिंदुस्थान देश में भी अंतत: चेतना उत्पन्न हो गई है। स्वतंत्रता के लिए शक्ति-संचय करने हेतु उसके प्रयास शुरू हो गए हैं। ऐसे

स्वतंत्रतागामी प्रयास हम सोशलिस्ट लोगों को हमेशा ही वंदनीय होने चाहिए। हिंदुस्थान स्वतंत्र हो जाए तो हमें कोई हानि नहीं है। इतना ही नहीं, उससे हमारे व्यापार-व्यवसाय की वृद्धि ही होगी। ग्राहक अमीर हो तो दुकानदार को लाभ ही है। हमें चाहिए कि हम हिंदुस्थान के स्वतंत्रता-प्रयासों की सहायता करें, क्योंकि भूतदया मानवता का विशेष धर्म है। हिंदुस्थान की राष्ट्रीय महासभा का आयोजन अब दिसंबर में होनेवाला है। उनके प्रयत्नों के प्रति अपनी सहानुभूति होनी ही चाहिए। इतना ही नहीं, इस विशाल सभा से हम यह निवेदन कर रहे हैं कि हिंदुस्थान के लोग स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए राज्य क्रांति करने हेतु उठें तो उन्हें यथाशक्ति सहायता एवं पूर्ण सहानुभूति देंगे—ऐसी इच्छा आप हमारे साथ प्रदर्शित करें। (सभा-भवन तालियों की गड़गड़ाहट से गूँज उठा)। मैं यह भी आशा करता हूँ कि आप अपने दिए हुए वचन का पालन करना कभी भूलेंगे नहीं। एशिया का भाग्य इसके प्रयासों से ही जगाना चाहिए, यह अभूतपूर्व बात क्रियान्वित करने के लिए क्रांति के प्रवाह एशिया में कैसे शुरू हो गए हैं, यह मैंने आपसे कहा।

फ्रांस तथा जर्मनी में भी राज्य क्रांति के तो नहीं, पर समाज-क्रांति के प्रवाह इंग्लैंड की तरह ही बह रहे हैं। हजारों मजदूर मेहनत और कष्ट सहकर भी भूखे रहें, मुट्ठी भर आलसी लोग सारी संपत्ति का उपभोग करें, यह अन्यायमूलक पद्धति यथाशीघ्र बदलनी चाहिए। सामाजिक अर्थव्यवस्था को सुधारना हमारा मुख्य कर्तव्य है। इंग्लैंड की तरह ही अमेरिका में भी भूख से मरनेवाले लोग लाखों की संख्या में हैं। सारांश यह कि राजा हुआ तो क्या और अध्यक्ष हुआ तो क्या, लोक-स्थिति यदि इतनी भयावह हो तो क्रांति होनी ही चाहिए। इसलिए क्रांति के ये अलग-अलग प्रवाह विश्व भर में गतिमान हैं। इंग्लैंड, फ्रांस, रूस, अमेरिका, चीन, जापान, ईरान, हिंदुस्थान—सारे विश्व में अलग-अलग स्वरूप में, परंतु 'एक ही प्रयोजन' से क्रांति के प्रचंड प्रवाह शुरू हैं और वह 'एक ही प्रयोजन' क्या है? वह एक प्रयोजन मानवी प्रगमन ही है। उसी एक उदात्त प्रयोजन के लिए होनेवाली क्रांतियाँ किसी भी भाग में हों, वे सबके लिए अभिनंदनीय होनी चाहिए। इस आशय का भाषण करके श्री हिंडमैन तालियों और अभिनंदनों को स्वीकार करते हुए नीचे बैठ गए।

हे हिंदुस्थानवासी, ये भाषण तू सार ग्रहण करने की दृष्टि से पढ़, सावधानी से पढ़, नहीं तो कंजर्वेटिव या लिबरल की गोद में बैठकर अपनी उन्नति की मूर्खतापूर्ण आशा में जैसे तू अभी तक जीता रहा, वैसे ही अब सोशलिस्ट या हिंडमैन, इनमें से कोई मुझे गोद ले लें, ऐसी पगलाई जिद करने में शेष दिन गँवाएगा। वे कितना भी मीठा बोलें—सज्जनता से बोलें, तो भी दूसरे की गोद में बैठकर चलने की शिक्षा पर तू अमल नहीं कर सकता। हिंडमैन इतना अच्छा बोले,

इसलिए पगलाने की आवश्यकता नहीं। हिंडमैन ही क्या, तू भी कुछ करतब कर दिखाए तो सारा विश्व ऐसा ही कहेगा। यह सब तेरे करतब पर निर्भर है। हिंडमैन या कोई भी महात्मा यदि सच्ची सहानुभूति दिखा रहा हो तो वह आभारसहित स्वीकार्य है, सहानुभूति स्वीकार्य है, पर माँगना नहीं। सम्मान के साथ निमंत्रण हो तो भोजन के लिए जाना, पर बिना निमंत्रण के नहीं जाना। स्वयं मेहनत करके अन्न पैदा करना, परमेश्वर ने तुम्हें कृषि के लिए भारतभूमि दी है। इस विस्तीर्ण कृषि को सींचने के लिए गंगा, यमुना, गोदावरी, कावेरी, सिंधु, ब्रह्मपुत्र आदि अखंड नहरें ईश्वर ने निर्मित कर रखीं हैं। इस दिव्य कृषि में, इन अखंड नहरों के पानी से तुम्हारे पूर्वजों ने धान्य ही नहीं, अपितु प्रत्यक्ष सोना भी उगाया है। ईश्वर ने इस कृषि के करार में एक शर्त रखी है, वह यह कि इस कृषि में हल तू ही चलाएगा। तू ही खेती करेगा तो इसमें सोना उगेगा। यदि किसी दूसरे का हल इसमें घुसा तो प्लेग पैदा होगा, अकाल पैदा होगा, गुलामी पैदा होगी—चाहे ये हल बाल्फर चलाए या मोर्ले। ईश्वर की शर्त का पालन तूने किया, तो हे हिंदुस्थानवासी, अगली फसल में तेरी दिव्य कृषि में जल बरसे या न बरसे, कोहिनूर पैदा होंगे, मयूरासन पैदा होंगे, कालिदास पैदा होंगे, शिवाजी पैदा होंगे।

आत्मैवह्यात्मनो बंधुः।

२० दिसंबर, १९०६

इंग्लैंड की महिलाएँ और हिंदुस्थान के पुरुष

लंदन : जब राजनीतिक स्वतंत्रता होती है, तब मानवी शक्ति कैसे विकसित होती है, एक विकास दूसरे विकास का प्रवर्तक कैसे होता है और व्यक्ति, राष्ट्र एवं मनुष्य जाति अभ्युन्नति की ओर कैसे बढ़ते जाते हैं, इसका सबसे ताजा उदाहरण इंग्लैंड में चल रहा स्त्री-स्वतंत्रता का आंदोलन है। प्रथमतः इंग्लैंड को अप्रतिहत परतंत्रता ने जकड़ा था। रोमन साम्राज्य के विनाशकाल में परतंत्रता से मुक्ति मिली और वह राजसत्ता के अधीन स्वतंत्र हुआ। आगे राजसत्ता का अप्रतिहतत्व समाप्त होने पर उसपर सरदारों का राज आया। फिर लोकपक्ष अंदर घुसा और व्यापारी वर्ग ने भी राजनीति में अपना अधिकार साबित किया। अब पुरुषों की राजनीतिक स्वतंत्रता स्थापित हो जाने पर स्त्री वर्ग ने अपना हिस्सा प्राप्त करने के लिए अपनी कमर कस ली है। उनके इस आंदोलन से अनेक बातें सीखने को मिलेंगी। अतः उस संबंध में कुछ सिलसिलेवार जानकारी भेज रहा हूँ।

राजनीतिक भविष्यवेत्ता मैजिनी ने अंत में यह स्पष्ट रूप से कहा था कि अगली सदी में स्त्री जाति अपने राजनीतिक अधिकार लिये बिना नहीं रहेगी। इंग्लैंड

में यह आंदोलन यद्यपि पचास वर्षों से चल रहा है, फिर भी उस समय उक्त आंदोलन की ओर किसीका भी ध्यान नहीं गया था। उस समय के कुछ उदार पुरुषों ने उस आंदोलन को समर्थन दिया था।। परंतु स्त्री जाति को राजनीतिक क्षेत्र में हिस्सा प्राप्त करने के लिए कुछ सदियाँ बितानी होंगी, सामान्य मान्यता यही थी। पार्लियामेंट का कब्जा जिनके हाथों में था, उनका रुख इस आंदोलन की ओर उपहास भरी अवहेलना का था। परंतु उस अवहेलना की परवाह न करते हुए उस समय की कुछ नेत्रियों ने अपना आंदोलन जारी रखा। उन नेत्रियों का अनुमान था कि इस आंदोलन के संबंध में जनमानस को जानकारी दे देने और उसकी सहानुभूति से पार्लियामेंट के सदस्यों को आवेदन करने पर चुनावों के समय निवेदन आदि करते ही स्त्रियों को पार्लियामेंट में बैठने का अधिकार मिल जाएगा।

अपनी इस समझ से उन्होंने वह आंदोलन जारी रखा। कुछ दिनों बाद इस आंदोलन को व्यावहारिक रूप देने के लिए स्त्रियों ने विभिन्न स्थानों पर व्याख्यान भी आयोजित किए। मासिक पत्रिकाओं में लेख आने लगे, समाचारपत्रों में चर्चा होने लगी। पार्लियामेंट में चुनकर जाने का अधिकार प्राप्त करने की इच्छा स्त्री वर्ग में दिन-ब-दिन बलवती और दृढ़ होती गई। परंतु इस आंदोलन को प्रत्यक्ष अमल में लाने के लिए किसी भी पार्टी की ओर से प्रयास नहीं हुए। स्त्रियों में शिक्षा की कमी है, वे सिपाहीगिरी नहीं कर सकतीं, उनमें राजनीतिक अधिकार सँभालने की बुद्धि प्राकृतिक रूप से ही कम है, आदि मुद्दों की आड़ में पुरुष वर्ग में से कोई भी उनका पक्ष नहीं लेता था। इतना ही नहीं, अपितु पुरुष वर्ग के कटाक्ष सच ही हैं, यह समझकर अनेक नेत्रियाँ भी इस विचार में डूब गईं कि इन बाधाओं को किस तरह दूर किया जाए, जल्दी ही उनके ध्यान में यह आया कि जुल्मी लोगों के ये सब कटाक्ष बासी और झूठे हैं। अपने हाथों में आई सत्ता छोड़ने के लिए जुल्मी आदमी क्योंकर तैयार हो? और वह अपनी सत्ताप्रियता छिपाकर रखने के लिए, स्त्रियाँ शासन चलाने के योग्य नहीं हैं—ऐसा जो कारण दे रहे हैं, वह आज ही सामने नहीं आया।

अमेरिका के द्वारा सत्ता छीन लेने तक वे अमेरिकी लोग अशिक्षित और राजकाज चलाने में असमर्थ हैं, यह जुल्मी राजसत्ता कहती नहीं थी क्या? इटली को स्वतंत्रता सँभालने की अक्ल नहीं है, इसीलिए हम वहाँ राज कर रहे हैं, यह बात क्या ऑस्ट्रिया अंत तक कहता नहीं था? स्वयं इंग्लैंड में श्रमिकों को पार्लियामेंट में प्रवेश मिलने के पूर्व जुल्मी सत्ताधारी क्या कहते नहीं थे कि वे इस अधिकार के पात्र नहीं हैं, उनके पात्र बनते ही उन्हें वह अधिकार हम स्वयं दे देंगे? अतः हम पात्र हैं या अपात्र हैं, यह अपने दाता पर, मजा मारनेवाले जुल्मी लोगों के कहने पर निश्चित करना, यह कभी भी इष्ट नहीं हो सकता; उसे हम स्वयं ही निश्चित करें, यह स्त्रियों

को भास हो गया। उन्होंने इंग्लैंड के स्त्री समाज का सूक्ष्म अवलोकन किया तो उनकी समझ में आया कि स्त्री वर्ग पार्लियामेंट में चुनकर जाने का अधिकार प्राप्त करने के योग्य है।

इतना ही नहीं, स्त्रियों की असमर्थता के संबंध में जो भ्रांतियाँ पैदा की जाती हैं, उनका मूल कारण राजनीतिक परतंत्रता ही है। राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त होने के पूर्व अपनी दुर्बलता एवं अशिक्षा जानेवाली नहीं है और ये अत्याचारी तो कहते हैं कि वह दुर्बलता एवं अशिक्षा दूर होने तक हम तुम्हें राजनीतिक स्वतंत्रता नहीं देंगे। पानी में उतरे बिना हमें तैरना आनेवाला नहीं और ये अत्याचारी सत्ताधीश कहते हैं कि तैरना आने के बाद ही हम तुम्हें पानी में उतरने देंगे। स्त्रियों की नेत्रियों ने यह निश्चय किया कि वे हमें उतरने दें या न दें, हम उतरेंगे! हम स्वतंत्रता प्राप्त करेंगे! और उसे घोषित भी किया।

यह देखते ही पुरुषों में कुछ स्त्री मित्र उत्पन्न हुए। उन्होंने कहा कि स्त्रियों को पार्लियामेंट का अधिकार मिले, आपका यह उद्देश्य प्रशंसनीय है। उसके लिए आपके आंदोलन को हमारी पूर्ण सहानुभूति प्राप्त है। हम आपकी सहायता भी करेंगे, पर आपका यह आंदोलन वैध एवं सभ्य स्त्रियों को शोभा देनेवाला होना चाहिए। यह उपदेश उस समय की नेत्रियों ने माना और उन्होंने वैध रीति से अपनी लड़ाई लड़नी प्रारंभ की—वैध पद्धति अर्थात् पुरुषों द्वारा पारित विधि के अनुसार। इस विधिमान्य पद्धति में एक महत्त्व का मुद्दा लोग भूल जाते हैं। जब दो पक्षों में स्वामित्व के लिए वाद उत्पन्न होता है, तब वास्तव में हर पक्ष को अपनी विजय के लिए आवश्यक कार्यवाही करनी चाहिए, पर सत्ताधीश स्वतंत्र हो, ऐसा चाहनेवाले गुलामों से कहते हैं कि आप और हम कार्यवाही निर्धारित करें, उसके द्वारा ही छूटने का प्रयास करें। आंदोलन करो, पर वैध रीति से।

दो पहलवानों की कुश्ती चल रही हो तो उसमें एक, दूसरे से यह कहे कि तू मुझे गिरा, उसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं, उलटे सहानुभूति है, पर तू मुझे उसी दाँव से पटक जो मैं तुझसे कहूँ। अर्थात् जिस दाँव के प्रति-दाँव मुझे मालूम हैं, वही दाँव तू लगा—ऐसे कथन का अर्थ साफ है। हर व्यक्ति को या राष्ट्र को कुछ समय बाद परतंत्रता से घृणा होने लगती है और जिस अत्याचारी राक्षस ने उन्हें गुलाम बना रखा है, उसके हाथ से छूटने का प्रयास गुलामी में सड़ रहे वे लोग करने लगते हैं। गुलामों की तैयारी अब किसी भी तरह कम नहीं हो रही, यह देख उनका आवेश गलत दिशा में मोड़ने के लिए अत्याचारी लोग इस वैधानिक आंदोलन की युक्ति देते हैं। विधि (कानून) किसकी बनाई होती है ? वह विधि अत्याचारी लोगों द्वारा अपने संरक्षण के लिए एवं अपने अत्याचार चालू रखने के लिए बनाई गई होती है। ऐसी विधि के

रास्ते में जब तक गुलाम चलता है, तब तक वह गुलामी से कैसे मुक्त होगा? गुलाम की गुलामी बनी रहे, इसीलिए तो उसे यह विधि की बेड़ी लगाई जाती है। इस बेड़ी में रहते तू गुलामी छोड़ दे, यह कहना धूर्तता है। गुलामी का अर्थ ही है दूसरे की विधि से बँधे रहना और वह विधि बनाए रखना अर्थात् गुलामी चालू रखना। ऐसी परिस्थिति में विधि-अधीन मार्ग से गुलामी से मुक्त होने की बात कहना आत्मनाश कर लेने जैसा ही है। पौराणिक भाषा में कहें तो परतंत्र राक्षस की मृत्यु उसकी विधि की पुस्तकों में होती है। जब तक वे पुस्तकें सुरक्षित हैं, तब तक वह मरनेवाला नहीं। उसे जब कोई मारने आता है, तब वह बड़ी बहादुरी से कहता है—देख, मैं तुझसे लड़ने के लिए तैयार हूँ, पर एक शर्त है जो तुम्हें माननी होगी। वह यह कि मेरे मरने से पहले तू मेरी विधि की पुस्तकों का नाश नहीं करेगा।

गरीब बेचारा गुलाम। वह इसका गहरा अर्थ नहीं समझता। इस शर्त में कुछ नहीं है, ऐसा सोचकर वह मानव उन विधि की पुस्तकों को जतन से रखने का वचन देता है। मुझे मारने से पहले यह मेरी विधि की पुस्तकों का नाश करनेवाला नहीं है और विधि की पुस्तकों में ही मेरे प्राण होने से जब तक उनका नाश नहीं होता, तब तक मैं मरनेवाला नहीं हूँ, यह जानकर वह परतंत्रता का राक्षस मन-ही-मन मुसकराते हुए, पर बाहर से बहुत चिंता जताते हुए लड़ने के लिए आ जाता है। इस सबल राक्षस पर वह दुर्बल मानव चोट-पर-चोट करता है। राक्षस भी कभी बड़ी चोट लग जाने का ढोंग करता है। यह देखकर और उत्साह से वह दुर्बल मानव और जोर से हमला करता है, पर राक्षस मरता नहीं। उसकी विधि की पुस्तकों के मर्म-स्थल पर एक आघात करते ही जो काम हो जाता, वह उसके शरीर पर अनंत घाव करके भी नहीं होता है। दुर्बल मानव थककर या राक्षस के एकाध थप्पड़ खाकर मर भी जाता है। फिर भी राक्षस जिंदा-का-जिंदा। राक्षस ने इस वैधानिक आंदोलन की शर्त की युक्ति से आज तक यद्यपि बड़ी कुश्तियाँ मारी हैं, फिर भी कभी-कभी उससे भी उस्ताद पहलवान का उसके विधि के मर्म-स्थल पर घाव लगते ही वह नौ-दो-ग्यारह भी हुआ है।

इटली में मैजिनी ने इस राक्षस की युक्ति पहचानी और विधि की जिन पुस्तकों में उसके प्राण हैं, उसीमें उसने आग लगा दी। नीदरलैंड ने भी वही किया। श्री छत्रपति ने भी वही किया। और उसी मर्म को जान इंग्लैंड की युवा नेत्रियों ने भी विधि की पुस्तकों में ही आग लगाई। कुछ दिनों पहले ही उन्होंने ऐसा निश्चय किया कि पुरुषों द्वारा पारित विधि को जब तक हम मान रहे हैं, तब तक स्त्रियों का आंदोलन सफल नहीं होगा। अतः पहले इस विधि को ही अमान्य करना है। पुरुष विधिभंग होते ही बल का उपयोग करेंगे। बल का प्रतिकार बल से ही करने के लिए तरुण सुशिक्षित

स्त्रियों की एक टोली तैयार हुई। गत चुनाव में सैकड़ों उम्मीदवारों से स्त्रियों को पार्लियामेंट का अधिकार देने का वचन लेकर उन्हें चुनवा दिया। परंतु दिया हुआ वचन तोड़ने में कितना समय लगता है! चुनकर आए उन संसद् सदस्यों ने स्त्रियों के लिए कुछ भी प्रयास नहीं किए। यह देखकर स्त्रियों को बहुत गुस्सा आया। उनके दो पक्ष हो गए—एक गरम, दूसरा नरम। नरम पक्ष में पुरानी, बूढ़ी नेत्रियाँ थीं, पर गरम पक्ष में सभी तरुण स्त्रियाँ थीं। नरम पक्ष की राय थी कि सभा आयोजित कर फिर से आवेदन किया जाए। परंतु गरम पक्ष ने यह निश्चय किया कि अब फिर से आवेदन की इस बासी पद्धति को छोड़ देना होगा। आवेदनों का काल समाप्त हो गया और अब प्रतिकार का समय है। ऐसा निश्चय कर प्रतिकार किस तरह किया जाए, इसपर विचार चला। तब गरम पक्ष में भी दो पक्ष हो गए। एक अप्रत्यक्ष प्रतिकार (Passive Resistance) के पक्षवाले तो दूसरे सीधे या प्रत्यक्ष प्रतिकार के अभिमानी। प्रतिकार रोकर कैसे हो सकता है? अप्रत्यक्ष प्रतिकार को प्रत्यक्ष प्रतिकार का सहयोग न हो तो नरम पक्षवालों से अधिक उन्हें क्या सफलता मिलेगी?

इंग्लैंड की स्त्रियाँ इतिहास-शून्य नहीं हैं, यह पहचान लेने में सक्षम होने से वर्तमान में ये अधिकतर युवा स्त्रियाँ सीधे या प्रत्यक्ष प्रतिकार के पक्ष में मिल गई हैं। कुछ दिनों पहले वे सब धक्का-मुक्की करते हुए पार्लियामेंट में घुस गईं और अंदर जाकर, जब पार्लियामेंट का काम चल रहा था, वहीं अपनी सभा शुरू कर दी। 'स्त्रियों को स्वतंत्रता चाहिए' कहते हुए व्याख्यान प्रारंभ कर दिया। फिर पकड़ा-धकड़ी कर उन्हें बाहर निकाल दिया गया। आगे फिर जाँच-पड़ताल हुई, न्यायालय में मामला गया। वहाँ स्त्रियों ने उत्तर दिया कि आपको कोई उत्तर नहीं दिया जाएगा, क्योंकि आपके पक्ष में स्त्रियों का मत न होते हुए भी आपको न्यायासन पर बैठाया गया है। विधिभंग क्यों किया? इस प्रश्न का उत्तर दिया गया कि वह विधि थी ही नहीं। पुरुषों ने स्त्रियों की सहमति के बिना विधि बनाई है।

न्यायासन ने उन स्त्रियों को दंडित किया। एक माह के बाद सब छूट गईं और छूटते ही उन्होंने मारामारी प्रारंभ कर दी। ट्रिब्यूनल के दफ्तर में एक सभा हुई और वहाँ नरम दल की एक महिला ने भाषण दिया। पार्लियामेंट में स्त्रियों द्वारा किए गए उस दंगे की बड़ी खिल्ली उसने उड़ाई। एक तरुण स्त्री खड़ी हो गई और बोली, 'पचास वर्ष तक तुमने सभ्य स्त्रियों जैसा व्यवहार किया तो क्या मिला? कौन सी विजय मिली? आज की सभा में जितने लोग आए हैं, क्या पिछले पचास वर्षों में आपकी एक भी सभा में उतने आए थे? पार्लियामेंट में आज जीवित किसके प्रभाव से चर्चा चल रही है? यह सब हमारे सीधे प्रतिकार का फल है। हम ही वास्तविक कुल-स्त्रियाँ हैं। तुम सब गुलाम हो, क्योंकि तुम गुलामी को ही सभ्यता मान रही हो।

कुछ ही दिनों बाद एक प्रमुख पार्लियामेंट मेंबर का व्याख्यान होना था। उस मेंबर ने पार्लियामेंट में स्त्रियों के प्रति निंदनीय बात कही थी। सभा-स्थल पर उसका व्याख्यान शुरू होते ही पाँच-छह स्त्रियाँ मंच पर चढ़ गईं और उस मेंबर के साथ ही स्वयं व्याख्यान देते हुए बोलीं—इन महोदय ने तुम्हारी माँ-भगिनियों की निंदा की है। तुम्हें उसपर कुछ शरम हो तो इनके भाषण का बहिष्कार करो।

उनके बोलते ही महिलाएँ बोलने लगीं। उसी समय महिलाओं ने एक विशाल सभा का आयोजन किया था। उस सभा की अध्यक्ष ने यह घोषणा की कि हम प्रत्यक्ष प्रतिकार कर रहे हैं, क्योंकि कोई भी राज्य क्रांति प्रत्यक्ष प्रतिकार के बिना पूरी नहीं हुई। हम साफ कह रहे हैं कि अकेले इन्हें ही नहीं, हमारे विरुद्ध बोलनेवाले पार्लियामेंट के सभी सदस्यों को हम रुलाकर छोड़ेंगे। वे सावधान रहें।

इस रीति से जब आंदोलन में जीवंतता आई, तब इंग्लैंड थोड़ा जाग्रत हुआ। डेली न्यूज, ट्रिब्यून आदि बड़े अखबार सहानुभूति से लेख लिखने लगे। श्रीमती फासेस नामक एक प्रसिद्ध महिला ने प्रत्यक्ष प्रतिकार आंदोलन के संबंध में कहा कि इससे स्वदेश जाग गया। पचास वर्षों में जो हलचल नहीं हुई थी, वह एक-दो सप्ताह में हो गई। एक स्त्री जोश से बोली कि हमारे इस आंदोलन से स्त्री वर्ग जाग्रत हुआ, यह इसका महत्त्वपूर्ण लाभ है। अब देश भर में हमारी बहनें अपने अधिकार की चर्चा करने लगेंगी। दूसरा लाभ यह है कि अत्याचारी मदांध सत्ताधीशों की आँखों में चुभनेवाला यह अंजन जाने से वे भड़भड़ाकर जाग जाएँगे। यह आँखों में अंजन डालने का कार्य कितनी लगन से हो रहा है, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण कल घटित हुआ।

अगले दिन शाम को हाउस ऑफ कॉमन्स पर दूसरा आक्रमण करने की योजना बनी और पचास स्त्रियाँ एकत्र हुईं। नियम के अनुसार पार्लियामेंट में कामकाज चल रहा हो तो पार्लियामेंट से एक मील के घेरे में कोई सार्वजनिक सभा या शोरगुल नहीं कर सकता, पर स्त्रियों ने पार्लियामेंट से सटे ही अपना मंच खड़ा किया और दरवाजे के सामने ही व्याख्यान देना शुरू कर दिया। पुलिस द्वारा उन्हें वहाँ से जाने के लिए कहते ही महिलाओं ने लिबरल शासन पर गालियों की वर्षा शुरू कर दी—वे देशद्रोही हैं, विश्वासघाती हैं, अधम हैं, झूठे हैं। पार्लियामेंट की शक्ल बिगड़ गई। सैकड़ों स्त्रियाँ पार्लियामेंट पर टूट पड़ीं। पार्लियामेंट के दरवाजे बंद किए गए और मारपीट शुरू हो गई। एक नेत्री को पुलिस पकड़कर ले गई तो दूसरी खड़ी हो गई। उसे पकड़ते ही तीसरी मंच पर कूद पड़ी। एक महिला अपना बच्चा लिये खड़ी हो गई और पुलिस से बोली—हम सब अपने बच्चे लेकर यहाँ आएँगी, फिर आप हमें धक्के मारकर गिराना। पुरुषों को बड़ा करने में स्त्रियों को क्या कष्ट होते हैं, यह

दुनिया को दिख जाएगा।

पकड़ी गई स्त्रियों में बैरिस्टर स्त्रियाँ ही प्रमुख थीं। अपने बाप, भाई या पति की भी अन्यायी दासता को न माननेवाली इंग्लैंड की स्त्रियाँ तब क्या करतीं, क्या न करतीं जब स्वदेश पर किसी विदेशी का राज होता। इंग्लैंड की स्त्रियाँ और हिंदुस्थान के पुरुष! हे हिंदुस्थान, तुम्हारे विमल यश को हमने कलंकित किया है, इससे तो अच्छा यह होता कि तुम निस्संतान ही रहते!

४ जनवरी, १९०७

नववर्ष प्रारंभ

लंदन : क्रिसमस का त्योहार हो जाने के बाद यूरोप में नया वर्ष प्रारंभ हुआ। भारत में दीवाली के समय में व्यापारी लोग अपना-अपना हिसाब तैयार कर लाभ-हानि का अनुमान लेकर जिस तरह अपना व्यवसाय नए साल से प्रारंभ करते हैं, उसी तरह इधर के व्यापारियों ने अपने-अपने व्यवसाय की वार्षिक रिपोर्ट जाँचकर यह तय किया है कि नए वर्ष में किस नीति से चला जाए। व्यक्ति से संबंधित नीति की योजना व्यापारियों ने तय की और फिर यह निश्चित किया कि राष्ट्र से संबंधित नीति इस नए वर्ष में कैसी हो। वर्ष प्रारंभ होते ही हर सार्वजनिक संस्था के सदस्यों की बैठकें हुईं और अपनी संस्था की उन्नति के लिए क्या करना चाहिए, इसपर विचार किया गया। यूरोप में वर्ष के प्रारंभ में विभिन्न संस्थाओं और राष्ट्रों के अनुमानपत्रक प्रकाशित हुए। फ्रांस में पोप के अधिकारों को लेकर बड़ा झगड़ा चल रहा है। इस झगड़े में फ्रांस के राजशासन को धक्का लगने का डर उत्पन्न हो गया था। परंतु वैसे डर का कोई कारण नहीं है, ऐसा समाचार आया। जर्मनी में 'कैसर' ने पार्लियामेंट सभा को जबरन निरस्त कर दिया, यह सुनकर सारे यूरोप में जन-विक्षोभ उभर आया। अब नए चुनाव प्रारंभ हो जाने से वातावरण शांत होता जा रहा है। इटली में इस वर्ष शांति एवं प्रगति की हवा बहने लगी है, यह सुनकर किसे खुशी नहीं होगी? महाभाग मैजिनी की लेखनी एवं धनुर्धर गैरीबाल्डी की तलवार ने इटली की वसुंधरा को स्वतंत्रता का सुंदर नवरत्न हार पहनाकर उसे धन्यता प्रदान की। परंतु स्वतंत्रता के लिए जो महान् संघर्ष करना पड़ा, उसके कारण इटली की तनुलतिका बहुत क्षीण हो गई थी। अब जिसे स्वतंत्रता की संजीवनी मिल गई है, उस इटली की भूमि की क्षीणता कितने दिन रहेगी? इटली की इस वर्ष की रिपोर्ट से वहाँ की जनता की प्रगति बड़े वेग से हो रही है, यह सुनकर सभी प्रसन्न हो गए हैं। इटली का खजाना भरने लग गया है। इटली का जोश बढ़ने लगा है, इटली की देह सबल होने लगी है। स्वतंत्रता की जयमाला इटली के गले में पड़ जाए तो उसे वह

सँभाल पाएगी या नहीं, यह चर्चा चालीस वर्ष पुरानी हो गई। स्वतंत्रता की माला सुवर्ण, रत्न-मणियों के कारण भारी होती है। अत: उसे शरीर पर सँभाले रहना कठिन होता है, इसमें कोई शंका नहीं होती, परंतु ईश्वर की कृपा से उस माला में एक ऐसा गुण होता है कि उसका स्पर्श होते ही उसे सँभालने की शक्ति भी आ जाती है। स्वतंत्रता की माला का यह गुण बहुत कम धन्वंतरियों को ज्ञात होता है। गैरीबाल्डी को यह ज्ञात था और मैजिनी को भी। अत: संपूर्ण विश्व के आशंकित होते हुए भी उन्होंने वह स्वतंत्रता का नवरत्न हार अपनी भूदेवी के गले में पहनाया और उसे अक्षय सालंकृत बना दिया। स्वतंत्रता की माला से जिसका तन विभूषित हो गया है, उस इटली का सदैव उत्कर्ष हो!

इटली, फ्रांस, जर्मनी आदि राष्ट्रों की तरह ही इंग्लैंड में भी इस वर्ष के अनुमानपत्रक प्रकाशित हो रहे हैं। गत सप्ताह चंडास हॉल में 'नूतन वर्ष' विषय पर मि. हिंडमैन का महत्त्वपूर्ण व्याख्यान हुआ। इस व्याख्यान में उन्होंने इसका सुंदर विवेचन किया कि इंग्लैंड के राजनीतिक वातावरण में क्या-क्या घटनाएँ अपेक्षित हैं। उन्होंने यह भी कहा कि इस वर्ष हिंदुस्थान की क्रांति को बहुत महत्त्व प्राप्त हो गया है। उस विस्तृत एवं प्रथित भूमि को स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए जो संघर्ष करना पड़ रहा है, उसके परिणाम की ओर सबकी आँखें लगी हुई हैं। हिंदुस्थान के संबंध में हिंडमैन ने जो बात कही, उसके लिए एक भारतीय सज्जन ने आभार प्रदर्शित किया। तब हिंडमैन ने फिर से कहा—लगभग पच्चीस वर्ष पहले जो भारतीय युवा यहाँ आते थे, वे मुझसे कहते थे कि हिंदुस्थान के संबंध में मेरे विचार बहुत कट्टर हैं, इतनी कट्टरता हम सह नहीं पाते, पर वर्तमान में आनेवाले भारतीय तरुणों को देखकर मुझे अपना ही मत बहुत नरम लगने लगा है। आपके देश में यह जो तेजस्वी पंथ प्रकट हो रहा है, उसे देखकर मुझे बड़ा संतोष होता है। यह संतोष केवल भूतदया से उपजा है, ऐसा न समझें। हिंदुस्थान की स्वतंत्रता के लिए सोशलिस्ट लोगों द्वारा किए जानेवाले प्रयासों के प्रति जो सहानुभूति है, उसका वास्तविक कारण यह है कि हिंदुस्थान जब तक इंग्लैंड के अधिकार में है, तब तक यहाँ के अत्याचारी लोगों को जीतने की आशा हमें नहीं है। हिंदुस्थान में चरकर पुष्ट हुए ये प्राणी बहुत मरखने हो जाते हैं—उनका मद उतारने की युक्ति यह है कि उनकी चरागाह उनसे छीन ली जाए। इसीलिए हमारी ऐसी इच्छा है कि हिंदुस्थान पूर्ण स्वतंत्र हो जाए। हिंदुस्थान का चारा-दाना बंद हो जाने पर हम अपने इस श्रीमान् अत्याचारी वर्ग की उद्दंडता एक क्षण में समाप्त कर देंगे।

हिंदुस्थान को स्वतंत्र करने के जो प्रयास आप करते हैं, वैसे हिंदुस्थान में ही करने चाहिए। इसके लिए आपके नरम दलीय नेता इंग्लैंड में आकर जो अपरिमित

व्यय करते रहते हैं, वह व्यर्थ है। हिंदुस्थान में रहते हुए लूटा हुआ जैसा कम पड़ने के कारण ही शायद लौटकर आए हुए हमारे अंग्रेज अधिकारी आपके बड़े नेताओं को फँसाकर आपके लिए प्रयास करने के बहाने लंदन में बैठे हजारों रुपए खा-पी रहे हैं। हेनरी कॉटन एवं वेडर्बर्न—दोनों आपको स्वतंत्रता दिलाने की गप हाँकते हैं और उन्हें सुनकर आप रीझ जाते हैं। परंतु मैं आपको स्पष्ट करता हूँ कि ये सब झूठे हैं। हमारे देशबंधु कैसे हैं, यह हमें पूरी तरह मालूम है। इसीलिए मैं आपसे यह निवेदन करता हूँ कि अब आगे इनके ढोंग पर आप मत रीझो।

श्री हिंडमैन ने वर्षारंभ के अपने इस छोटे से भाषण में कितने ही कूट प्रश्न सुलझा दिए हैं। उनके देशबंधु कपटी हैं, यह उन्होंने स्पष्ट ही कहा। इंग्लैंड में लोकमत अनुकूल कर लेना कितना पागलपन का एवं असंभव काम है, इसका खुलासा भी उन्होंने किया। इंग्लैंड का मत अनुकूल कर लेने का एक ही उपाय है और वह है इंग्लैंड के विचारों की रत्ती भर भी परवाह नहीं करना। सन् १८५७ में इंग्लैंड में किसने डेपुटेशन भेजे थे या किसने वहाँ जाकर भाषण दिए थे! परंतु सन् १८५७ में इंग्लैंड का जितना ध्यान हिंदुस्थान की ओर था, उसका शतांश ध्यान भी गोखले के हजारों व्याख्यानों ने नहीं खींचा। हम कार्य करने लगें तो इंग्लैंड का ध्यान हमारे 'नहीं-नहीं' कहने पर भी हमारा पीछा करेगा। श्री हिंडमैन एक और मुद्दे पर स्पष्ट निर्णय देते हैं। सोशलिस्ट लोग हिंदुस्थान की स्वतंत्रता के पक्षधर इसीलिए हैं कि इसमें उनका लाभ है। अर्थात् कल यदि इंग्लैंड के श्रीमंतों और सोशलिस्टों का गठजोड़ हो जाता है तो हिंदुस्थान की संपत्ति लंदन के भिखारियों को दे देने में ये सोशलिस्ट लोग हिचकेंगे नहीं। कुछ भी हो, हिंदुस्थान एक बात ध्यान में रखे कि वह अपने पैर और अपने हाथ मजबूत बनाए। तत्पश्चात् सोशलिस्ट मित्र के रूप में आएँ तो उन्हें सलाम करेंगे और शत्रु के रूप में आएँ तो उन्हें धक्का मारकर निकाल दें। इंग्लैंड के वर्षारंभ में इतना सीखने के बाद अब हम आयरलैंड के वर्षारंभ को देखें।

यूरोप में इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी एवं इटली—ये देश स्वतंत्र हुए हैं। यद्यपि रूस उपरोक्त देशों जितना स्वतंत्र नहीं है, परंतु वहाँ का जार उनका देशबंधु ही है। रूस का पैसा जार ले जाता है। इसका अभिप्राय है—मास्को से सेंट पीटर्सबर्ग ले जाता है। इससे अधिक अन्याय वहाँ नहीं होता। परंतु आयरलैंड की स्थिति इन सब देशों से बहुत भिन्न है। यूरोप में हंगरी जैसे देश पूर्ण स्वतंत्रता के पास हैं, फिर भी अकेला आयरलैंड विदेशियों की जेल में पड़ा हुआ है। सारा यूरोप स्वतंत्रता का उपभोग कर रहा है, पर आयरलैंड की हतभागी भूमि गुलामी की गंदगी में सड़ रही है। आयरलैंड के पास अपना देश नहीं है—स्वयं का नाम नहीं है—स्वयं का निशान नहीं है। आयरलैंड हिंदुस्थान हो गया है। इसीलिए गोखले हिंदुस्थान के लोगों को

उपदेश देते हैं कि आप आयरलैंड जैसे नरम बनें। नरम? सबमें आयरलैंड जैसा नरम बनने की इच्छा हिंदुस्थान को हो जाए तो हिंदुस्थान कल स्वतंत्र हो जाएगा। 'आयरलैंड नरम है' कहने का अभिप्राय क्या है, यह पाठकों को थोड़ा बता देने के लिए संक्षेप में वर्णित कर दूँ कि आयरलैंड में वर्षारंभ से क्या-क्या प्रारंभ हुआ है।

आयरलैंड में युवा मन इतना गुस्से से भरा है कि God save the King राष्ट्रगीत न गाकर वे वर्ष के आरंभ में राष्ट्रीय गीत God save Ireland गा रहे हैं। आयरलैंड की गैलिक भाषा अंग्रेजी के कोल्हू में गतप्राण हो गई थी। बड़ी-से-बड़ी सभा में आयरिश भाषा समझनेवाले सौ में दस भी नहीं हैं। अत: अंग्रेजी ही मातृभाषा होती जा रही है। कल भारत के कुंभ मेले में चारों ओर अंग्रेजी शुरू हो जाए और हिंदी बोलनेवाले दो-चार ही निकलें तो जैसी विचित्र स्थिति भारत की होगी, वैसी ही स्थिति आज आयरलैंड की हो गई है। इस दु:खदायक गुलामी के कारण आयरलैंड का जीवन दु:सह हो गया है। अब स्वतंत्रता प्राप्त करें या मर जाएँ, पर गुलामी में कदापि नहीं रहे, ऐसा निश्चय खुले रूप में तरुण करने लगे हैं। स्वदेशी आंदोलन जोरों पर है। अप्रत्यक्ष प्रतिकार भी शुरू हो गया है। लोग शराब न पिएँ, सरकारी नौकरियाँ न करें, विदेशी वस्तु न खरीदें आदि विभिन्न प्रयासों से देश को स्वतंत्र कराने का प्रयास किया जा रहा है। परंतु ये सारे प्रयास करने के बाद भी क्या राष्ट्र को स्वतंत्रता मिलना संभव है? अप्रत्यक्ष या प्रत्यक्ष प्रतिकार द्वारा अत्याचारी मदांधों की पकड़ से अपना आयरलैंड मुक्त करा लेना संभव है क्या? जाओ, हम कर नहीं देंगे, हम अप्रत्यक्ष प्रतिकार कर रहे हैं। खबरदार, जो हमें हाथ लगाया— ऐसी डाँट-डपट को शत्रु मानेगा क्या? ऐसे प्रश्न स्वयं से ही पूछकर आयरलैंड इस वर्ष के आरंभ से कुछ अलग ही उत्तर देने लगा है।

एक प्रमुख आयरिश पत्र कहता है—आयरलैंड को स्वतंत्र करने का एक ही मार्ग है और वह है अंग्रेजों को धक्के मारकर निकाल देना। परंतु यह कैसे हो? आवेदनों से, व्याख्यानों से, निवेदनों से या Passive Resistance से? वह पत्र कहता है—'That can only be done by force only; no matter how any little things can be got by other means, there can be no substitute for force to achieve complete freedom.' छोटे-बड़े और जूठे टुकड़े यद्यपि आवेदनों से, गिड़गिड़ाने से मिल सकते हैं, पर पूर्ण स्वतंत्रता लड़ाई के बिना नहीं मिलेगी। लड़ाई तो बहुत कठिन बात है—गुलाम देश की ऐसी समझ होती है, पर यह पत्र अपने देशबंधुओं से कहता है कि सदैव ऐसी ही लड़ाई बहुत कठिन होती है। ऐसा बिलकुल नहीं है। क्या अकाल और बीमारी से कम आयरिश लोग मर रहे हैं! गुलामी में जो जीवित हैं वे सच में देखा जाए तो मरे जैसे ही हैं। फिर लड़ाई

में कठिनाई क्या है? लड़ाई में अनुशासन और कवायद बहुत जरूरी है, ऐसी सामान्य धारणा है। यह अनुशासन प्राप्त करना कितना सरल है, यह Daily Mirror की 'युवा सेना' के विषय में जो जानकारी मैंने भेजी थी, उससे मालूम हो जाएगा। उसी बात का अनुवाद करके वह पत्र कहता है—'The essential thing in modern warfare is good shooting.'

वर्तमान की लड़ाइयों में कवायद का महत्त्व बहुत कम रह गया है, क्योंकि गुलामी से मुक्त होने के इच्छुक देश को छापामार युद्ध में भागने के सिवाय अन्य कोई कवायद नहीं करनी पड़ती। जापान ने रूस की सेना पर जब आक्रमण किया, तब उसकी सेना की भरती इतनी कच्ची थी कि उन्हें कदम मिलाकर चलना भी नहीं आता था। परंतु लड़ाइयाँ और विशेषकर स्वतंत्रता की लड़ाई अधिकतर मन से ही लड़ी जाती है। जिस मन को अचूक निशानेबाजी करनी आती है, उसीके गले में जयमाला पड़ती है। और ये अचूक निशाना लगाना कोई अजब विद्या नहीं है। यह पत्र कहता है—'The boys of fifteen in the Boer ranks were as effective as grown up men. One Boer boy of that age, young sayman, took five regular British soldiers prisoners.' पंद्रह वर्ष के बोअर लड़के ने पाँच ब्रिटिश नियमित सैनिकों को कैद किया, क्योंकि वह उत्तम निशानेबाज था। यह निशाना लगाना चतुराई की बात न होकर केवल आदत की बात है। अब यह अभ्यास आयरिश लोग कैसे करें? इस प्रश्न का भी उत्तर उस पत्रकार ने दिया है। वह कहता है—चूँकि आयरलैंड में शस्त्र सिखाने की संस्थाएँ नहीं हैं, इसलिए तरुण आयरिश लोगों को अमेरिका जाकर निशानेबाजी सीखनी चाहिए। हजारों आयरिश तरुण अमेरिका में निशानेबाजी सीख भी रहे हैं। इतना ही नहीं, अपितु उन्होंने वहाँ अपनी स्वतंत्र पल्टनें भी तैयार कर ली हैं। अपनी मातृभूमि को मुक्त करने के लिए इसकी प्रतीक्षा करती वे पल्टनें सज्जित खड़ी हैं कि युद्धभूमि का आमंत्रण कब आता है।

आयरलैंड का यह नरम रुख हिंदुस्थान भी अपनाए, क्या यही गोखले की मंशा है?

८ फरवरी, १९०७

वायुयान का प्रचलन

लंदन : गत शती में विमान का प्रचलन हुआ। इतनी थोड़ी अवधि में उसकी इतनी प्रगति हो जाएगी, तब बहुत कम लोगों को यह अनुमान होगा। उन्नीसवीं शती वाष्प-शक्ति की थी। बीसवीं शती विद्युत्-शक्ति की है। वाष्प के दीयों के स्थान पर

विद्युत् दीप एवं वाष्प-यंत्रों के स्थान पर विद्युत्-यंत्र का चारों ओर प्रचलन हो जाने से विश्व के कितने ही व्यवहारों में परिवर्तन घटित हुआ है। परंतु वर्तमान में वायु में उड़ने के जो प्रयोग शुरू हुए हैं, उनकी सहायता से आज तक कल्पना के बाहर लगते करतब जल्दी ही मानव के पूर्ण कब्जे में आ जाएँगे, ऐसा अब विश्वास के साथ कहा जा सकता है। वायु में गाड़ी चलाने की कला अब पूरी तरह मनुष्य के कब्जे में आ गई है। आज तक विमानों की शक्ति बहुत अल्प होती थी। फ्रांस से इंग्लैंड तक विमान में बैठकर आ सके, तो बड़ी विजय समझी जाती थी। लड़ाई में भी थोड़ा-बहुत विमानों का उपयोग किया जा रहा था। इन विमानों को इतने दिनों तक एक मजे की चीज समझा जाता था। परंतु इससे पार जाकर विश्व के सारे व्यवहार पूरी तरह बदल सकने का अद्‌भुत आश्चर्य विमान कर सकेंगे, इसकी संभावना बिलकुल ही नहीं थी। इस शोधकार्य का अधिकतम श्रेय फ्रांसीसी वैज्ञानिकों को जाता है। फ्रांस में विमान की गति बढ़ाने के लिए आज तक सैकड़ों प्रयोग किए गए और उन प्रयोगों को सफलता मिलते रहने से अब सारा विश्व पक्षियों से स्पर्धा करते हुए आकाश में उड़ने लगेगा। भूमि के या जल के पृष्ठ भाग पर ही मनुष्य जाति का शासन चले और आकाश में उड़कर चिड़िया भी मनुष्य जाति का उपहास करें, यह लज्जास्पद स्थिति समाप्त करने का कार्य जिन फ्रांसीसी वैज्ञानिकों ने किया, उनके अनंत उपकार मनुष्य जाति पर हैं। गुलामी की बेड़ियाँ डालकर मनुष्य जाति को भूमि पर भी चलना असंभव करने में जब इंग्लैंड जैसा राक्षस देश लगा है, तब फ्रांस देश में स्वर्गीय पंख खोजकर मनुष्य जाति को आकाश में स्वच्छंद विहार करने में समर्थ बनाने का दीर्घ उद्योग चालू हो, यह बात उनके लिए गौरव की नहीं है, ऐसा कौन कहेगा।

वर्तमान में विमान (विज्ञान) में उच्च प्रवीणता प्राप्त वैज्ञानिक एम. ड्यूमंड अपने सारे प्रयोग फ्रांस में ही कर रहे हैं। आज तक हवा से हलकी वस्तुओं के ही विमान बनाए जाते थे, परंतु उपरोक्त विमानवेत्ता ने यह सिद्ध किया है कि हवा से भारी होनेवाली वस्तुओं से बने विमान अच्छी तरह उड़ सकते हैं। विमान में अब तक दो पहिए लगाए जाते थे, परंतु हाल ही में किए गए प्रयोगों से एम. ड्यूमंड ने यह सिद्ध किया है कि एक पहिए का विमान भी संतुलन के साथ बनाया गया तो वह त्वरित गति से हवा में उड़ सकता है। विमान को अब जो तीव्र गति दी जा सकी है, उसका मुख्य कारण मोटर फोर्स की योजना है। इस मोटर फोर्स ने न केवल भूमि पर मनुष्य की गति बढ़ाई है, बल्कि उसे आकाश में उड़ने में भी सहायता की है। दोनों बाजुओं से हवा काटते हुए ऊपर चढ़ने में सहायता करने के लिए विमान में दो पंख लगाए जाते हैं। इन पंखों में यह मोटर फोर्स लगाया जाता है। अभी तक विमान में पंखे नहीं लगाए जाते थे। गैस से भरा एक थैला विमान के आगे लगाया जाता था।

हवा से हलकी गैस उस थैले के साथ ऊपर चढ़ने लगी कि उस उद्गमन शक्ति से विमान ऊपर चढ़ जाता। परंतु अब पंखों की युक्ति बहुत पसंद की जाती है। इस युक्ति से अब एम. ड्यूमंड बहुत-सारे विलक्षण प्रयोगों के बाद ५० अश्व-शक्ति का विमान ऊपर उड़ा सकते हैं। अब तक करीब १८ मील की उड़ान एक घंटे में की जा सकती थी। परंतु परसों एम. ड्यूमंड ने पूरे विश्व को चकित कर देनेवाला आश्वासन दिया है। वे कहते हैं कि अब १०० अश्व-शक्ति का विमान उड़ाया जा सकता है और वह प्रति घंटा २५० मील उड़ता जाएगा।

इस शोध से विश्व में तर्कों से परे परिवर्तन की संभावना बन गई है और इस आश्वासन एवं सफलता का स्वागत पूरे विश्व में जयघोष से किया जा रहा है। राष्ट्रों को अब पानी के ही जहाज रखने मात्र से काम नहीं चलेगा, अब तो उन्हें हवा में तैरनेवाले प्रचंड लड़ाकू विमान भी तैयार रखने होंगे। फ्रांस ने तो आज ही ८० लड़ाकू विमान तैयार रखे हैं। जहाँ स्थल-मार्ग से नहीं जा सकते थे, वहाँ मनुष्य जल-मार्ग से जाता था। परंतु अब जहाँ स्थल-मार्ग से या जल-मार्ग से भी नहीं जाया जा सकता, वहाँ मनुष्य हवा से उड़कर जाएगा। उत्तरी ध्रुव पर जहाँ पानी से बने हिम पर या भूमि पर चलकर नहीं जा सकते थे, अब इन ध्रुवों का शोध करने एवं वैमानिक हवा से उड़कर जानेवाला है और प्रेसिडेंट रूजवेल्ट उसका व्यय देनेवाले हैं।

एक प्रचंड गाड़ी पर, तेजवान, पानीदार तरुण घोड़े जोते हुए हैं और अपने गाड़ीवान की सीटी सुनते ही वे हवा में प्रतिघंटा २५० मील की गति से आकाश पार करते हुए दौड़नेवाले हैं, ऐसी कल्पना आँखों के सामने लाएँ और फिर उस भारी-भरकम कल्पना को दबाकर एक सुभीते के यंत्र के रूप में वह कल्पना ले आएँ तो विमान का चित्र बराबर बन जाएगा।

परंतु जैसे-जैसे आदमी का उद्धार हो रहा है, वैसे-वैसे इंग्लैंड की मृत्यु पास आ रही है। चारों ओर पानी से घिरे अपने द्वीप को इंग्लैंड आज तक अजेय मानता था। फ्रांस और इंग्लैंड के बीच इंग्लिश चैनल है। उसमें से एक सुरंग निकालकर यूरोप से निकट का संबंध एवं यातायात शुरू किया जाए, ऐसा निवेदन सैकड़ों लोगों ने किया है। परंतु अपने दैन्य और स्वापराधजन्य भय से सबपर अविश्वास रखनेवाले राष्ट्र ने यह निवेदन नहीं सुना, क्योंकि उसे यह विश्वास है कि समुद्र पारकर इंग्लैंड को जीतना किसीके वश की बात नहीं है। समुद्र का संरक्षण इंग्लैंड को न हो तो फ्रांस का नेपोलियन इंग्लैंड के सिंहासन पर चढ़ बैठेगा। इंग्लिश चैनल में सुरंग बनाकर उसमें से रेल ले जाने पर व्यापार का बहुत विस्तार होगा और कुल मिलाकर इंग्लैंड को बहुत लाभ होगा, यह ज्ञात होते हुए भी आज तक इंग्लैंड अपने समुद्र के घमंड में रहा है। परंतु धूर्त फ्रांस ने जब प्रति घंटे २५० मील उड़नेवाला लड़ाकू

विमान तैयार कर लिया, तब स्वयं प्रतिष्ठित इंग्लिश चैनल से रेल निकाली तो क्या और न निकाली तो क्या? फ्रांस हवा से आकर क्षण भर में इंग्लैंड पर हमला कर सकता है, यह देखकर उदास इंग्लैंड कम-से-कम व्यापार बढ़ाने के लिए ही सही, अब फ्रांस से रेल संबंध जोड़नेवाला है।

१५ मार्च, १९०७

श्यामजी कृष्ण वर्मा की उदारता

लंदन : हिंदुस्थान के लोगों में गत दो वर्ष से जिनका नाम प्रिय एवं भान्य हुआ है, उन देशभक्त श्यामजी कृष्ण वर्मा ने हिंदभूमि के उद्धार के लिए जो दस हजार रुपए का दान दिया है, उसका संक्षिप्त समाचार तार से इसके पूर्व ही वहाँ आ चुका होगा। देशभक्त श्यामजी का 'इंडियन सोशियोलॉजिस्ट' पत्र प्रकाशित होने के बाद से हिंदुस्थान के बहुत-से लोगों को उनके संबंध में जानकारी प्राप्त करने की उत्कंठा होगी। इसलिए इस अवसर का लाभ उठाकर उनके व्यक्तित्व एवं चरित्र की थोड़ी-बहुत जानकारी दूँ तो वह पाठकों के लिए शिक्षाप्रद ही होगी।

देशभक्त श्यामजी विद्यार्थी वय में ही संस्कृत भाषा में बहुत प्रवीण हो गए थे। उनके उस भाषा-नैपुण्य पर लुब्ध होकर श्री स्वामी दयानंद उनपर इतनी कृपा करने लगे थे कि उन्होंने श्यामजी को अपना पट्टशिष्य बना लिया था। संस्कृत पंडितों से शास्त्रार्थ का अवसर आने पर श्री दयानंद पहले अपने इस प्रिय शिष्य से ही खंडन करवाते और फिर आवश्यक होने पर स्वयं भाग लेते। श्री दयानंद के सान्निध्य से देशभक्त श्यामजी का गीर्वाण वाणी-प्राबल्य इतना बढ़ गया कि वे धर्मोपदेशक का व्रत लेकर हिंदुस्थान भर में संस्कृत भाषा में व्याख्यान देते हुए घूमने लगे। पुणे, नासिक, कलकत्ता आदि संस्कृत के आदि-पीठ स्थानों पर जाकर देशभक्त श्यामजी ने अपने अस्खलित, मधुर एवं युक्तिप्रचुर भाषणों से उस समय के पुराने और नए विद्वानों पर अपनी पूरी छाप छोड़ी। स्वर्गीय कृष्ण शास्त्री चिपळूणकर, रानडे आदि विद्वानों ने इस पंडित की विद्वत्ता की बहुत प्रशंसा की।

श्री स्वामी दयानंद के आर्यसमाज की ओर से श्यामजी धर्मोपदेशक का कार्य जब अधिकार वाणी से कर रहे थे, तब संस्कृत भाषा में उनकी निपुणता की कीर्ति देश के बाहर भी चली गई थी। श्री दयानंद की अनुमति एवं अनुशंसा पाकर वे कैंब्रिज कॉलेज में संस्कृत के अध्यापक पद पर नियुक्त होकर इंग्लैंड आ गए। उस समय इस युवा हिंदी प्रोफेसर को संस्कृत भाषा में कैंब्रिज विश्वविद्यालय के व्यास पीठ से अध्यापन करते देखकर अनेक अंग्रेजों को बहुत चमत्कार लगता था और वे उस पंडित की बहुत प्रशंसा करते थे। परंत वे ही श्यामजी अकस्मात् अंग्रेजों के बुरे

बनकर आज दोषास्पद हो गए हैं, क्योंकि उस समय वे पंडित श्यामजी थे और आज वे देशभक्त श्यामजी हैं। अंग्रेजों के रक्त में उदारता एवं निष्पक्षता के गुण हमेशा वास करते हैं, ऐसा समझनेवाले मूर्ख लोगों को यह उदाहरण हमेशा ध्यान में रखना चाहिए। पंडितजी की तब की और आज की विद्वत्ता में यदि कोई भेद है तो वह अधिकता का ही है। परंतु अंग्रेजों की प्रीति जैसी ऊपर से दिखती है, वह गुणसंपन्नता पर न होकर दास्यलोलुपता पर होती है। आप उनकी गुलामी करने से उकताए हुए हैं। जब तक यह उनकी नजर में नहीं आया है और आप उनकी गाड़ी का बैल बने हुए हैं, बिना ना-नू किए गाड़ी खींच रहे हैं, तब तक वे आपकी संस्कृतप्रवीणता की स्तुति करेंगे एवं आपके वक्तृत्व की तारीफ करेंगे। तभी तक बैलगाड़ीवाले का प्यार है—तभी तक वह उसे थपथपाता है परंतु बैल जब गरदन हटाने लगता है, तब उसके सभी सद्‌गुण दुर्गुण बन जाते हैं और उसकी पीठ पर गाड़ीवान के चाबुक बरसने लगते हैं। आश्चर्य यह है कि मानवीय बैलों ने यह रहस्य अभी भी नहीं समझा और पीठ पर चाबुक मारनेवाले को 'निष्पक्ष' कहते हैं।

पंडित श्यामजी ने कैंब्रिज में अध्यापन-कार्य करते हुए वहाँ से एम.ए. किया और बैरिस्टरी भी उत्तीर्ण कर ली। फिर वे हिंदुस्थान लौट आए और रतलाम, उदयपुर आदि रियासतों में दीवान रहे। साथ में बैरिस्टरी भी करते रहे। काठियावाड़ में जब वे दीवान थे, तब उनकी ही अनुशंसा पर आया एक गोरा अपने जाति-स्वभाव के अनुसार उनपर ही अनेक आरोप लगाने लगा। वे उस रियासत में ही नहीं, अपितु किसी भी रियासत में काम करने लायक नहीं हैं, यह सिद्ध करने को म्याकानकी नामक उस अंग्रेज को एक कुटिल दाँव लगाते देख उन्होंने उसके विरुद्ध संघर्ष करना प्रारंभ किया। हिंदुस्थान सरकार तक वह संघर्ष गया, श्यामजी पूर्ण निर्दोष साबित हुए। तत्पश्चात् वे उदयपुर संस्थान में फिर से दीवानी करने लगे, पर यह काम वे अधिक दिन नहीं कर पाए और इंग्लैंड चले गए। वहाँ हर्बर्ट स्पेंसर के ग्रंथाध्ययन में लग गए। उसी समय हिंदुस्थान को स्वतंत्र करने की उमंग उनके मन में बड़ी जोर से उठने लगी। उन्हें अपने राष्ट्र की दासता पर लज्जा लगने लगी।

अंततः जनवरी १९०४ में उन्होंने अपना राजनीतिक जीवन प्रारंभ किया। हिंदुस्थान के राजनीतिक वातावरण में जिसने महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किया, उस 'इंडियन सोशियोलॉजिस्ट' मासिक पत्र का पहला अंक प्रकाशित हुआ। देशभक्त श्यामजी के प्रयासों की विशेषता यह थी कि उन्होंने पहले से ही स्वराज का झंडा लहरा रखा है। इंग्लैंड की गुलामी पूरी तरह से त्यागकर हिंदभूमि के सर्वांग सुंदर हुए बिना उसका उद्धार होना असंभव है, यह राजनीतिक सत्य बिना मिलावट एवं डंके की चोट पर कहने का प्रथम श्रेय जिन थोड़े महात्माओं को है, उनमें देशभक्त श्यामजी की भी

गिनती है। 'इंडियन सोशियोलॉजिस्ट' के साथ ही उन्होंने 'होमरूल सोसायटी' की भी स्थापना की और वे ही उसके अध्यक्ष बने। इसलिए उस सोसायटी की स्वराजप्रीति एवं स्वराजनिष्ठा जाज्वल्यमान बनी रही। इंग्लैंड में अंग्रेजों, विशेषकर ढोंगी अंग्रेजों के अधीन चल रहे भारतीय आंदोलन को अस्वीकार कर स्वतंत्र और खरा भारतीय आंदोलन देशभक्त श्यामजी ने ही प्रारंभ किया—इससे भारतीय राजनीति का दूसरा और सत्य पक्ष विश्व की दृष्टि में आने लगा। हेनरी कॉटन को वंश-परंपरा से संपादन का भार देनेवाले पत्र 'इंडिया' तथा स्वराज का पवित्र ध्वज खड़ा करनेवाले 'इंडियन सोशियोलॉजिस्ट' और हिंदुस्थान की गुलामी पर मुटाए कॉटन वेडर्बर्न की मुट्ठी में कसी ब्रिटिश कांग्रेस कमेटी एवं स्वदेश को स्वतंत्रता दिलाने के लिए जन्मी और केवल भारतीय लोगों द्वारा चलाई गई 'होमरूल सोसायटी'—इन दोनों के मध्य जो ध्रुवीय अंतर था, उससे हिंदुस्थान की राजनीति का स्वरूप देशभक्त श्यामजी ने किस तरह बदल दिया, यह स्पष्ट हो जाता है।

इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि इधर आनेवाले भारतीय विद्यार्थियों का मन:संक्रमण उन्होंने किया। आज तक जो भारतीय तरुण इधर आए, वे नरम दल की—ब्रिटिश न्यायबुद्धि की बातें सीखकर लौट जाते थे और हिंदुस्थान में इंग्लैंड के लोगों के ऊटपटाँग स्तुति स्तोत्र सुनाकर उन्हें 'भिक्षां देहि' की ओर ले जाते थे। परंतु अब देशभक्त श्यामजी की 'होमरूल सोसायटी' एवं मासिक पत्रिका से ढोंगी कॉटन के कृष्णकृत्य उनकी समझ में आने लगे और वे स्वराजनिष्ठ होकर स्वदेश की स्वतंत्रता के लिए प्रयास करने लगे। इन विद्यार्थियों के मन:संक्रमण के लिए ही श्यामजी द्वारा स्थापित 'इंडिया हाउस' नामक संस्था की उपयुक्तता बहुत अधिक है। अंग्रेजों को 'इंडिया हाउस' का डर इतना है कि किसी ग्रंथालय आदि में इंडिया हाउस का पता दिया तो कोई-न-कोई ऐंग्लो-इंडियन तुरत पूछता ही है—'Then you belong to the Revolutionary Party?' (फिर आप क्रांतिकारी होंगे?)

इस छोटे से अनुभव से भी यह ज्ञात हो जाता है कि श्यामजी से अंग्रेजों को कितनी दहशत थी। इस तरह विभिन्न संस्थाएँ स्थापित करने के बाद देशभक्त श्यामजी ने तरुण लड़कों के लिए 'व्याख्यान वृत्तियाँ' (लेक्चरशिप) घोषित की, जो महाराणा प्रताप, शिवाजी और दयानंद के नाम पर थी और उसके साथ दो हजार रुपए की फेलोशिप भी थी। इसके पीछे उद्देश्य यह था कि स्वतंत्र देश में रहते हुए उन्हें स्वतंत्रता का प्रत्यक्ष अनुभव हो। इस काम में उन्हें एक स्वातंत्र्यनिष्ठ बैरिस्टर राणा ने बहुत सहायता की। देशभक्त श्यामजी यहीं नहीं रुके—हिंदुस्थान को स्वतंत्रता किस तरह प्राप्त हो, यह मुद्दा जितना अहम है, स्वतंत्रता के बाद हिंदुस्थान में स्वराज व्यवस्था कैसी हो, यह मुद्दा भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। अत: उस विषय

पर एक उत्तम एवं विद्वत्तापूर्ण लेख लिखनेवाले के लिए सात सौ पचास रुपए का एक पुरस्कार भी उन्होंने घोषित किया। इस पुरस्कार का विज्ञापन हुए अभी दो माह भी नहीं हुए हैं, फिर भी परसों 'होमरूल सोसायटी' के द्वितीय वार्षिक सम्मेलन के अवसर पर हिंदुस्थान के हर प्रांत में स्वराजोपदेशक भेजने के लिए उन्होंने दस हजार रुपए दिए जाने की घोषणा की। जो राजनीतिक संन्यासी पूरे हिंदुस्थान में स्वराज का उपदेश करने हेतु भ्रमण करेंगे, उन्हें इस दस हजार की राशि से सहायता दी जाएगी।

स्वराज की उदात्त कल्पना सर्वप्रथम गुरु रामदास के मन और श्री शिवा छत्रपति की तलवार में उदित हुई। 'स्वराज' शब्द सर्वप्रथम महाराष्ट्र में छत्रपति शिवाजी ने प्रचलित किया। उस समय से इस पवित्र तेजोमय शब्द ने मराठों का झंडा अटक तक फहराया। महाराष्ट्र के इतिहास में स्वराज और प्रभुसत्ता—इस ओजस्वी शब्द-युग्म का सिक्का हर पृष्ठ एवं हर पंक्ति पर जमा है। महाराष्ट्र के शरीर में चेतना जाग्रत करनेवाला यह 'स्वराज' शब्द अब हिंदुस्थान में गूँज रहा है। ऐतिहासिक तेज से दीप्तिमान हुआ यह शब्द—जिसका उच्चारण शिवाजी ने किया—सारे हिंदुस्थान का अंतिम लक्ष्य बनकर समुद्र वलयांकित भरतखंड के हर कंठ से ध्वनित हो रहा है। बिना बूझे ही सही, परंतु जिस क्षण दादाभाई ने यह शब्द राष्ट्रीय सभा के मंच से तीस करोड़ लोगों के अंतिम लक्ष्य के रूप में उच्चारित किया, वह क्षण सच में दैवी था। अब पूर्वपरंपरागत एवं ऐतिहासिक स्मृतियों से भरा 'स्वराज' एवं 'प्रभुसत्ता' का अधिकार आर्यभूमि से दूर रखने की छाती किसकी है? स्वराज के झंडे तले सारा हिंदुस्थान इकट्ठा होने लगा है। वह एकत्रीकरण जल्दी हो, इसलिए स्वराज-उपदेशक भेजने के लिए दस हजार रुपए श्यामजी ने दिए हैं; क्योंकि उनकी उत्कट इच्छा है कि मैं अपनी आँखों के सामने अपने परमप्रिय हिंदुस्थान को स्वतंत्र व स्वराजयुक्त हुआ देखूँ।

देशभक्त श्यामजी! आपके द्वारा अपने भाषण के अंत में व्यक्त की हुई इच्छा शीघ्र फलदायी हो! उस स्वराज के लिए तीस करोड़ आत्माएँ बेचैन हो उठें। तीस करोड़ मन दुःखी रहें। विशेषतः उस स्वराज के लिए साठ करोड़ हाथ काम में लग जाएँ।

१५ मार्च, १९०७

स्वदेश से कृतघ्नता

लंदन : हिंदुस्थान के भाग्योदय के जो अनेक सुचिह्न दिखाई देने लगे हैं, उनमें एक महत्त्व का सुचिह्न है परदेश में भी भारतीय तरुणों की जाग्रत होती आत्मनिष्ठा। बाहर के भपके में भूलकर और चकाचौंध से चकित होकर इंग्लैंड में आनेवाले भारतीय तरुण हिंदुस्थान की दुर्बलता और इंग्लैंड की समर्थता के संबंध में

बड़ी ही गलत धारणा आज तक रखते आए हैं। ये भारतीय तरुण स्वदेश लौटते समय ऐसा समझते हैं कि वे किसी भूलोक के लिए स्वर्गलोक से अध:पतित होकर जा रहे हैं। इंग्लैंड होकर भारत लौटा हर व्यक्ति मानो सारे दिव्य गुणों से पूरित होकर आया है, ऐसी भोली समझ के कारण इंग्लैंड के विदेशी आचार-विचारों से नख-शिख तक बदले हुए भारतीय तरुणों के व्यवहार को बहुत सम्मान देने की आदत गुलामी में धँसे भारतीय लोगों में आज तक बनी हुई थी। इस कारण हल्दी की आधी गाँठ से पन्सारी बने, इंग्लैंड से लौटे भारतीय तरुण बहुत बहके-बहके रहते थे और इंग्लैंड के बड़प्पन, उसके सुधार, उसके ऐश्वर्य और उसकी शक्ति के अनर्गल, अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करने में और इससे भी अधिक दु:ख की बात यह कि स्वजन तथा स्वदेश की निर्धनता, अवनति एवं दुर्बलता के संबंध में ऊटपटाँग कारण-परंपरा लगाकर यह आभास कराने में इंग्लैंड हिंदुस्थान से अनंत गुना और हर तरह से श्रेष्ठ है—इसे ये काले साहब बहुत गौरव की बात समझते थे। इंग्लैंड की महानता गाकर, सामान्य लोगों में यह धारणा उत्पन्न करने का प्रयास करके कि ऐसे महान् देश में रहकर आए हम भी महान् हैं—इंग्लैंड से लौटे इन तरुणों ने हिंदुस्थान का तेजोभंग किया। इंग्लैंड को देख चौंधियाए भारतीय तरुण इस तरह इंग्लैंड के काम आएँगे, यह बात इंग्लैंड की समझ में बहुत समय पहले ही आ गई थी। इंग्लैंड ने हिंदू लोगों को परोपकार की भावना से या मजबूरी से या कुटिल बुद्धि से शिक्षित किया, यह बात हिंदुस्थान की तरुण पीढ़ी अब समझ गई है।

पहले जब इस शिक्षा के संबंध में केवल चर्चा ही होती थी, तब ईस्ट इंडिया कंपनी की ओर से एक महत्त्वपूर्ण पत्र इंग्लैंड में लॉर्ड विल्बरफोर्स के पास भेजा गया था। उसमें कंपनी ने लिखा है कि 'इंग्लैंड को अमेरिका छोड़ना पड़ा, क्योंकि हमने वहाँ उच्च शिक्षा देने की व्यवस्था करने की गलती की। अब उसकी पुनरावृत्ति नहीं की जानी चाहिए। हिंदुओं को यदि शिक्षा प्राप्त करनी है तो वे इंग्लैंड आएँ।'

इस अति अनुदार एवं कुटिल वाक्य का छिपा भाव क्या है? यदि हिंदुस्थान में ही शिक्षा की व्यवस्था की जाती है तो वह अमेरिका जैसा घातक कार्य होगा, परंतु यदि वही भारतीय वह शिक्षा इंग्लैंड आकर प्राप्त करें तो हानिकर नहीं होगा—ऐसा कहने का क्या अर्थ है? इंग्लैंड में ही शिक्षा दिए जाने का एक अर्थ तो यह है कि इससे अधिक तरुण इंग्लैंड नहीं आ सकेंगे। परंतु यह आधा कच्चा अर्थ है, क्योंकि बंगाल में जैसा हुआ, एसोसिएशन की स्थापना कर हिंदुस्थान से हजारों छात्रों को परदेस भेजना सरल था। उपरोक्त प्रशासकों के पास यह समझने लायक बुद्धि अवश्य ही होगी। परंतु उनके मन का संपूर्ण भाव यह है कि भारतीय तरुण जब शिक्षा लेने इंग्लैंड जाएँगे, तब उनका मन आत्मनिष्ठ होने की बजाय इंग्लैंड का

तामझाम देखकर दुर्बल और विदेशी ही हो जाएगा तथा उनको उत्तम विद्वान्, अनुभवी आदि माननेवाली हिंदुस्थानी जनता उनके घातक और भ्रामक शब्दों को सत्य मानकर अंग्रेजी शान से सहमी रहेगी।

इंग्लैंड की इस धूर्त नीति के सैकड़ों उदाहरण अन्यत्र भी मिलते हैं। लॉर्ड डलहौजी की राजतृष्णा से हिंदुस्थान में भयावह असंतोष फैला और उस समय के तेजस्वी तरुणों में फिरंगियों के शासन को समूल नष्ट करने की स्फूर्ति उत्पन्न हुई, यह देखकर इंग्लैंड ने यही तेजोभंग की युक्ति अपनाई थी। निजाम के दीवान सर सालारजंग को इंग्लैंड ले जाया गया और ग्वालियर के दीवान दिनकर राव एवं महाराजा जयाजीराव को सन् १८५७ की शुरुआत में मेहमान के रूप में कलकत्ता ले जाया गया। इस मेहमानबाजी और चमक-दमक से ये तीनों राजनेता किस तरह भ्रष्ट हो गए और स्वदेश से नमकहरामी कर विदेशी सत्ता की सहायता उन्होंने कैसे की, यह बात स्वयं अंग्रेजी इतिहासकार मुसकराते हुए बताते हैं और कहते हैं कि इंग्लैंड के वैभव को उन्होंने देखा न होता तो वे भी राष्ट्र-विक्षोभ में सम्मिलित हो जाते।

अभी हाल में ही दक्षिण अफ्रीका के कुछ नीग्रो रियासतदार अपनी शिकायतें रखने इंग्लैंड आए। उनको राजा एडवर्ड से भेंट कराने ले जाया गया। वहाँ का वैभव, कृत्रिम भव्यता दिखाकर उन्हें आधा मार देने के बाद फिर राजा एडवर्ड से हाथ भी मिलवाया गया। इस प्रपंच में वे भोले रियासतदार इतने उल्लू बन गए कि उनके काम की कोई सुनवाई न होने के बावजूद वे अंग्रेजों के स्नेह एवं महानता के तले दब गए। उन्होंने समाचारपत्रों के संवाददाताओं को सूचित किया कि अब हम वास्तव में बड़े हो गए हैं। हमने महान् गौरांग प्रभु से हाथ मिलाया है। कर्ण के तेजोभंग के लिए जैसे शल्य को योजित किया गया था, वैसे ही हिंदुस्थान के तेजोभंग के लिए इन काले साहबों की नियुक्ति इंग्लैंड ने की थी। इंग्लैंड की शक्ति एवं सुधार के संबंध में हिंदुस्थान में विचित्र कल्पनाएँ यदि प्रचलित हैं, तो इस घातक परिस्थिति का कारण इंग्लैंड जाकर हमारे ही पैसे से सीख-पढ़कर आए इन तरुणों की भ्रष्ट एवं भ्रमपूर्ण अतिशयोक्ति है।

एक कहावत है—'बकरियों के बीच लँगड़ी गाय सयानी'। भोले-भाले राष्ट्रों को लूटनेवाले इन अंग्रेजों की स्थिति वैसी ही है। हिंदुस्थान की गुलामी का यदि कोई कारण है तो वह गत सदी के प्रारंभ में जन्मा स्वदेशाभिमान का अभाव ही है। परंतु यह कारण छिपाकर गुलामी की चक्की में पिसे जा रहे हतबल लोगों को इंग्लैंड यह कहता, सिखाता और पढ़ाता है कि तुम गुलामी के ही पात्र हो और हम राजकाज करने के लिए ही उत्पन्न हुए हैं। इस अंग्रेजी धुन से प्रभावित और अंग्रेजी अन्न से बिगड़े भारतीय तरुण भी कहते रहे कि सबमें अंग्रेज बड़े वीर, साहसी,

दृढ़निश्चयी, विद्वान्, शास्त्रकलाकोविद हैं; इंग्लैंड की जलवायु न्यारी, इंग्लैंड की शोभा न्यारी, इंग्लैंड की भव्यता न्यारी, इंग्लैंड का सबकुछ अवर्णनीय है। इंग्लैंड में उद्यमी एवं वीर ही पैदा होते हैं, क्योंकि वहाँ की जलवायु ठंडी और निसर्ग-रचना उत्तम है। ऐसा वे लोग बिना हिचक आज भी कहते हैं। इंग्लैंड के लोग राक्षसों जैसे ऊँचे और पूरे तगड़े होते हैं, यह विधान हजारों बार किया जाता है। इंग्लैंड में अन्याय एवं अनीति बिलकुल नहीं है और अंग्रेज व्यापारी बहुत ईमानदार होते हैं,. यह कहनेवाली गपें क्या कम हैं?

शस्त्रविद्या में इंग्लैंड काफी प्रगति पर है, यह समझ अपने यहाँ क्या कम लोगों की है? अति खेद की बात तो यह है कि हिंदुस्थान के धर्म, हिंदुस्थान की निसर्ग-रचना, सबलता, शक्ति, नीति, बुद्धिमत्ता, शौर्य—इन सबको इंग्लैंड की तुलना में बहुत-बहुत कम मानने की आत्मघाती, असत्य और कुलकलंकदायिनी समझ अधिकतर शिक्षित वर्ग में ही है, जो आज बहुत रूढ़ है।

ऐसी स्थिति में अब भारतीय तरुणों की आँखें खुलीं। इसे हिंदुस्थान की अभ्युन्नति का अति महत्त्वपूर्ण चिह्न कौन नहीं मानेगा? इस आत्मनिष्ठ जागृति का साक्ष्य अब यहाँ हर क्षण घटित हो रहा है। हिंदुस्थान जैसा भाग्यवान, निसर्ग सुंदर एवं रमणीय देश और भारतीय लोगों के समान वेद-प्राचीन, नीतिसंपन्न, दयालु एवं वीर-रस पूजक आर्य लोग—ये सब होना बड़े भाग्य का फल है, ऐसा अब भारतीय तरुणों को समझ में आने लगा है। हिंदुस्थान का धर्म, हिंदुस्थान की सामाजिक वृत्तियाँ, हिंदुस्थान का इतिहास और हिंदुस्थान की आज तक की कर्तव्य-शक्ति अन्य अधूरे एवं मौसमी राष्ट्रों की तुलना में सौगुनी प्रशंसनीय, वंदनीय और माननीय है। उसे मूर्ख और अंधे सुधारकों के उतावलेपन से लतियाते जाने जैसा भयानक पाप केवल रौरवदायक है, ऐसा अब तरुणों को समझ में आने लगा है। स्वदेशाभिमान की जो ज्योति बुझा दी गई थी, वह अब अगर जला दी गई तो उसके प्रकाश से अब तक हमें अटकाकर गिराने के लिए जो वस्तुएँ उत्पन्न हुईं, ऐसा स्वकीय परशत्रु अपने को कहते आए, उन्हीं बातों की मनोरमता और पुण्य पावनता देखकर विश्व दाँतों तले अँगुली दबाएगा, यह तरुण पीढ़ी की समझ में आने लग गया है और इंग्लैंड में आने का अर्थ है स्वदेश से बेईमानी (कृतघ्नता) और इंग्लैंड के साम्राज्य से राजनिष्ठ रहना नहीं है, यह भी धीरे-धीरे समझ में आने लगा है। इसके दो-एक उदाहरण नमूने के लिए दे रहा हूँ।

एक पंजाबी समाचारपत्र के संपादक को सुनाए गए क्रूर और राक्षसी दंड का समाचार सुन तरुणों का गुस्सा सारी सीमाएँ पार कर गया। उन्हें अपनी हतबलता पर लज्जा आने लगी। कलाई की ढिलाई के कारण प्राप्त हतबलता कलाई को कड़ा करते

ही निकल जाएगी, यह विश्वास भी उन्हें हो गया। जब तक विधि-विधान बनाना, उसको लागू कर तलवार लटकाए रखना फिरंगियों के अधीन है, तब तक नरम विरोध या Passive Resistance या अप्रत्यक्ष या प्रत्यक्ष प्रतिकार सब विफल हैं, यह उद्‌गार कई लोगों के मुँह से निकलने लगा है। सच्चे रास्ते, यशदायी रास्ते, इतिहाससूचित रास्ते किस तरह स्वीकार किए जाएँ, भारतीय हृदय में इसकी ऊहापोह हो रही है। बीच में यहाँ से पंजाबी-पत्र को सहानुभूति एवं आनंद प्रदर्शित करनेवाले तार भेजे गए। आनंद इसलिए कि अपने पर ऐसे खुले अत्याचार करने की बुद्धि ढोंगी सत्ता को होने तो लगी। इंडिया हाउस, कैंब्रिज एवं सायरेंसेस्टर से तार भेजे गए थे। फिर उसके लिए एक निधि भी बनाई गई, जिसका नाम 'पेनीफंड' है। यहाँ के मुट्‌ठी भर भारतीय तरुण कितनी उत्कटता से उस निधि की सहायता करते थे, यह समझने के लिए एक उदाहरण दे रहा हूँ। सायरेंसेस्टर के कृषि कॉलेज में देशबंधु हरनाम सिंह बी.ए. (सिख) आदि पाँच ही भारतीय हैं, परंतु उन्होंने तत्काल अस्सी रुपए भेज दिए हैं। विशेष महत्त्व की बात यह है कि इस सहानुभूति के तार या फंड में अधिक समय न गँवाते हुए कुछ अंतिम रूप से किया जाए, ऐसा सबको लगने लगा है।

महाराष्ट्र में देशभक्त अंताजी दामोदर काळे के अविश्रांत असहाय्य एवं अविरत श्रम से विकसित हुआ और उनकी ही लगन से चिरस्थायी हुआ 'पैसा फंड' अब लंदन में भी गूँज रहा है। देशभक्त अंताजी दामोदर काळे का अत्यंत वर्णनीय चरित्र और एक व्यक्ति द्वारा भी सचमुच स्वार्थ त्यागकर दृढ़ निष्ठा से कोई भी राष्ट्र-कार्य हाथ में लिया जाए तो उसमें एक व्यक्ति भी कितना कार्य कर सकता है, यह जानकारी पाकर राजपूत, सिख, बंगाली, मद्रासी सब ही धन्य-धन्य हुए हैं। 'पैसा फंड के जनक'—इसी अर्थपूर्ण और महनीय उपाधि से देशभक्त काळे के नाम का उल्लेख यहाँ किया जाता है। इस उपाधि का मूल्य अन्य उधार और व्यापारिक उपाधियों से कई गुना अधिक है, ऐसा वहाँ सबको विश्वास है। 'पैसा फंड' के लिए अनधिक पचास रुपए इकट्‌ठा हो गए हैं और किसी विश्वसनीय व्यक्ति के हाथों वे हिंदुस्थान भेज भी दिए जाएँगे।

एक और उपदेशपरक एवं उत्साहवर्धक बात घटित हुई। अमेरिका से देशबंधु देव (बंगाली) कृषिकर्म शास्त्र में एम.एस-सी. की उपाधि लेकर यहाँ आए थे। उन्हें बंगाल के राष्ट्रीय एसोसिएशन द्वारा भेजा गया था। गत सप्ताह हिंदुस्थान जाने से पूर्व वे लंदन में यह पूछताछ कर रहे थे कि साफा मिलेगा या नहीं। आप हिंदुस्थान में जाकर ही साफा क्यों नहीं खरीदते ? यह प्रश्न सुनते ही उन्होंने कहा, कलकत्ता में उतरने के बाद अंग्रेजी टोप देखकर राष्ट्र-पक्ष के लड़के 'हुर्रे' करते हैं और दूसरा यह कि अपने देश में लौटते समय अपने वेश का स्वदेशी ही होना अधिक शोभनीय है।

इस छोटी-सी बात में कितना गंभीर अर्थ समाया हुआ है। पच्चीस वर्ष पहले इंग्लैंड से लौटे भ्रष्ट लोग स्वदेशी का तिरस्कार करते थे और भ्रष्टता में ही शान समझते थे। हिंदुस्थान के बाजार में विलायती टोप ढूँढ़ते फिरते थे—आज स्वदेश में लड़के 'हुर्रे' करेंगे, इस डर से और स्वदेश के यथार्थ अभिमान से उद्दीपित होकर उपाधिधारी लोग लंदन के बाजार में भारतीय जरदारी साफा खोज रहे हैं।

१२ अप्रैल, १९०७

लंदन टावर

उसमें श्री शिव छत्रपति ने जिन 'बघनखों' से अफजल खान को मारा था, वे 'बघनखे' इंग्लैंड के प्रसिद्ध लंदन टावर में स्थित शस्त्रागार में रखे हुए हैं, ऐसा महाराष्ट्र में सामान्यत: कहा जाता है। पाठकों को ऐसा लग सकता है कि हिंदुस्थान की गुलामी की अँतड़ियाँ जिन बघनखों ने बाहर निकालीं और जो शिवाजी के कर-स्पर्श से पवित्र हो गईं, मैं उन बघनखों को देखने का बहुत इच्छुक रहा होऊँगा, परंतु मेरी ऐसी इच्छा बिलकुल नहीं थी। श्रीकृष्ण के विश्वरूप को देखने के लिए अर्जुन को दिव्य चक्षु दिए गए थे। फिर भी वह विश्वरूप को देख नहीं पाया। फिर उन बघनखों की ओर दृष्टि फेंकने की हिम्मत मेरी इन गुलाम आँखों को कैसे होगी? मुझे कँपकँपी छूटने लगी। मेरे अवयव विगलित होने लगे। छत्रपति के उन बघनखों को मैं कैसे देखूँ! इतिहास पढ़ने के कारण मुझे यह जानकारी थी कि मराठी बघनखों को गुलामी के रक्त क़ी बहुत घटक लगी हुई है। फिर ऐसी जानकारी होते हुए मैं उधर जाने की हिम्मत कैसे करूँ? विचार करें, यदि उनकी ओर दबी दृष्टि से देखते हुए उनकी अर्ध सुप्त दृष्टि मेरी ओर गई और मेरी गुलामी की बदबू उनकी नाक तक गई तो भड़ाम से स्तंभ फोड़कर बाहर आकर वह शिवनृहरी—गुलामी की बदबू कहाँ से आ रही है—ऐसा गर्जन नहीं करेगा क्या?

अफजल खान की अँतड़ियों को खाकर शिवाजी के बघनखों को सोए हुए बहुत समय हो गया है। अब उनके जागने का समय हो गया है। पूर्व का खाया सब हजम होकर अब तक की निद्रा में उनकी भूख जाग गई होगी। गुलामी के रक्त का स्वाद चखे वे बघनखे मेरे पीछे कूदते हुए आएँगे और मुझे तथा मेरी राजनिष्ठा को चीर-फाड़कर चटखारे लेकर 'स्वहितासृगुदका' नहीं पी लेंगे क्या?

ऐसे डर से मैं भ्रमित हुआ ही था कि मुझे उन बघनखों के स्थान पर टीपू की तलवार दिखाई दी। उस तलवार के दर्शनों के बाद एक विलक्षण अनुभूति का संचार मेरे शरीर में हो गया और ऐसा विचार बनने लगा कि इस गुलामी में जीने की अपेक्षा श्री छत्रपति महाराज के बघनखों से मरना बहुत अच्छा है। मैं बघनखों को देखने की

उत्सुकता से भर गया। उस विचित्र वस्तु के दर्शनों के लिए जाने से पूर्व कुछ नजराना ले जाना चाहिए, ऐसा मुझे लगने लगा। परंतु उन्हें जो एक ही नजराना चाहिए, वह मुझे कहाँ मिलेगा? गुलामी का रक्त नजराने के रूप में उसे देने के लिए मैं टीपू की तलवार से अनुनय करने लगा। उसने मुझे एक ही उत्तर दिया—'टीपू की तलवार तो तैयार है, पर टीपू का हाथ कहाँ है?'

उतने ही में मेरी दृष्टि उस बघनखे पर पड़ी। परंतु छत्रपति के बघनखे में तो दिव्यता होगी। वह दिव्यता उसमें नहीं थी, ऐसा मुझे लग रहा था। इसलिए आशंकित होकर मैं बहुत पास गया तो मुझे दिखा कि ये महाराज के हाथ के असल बघनखे नहीं हैं। उन बघनखों के पास जानकारी की जो परची है, उसमें साफ लिखा है—

'Waghnakhe or tiger's claws a weapon for concealment in the hand. It was a similar instrument with which the famous Shivaji destroyed Afzal Khan, a Vijapur general while entertaining him. These are from Mysore used by robbers.'

उपरोक्त जानकारी में इतना ही उल्लेख है कि श्री शिवाजी महाराज द्वारा प्रयुक्त बघनखे ऐसे ही थे। वे ये नहीं हैं। आगे तो स्पष्ट ही उल्लेख किया गया है कि ये मैसूर में डाकुओं से प्राप्त हुए हैं। श्री छत्रपति के बघनखे टावर में नहीं हैं। वे अन्यत्र कहाँ हैं, यह भी अभी पक्की तरह से ज्ञात नहीं है। इस तरह जिनके दर्शनों का अभिलाषी मैं हो गया था, वे बघनखे नहीं दिखने के कारण क्षण भर के लिए मैं निराश हो गया। परंतु तुरंत ही मुझमें उत्साह जागा, क्योंकि श्री छत्रपति के बघनखे लंदन के टावर के कैदखाने में बंद रहने की अपेक्षा वह मुझे दिखे ही नहीं तो उसमें कुछ बुरा नहीं है। वह मुझे दिखे, इसके लिए लंदन में आने की अपेक्षा अपनी आर्य-भू को दिखने के लिए हिंदुस्थान में ही रहें तो अच्छा है। बघनखे प्रदर्शन के लिए नहीं होते। उन्हें गुलामी का पेट फाड़ने के लिए ही बाहर निकालना इष्ट है। जिन्हें वे बघनखे देखने की अभिलाषा हो, उन्हें गुलामी की अँतड़ियाँ बाहर निकालने के लिए तैयार होना चाहिए। उन्हें उसके लिए बद्धपरिकर एवं सज्जखड्ग होना चाहिए। इतनी तैयारी जिसकी हो, उसे श्री छत्रपति के बघनखे मिलना कठिन नहीं हैं, क्योंकि प्रतापगढ़ की देवी को उपरोक्त सज्जता का आवेदन करने पर वे उस देवी के दरबार से दिला दिए जाँएगे।

(विहारी-चैत्र शुक्ल ९ शक संवत् १८२९) २२ अप्रैल, १९०७

सावधान

काल जाता क्षण-क्षण पास आ रहा मरण।
कुछ दौड़-भाग करो जब तक मृत्यु है दूर॥

एक कवि के ये उद्गार हिंदुस्थान की वर्तमान स्थिति के लिए कितने सही बैठ रहे हैं। जिस रोग से हिंद-भू की काया क्षीण होती जा रही है, उस परतंत्रता का दिन-ब-दिन बढ़ता जा रहा जोर देखकर किसके जी को बुरा नहीं लगेगा और कौन यह नहीं कहेगा कि 'कुछ भाग-दौड़ करो जब तक मृत्यु है दूर।' मृत्यु के दरबार में क्या योजनाएँ बन रही हैं—हे हिंदसुंदरी, तुम्हें ये मालूम है क्या? तेरे गले में पड़ते उसके पाश किस तरह धीरे-धीरे परंतु तेजी से कसते जा रहे हैं, तुम्हें इसकी कल्पना भी है क्या? क्षण-क्षण काल जा रहा है। उस हर क्षण के साथ क्षीण होता जाता तुम्हारा शरीर अनिवार्य एवं क्रूर यम-सदन की ओर खींचकर ले जाया जा रहा है। यह तुम्हारे निःसंज्ञ गात्रों को संवेदित हो रहा है या नहीं? मृत्यु दूर थी, वास्तव में तभी भाग-दौड़ करनी चाहिए थी, पर अब तो मृत्यु एकदम पास आ गई है। अभी भी उस पवित्र भारत के प्राण बचाने के लिए कोई भाग-दौड़ करेगा क्या? कोई आकर इसकी रक्षा करेगा क्या?

अब अवधि थोड़ी ही बची है। हिंदुस्थान को नामशेष करने के दोहरे प्रयास किस तरह चल रहे हैं, यह थोड़ा ध्यान देकर जो देखेगा, उसके ध्यान में तुरंत ही आ जाएगा। अब समय बिलकुल बाकी नहीं है। अनधिक पचास वर्ष पहले हिंदुस्थान के शरीर में एवं हिंद-भू की गोद में इतना सत्व था कि उसमें तात्या टोपे, कुँवर सिंह और नाना साहब जन्म लेते थे। रणजीत सिंह नए साम्राज्य रच रहे थे—दूसरे वीरजन चिलियनवाला और कानपुर की लड़ाइयाँ लड़ रहे थे। परंतु इस पचास-एक वर्ष में वह सत्व क्षीण होते-होते आज श्मशान-शांति होने तक नौबत आ गई है। अर्थात् पचास वर्ष पहले अपने शरीर में हुआ परतंत्रता रोग का उद्भव मार गिराने की जो शक्ति हिंद-भू में थी, वह आज नाममात्र भी नहीं है और जो आज है वह कल रहनेवाली नहीं है। परतंत्रता रोग की भयावहता बीस वर्ष पूर्व जितनी थी, उससे वह भयावहता कितनी ही बढ़ गई है और दिन बीतते तेजी से बढ़ रही है। हिंदुस्थान के शरीर की शक्ति घटती जा रही है और परतंत्रता का रोग बढ़ता जा रहा है। ऐसी दोहरी मार पड़ती जा रही है। ऐसे दोहरे जबड़े में मृत्यु हिंद-भू को पीसती जा रही है।

इस मृत्यु की जकड़ हिंदुस्थान के कंठनाल से किस तरह भिड़ गई है, यह क्या किसीको देखना है? उस जकड़ में विष भरे दाँत भी हैं और उन दाँतों की संख्या किस तरह बढ़ गई है, क्या यह भी देखना है? देखना हो तो आजकल इंग्लैंड और यूरोपखंड में जो हो रहा है, उसे ध्यान से देखें। समाचारपत्रों में प्रकाशित भड़काऊ-पाखंडी रिपोर्ताज के झाँसे में न आइए बल्कि उस रिपोर्ताज में जो प्रकाशित नहीं हुआ है, उसकी ओर ध्यान दीजिए। गत सप्ताह इंग्लैंड में अंग्रेजी साम्राज्य की सारी

स्वतंत्र बसावटों का एक बृहद् सम्मेलन आयोजित करने की धूमधाम थी।

इन बसावटों में इंग्लैंड की अधीनता के लिए बहुत लोगों में द्वेष उत्पन्न होने लगा है और ऐसा चारों ओर कहा जाने लगा है कि यदि साम्राज्य रखना हो, तो हमें और आपको समान अधिकार होने चाहिए। इन बस्तियों के द्वेष का उपशमन समय पर ही हो और उनमें साम्राज्य के प्रति प्रेम बना रहे, इसलिए यह सम्मेलन आयोजित किया जा रहा है, यह दृश्य और तात्कालिक कारण है। परंतु इसका मूल कारण बहुत ही भिन्न है। आयरलैंड, मिस्र एवं हिंदुस्थान में इन अंग्रेजी एवं फिरंगी साम्राज्य की बेड़ियाँ तोड़ डालने की इच्छा बलवती होती जा रही है। पहले से निर्बल बनाए हुए इन राष्ट्रों की यह स्वातंत्र्यगामी इच्छा समय रहते दबा देने के लिए इंग्लैंड को कॉलोनियों की पूर्ण सैनिक सहायता मिले, इसलिए यह संघ तैयार किया जा रहा है। इन कॉलोनियों में से बड़ी कॉलोनी कनाडा है। इसकी जनसंख्या ५७,६६,६०६ है और वर्तमान प्रधानमंत्री सर विल्फर्ड लारियर हैं। न्यू फाऊंडलैंड की जनसंख्या २,१७,०३७ है और उसके प्रधानमंत्री सर रॉबर्ट बाड हैं। ऑस्ट्रेलिया की जनसंख्या ५०,००,००० है और उसके वर्तमान प्रधानमंत्री अल्फ्रेड डीकन हैं। न्यूजीलैंड की जनसंख्या ८,८८,५७८ है और उसके प्रधानमंत्री सर जोसेफ वार्ड हैं। केपकॉलोनी की जनसंख्या चौबीस लाख के आसपास है और उसमें दस लाख गोरे हैं। उसके प्रधानमंत्री जेम्सन हैं। नाटाल की जनसंख्या न्यूनाधिक इक्कीस लाख है जिसमें एक लाख गोरे हैं। उसके प्रधान मूर हैं। सबसे छोटी स्वतंत्र कॉलोनी ट्रांसवाल की जनसंख्या बारह लाख है, जिसमें तीन लाख गोरे हैं। उसके प्रधानमंत्री जनरल बोथा हैं। इन सात स्वतंत्र कॉलोनियों के प्रधानमंत्री लंदन आए हुए हैं। उन सबका सम्मेलन आयोजित कर उसमें साम्राज्य के संरक्षण की चर्चा चल रही है।

इन सबमें विशेषत: जनरल बोथा की ओर सबका ध्यान था, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। इस सम्मेलन के दूसरे दिन लंदन नगर में इस ब्रिटिश साम्राज्य की कॉलोनियों के प्रधानमंत्रियों का जुलूस निकाला गया था। सारे रास्तों को कागज के सुंदर फूलों से बनी मालाओं से सजाया गया था। उन मालाओं के बीचोबीच अंग्रेजी राष्ट्रों के झंडे टँगे थे। विशेषत: सेंट पाल नामक भव्य एवं प्राचीन चर्च के सामने की झाँकी बहुत ही मनोरम थी। एक बहुत बड़ा झंडा बीचोबीच लहरा रहा था और उसके बाजू में अलग-अलग कॉलोनियों छोटे-छोटे झंडे लगाए गए थे। चारों ओर से इस मार्ग को किसी सुंदर विवाह मंडप-सा सजाया गया था। सारे रास्तों में लाखों लोग सटे-सटे, परंतु अनुशासन से खड़े थे। स्वतंत्र राष्ट्र में अपना भाग्यशाली स्वतंत्र राष्ट्रीय झंडा विजयानंद से फहराता देख जो मनोवृत्तियाँ जाग्रत होती हैं, वे उनके हृदय में एवं चेहरे पर नाचती हुई दिख रही थी। सेंट पॉल

चर्च के विभिन्न घंटों की घनघनाहट शुरू हो गई थी और उस नाद के स्वागत-रव से वह प्रचंड जनसमूह डोल रहा था। इतने में सुंदर और खुले वाहनों में बैठे हुए प्रधानों का आगमन होने लगा। उनमें सर्वप्रथम आने का सम्मान जनरल बोथा को मिला हुआ था।

जनरल बोथा की बग्घी आते ही चारों ओर बोथा की जय-जयकार गूँज उठी। टोपियाँ, छतरियाँ, रूमाल आदि उड़ाते हुए 'स्वागत जनरल', 'स्वागत बोथा' की आनंदध्वनि भी लगातार उठती रही। यह जुलूस गिल्ड हॉल में गया और वहाँ प्रधानमंत्री को 'फ्रीडम ऑफ दी सिटी ऑफ लंडन' से सम्मानित किया गया। लंदन के फ्रीडम का सम्मान लेते समय परंपरा के अनुसार सारे प्रधानमंत्रियों को 'मैं अंग्रेजी साम्राज्य के प्रति हमेशा राजनिष्ठ रहूँगा,' ऐसी शपथ लेनी पड़ी। ऐसी युक्ति से बोथा को राजनिष्ठा से बाँधा गया। इस सारे आयोजन का परिणाम क्या हुआ? लंदन केवल इंग्लैंड की ही नहीं, अपितु सारी कॉलोनियों की स्वतंत्र सेनाओं को अपनी सुरक्षा के लिए एकत्र करने की इच्छा किए हुए है, यह सिद्ध हो गया। इस जुलूस का समापन हो जाने के बाद सम्मेलन के आगे जो विचारार्थ विषय आए हैं उनमें हिंदुस्थान, तेरा नाम नहीं है, फिर भी तू उधर पूरा ध्यान दे। अति महत्त्व का और सबको अनधिक पूर्ण सम्मत विषय—साम्राज्य की सुरक्षा—है।

यह बात इंग्लैंड के प्रधानमंत्री हेनरी कबेल वाटरमैन ने पहले ही कही है। इंग्लैंड की नौसेना कदाचित् हिंदुस्थान को बचाए रखने में समर्थ नहीं होगी, इसलिए कॉलोनियों और इंग्लैंड को मिलाकर एक संगठित तथा सहयोगी नौसेना बनाई जाए, यह अंग्रेजों का प्रयास है और यह व्यय-भार सँभालने के लिए कॉलोनियाँ भी तैयार हो जाएँ, इसके लिए एक पार्लियामेंट सभा की स्थापना करने और व्यापार के संबंध में विशेष छूटें दिलाने के लिए कॉलोनियों को लालच दिया गया है। हिंदुस्थान और मिस्र कॉलोनियाँ इंग्लैंड की चरागाह हैं। इसको सबके लिए खुला रखना एक सामान्य उद्देश्य होने के कारण साम्राज्य संरक्षक नौसेना खड़ी करने और साम्राज्य से किसीको भी छूटने या छुड़ाने के प्रयास को संघ-बल से तोड़ देने की बात एक कुटिल चाल है। अब तक गुलामों की छाती पर केवल इंग्लैंड का ही बोझा था, पर अब ये सात कन्याएँ भी अपनी माँ की सहायता करने आया करेंगी, इस सम्मेलन का यह सीधा-सा अर्थ है।

इंग्लैंड यही एक खटपट कर रहा है, ऐसा नहीं है। पार्लियामेंट में हाल्डेन ने एक सेना-सुधार विधेयक प्रस्तुत किया है। उसमें सेना पर अधिक व्यय हो तो भी चलेगा, पर इंग्लैंड की सेना एकदम तैयार और सज्जित रखने की योजना है। जिनके साम्राज्य अन्याय एवं गुलामी के पैरों पर खड़े होते हैं, उन्हें अपने प्राण बनाए रखने

का एक ही उपाय सूझता है और वह है राक्षसी बल का संपादन।

महत्त्व की तीसरी हलचल है राजा एडवर्ड की यात्रा। इंग्लैंड का साम्राज्य इतना विशाल हो गया है कि अब विश्व में सब ओर शांति न हो तो उसका बचाव कठिन है। किसीका स्वास्थ्य नाजुक हो जाए तो उसे आसपास होनेवाला दंगा बिलकुल सहन नहीं होता। इसलिए आगामी हेग सम्मेलन में इंग्लैंड एक ऐसा प्रस्ताव लाने का प्रयास कर रहा है कि अब इसके आगे कोई भी राष्ट्र अपनी नौसेना बढ़ाए नहीं। स्वार्थ एवं दुष्ट बुद्धि से भरा होने के कारण जर्मनी, ऑस्ट्रेलिया आदि राष्ट्र इस प्रस्ताव के विरुद्ध हैं। इसलिए प्रत्यक्ष भेंट करके उनका मत-परिवर्तन कराने के लिए इंग्लैंड के राजा यात्रा पर निकले हैं। स्पेन को तैयार कर लिया गया है और अब इटली के राजा से भेंट होनी है।

उपर्युक्त तीन प्रयास—पहला यह कि कहीं कुछ गड़बड़ न हो, दूसरा यह कि अपनी सेना एकदम तैयार रहे और फिर भी आवश्यकता आ पड़े तो तीसरा यह कि कॉलोनी से व्यय और सेना की मदद लेकर गुलामी की बेड़ियाँ उनके भक्ष्य के पैर में पड़ी रहें। इन तीन प्रयासों का क्या उद्देश्य है और विशेषत: इसके परिणाम क्या होंगे, यह, हिंदुस्थान, तू ध्यान से परखता रहा है। तू हर पल क्षीणसत्व होता जा रहा है और तेरा रोग हर क्षण तेजी से बढ़ता जा रहा है। हे हिंदुस्थान, तू ध्यान से देख! तेरे जो पुत्र ऐसा कहते हैं कि तुम धीरे-धीरे स्वस्थ हो जाओगे, वे तुम्हारी यह अंतिम अवस्था देखते नहीं। मैं अनेक के ऐसे उद्‌गार सुनता हूँ कि स्वतंत्रता धीरे-धीरे सौ वर्षों में मिलेगी। सौ वर्ष? पहले सौ वर्ष हिंदुस्थान इस बीमारी में सड़ता पड़ा रहेगा, तब वह बीमारी से मुक्त होगा? इस भविष्यवाद का या भविष्य के अभाव का (धिक्कार) नाश हो। सौ वर्ष नहीं, अब तो पच्चीस वर्ष भी हिंदुस्थान इसी तरह परतंत्र रहा तो फिर से यह हिंद-भू हाथ न आएगी।

इसलिए अब कुछ अंतिम प्रयास करो। सोक्ष या मोक्ष जो भी हो, वह अभी हो। जो भी नया दिन उगता है, वह तुम्हारी जय की संभावना कम करता जाता है। अभी समय है, इसलिए कहता हूँ कि कुछ भाग-दौड़ करो। तुम्हारा पक्ष सत्य है और कितने ही संघ तुम्हारे साथ हैं। तुम भी सम-दु:खियों के—मिस्र, आयरलैंड के संघ बनाओ, पर यह सब अभी हुआ, तभी होगा, वरना क्षण भर के फेर से हिंद-भू हाथ से गई, ऐसा समझो। इसलिए फिर से कहता हूँ—अति समयो वर्तते! सावधान!!

१७ मई, १९०७

सन् १८५७ के सपने

गत सप्ताह हिंदुस्थान से आए समाचार और उनपर यहाँ के अंग्रेजी पत्रों द्वारा

की गई टिप्पणियाँ, इन दोनों में राजनीति का एक नया खेल प्रारंभ हो रहा है। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर लोगों को यह दिखे बिना नहीं रहेगा। हिंदुस्थान के 'स्वातंत्र्य युद्ध के पुण्याहवाचन' को इस वर्ष (सन् १९०७) पचास वर्ष पूरे हो रहे हैं। इस एक ही बात से इस वर्ष हिंदुस्थान की ओर विश्व के लोग एक विशेष दृष्टि से देखने लग गए हैं। गत पचास वर्षों में हिंदुस्थान में ऐसा क्या हुआ कि यह विश्व की दृष्टि को आकर्षित कर सके? गुलामी की तृप्तता, राजद्रोह की शान, प्लेग का उत्पात, अकाल का तांडव, कंगाली की भरमार—इसके सिवाय हिंदुस्थान में गत पचास वर्षों में विश्व को आकर्षित करने लायक और क्या था? परंतु सन् १९०७ में विश्व को हिंदुस्थान के सन् १८५७ का स्मरण हो जाने से उस महनीय स्वतंत्रता-संग्राम के चित्र जनता की कल्पना के सामने आने लगे हैं। इसीलिए इस वर्ष की जनवरी से यह भावना किंचित् जगने लगी है कि हिंदुस्थान कोई मरा हुआ देश नहीं है।

अंग्रेजी समाचारपत्रों में आजकल सन् १८५७ की कथाएँ प्रकाशित हो रही हैं। उस संग्राम के नक्शे दिए जा रहे हैं। अंग्रेजी पल्टन एक तरफ इस अभूतपूर्व दृश्य से चकित, मुँह खोले आश्चर्य का प्रदर्शन करती खड़ी है, ऐसे चित्र मेरठ के विद्रोह के समय अंग्रेजी पत्रों में छपे थे। इस कारण रास्ते में अंग्रेज लोगों के बीच घूमते हुए भारतीय हृदयों में एक तरह की स्वप्रतिष्ठा आ जाती है। स्वतंत्रता-संग्राम के लिए हिंदुस्थान लड़ रहा है, इस चित्र को देखते हुए यह भावना खत्म हो गई, लगता है कि हम १९०७ में जी रहे हैं, और हम सन् १८५७ के उच्च वातावरण में हैं और पास खड़े अंग्रेज की ओर कुछ सुप्रतिष्ठा की मुद्रा में देखने की स्फूर्ति हो जाती है।

सन् १८५७ की जागृति से एक और बात घटित हुई है। वह यह कि इस वर्ष भारतीय मनुष्य को अंग्रेजों से बतियाते—बराबरी से और सम्मान से कहने लायक एक विषय मिला। आज तक के विषय थे—'तुम हमपर अत्याचार कर रहे हो', 'तुम हमसे नमक-कर ले रहे हो', 'तुम हमें रीछ समझकर मार डालते हो'—ये सब दासत्व, गुलामी और कापुरुषता के निशान थे। परंतु इस वर्ष का विषय बहुत अलग है। विद्रोह की जानकारी देते अंग्रेजों को इस वर्ष यह कहा जाता है कि स्वतंत्रता के लिए हमने रणस्थल में 'हर-हर महादेव' का घोष किया था। हमने कानपुर में तुम्हारा कत्लेआम किया। हमारे नाना का नाम सुनते ही कलकत्ता में भी तुम्हारे साहब लोग कार्यालय छोड़कर भाग जाते थे। हमारे हिंदुस्थान ने पचास वर्ष पूर्व जो स्त्री-रत्न पैदा किया, वह तुम्हारे इंग्लैंड ने अपने अस्तित्व से आज तक पैदा नहीं किया। इंग्लैंड के पूरे इतिहास में एक भी झाँसी की लक्ष्मी नहीं हुई। सन् १८५७ का समर हुआ। इसलिए कुछ अभिमान से बोलना हिंदुस्थान के लिए संभव हुआ है। सन् १८५७ के कारण गत सदी पूरी कायर नहीं रही। सन् १८५७ ने हिंदुस्थान के

भूतकाल की लाज और भविष्यकाल के लिए कुछ आशा जीवित रखी।

इस वर्ष के प्रारंभ से जिस किसी कारण से भी हो, पर एक दहशत का वातावरण पूरे इंग्लैंड में व्याप्त है। सन् १८५७ के वर्ष को सन् १९०७ में पूरे पचास वर्ष होने के कारण इधर ऐसी सामान्य समझ हो गई है कि हिंदुस्थान में इस वर्ष कुछ-न-कुछ विलक्षण घटना होगी ही। पहले शरमाते-शरमाते यह समझ हो रही थी, परंतु मई माह में उसकी सार्वजनिक चर्चा खुले रूप में होने लगी। कर्म-धर्म संयोग से पंजाब में आंदोलन अच्छा बढ़ा। सन् १८५७ के इतिहास के लेख अंग्रेजी पत्रों में छपे ही थे कि 'रावलपिंडी में दंगा' की झंडियाँ फड़कने लगीं। पंजाबी पत्र पर चले मुकदमे के फैसले के दिन जो दंगा हुआ, उसका समाचार इंग्लैंड में आते ही अंग्रेज समाज में आतंक-सा छा गया। उसे वैसे ही दबा दिया गया, पर रावलपिंडी का तार आते ही अंग्रेजी पत्रों का धैर्य टूट गया।

इतने में पठानों की टुकड़ी में हड़ताल हो जाने का समाचार आया। अब तो यह स्पष्ट हो गया कि हिंदुस्थान में व्याप्त असंतोष के बीज सेना में अंकुरित होने लगे हैं। फिर भी गत माह ही मोर्ले ने भरी पार्लियामेंट में यह कहा कि हिंदुस्थान में वास्तविक असंतोष बिलकुल नहीं है। इसको उद्धृत करते हुए समाचारपत्र अपना समाधान कर ही रहे थे कि तब तक इस आशय का तार मिला कि अजित सिंह ने लाहौर में हजारों लोगों को लाठियों सहित इकट्ठा किया है। उस दिन अंग्रेजों का धीरज वास्तव में छूट गया। उनको विश्वास हो गया कि सन् १८५७ का ५०वाँ वर्ष अब हिंदुस्थान में लोग यों ही नहीं जाने देंगे। कुछ-न-कुछ भयानक घटना होकर रहेगी।

यह डर उस दिन इतना बढ़ा कि बाजार में नोटों का मूल्य धड़ाम से नीचे आ गिरा। गोखले के हजारों व्याख्यानों से जो आतंक कभी नहीं फैला, वह मात्र एक तार ने फैला दिया। हर कोई हिंदुस्थान के संबंध में समाचारों की टोह लेने लगा। उस दिन रेलगाड़ी, ट्राम आदि जहाँ कहीं भी ठहरते, भारतीय मनुष्य को देखते ही अंग्रेज लोग चारों ओर जम जाते और अदब से इसकी पूछताछ करने लगते कि क्या चल रहा है। व्याख्यानों से हिंदुस्थान की ओर किसीका ध्यान गया हो या न गया हो, पर लाहौर में तलवारें, बंदूकें आदि की बात तो दूर, लाठियाँ ले जाने के समाचार ने ही हजारगुना अधिक ध्यान हिंदुस्थान की ओर आकर्षित किया। यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। हिंदुस्थान पर बीच-बीच में लेख लिखवाने वाले और 'डेली न्यूज' जैसे पत्र को हजारों रुपए देते रहनेवाले मूर्ख लोगों को इसपर ध्यान देना चाहिए कि यह तार आते ही कि अजित सिंह ने कुछ लोगों के हाथों में लाठियाँ दीं, इंग्लैंड के हर अखबार ने हिंदुस्थान पर कॉलम-पर-कॉलम लिखे।

इन समाचारपत्रों के दो वर्ग हैं। कुछ टोरी पार्टी के पत्र हैं तो कुछ लिबरल पार्टी के हैं। इनमें से पहले वर्ग के पत्रों में हिंदुस्थान पर महत्त्वपूर्ण लेख होते हैं, क्योंकि उस पार्टी के पत्रों में गला काटने की प्रवृत्ति कम है। इस कारण उनके उद्‌गारों में अंग्रेजों का हृदय अधिक स्पष्टता से उजागर होता है। इस पत्र में गत माह में छपे हिंदुस्थान-संबंधी लेख पठनीय हैं। 'डेली ग्राफिक' कहता है—'सन् १८५७ के बाद से हिंदुस्थान में हमारे अधिकार और कानूनों का ऐसा खुला अपमान कभी भी नहीं हुआ था। इस सारे असंतोष का बीज यह है कि हिंदुस्थान के लोगों को स्वतंत्रता चाहिए। कर बढ़ाने पर दंगे होते हैं, ये दिखावटी कारण हैं। स्वतंत्र होने की इस इच्छा को उसी स्थान पर दबा देना चाहिए, क्योंकि अब जो विद्रोह होगा, वह सन् १८५७ से भी अधिक भयंकर होगा।' 'डेली टेलीग्राफ' में तो हिंदुस्थान पर गालियों की मानो बौछार ही की गई है। टोरी पार्टी के कुछ पत्रों ने यह सूचना दी है कि ऐसी परिस्थिति में उत्तम उपाय यह है कि हिंदुस्थान के सारे छापाखाने बंद कर दिए जाएँ, परंतु इस उपाय पर दूसरा एक टोरी पत्र कहता है कि इस उपाय से तो उलटे हमें ही हानि होगी। हिंदुस्थान के छापाखाने अपने हाथों की बत्तियाँ हैं, वही फोड़ दीं तो हमें अँधेरे में किसी सन् १८५७ जैसे भयावह गड्ढे में गिरना पड़ेगा। टोरी पत्रों का गुस्सा कितना भयंकर हो गया है और वे पत्र अपना गुस्सा किस स्पष्टता से तथा लिबरलों जैसे बिना ढोंग के प्रकट करते हैं, यह इस उद्धरण से ज्ञात हो जाएगा।

'इवनिंग न्यूज' 'Indian unrest' शीर्षक से लिखे लेख में कहता है— 'The trouble which has long been fermenting in India, and which has now reached the stage of open riot and flouting of authority is only what might have been expected from the attitude allowed to certain sedition-mongers in the past. We have allowed these self important agitators to say what they pleased and the natural result has been that considerable section of the native population has come to believe that we are afraid to punish the insults which have been hurled at us. We can not feel thankful to what Mr. Morely seems to be in the present instance quite agreed with the Viceroy as to the necessity of muzzling India's mad dogs. If we have a regret, it is that they were not muzzled earlier.'

यह तो एक टोरी लेखक था। अब लिबरल पार्टी, जिसे अपने (भारत के) नरम दलीय लोग अपने पितृ स्थान पर मानते हैं, ने तो गत सप्ताह ऐसे कृत्य किए हैं

कि नादिरशाह भी शरमा जाए। सच में सूक्ष्म रीति से विचार करें तो अंग्रेजी अत्याचार को नादिरशाह की उपमा देने का अर्थ नादिरशाह का अपमान करना है। देशभक्त, लोकमान्य और परोपकार में अपना शरीर चंदन की तरह घिसनेवाले महानुभाव लाजपतराय को सीमा पार करने का साहस आज तक किस टोरी ने किया है? फुलर के नाम से गाली देनेवालों ने इस मोर्ले में कितने फुलर भरे हैं, यह अब भी समझ लेना चाहिए। लाला लाजपतराय को सीमा पार किए जाने का समाचार आने के बाद से एक भी लिबरल पत्र ने शिकायत नहीं की है। 'ट्रिब्यून' नामक प्रमुख दैनिक पत्र ने तो स्पष्ट ही कहा है—'किसी लाजपतराय को भगा देने का समाचार आया है।' 'We do not question the need of these measures.'

इस कृत्य की आवश्यकता के संबंध में हमें कुछ भी शंका नहीं है। पार्लियामेंट में उलटे-सुलटे प्रश्नों की भीड़ में उन सबका सारांश मोर्ले ने एक वाक्य में कह दिया। वह यों है—'इस तरह के प्रश्नोत्तरों से नेटिवों को यदि ऐसा लगे कि हिंदुस्थान के संबंध में पार्लियामेंट में मतभेद है तो यह धूर्तता नहीं है।' लाजपतराय और अजित सिंह को सीमा पार करना, बंगाल और पंजाब में सार्वजनिक सभा पर पाबंदी लगाना, विद्यार्थियों एवं अध्यापकों को स्वदेशभक्ति न करने का आदेश देना, जिसे चाहे कभी भी उठाकर जेल में डालना, ऐसे व्यवहार जो लिबरल करते हैं, वे ही लिबरल और वही उनका राष्ट्र (ब्रिटेन) समय आने पर गाँव-के-गाँव को तोपों से उड़ा देंगे या पूरे देश को जलाकर राख कर देंगे। इसका विशेष रूप से विचार Passive Resistance के प्रत्यक्ष प्रतिकारवाले अवश्य करें। अभी तो कुछ हुआ ही नहीं है। अभी तो कहीं-कहीं एकाध टुकड़ी के गड़बड़ करने के समाचार आए हैं। इतने पर ही उस वीर राष्ट्र ने अपने पंजे बढ़ा लिये हैं। ऐसे वीरों के सामने इस तरह रोने से कि जाओ, हम कर नहीं देते, कर माफ हो सकता है, यह पागलों के अस्पताल में भी किसीको सच नहीं लगेगा। इस वर्ष इंग्लैंड में जो गड़बड़ी फैली है, वह प्रत्यक्ष प्रतिकार की नहीं, सन् १८५७ के ५०वें वर्ष की है। वह नाना के कानपुर का स्मरण है।

यह स्मरण केवल अंग्रेजों को ही हो रहा है, ऐसा नहीं है। वह लंदन के भारतीय लोगों को भी है। गत ११ मई को यहाँ के भारतीय लोगों की एक सभा सन् १८५७ के स्वतंत्रता-संग्राम की स्वर्ण जयंती मनाने के लिए हुई थी। उसमें उस संग्राम के शहीद देशवीरों का भजन-पूजन किया गया। इस तरह वर्तमान में लंदन में उभय पक्षों को सन् १८५७ के सपने आ रहे हैं। नाना की देह की छवि अंग्रेजों और भारतीयों के मन पर अकस्मात् ही अंकित हुई है। इस विलक्षण चमत्कार का क्या अर्थ है और सन् १८५७ के सपने किसके जन्म के हैं, भविष्यकाल

इसका उत्तर जल्द दे।

(विहारी-वैशाख वि. ३०, शक संवत् १८२९) १० जून, १९०७

अप्रत्यक्ष प्रतिकार की जय-पराजय

लंदन : फ्रांस में राजनीति के सभी प्रश्नों की कुछ विलक्षण बहार आ जाती है, इसमें शंका नहीं। राजा विष्णु का अंश है, यह दोषत्वपोषक ढोंग फ्रांस में खूब फैला। परंतु इस ढोंग को समाप्त करने के लिए भी फ्रांस के ही लोग आगे बढ़े। १८वीं सदी में फ्रांस में रूसो एवं वॉलटेयर नामक दो दर्शनशास्त्रियों का उदय हुआ। 'The Declaration of the Rights of Man' शीर्षक से अभूतपूर्व लेखन का जन्म फ्रांस में हुआ। इस सिद्धांत से पूरे विश्व में नया युग प्रारंभ हुआ। अन्यायमूलक एवं अत्याचारी राजसत्ता के भूगोल पर जिसने चोटें कीं और जिसके दिग्विजयी होने का उत्सव मनाने का सारा विश्व इच्छुक था, लोकसत्ता का वह सिद्धांत पहले फ्रांस में ही विकसित हुआ। सन् १७८९ से १८४८ तक फ्रांस में इतने प्रकार की राज्य-रचनाएँ हुई हैं कि पूरे विश्व को भिन्न-भिन्न राज्य-रचनाओं के गुणधर्म सिखाने हेतु फ्रांस में सृष्टिकर्ता ने एक बड़ी प्रयोगशाला ही खोल रखी है—ऐसा आभास होता है।

अप्रतिहत राजसत्ता, नियमित राजसत्ता, अराजकता, लोकनियुक्त राजसत्ता, लोकप्रतिनिधित्व, संयुक्त लोकसत्ता आदि की परंपरा से यथासंभव अलग-अलग राज्य-रचना की योजना बनाते हुए फ्रांस ने लोकसत्ता स्वीकार की है। फ्रांस में गत दो सौ वर्षों में यह राज्य-रचना इतनी बार बदली गई कि औसतन हर दस वर्ष में फ्रांस में एक नई और घनघोर राज्य क्रांति होती रही। अनधिक पचास वर्षों से यदि कोई राज्य-रचना फ्रांस में निरंतर स्थिर रही है तो वह वर्तमान की लोकसत्ता ही है। इतनी राज्य क्रांतियाँ वहाँ हुई हैं कि राज्य क्रांति के अधिकतर साधनों का उपयोग फ्रांस में हो चुका है। उसमें भी चूँकि फ्रांसीसी लोगों के मन प्राकृतिक रूप से ही अति सूक्ष्म चेतन एवं प्रतिकारमय होते हैं। अतः उनके देश के किसी भी आंदोलन में एक तरह का अद्‌भुत तत्त्व एवं मनोरमत्व दिखता है। उनके इतिहास में क्रांति के सारे आयुधों के विशिष्ट गुणधर्म इतने साफ दिखे हैं और वे प्रयोग इतने कवित्वयुक्त भाषा में लोककृतियों के काल-ग्रंथ में लिखे हुए हैं कि राजनीतिशास्त्र का सप्रयोग सुलभ एवं मनोरंजक ग्रंथ, फ्रांस के इतिहास के सिवाय अन्यत्र प्रायः अलभ्य ही है।

इस प्रयोगशाला में राज्य क्रांति के एक नवीन साधन के नाम से सर्वत्र बेचे जा रहे Passive Resistance (अप्रत्यक्ष प्रतिकार) का जो सिद्धांत है, उसका रासायनिक पृथक्करण करना वर्तमान में इष्ट है। अप्रत्यक्ष प्रतिकार को अधिकतर

देशों में कानूनी मान्यता प्राप्त है अर्थात् अप्रत्यक्ष प्रतिकार करना राजद्रोह नहीं होता। जिस सरकार के विरोध में जाना हो, उस सरकार के अधीन नौकरी न करना; अन्य भी नौकरी न करें—ऐसा उपदेश देना; उस सरकार के स्कूलों, संस्थाओं और न्यायपालिका से किसी तरह का संबंध न रखना; उस सरकार को पैसे की सहायता न हो पाए, इस दृष्टि से उसे ऋण नहीं देना; उसके बैंकों में पैसा रखना बंद करना; सरकारी कर भी नहीं देना इत्यादि अप्रत्यक्ष प्रतिकार के रास्ते हैं। सरकारी कानून प्रत्यक्षत: शस्त्र लेकर न तोड़ते हुए अप्रत्यक्ष रीति से उसे निरुपयोगी बना देना और उसे पूरी तरह दुर्लक्षित कर सरकार को पग-पग पर रोकना—यह अप्रत्यक्ष प्रतिकार की विधि-निषेधात्मक व्याख्या है। सरकार के राज्ययंत्र पर प्रत्यक्ष आक्रमण न कर उसको चलने न देने की 'हड़ताल', उस यंत्र को चलानेवाले मजदूरों से कराना ही अप्रत्यक्ष प्रतिकार है। बंबई का कोई मिल-मालिक कहना न माने तो उसे वैसा करने के लिए बाध्य करने हेतु उसके मिल में मजदूरों की हड़ताल करवाकर सरकार का राज्ययंत्र बंद कराने का प्रयास करना अप्रत्यक्ष प्रतिकार है।

इस अप्रत्यक्ष प्रतिकार का आश्रय लेकर किसी भी सरकार को ठिकाने लगाया जा सकता है, यह प्रवृत्ति वर्तमान में अनेक देशों में बहुत लोगों की होती जा रही है। उनका कहना है कि यदि हम सबने सरकार की नौकरी छोड़ दी तो कर कौन वसूल करेगा? पुलिस में कौन प्रविष्ट होगा? और सरकार को सैनिक कहाँ से मिलेंगे? ऐसी अवस्था में फँसी सरकार एक दिन में नामशेष हो जानी चाहिए या झुक जानी चाहिए। हाथ में शस्त्र न लेते हुए, रक्त की एक बूँद भी न गिराते हुए, राजद्रोह की भी जिम्मेदारी न लेते हुए राज्य क्रांति जैसा प्रचंड कृत्य करने का एक अभूतपूर्व साधन अप्रत्यक्ष प्रतिकार के रूप में हमने खोज निकाला है, ऐसा इस बीसवीं सदी को यथार्थ अभिमान हो गया। फिर भी चूँकि इस नए साधन का उपयोग अभी तक किसीके द्वारा नहीं किया गया है। अत: राज्य क्रांति करने के लिए यह साधन कितना उपयोगी होगा, इसका व्यावहारिक निर्णय अभी नहीं हुआ है।

परंतु अन्य सारे साधनों की तरह ही राज्य क्रांति के इस नवीन साधन का भी प्रयोग फ्रांस में गत पखवाड़े में किया गया। फ्रांस के सारे दक्षिणी प्रांतों में करों को लेकर शराब कारखानेवालों और सरकार का झगड़ा बढ़ा। किसानों ने विशाल सभाएँ आयोजित कर और आवेदन देकर अपनी बात सरकार तक पहुँचाई। परंतु उस आवेदन के अनुसार चलने की शक्ति या इच्छा न होने के कारण फ्रांस सरकार की ओर से उसका कोई हल नहीं निकला। दक्षिण की ओर के फ्रांसीसी लोगों का उद्देश्य यद्यपि राज्य क्रांति करने का नहीं था, तथापि सरकार को अपनी बात मनवाने के लिए बाध्य करने का अंतिम शस्त्र हाथ में लेने का निश्चय लोगों ने

किया। इस काम के लिए उन्होंने नए सिरे से प्रचार में आने के लिए अप्रत्यक्ष प्रतिकार का सहारा लिया। कोई भी बात संघशक्ति से कैसे की जाए, इसकी घुट्टी फ्रांसीसियों द्वारा पिलाए जाने और उनके प्रतिभामय एवं उत्साही स्वभाव के कारण गत सप्ताह ही अभूतपूर्व, मनोहर एवं अत्यंत शिक्षाप्रद अप्रत्यक्ष प्रतिकार का प्रयोग फ्रांस की रंगभूमि पर करके दिखाया गया।

इस प्रयोग में अणुरेणु बराबर भी कटौती या बेईमानी नहीं हुई थी। नार्बोने शहर में प्रथमतः मुख्य नेताओं से मिलने दक्षिण प्रांत के लोग आने लगे। हजारों लोगों के जत्थे अलग-अलग शहरों से निकलकर नारबोने की ओर चल पड़े। उस रात नारबोने नगर में इतना विशाल जनसमूह इकट्ठा हुआ कि उन्हें सोने के लिए शहर में जगह नहीं मिली। चर्च और सारे सार्वजनिक स्थान खोल दिए गए। फिर भी लाखों किसान बाहर रास्तों पर ही रहे और फिर रास्तों में ही वे सो गए। मानो रास्ते आदमियों को बिछाकर बनाए गए हों, इतनी सघनता से आदमी, औरतें, बच्चे—सभी पूरे शहर में सो गए। फिर भी काफी समाज ऐसा बाकी था जिसे सोने के लिए सड़कें नहीं थीं। भोर होते ही सभा हुई और सबको यह बता दिया गया कि किस तिथि से सारे दक्षिण में अप्रत्यक्ष प्रतिकार का आरंभ एक साथ करना है। इस समय कहीं भी कोई कानून-बाह्य व्यवहार नहीं हुआ। अंत में संकेत-समय आ गया और अप्रत्यक्ष प्रतिकार प्रारंभ हो गया। परंतु वह किसी अन्य देश में जैसा हुआ होता, वैसा नहीं हुआ। फ्रांस में हर आंदोलन का संचालन कवित्वपूर्ण एवं अद्‍भुत रीति से होता है, वैसा ही अब भी हुआ। नियत समय पर नारबोने के चर्च का घंटा बजने लगा और दक्षिण के सैकड़ों शहरों एवं ग्रामों में अप्रत्यक्ष प्रतिकार शुरू हो गया। हजारों बाबुओं ने नौकरियाँ छोड़ीं, लड़कों ने स्कूल छोड़े, नगरपालिकाएँ खाली हो गईं। पूरे दक्षिण के नगरों के मुख्य मेंबरों ने उस नियत समय पर अपने त्यागपत्र पेरिस भेज दिए। पेरिस की लोकसभा के दक्षिण की ओर के सदस्य सभा छोड़कर चलते बने। सरकारी बिल्ले, पट्टे एवं अधिकार दंड हजारों-लाखों की संख्या में फेंक दिए गए। इस तरह एक घंटे के अंदर फ्रांस के दक्षिण की ओर के विस्तीर्ण प्रदेश में राज्य-रचना नामशेष हो गई। पुलिस ने ही नहीं, सैनिकों ने भी गोली चलाने से इनकार कर दिया। इससे अधिक अप्रत्यक्ष प्रतिकार की रचना करना एकदम असंभव है। राजनीतिशास्त्र की अन्य बातों की तरह ही अप्रत्यक्ष प्रतिकार कितनी पूर्णता और कुशलता से किया जाता है, यह पूरे विश्व को फ्रांस ने ही सिखाया। अप्रत्यक्ष प्रतिकार की यह पूरी विजय है।

परंतु फ्रांस में अप्रत्यक्ष प्रतिकार क्या कर सकता है, यह जैसे उन लोगों ने सप्रयोग सिद्ध कर दिखाया, उसी तरह वहाँ यह भी गत सप्ताह सिद्ध हो गया कि वह

क्या नहीं कर सकता। मानवी मन की वर्तमान स्थिति में अप्रत्यक्ष प्रतिकार से सारे निर्णय हो पाना असंभव है। उस मत को सत्य के सिद्धांत की अपेक्षा अभी भी बल की शक्ति से ही सारे निर्णय करने की आदत लगी है। इसलिए शक्ति के, शारीरिक शक्ति के, सैनिक शक्ति के अभाव में अप्रत्यक्ष प्रतिकार किस तरह दुर्बल पड़ जाता है, यह फ्रांस में बहुत अच्छी तरह सिद्ध हो गया है। अप्रत्यक्ष प्रतिकार से सारे काम हो जाएँगे, ऐसा समझनेवाले नेताओं को दूसरे प्रदेशों से लाए गए सैनिकों द्वारा पकड़ा गया। सारा दक्षिण सैनिकों ने घेर लिया, वहाँ सैनिक प्रशासन चालू हो गया। भाषणबाजी और सभाएँ बंद हो गईं। यह आशा भी नष्ट हो गई कि केवल धौंस से ही सरकार घबरा जाएगी अर्थात् लोगों ने भी शस्त्र हाथ में लिये। अपने अप्रत्यक्ष प्रतिकार का त्यागकर वे प्रत्यक्ष प्रतिकार करने लगे। अब दो-दो हाथ करने का अंतिम निर्णय क्या होता है, यह उन उभय पक्षों की दंडशक्ति पर निर्भर हो गया है। अर्थात् अप्रत्यक्ष प्रतिकार के पीछे भी सैनिक बल हो, तभी वह सफल होता है, वरना इस अप्रत्यक्ष प्रतिकार की भी दुर्बलता से पराजय होती है, यह सप्रयोग सिद्ध किया गया।

सामान्यतया विचार करें तो भी यही सिद्ध होता है। अप्रत्यक्ष प्रतिकार में हर व्यक्ति अति उदात्त हो जाएगा, यह मानकर चला जाता है। सारे लोग सरकारी नौकरियाँ छोड़ देंगे, यह उसका मूलारंभ होता है। परंतु दरिद्रता से निष्कांचन हुए लोगों में इच्छा हो, तो भी इतनी उच्च स्वार्थ परावृत्ति पर टिके रहने की शक्ति नहीं होती। दूसरी बात यह कि अप्रत्यक्ष प्रतिकार में विरोधी पक्ष भी उदात्त ही होगा, वह कानून नहीं बनाएगा—यह मानकर ही चला जाता है, पर यह बात पूरी तरह असंभव है। लोक-संपत्ति के विरुद्ध कोई चाहे जितना नीच होता हो, वह समय पर नए कानून बनाकर या पुराने कानून उखाड़कर लोकमत और उसके अप्रत्यक्ष प्रतिकार को बल से दबा देने जितना क्रूर भी होता है। इंग्लैंड में 'हम कर नहीं देंगे' ऐसा कुछ महिलाओं के कहते ही उन्हें सरकार ने उठाकर जेल में फेंक दिया। फिर भी अंग्रेज महिलाओं और अंग्रेज पुरुषों का यह प्रेम-कलह है। हड़ताल कर निजी मिल-मालिकों को भी होश में लाना मजदूरों को कठिन हो जाता है। फिर, जिस सरकार को धन, सेना और शस्त्रों का सबलत्व प्राप्त है, वह सरकार अप्रत्यक्ष प्रतिकार के सामने क्यों झुकेगी भला!

फ्रांस के इस अनुभव से विश्व ने जो पाठ पढ़ा है, वही पाठ अपने पुराणों की एक कथा में बहुत चुटीले ढंग से दिया गया है। वह यों है—वशिष्ठ से उनकी कामधेनु को विश्वामित्र ने माँगा। वशिष्ठ ऋषि ने उसे विश्वामित्र को नहीं देने के लिए बहुत बहाने बनाए। फिर भी विश्वामित्र अड़ा रहा। तब वशिष्ठ ने अप्रत्यक्ष

प्रतिकार के सिद्धांतों के अनुसार कम-से-कम उन्हें सहायता नहीं करने का निश्चय किया। मैं अपनी कामधेनु को ऐसा नहीं कह सकता कि 'तू जा'। मैं उसे छोड़ूँगा भी नहीं। मैं उसे ले जाने के लिए तुम्हें कोई मदद नहीं दूँगा—इतना कहकर वह तपोधनी ऋषि खड़ा रहा। फिर विश्वामित्र ने उस कामधेनु को छुड़ाने के लिए अपने सैनिकों को आदेश दिए। सारांश यह कि युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो गई और तब कामधेनु ने स्वयं में छिपे हजारों सैनिकों के बल पर अपनी रक्षा की।

१९ जुलाई, १९०७

प्रकाश और अंधकार

लंदन : मानव इतिहास बहुत रहस्यपूर्ण है। इतिहास की इस कथा-बहुलता के कारण उसके परिणाम सही रीति से समझ सकनेवाला व्यक्ति विरल ही होता है। जैसे त्रिकाल ज्ञान मनुष्य को प्राप्त नहीं है, उसी तरह प्रत्येक बात का अंत समझने की शक्ति भी मनुष्य को नहीं दी गई है। परसों पुर्तगाल के राजा एवं युवराज की हत्या गोलियों से कर दी गई। रूस के जार और इंग्लैंड के राजा ने सहानुभूति के तार भेजे। युवराज का छोटा भाई गद्दी पर बैठा। फ्रांस की प्रतिनिधि-सभा में सहानुभूति के प्रस्ताव पर चर्चा चल रही थी, साम्राज्य-सत्तावादी प्रतिनिधियों ने कहा कि पुर्तगाल के राजा एवं युवराज के खून के मूल में खूनीपन के अतिरिक्त अधिक महत्त्व के कारण छिपे हैं और उन कारणों का संबंध लोकसत्तावादियों से है। इसलिए उनके द्वारा सहानुभूति के प्रस्ताव का विरोध किए जाने से सहानुभूतिवालों को नीचा देखना पड़ा। पुर्तगाल के अनियंत्रित प्रधान (Dictator) फ्रांको ने त्याग-पत्र दिया और जो नया संयुक्त मंत्रिमंडल नियुक्त हुआ, उसके मुखिया ने छोटे राजा से आग्रहपूर्वक कहा कि यदि मुझे एक सौ तीस प्रतिनिधियों को सीमा पार करने की अनुज्ञा मिलती है तो राज्य में जल्दी ही शांति बहाल हो जाएगी।

इस तरह के समाचार प्राप्त हुए हैं। राजा व युवराज की हत्याएँ क्यों हुईं? ये किसने की? इनके पीछे क्या किसी लोकपक्ष का हाथ था? हत्या तो हो गई, अब उससे उस पक्ष की हानि होगी या लाभ होगा? जार और इंग्लैंड के राजा ने सहानुभूति के तार भेजे—इसके पीछे क्या इंगित है? यह बात मानव-हृदय को धक्का लगनेवाली हुई या आह्लाद एवं उत्साह बढ़ानेवाली? आदि प्रश्न उठते हैं। हत्या क्यों हुई, इसका कारण खोजने पर ऐसा दिखाई देता है कि राजा ने हाल ही में सीधी राज-पद्धति छोड़कर पुर्तगाल की शांति बनाए रखने के लिए एक अनियंत्रित प्रधान नियुक्त किया था। पुर्तगाल की अशांति का कारण वही है और रहेगा, जो लोकपक्ष की अशांति का कारण सारे देशों में है। लोगों को यह नौटंकी नहीं चाहिए।

लोगों को अब सिंहासन पर बैठाने के लिए गुड़िया या भैंसा नहीं चाहिए। लोगों की सहमति के बिना एक या कुछ दुष्टाचार्यों के हाथों में अधिकार सिमटकर आ जाए तो कभी-न-कभी उसका परिणाम ऐसा ही होगा। रात बीतने पर भोर होगी। लोगों को मार-पीटकर, दबाकर अज्ञान में रखा, तो भी जब तक सज्जन हैं, तब तक यह अज्ञान चिरकाल तक रहेगा, ऐसा डर बेकार है। ज्ञानार्जन एवं ज्ञानदान निरंतर करते रहना कर्तव्य का प्रारंभ है। यह प्रारंभ जो लोग करेंगे, वे संत सज्जन लोगों के सामने सत्य-असत्य रखने का काम निरंतर करते रहेंगे और सत्य-असत्य लोगों के सामने रखने का अर्थ है सत्य पक्ष को उठाए रखना और असत्य का बड़प्पन कम करना। यह स्वभावत: सत्यशील समाज करता ही रहता है।

पुर्तगाल में जो घटनाएँ हुई हैं, उनमें द्वंद्व का, सत्य-असत्य के इस द्वंद्व का प्रतिबिंब स्पष्ट दिखता है। लोक समाज को डरानेवाला या उसके सीने पर बैठनेवाला भैंसा जिस तरह शत्रुवत् हो गया है, उसी तरह से काइयाँ सूत्रधार के हाथों नाचती एवं राजा के शब्द से संचालित होती गुड़िया भी शत्रुवत् हो गई है। सत्ता एक राजा के हाथ में हो या अनेक राजाओं के हाथों में, जब तक वह लोगों के हाथों में नहीं है, तब तक इस शासन-पद्धति से लोगों का वैर रहेगा ही। इससे लोकसत्तात्मक पद्धति अर्थात् बिलकुल निर्दोष पद्धति, ऐसी जो सामान्य जनों की समझ है—यह सिद्धांत भी माना तो वह गलत है। लोगों को, बहुजन समाज को पूर्णत: ज्ञात है कि लोकसत्ता पद्धति में भी दोष हैं, क्योंकि निर्दोष पद्धति इस दोषयुक्त मानव स्वभाव के व्यवहार में मिलेगी नहीं। ऐसा होने से अनेक शासन-पद्धतियों में सबसे कम दोषयुक्त पद्धति आज के दिन में कौन सी है, उसे खोजकर उसका समर्थन करना है, ऐसा सामान्य लोकमत उन्हें हमेशा कहता रहता है। यूरोप में संत सज्जनों के सतत परिश्रम से लोगों को शासन-पद्धति की लोक-शिक्षा प्राप्त हुई है। यूरोपीय लोगों को राजा, सरदार आदि असमतादर्शक शब्द भी कड़वे लगने लगे हैं। उनकी दौड़ मनुष्य-समता की ओर है और वह उनकी दौड़ (संत सज्जनों के अव्याहत परिश्रम से, लोगों के मन में यह श्रेष्ठ समता-बुद्धि उत्पन्न हुई है) हमारे पेट की विरोधी है, हमारे आनंद लूटने के अधिकार के विरुद्ध है—ऐसा राजाओं, सरदार आदि उपभोग से बिगड़े स्वयंमन्य श्रेष्ठियों को पूरी तरह ज्ञात हो चुका है। कौन बलवान है, यह स्वतंत्र-विहारी काल निश्चित करेगा। गत काल ने इतना तो तय किया ही है कि जिस-जिस स्थान पर लोगों को संत सज्जनों द्वारा शासन-पद्धति का पाठ पढ़ाया गया, उस-उस स्थान से स्वयंमन्य श्रेष्ठों की अनधिक हार हुई। हमें यह सिखाने के लिए इंग्लैंड और फ्रांस का इतिहास काफी है।

हाँ, फिर भी पुर्तगाल में जो घटनाएँ हुईं, उनके मूल में लोक एवं लोकशत्रु

के चिरकालीन द्वंद्व का संबंध है, ऐसा हमें लगता है। मुख्य प्रधान ने ऐसा स्पष्ट कहा है कि एक सौ तीस लोगों के सीमा-पार करने से देश में शांति हो जाएगी। इससे हमारे विचार की सत्यता सिद्ध होती है। जार के और इंग्लैंड के राजा के हृदय को उस समय बहुत बड़ा धक्का लगा, जब फ्रांस की प्रतिनिधि-सभा में सहानुभूति का प्रस्ताव पारित नहीं हो सका। ये बातें भी हमारे विचार का समर्थन करती हैं। लोगों के मन का अँधियारा कम और प्रकाश अधिक हो रहा है, यह देखकर हमारे मन का उत्साह बढ़ रहा है। राजा के मन को धक्का लगते ही प्रजाजनों के मन को भी धक्का लगना चाहिए, ऐसा राजा अर्थात् देश माननेवाले मुकुटधारियों को लगना स्वाभाविक है। राजा के साथ ही उसकी बगल के बच्चे (चमचे) और आश्रित भी रोएँ, यह सृष्टि के नियमानुसार ही है। राजा रोए, राजाश्रित रोएँ। उनके रोने से लोगों का हृदय पसीजने के दिन चले गए। यह हम बहुत आनंद की बात समझते हैं।

सृष्टि क्रांतिशास्त्र के सामान्य नियम मानवी हृदय के विकास में सहज ही लागू होते हैं। इन नियमों के अनुसार पहले जो हृदय केवल व्यक्ति को पहचानता है (वह व्यक्ति स्वयं हो या राजा आदि हो), वही धीरे-धीरे समाज, राष्ट्र और मानवमात्र को पहचानने लगता है और वैसे-वैसे मानवी हृदय का एक से बढ़कर एक विस्तृत लोकसमूह से स्नेह बढ़ने लगता है, जैसे-जैसे उसकी वृत्तियाँ अधिक गंभीर होने लगती हैं, व्यक्ति के अभ्युदय या पराभव की वार्त्ता सुनकर ही वह हृदय हिलोरें नहीं लेने लगता। मुझे मान्य ऐसे विस्तृत लोकसमूह के हित-अहित से अभ्युदय-पराभव का क्या संबंध है, यह प्रश्न एकाएक मन में आ जाता है और हृदय का उड़ना या आह्लाद से नर्तन करना, यह मान्य लोकपक्ष के मानभंग या विजय पर निर्भर करता है। पुर्तगाल का समाचार मानव-हित का आकांक्षी होने से हृदय के लिए आह्लादजनक है, क्योंकि लोकपक्ष द्वारा अपने शत्रु पर हमला करने की घटना मन के लिए अति उत्साहजनक है। निंदनीय राजमुकुट का पुर्तगाल में हुए मानभंग का वहाँ के लोकपक्ष के आज के कार्य का परिणाम कैसा होगा, इसकी आज ही भविष्यवाणी करने की अपेक्षा कुछ दिनों तक घटित होनेवाली बातों पर नजर गड़ाकर देखते रहना ही श्रेयस्कर है। आज अवश्य निश्चय से इतना कहा जा सकता है कि सारे देश के लोकपक्ष में इस राजमुकुट के मानभंग से उत्साह संचरित हुआ है। ये प्रकाश के चिह्न हैं—ये अँधियारा दूर होते जाने के चिह्न हैं।

उपर्युक्त बातें लिखने के दो दिन बाद जो समाचार लंदन आए हैं, उससे राजमुकुट को दिए हुए दंड का सुपरिणाम देश पर हुआ है, ऐसा स्पष्ट दिखता है। लोकसत्तावादी प्रमुख प्रतिनिधियों को भी कारावास से मुक्त कर दिया गया है। छोटे राजा ने वचन दिया है कि मैं अनियंत्रित प्रधान की नियुक्ति कभी नहीं करूँगा।

मंत्रिमंडल में सभी पार्टियों के लोग हैं। भवंति न भवति होकर श्रेष्ठों की सभा (House of peers) का अध्यक्ष प्रगतिशील (Progressive) पार्टी का होना चाहिए। ऐसा तय होने पर 'लोकांस फाल्काओ' नामक प्रमुख व्यक्ति अध्यक्ष नियुक्त किया गया है। परसों के अनियंत्रित प्रधान 'फ्रांको' को नई सरकार ने लिस्बन से निकल जाने की सिफारिश की। इसलिए वह लिस्बन छोड़कर मैंड्रिड चला गया है। उसने अपना सारा धन पुर्तगाली बैंकों से निकालकर फ्रांसीसी और अंग्रेजी बैंकों में रख दिया है और वह स्वयं स्विट्जरलैंड में जाकर रहनेवाला है। लोकसत्तावादियों के नेता माकाडो ने जोर देकर कहा है कि पुर्तगाल की राजसत्ता बूढ़ी होकर मृत्युमार्ग की ओर बढ़ रही है। नया मंत्रिमंडल 'कर्ता' आदमियों का है और वे राजसत्ता बनाए रखने का प्रयास करेंगे, पर उसे किसी भी वैद्य की औषधि नहीं चाहिए। तीन वर्ष में राजसत्ता का नाश होगा और उसका स्थान लोकसत्ता ले लेगी। हम 'तथास्तु' कहकर आशीर्वाद दें। हिंदुस्थान, तेरा क्या होगा रे!

२८ फरवरी, १९०८

लंदन में पहला शिवाजी-जन्मोत्सव

लंदन : मनुष्य मरता है परंतु उसके सद्कर्म जीवित रहते हैं। सद्कर्म इस मर्त्य विश्व में अमरत्व प्रदान करनेवाले अपूर्व रसायन हैं। वह सद्कर्म लेश मात्र भी करना आत्मा का अमरत्व सिद्ध करता है। फिर जिसने सद्कर्मों के उत्कर्ष स्थान पर बैठनेवाली स्वदेश-स्वतंत्रता की प्रस्थापना की, उस महात्मा शिवभूप का नाम हर आनेवाले वर्ष में अमरत्व का ताम्रपट प्राप्त करता आ रहा है, इसमें क्या आश्चर्य? शिवनेरी के पहाड़ में सन् १६२७ में जन्मा बालक सन् १९०८ में जीवित है। तरुणाई में है, दिग्विजय में मग्न है। प्रतिवर्ष नए समुद्र पदाक्रांत कर रहा है, नए किनारे पकड़ रहा है, नवीन भाषा को मोहित कर रहा है और नए कंठों से हृदय में, वाङ्मय में, उसके सिंहासन और उसके कर्तव्य की जय-जयकार होती जा रही है। मृत्यु का पाश कोई तोड़ना चाहता है क्या? क्या काल के बराबर का अमर्यादित अमरत्व किसीको चाहिए? चाहिए, तो एक उपाय है और वह है—स्वदेश की स्वतंत्रता के रणमैदान में वह 'हर! हर!!' बोले। कभी भी मृत्यु न आने का एक साधन अर्थात् स्वदेश की स्वतंत्रता के लिए तत्काल मरण!

ऐसा न मरने के लिए जो मरा, उस शिवभूप की जय-जयकार से लंदन नगर गत सप्ताह प्रथम बार निनादित रहा। यहाँ की 'फ्री इंडिया सोसायटी' के द्वारा गत शनिवार को शिवाजी का जन्मोत्सव मनाया गया। उच्चासन स्थित उनकी मूर्ति के आगे और उनके स्वतंत्र ध्वज के नीचे मद्रास, बंगाल, बंबई, पंजाब—सारी दिशाओं

के हिंदू, मुसलमान, पारसी, यहूदी आदि सारे धर्मों के भारतीय लोग शिवभूप की पूजा कर रहे थे। ऐसे उत्सव और ऐसे प्रसंग असंभव भारतीय राष्ट्र-एकता की मूर्त संभावना है। देशभक्त आयर (बी.ए.) ने शिवाजी के चरित्र का सैद्धांतिक स्वरूप रखते हुए कहा कि शिवाजी जैसी विभूति का जन्म इस बात का प्रथित गर्जन करता है कि हमारी आर्य जाति अभी भी वेदकाल जितनी ही और आवश्यक हो तो उससे भी अधिक चैतन्य से युक्त है। जो शिवाजी उस समय मुसलमानों के विरुद्ध लड़ा, वही शिवाजी न्यायी मुसलमानों की ओर से भी लड़ा होता, क्योंकि शिवाजी का लड़ना किसी विशिष्ट जाति के विरुद्ध न होकर अन्याय के विरुद्ध है। वह दासता के विरुद्ध है, गुलामी के विरुद्ध है। जिस मराठी तरकस से ये वाण निकले, उसी मराठी तरकस से ऐसे और भी वाण कब निकलेंगे, यह हम सब हिंदुस्थानवासी शिवाजी की महाराष्ट्र भूमि की ओर अति विह्वल होकर देख रहे हैं। देशभक्त आयर की तरह ही देशभक्त येरुलकर (यहूदी), देशभक्त मास्तर (पारसी) आदि व्यक्तियों ने भी वक्तृत्वपूर्ण स्तुति से श्री शिवराय का सम्मान किया। अध्यक्ष के नाते अंत में श्री सावरकर का अनधिक एक घंटा भाषण हो जाने पर शिवभूप की स्वतंत्रता की जय-जयकार करते हुए लोग वहाँ से गए। इस उत्सव का श्रेय श्री देशमुख, श्री रत्नभू (मद्रास) आदि को जाता है।

श्री शिवाजी की जय-जयकार से हिंदुस्थानवासियों के मन जब अभिमान से भर रहे थे, तब इंग्लैंड की रंगभूमि पर चल रहे विद्रोह के नाटक से उनके मन गुस्से से तप्त भी हो रहे थे। सन् १८५७ के विद्रोह के पचास वर्ष पूरे हो जाने से इंग्लैंड में उसका स्मरण बड़े जोर से अंग्रेजों की नींद उड़ा रहा है। लॉर्ड रॉबर्टसन द्वारा अंग्रेजी वेटरन्स के लिए निकाले गए फंड की बात हिंदुस्थान ने सुनी होगी। उस फंड की जागृति का परिणाम आजकल इंग्लैंड की कितनी ही रंगभूमियों पर दिखने लगा है। 'सन् १८५७ का विद्रोह' नामक एक नाटक अनेक स्थानों पर आजकल खेला जा रहा है। उसमें प्रथम विद्रोह की गुप्त सभाएँ दिखाई जाती हैं। फिरंगियों को हिंदुस्थान से भगा दो—ऐसा उपदेश देने के बाद विद्रोह प्रारंभ होता है और बहादुरशाह आता है। सारे विद्रोही उसके सिर पर हिंदुस्थान का राजमुकुट रखते हैं। जब यह सब चल रहा होता है, तभी सारे अंग्रेज 'धिक्कार-धिक्कार' चिल्लाते हैं। फिर कानपुर का कत्ल होता है। विद्रोही 'फिरंगी फिरंगी' कहते नाश का जबड़ा खोलते हैं। फिर हिंदुस्थान का स्वतंत्र निशान फहराते विद्रोही जुलूस निकालते हैं। यह देखते ही अंग्रेजी दर्शक गुस्से से चिल्ला पड़ते हैं। अंत में बहुत-सी लड़ाइयाँ करके विद्रोहियों को तोपों से उड़ा दिया जाता है, उनका बुरा हाल किया जाता है, तब अंग्रेज दर्शक तालियाँ पीट-पीटकर खुशी दर्शाते हैं।

इस विद्रोह के नाटक से अंग्रेजों की मनोवृत्तियाँ बहुत संतोष पा रही हैं, परंतु इस कारण भारतीय लोगों की यह जान लेने की उत्सुकता बढ़ रही है कि सन् १८५७ का विद्रोह क्या था। उसका फल अगले सप्ताह होनेवाले सन् १८५७ की वर्षगाँठ के उत्सव में दिख जाएगा। बड़ा भारी यह उत्सव १० मई को करने की तैयारी चल रही है। उसका समाचार अगले समाचारपत्र में पाठकों को सूचित किया जाएगा। उस उत्सव की आमंत्रण-पत्रिका एवं कार्यक्रम-पत्रिका आगे दी हुई है—(मूल अंग्रेजी में थी)।

वंदे मातरम्

१८५७ के भारतीय
राष्ट्रीय विद्रोह की
स्मृति में
इंग्लैंड के भारतीय
लोगों की एक सभा
इंडिया हाउस
६५ क्रॉम्वेल चौक
हायगेट (उत्तर) में
रविवार दिनांक १० मई, १९०८ को
दोपहर ४ बजे होगी।
आप अपने भारतीय
मित्रों के साथ उपस्थित रहें
यह साग्रह निवेदन है।

कार्यक्रम

१. राष्ट्रीय गीत
२. राष्ट्रीय प्रार्थना
३. बादशाह बहादुरशाह
   श्रीमंत नाना साहब
   रानी लक्ष्मीबाई
   मौ. अहमदशाह
   राजा कुँवर सिंह
   और अन्य शहीदों
   का स्मरण तथा श्रद्धांजलि

४. स्वार्थ-त्याग की प्रतिज्ञा
५. अध्यक्ष का भाषण
६. प्रसाद-वितरण
७. राष्ट्रगीत

२९ मई, १९०८

सन् १८५७ के स्वतंत्रता-संग्राम की स्वर्ण जयंती

लंदन : इंग्लैंड में रह रहे भारतीयों में गत सप्ताह ऐसी विलक्षण भाग-दौड़ मची हुई थी, जैसी आज तक कभी भी नहीं देखी गई। सन् १८५७ के स्वतंत्रता-संग्राम की वर्षगाँठ जैसे-जैसे पास आ रही है, वैसे-वैसे भारतीय लोगों में वह जन्मोत्सव अपूर्व ठाठ से मनाने की स्फूर्ति बढ़ती जा रही है। मई माह प्रारंभ होते ही गली-गली से भारतीय लोगों की टोलियाँ एकत्र होकर उन्हें जन्मोत्सव का महत्त्व, उसके लिए किए जानेवाले स्वार्थ-त्याग का तपस्या मास, उस समारंभ का कुल कार्यक्रम, सन् १८५७ के स्वतंत्रता-संग्राम का वास्तविक रूप आदि बातें वर्णित की जा रही थीं, भूमिकास्वरूप छोटी-छोटी सभाएँ की जा रही थीं और उत्साही देशसेवक उपदेश देते फिर रहे थे।

कार्यक्रम का विवरण देने प्रत्यक्ष होनेवाली गली-गली की सभाओं का प्रवाह इकट्ठा होता रहा। अंत में १० मई के पुण्य दिन तक बना प्रचंड और संगठित वह प्रवाह इंडिया हाउस की ओर बढ़ा, क्योंकि इंडिया हाउस हॉल में ही दिनांक १० मई की वह विशाल सभा आयोजित थी। कार्यक्रम के लिए वह हॉल बहुत ही सुंदरता से सजाया गया था। श्रोता-समूह के सामने एक भव्य रक्तरंजित वस्त्र लगाया गया था। उसपर पुष्पमाला की लड़ियाँ गुथी हुई थीं और उन नानाविध तथा रंग के पुष्प-मंडप में आधा फुट मोटे अक्षरों से सुनहरे, हरे, श्वेत और गुलाबी रंग में राजा बहादुरशाह, श्रीमंत नाना साहब, रानी लक्ष्मीबाई, मौलवी अहमदशाह, राजा कुँवर सिंह एवं सन् १८५७ में लड़नेवाले अन्य अनेक योद्धाओं के नाम अभिनंदनार्थ स्मृति के रूप में लिखे गए थे। इस भव्य स्मृति-पट के चारों ओर विभिन्न देशभक्तों के चित्र भी लगाए गए थे और उस हॉल में मनोहर पुष्पों के छोटे गुच्छे चारों ओर खुले रखे गए थे। अगरबत्तियों की सुगंध के गहरे परिमल के साथ देशभक्त वर्मा के राष्ट्रगीत-गायन से सब ओर उदात्त स्फूर्ति का संचार हो रहा था। 'वंदे मातरम्' के घोष से वह रास्ता गूँजा ही था कि सभा में ठीक ४ बजे कुछ चुने लोगों के साथ अध्यक्ष ने प्रवेश किया। अध्यक्ष कोई अन्य नहीं था, पेरिस के प्रसिद्ध देशभक्त राणा साहब ही थे। वे पेरिस से विशेषकर इसी समारोह के लिए आए थे। वहाँ से उनके

साथ अन्य लोग भी आए थे और उन सबके आगमन से समारोह में विशेष शोभा छा गई थी। प्रख्यात देशभक्त विदुषी श्रीमती कामा का एक स्फूर्तिदायक पत्र भी अध्यक्ष के साथ ही लाया गया था।

राष्ट्रीय गीत का गायन हो जाने के बाद देशभक्त आयर बी.ए. ने राष्ट्रीय प्रार्थना का गायन किया। इस समय तक लोगों की इतनी भीड़ हो गई कि हॉल के बाहर रास्तों पर लोगों को खड़ा रहना पड़ा। कैंब्रिज, ऑक्सफोर्ड, सारेंसेस्टर, रेडिंग ऐसे-ऐसे दूर से भारतीय लोग इस सभा में आए थे। वे सब लोग देशभक्त भारतीय महिलाओं के आगमन से एवं राष्ट्रगीत के गायन से उत्साह से भर गए। राष्ट्र-प्रार्थना हो जाने के बाद राजा बहादुरशाह एवं श्रीमंत नाना साहब का स्मृति-गौरव करने के लिए देशभक्त सावरकर ने सन् १८५७ के क्रांति-इतिहास का स्वरूप स्पष्ट करते हुए भाषण दिया। उसके बाद 'वंदे मातरम्' के घोष के साथ सारी सभा खड़ी हो गई। उसने उन उभय वीरों के नामों का जयघोष तीन बार किया। देशभक्त खान ने राजा कुँवर सिंह का स्मृति-गौरव किया। देशभक्त दास, बी.ए. ने रानी लक्ष्मीबाई, मास्तर (पारसी), देशभक्त येरुलक (यहूदी) एवं अन्य वक्ताओं द्वारा अन्य देशवीरों का स्मृति-गौरव प्रदर्शित करने के बाद अध्यक्ष का उत्साहवर्धक भाषण हुआ, जिसके अंत में स्वार्थ-त्याग की शपथ ली गई। जब डॉक्टर, लीडर, बैरिस्टर, एडिटर, विश्वविद्यालय के उपाधिधारी, व्यापारी, मोतीवाले, तरुण एवं वृद्ध, स्त्री-पुरुष— सभी एक के बाद एक स्वार्थ-त्याग की प्रतिज्ञा करने लगे, तब सबका उत्साह अवर्णनीय था। इस तपस्या-मास के लिए विशेष रूप से तैयार की गई वीर स्मृति-मुद्रा सभी लोगों के हृदय पर लटकी थी। किसीने महीना भर उपवास करने की प्रतिज्ञा ली, किसीने मद्यपान छोड़ा, तो किसीने धूम्रपान छोड़ा। महीना भर थिएटर नहीं जाऊँगा, कोई अपव्यय नहीं करूँगा और इस तरह जो बचत होगी, वह सन् १८५७ के देशवीरों के लिए संग्रह-निधि में दे दिया जाएगा। इस फंड की वसूली के लिए पदवीधारियों ने 'भिक्षां देहि' की शपथ ली। विशेषकर बनाई गई झोलियाँ लेकर ये राष्ट्रीय भिखारी सप्ताह भर घर-घर में भिक्षा माँगते रहे। इस कारण राजनीतिक चर्चा के पारायण इंग्लैंड के हर घर में होते रहे। फंड के लिए श्रीमती कामा ने पचहत्तर रुपए भेजे, उसका उल्लेख वहीं कर दिया गया। देशभक्त राणा ने भी मई माह की अपनी सारी कमाई देशवीरों के लिए अर्पित की। ऐसी अन्य और स्वार्थ-त्याग की विधि संपन्न हो जाने के बाद श्रीमती दत्त नामक एक विदुषी ने फिर से राष्ट्रगीत गाया। प्रसाद के लिए बनाई गई चपातियाँ बाँटी गईं। (चपातियाँ ही प्रसाद के तौर पर इसलिए बाँटी गईं कि सन् १८५७ के क्रांतियुद्ध के पहले ऐसी ही चपातियाँ देश भर में गुप्त रूप से बाँटी गई थीं।) 'वंदे मातरम्' के जयघोष और देशवीरों के स्मृतिघोष के साथ वह

अभूतपूर्व सभा विसर्जित हुई। इतना बड़ा भारतीय समाज और इतना उत्साह इससे पूर्व लंदन शहर में किसीने देखा हो, ऐसा किसीको भी स्मरण नहीं।

५ जून, १९०८

अलंकरण समारोह

सन् १८५७ के देशवीरों के सम्मान के लिए स्मृति-मुद्रा धारण करने के कारण यहाँ के देशभक्त हरनाम सिंह बी.ए. तथा देशभक्त खान आर.एम., इन दो युवकों ने अपनी पढ़ाई छोड़ दी और जिस कॉलेज के प्राचार्य ने सन् १८५७ के नाना और लक्ष्मीबाई को डकैत, खूनी और कसाई कहा, उस कॉलेज में पैर रखने से इनकार कर दिया। ये दोनों विद्यार्थी हिंदू होते तो उनके संबंध में पार्लियामेंट में चर्चा होने लायक कुछ नहीं हुआ होता। परंतु दुर्दैव की बात यह कि उनमें से एक सिख और एक मुसलमान था। सिख और मुसलमान—यही दोनों अंग्रेजी राज्य के ठोस आधार-स्तंभ हैं—ऐसी भावना अंग्रेज लोग जान-बूझकर कर लेते थे। ऐसे मजबूत समझे जानेवाले पेड़ में ही कीड़ा लगा देखकर वहाँ के सारे लोगों को तो जैसे काठ मार गया। उन्होंने उपरोक्त दोनों युवकों से कॉलेज में जाते रहने का निजी आग्रह भी किया। तुम पंजाबी और उसमें भी सिख हो, तुम्हें इस द्वेष-बुद्धि का व्यवहार शोभा नहीं देता। तुम कॉलेज में जाते रहो, हम प्रिंसिपल को फिर से वैसा जंगली व्यवहार नहीं करने के लिए समझा देंगे—उपरोक्त संदेश देनेवाला एक लंबा पत्र पंजाब और बंगाल में उच्च पद पर रहे एक पेंशनभोगी ऐंग्लो-इंडियन ने भेजा था। अन्य लोगों ने भी डराने और लालच देने के प्रयोग किए, परंतु उपरोक्त दोनों कट्टर देशभक्तों ने ऐसे प्रयोग पर बिना डरे और झुके अपने देश के सम्मान के लिए अपने अभिभावकों का गुस्सा भी सहन करने की तैयारी कर ली।

पचास वर्षों में बहुत परिवर्तन हुआ, ऐसा कहा जा सकता है। सन् १८५७ में इन्हीं श्रीमंत नाना एवं बहादुरशाह से सबसे अधिक द्वेष सिखों ने किया था। आज उन्हीं देशवीरों के सम्मान के लिए सबसे अधिक स्वार्थ-त्याग एक सिख ग्रेज्युएट ने ही किया।

ऐसे कड़े व्यवहार के लिए इन तरुणों को जब पार्लियामेंट में एम.पी. गाली दे रहे थे, तब उनका सम्मान करने की तैयारी जनता में चल रही थी और गत सप्ताह इसीलिए एक बड़ा भोज आयोजित किया गया था। उस कार्यक्रम की अध्यक्षता पंजाब के एक प्रसिद्ध कुल की देशभगिनी धनदेवी ने की। सबके बैठ जाने पर 'स्वतंत्र हिंदुस्थान' का पहला टोस्ट लिया गया! फिर दूसरा घूँट 'देशवीरों' के नाम का था और उस अवसर पर दयानंद कॉलेज के प्रोफेसर गोकुलचंद एम.ए. का

भाषण हुआ। उनके द्वारा किया गया सुश्राव्य विवेचन सबके हृदय में उल्लास, आशा एवं देशभक्ति का दिव्य तेज भरता गया। तीसरा घूँट उन दोनों भारतीय तरुणों का था। उसके बाद अध्यक्ष ने देशभक्त हरनाम सिंह बी.ए. एवं देशभक्त खान आर.एम. की कठोर देशभक्ति की प्रशंसा की और उसके लिए उनको लंदन के भारतीय देशबांधवों की ओर से 'यार-ए-हिंद' उपाधि देने की घोषणा की; और फिर ऐसा घोषित किया गया कि उक्त उपाधि उकेरे हुए दो रौप्य पदक उन्हें दिए जा रहे हैं। तत्काल उन दोनों को तालियों की गूँज के बीच वे पदक अर्पित किए गए। अध्यक्ष ने कहा—ऐसी उपाधि देना लोगों का अधिकार है। इतना ही नहीं, अपितु जो स्वदेश द्वारा दी हुई या मानी हुई नहीं हो, वह उपाधि ही नहीं कहलाती। इस अधिकार का बहुत दिनों तक न किया हुआ कार्यान्वयन करने की स्फूर्ति आज इन दो तरुणों ने दिखाई, यह उनके लिए प्रशंसनीय ही है। मेरे तीन लड़के हैं—उन्होंने यदि ऐसी देश-उपाधि प्राप्त की होती तो मैं उनकी माँ हूँ—ऐसा मैं गर्व से कह सकती। अन्यथा विदेशियों द्वारा दी गईं उपाधियाँ इन लड़कों के सीने को चुभती देखने की अपेक्षा तो निःसंतान होना ही अधिक अच्छा है।

३१ जुलाई, १९०८

अच्छा हुआ

लंदन : अब जाकर हिंदुस्थान की राजनीति में थोड़ी-बहुत हलचल शुरू हो गई है, ऐसा कहा जा सकता है। युवा लोग परिवार की क्षुद्र महत्त्वाकांक्षा छोड़कर जब देश के लिए रास्तों पर आ जाते हैं; स्कूली बच्चे माँ-बाप के व्यक्तिपरक, स्वार्थी, निंदनीय एवं अज्ञानमूलक उपदेशों और धमकियों को न मानते हुए जब स्वराज यज्ञ में अपने को झोंकने लगते हैं, जब एक ही समाचारपत्र के तीन-तीन लेखक (संपादक) कारावास में जाते हैं और तभी चार-चार लेखक उस पत्र में लिखने के लिए आगे आते हैं, तब कुछ मामूली हलचल शुरू हो गई है, ऐसा कहा जा सकता है। जब अर्थ-दंड भरने की अपेक्षा कारागृह में जाने के लिए स्वयंसेवक तैयार होते हैं, जब ब्रह्म बांधव उपाध्याय मरते हैं, जब सुशील कुमार सेन सटासट कोड़े खाते समय अपनी पीठ रत्ती भर भी इसलिए नहीं हिलाते या मुद्रा नहीं पलटते कि राष्ट्रीय धैर्य को दाग न लग जाए, जब चिदंबरम् पिल्लै—कुछ और मजूरों को जमानत नहीं मिल रही थी, इसलिए अपने को मिली जमानत पर कारागृह के बाहर आना नहीं चाहते; जब तिलक, परांजपे पकड़े जाते हैं, तब हिंदुस्थान में कुछ आंदोलन की शुरुआत हुई है, ऐसा कहा जा सकता है। मर गई! मर गई!! कहकर विश्व ने जिसके संबंध में अफवाह उड़ाई है, वह भूमाता हिंद-भू धीरे-धीरे ही क्यों

न हो, पर श्वासोच्छ्वास लेने लगी है। परमेश्वर के कितने उपकार हैं!

परंतु हिंद-भू के इस तरह श्वासोच्छ्वास लेना प्रारंभ करते ही चारों ओर एक ही चिल्लपों मच गई। हमारे जो लोग आज तक अनदेखी कर रहे थे या निराश होते थे, वे लोग हम तक दौड़कर आने लगे। कोई पास आए, कोई आने लगे, विश्व में जो अनजाने थे, वे आज तक माने हुए सिद्धांतभूत विचारों की पुनः परीक्षा लेने लगे और उन्होंने 'हिंद-भू मर गई'—इस अफवाह पर विश्वास करना छोड़ दिया। विपक्षियों को तो अधिक ही घबराहट हो गई। उन्हें उनका असत्य चुभने लगा। उन्हें क्षण में लज्जा आती, क्षण में गुस्सा आता, क्षण में डर, क्षण में आशा, क्षण में आश्चर्य, क्षण में निराशा, ऐसी उनके मनोविकारों की दशा हो गई। सारे मत और मतांतर झगड़ने लगे। हिंदुस्थान के समाचार विश्व को ज्ञात कराने के लिए हजारों रुपए देने पर भी इंग्लैंड के जो पत्र हिंदुस्थान पर लेख नहीं लिखते थे, वे पत्र भी हिंदुस्थान के लेखों से भरने लगे। जिन हिंदुस्थानी लोगों का उपयोग प्रदर्शनियों में भीड़ इकट्ठा करने के लिए विदूषक के अभिनय के लिए किया जाता था, उन्हीं हिंदुस्थानी लोगों का दर्जा विदेश में एकदम बढ़ गया और अमेरिका, फ्रांस तथा इंग्लैंड के प्रमुख पत्रों के संवाददाता भारतीय लोगों से मिलने के इच्छुक होने लगे। भारतीय युवाओं का परिचय प्राप्त करने जापानी लेखक सुबह-शाम लंदन के भारतीय होटलों में चक्कर लगाने लगे। हाउस ऑफ कॉमन्स में परसों का सारा दिन हिंदुस्थान की बेचैनी पर चर्चा करते लॉर्ड कर्जन एवं वायकाउंट मोर्ले की कुश्ती में बीत गया। कुश्ती करें-तो मुसीबत और न करें तो भी मुसीबत। लॉर्ड कर्जन हिंदुस्थान के संबंध में घंटे भर तक चर्चा कर सकते हैं और अन्य लोगों को गाली देते हुए यह कह सकते हैं कि पार्लियामेंट में हिंदुस्थान के संबंध में ऐसे प्रश्न न किए जाएँ, जिनसे पार्टी में मतभेद के लक्षण दिखाई देते हों। लॉर्ड मोर्ले फिर से कर्जन पर टीका करते हैं और अंत में संकेत देते हैं, यदि किसीकी बात दूर तक सुनाई देती है तो कोई बोले ही नहीं। न बोलना ही चतुराई और कूटनीति है, यह सिद्ध करने के लिए घंटों बोलना पड़ता है। इधर भारतीय तरुणों का भी जोश बढ़ता ही जा रहा है। इसलिए समाचारपत्र चुप नहीं रह सकते।

सन् १८५७ के समारोह के संबंध में सारे अंग्रेजी समाचारपत्रों ने एक ही बात उठाई है। सन् १८५७ की स्मृति-मुद्रा कोट पर लगाए भारतीय विद्यार्थी ऑक्सफोर्ड, लंदन, सायरेंसेस्टर आदि शहरों में खुले रूप में कॉलेज में जाने लगे, तो उन्हें न रोकना ही उचित समझा गया। परंतु सायरेंसेस्टर के प्राचार्य ने हिम्मत करके यह कहा कि मेरे कॉलेज में इन्हें न पहना जाए। तो क्या हुआ? भारतीय छात्रों ने तत्काल कॉलेज छोड़ दिया। तब प्राचार्य पत्र लिखकर उन छात्रों से कहने लगे कि तुम

कॉलेज में आ जाओ। परंतु छात्रों ने पहले आदेश की तरह ही दूसरे लालच को भी न मानते हुए, उस कॉलेज में फिर से कदम न रखने का दृढ़ निश्चय कर लिया। देशभक्त हरनाम सिंह और देशभक्त खान ने दो वर्षों के श्रम एवं पैसों पर पानी फेर दिया। इस उदाहरण से भारतीय विद्यार्थी शायद डरें, इसलिए रीस एम.पी. ने पार्लियामेंट में प्रश्न पूछा और फटकार लगाई। इससे उत्तेजित होकर भारतीय लोगों ने इन स्वार्थ-त्यागी युवकों के सम्मान में विशाल भोज देकर उन्हें अलंकृत किया।

हिंदुस्थान के उच्च विद्याविभूषित इन युवाओं का ऐसा आचरण देखकर यह कहा जा सकता है कि हिंद-भू हलके-हलके ही सही, परंतु स्पष्ट श्वास लेने लगी है। उसकी मृत्यु की अफवाह स्वयं मर गई। अच्छा हुआ कि उस निराशा में भी हमने आशा नहीं छोड़ी।

७ अगस्त, १९०८

विद्यार्थियों का तेजोभंग

लंदन : हिंदुस्थान के विद्यार्थियों को यथाशीघ्र इंग्लैंड भेजने की माँ-बाप की इच्छा रहती है और यह कल्पना कि अपना राष्ट्र जितनी जल्दी छोड़ दें, उतना उत्तम होनेवाला है। आज तक जिन हिंदुस्थानी मनों में हीन स्थिति और अपमान की कल्पना भी न हो, उन मनों को इंग्लैंड में कुछ भी अपमानबोध नहीं होता था। आज तक हिंदुस्थान की प्राणेंद्रिय में सूक्ष्म विचारों का तीखापन न आने से उसे हीन स्थिति के नरक की बदबू बिलकुल नहीं आती थी, पर राजनीतिक सूक्ष्मता का वह तीखापन अनुभव किए हुए युवा हिंदुस्थान को अब हर क्षण इंग्लैंड जैसे स्वतंत्र हवा के देश में भी हिंदुस्थान के लोगों के लिए सब तरह से हीन स्थिति की बदबू अनुभव हो रही है।

इंग्लैंड में आनेवाले तरुण मन पर पहला जो घातक परिणाम होता है, वह यही तेजोभंग है। उनके राजभवन, उनके झंडे, उनकी नौसेना और उनका वैभव देखकर हताश हिंदुस्थान के हताश तरुणों के हृदय में आत्म-दुर्बलता के बीज अपने विष-भरे जाल फैलाने लगते हैं। असंभव एवं सूक्ष्म विचार कर सकने में असमर्थ वह तरुण-दृष्टि ऊपर की शान-शौकत देखकर डरती है, दचकती है और तेजोभंग के विष-भरे दाँत से निर्जीव हो जाती है। दासता में पड़े लोगों की वास्तविक शिक्षा तेजोभंग ही है, यह जानकर अंग्रेज कूटनीतिज्ञों ने इसीलिए हिंदुस्थान के विद्यार्थियों से उत्तम व्यवहार किया था। आज तक ऊपरी सभ्यता और दिखावटी प्रेम से भारतीय विद्यार्थियों से व्यवहार किया जाता रहा और उस कारण वे विद्यार्थी—इंग्लैंड में अंग्रेज लोग बहुत अच्छे होते हैं, केवल हिंदुस्थान के ऐंग्लो-इंडियन लोग ही

उजड्ड होते हैं—ऐसी मान्यता पाले रहे हैं। भारतीय विद्यार्थियों के मन में आत्म-दुर्बलता और बुद्धि में अंग्रेजी सौजन्य का मिथ्याभास, ऐसी ठगी होती है।

परंतु गत दो-तीन वर्षों से इस दृश्य से न डरनेवाली हिंदुस्थान की आम जागृति होते ही ध्यान में नहीं आती थी, वह ठगी अब दिखने लगी है जो पहले एक ही कॉलेज या क्लब में कोई अंग्रेज विद्यार्थी प्रश्न करे और वह प्रश्न कितना ही मूर्खतापूर्ण क्यों न हो—प्रोफेसर आधे-आधे घंटे तक उस विद्यार्थी का समाधान करते हैं। पर भारतीय विद्यार्थी कितना ही चुटीला प्रश्न करे, उसे बहला दिया जाता है। राजनीतिक सूक्ष्मता आने के बाद भारतीयों को अब यह समझ में आने लगा है। कैंब्रिज जैसे स्थान पर भारतीय विद्यार्थियों को जान-बूझकर प्रवेश न देनेवाले कॉलेज खुल रहे हैं। एडिनबरो में सारे विद्यार्थियों को नियंत्रण में रखने के लिए अंग्रेजों के अधीन छात्रावास खोले गए। उनका पहला नियम यह है कि यहाँ के विद्यार्थी राजनीति की कोई चर्चा नहीं कर सकते, जबकि वहाँ के गाँव के स्कूलों में भी छोटे-छोटे बच्चों को राजनीतिक शिक्षा दी जाती है। भारतीय तरुणों में से ग्रैज्युएट भी राजनीतिक चर्चा न करें तो इंग्लैंड के स्कूलों और हिंदुस्थान के स्कूलों में अंतर ही क्या रहा? हिंदुस्थानी लोगों को दोनों में ही दासता के सिवाय दूसरी शिक्षा एवं अपमान के सिवा दूसरा पुरस्कार क्या मिलेगा? फिर हमारे लोग इंग्लैंड में क्यों आने लगे? उद्योग-धंधों की शिक्षा जापान, जर्मनी तथा अमेरिका में जितनी मिलती है, उतनी इंग्लैंड में नहीं मिलती। विश्व की प्रगति में इंग्लैंड आधी सदी पीछे है। अपने लँगड़े हिंदुस्थान में इंग्लैंड चाहे तेज-तेज चलता हो, फिर भी अमेरिका और जर्मनी ने अपनी गति से उसे कभी का पीछे छोड़ दिया है। आजकल जर्मनी और अमेरिका में इंग्लैंड से विद्यार्थी जाते रहते हैं। तो फिर हम यहाँ पिछड़ी शिक्षा ग्रहण करने के लिए क्यों आएँ? उन देशों में खर्च इंग्लैंड से कम ही पड़ेगा। इसके अतिरिक्त अमेरिका में स्वतंत्र विद्यार्थियों को अपना खर्च चलाने लायक काम भी मिल जाता है। फिर इंग्लैंड में ही आने की यह दरिद्र हौंस लोग कब छोड़ेंगे?

वास्तविक शिक्षा जापान, जर्मनी तथा अमेरिका में ही मिलेगी। शास्त्रीय एवं व्यापार के संबंध की शिक्षा भी वहीं मिलेगी और इससे इंग्लैंड में होनेवाले हमारे तेजोभंग का दंश भी टाला जा सकेगा।

१४ अगस्त, १९०८

लोकमान्य तिलक को काला पानी

लंदन : महाराष्ट्रभूषण, आर्यधर्म के अभिमानी, नीतिमत्तानिपुण एवं स्वदेशभक्त बाल गंगाधर तिलक को काले पानी का दंड दिए जाने के बाद से जिसके हृदय में

गुस्सा नहीं आया और जिसके मस्तिष्क में भयानक आँधियाँ नहीं चलीं—ऐसे सच्चे मन का एक भी भारतीय मिलना असंभव है। व्यापारियों ने अपनी दुकानें बंद रखीं। मिलवालों ने मिलें बंद रखीं। विद्यार्थियों ने स्कूल छोड़े। नागरिकों ने उपवास रखा। देश के कण-कण में सबमें सहानुभूति का ही नहीं, अपितु अकृत्रिम कृतज्ञता का संचार हुआ। बंबई जैसे बकाल बस्ती के शहर में राजनीति से दूर रहते आए लोगों ने हड़तालें कीं। उनके मन दुःखी हो गए—वे गुस्से से पागल हो गए और अपनी जान की परवाह किए बिना यूरोपीयों पर हमला करने लगे। गोलियों की पहली वर्षा से अपनी शस्त्रहीनता और दुर्बलता जानने के बाद भी घर वापस न लौटकर निरंतर आठ दिनों तक वे बंदूकों की गोलियों का सामना पत्थरों से करते रहे।

ऐसे सब तरह के समाचार नित्य तार से (यहाँ लंदन में) आते रहने के कारण यहाँ का समाज विलक्षण रूप से विस्मित हुआ था। राष्ट्रीय विचार किस तरह प्रकट हुआ है—इसका एक नमूना है तिलक को दिए गए दंड पर समाचारपत्रों एवं लेखकों के लेख में दिखती समान वृत्ति की प्रतिक्रियाएँ। आपस में पक्ष-भेद, व्यक्ति-द्वेष एवं मतभिन्नता होते हुए भी राष्ट्र का प्रश्न आते ही व्यक्तित्व एवं अंतर्भिन्नता भूलकर हम १०५ हैं, इस उदात्त तत्त्व का अनुकरण करने तक की राष्ट्रीय मत की प्रगति हुई है। सुधारक, चिकित्सक, वंदे मातरम्, हिंदू, ज्ञानप्रकाश, इंदुप्रकाश, बंगाली, गुजराती, पंजाबी आदि सारे भिन्नमार्गी पंथ-प्रचारकों ने श्रीमंत तिलक को दिए गए दंड के संबंध में जो एकवृत्तिमय एवं निर्मत्सर लेख लिखे हैं, उससे यह स्पष्ट हो रहा है। गरम पक्ष का विरोध करें तो नरम पक्ष की सहानुभूति प्राप्त होगी, इस स्वप्न में खोए देशघाती ऐंग्लो-इंडियन के देशद्रोह के दिन हिंदुस्थान में समाप्ति पर हैं, यह सूचित करने के उद्देश्य से उस उत्कृष्ट अवसर का लाभ लेने के लिए सारे लेखकों की उदात्तता की जितनी प्रशंसा करें, कम है।

ऐसे अवसर की इस स्वयंस्फूर्त राष्ट्रीय एकात्मता को देशभक्त गोपाल कृष्ण गोखले ने नजर न लगाई होती तो कितना अच्छा हुआ होता। तिलक को दंड दिए जाने का समाचार और उस आघात से अप्रभावी रहते हुए कर्तव्य करने की महाराष्ट्र में संचरित अधिक दृढ़ निश्चयात्मकता आदि के समाचार सुनकर इंग्लैंडवासी कुल भारतीय मनुष्यों के मन की स्थिति कुछ अद्‌भुत हो गई थी। जिस महात्मा द्वारा राष्ट्र के लिए सहन की जानेवाली विपत्तियों के कारण आज बंबई सहित पूरे महाराष्ट्र में अपूर्व एकता का संचार हुआ है, उस महात्मा का गुण-वर्णन करने और महाराष्ट्र के प्रति सहानुभूति दर्शाने के लिए इंग्लैंड के भारतीय समाज की ओर से एक सभा होनी ही चाहिए, ऐसी इच्छा हर व्यक्ति की थी। वास्तव में देशभक्त गोखले को इस काम में अगुवाई करनी चाहिए थी, परंतु वे आगे नहीं

आए। फिर भी दोनों (गरम-नरम) पक्षों के लोगों ने सारे भारतीय लोगों की एक सभा आयोजित की। नरम और गरम का भेद मन में किंचित् भी न लाते हुए सभी श्रेणियों एवं मतों के लोग इस सभा में आए थे। बड़ा सभा-स्थान होते हुए भी कैक्स्टन हॉल भारतीय और यूरोपीय स्त्री-पुरुष समाज से भर गया था। अध्यक्ष स्थान पर देशभक्त बैरिस्टर पारीख थे जो नरम दल के अध्वर्यु एवं दादाभाई के समय से ही राजनीति में प्रयासरत व्यक्ति हैं।

इस सभा को गोखले द्वारा सहायता न दिया जाना बहुत ही उद्वेगकारक है। उन्हें अध्यक्ष का स्थान स्वीकारने के लिए जब पूछा गया था, तब उन्होंने उसे अस्वीकार कर दिया था। सभा में दंड का निषेध करने के संबंध में आप कुछ कहेंगे क्या? ऐसा जब उनसे पूछा गया तो वह भी उन्होंने अस्वीकार कर दिया। इतना ही नहीं, उन्होंने उस सभा में उपस्थित होने का कष्ट भी नहीं उठाया। हर सड़ियल साहब के घर की देहरी पर हाजिरी देने को मिले किसी भी अवसर को जो लोग वृथा नहीं गँवाते थे, उन्हें तिलक को मिले दंड के लिए खुला विरोध व्यक्त करने की या वैसी सभा में उपस्थित रहने की आवश्यकता समझ में न आए, ये कोई सौजन्य का निदर्शक नहीं था। देशभक्त गोपालराव गोखले के लिए जो थोड़ा आदर भाव अभी तक लोगों में है, उसके कारण लोग उनकी उपस्थिति-अनुपस्थिति को महत्त्व देते हैं, पर सारे राष्ट्र के स्वयंस्फूर्त विचार एवं मनोवृत्ति को तिलक को सीमा-पार किए जाने के नाजुक अवसर पर ऐसी निरर्थक बाधा उत्पन्न कर उन्होंने कौन सी महत्त्वपूर्ण देशसेवा की, वह गोपालराव को ही ज्ञात होगी।

कैक्स्टन हॉल में हुई उक्त सभा में एकत्र लोगों के मन में उनके इस संदिग्ध एवं अप्रस्तुत व्यवहार के प्रति घृणा उत्पन्न हुई और इस कारण वहाँ पर गोखले की कर्तव्यविमुखता के विरोध में प्रस्ताव पारित किया गया। बंबई में 'ओरिएंटल रिव्यू' नामक समाचारपत्र ने और इंग्लैंड में देशभक्त गोपाल कृष्ण गोखले ने राष्ट्र-स्वर की एकता को जो भंग किया, उससे राष्ट्र का तो क्या, उनका व्यक्तिगत हित साधन हो जाए तो बहुत है।

२१ सितंबर, १९०८

'लंदन टाइम्स' का क्रोध

लंदन : अपने अनेक भोले लोगों को लगता रहता है कि दुर्गुणों की हवा हिंदुस्थान में आनेवाले अंग्रेजों को ही लगी रहती है, किंतु इंग्लैंड के अंग्रेज तो हमेशा न्याय, निर्मत्सरता एवं दयाशीलत्व से भरे होते हैं। गत पचास सालों में हिंदुस्थान की राजनीति को जो नेता निर्जीव, रूखे एवं नाशकारी नरम आंदोलन के

रेगिस्तान में से घसीटते ले गए हैं, अधिकतर उस पक्ष के नेता हमारे देश में उपरोक्त मान्यता प्रचलित करने में कारण सिद्ध हुए हैं। हिंदुस्थान को न्याय न मिले, ऐसा कहनेवाले ऐंग्लो-इंडियन ही होते हैं। बाकी इंग्लैंड का कोई भी सज्जन इसके लिए उत्तरदायी नहीं है। वे तो प्रकृति से ही बहुत न्यायी एवं स्वतंत्रताप्रेमी होते हैं। अत: हिंदुस्थान को ऐंग्लो-इंडियनों की ओर ध्यान न देकर अपनी वास्तविक शिकायतें इंग्लैंड से ही करनी चाहिए, इसीसे हिंदुस्थान का काम हो जाएगा—नरम दल के नेता आज तक अपनी इसी त्रुटिपूर्ण मान्यता को माने रहे और अपने साथ अपने लोगों को भी यह निष्फल आशा का उपदेश देते आए हैं।

वास्तव में हिंदुस्थान में जैसे कुछ ऐंग्लो-इंडियन हमारे लिए बाधा खड़ी करते हैं, उसी तरह स्वयं इंग्लैंड में भी सारे ही अंग्रेज हमारे अनुकूल हैं, ऐसा नहीं है। जैसे लॉर्ड मोर्ले ऐंग्लो-इंडियन हैं या अंग्रेज हैं? हिंदुस्थान को अपने जूते के नीचे पीस डालनेवाले कुछ अधिकारियों का अभिनंदन करनेवाले 'डेली टेलीग्राफ' के संपादक, 'टाइम्स' के संपादक, 'डेली मेल' के संपादक—ये सब ऐंग्लो-इंडियन नहीं, अंग्रेज हैं। और यदि ये सारे अंग्रेज हैं तो फिर हिंदुस्थान के हित की आड़ में कुछ थोड़े ऐंग्लो-इंडियन ही आते हैं, यह मान्यता अनाड़ीपन को ही तो हिलाएगी।

जब तक मदिरासक्त और उदरपरायण रईसों के चार-पाँच जड़बुद्धि लड़के हिंदुस्थान से आते-जाते थे, तब तक इंग्लैंड में भारतीय लोगों को पूर्ण स्वतंत्रता रहती थी। वे चाहे जब जितनी मदिरा सेवन करें, चाहे जब जिस तरह की मौज करें, रास्ते की किसी भी गोरी लड़की को पकड़कर उससे चर्च में या अन्यत्र विवाह करें, इंग्लैंड में भारतीय विद्यार्थियों को पूरी स्वतंत्रता थी। चाहे जिस साहब को चाहे जितना झुककर वे सलाम करें। अंग्रेजी समाज में भारतीय लोगों की मूर्तिपूजा और सती प्रथा के विषय में चाहे जितनी घृणात्मक बातें कहें, घर से आनेवाले पैसे को पानी जैसा बहाएँ और अपने किराये के घर की मालकिन को उसकी संतान सहित चाहे जितनी बार थिएटर में ले जाएँ, अंग्रेजी क्रिकेट क्लब को चाहे जितनी रकम दान में दें, इस सारे व्यवहार में भारतीय विद्यार्थी की व्यवहार-स्वतंत्रता को परतंत्रता का स्पर्श भी न हो! भारतीय विद्यार्थी के दुर्गणों को बढ़ाने के लिए पूरी स्वतंत्रता इंग्लैंड में थी···और अब भी है। उपरोक्त सुख-लंपटता के इर्दगिर्द चक्कर लगाते रहनेवाले चटोरे भारतीय विद्यार्थी जब तक इंग्लैंड में आते थे, तब तक उन्हें मनमाने ढंग से व्यवहार करने दिया जाता था और वे उसी चटोरपने को स्वतंत्रता मानते थे, पर हिंदुस्थान में लौटकर वे इंग्लैंड में भोगी हुई स्वतंत्रता की प्रशंसा करने लगे। इंग्लैंड की हवा ही स्वतंत्र विचार की पोषक है—हिंदुस्थान में अत्याचार करनेवाले कुछ ऐंग्लो-इंडियन ही खराब हैं—इंग्लैंड के शेष सारे लोग उदार हैं, ऐसा विदेश से

लौटे मुट्ठी भर लोग कहते और उनकी वाहियात बातों पर हम विश्वास भी करते।

परंतु जब सुख-लंपटता को लात मारकर देश के लिए चिंताक्रांत विद्यार्थी इंग्लैंड जाने लगे, जिन्होंने देश की स्वतंत्रता के लिए संन्यास ग्रहण कर रखा है, जिन्होंने इस कारण कि अपने अनगिनत देशबंधु भूख से मर रहे हैं, उपवास करने की प्रतिज्ञा की है और व्यक्ति के लिए आवश्यक सुख-साधनों की कमी न होते हुए भी उन साधनों को देशभक्ति की सेवा में अर्पित कर जो जाड़े से बचाते वस्त्र और भूख शांत करते अन्न ग्रहण कर रहे हैं—ऐसी तरुण पीढ़ी का यहाँ आना प्रारंभ होते ही इंग्लैंड में जो मिलता है अर्थात् व्यवहार-स्वातंत्र्य और मत-स्वातंत्र्य, वे दोनों ही मृगमरीचिका हो गए। हिंदुस्थानी विद्यार्थियों के स्वच्छंद व्यवहार पर रोक लगाने के लिए 'टाइम्स' समाचारपत्र से लेकर 'डेली मिरर' तक और लॉर्ड मोर्ले से लेकर रीस साहब तक सब दाँत किटकिटाते आगे बढ़े। इसका कारण यह कहा गया है कि भरतीय तरुणों को अकेला रहने देना उनका चरित्र का घात करनेवाला होगा। जब तक भारतीय युवा दारू पीते, नाचते, तमाशा देखते और लड़कियों के आगे-पीछे घूमते थे, तब तक उनको दी हुई व्यवहार-स्वतंत्रता घातक नहीं थी, पर देशभक्ति की दीवानी में उनको रँगे देखते ही और उनके नेत्रों में ऐयाशी के स्थान पर स्वार्थ-त्याग की लाली दिखाई देते ही उनकी व्यवहार-स्वतंत्रता घातक होने लगी।

इसलिए भारतीय लोगों के इस व्यवहार की जाँच करने के लिए मोर्ले ने लीवॉर्नर, सर कर्जन वायली आदि लोगों की एक समिति निर्मित की थी। उसकी रिपोर्ट अभी हाल में तैयार हो गई। 'लंदन टाइम्स' ने गत मंगलवार को उसे प्रकाशित भी कर दिया। 'लंदन टाइम्स' का वह लेख अनेक दृष्टियों से बहुत महत्त्वपूर्ण है। उसमें लेखक कहता है—'विभिन्न खेलों में स्वेच्छा से भाग लेना, अंग्रेज लोगों में मौज-मस्ती करना, हँसना-बोलना, चाय पीना आदि स्नेह बढ़ानेवाली बातें सिखाने को जो संस्थाएँ अंग्रेजों ने स्थापित की हैं, उनमें किसी भी तरह से भाग न लेकर भारतीय तरुण आजकल राजनीति के मरुस्थल में ही अधिक रहते हैं। इससे हमने उनकी तरुणाई के आनंद को बढ़ाने के लिए जो प्रयास किए हैं, वे सब प्रयास विफल होकर रह जाते हैं, क्योंकि उलटी दिशा से प्रयास करनेवाले उग्र युवा अपनी शक्ति से इन छौने समान युवाओं को राजनीति की ओर खींच लेते हैं। सारे इंग्लैंड में फैले हुए और एडिनबरो में ही १५० तक रहे इन लगभग पाँच सौ भारतीय तरुणों में से १७ मई को इंडिया हाउस में आयोजित 'देशवीर स्मृति' के लिए सौ से अधिक हिंदुस्थानी छात्रों का एकत्र होना ही हमारे कथन की पुष्टि कर रहा है। 'टाइम्स' ने अन्य बिंदुओं पर भी विचार कर विवरण दिया है और अंत में निर्देश दिया है कि सारे

भारतीय विद्यार्थियों को एक ढोर बाड़े में बंद करके उसपर अंग्रेज कड़ी नजर रखें। जल्दी छुट्टियाँ समाप्त होते ही इन इंडियन विद्यार्थियों को राजनिष्ठता के बंदीगृह में बंद किया जाएगा, यह निश्चित है। जो निश्चित नहीं है, वह यह कि क्या ऐसे बंदीगृह में बंद करने से कभी मत-परिवर्तन होंगे?

गत सोमवार को लोकमान्य तिलक के प्रकरण में अपील करने के लिए श्री दादा साहब खापर्डे लंदन आए। उनके आने के केवल तीन घंटे पहले उनके आगमन की सूचना लंदन में मिली। फिर भी जिस स्वतंत्रता-ध्येय का सम्मान दादा साहब करते हैं, उस ध्येय को प्यार करनेवाले यहाँ के भारतीय समाज ने इस नेता का स्वागत करने के लिए तुरंत स्टेशन की ओर दौड़ लगाई। गाड़ी आने के पूर्व ही भारतीय लोग भारी संख्या में प्लेटफार्म पर जमा थे। स्टेशन पर गाड़ी के आते ही और दादा साहब की भव्य मूर्ति दिखते ही जयघोष एवं फूलों से सारा स्टेशन गुंजित तथा शृंगारित हो उठा। दादा साहब के हाथ पर ताजा तार रखा गया जिसमें लिखा था कि कारागृह में ही नरेंद्रनाथ गोस्वामी का खून हो गया। तार पढ़कर दादा साहब सबके प्रति आभार व्यक्त करते हुए अपने निवास पर चले गए।

जिस दिन गोखले लंदन आए, उस दिन तीन-चार भारतीय लोग और शेष ऐंग्लो-इंडियन स्टेशन पर थे और जिस दिन खापर्डे आए, उस दिन वहाँ भारतीय समाज की भारी भीड़ थी—और उसमें एक भी ऐंग्लो-इंडियन नहीं था। लंदन का भारतीय समाज अब किस ध्येय की ओर मुड़ गया है, इसका यह एक और साक्ष्य है।

२५ सितंबर, १९०८

स्वदेशी और इंग्लैंड का व्यापार

लंदन : दो वर्षों तक छिपाकर रखा हुआ सच अंत में आज विश्व के सामने प्रकट करना इंग्लैंड के लिए आवश्यक हो ही गया। हिंदुस्थान में स्वदेशी आंदोलन एवं आयरलैंड में सिनफिन आंदोलन प्रारंभ हो जाने के बाद से इन आंदोलनों का कुछ भी प्रभाव इंग्लैंड के व्यापार पर न पड़ रहा है, न पड़ेगा—ऐसा बड़ी ऐंठ से इन आंदोलनों के कर्ता-धर्ताओं को निराश करने के लिए इंग्लैंड कहता रहा। हिंदुस्थान में स्वदेशी आंदोलन के कारण बाजार में विलायती माल की माँग न होने पर भी अपने निर्यात-व्यापार पर और हिंदुस्थानी माल के आयात पर रत्ती भर भी प्रभाव नहीं हो रहा है, यह दिखाने के लिए दो वर्षों से हिंदुस्थान से माँग नहीं होने के बावजूद माल भेजा जाता रहा। हिंदुस्थान के बाजार में बिक्री न हुई तो भी हर्ज नहीं, परंतु गत वर्ष तक हिंदुस्थान के किनारे पर विलायती माल आने के आँकड़े जैसे-

के-तैसे फुलाकर रखे जाते थे। उधर हिंदुस्थानी मिलों से माल जोरों से बाहर आ रहा था और बाजार में स्वदेशी ही उठ रहा था। परंतु सरकार तक यह कहती रही कि हिंदुस्थान में पहले जितना ही माल आ रहा है। बंदरगाहों के आँकड़े देकर स्वदेशी के नेताओं को निराश किया जाता रहा।

इस परस्पर विरुद्ध बात के अंदर की बात एक ऐंग्लो-इंडियन पत्र ने कुछ दिन पूर्व ही प्रकाशित की थी कि दोनों ही बातें सच हैं। अंतर इतना ही है कि बाजार में स्वदेशी माल अधिक बिक रहा है। फिर भी इंग्लैंड के लोक-समाज को स्वदेशी का झटका लगे, इतना खुला प्रभाव अभी तक दिखा नहीं है। हिंदुस्थान का धन बचाना ही स्वदेशी और बहिष्कार का मुख्य उद्देश्य है। इंग्लैंड का व्यापार डूबा, तभी स्वदेशी आंदोलन सफल हुआ, यह कोई हमारी मान्यता नहीं है। इंग्लैंड भारत छोड़कर किसी अन्य बाजार में जाकर अपना व्यापार बढ़ाए। उसमें स्वदेशी कहाँ बाधक है? इसलिए जब तक हिंदुस्थान में नई मिलें, नए कारखाने, नए व्यवसाय धड़ाधड़ चालू हो रहे हैं, तब तक इंग्लैंड के व्यापार के आँकड़े बढ़ते रहें तो भी स्वदेशी की विजय ही हुई है। परंतु हिंदुस्थान जितना भोला बाजार इंग्लैंड को विश्व में अन्यत्र नहीं मिला था। इस कारण उस बाजार में अंग्रेजी माल कम खप रहा है या नहीं, यह देखने के लिए इंग्लैंड के व्यापार के आँकड़े एक साधन हैं और उस साधन से ही अब यह निर्विवाद सिद्ध हो रहा है कि गत दो वर्षों के प्रयासों से स्वदेशी की विजय हुई है, क्योंकि इंग्लैंड के विदेश-व्यापार के आठ माह के आँकड़े अभी हाल में ही प्रकाशित हुए हैं जिससे स्पष्ट है कि इंग्लैंड के व्यापार को स्वदेशी ने चोट पहुँचाई है। गत आठ माह के विदेशी व्यापार के संबंध में बोर्ड ऑफ ट्रेड कहता है—

OUR FOREIGN TRADE

Decrease of £ 72,000,000 in eight months.

Again we have to record a falling off in trade which is sufficiently serious. Decrease in the imports is £ 42,045,186 and decrease in the exports is £ 30,083,043 making an aggregate shrinkage during the present year of upwards of £ 72,000,000.

इस तरह इंग्लैंड को सात करोड़ पौंड की चोट गत वर्ष बैठी। इंग्लैंड से माल के निर्यात में कितनी कमी हुई, इसके विवरण देते आँकड़े भी महत्त्वपूर्ण हैं—

तेल बीज, तेल गोंद आदि	३.५ लाख पौंड कम
कागज आदि	२ लाख पौंड कम
ऊन आदि	५.५ लाख पौंड कम

लोहे का सामान, पेटियाँ आदि	६.५ लाख पौंड कम
सूती कपड़ा	६.५ लाख पौंड कम
ऊनी कपड़ा	४ लाख पौंड कम
अन्य कपड़ा	३ लाख पौंड कम
चमड़े का सामान	५.५ लाख पौंड कम

उपरोक्त आँकड़ों से यह स्पष्ट है कि इंग्लैंड को बहिष्कार की कितनी चोट सहन करनी पड़ रही है। जहाँ विदेश जानेवाले माल में हुई घटत के बारे में रिपोर्ट कह रही है, वहीं जहाँ माल की बढ़त हुई है यह भी कह रही है। सब तरह की कमी में इंग्लैंड से बाहर जानेवाले मशीनी सामान में अवश्य बढ़त हुई है, क्योंकि इस वर्ष २.५ लाख पौंड का मशीनी सामान इंग्लैंड से अधिक बाहर गया। यह बढ़त भी यही कहती है कि हिंदुस्थान में स्वदेशी आंदोलन जोरों पर है। इसलिए वे यंत्र अधिक मँगाए जा रहे हैं। पर जब इंग्लैंड को छोड़ जर्मनी, जापान से यंत्र मँगाने का निर्णय जल्द ही बहिष्कारवादी लेंगे, तब यह बढ़त भी घट जाएगी। वैसे ही मशीनों पर लगता तिरेसठ लाख पौंड का कोयला भी इंग्लैंड से अधिक गया। इधर भी हिंदुस्थान जल्दी ही ध्यान देगा और जापानी कोयला लेने लगेगा। वैसे, इंग्लैंड की वास्तविक हानि सात करोड़ पौंड से अधिक की ही हुई है। चूँकि इस सात करोड़ पौंड की हानि गत वर्ष के आँकड़ों की तुलना में दी गई है और गत वर्ष भी ऐसी ही हानि हुई थी। अत: ३-४ वर्ष पूर्व के आँकड़ों की तुलना में इंग्लैंड की वास्तविक हानि बहुत ही अधिक हुई होगी। इस हानि का प्रभाव भी इंग्लैंड पर होने के कारण आपस में खींचातानी शुरू हो गई है। मैनचेस्टर और लंकाशायर के व्यापारियों पर इस हानि की अधिकतर मार पड़ी और वहाँ के मिल-मालिकों ने मजदूरों के वेतन में पाँच प्रतिशत कटौती करने का निश्चय किया, पर मजदूरों ने वेतन में कटौती होने पर काम बंद करने की घोषणा करके इसका विरोध किया है। हर समाचारपत्र में Cottan Crisis पर लेख आ रहे हैं। ग्लासगों में बेकार मजदूरों की हजारों की भीड़ ने दंगे करना प्रारंभ कर दिया। सोशलिस्ट लोग भी दंगे में शामिल हो रहे हैं। इन दंगों को शांत करने के लिए—बंबई के दंगों के बाद जैसे वहाँ के गवर्नर पूछताछ करने जाते हैं, वैसे ही वहाँ के राजकुँवर भी गए थे, परंतु उन्हें भी लौटा दिया गया। सभा में राजकुंवर के सम्मान में राष्ट्रीय गीत God save the King प्रारंभ होते ही मजदूरों ने हल्ला करना शुरू किया और अपने अनंत कंठों से Down with the Tyrant जैसे भाव के प्रख्यात मार्सेलिस के गीत को गाना प्रारंभ किया। फिर भी इन लोगों पर बंबई के शांतिप्रिय, दयालु गवर्नर जैसी गोलियों की बौछार करने का आदेश राजपुत्र ने दिया हो, ऐसा

सुनने में नहीं आया। इतना ही नहीं, उनकी पकड़ा-धकड़ भी नहीं हुई।

२ अक्तूबर, १९०८

अजित सिंह और हैदर रजा का अभिनंदन

लंदन : गत रविवार को 'फ्री इंडिया सोसायटी' की ओर से आयोजित लंदन के भारतीयों की सभा, जिसकी अध्यक्षता देशभक्त अली खान कर रहे थे. और जिसमें हिंदू, मुसलमान, पारसी आदि सभी धर्मों के लोग थे, में कुछ प्रस्ताव बहुमत से पारित हुए।

देशभक्त सावरकर ने एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया और उसे डॉक्टर राजन एवं लाला हरदयाल ने अनुमोदित किया—देशभक्त सरदार अजित सिंह अखंड रीति से स्वदेश की जो सेवा कर रहे हैं, उसके लिए हम सबके मन में पहले से ही जो आदर-भाव है, वह उनके तिलकाश्रम का समाचार सुन इतना प्रबल हो गया है कि आज इस अवसर पर हम 'फ्री इंडिया सोसायटी' के निमंत्रण पर एकत्र सारे लोग सरदार अजित सिंह की धैर्यशाली देशभक्ति का सार्वजनिक अभिनंदन कर रहे हैं। दिखाए गए डर या दी गई मूर्खतापूर्ण धमकी से अपने मार्ग से च्युत न होते हुए सरदार अजित सिंह जिस राष्ट्रीय पक्ष के भक्त एक बार बने, उस पक्ष की सेवा आज तक एकनिष्ठ होकर करते आए हैं। उनकी यह सेवा आगे अखंड चलनेवाली है—यह हमारा विश्वास है।

देशभक्त आयर बी.ए. ने दूसरा प्रस्ताव रखा और उसका अनुमोदन बी.के. दास बी.ए., बैरिस्टर एट लॉ ने किया—देशभक्त सैयद हैदर रजा—गत दो वर्षों से पंजाब और संयुक्त प्रांत में अपने देशबंधुओं को मातृभूमि के प्रेम और देशाभिमान के संबंध में जो शिक्षा दे रहे हैं, उसके लिए यह सभा उनका अभिनंदन करती है। विशेषत: हिंदुस्थान के भिन्न वर्गीय, भिन्न पंथी लोगों को भ्रातृप्रेम के एक ही निशान के नीचे लाने हेतु उनके प्रयास और उसमें उनको मिली सफलता तथा उस राष्ट्रीय एकता का राष्ट्रीय दास्य विमोचन के हेतु किए जानेवाले उपयोग के लिए यह सभा उनकी बहुत आभारी है।

१६ अक्तूबर, १९०८

लोकनायक विपिनचंद्र पाल का आगमन

लंदन : जब लगभग सारा राष्ट्र अज्ञान की निद्रा में सोया हुआ था, तब जिनकी दिव्य प्रतिभा शक्ति को हिंदुस्थान के राजनीतिक क्षितिज पर स्वराज-सूर्य का उदय सर्वप्रथम दिखाई दिया और स्थूल दृष्टि के लोगों द्वारा अपमानित होकर

भी जिन्होंने प्रारंभ से लेकर आज तक अपनी भू-माता के विश्वास को अखंड बनाए रखा तथा जिनकी मंगल भू-प्रार्थना सुनकर जाग्रत हुई हिंद सुंदरी आज उस पूर्वसूचित स्वराज-सूर्य के दर्शनों के लिए हुतात्मा की आरती लेकर उत्सुकता से खड़ी है, ऐसे भविष्यद्रष्टाओं में अपनी अपार बुद्धिमत्ता एवं वक्तृत्व के लिए अग्रगण्य माने जानेवाले श्रीयुत् देशभक्त बाबू विपिनचंद्र पाल गत सप्ताह लंदन पधारे। उनके आगमन-समय की सूचना यद्यपि केवल तीन घंटे पहले ही लंदन पहुँची। फिर भी चेरिंग क्लास स्टेशन पर गाड़ी आने के पहले भारतीय लोगों की भीड़ जुटने लगी। गाड़ी की खिड़की से बाबू विपिनचंद्र पाल का दर्शन होते ही 'वंदे मातरम्' की ध्वनि गुंजरित होने लगी। गाड़ी से बाबू साहब के उतरते ही चारों ओर से फूलों की वर्षा और पाल की जय-जयकार के सिवाय दृष्टि या कर्ण को अन्य कुछ नहीं सूझ रहा था।

स्टेशन पर आए अंग्रेजों को यह दृश्य अभूतपूर्व लगे, यह स्वाभाविक ही था। पाल के आने के पहले ही उनके विषय में विभिन्न उद्‌गार अंग्रेजी समाचारपत्र व्यक्त कर रहे थे। 'That irreconcilable agitator Bipin Chandra Pal is coming to England.' की बात अंग्रेजी पत्रों द्वारा पहले ही फैलाने से 'पाल' से मिलने के लिए आजकल अंग्रेजी लेखकों और संवाददाताओं में स्पर्धा लगी हुई है। जिनकी जय-जयकार से कलकत्ता में लोगों के कान वधिर हो गए, वे पाल अपनी जय-जयकार सहित लंदन में घुस रहे हैं।

बाबू साहब इंडिया हाउस की ओर आए। वहाँ उनका थोड़ा भाषण हो जाने के बाद राष्ट्रगीत गाया गया और भीड़ विसर्जित हुई। उन (विपिनचंद्र पाल) के साथ उनके पुत्र[१] भी थे। अगले रविवार विपिनचंद्र पाल का Nationalism पर प्रथम भाषण होनेवाला है और भारतीयों के मन अपने उस प्रथित नेता का भाषण सुनने का इच्छुक हैं।

२३ अक्तूबर, १९०८

काल्पनिक दंगा[२]

लंदन : कोई पंद्रह दिन पूर्व लंदन में राइटर के तार से समाचार प्राप्त हुआ कि नासिक में हिंदू-मुसलमानों में परस्पर दंगा हो गया और शहर की सुरक्षा के लिए

---

१. इनका नाम था निरंजन पाल। ये बाद में सावरकर के निकट सहयोगी बने। सावरकर रचित कविता 'सागर प्राण तलमलला' के पहले श्रोता भी यही थे।

२. मूल में इसका शीर्षक 'रक्षाबंधन समारोह' है जिसकी संगति इस प्रसंग से नहीं बैठती। —अनु.

देवलाली से यूरोपीय सेना बुलाई गई। यह तार पढ़ते ही सबको बहुत ही आश्चर्य हुआ, क्योंकि कुछ ही दिनों पूर्व नासिक के देशभक्त ब्राह्मणों ने गणपति उत्सव के अवसर पर सैयद हैदर रजा को कार्यक्रम में आमंत्रित कर पूरे हिंदुस्थान में सबको आश्चर्य में डालनेवाला उदाहरण प्रस्तुत किया था। इस समाचार को सुने अभी आठ दिन भी नहीं हुए थे और नासिक में हिंदू-मुसलमानों का दंगा हो गया—यह समाचार मिला। यह समाचार सुन लोगों ने अनुमान लगाया कि नासिक के गणपति उत्सव का वह साहसिक कार्य देखकर ही, उसका हिंदू-मुसलमानों की एकता पर पड़नेवाला प्रभाव समाप्त करने के लिए बंगाल की तरह का यह दंगा किराये पर कराया गया। अनेक ने तुरंत यह भी कहा कि आपस में द्वेष बढ़ाने जैसा यह मूर्खतापूर्ण कार्य है, यह न समझनेवाले पागल उस रामप्रभु के नगर में अधिक नहीं होंगे।

कुछ ऐसा विचार चल ही रहा था कि राइटर का दूसरा तार आया, जिसमें लिखा था कि कल भेजा हुआ तार निराधार था। फिर राइटर ने किस दंगे का समाचार दिया था? या दंगा आदि कुछ भी नहीं था और वह कल्पित समाचार था? फिर भी जब तक हिंदुस्थान से कोई पक्का समाचार नहीं मिले, तब तक मौन रहना ही इष्ट था। अब जो समाचार गत डाक से आया है, वह यह है कि वह नासिक का हिंदू-मुसलमान का दंगा न होकर पुलिस का दंगा था। हैदर रजा के आगमन से नासिक के देशभक्त हिंदू-मुसलामनों ने देशघाती रूढ़ि पर कितना बड़ा आघात किया है, वह फूट किन्हें इष्ट है, वह उपरोक्त झूठे समाचारों से स्पष्ट है। उन स्वतंत्रताप्रिय नासिकवासियों पर आज यद्यपि वर्तमान सत्ता की नजर टेढ़ी है, तब भी श्रीरामचंद्र के प्रत्यक्ष चरणरज से पवित्र हुआ, गोदावरी नदी के जल-तुषारों से अखंड सिंचित होनेवाला, श्रीरामदास स्वामी की तपश्चर्या एवं गुप्त रचना से अमित शक्ति प्राप्त एवं स्वतंत्रता-लक्ष्मी की जय-जयकार वहाँ के तरुण कंठ से होनेवाले प्रत्येक उषाकाल के कलकल निनाद को रोक रहे हैं। वह देश क्षेत्र इसे तो क्या, तत्त्व जय के लिए आनंद एवं अचंचल धैर्य से किसी भी भावी यातना का सामना करेगा।

रक्षाबंधन समारोह और दक्षिण अफ्रीकी भारतीय जनता को सहानुभूति

गत शुक्रवार को १६ अक्तूबर था। यह दिन यहाँ के भारतीय समाज के लिए कलकत्ता के नागरिकों जैसा ही बहुत उत्साह से बीता। उस दिन हम परदेस में हैं—यह भावना भूलकर हिंदभूमि के शरीर पर ही खेलने का सबको अनुभव होने लगा।

हिंदुस्थान की सुंदर सृष्टि वैभव के दृश्य मन को दिखने लगे। हिंदुस्थान के डर से बीच में फैले हुए समुद्र सूख गए, पर्वत समतल हो गए और मन को, पवित्र प्रेम को उसकी प्रिय वस्तु से एकात्म कर दिया।

चुनकर पार्लियामेंट में भेजे गए देशभक्त सर मंचरजी भावनगरी की अध्यक्षता में उस दिन दोपहर ३ बजे दक्षिण अफ्रीका के भारतीय लोगों के प्रति सहानुभूति व्यक्त करने के लिए भारतीय लोगों की एक सभा आयोजित की गई थी। सभा प्रारंभ होने के पूर्व ही कैक्स्टन हॉल के विस्तीर्ण स्थान में भारतीय लोगों की भीड़ एकत्र हो गई थी। उसमें बहुत से अंग्रेज भी आए थे। भावनगरी का उस दिन का भाषण एकदम स्पष्ट, बेधड़क और समयानुकूल था। अब बायकॉट पर सारा जोर दिया जाए, ऐसा आग्रहपूर्वक उपदेश उन्होंने राष्ट्र को दिया। पहला प्रस्ताव लाला लाजपतराय ने प्रस्तुत किया और उसे देशभक्त पारीख ने अनुमोदित किया। दूसरा प्रस्ताव जो सहानुभूति दर्शानेवाला था, देशभक्त विपिन बाबू ने अपनी वक्तृत्वपूर्ण तेजस्वी वाणी में प्रस्तुत किया और उसका अनुमोदन देशभक्त सावरकर ने किया। तीसरा प्रस्ताव बायकॉट का था। उसे देशभक्त खापर्डे ने प्रस्तुत किया और देशभक्त रामपेन बी.ए. बैरिस्टर एट लॉ ने अनुमोदित किया। सभा की रिपोर्ट 'टाइम्स' आदि पत्रों में प्रकाशित हुई और 'डेली न्यूज' आदि ने लेख लिखा। उससे इस सभा का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है।

उस सभा का काम साढ़े पाँच बजे पूरा हुआ और छह बजे राष्ट्र-जयंती की सभा प्रारंभ हुई। १६ अक्तूबर को देश-भू ने राष्ट्र पक्ष को कैसे जन्म दिया, उसका बहुत उत्साहवर्धक, यथार्थ और देशभक्तिपरक विवेचन देशभक्त लाला लाजपतराय द्वारा करने के बाद डॉ. कुमार स्वामी, दादा साहब करंदीकर, खापर्डे आदि के भाषण हुए। उसके बाद विपिन बाबू ने रक्षाबंधन कार्यक्रम प्रारंभ किया। राष्ट्रगीत-गायन के बाद विपिन बाबू का अमूल्य वक्तृत्व भरा भाषण शुरू हुआ। उन्होंने कहा कि गत वर्ष इन दिनों मैं कारावास में था और आज वनवास में हूँ। परंतु मेरा मन वहाँ है, जहाँ कारागृह में अरविंद घोष बैठे हुए हैं। जहाँ बाल गंगाधर हैं, वहाँ उस देशतिलक के पास है। अरविंद एवं तिलक, इन दो नामों का उच्चारण होने में तीस-चालीस मिनट लग गए, क्योंकि प्रत्येक नाम के लिए तालियों की गड़गड़ाहट और 'वंदे मातरम्' का घोष पंद्रह मिनट तक निरंतर चलता रहा। उसके बाद विपिन बाबू ने उन तरुणों का स्मरण किया जिन्होंने असीम यातना सहन कर देह की ममता को मार डाला। तब फिर से पूरे हॉल में तालियों की ध्वनि के सिवाय कुछ सुनाई नहीं दिया। उस प्रचंड गूँज में 'वंदे मातरम्' की ध्वनि अवश्य सारे कोलाहल के ऊपर जाती हुई सुनाई देती थी। सभा में यूरोपीय रिपोर्टर्स आदि भी आए हुए थे। विपिन बाबू के

भाषण का भरपूर प्रभाव उनके चेहरे पर पड़ा था।

१३ नवंबर, १९०८

भारतीय विद्यार्थियों के लिए पशुशाला

लंदन : गत दो वर्षों में इंग्लैंड में आए भारतीय विद्यार्थियों की देशभक्ति से, उनके स्वार्थ-त्याग से, उनकी दुर्वर्तन परावृत्ति से एवं उनकी बढ़ती एकता एवं स्नेह से जिनके मन में चिंता का विष फैलने लग गया है, उन अपने अति हितचिंतक (!) ऐंग्लो-इंडियन वीरों ने बहुत दिनों से विचाराधीन एक सभा गत सप्ताह आयोजित कर ही ली। पूर्व की भाँति मौज-मस्ती में मस्त रहने के अपने आचार-विचार को छोड़कर आजकल के विद्यार्थी सम्मान-वृत्ति से रहने लगे हैं, तरुणाई में हँसते-खेलते दिन गुजारने के स्थान पर वे चिंतामग्न दिन और बेचैन रातें गुजारने लगे हैं। व्यक्तिगत आराम करने की जगह पैसा होते हुए भी भूखे रहने लगे एवं ऐंग्लो-इंडियनों के द्वारा निमंत्रित किए जाने के बाद भी नाच-तमाशों में जाना टालने लगे। राजनीतिक विषयों में जितना ध्यान वे देते हैं, उसका हजारवाँ भाग भी मौज-मस्ती में देते, तो भी अपने इन हितचिंतकों को इतनी चिंता नहीं सताती, पर भारतीय तरुणों की चित्तवृत्ति कुछ ऐसी स्वार्थपरावृत्त एवं स्वदेशहित में रत होने लगी है कि उनकी इस नीतिच्युतता को उनके हित में जल्दी ही बाँधे जाने का उपाय करने के सिवाय कोई अन्य मार्ग शेष नहीं है, यह स्पष्ट हो गया है।

मैजिनी को उसकी आयु के बीस वर्ष पूरे होने के पूर्व ही जब चिंतामग्न रहकर दिन गुजारने की आदत लगी, तब इटली और ऑस्ट्रिया के हितचिंतकों की ओर से इसी तरह स्पष्ट कहा गया था कि तरुण लड़कों का मौज-मस्ती एवं आनंद करने की जगह राजनीतिक विचारों में लीन रहना एवं रातों को अकेला एवं उदासीन संन्यासी-वृत्ति से विचार करते घूमना सरकार को कभी रास नहीं आएगा।

इंग्लैंड के ऐंग्लो-इंडियनों एवं हिंदुस्थान के गोरे हितचिंतकों की यह चिंता बहुत बढ़ती चली जा रही है। हर सप्ताह भगवत-भजन करने जैसे नियम से लगातार दो वर्षों से ईश्वरी ध्येय के मूर्त चिह्नस्वरूप देशभूमि के भजनों के लिए भारतीय विद्यार्थियों के अखंड चल रहे कथापाठ, उसमें दिखती उनकी देशमय चित्तवृत्ति, अभिभावकों के आदेशों की अवहेलना कर अनेक युवकों द्वारा छोड़े हुए सिविल सर्विस के कोर्स, सन् १८५७ के देशवीरों की विशाल सभाएँ, देश के लोगों के लिए किए गए माह-माह भर के उपवास, सायरेंसेस्टर कॉलेज का स्वाभिमानी व्यवहार, तिलक, दक्षिणी अफ्रीका, राष्ट्र-जयंती आदि अवसरों पर आयोजित भव्य सभाएँ और उनमें वृद्ध लोगों का उनपर प्रभाव होने के स्थान पर, उनके उल्लास से वृद्धों में

उभरता नया उत्साह—इन सारी परंपराओं के कारण चिंतामग्न हुए अंग्रेज लोगों ने परसों इस विषय पर चल रही अर्धसरकारी एवं अखबारी चर्चा समाप्त करके खुली चर्चा करने के लिए सभा आयोजित की। सरकारी कृपाप्राप्त देशभक्त गुप्त, अमीर अली, कहान सिंह आदि भारी लोग, देशभक्त भावनगरी आदि जवाब देने में सक्षम लोग, सर कर्जन वायली, मिस बेक, डॉ. पोलन और अन्य कितने ही सरकारी-अर्धसरकारी अंग्रेज, देशभक्त विपिनचंद्र, खापर्डे, करंदीकर आदि नेता और तरुण विद्यार्थियों से कैक्स्टन हॉल भरा हुआ था। बंबई के निवर्तमान गवर्नर लॉर्ड लेमिंग्टन अध्यक्ष थे। भारतीय विद्यार्थियों को एक केंद्र में लाना और उनके आंदोलनों पर उनके ही हित में निगरानी में रखना कितना आवश्यक है, इसका विवरण देनेवाला एक लेख डॉ. पोलन सी.आई.डी. ने पढ़ा और कहा कि भारतीय विद्यार्थियों का व्यवहार आजकल बिगड़कर नीतिच्युत होने लगा है। उसके बाद लॉर्ड लेमिंग्टन ने इससे अपनी सहमति जताते हुए कहा कि इंडिया ऑफिस (सरकारी मुख्य कार्यालय) भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रीति से इस भावी कल्पना की सहायता करे और भारतीय विद्यार्थियों पर निगरानी रखे। इससे उनका अत्यंत हित होगा। इस सभा में क्या हुआ, वह अंग्रेजी भाषा में ही कहना उचित होगा। डेली क्रॉनिकल कहता है—

'DISLOYAL STUDENTS

Indian Hostile Demonstration at London Meeting

A demonstration of disloyalty on the part of the Indian students was witnessed yesterday. Lord lamington referred to the king's proclamation and said that the proclamation, that very great document, which was promulgated yesterday (loud hissings and derisive laughter) stated our feelings towards them. We do wish them well. (booing and laughter by the students and cheers by the Britishers.) When an Indian student affirmed that there must be awakening in the Indian student's first and foremost of a same fo loyalty to the English throne and to the person of the king (The hissings and the derisive laughter were tremendous and the chairman had to call for order.)'

इसी तरह अन्य पत्रों में भी बड़े-बड़े शीर्षक देकर छापा गया है कि राजद्रोही भारतीय विद्यार्थी कल की सभा में जहाँ-तहाँ हिश-हुश का प्रचंड हमला कर रहे थे, और अधिक क्या कहें। लॉर्ड लेमिंग्टन ने जब परसों की घोषणा का उल्लेख किया, तब हँसना, चिल्लाना, हुश्श-हुश्श करने की आँधी में अध्यक्ष को यह बात

छोड़नी पड़ी! एक भारतीय विद्यार्थी ने कहा कि राजा के राज्यपद और मुकुट के लिए राजनिष्ठा एवं आदर भारतीय विद्यार्थियों द्वारा सबसे पहले प्रकट करना चाहिए। तब फिर से हुश्श-हुश्श का हमला हुआ। उस भारतीय विद्यार्थी (ये सज्जन बंबई के वकील वेलिणकर हैं और इतने वृद्ध हैं कि उन्हें विद्यार्थी कहना—गाली देने के समान होगा) ने गुस्से में बार-बार कहा, 'इस धिक्कार का क्या अर्थ है? राजा के मुकुट और उस व्यक्ति के लिए अप्रतिम आदर-भाव रखना ही होगा।' उनके यह कहते ही 'धिक्कार' शब्द का इतना जोरदार हमला हुआ कि उन्हें बैठ जाना पड़ा। फिर एक अंग्रेज गुस्से में खड़ा हुआ और एक भारतीय सज्जन की ओर अँगुली दिखाते हुआ बोला कि यदि इस व्यक्ति को फिर से हमारे राजा के नाम पर 'धिक्कार' करते देखा तो इसे इस सभा से निकाल देना होगा। परंतु इस गुस्से का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा, उलटे सभा में और अधिक हल्ला-गुल्ला होने लगा। उस प्रकरण की वहीं समाप्ति हो गई।

बंबई प्रांत के गवर्नर लॉर्ड लेमिंग्टन आए, परंतु उनके स्वागत में ताली नहीं बजी, कोई उठा भी नहीं, परंतु जब विपिनचंद्र पाल उठे, तब भारतीय विद्यार्थियों ने उनका अप्रतिम सत्कार करना प्रारंभ किया और निरंतर जय-जयकार बनी रही। 'Bipin Chandra Pal received quite an ovation, when he got up, from Indian students, which lasted for several minutes.' ऐसी गड़बड़ी और बहसबाजी में वह सभा संपन्न हुई। फिर से ऐसी सभा का आयोजन न करना ही ठीक है, इससे यह पाठ सीखना अंग्रेज लोगों के हित में है।

२७ नवंबर, १९०८

राष्ट्रीय परिषद्

लंदन : देशभक्त विपिन बाबू की व्याख्यानमाला कैक्स्टन हॉल में शुक्रवार, १८ दिसंबर से प्रारंभ होकर गत सोमवार को समाप्त हुई। उदात्त तत्त्व विचार, उत्साहवर्धक वक्तृत्व, अपार देशभक्ति, कुशाग्र तर्क, अचूक युक्तियों आदि के संयोग से दिए गए उन व्याख्यानों का सारांश देने का प्रयास करने का अभिप्राय उनकी मिठास को कम करना है। उसके श्रवण से मोहित हुए श्रोताओं के आग्रह पर वे व्याख्यान जल्दी ही समग्र प्रकाशित होनेवाले हैं। अत: उनका सारांश देना उनकी नवीनता को नष्ट करना है। इस समाचार में उस व्याख्यान के संबंध में कुछ भी विशेष न लिखकर केवल इतना ही लिखना काफी है कि गत दस-बारह दिनों से लंदन के भारतीय लोगों में ही नहीं, अपितु बहुत सी अंग्रेज मंडली में भी व्याख्यानों के सिवाय दूसरी चर्चा नहीं सुनाई दे रही थी। व्याख्यान का टिकट ढाई रुपए का था

और सारी व्यवस्था एक हफ्ते में जल्दी-जल्दी की गई थी। फिर भी अधिकतर हिंदुस्थानी और कितने ही अंग्रेजों की भीड़ व्याख्यान सुनने को आ रही थी। शाम कब होती है और हॉल में घुसने को कब मिलता है, ऐसा सबको हो जाता था। दूसरे दिन विपिन बाबू के बाद देशभगिनी विदुषी मैडम कामा का भी एक स्वतंत्रता-पोषक व्याख्यान हुआ। उनके द्वारा अपना राष्ट्रीय निशान हाथ में लेकर फहराते ही सारी सभा उठ खड़ी हुई और 'वंदे मातरम्' की गर्जना की गूँज होने लगी।

इन व्याख्यानों के क्रम में ही रविवार, २० दिसंबर को समस्त हिंदुस्थानी लोगों की राष्ट्रीय परिषद् आयोजित करने की सूचना सभा को दी गई थी। पहले यह परिषद् नागपुर में आयोजित तिलकपक्षीय कांग्रेस के समर्थन में आयोजित होनी थी। परंतु सरकार की हठवादिता के कारण नागपुर की परिषद् के स्थगन का समाचार उसी समय आया। इसलिए सर्वसम्मति से यह तय हुआ कि परिषद् का आयोजन स्वंतत्र रूप से लंदन में किया जाए। उसके अनुसार दिनांक २० को यहाँ के कैक्स्टन हॉल में सब श्रेणी, आयु और स्थान के लोगों की भीड़ जमने लगी। ऑक्सफोर्ड, कैंब्रिज, सायरेंसेस्टर आदि सभी स्थानों से भारतीय लोग आए। पेरिस से देशभक्त राणा भी आए थे। देशभक्त खापर्डे को सर्वसम्मति से अध्यक्ष चुना गया। उन्होंने यह प्रमाणित कर दिखाया कि राष्ट्रीय पक्ष के विचार सत्य और एकता से जुड़े हुए हैं। हमारे करने और हमारी माँग में विचित्र क्या है? जैसे इंग्लैंड में अंग्रेज हैं, फ्रांस में फ्रांसीसी लोग हैं और अमेरिका में अमेरिकी जिन अधिकारों का उपभोग करते हैं, उन्हीं अधिकारों का उपयोग हम अपने देश में करना चाहते हैं। इंग्लैंड में अंग्रेज रहते हैं, वैसा रहना आपको विचित्र नहीं लगता, लेकिन भारतीय लोग हिंदुस्थान में वैसा रहना चाहते हैं तो उसमें आपको इतना गुस्सा और घबराहट क्यों होती है, आदि आशय का दादा साहब का भाषण हो जाने के बाद देशभक्त कुमार स्वामी (एक देशभक्त एवं विद्वान् यूरेशियन भारतीय) ने स्वराज का पहला प्रस्ताव सभा के सामने रखा। डॉ. कुमार स्वामी की लेखनकुशलता एवं कलाप्रवीणता इंग्लैंड में मान्य एवं प्रसिद्ध है। उनके द्वारा प्रस्तुत प्रस्ताव 'हिंदुस्थान का उच्चतम ध्येय' था। हिंदुस्थान के लिए ही नहीं, अपितु अत्याचार की आदत से शरीर में घुसी अनीतिमत्ता नष्ट हो, इंग्लैंड का कल्याण हो और इसके लिए भी हिंदुस्थान को पूर्ण स्वतंत्रता होनी ही चाहिए।

स्वराज का प्रस्ताव यों था—'अपने राष्ट्र की पूर्ण और सर्वांगीण उन्नति के लिए तथा हमारे ईश्वरदत्त अधिकार के उपभोग को, जिसकी प्राप्ति से ही सुसाध्यता आनेवाली है, ऐसे स्वराज की पूर्ण स्वतंत्रता के अंतिम साध्य को यह परिषद् पूर्ण मान्यता दे रही है।' डॉ. कुमार स्वामी द्वारा प्रस्तुत उपरोक्त प्रस्ताव को देशभक्त

सावरकर ने अनुमोदित किया। स्वराज का वास्तविक अर्थ पूर्ण स्वतंत्रता ही है। अत: इतने स्पष्ट कथन से इस ध्येय को आप अपनी सम्मति दे रहे हैं, परंतु वह सम्मति देने के पूर्व उस शब्द का वास्तविक अर्थ अवश्य ध्यान में रखें। इस अंतिम ध्येय को स्वीकार करने के पूर्व कारावास की दीवारों, अँधियारी गुफाओं आदि का भयानक चित्र-स्वरूप आपको आकर्षित करता है या नहीं, यह विचार कर लें। अंगारों पर पैर रखकर वह मुलायम गद्दी पर रखने जैसा अचंचल रूप से पड़ता है या नहीं, यह निश्चित करें और फिर इस यज्ञ में आनंद से बलिदान करने की उत्कट इच्छा यदि आपमें हो, तभी इस प्रस्ताव को स्वीकार करें। जल्दी करने से कोई लाभ नहीं है। स्वराज दिव्य है और दिव्य अंतर्मन में ही वह विकसित हो सकता है।

यह कथन समाप्त होते ही तालियों की जोरदार गड़गड़ाहट प्रारंभ हुई। पूछने के बाद एक भी व्यक्ति विरुद्ध नहीं गया और सर्वसम्मति से पूर्ण स्वतंत्रता का यह प्रस्ताव पारित हो गया।

दूसरा प्रस्ताव बायकॉट का था जो देशभगिनी विदुषी कामा ने प्रस्तुत किया। अमेरिका के बायकॉट का इतिहास बताते हुए उन्होंने कहा—हिंदुस्थान के तरुणो, बहिष्कार का जयघोष जारी रखना होगा। प्रस्ताव यही कहता है कि बहिष्कार स्वराज का एक महत्त्वपूर्ण साधन है और उसपर हर दिशा से कार्यवाही होनी चाहिए।

देशभगिनी कामाबाई के इस भाषण के बाद देशभक्त वर्मा ने प्रस्ताव का अनुमोदन किया और वह सर्वसम्मति से पारित हो गया।

तीसरा प्रस्ताव तुर्कस्थान में लोकसत्तात्मक शासन-पद्धति स्वीकार किए जाने पर उनकी प्रशंसा करने का था जो देशभक्त आयर ने प्रस्तुत किया। चौथा प्रस्ताव जहाँ-जहाँ राष्ट्रजागृति होकर स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए प्रारंभ प्रयासों एवं मिस्र, ईरान और आयरलैंड के प्रयासों को हमारी पूर्ण सहानुभूति होने के संबंध में था। तुर्कस्थान के प्रस्ताव पर देशभक्त आगा खान ने देशभक्तिपूर्ण भाषण दिया और कहा कि हिंदुस्थान ऑस्ट्रियन माल का ही नहीं, अपितु ब्रिटिश माल का भी बहिष्कार करे। उसी तरह मिस्र संस्था के सेक्रेटरी ने कहा—हिंदुस्थान और मिस्र की दोस्ती अमर रहे। मैं हाथ फैलाकर आपसे कहता हूँ कि भारतीय जन आएँ और मिस्र को गले लगाएँ। आप अपना माल मिस्र भेजें, हमने अपना बाजार आपके लिए खोल दिया है। मिस्र आपको भाई की तरह प्रेम करता है।

इसके दूसरे दिन विपिन बाबू का भाषण हो जाने के बाद मिस्र के सेक्रेटरी ने मंच पर जाकर विपिन बाबू को गले लगया। मंच पर पाँच मिनट तक मिस्र और हिंदुस्थान आलिंगन में बँधे खड़े रहे और नीचे सारी सभा 'मिस्र की जय' और 'वंदे

मातरम्' का घोष करती रही।

इसके बाद का प्रस्ताव मि. मोर्ले के सुधारों के संबंध में था। उसमें कहा गया था—'सुधार इतने रद्दी और ठगी के हैं कि उनके कारण देश की प्रगति में बाधा उत्पन्न होगी और नौकरी के टुकड़ों के लिए झगड़ा करने की पद्धति का विकास होगा, जिससे जातियों के बीच वैमनस्य उत्पन्न होगा। ये सुधार हमारी बुद्धिमत्ता का अपमान करनेवाले हैं।'

देशभक्त विपिनचंद्र पाल का भी भाषण बहुत तर्कसंगत था।

उसके बाद स्वदेशी और राष्ट्रीय शिक्षा के प्रस्ताव, जो कलकत्ता की राष्ट्रीय कांग्रेस ने स्वीकार किए थे, जैसे-के-तैसे स्वीकार किए गए। मद्रास की स्वयंमन्य नरम कांग्रेस राष्ट्रीय कांग्रेस भी नहीं हो सकती और कॉलोनी के स्वराज की कल्पना भी उसके लिए असंभव, अंधी और निरर्थक होने के कारण वह त्याज्य कल्पना है—आदि प्रस्ताव पारित किए गए। इस तरह उत्साह और एकमत से यह परिषद् संपन्न हुई।

१५ जनवरी, १९०९

श्री गुरु गोविंदसिंह जन्मोत्सव

लंदन : मातृभूमि से हजारों मील दूर होते हुए भी गत सप्ताह कुछ समय तक हमें आभास होता रहा कि हम हिंदुस्थान के वातावरण में ही हैं। यूरोपीय देश में जन्म हुआ होता तो जिस पुरुष का नाम विश्व के हर व्यक्ति के मुँह में होता, उस श्री गुरु गोविंदसिंह महाराज की जन्मतिथि लंदन में इतने अभूतपूर्व उत्साह, शान और जोर-शोर से मनाई जाएगी, यह दो वर्ष पूर्व किसीको सच भी नहीं लगा होगा। पर राष्ट्रीय क्रांति की लहरें जैसे-जैसे आत्मबल के विश्वास को बढ़ा रही हैं, वैसे-वैसे परराष्ट्र के महान् पुरुषों के आगे दास-भावना से झुकना छोड़कर अपने महान् पुरुष चरित्र को माननीय एवं सम्मानवर्धक प्रणिपात करने की ओर तरुणों का झुकाव बढ़ता जा रहा है। राष्ट्रीयत्व की नींव राष्ट्रीय विभूतियों के इतिहास से निर्मित होती है। हिंदुस्थान में श्री गुरु गोविंदसिंह का राष्ट्रीय उत्सव अभी भी नहीं हुआ। पर आज तक भारतीय. तरुणों को नीतिभ्रष्ट एवं परस्तुति पाठक बनानेवाले लंदन जैसे नगर में वह अवसर इतनी शान से गूँज उठा, बढ़ती हुई देशभक्ति का इससे अधिक बड़ा साक्ष्य क्या हो सकता है? हमारी इस बढ़ती देशभक्ति को डॉ. पोल और अन्य ऐंग्लो-इंडियन 'नीतिभ्रष्टता' कह रहे हैं। उनके कहे अनुसार तरुण भारत की यह नीतिच्युतता गत सप्ताह अननुभूत वेग से दृष्टिगोचर हुई। कैक्स्टन हॉल में २९ दिसंबर को भारतीय और अंग्रेज लोगों की भीड़ होने

लगी। उस दिन लंदन शहर की हवा खराब हो रही थी, फिर भी समाज अनपेक्षित संख्या में बड़ा था। सभा-स्थल पर गुलाबी रंग का भव्य झंडा लगाया गया था और उसपर बड़ी कुशलता से 'देग तेग फतह' ऐसे शब्द लिखे थे। गुलाबी पृष्ठभूमि पर वे शब्द बहुत खुल-खिल रहे थे।

Honour to the secred memory of Shree Guru Govind Singh के नीचे Prophet, Poet and warrior ये शब्द अलग-अलग लिखे थे। एक भव्य और शुभसूचक निशान, फूल, धूप की सुगंध, प्रख्यात विभूति का नामस्मरण, राष्ट्रीय झंडियों का उज्ज्वल रंग आदि के कारण सारे हॉल में किसी देवालय जैसी पवित्रता आ गई थी। अध्यक्ष स्थान पर देशभक्त विपिनचंद्र पाल के आसीन होने पर राष्ट्रगीत का गायन हुआ। 'बंगाली आमार देश' एवं 'मराठी प्रियकर हिंदुस्थान' ये गीत उदात्त मनोवृत्तियों को ऊँचा उठा रहे थे। दो सिख तरुणों ने गुरु नानक के ग्रंथ से धार्मिक प्रार्थना गाकर सुनाई।

बाद में प्रो. गोकुलचंद एम. ए. (दयानंद कॉलेज) का निबंध पाठ प्रारंभ हुआ। गुरु गोविंदसिंह के चरित्र का इतिहास सुरस एवं आवेशयुक्त कथन करने के बाद गोकुलचंद ने कहा कि इस अति प्रख्यात पुरुष का नामोच्चारण हम हिंदुओं के हृदय में जो अभिमान, प्रेम, आत्मनिष्ठा और पूजनीय भाव देता है, ईसाई लोगों को ईसा का नाम लेने पर जो मनोभावना उत्पन्न होती है, केवल उसीसे इसकी तुलना हो सकती है। श्री गुरु गोविंदसिंह ने अपने देश के विरुद्ध जानेवाले हिंदू देशद्रोहियों की नाक में म्लेच्छों जितना ही दम किया हुआ था।

देशबंधु गोकुलचंद के व्याख्यान के बाद देशभक्त लाला लाजपतराय का भाषण हुआ। उन्होंने कहा कि गुरु गोविंदसिंह हिंदुस्थान की महान् विभूतियों में से एक थे। पंजाब में तो वे अनन्य थे। इस महान् विभूति के चार छोटे बच्चे उनके शत्रु के रोष की बलि चढ़े। श्री गुरु गोविंदसिंह वास्तव में सिंह थे।

लाला लाजपतराय के बाद अध्यक्ष विपिन बाबू का सुश्राव्य एवं स्फूर्तिदायक भाषण हुआ। उन्होंने कहा कि हिंदुस्थान में जिसे नई जागृति, नया पक्ष आदि कहा जा रहा है, वह कुछ नया नहीं है। मनुष्य की दैवी शक्ति का विकास करने के लिए श्री गुरु गोविंदसिंह ने प्रयास किए।

अध्यक्ष का भाषण हो जाने के बाद भी श्रोताओं का आग्रह था कि सावरकर का भाषण होना ही चाहिए। इसलिए विपिन बाबू ने सावरकर से भाषण देने का आग्रह किया। देशभक्त सावरकर ने कहा कि निशान के ऊपर लिखे वे तीन शब्द देग, तेग, फतह का अर्थ अधिकतर लोगों को ज्ञात नहीं होगा। सिख धर्म एवं गुरु गोविंदसिंह के चरित्र का यह तीन पंखुड़ियों का फूल है और इसका उच्चारण भी श्री

गुरु गोविंदसिंह ने ही किया था। देग माने तत्त्व, तेग माने तलवार और फतह माने विजय होता है। तलवार के बिना तत्त्व भी लँगड़ा पड़ता है, ऐसा देखकर गोविंदसिंह ने तलवार उठाई और हिंदू पक्ष अंततः विजयी हुआ।

बाद में कढ़ा प्रसाद का वितरण हो जाने के बाद गुरु गोविंदसिंह के जयकारे और 'वंदे मातरम्' के जयघोष के साथ सभा विसर्जित हो गई। हिंदुस्थान की बढ़ती जानेवाली राष्ट्रीय एकता के लिए हिंदू, मुसलमान, पारसी आदि सारे लोग राष्ट्रीय विभूतियों का सम्मान करने के लिए इस सभा में इकट्ठा हो रहे हैं, इस दृश्य की कल्पना अंग्रेज लोगों को होने लगी है। टाइम्स, डेली टेलीग्राफ, मिरर, डेली एक्सप्रेस आदि दोनों ही पक्षों के प्रमुख पत्रों ने सभा पर प्रशंसात्मक रिपोर्ट लिखी है। 'डेली मिरर' ने उस अवसर की फोटो लेकर कल प्रकाशित किया।

मेरी ऐसी इच्छा है कि अगले वर्ष २९ दिसंबर को महाराष्ट्र भर में गुरु गोविंदसिंह की जय-जयकार होना बहुत जरूरी है। हर पत्र में, हर मंच पर, हर सभागृह से और हर कंठ से गुरु गोविंदसिंह की जय-जयकार गूँजती रहे और इस तरह इस राष्ट्रविभूति की स्मृति को महाराष्ट्र अपना नम्र नमस्कार अर्पण करे, क्योंकि जब उस महात्मा की देह पंजाब की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करते हुए थक गई, तब विश्रांति के लिए वह वीर गोदावरी के किनारे नांदेड़ में आकर रहा। उस पवित्र देह की तेजस्वी भस्म की रक्षा महाराष्ट्र अभी भी कर रहा है। जहाँ श्री गुरु गोविंदसिंह की पुनीत देहभस्मी संरक्षित है, उस नांदेड़ की यात्रा हजारों सिख करते हैं—वहीं महाराष्ट्र भी अपनी यात्रा ले जाए। ऐसी मेरी उत्कट इच्छा है।

२२ जनवरी, १९०९

स्वराज के जयघोष का परिणाम

लंदन : आजकल इंग्लैंड में ऐसा एक भी समाचारपत्र नहीं है, जिसमें हिंदुस्थान के संबंध में हर दिन कुछ-न-कुछ समाचार, चर्चा या बहस न हो रही हो। पाँच वर्ष पूर्व माह में एक लेख लिखने का अभिप्राय यह समझा जाता था कि वह पत्र हिंदुस्थान का हितैषी है। 'डेली न्यूज' के शेयर भी दादाभाई ने केवल इसलिए खरीदे थे कि वह पत्र हिंदुस्थान के बारे में भी कुछ लिखा करे (पर यह प्रयास व्यर्थ गया)।

आज अंग्रेजी समाचारपत्र हिंदुस्थानी लेखक को खोजते फिर रहे हैं, ताकि हिंदुस्थान के संबंध में जानकारी छापी जा सके। यह परिवर्तन कैसे हुआ? गोखले के भाषण तो पहले भी होते थे और आज भी हो रहे हैं। अतः यह परिवर्तन उनके कारण हुआ, ऐसा नहीं कहा जा सकता। नया क्या कारण हुआ? ऐसा कौन सा

धमाका गत दो-तीन वर्षों में हुआ कि इंग्लैंड के बधिर कान एकदम खुल गए और उनको हिंदुस्थान का नाम सुनाई देने लगा? स्वराज के जयघोष का तो प्रभाव नहीं है? इंग्लैंड की ओर ध्यान न देने की स्वदेशी आंदोलन की जो प्रवृत्ति है, उसका तो यह परिणाम नहीं है। कुछ भी हो, गोखले के ठंडे भाषणों से भिन्न कोई एक अद्‌भुत ध्वनि[१] इंग्लैंड ने अवश्य सुनी होगी और वे स्वयं ही—हिंदुस्थान में क्या हैं, यह प्रश्न पूछते भयभीत-से, घबराए हुए, पर ऐंठ में खोज करते फिर रहे हैं।

मोर्ले के सुधारों में हमें कुछ मिला नहीं। इसलिए मुसलमान लोग टर्र-टर्र कर रहे थे। तब टाइम्स एवं इवनिंग न्यूज ने लेख लिखकर पक्की बात कही थी कि हमने हिंदुस्थान मुसलमानों से जीता है और मुसलमान पहले से राजनिष्ठा बनाए हुए हैं। अत: उन्हें हमेशा खुश रखना होगा। 'डेली न्यूज' ने उतने ही पक्केपन से कहा कि हमने हिंदुस्थान मराठों से लिया है और मुसलमानों को भेदभाव दिखाने लायक और कोई भी बात हानिकारक नहीं है। अत: मुसलमानों का हल्ला-गुल्ला बेकार है। उपदेशों की ऐसी उलट-पलट चल रही है।

समाचारपत्र 'स्टैंडर्ड' कहता है कि ये सब फालतू बातें हैं—उनकी भीड़ में सरकार गुप्त राजद्रोही आंदोलनों की ओर से बेखबर रहे, यह बहुत शोचनीय बात है। वह कहता है—'A striking example may be given of the atrocious endeavour of Indian residents in England to inflame the discntent that infacts some class among their countrymen and sowes among their young men the seeds of rebellion. Grossly seditious pamphlets are sent out in large quantities headed. 'Two historic documents' the obvious intention being to counteract any good effect produced by His Majesty's proclamation.'

फिर उपरोक्त 'Historic documents' नामक कागज में से उद्धरण देकर स्टैंडर्ड ने एक संपादकीय भी लिखा। उसका हिंदुस्थान स्थित संवाददाता एक गुप्त समाचार प्रकाश में लाया और वह कागज स्टैंडर्ड को डेढ़ माह में भेजा। इसके लिए अन्य पत्रों की अपेक्षा अपने समाचारपत्र के संवाददाता की चपलता पर स्टैंडर्ड पत्र गर्वित है। वह ऐसा कहता है कि ऐसे कागज विस्फोटक वस्तुओं से भी अधिक भयंकर हैं। सरकार उन्हें रोकने का प्रयास आज तक कर रही है पर 'It is manifest, however; that vigilance of the home authorities has unavaieing.' अपना सारा गुस्सा यहाँ के भारतीय विद्यार्थियों पर उतारकर

---

१. भारत में प्रथम बम विस्फोट ३० अप्रैल, १९०८ को हुआ।

स्टैंडर्ड ने एक बार फिर सरकार को चेताया है—'It is beyond question not a few of highly intelligent Indians in our universities and reading for bar are striving their utmost by such means, particularly to accustom the minds of young rising generation to the idea of an armed revolt.' और फिर संपादक ने पाठकों से विदा ली है।

ऐसा ही एक तीखा लेख लिखते हुए यहाँ के 'मॉर्निंग पोस्ट' समाचारपत्र ने पेरिस के राजद्रोही षड्यंत्र की जानकारी देते-देते देशभक्त सरदार राणा साहब और उनकी जर्मन पत्नी विदुषी राजाबाई पर निंदात्मक एवं व्यक्तिगत बातें लिखी हैं। परंतु ये गालीवीर संपादक उस गालीकांड का प्रायश्चित्त करने की धमकी मिलने की संभावना देखते ही भय से पीले हो गए और अपने पत्र के परसों के अंक में देशभक्त राणा दंपती से क्षमा माँगकर हट गए। उन्होंने प्रकाशित किया था कि पेरिस में एक जर्मन महिला के हाथों में सारे क्रांतिसूत्र हैं और वह अपने को एक भारतीय व्यक्ति की पत्नी कहती है। ऐसे इस अश्लील निंदक की आँखों में राणा ने तीखा अंजन डाला था।

इसी समय एक बंगाली लड़के द्वारा एक प्रख्यात साहब पर हाथ उठा देने की अफवाह फैली और इधर-उधर गुप्त पुलिस की भाग-दौड़ शुरू हो गई। 'सिटीजन ऑफ इंडिया' के लेखक ली वार्नर साहब का नाम और दर्जा सारे हिंदुस्थान को ज्ञात ही है। इन वरिष्ठ ली वार्नर के पास एक बंगाली भिखारी गया और उनके हाथ में—ऐंग्लो-इंडियन लोग किस तरह का अत्याचार करते हैं—इसकी शिकायतों से भरा एक आवेदन देकर बोला कि यह आवेदन आप मोर्ले के पास भेज दें। सर ली वार्नर से उस युवा की पुरानी जान-पहचान थी—इस कारण वे दोनों बातें करने लगे और आवेदन पढ़ने भी लगे। कुछ ही देर में बातचीत का 'सुर' बदल गया और ली वार्नर उस बंगाली युवक को झिड़ककर आगे बढ़ गए। वह भी उनके साथ गया। एक बड़े चौक के पास एक प्रसिद्ध लिबरल क्लब के सामने से यह जोड़ी जा रही थी। तभी वहाँ ली वार्नर ने उस युवक को डाँटते हुए कहा—हट जाओ निगर! अपने को 'निगर' कहा गया सुनते ही उस बंगाली ने ली वार्नर का हाथ खींचा, गुस्से में आकर उन्हें एक तमाचा जड़ दिया और धक्का देकर भाग गया। उस धक्के से ली वार्नर पाँच गज दूर तक डगमगाते चले गए। उस बंगाली तरुण 'भिखारी' का नाम भट्टाचार्य है। इस अद्‌भुत समाचार से बहुत खलबली मची हुई है। भट्टाचार्य अभी पकड़ा नहीं जा सका है। पुलिस उसे खोज रही है—ऐसा कहा जा रहा है। उस भट्टाचार्य का कहना है कि वार्नर ने बेहूदा गाली दी थी।

१२ फरवरी, १९०९

द्वंद्व युद्ध

लंदन : पंद्रह दिन पहले देशभक्त भट्टाचार्य नामक बंगाली तरुण को गाली देने से सर ली वार्नर, के.एस.ओ. को तमाचा जड़ दिए जाने की घटना के बाद से उस अद्भुत युवक की बहुत-सारी जानकारियाँ प्रकाशित हुई हैं। 'डेली डिस्पैच' नामक पत्र ने तो भट्टाचार्य महाशय का चित्र भी छाप दिया। फिर भी इस छोटी सी बात का हल्ला-गुल्ला न हो, इसलिए सर विलियम ली वार्नर ने पुलिस में उसकी शिकायत नहीं की। हिंदुस्थान में जिस व्यक्तित्व ने अपनी ठसक से बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं में भी कँपकँपी उत्पन्न की, उस सर ली वार्नर को एक बंगाली युवक तमाचा जड़े, यह बात सामान्य नहीं थी, टालने योग्य तो थी ही नहीं। इसलिए अंग्रेजी पत्रों ने उसे प्रकाशित किया। उसको सर वार्नर ने 'हट जाओ निगर' कहा, यह बात समाचारपत्रों में छप गई। यह देखते ही देशभक्त भट्टाचार्य को बहुत गुस्सा आया है, ऐसा दिख रहा है।

गत सप्ताह हुए इस अपराध के लिए ली वार्नर क्षमा माँगें, ऐसी माँग करनेवाला एक पत्र उसके मित्र ने लिखा और उसे ली वार्नर को देने गया। इस नए तरुण का नाम वासुदेव भट्टाचार्य है और वह एक सुशिक्षित बंगाली विद्यार्थी है। उसने उनसे कहा, 'एक कुलीन ब्राह्मण को आपने 'निगर' कहा। यह अश्लील गाली देकर सारे हिंदू धर्म का अपमान किया है। अत: आप इसके लिए क्षमा माँगें, यह मेरा निवेदन है। यही मैंने इस पत्र में लिखा है।' सर ली वार्नर पत्र देखकर गुस्से से भर गए और उस तरुण को उन्होंने 'सुअर का बच्चा' कहा। यह सुनते ही वासुदेव ने उन्हें धमकाया, ली वार्नर ने छतरी से उसे कोंचा। छतरी से कोंचे जाते ही वासुदेव भट्टाचार्य ने अपनी लाठी घुमाई और उससे ली वार्नर की पिटाई शुरू की। यह घटना खुले रास्ते पर हुई। अत: वहाँ बहुत लोग इकट्ठा हो गए। सर ली वार्नर चुपके से एक मोटर में बैठकर चले गए। देशभक्त वासुदेव भट्टाचार्य ने अपने को छतरी मारने के आरोप में ली वार्नर के विरुद्ध न्यायालय में शिकायत दर्ज की, पर मजिस्ट्रेट ने उसे नहीं माना। कल दोपहर बो. स्ट्रीट के न्यायालय में भट्टाचार्य के विरुद्ध प्रकरण लाया गया और उसे लाने में हिंदुस्थान की सत्ता का मुख्य केंद्र इंडिया ऑफिस एक पक्ष है। अंग्रेजी पत्र इस संबंध में यह समाचार दे रहे हैं—

'The Brahmin solicited Sir Lee Warner to read his letter. Sir Lee Warner declined to do so, and Brahmin brandished a stick and struck him on his legs. The incident was reported to lord Morley, the Counsel of India, and it was officially decided that a summons should be applied for.' और हिंदुस्थान सरकार की उच्च सत्ता ने

उस ब्राह्मण तरुण पर कल प्रकरण कायम किया।

देशभक्त भट्टाचार्य बंगाल में 'संध्या' नामक मासिक पत्र के संपादक और बंगाली भाषा के कुशल वक्ता हैं। वे 'युगांतर' पत्र के भी संपादक थे, ऐसा कहा गया है। जिस तरुण ने ली वार्नर पर प्रथम प्रहार किया, उसका नाम कुंजबिहारी भट्ट है और इसीका चित्र समाचारपत्र में छपा है।

हिंदुस्थान की वर्तमान स्थिति प्रत्यक्ष देखने के लिए टाइम्स ने अपना संवाददाता हिंदुस्थान भेजा है और इंग्लैंड में उसके द्वारा भेजे गए महत्त्वपूर्ण पत्र प्रकाशित होने प्रारंभ हो गए हैं। अपने पत्र में अभी दक्षिण की स्थिति का विवरण देते हुए वह बहुत ही विचित्र विचार लिख रहा है। ये श्रीमान् नए आंदोलन का विवरण इस प्रकार दे रहे हैं—

'It must plainly be said that extremism as the public have agreed to term the movement which is frankly hostile to the permanent continuance of the British rule, is not dead, nor it is likely to die. Some of its leaders are behind the prison walls but the movement still goes on. All the reforms in the world will not terminate its uncompromising activities. The extremists attract young men to their ranks and they preach a gospel which exercises a fascination over most wild and ardent spirits. Their adherents are perhaps or more numerous than is commonly supposed. The number of their passive sympathisers must be very great. Extremism has no intention of coming out into the arena at present. Its devotees mean to work as they have worked hither to in secrecy and stealth. Isolated assasinations, the insidious cultivation of animosity in the rural districts; the acquisition of control over large bodies of workers in the industrial centres—these are among methods that they adopt.'

ऐसी कल्पना की उड़ान भरते-भरते ये लेखक अंत में महाराष्ट्र पर आकर गिर जाते हैं। महाराष्ट्र मराठों का छत्ता है। जिस राष्ट्र ने सारा हिंदुस्थान जीतकर वह हजम ही कर लिया था, उन मराठों का यह पालना है। नई राष्ट्रीय जागृति भी महाराष्ट्र में आई। 'The emotional Bengali calls along the whole world to witness deeds. The Chitpavan is Brahmin whose bent of mind is far more practical works is silence and he persists.'

मराठों को शिवाजी पर अभिमान है और उनमें से चित्तपावन ब्राह्मणों की इच्छा तो शिवाजी की भाँति ब्रिटिश राज्य पलटकर हिंदुस्थान को स्वतंत्र करने की है। बंगाली चिल्लाते हैं, पर महाराष्ट्र सच में राजद्रोह की सुरंग है—

'Even in Begal, the Bengalees did the shouting it was Poona, that provided the brains that directed the Bengali extermists.' शिवाजी उत्सव, गणपति उत्सव आदि के अवसर पर सारा जातिवंत मराठा दिल से एक हो सकता है और उस एकता से राष्ट्र-जागृति का, लेखक की भाषा में, राजद्रोह का उत्साह उनके हृदय में उठता है, इसका वर्णन करता हुआ लेखक कहता है—महाराष्ट्र के कम-से-कम चार जिलों में राजद्रोह पूरी तरह भर गया है, अब यह सिद्ध हो गया है। गाँव और खेड़े में ब्राह्मण उपदेशक, कथावाचक राजद्रोह की शिक्षा देते हुए घूमते रहते हैं। 'Even certain good educational institutions are known to contain students who are extremists to man.' फिर नासिक एवं शोलापुर जिले का नाम लेकर उसे यह सम्मान दिया गया। मराठों का यह Extremism और शिवाजी का अभिमान आदि लिखते-लिखते थक जाने के कारण लेखक संक्षेप में कहता है—'The Deccan honey combed with secret societies.' महाराष्ट्र का सारा दक्षिणी भाग गुप्त संस्थाओं की सुरंगों से पीला हो गया है। शेष पत्र लोकमान्य तिलक को दी गई गालियों से भरा था। अत: उसमें से केवल एक वाक्य ही उद्धृत करना काफी है—'It may be said with reasonable certainty that the predominant feeling in this large and important area is very different from that expressed at the Madras Cangress.'

ऐसे समाचारों पर इंग्लैंड विश्वास रखेगा!!

२३ फरवरी, १९०९

गाली-गलौज का परिणाम

लंदन : कल दिसंबर १२ फरवरी, १९०९ को बो. स्ट्रीट कोर्ट में सर ली वार्नर पर हमला किए जाने के आरोप में देशभक्त वासुदेव भट्टाचार्य पर मुकदमा चला जिसमें उन्हें छह माह तक के लिए बीस पौंड का जाति मुचलका और दस-दस पौंड की दो जमानतें देनी थीं। एक माह तक कारावास भोगने का निर्णय दिया गया। मुकदमे में याचक की ओर से सर विलियम एवं ले. थॉम्सन की दो गवाहियाँ प्रस्तुत की गईं। आरोपी की ओर से स्वयं आरोपी की और देशभक्त कुंजबिहारी भट्टाचार्य की दो गवाहियाँ हुईं। सर विलियम ने अपनी गवाही में कहा—आरोपी या उसके

मित्र के आवेदन का मेरे मन पर कुछ भी प्रभाव नहीं हुआ था। आरोपी की ओर से मि. रिच ने पूछा कि क्या आपने आरोपी को Go away you dirty niggar कहा था? सर ली ने कहा—ऐसे शब्द मैंने कहे होंगे, यह संभव ही नहीं है। सर विलियम ने वासुदेव को 'सुअर का बच्चा' कहे जाने की बात या गाली-गलौज करने, अपने हाथ में छतरी होने और उसका उपयोग करने की बात भी अस्वीकार कर दी। आरोपी का कहना था कि अपने भारतीय मित्र को गंदी गाली दिए जाने के संबंध में सर विलियम का क्या कहना है—यह वे कहें या क्षमा माँगें। ऐसे आशय का पत्र तीसरी बार उन्हें रास्ते में प्रत्यक्ष देने गया तो उन्होंने उसे आधा-अधूरा पढ़ा और मुझे Get away dirty niggar कहकर धकेल दिया, इसलिए मैंने भी उन्हें धकेल दिया। फिर उन्होंने मुझे छतरी मारी, इसलिए मैंने भी उन्हें अपनी लाठी मारी। मजिस्ट्रेट सर अल्बर्ट डिरटजेन ने कहा कि आरोपी अपने मित्र को अपमानित मानकर बहुत पीड़ित हुआ होगा, ऐसा दिखता है। फिर भी ऐसा व्यवहार करना गलत है।

देशभगिनी श्रीमती कामा, देशबंधु चौधरी एवं रॉय जमानत देने के लिए तैयार थे। फिर भी वासुदेव भट्टाचार्य जेल जाने के लिए तैयार हो गए। सर विलियम ने घटित घटना यथावत् नहीं कही और हम उन्हें वास्तविक अंग्रेज नहीं मानते—देशभक्त वासुदेव भट्टाचार्य ने अपने उत्तर में शपथपत्र देकर यह कहा। दीवानी और फौजदारी कोर्ट में मुकदमा चलाकर इस बात का निर्णय भी कराना चाहता था, जिसके लिए उसने ५ फरवरी को अपने देशबंधुओं के नाम एक निवेदन जारी किया था। उसकी नकल साथ भेज रहा हूँ। सर विलियम के पास लिखा देशभक्त वासुदेव का पत्र भी उस निवेदन के साथ ही प्रकाशित हुआ है। उसकी नकल भी साथ में रखी है। यह काम इसके आगे दीवानी में चलाकर उसका उचित निर्णय करा लेने की इच्छा देशभक्त भट्टाचार्य के मन में है और उस विषय में कोई चंदा भेजा गया तो उसे वे साभार स्वीकार करेंगे। चंदा उनके सलाहकर देशभक्त बी. सी. बंगाली ५० थॉमस कुक ऐंड सन्स, लडगेट स्ट्रीट, लंदन बी. सी. के पते पर भेजें। देशभक्त वासुदेव भट्टाचार्य द्वारा सर विलियम के पास २६ जनवरी, १९०९ को लिखे पत्र का सारांश इस प्रकार है—

'परसों हुए झगड़े का महत्त्व आपके ध्यान में नहीं आया है, ऐसा लगता है। एक बहुत धार्मिक बंगाली परिवार के व्यक्ति को 'सुअर का बच्चा' गाली देने का अक्षम्य व्यवहार करके आपने बहुत से इंग्लैंडवासी हिंदू लोगों के मन को कलुषित किया है। हिंदू धर्म में गंदे माने गए पशु के नाम से आपके जैसे इतिहासविद् विद्वान् व्यक्ति द्वारा गाली देने के परिणाम को भूल जाना वास्तव में बड़े खेद का विषय है।

आपके पहले के गलत व्यवहार के कारण हिंदुस्थान के लोगों का मन कितना खराब है, यह तो ईश्वर को ही ज्ञात होगा और अब आपके इस उद्धत व्यवहार का समाचार उधर ज्ञात होने पर वहाँ की वर्तमान स्थिति अधिक ही खराब होनेवाली है। इसलिए आप मेरे इस गरीब मित्र से तुरंत क्षमा माँगें, ताकि मैं उसे यहाँ और हिंदुस्थान में प्रकाशित कर इस समाचार के कारण होनेवाला मनमुटाव शांत करने का यथासंभव अधिक प्रयास तुरंत करूँ।'

१० फरवरी, १९०९ को प्रकाशित देशभक्त भट्टाचार्य के निवेदन पत्र का सारांश—'कुंजबिहारी को 'सुअर का बच्चा' कहकर गाली दिए जाने का समाचार सुनकर मुझे राष्ट्रीय अपमान लगा और मैंने सर विलियम को क्षमा माँगने के लिए एक पत्र लिखा। परंतु उस व्यक्ति ने उत्तर भेजने का कष्ट नहीं उठाया। फिर मैं १ फरवरी, १९०९ को उनसे मिलने गया। तब भी उन्होंने क्षमा तो माँगी ही नहीं, मुझे Dirty Niggar कहकर मुझपर छतरी से प्रहार किया। उनके इस दुर्व्यवहार पर मैंने उन्हें डंडा मारकर दंडित किया। इस मामूली घटना पर 'टाइम्स' आदि सभी पत्रों ने बड़ा हल्ला-गुल्ला किया और मेरे विरुद्ध सम्मन जारी किए गए। इसलिए इंडिया कौंसिल की ओर से आवेदन होनेवाला है, ऐसा ज्ञात हुआ है। इस काम में ऐंग्लो-इंडियन लोग न्याय चाहते हैं और मैं उन्हें वह प्राप्त करा देना चाहता हूँ।

यह सब राष्ट्रीय कार्य है तो इस कार्य के लिए कानूनी सलाह आदि प्राप्त करने के लिए लगनेवाले खर्च में क्या आप भी हिस्सेदार नहीं होंगे?'

(देशभक्त वासुदेव भट्टाचार्य का पता—40 fitzory street, fitzory square, London w.)

५ मार्च, १९०९

उग्रवादियों को मिटाओ

लंदन : दिनांक १९ मार्च, १९०९। 'Crush the extremists; rally round the moderate' (उग्रवादियों को मिटाओ और मध्यममार्गियों से मेल करो) इस सूत्र का पालन करने से हिंदुस्थान में अपनी सत्ता फिर से सबल और सतेज होगी। ऐसा संदेश स्वयं लॉर्ड मोर्ले की ओर से ब्रिटिश लोगों को दिया गया है। इस रामबाण औषधि का प्रयोग निरंकुशता से प्रारंभ हुआ है।

मध्यममार्गियों से मेल करना कितना ही सुलभ हो, पर उग्रवादियों को नाम शेष करना उतना सुलभ नहीं है। नामशेष कैसे करेंगे? मायावी गपों से? वह समय अब निकल गया है। कारागृह में बंद करके? बंदी नसे त्यातील कोण बोला। जो लोक दैवे परदास केला॥ तो बंदी तद्धहि तुरुंगशाला। कारागृहा चे भय काय त्याला॥

उनमें कौन बंदी नहीं है। जो लोग प्रभु ने पर-दास बनाए हैं, वे बंदी उनकी भूमि बंदीशाला। फिर उन्हें कारागृह का क्या भय? देश निकाला देकर, सख्त मजूरी से? फाँसी पर चढ़ाकर? बंदूक से मारकर? किस उपाय से उसको नामशेष किया जाएगा? प्रह्लाद का हरिनाम और गोकुल का गोविंद! उनको मिटाने के लिए जो भी शस्त्र उठा, वह शस्त्र ही मिट जाता था। सुप्त क्रांति के ये बीज वेग से बढ़ते उत्थान पाते हों तो उनका पतन अब कौन कर सकेगा? किस तरह करेगा?

और नामशेष करने का निश्चय कर यदि कोई सज्जित हो गया, तो भी जिसको नामशेष करना है, उस उग्रवादी को पहचानना भी कोई सरल नहीं है। किसे उग्रवादी कहोगे? अब से पाँच-छह वर्ष पूर्व गोखले उग्रवादी थे। परंतु उनको नामशेष करने की बात का डर यदि किसीको सबसे अधिक है तो वह सरकार ही है। उन्हें देशनिकाला न दिया जाए। इसलिए लोक पक्ष से अधिक ईश्वर और सरकार से प्रार्थना तो अंग्रेज ही करता होगा। कल तक 'मरखनी' लगनेवाली वे गाएँ आज इतनी गरीब लगने लगी हैं, वह उनमें कोई फर्क आने के कारण नहीं, वरन् गाय से भयंकर प्राणी क्षितिज पर आने के कारण है। एक-डेढ़ वर्ष पूर्व विपिनचंद्र पाल उग्रवादियों के एक नेता समझे जाते थे और अब वास्तविक उग्रवादी सामने आ गया है, ऐसा जानकर उसे नामशेष करने के लिए लाठी भाँजने लगे ही थे कि पंडित श्यामजी की दहाड़ सुनाई पड़ी। फिर कल महाबली लगनेवाले विपिनचंद्र पाल सरकार को आज एक सामान्य कानूनी माँग करनेवाले थोड़ी अधिक टुर-टुर करनेवाले नरमदलीय बाबू लगने लगे। सारांश यह कि दिन-ब-दिन उग्रवादियों को नामशेष करना जितना कठिन होता जा रहा है, यह पहचानना भी उतना ही असंभव होता जा रहा है कि वास्तविक उग्रवादी कौन है।

प्रयास करेंगे तो सफलता मिलेगी, ऐसा सोचकर इस दुर्घट कार्य को सरकार ने अपने हाथ में लिया है। हिंदुस्थान में एक तरफ बेंत से मारना और दूसरी ओर प्यार से सहलाना प्रारंभ हुआ। जो औषधि हिंदुस्थान में कारगर लगी, वही इंग्लैंड के इन दो-तीन वर्षों में बहुत ही उन्मत्त होते जा रहे भारतीय विद्यार्थियों को भी दी गई। पार्लियामेंट में सुधार देने के संबंध में रोज रात में बहसें चल रही हैं। हिंदुस्थान के इतिहास में भी अति प्रागतिक वस्तुक्रांति घटित होने की डुग्गी पिटवाई जा रही है। उस तरीके से नरम दल को लंदन में इस पक्ष का नाम भी शेष नहीं है, इसलिए उन्हें अपने मित्रों से मिला लेने की शान बघारी जा रही है। उसी समय लंदन के हर एक विद्यार्थी पर अपमानास्पद आरोप लगाए जा रहे हैं। इंडिया हाउस पर चौबीस घंटों का कड़ा पहरा बैठाया गया है। पंडित श्यामजी के नाम से सब ओर हल्ला किया जा रहा है। विपिनचंद्र पाल एवं अन्य लोगों को जासूसों ने घेर रखा है। परंतु इस सारे द्वेष

और आशंका का परिणाम क्या हुआ ? पूछने पर एक गुप्त पुलिसवाले ने बताया कि इस डर से भारतीय विद्यार्थी राजनीति छोड़ देंगे, ऐसा सरकार का अनुमान है। इस अनुमान का प्रत्युत्तर यह मिला कि इंडिया हाउस में आयोजित होनेवाली सभाओं में भारी भीड़ अब हर रविवार को आती है।

हर्बर्ट स्पेंसर की शिष्यवृत्ति के लिए पंडित श्यामजी द्वारा ऑक्सफोर्ड में दिया हुआ दान वह विश्वविद्यालय लौटा दे, इसलिए यूनिर्वसिटी में पंडितजी की देशभक्ति को गौरवान्वित करने के लिए उनके अभिनंदन का प्रस्ताव उन्हें भेजा गया। लंदन में उस सरकारी नि:पात योजना से लोग कितना डर गए हैं, यह समझने के लिए एक ही बात कहना काफी होगा और वह यह कि जैसे हिंदुस्थान में सुरेंद्र (सुरेंद्रनाथ बनर्जी) सरकार को नरम लगे, वैसे ही लंदन में सरकारी कृपा को पात्र न लगे तो भी 'डर' को अपना आदमी विपिनचंद्र पाल ही लगता है। लंदन में सारे समाचारपत्र विपिनचंद्र पाल को प्रकट रूप से 'नरम' कहते हैं। लंदन की और इंग्लैंड की भारतीय कॉलोनी सरकार के नामशेष-कार्यक्रम से डरी है।

तात्पर्य यह कि इंग्लैंड के सारे समाचारपत्र चिढ़ गए। देशवीरों के स्मारक बनाएँ और देशभक्त खुदीराम बोस, कन्हैयालाल आदि तरुणों को 'देशवीर' होने का सम्मान मिलना चाहिए—पंडित श्यामजी की यह राजद्रोही बात इंडियन सोशियोलॉजिस्ट पत्र में प्रकाशित होने के बाद से उनपर गालियों की वर्षा होने लगी है। विपिनचंद्र ने भी इस कागज की लड़ाई में हिस्सा लिया। 'इवनिंग स्टैंडर्ड' ने विद्यार्थियों पर हल्ला करने का जिम्मा लिया और 'seditious students, rebellious Indians' आदि शीर्षक से पहले छिपकर गोलीबारी की, परंतु अंत में परदा हटाकर देशभक्त सावरकर पर खुले रूप से दोषारोपण करना उसने प्रारंभ किया। सारे विद्यार्थियों को गुमराह करनेवाले वही व्यक्ति हैं। अनुमान है कि इस अनर्गल लेख के बारे में सावरकर के एक मित्र द्वारा करारा और धमकी भरा उत्तर भेजते ही स्टैंडर्ड के संपादक थोड़े चुप बैठे और एक दिन चमत्कार घटित हुआ।

इस दैनिक 'स्टैंडर्ड' का प्रतिनिधि देशभक्त सावरकर से मिलने आया। पंद्रह दिनों तक जिसने ऊटपटाँग टीका की, वह यदि पंद्रह दिन पूर्व ही करता तो कुछ बिगड़ता नहीं। फिर भी उस प्रतिनिधि ने देशभक्त सावरकर से खुले मन से भेंट की। स्वयं संपादक कहते हैं—'Presently a respected Indian, with yuth and intelligence stamped upon his greeting. It was Mr. V. D. Savarkar.'

भारतीय राजनीति, इंडिया हाउस, भारतीय विद्यार्थी, अन्य आंदोलन आदि विषयों पर घंटा भर चर्चा हुई और वह भेंटवार्त्ता कुछ सच, कुछ झूठ दूसरे दिन

'स्टैंडर्ड' में प्रकाशित हुई। फिर भी अन्य पत्रों ने अभी गाली-गालौज जारी रखी है। उनमें से Sunday Chronicle पत्र के संवाददाता की जानकारी काफी-कुछ वस्तुस्थिति के आसपास होने से उसमें के एक-दो उद्धरण देने से वास्तविक स्थिति काफी स्पष्ट हो जाएगी।

Sunday Chronicle का संवाददाता इंडिया हाउस में देशभक्त सावरकर से मिलने आया। इंडिया हाउस पर अन्य पत्रकार जो आरोप लगाते हैं, वैसा भयंकर कुछ दिखा नहीं, लेखक Campel Green ऐसा स्पष्ट कहता है—'It may be that any eyesight is not good! It is a house of mystery, Mr. Shyamji Krishna Verma works for the independence of India. If he does not approve the assasinations of British officials who accidently or incidently suffer there by he excuses them. He has offered five thousand rupees towards a fund of Indian Martyers Memorial for the men hanged in Bengal. Anyhow the shadow of Shyamji Krishna Varma is in India house. That is to be fair and to say the least. Now what is the answer? I had an opportunity of a long friendly discussion with Mr. V. D. Savarkar, who seems to be not only the spokesman for the students but the spokersman for Mr. Shyamji Krishna Varma. He is a young Grey's Inn law student, 23 years age at guess. He has a clear olive complexion, clear, deep penetrating eyes, a width of jaw, such as I have seen in few men. His English is excellant. If I mistake not Mr. Savarkar will go far–I hope he will go far in the right direction.'

इंडिया हाउस से जुड़े प्रश्नोत्तर के संबंध में वह कहता है—'मेरे पूछने पर उन्होंने बताया कि इंडिया हाउस विद्यार्थियों के रहने की एक संस्था है। यहाँ आने के लिए किसी एक राजनीतिक मत का होना चाहिए, ऐसा नियम बिलकुल नहीं है। जो नियम है, वह यह कि निवासी एक पौंड दे और रहने तथा खाने की सुविधा ले। श्यामजी कृष्ण वर्मा इस घर के झगड़े में कभी नहीं पड़ते। हाँ, यहाँ राजनीतिक चर्चाएँ होती हैं, पर यदि आप स्वयं सरकारी निवास चलाएँ तो वहाँ भी वे होंगी ही, उसके बिना कभी चलेगा नहीं। राजनीति तो यहाँ का प्राण है। यहाँ आप जैसा कह रहे हैं, वैसा करनेवाले और ब्रिटिशों के राज को कल्याणकारी बतानेवाले लोग भी आते हैं। वाद-विवाद चलते हैं। सत्य एवं तर्क जिसकी तरफ होता है, उसके मत प्रसार पाते हैं।' वह लेखक कहता है—'Let me state a

fact before an impression. The fact is Mr. V. D. Savarkar believes in India for Indians, in the complete emancipation of India from the British rule. He says India has nothing for what to thank the English, or less it be the denationalisation as he calls it, of the Hindus.'

स्वयं के विचार बहुत ही विस्तार से देकर वह लेखक एक बात छोड़ देता है। ऐसा कहते हैं कि वे सज्जन 'रेडिकल' माने गोखले के आशा-केंद्र में लिबरल हैं, उनसे भी लिबरल हैं। फिर भी उन्होंने स्पष्ट माना है कि हिंदुस्थान पर ब्रिटिशों का राज सूत-बराबर भी पीछे हटे बिना हम चलाएँगे, तलवार से भगाए बिना हम जानेवाले नहीं और तलवार तुम्हारे पास बची नहीं है। अत: उभय पक्षों के हित में ब्रिटिश राज हिदुंस्थान में बने रहना ही उत्तम है। इसके अलावा भी बहुत चर्चा हुई। यह ध्यान में रखने योग्य है कि यह लेखक यह स्वीकार करता है कि अन्य पत्रकारों द्वारा लगाए गए आरोप यथातथ्य नहीं हैं, 'Mr. Savarkar said—we do not mind detectives watching outside and following us, if the climate suits them. That last is a quite English touch. It shows how the British hand has moulded the intellect of young India. It has been breathed into the British joke...I have no evidence of fact which would justify me in reversing the statement of this humble minded young leader of India House.'

'डेली मेल', 'मैनचेस्टर डिस्पैच' आदि पत्रों ने भी सावरकर से भेंट करके लेख लिखे हैं।

९ अप्रैल, १९०९

सर कर्जन वायली की हत्या

लंदन : स्वयं लंदन नगर में आज डेढ़ माह से सारे भारतीय लोगों पर भारतीय-अंग्रेजी जासूसों की सख्त नजर होते हुए भी सर कर्जन वायली जैसे इंडिया ऑफिस का केवल प्रमुख ही नहीं, अपितु बड़े नामवर अधिकारी का खून होने का समाचार हिंदुस्थान में विद्युत् वेग से आकर अब बासी भी हो गया होगा। सर कर्जन वायली इंडिया ऑफिस के मुख्य केंद्र थे और यहाँ के भारतीय विद्यार्थियों के संग-साथ के लिए और उनकी सहायता करने हेतु सरकारी नीति के अनुसार निरंतर अविश्रांत प्रयास करते रहते थे। सेक्रेटरी ऑफ स्टेट हर नए मंत्रिमंडल के साथ बदलते हैं, परंतु हिंदुस्थान के प्रशासन के सारे सूत्र एवं दिशा इंडिया ऑफिस में

कार्यरत अधिकारियों के हाथों में रहते हैं। इन अधिकारियों में सर कर्जन वायली अप्रतिम चतुर व्यक्ति थे। उन्हें ज्ञात नहीं था कि ऐसा भारतीय व्यक्ति इंग्लैंड में नहीं होता था। राजनीति और व्यक्ति से संबंधित हर समाचार की पूरी जानकारी इस व्यक्ति के पास रहती थी। बहुत क्या कहा जाए, सर कर्जन वायली हिंदुस्थान के शासन के सूत्र बाह्यत: सँभालनेवाले सेक्रेटरी ऑफ स्टेट की प्रत्यक्ष आँखें ही थे। हिंदुस्थान में अंग्रेजी राज्य की ईमानदार सेवा के बीस वर्षों में उन्होंने बड़ा नाम कमाया था।

लॉर्ड मोर्ले से लेकर सारे ऐंग्लो-इंडियन लोगों में जिसका न होना बहुत खलनेवाला है, ऐसे पुरुष को क्रूरता और निर्भयता से मारने का आरोप जिस तरुण पर है, उसका नाम देशभक्त मदनलाल धींगरा है। इस युवा के बारे में छानबीन अभी जारी है। गत वर्ष इसने भी अन्य लोगों की ही तरह अपने कोट पर '५७ की वीर स्मृति-मुद्रा धारण की थी। कॉलेज में किसी एक मित्र ने मजाक में वह मुद्रा दूर फेंक दी। तब यह तरुण इतना भड़क उठा कि एक छुरा लेकर उसपर टूट पड़ा। दूसरे एक अवसर पर जापानी लोगों की बहादुरी के संबंध में बातें चल रही थीं। तब देशभक्त धींगरा को वे बातें बहुत देर तक सहन न हुईं। वह बोला, 'उसमें कुछ विशेष नहीं है। मेरा भारत राष्ट्र भी उतना ही बहादुर और साहसी है और जल्दी ही हमारे धैर्य की भी कीर्ति लोग गाने लगेंगे।' अन्य भारतीय तरुणों ने कहा कि यह खोखली बात है, शारीरिकि कष्ट और देशवीरता में हमारे लोग अटल नहीं रहते। अंत में बात शर्त पर आ गई और 'भारतीय लोगों के साहस का नमूना तो देखें', यह कहकर किसीने एक आलपिन लेकर धींगरा के हाथ पर गड़ाना चालू किया। धींगरा ने वह हाथ पूर्ववत् ही स्थिर रखा—आलपिन पूरी अंदर चली गई और रक्त बाहर बहने लगा, फिर भी धींगरा का हाथ हिला नहीं।

वायली के वध का विरोध करने के लिए सोमवार को देशभक्त भावनगरी के प्रयास से भारतीय लोगों की एक सभा में काफी भारतीय आए थे। पहला प्रस्ताव देशभक्त भावनगरी ने रखा। प्रस्ताव में और उनके भाषण में यह मंतव्य था कि जिस व्यक्ति की हत्या के आरोपी के रूप में जाँच होती है, उसपर मानो आरोप सिद्ध हो चुका है। फिर देशभक्त अमीर अली उठे। उन्होंने भी उसी प्रकार से, पर थोड़ा कम, हल्ला किया। समय कम था, इसलिए अध्यक्ष ने प्रस्ताव को सभा के सामने पढ़ा और यह पूछा कि वह किसे स्वीकार्य है? बहुत से हाथ उठे देखकर उन्होंने कहा, 'सर्वसम्मति से पारित है।' यह वाक्य सुनते ही 'नहीं—नहीं, विरुद्ध मत भी यहाँ हैं' ऐसा एक स्वर फूटा। क्या? विरोधी मत? अध्यक्ष चिल्लाए। तब सब पीछे घूमकर देखने लगे। 'हाँ-हाँ, मेरा मत इसके विरुद्ध है'—ऐसा अधिक

जोर का प्रतिशब्द उठा। 'उसका नाम लिख लो—उसे खड़ा करो—कौन है वह?' ऐसा शोर होने लगा।

'मैं यहाँ हूँ और अध्यक्ष से पुनः निवेदन करता हूँ कि प्रस्ताव सर्वसम्मति से पारित नहीं करें।' सभा में मंद स्वर में 'सावरकर—सावरकर' सुना जाने लगा। सर्वसम्मति से प्रस्ताव पारित कराने की इच्छा जिनकी थी, उन्होंने गुस्से में देशभक्त सावरकर को फिर से डाँटने का प्रयास किया। परंतु सभा के मध्य में खड़े रहकर अधिक शांतिपूर्वक उन्होंने अपने मत को विरुद्ध बताया। तब भावनगरी गुस्से से लाल होकर और मंच से नीचे कूदकर—पकड़ो, उसको पकड़ो! की गर्जना करने लगे। तीन-एक मिनट तक अद्‌भुत शांति-भंग हो गई और फिर एकाएक—पकड़ो, बाहर करो उसे—आदि की चिल्लाहट और कुर्सियाँ तथा डंडे सब ओर से उठने लगे। मेरा मत क्यों विरुद्ध है, यह अध्यक्ष सुनें, ऐसा देशभक्त सावरकर कह रहे थे।

गुस्से में पागल हुए मुट्‌ठी भर लोगों की चिल्लाहट में उनका वह कहना सुनाई नहीं दिया। अध्यक्ष ने देशभक्त भावनगरी को पीछे खींचकर इस अतिरेक के लिए उनको डाँटा। परंतु अब सभा में पक्ष-विपक्ष बन गए थे और हल्ला-गुल्ला बढ़ गया था। इन सबके बीच में शांति से खड़े देशभक्त सावरकर पर पामर नाम के यूरोपीय ने आक्रमण किया और उनकी आँख पर चोट की। फिर भी सावरकर बिना एक इंच इधर-उधर हुए और बिना प्रत्याक्रमण किए—'फिर भी मेरा मत विरुद्ध ही है', यह कहते रहे। उनकी आँख पर लगी चोट से रक्त बहने लगा। यह देखकर सबका गुस्सा बहुत बढ़ गया। देशभक्त सुरेंद्रनाथ बनर्जी ने संतप्त होकर कहा कि सावरकर को अपना मत प्रकट करने का पूर्ण अधिकार था, उनपर हाथ चलाना outrageous है। और फिर वे सभा से उठकर चले गए। महिलाएँ भय से चिल्लाते हुए हॉल के बाहर चली गईं। हॉल में कुर्सियाँ फेंकी जाने लगीं। गाली-प्रतिगाली का शोर बढ़ गया। तभी भारतीय तरुणों में से एक ने देशभक्त सावरकर पर आघात करनेवाले पामर के सिर पर एक डंडा मारा। इससे वह भी रक्त से सन गया। पुलिस सभा में घुस आई थी। लगभग आधे घंटे में अध्यक्ष ने प्रस्ताव को किसी तरह पढ़कर सभा समाप्त होने की बात कही। देशभक्त सावरकर को पहले ही बाहर ले आया गया था और मित्रों के साथ घर भेज दिया गया था। दूसरे दिन उन्होंने—अपना मत क्यों विरुद्ध था आदि—सारी बात स्पष्ट करते हुए एक पत्र 'टाइम्स' को लिखा। उस पत्र से प्रभावित होकर अधिकतर पत्रों ने वह पत्र स्वयं ही प्रकाशित किया। सारा क्षुब्ध हुआ वातावरण उस पत्र से शांत हो गया। 'डिस्पैच' नामक समाचारपत्र में छपे उस पत्र का एक अवतरण नमूने के लिए दे रहा हूँ—

'The pale youth who made so dramatic a protest at

yesterday's meeting of Indians held to denounce the murder of Sir Curzan Wyllie turns to be Mr. Vinayak Damodar Savarkar. He is a fervent nationalist. Mr. Savarkar who as an extremely brilliant scholar, is at present, an individual of interest apart from his appearance at yesterday's meeting. He is the law-student here whom the Benchers of his In refused to call, and at present. I understand he is waiting for the decision of the House of Lords to whom he has appealed. Like most of his nationalists he is a political theorist, and is deeply versed in all the literature of political liberty. He translatad Mazzini's writings into Marathi.'

मेरी जानकारी के अनुसार इसमें एक चूक दिख रही है और वह यह कि देशभक्त सावरकर पर चल रहे 'ग्रेज इन' के प्रकरण में उसमें फिर सुनवाई होगी, इसलिए अभी निर्णय नहीं हुआ है। १४ जुलाई को उसका निर्णय महाराष्ट्र के पाठकों को बाद में सूचित करूँगा।

३० जुलाई, १९०९

मदनलाल धींगरा

लंदन : १६ जुलाई। जिस तरुण ने कर्जन वायली का भयंकर खून किया था, उसके संबंध में जानकारी अब समाचारपत्रों में पूरे विस्तार से प्रकाशित हो रही है। 'टाइम्स', 'डेली न्यूज', 'डेली क्रॉनिकल' से लेकर एकदम मामूली 'ग्राम पत्रिका' तक सारे पत्र आजकल हर रोज व हर घड़ी हिंदुस्थान की चर्चा से, इस खून के विवरण से, धींगरा के वर्णन से, भरे होते हैं। जिस दिन सुबह खून का पहला समाचार मिला, उस दिन हर रास्ते से समाचारपत्र विक्रेता जोर-जोर से चिल्लाते फिर रहे थे। 'धींगरा ने खून किया! एक भारतीय का निर्भयतापूर्ण साहस!' आदि तेज आवाजें सुनकर मैं घर की खिड़की से झाँकने लगा तो देखा कि हर घर के दरवाजे पर समाचारपत्र बेचे जा रहे थे। उस दिन सारे ब्रिटिश द्वीप में, सारे व्यक्तियों के मुँह से—हिंदुस्थान, हिंदुस्थान—यही एक शब्द निकल रहा था। तब से अब तक समाचारपत्रों में हिंदुस्थान की चर्चा के सिवाय दूसरे किसी भी विषय को कोई स्थान नहीं मिला था। क्रिकेट की भी चर्चा बंद पड़ी है, दूसरे विषयों की बात कौन करे?

जिस दिन रात में धींगरा ने सर कर्जन पर चार गोलियाँ दागीं, उस दिन खून के कोई आधे घंटे पहले धींगरा मिस बेक नामक अंग्रेज महिला के साथ (यह महिला उस संस्था की सचिव थी जिस संस्था का उत्सव उस दिन था) परीक्षा के

संबंध में गपें लगाता शांति से बैठा था। तब भी उसके पास दो पिस्तौलें, छुरी और कृपाण थे। वह सर कर्जन पर दृष्टि लगाए हुए था। जब कर्जन आ गए तब वह दरवाजे के पास गया और कुछ बातें करने का बहाना कर सर कर्जन के पास खड़ा रहा। बातें शुरू होते ही उसने गोली नहीं चलाई, वह बहुत धीरे बातें करने लगा। तब कर्जन उसके और पास आ गए। उनका मुँह एकदम पास आते ही पलक झपकने से भी कम अवधि में चार गोलियाँ उसने दाग दी थीं। पास ही खड़े एक पारसी डॉक्टर लाल काका उसे पकड़ने के लिए लपके तो उनपर भी उसने गोली चला दी। वे नीचे गिर गए। सर प्रोबेन पीछे से दौड़े। निर्भय धींगरा उनकी ओर मुड़कर उनसे कुश्ती करने लगा। दो और व्यक्ति उसका हाथ पकड़ने के लिए आगे आए, पर उन सबको झिड़ककर उसने सर प्रोबेन को इतने जोर से लात मारी कि वे धम्म से नीचे गिरे, उनकी दो पसलियाँ टूट गईं और उनका चेहरा बिगड़ गया। उस समय कुछ और भारतीय उससे जूझ रहे थे। उसने अपना पिस्तौल फिर निकाला परंतु भारतीयों पर गोलियाँ चलाना उसे ठीक नहीं लगा। उसने पिस्तौल हटा लिया और वह शांत खड़ा रहा।

वह इतना शांत था कि उसकी नाड़ी देखते हुए डॉक्टर ने कहा कि वहाँ इकट्ठा हुए और उस भयानक दृश्य को देखनेवाले सब लोगों में धींगरा की नाड़ी अधिक शांत और नियमित चल रही थी। उसकी जेब में दो कागज उसकी स्वीकारोक्ति के मिले। सब मिलकर जब उसके हाथ-पैर बाँधने लगे, तब उसने कहा, मुझे अपना चश्मा थोड़ा ठीक कर लेने दो, फिर मेरे हाथ बाँधना। पुलिस थाने में जाने पर वह आँखें बंद कर दीवार से सिर टिकाकर कुछ देर बैठा और फिर हँसते हुए गपें मारने लगा। उस रात वह गहरी नींद सोया। दूसरे दिन उसने डटकर भोजन किया। कुछ दिनों बाद उसके एक-दो मित्रों ने उससे मिलने की कोशिश की, उनमें से एक को अनुमति मिली और वह जाकर उससे मिला। तब धींगरा इतना निर्भय और प्रसन्न था कि उसकी माँगी हुई वस्तुओं में एक दर्पण भी था। 'मुझे ड्रेस करने के लिए यहाँ एक दर्पण भी नहीं है, इसलिए एक सुंदर दर्पण भेज देना' ऐसा उसने कहा, मानो उसे विवाह की तैयारी करनी थी।

पुण्य कर्म करते ऐसी निर्भीक वृत्ति स्वाभाविक होती है और पाप कर्म में वह मनुष्य को अत्यधिक बीभत्स स्वरूप देती है। भारतीय लोगों को उससे मिलने की सख्त मनाही है। गत वर्ष से भारतीय विद्यार्थियों को अंग्रेजी संस्कार सिखाने और साथ में उनपर सूक्ष्म नजर रख उन्हें राजनीति से परावृत्त करने के लिए जो अनेक संस्थाएँ स्थापित हुईं, उनमें से एक संस्था ऐसी थी जो बड़े-बड़े ऐंग्लो-इंडियनों के घर में बड़ा समारोह आयोजित कर भारतीय विद्यार्थियों को चाय-पान के लिए

बुलाती थी। धींगरा ऐंग्लो-इंडियनों द्वारा चलाए जानेवाली राजनिष्ठों की इस संस्था का नियमित सभासद था और अनेक ऐंग्लो-इंडियनों को उसकी राजनिष्ठा के प्रति बहुत विश्वास था। जहाँ सद्शील विद्यार्थियों के सिवाय कोई भी राजनीतिबाज चटोर विद्यार्थी कभी भी आ नहीं सकता था, ऐसे चाय-पान समारोह में ऐसे बहुविश्वासी व्यक्ति द्वारा सर कर्जन का खून करने के बाद से ऐंग्लो-इंडियनों ने सार्वजनिक पत्र लिखकर सूचित किया है कि 'भारतीय विद्यार्थियों को दुष्ट राजनीति से परावृत्त करने के लिए चाय-पान समारोह आयोजित करना हमें अब तक मान्य था, पर अब वैसे समारोह हम कभी भी आयोजित नहीं करेंगे।' सर चार्ल्स इलियट के यहाँ भी ऐसे समारोह करने की बारी आ गई थी। अत: उन्होंने समारोह नहीं करने की घोषणा कर दी।

हिंदुस्थानी विद्यार्थियों पर नजर रखने के लिए हाल ही में नियुक्त हुई और रात-दिन अथक काम करनेवाली समिति भी आजकल सर नहीं उठा रही है। प्रथम गुप्त षड्यंत्र का पता नहीं चला। अत: खोज बंद कर दी गई। इतना ही नहीं अपितु हर भारतीय विद्यार्थी पर यथेष्ट दृष्टि रखनेवाले डिटेक्टिव इस खून के बाद से एकदम नदारद हो गए हैं। उसका मुख्य कारण यह है कि अंग्रेज डिटेक्टिव के स्थान पर अब इंडियन रखने की बात सोची गई है। बड़े-बड़े अखबारों में शिकायतें आई हैं कि अंग्रेज डिटेक्टिव इंडियन लोगों की भाषा का ज्ञान नहीं रखते। अत: उन्हें रखने से रत्ती भर भी लाभ नहीं होता। हिंदी समझनेवाला अंग्रेज डिटेक्टिव रखा तो ये इंडियन पंजाबी या मराठी या बंगाली में बोलते हैं, इसलिए हिंदुस्थान से उत्तम स्वदेशी गुप्तचर लाए जाएँ, यह योजना सबको पसंद आ गई है। पर आज तक क्या कम इंडियन गुप्तचर यहाँ थे जो अब अधिक बुलाने से अधिक लाभ होनेवाला है? डिटेक्ट करने के लिए यदि कुछ न हो तो कितने ही डिटेक्टिव हो जाएँ, उससे क्या लाभ? और दुर्भाग्यपूर्ण कहानी यह कि अन्य सामान्य विद्यार्थियों के पीछे डिटेक्टिव लगे होते हुए मुख्य धींगरा जैसे भयंकर व्यक्ति पर रत्ती भर भी दबाव नहीं था। डिटेक्टिव विभाग के प्रमुख सर कर्जन वायली का खून जो डिटेक्ट नहीं कर पाया, उस डिटेक्टिव विभाग का आदि से अंत तक सुधार होना ही चाहिए—सभी राजनिष्ठ एवं शांतिप्रिय भारतीय लोगों की पूरे मन से यही इच्छा और निवेदन है।

गत सप्ताह धींगरा को सेशन को सुपुर्द किया गया। उस दिन शाम को सारे लंदन शहर में धींगरा द्वारा दिए गए उत्तर की ही चर्चा थी। उस विस्तृत शहर की हर दीवार पर, हर दुकान पर धींगरा का नाम एक जैसा लटका हुआ था। धींगरा का उत्तर अद्भुत था। वह कहता है, मेरा बदला तो मेरे देशबंधु लेंगे ही। धींगरा स्वसमर्थन में कहता है—मैं देशभक्त हूँ—धींगरा हिंदुस्थान के अभ्युदय के लिए मर

रहा है—आदि बड़े-बड़े टाईप में छपे हुए पत्रक, पोस्टर भिन्न-भिन्न समाचारपत्रों के विज्ञापनों जैसे एक ही पंक्ति में सारे इंग्लैंड में लटके हुए थे। उसके किए हुए खून से जितना नहीं हुआ, उतना उत्तेजक आंदोलन इंग्लैंड में कोर्ट में दिए हुए उसके इस उत्तर से हो गया। सेशन में मुकदमा चलेगा तब पूरी जानकारी दूँगा, धींगरा को फाँसी होगी ही। उसे तो वही चाहिए, क्योंकि परसों कोर्ट में उत्तर देते हुए अंत में उसने कहा था—'I made the statement not becouse I wished to plead for mercy or anything of that kind. I wish that the English people should sentence me to death for in that case the vengeance of my countryman will be all the keener. I put forward this statement to show the justice of my cause to the outside world specially to our sympathisers in America and Germany.'

६ अगस्त, १९०९

सावरकर पर 'ग्रेज इन' का अभियोग

लंदन : २२ जुलाई, १९०९। देशभक्त सावरकर पर 'ग्रेज इन' में चल रहे मुकदमे में साक्ष्य आदि एकत्र करने की पूरी कार्यवाही हिंदुस्थान सरकार की मदद से की गई, इतने से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रश्न में मुख्य जिद किसकी थी? बैरिस्टरी की परीक्षा पास होने के बाद सनद प्राप्त करने के लिए दो बेंचरों की अनुशंसा चाहिए। उसे प्राप्त करने के लिए देशभक्त सावरकर कुछ लोगों के यहाँ गए। तब उनमें से दो ने साफ बताया कि भारतीय लोगों की जो अनुशंसा हम करते हैं, वह अब इंडिया ऑफिस के अधिकारियों की अनुमति के बिना नहीं देंगे। आज मैं आपके लिए इंडिया ऑफिस से पूछताछ करूँगा और कल आपको इस विषय में सूचित करूँगा।

इसी समय यह स्पष्ट हो गया था कि सारे इंग्लैंड में भारतीय व्यक्तियों के लिए हिंदुस्थान से अधिक उदारता दिखाना कितना अयथार्थ और अप्राकृतिक है। फिर भी 'ग्रेज इन' के दो बेंचरों ने जब देशभक्त सावरकर की अनुशंसा की, तब उनपर खुले आरोप लगाने के सिवाय कोई दूसरा मार्ग शेष नहीं रह गया था। इसलिए उनपर लगाए गए आरोपों का नोटिस दिया गया। आरोप जितने अधिक भयंकर लगाए जा सकते थे, उतने लगाए गए। राज क्रांति करना, हिंदुस्थान को पूर्ण स्वतंत्रता की बात कहना, रक्तपात और युद्ध के रास्ते जाने के लिए लोगों को उकसाना आदि अर्थात् कानून में मिलनेवाले सारे भयंकर शब्द इकट्ठा करके आरोप बनाए गए। इतना ही नहीं, आधा मुकदमा हो जाने के बाद भी नए आरोप जोड़े जाते रहे।

सार्वजनिक कोर्ट में जो साक्ष्य एक क्षण भी टिक नहीं सकता था, वह यहाँ निजी जाँच में गुपचुप रीति से चालू रखना आवश्यक था। देशभक्त सावरकर पर आज दो वर्षों से नियुक्त डिटेक्टिव की रिपोर्ट साक्ष्य के लिए सामने रखी गई। हिंदुस्थान सरकार की और नासिक के मुकदमे में प्रस्तुत देशभक्त सावरकर के सारे पत्र अनुवाद करके दिए गए और इस तरह से जितना संभव हो सका, उतना साहित्य एकत्र कर यह मुकदमा सजाया गया। यह सारी कार्यवाही ऐसे व्यक्ति के समक्ष चल रही थी जिसका हिंदुस्थान और उससे संबंधित राजनीति से अगाध संबंध था। जैसे देशभक्त सावरकर के उस भाषण पर चर्चा हो रही हो जो उन्होंने गुरु गोविंदसिंह के समारोह में दिया था तो एक प्रश्न किया जाता है—गुरु गोविंदसिंह कौन है? ये सिखों के गुरु हैं। फिर आपने उसका समारोह क्यों किया? वे हिंदुस्थान के महान् पुरुषों में से एक थे। तब उत्सुकता से पूछा गया—yes : but was he prosecuted for sedition? (क्या उनपर राजद्रोह का मुकदमा चलाया गया था?)

ऐसी पूछताछ के चलते अंत में निर्णय हुआ। देशभक्त सावरकर का पुनर्निरीक्षण तीन घंटे चला। निष्णात बैरिस्टरों द्वारा उनसे कड़ी पूछताछ की गई। उसके बावजूद कुछ भी तथ्य सामने न आ पाने के कारण प्रारंभ से रचे गए आडंबर का नाश निश्चित हो गया। उस हफ्ते के कैक्स्टन हॉल की सभा में जो हुआ, वह भी आरोप माना गया। परंतु देशभक्त सावरकर का पत्र 'टाइम्स' पत्र में छप जाने के बाद वह आरोप भी निष्फल हो गया। अंत में यह निर्णय दिया गया कि देशभक्त सावरकर पर किसी तरह का आरोप सत्य प्रमाणित नहीं पाया गया है। इसलिए वे 'ग्रेज इन' के स्थायी मेंबर हैं, उन्हें मेंबरशिप के सारे अधिकार भी प्राप्त हैं, परंतु चूँकि उनपर संशय किया गया, इसलिए उन्हें आज ही सनद नहीं दी जा सकती।

इस तरह देशभक्त सावरकर पर आज रोक लगाई गई है। यदि बाद में उनका व्यवहार सरकार के अनुकूल रहा तो आगे उन्हें सनद दी जाएगी। परंतु मुझे ऐसा ज्ञात हुआ है कि देशभक्त सावरकर 'ग्रेज इन' की मेंबरशिप त्यागकर और अपना धन वापस लेकर वकालत के व्यवसाय को ही राम-राम कहनेवाले हैं। वे वैसा क्यों न करें? लोकमान्य सुरेंद्रनाथ बनर्जी की नौकरी एक निजी कारण से छीन ली गई और लोकमान्य अरविंद बाबू चूँकि घोड़े पर नहीं चढ़ सके, इसलिए सिविल सर्विस से बाहर हो गए। उसके बाद वे देशसेवा के लिए तन-मन-धन से समर्पित हो गए। देशभक्त सावरकर का वकालत का व्यवसाय न कर पाने का कारण न तो कोई स्वार्थ है और न ही कोई शारीरिक दुर्बलता। वह तो राष्ट्रभक्ति के लिए है। इसलिए इस क्षुद्र महत्त्वाकांक्षा को लात मारकर देशसेवा को पूर्णतः समर्पित कर लेने का उत्तरदायित्व उनपर अधिक ही आ पड़ा है।

रत्न की आभा नष्ट हो जाए, चंद्रकला निःशेष हो जाए। जलसंचय शारदक्षीणता से और दाता विभवता से जैसे अधिक ही शोभित होता है, वैसे ही देशभक्त पर आई संकट-परंपरा से वह अधिक ही प्रदीप्त हो जाता है। राष्ट्र जिए, इसलिए वे मरते हैं, राष्ट्र के ऐश्वर्य के लिए वे स्वयं दरिद्र रहते हैं—राष्ट्र पेट भर खाए, इसलिए वे भूखे रहते हैं—यह उपवास करने का महद्‌भाग्य देशभक्त के घर की ओर आ रहा है। वे उसको स्वीकार करेंगे ही, ऐसी उनके देशबांधवों की उत्कट इच्छा हो तो उसमें कोई आश्चर्य नहीं। देश को उनकी बैरिस्टरी से अधिक भिक्षावृत्ति की ही आवश्यकता है।

१३ अगस्त, १९०९

भयंकर नाटक का पटाक्षेप

लंदन : ३० जुलाई, १९०९। सर कर्जन वायली तथा लाल काका के अमानवीय खून का आरोप जिस तरुण पर लगाया गया था, उसकी जाँच पूरी करके उसे फाँसी का दंड दिया गया।

कारावास में बंद इस भारतीय तरुण के व्यवहार में किसी तरह के पागलपन के या मस्तिष्क-दोष होने की बात पकड़ में नहीं आई। इतना ही नहीं, उससे मिलने जानेवाले उसके पहचान के लोगों से वह बहुत ही हँसते-हँसाते गपें मारता था। पहले भारतीय लोगों को उससे मिलने नहीं दिया गया था, पर बाद में अनुमति दे दी गई थी। अंदर जानेवाले व्यक्ति की कड़ी जाँच-पड़ताल पहले की जाती थी। कारागृह में धींगरा से हिंदी भाषा में नहीं बोलने दिया जाता था, बाद में अंग्रेज पहरेदार के बिलकुल पास ही बातें करने की अनुमति दी जाती थी। धींगरा को छूना या मिठाई आदि कुछ भी भोज्य वस्तु देना यद्यपि कड़ाई से मनाही था, पर अन्य बातें करने की छूट थी। इसलिए रोज एक-दो व्यक्ति जाकर धींगरा से बतियाते थे। पंद्रह मिनट से अधिक बातें करने की मनाही थी। धींगरा ने अपने भाई से, वह जब उससे मिलने गया तो भेंट करने से इनकार कर दिया। दो बार उसने अपने भाई को बिना देखे ही लौटा दिया। इसका कारण यह था कि कैक्स्टन हॉल में आयोजित भारतीय लोगों की सभा में धींगरा के इस भाई ने मिस्टर मारिसन की प्रेरणा से सार्वजनिक रूप से कहा था कि इस व्यक्ति का भाई होने के कारण मैं लज्जित हूँ। परंतु अब इस भाई को अपने उस कृत्य के लिए बहुत खेद है और मरने के पूर्व अपने भाई से मिलने के लिए आँसू बहाते हुए उसे कई लोगों ने देखा है। इस एक भारतीय व्यक्ति के सिवाय अन्य किसी भी भारतीय व्यक्ति से मिलने से वह इनकार नहीं करता था, पर हर अंग्रेज व्यक्ति से मिलने से वह इनकार कर देता था। जिस दिन उसे फाँसी का दंड

दिया गया, उस दिन उससे मिलने गए उसके पूर्व मित्र सावरकर को नम्रता से नमस्कार कर उनसे अपने दो-तीन उद्देश्य पूरे करने का निवेदन किया। वे उद्देश्य उस तरुण की अद्भुत और निडर वृत्ति का काफी कुछ परिचय देते हैं। उसने मजिस्ट्रेट के कोर्ट में स्वयं ही कहा था—'I do not plead for mercy; nor do I recognize your authority over me. All I wish is that you should at once give me the capital punishment. I want to be hanged, for then the vengeance of my countrymen will be all the more keen.'

उसके क्रूर और निर्दय कृत्य का प्रायश्चित्त उसकी मृत्यु में ही है, यह जानते हुए उसने कहा कि मेरा पहला उद्देश्य यह है कि मेरी देह की उत्तर-क्रिया हिंदू धर्मानुसार होनी चाहिए तथा मेरे शव को किसी भी अहिंदू या मेरे भाई का हाथ नहीं लगना चाहिए। मेरी दूसरी इच्छा यह है कि मेरी दाह-क्रिया किसी ब्राह्मण की मंत्राग्नि से हो (धींगरा क्षत्रिय है)। मेरी तीसरी इच्छा है कि मेरे कमरे में जो कपड़े और पुस्तकें हैं, उनकी नीलामी कर दी जाए और उससे प्राप्त धन राष्ट्रीय फंड में दे दिया जाए।

भयंकर पागल है यह व्यक्ति! बेचारे के जीवन-प्रपंच का अंत हो रहा है, उसकी चिंता उसे नहीं है, पर कमरे में रखे फटे कपड़ों और दस-पाँच पुस्तकों को वह यूँ ही गँवाना नहीं चाहता और उसे राष्ट्रीय फंड में दिया जाए, यह बार-बार कह रहा है। क्या अमानुषिक पागलपन है!

२० जुलाई को धींगरा को कोर्ट में लाया गया। तब वह बहुत ही निश्‍चिंत और दृढ़ता से खड़ा था। कोर्ट के बाहर सौ से अधिक भारतीय विद्यार्थी एवं अन्य लोग अंदर घुसने के लिए खड़े थे, पर भारतीयों को अंदर जाने की मनाही थी। अंत तक उसका चेहरा उग्र और तिरस्कारपूर्ण बना रहा था और वह हो रहे कामकाज की ओर उपहास मुद्रा में उपेक्षा-दृष्टि से (Detiant attitude) देख रहा था, ऐसा सारे अंग्रेजी पत्रों ने लिखा है। उसने कोर्ट को सूचित किया कि मैं आपकी सत्ता नहीं मानता और चूँकि अपने देश के उद्धार के लिए मैंने यह कृत्य किया है, अत: मैं पूर्ण निर्दोष (not guilty) हूँ। धींगरा ने सॉलिसीटर आदि नहीं किया था। इसलिए—तुम्हें अपने समर्थन में कुछ कहना हो तो कहो—ऐसा उससे कहा गया। तब उसने यह कहा कि मेरी जेब में रखा मेरा वक्तव्य आपने ले लिया है, उसे पढ़ा जाए।

समाचारपत्रों की सूक्ष्म खोज या धींगरा की ओर से बार-बार किए गए निवेदन की परवाह न कर धींगरा की जेब और घर से मिली उसके वक्तव्य की प्रतियाँ प्रकाशित करने से पुलिस ने साफ इनकार कर दिया है। वह वक्तव्य क्या है और सरकार उसे छिपाकर क्यों रख रही है, इस संबंध में सब ओर चर्चा और

तर्क चल रहे हैं।

वह वक्तव्य पढ़ा ही नहीं जाएगा, ऐसा ज्ञात हो जाने पर निरुपाय हो मजिस्ट्रेट के सामने दिया हुआ उसका वक्तव्य पढ़कर सुनाया गया। उसमें उसने कहा है—मेरे देश में तरुणों को उनकी देशभक्ति के लिए फाँसी दी जा रही है और आजन्म कारावास का दंड दिया जा रहा है। इंग्लैंड के लिए अंग्रेजों को जो करना सिखाया जाता है, वही मेरे देशबंधु अपने देश के लिए करते हैं तो उनकी दुर्बलता का लाभ लेकर उन्हें मार दिया जाता है। उसका बदला लेने के लिए मैंने यह कार्य किया। हिंदुस्थान में जानेवाला और वहाँ दस हजार रुपए कमानेवाला हर एक अंग्रेज मेरे गरीब देशबंधुओं में से एक हजार देशबंधुओं का खून ही कर रहा है, क्योंकि वह जिस धन से चैन से जीता है, उससे हजार लोग जीवित रह सकते हैं। जिस तरह इंग्लैंड पर बलात्कार से राज करने का कोई भी अधिकार जर्मनी को नहीं है, ऐसे बलात्कार का बदला लेने के लिए मैंने यह कार्य किया। मेरे देश की महिलाओं पर बलात्कार हो रहे हैं। मेरे देश के लाखों लोग हर वर्ष भूखे मारे जा रहे हैं। गत पचास वर्षों में अकूत संपत्ति मेरे देश से लाई गई। यह देखते हुए जब अंग्रेज मुझे रूस या कांगो के लोगों की हालत पर चिंतित दिखते हैं, तब मुझे उनके ढोंग पर असहनीय तिरस्कार-भावना जाग्रत होती है। ऐसी स्थिति में इंग्लैंड को जीतकर उसपर राज करते किसी जर्मन को अहंकार से लंदन शहर में घूमते हुए देखकर किसी अंग्रेज तरुण ने उसे मारा होता तो उसकी देशभक्ति की जो स्तुति आप करते हो, उसी देशभक्ति से मैंने यह कृत्य किया है। मैं यह सत्य सारे विश्व को, विशेषकर अमेरिका और जर्मनी के अपने हितचिंतकों के लिए कह रहा हूँ— आपके लिए नहीं।

उपर्युक्त आशय का वक्तव्य हो जाने के बाद न्यायाधीश ने काली टोपी पहनी—कोर्ट ने धींगरा से फिर पूछा, 'तुम्हें फाँसी का दंड क्यों न दिया जाए, इस संबंध में तुम्हें कुछ कहना हो तो कहो।' तब उसने कहा, 'मैंने एक बार कहा ही है कि मैं आपके न्यायालय की सत्ता नहीं मानता। आपको जो अच्छा लगे, वह आप करें, मुझे उसकी परवाह नहीं, पर यह विश्वास रखें कि ऐसा एक दिन आनेवाला है जिस दिन हम सबल और सत्तासंपन्न होंगे। तब हमें जो लगेगा, वह हम भी आपके साथ करेंगे।' इस उत्तर पर न्यायाधीश ने कहा, 'मदनलाल धींगरा, किसी भी बात का रत्ती भर भी प्रभाव तुमपर नहीं होगा, यह मैं जानता हूँ। खून करने का आरोप तुमपर सिद्ध हो चुका है, इसलिए तुम्हें फाँसी का दंड दिया जा रहा है।' रीति के अनुसार धर्मगुरु ने—'परमेश्वर तुम्हें क्षमा करे' ऐसा कहा। इतने में धींगरा खड़ा हो गया। उसने कहा, 'मुझे फाँसी का दंड सुनाया, यह आपकी बड़ी कृपा है। अपनी

पवित्र देशभूमि के लिए अपनी यह तुच्छ देह बलिदान करने का जो सम्मान मुझे मिला उसका मुझे अभिमान है। मुझे किसीकी चिंता नहीं।' तुरंत ही तीन सिपाहियों के साथ मुसकराते हुए वह पिंजरे से चला गया।

उस भयंकर नाटक का यह अंतिम परदा हटा और यह भयानक दृश्य दिखाई दिया। अब केवल एक प्रवेश शेष है और वह समाप्त होते ही इस नाटक का भरतवाक्य होगा, ऐसी आशा है।

इस मुकदमे का निर्णय होते-न-होते दूसरा एक अलग ही ढंग का मुकदमा प्रस्तुत हुआ। देशभक्त सावरकर ने कैक्स्टन हॉल के धींगरा के विरुद्ध प्रस्तावित आगा खान के प्रस्ताव का जो सही विरोध किया, उसके बाद उन्होंने 'टाइम्स' में एक पत्र लिखकर यह स्पष्ट किया था कि उस प्रस्ताव का विरोध क्यों किया। यह पत्र सावरकर ने जिस दिन लिखा, उसी दिन रास्ते के दोनों तरफ समाचारपत्रों के विज्ञापन परचों पर 'सावरकर का समर्थन' आदि बड़े-बड़े अक्षरों में छपे शीर्षक दिख रहे थे। सब समाचारपत्रों ने वह पत्र प्रमुखता से छापा। इतना ही नहीं, हेनरी कॉटन आदि की सभा ने बाद में जो प्रस्ताव पारित किया, वह केवल सहानुभूति का था और उसमें उस आरोपित युवा के संबंध में गलती से भी कोई शब्द नहीं था, क्योंकि वैसा करना न्यायालय की अवमानना थी। इसके बाद श्री चट्टोपाध्याय ने 'टाइम्स' को एक-दो तीखे पत्र लिखकर सावरकर का सर्मथन किया। इतना ही नहीं, यह भी साफ लिखा था—'Had I been present there I would have done exactly the same and would have supported Mr. Savarkar even at the risk of being ejected.' उसी पत्र में उन्होंने वर्तमान स्थिति के संबंध में भी कड़ी टीका करते हुए कहा था कि ऐसे भयंकर खून किसी भयंकर परिस्थिति के अपरिहार्य परिणाम होते हैं और उसका परिहरण करने का मार्ग केवल हिंदुस्थान को स्वराज का पूर्ण अधिकार होना है। यह स्पष्ट बात करने के लिए श्री चट्टोपाध्याय को मिडल टेंपल के बेंचरों ने नोटिस दिया है—आपको इस 'इन' की सदस्यता के अधिकार छीनकर बाहर क्यों न कर दिया जाए। कार्यवाही चल रही है और पूरी हो जाने पर बता दूँगा।

२० अगस्त, १९०९

अंग्रेज यहाँ-वहाँ एक जैसे

लंदन : ७ अगस्त, १९०९। इन चार-पाँच दिनों में हिंदुस्थान से राइटर ने यह समाचार दिया है कि बंगाल के बायकॉट की वर्षगाँठ के उपलक्ष्य में आयोजित सभा के विरुद्ध अंग्रेजों के पास ढेरों तार भेजे जा रहे हैं। हिंदुस्थान सरकार उस सभा को

रोके, इसलिए अंग्रेजों ने तारों की गोलीबारी शुरू कर दी है। उसी तरह आज के हर एक पत्र में इस सभा के विरुद्ध कड़े लेख छपे हैं। 'डेली टेलीग्राफ' ने अपने पत्र के तीन कॉलम भरकर संपादकीय में लिखा है कि ब्रिटिश व्यापार को यदि बनाए रखना है तो बहिष्कार बंद करना होगा और विशेषत: परसों कलकत्ता में आयोजित बहिष्कार जयंती और जुलूस बंद होना चाहिए, क्योंकि अरविंद नामक गुप्त षड्यंत्रकारी की बहन का बनाया हुआ झंडा जुलूस में घुमाया जानेवाला है (अरविंद पर जो मुकदमा चलाया गया था, उससे उन्हें मुक्त पाया गया—यह बात नहीं लिखी)।

श्री वीरेंद्रनाथ चट्टोपाध्याय के मुकदमे का निर्णय हो गया। मिडिल टेंपल के बेंचर्स उसकी परीक्षा होने तक राह नहीं देख सके और सदस्यता के अधिकार छीनकर उन्हें उस संस्था से निकाल दिया। श्री चट्टोपाध्याय एक विद्वान् और प्रसिद्ध लेखक हैं। वह दस वर्षों से इंग्लैड में पत्र-लेखन का व्यवसाय कर रहे थे। उनके पिता हैदराबाद और बंगाल प्रांत में विख्यात हैं। देशभक्त सावरकर की तरह खुला समर्थन देने के लिए उन्होंने 'टाइम्स' को पत्र भेजे थे और उसमें 'I do not believe in the old world idea of peaceful revolution of Bipin Chandra Pal' आदि बातें लिखी थीं। देशभक्त सावरकर को केवल सनद देने से मना किया गया है। उनकी सदस्यता के अधिकार को सुरक्षित रखा गया है। परंतु देशभक्त चट्टोपाध्याय पर यह कृपा भी नहीं की गई। देशभक्त सावरकर की जाँच-पड़ताल चल रही थी, तब भोले लोग कहते थे कि केवल 'ग्रेज इन' बुरी है। अब मिडिल टेंपल ने उसको भी मात दे दी। जिनमें कुछ भी स्वाभिमान शेष है, वे फिर से इंग्लैंड में विधि की पढ़ाई के लिए न आएँ तो ही अच्छा है। सारे अंग्रेज एक जैसे हैं, फिर वे इंग्लैंड में हों या हिंदुस्थान में हों, 'ग्रेज इन' के सदस्य हों या मिडिल टेंपल के बेंचर्स हों। इतना भी भारतीय तरुण सीख गए तो अत्याचार का निराकरण हो गया, ऐसा मानना होगा।

फाँसी के दंड का भागी मदनलाल धींगरा अपने कॉलेज में श्रेष्ठ था और परीक्षा में प्रथम आया था। तीन वर्ष का अभ्यास-क्रम पूरा करके अंतिम परीक्षा भी उसने उत्तम दी थी और महीने-दो महीने में वह हिंदुस्थान लौट भी जाता। उसकी फाँसी रद्द कराने के लिए स्टेड साहब बहुत प्रयास कर रहे हैं। उनकी इच्छा उसे आजन्म कारावास दिलवाने की है, परंतु धींगरा फाँसी पर चढ़ने के लिए ही व्याकुल है। उसके शव की दाह-क्रिया हो, ऐसी उसकी इच्छा है और यह इच्छा चूँकि धार्मिक है, अत: हिंदुओं ने मिलकर हस्ताक्षर कर एक आवेदन सरकार के पास भेजा है, जिसमें कहा है कि धींगरा की मृत देह हिंदुओं को सौंपी जाए। उसी तरह धींगरा की इच्छा थी कि उसे ब्राह्मण उपदेश करे। उसकी वह इच्छा भी पूरी करने

के लिए धर्मज्ञ और उपाधिधारी ब्राह्मण तैयार हैं, यह भी सरकार को सूचित कर दिया गया है।

२७ अगस्त, १९०९

भरतवाक्य

लंदन : २१ अगस्त। लंदन में प्रारंभ हुए महाभयंकर नाटक के भरतवाक्य की भी शुरुआत हो गई है। जिस तरुण ने इंडिया ऑफिस और इंडिया सरकार के वरिष्ठ अधिकारी सर कर्जन वायली का निर्दय और क्रूर वध किया, उस धींगरा को गत मंगलवार (१७ अगस्त, १९०९) को फाँसी दे दी गई। उसकी फाँसी को रद्द करके आजीवन कारावास में बदलने के लिए कुछ अंग्रेज लोगों ने प्रयास किया था, पर वह बात सरकार को पसंद नहीं थी और सरकार से अधिक मि. धींगरा को ही वह बात पसंद नहीं थी। वह तो जिद कर रहा था कि मुझे फाँसी ही दी जाए, क्योंकि—So that the vengeance of my countrymen will be all the more keen! उभय पक्ष को फाँसी ही चाहिए थी। धींगरा से कारावास में उसके बहुत से स्नेही-मित्र मिलने जाते थे और वह उनसे बहुत हँस-हँसकर गपें करता था। कारागृह में वह पुस्तकें पढ़ता और लेख लिखता। मरने के बाद उसका दाह-संस्कार किया जाए, इसके लिए उसने बहुत प्रयास किए। उसके साथ ही यहाँ के लोगों ने भी हस्ताक्षर कर आवेदन किया है कि धींगरा की उत्तर-क्रिया हिंदू धर्म-विधि से हो, ऐसी उसकी इच्छा होने के कारण उसका शव जलाया जाए, पर सरकार ने किसी भी आवेदन को स्वीकार न कर उसे जलाने से साफ इनकार कर दिया। उपदेश न भी दिया तो कुछ बिगड़ता नहीं।

मंगलवार को सुबह धींगरा गहरी नींद से जग गया। सुसज्जित हुआ। सुबह का नाश्ता भी किया। सुबह नौ बजे घंटा बजने लगा। उस दिन किसीको भी, समाचारपत्र के संवाददाताओं को भी, अंदर नहीं आने दिया जाएगा, ऐसा आदेश पहले ही जारी कर दिया गया था। अत: फाटक पर ही भीड़ जमा थी। आदेश न होते हुए भी अंदर जाने के लिए प्रयत्न करते लोग कारावास के बाहर घूम रहे थे। दो-तीन सौ अंग्रेज भी वहाँ थे। परंतु किसीको भी अंदर जाने नहीं दिया गया। घंटा बजना प्रारंभ होते ही धींगरा के पास ईसाई धर्मगुरु आ गए, परंतु उनका उपदेश उसने अस्वीकार कर दिया, कहा—हम हिंदू हैं और हिंदू धर्मविधि से ही मरना है। फिर अनावृत सिर से और दृढ़ता से कदम बढ़ाते हुए वह वध-स्तंभ की ओर गया। वध-स्तंभ पर चढ़ते समय वह इतना निश्‍चिंत था कि उसे किसी तरह का सहारा नहीं देना पड़ा। वध-पाश में उसने सिर दिया—पट्टी हटी और मदनलाल धींगरा आठ फीट

की ऊँचाई से मृत्यु के मुँह में चला गया। कुछ देर बाद शव की छानबीन विधि-अनुसार करने हेतु देशभक्त मास्तर नामक एक पारसी व्यक्ति को अंदर लाया गया। वे धींगरा के और सावरकर के मित्र थे। उनके सामने धींगरा के शव का दर्शन भयप्रद ही होनेवाला था! पर उसके चेहरे पर दुःख या भय की रेखा नहीं थी। उसका शरीर काठ हो गया था और आँखें फैली हुई थीं। हमेशा वह कॉलेज में जो पोशाक पहनता था, वही पोशाक उस समय भी वह पहने हुए था और कंठमणी फूटने के कारण उसकी मुंडी लटक गई थी।

धींगरा की मृत्यु तत्काल हो गई थी। एक मिनट में फैसला हो गया था और अंतिम परदा गिर गया था।

परंतु इस अपूर्व नाटक का अंतिम भरतवाक्य वह परदा गिरने के पहले ही शुरू हो गया था। धींगरा का केस चलते हुए उसके द्वारा स्वसंरक्षणार्थ लिखा एक वक्तव्य उसकी जेब में मिला था। वह वक्तव्य कोर्ट में पढ़ा जाए, ऐसा उसका बहुत आग्रह था। वह वक्तव्य समाचारपत्रों को मिले, इसके लिए सभी समाचारपत्रों का प्रयास होते हुए भी ब्रिटिश अधिकारियों ने और पुलिस ने वह वक्तव्य प्रकट करने से साफ इनकार कर उसे दबा दिया था। यह बात सारे ही समाचारपत्रों ने छाप दी थी। इस अभिलेख का प्रकाशन पूरी तरह असंभव था, परंतु धींगरा के फाँसी पर चढ़ने के एक दिन पूर्व सारा लंदन शहर किसी भूत बाधा की तरह दचककर पगला गया। हुआ यह कि ब्रिटिशों और पुलिस की तिजोरी में बंद किए गए उस इकलौते अभिलेख की चोरी हो गई और किसी एक हिंदू ने उसे प्रकाशित कर दिया। उसकी हजारों प्रतियाँ रास्ते में बाँटी जाने लगीं। पुलिस को अपना मुँह दिखाना मुश्किल हो गया। उनकी तिजोरी में रखी प्रति वैसे ही उनके पास थी, फिर यह दूसरी कहाँ से पैदा हुई? कितनी ही शंका-कुशंकाएँ फैलीं। ब्रिटिश सरकार का कोई गोरा अधिकारी तो भारतीय लोगों से नहीं मिला? कोई कहता—धींगरा का कार्य एक गुप्त षड्यंत्र का ही हिस्सा होगा, अन्यथा उसका यह वक्तव्य दूसरे को कैसे ज्ञात हो गया? कोई कहता—षड्यंत्र पहले नहीं होगा, पर कारावास में उसके कपड़ों को लाते-ले जाते यह प्रति बाहर छिपाकर भेजी गई होगी। इस प्रकार सारा बेमजा हो गया। वह प्रति असल है, उसमें शंका नहीं। 'डेली मिरर' कहता है कि उसमें लिखा हुआ है कि यह धींगरा के वक्तव्य की सत्य प्रतिलिपि है, ऐसा हम घोषित करते हैं। यदि ब्रिटिश सरकार यह कह रही हो कि वह वैसा नहीं है। We challenge them to prove otherwise before the whole world. (हम सारे विश्व के सामने उसको चुनौती देते हैं कि वह उसकी मूल प्रति प्रकाशित कर इसे अन्यथा सिद्ध करे।) पुलिस भी स्वीकार करती है कि वह असली ही है। वह कम-से-कम समाचारपत्रों

में तो प्रकाशित न हो, इसके लिए काफी प्रयास किए गए। परंतु वैसा करना बेकार हुआ और अंत में स्वयं सरकारी प्रमुख पत्र 'डेली न्यूज' ने ही वह वक्तव्य प्रकाशित कर दिया। टाइम्स स्टैंडर्ड आदि पत्र गुस्से में लेख लिख रहे हैं और गुप्त षड्यंत्र के लिए भारतीय लोगों को, ढील और बुद्धूपन के लिए पुलिस को तथा मूर्खता के लिए 'डेली न्यूज' को गाली दे रहे हैं।

परंतु 'डेली न्यूज' ने वह वक्तव्य प्रकाशित नहीं किया। उसने भी चुनौती (Challenge) ही प्रकाशित की थी कि अमेरिका से क्रोधित अंग्रेजों के तार आने लगे कि धींगरा जिस दिन फाँसी चढ़ा, उसी दिन अमेरिकी समाचारपत्रों में वही वक्तव्य बड़े-बड़े टाईप में प्रकाशित किया गया था। ब्रिटिश सरकार ठगी गई। धींगरा का दबाया हुआ वक्तव्य, अद्भुत चमत्कार! आदि अद्भुत शीर्षकों से यह चुनौती प्रकाशित कर अमेरिकी समाचारपत्र आराम करते, तब तक आयरलैंड एकदम आगे आ गया। बहुत क्या? कल ही चारों ओर एक तार प्रकाशित हो गया है— "Ireland honours Dhingra! Huge placards with deep black borders and with the inscription 'Ireland honours Madanlal Dhingra who was proud to lay down his life for the sake of his country.' In letters twelve inches in length were found pasted today on walls with in few miles of Dublin!' एक-एक फुट मोटे अक्षरों के विज्ञापन पत्रक दीवारों पर चिपकाए गए थे—आयरलैंड धींगरा का सम्मान करता है।

सावरकर के पारसी स्नेही देशभक्त मास्तर से 'डेली मिरर' के संवाददाता ने पूछा, 'Will he be considered as martyr by the Indian?' देशभक्त मास्तर ने कहा—'Certainly, he has laid down his life for his country's good. Whether his idea of this good was right or wrong is a matter of opinion.'

इटली के एक समाचारपत्र ने एक चित्र छापा है—उसमें एक बड़ा पहाड़ चित्रित किया है, जिसके पैरों के पास हिंदुस्थान, उसपर मिस्र, सोमालीलैंड आदि ईंटें, उसपर कॉलोनियाँ और उसपर इंग्लैंड बैठा हुआ है। एक विस्फोट होता है, हिंदू नेशनलिस्ट भी विस्फोट करता है। हिंदुस्थान का बड़ा भाग टूट जाता है, सारा पहाड़ गिरने को हो जाता है। इस सबको देखकर घबराया जॉन बुल कहता है—अरे, यह मकान ढह रहा है! इसकी नींव ही पोली कर दी है, मुझे कँपकँपी छूट रही है।

जर्मनी और फ्रांस के पत्रों में हिंदुस्थान के आंदोलन की जानकारी देकर इंग्लैंड के विरुद्ध बहुत कड़े लेख आ रहे हैं। यह सब मत्सर के कारण हो सकता है।

१० सितंबर, १९०९

देशभक्त सावरकर का पत्र

लंदन : सन् १८५७ के युद्ध पर लिखे हुए एक इतिहास-ग्रंथ को कस्टम विभाग के नियमों के अधीन हिंदुस्थान में लाना वर्जित है। हिंदुस्थान सरकार का उससे संबंधित एक आदेश, जो इंग्लैंड और हिंदुस्थान के कई पत्रों में प्रकाशित हो चुका है, मुझे दिखाया गया है। उस आदेश में मेरे नाम का उल्लेख है। अत: मुझे उस संबंध में पत्र लिखना पड़ रहा है।

यह पुस्तक अभी भी अप्रकाशित है, यह सरकार को भी मान्य है। इसलिए वह पुस्तक किस स्वरूप की है, यह निश्चय से तय करना किसीके लिए भी असंभव है। ऐसी किसी पुस्तक को उसके जन्म के पूर्व ही राजद्रोही करार देकर उसके प्रकाशन पर पाबंदी लगाना वैधानिक होगा या नहीं, पर यह न्याय नहीं है। यह पत्र उस बिंदु पर नहीं है। हिंदुस्थान के गवर्नर जनरल ने मेरा नाम समाविष्ट करने का जो अश्लाघ्य कार्य किया है, उसके लिए मैं यह पत्र लिख रहा हूँ। सरकार से मिली जानकारी विश्वसनीय थी या नहीं, यदि वह जानकारी विश्वसनीय थी तो मेरे विरुद्ध लगाए गए इस आरोप की सूचना मुझे देकर मेरी बात सुनने में सरकार की सरलता या जानकारी की विश्वसनीयता कुछ घट जाती। ऐसा नहीं है, और यदि वह जानकारी विश्वसनीय और यथोचित नहीं थी तो उसपर अंधविश्वास कर मेरा नाम उस पुस्तक से जोड़ने के पूर्व मुझे उसके लिए समर्थन करने को कहना सरकार का वैधानिक और नैतिक कर्तव्य था, परंतु जल्दबाजी से मुझपर अचानक हमला करने में ही सरकार का समाधान हो रहा है, ऐसा दिखता है।

एतदर्थ ऐसी स्थिति में मुझे जो करना संभव और इष्ट है, वह इतना ही है कि सरकार के आदेश के अस्पष्ट उल्लेख से उसकी कल्पना के सामने आने पर उस अज्ञात पुस्तक के स्वरूप—जो थोड़ा-बहुत बोध होने लायक है—का किसी पुस्तक से मेरे नाम का कुछ भी संबंध नहीं है, यह सार्वजनिक करना है इसीलिए यह पत्र मैंने आपको लिखा है। ऐसी आशा करनेवाला : वि. दा. सावरकर।

१७ सितंबर, १९०९

विजयदशमी

लंदन : ५ नवंबर। हिंदुस्थान में क्रिसमस मनाने की पद्धति जैसे-जैसे कम होती और लज्जास्पद लगती जा रही है, वैसे-वैसे लंदन में विजयदशमी का समारोह करने की पद्धति माननीय और जोर-शोर की होती जा रही है। कुछ ही वर्षों पूर्व, विशेष रूप से बंगाल और मद्रास में हिंदू त्योहारों की अपेक्षा क्रिसमस अधिक जोर-शोर से मनाया जाता था और 'सुशिक्षित' लोगों में क्रिसमस के कार्ड सैकड़ों की

संख्या में बाँटे जाते थे। अशिक्षित हिंदू समाज इस विदेशी त्योहार की छूत से बचकर ईमानदारी से अपने पुरखों के उत्सव ही उत्साह से मनाता था। इंग्लैंड में विजयदशमी तो छोड़िए, यह कहना भी लज्जा की और व्यर्थ धर्मांधता तथा जंगली गुंडागिरी की बात मानी जाती थी कि हम हिंदू हैं। तीन वर्ष भी नहीं हुए, एक दिन एक भोजनालय में हम भोजन करने बैठे थे। हमारे पास दूसरा एक हिंदू मित्र भी बैठा था। हमारे आने के दो वर्ष पूर्व ये सज्जन इंग्लैंड में आए थे। अत: इंग्लैंड के रीति-रिवाज के संबंध में कभी-कभी सहज ही हमें जानकारी देते रहते थे। मेज पर दूसरी ओर दो अंग्रेज महिलाएँ बैठी थीं जो थोड़ी पहचानवाली थीं। वहाँ भी बातों-बातों में रविवार को चर्च में जाने का प्रश्न आया और मेरे मित्र ने कहा—हाँ, मैं भी रविवार को चर्च में जाता हूँ। हर ईसाई को वहाँ जाना चाहिए।

अपने इस हिंदू मित्र के उत्तर से हमें बड़ा आश्चर्य हुआ। इतने में उन अंग्रेज महिलाओं ने हमसे भी चर्च में जाने के संबंध में पूछा। तब हमने कहा—कभी-कभी हम चर्च देखने जाते हैं। वैसे, हम हिंदू लोग रविवार को चर्च में जाने की आवश्यकता बिलकुल नहीं मानते। 'आप हिंदू हैं क्या?' बड़े दया भाव से महिलाओं ने पूछा। स्वाभिमानी स्वर से हमने उत्तर दिया—'हम बहुत धन्य हैं कि हम हिंदू हैं।' भोजन के बाद हमारे मित्र ने कहा—'क्यों बताया कि हम हिंदू हैं? अंग्रेजों के कान को यह ठीक नहीं लगता।' हमने उत्तर दिया, 'उनके कान को आपके पिता का नाम भी अच्छा नहीं लगता, फिर उसे बदलोगे क्या? किसीके कान को अच्छा नहीं लगता, इसलिए यदि धर्म छिपाना शिष्ट हो तो फिर हम हिंदू हैं, अंग्रेज ही ऐसा क्यों नहीं कहते? उनका ईसाई होना हमारे कान को बुरा लगता है, यह आप जाकर उनसे कह दें।'

तीन वर्ष पहले की यह स्थिति अब बदल गई है और अब हिंदुस्थान में क्रिसमस के कार्ड बाँटना और इंग्लैंड में हिंदुस्थान का होने पर लज्जित होना बंद हो गया है। उस स्थान पर इस लंदन शहर में ही विजयदशमी के उत्सव बड़े समारोह से होने लगे हैं। मैं हिंदू हूँ, यह कहने में तरुण बड़ा अभिमान मानने लगे हैं। श्रीराम के नाम की जय-जयकार लंदन में बड़े जोर-शोर से हो रही है। यह परिवर्तन तीन वर्षों में हुआ है।

विजयदशमी के दिन सारे भारतीय लोगों का एक भोज क्वींस रोड हॉल में आयोजित हुआ। 'श्रीरामो विजयते' शीर्षक से सुवर्ण पत्रिका लंदन के सारे हिंदुओं में बाँटी गई। भोजपत्रिका का चंदा तीन रुपए था, फिर भी सौ से अधिक भारतीय लोग समाज हॉल में इकट्ठा थे। उसमें बड़े-बड़े व्यापारी, प्रोफेसर, डॉक्टर, विद्यार्थी आदि थे और देशभक्त मोहनलाल गांधी उसके अध्यक्ष थे। भारतीय महिलाएँ भी उपस्थित थीं। यह केवल भारतीय उत्सव था। अत: भारतीयों को छोड़कर दूसरे

किसीको उसमें नहीं आने दिया गया था। भोज के लिए हॉल सुंदर सजाया गया था। धूप की धार्मिक सुगंध बीच में लगाई गई थी। भव्य राष्ट्रीय निशान और उसपर एक-एक फुट आकार के अक्षरों में लिखा—वंदे मातरम्। राष्ट्रीय गीत के स्वर आदि से समारोह शुरू हुआ और फिर देशभक्त गांधी का भाषण हुआ। उन्होंने कहा, आज इस अवसर पर थाली लगाना, पानी देना, रसोई बनाना आदि सब कार्य प्रोफेसर, डॉक्टर आदि श्रेणी के स्वयंसेवकों ने किए, यह देखकर मुझे अपने लोगों में बढ़ती लोक-सेवा के लिए तत्परता का एक और साक्ष्य मिला है। ऐसे अवसर पर मेरा और आपका इकट्ठा होकर मिलना-बैठना कितना आनंददायी है। लंदन में ऐसा समारोह होता है, यह मुझे अब तक सच नहीं लगता था। यह हिंदू समारोह होते हुए भी यहाँ मेरे मुसलमान, पारसी आदि देशबंधु प्रेम से आते हैं, यह भी ध्यान देने लायक है। श्रीराम के सद्गुण यदि अपने राष्ट्र में फिर से उत्पन्न हो जाएँ तो अपनी उन्नति होने में समय नहीं लगेगा।

बाद में हिंदुस्थान के नाम का जयघोष हुआ और मातृभूमि को पुष्पांजलि अर्पित करने के लिए देशभक्त गांधी ने उनके साथ आए दक्षिण अफ्रीका के प्रसिद्ध देशभक्त प्रतिनिधि अली अजीज से निवेदन किया। मातृभूमि को पुष्पांजलि देते हुए इस मुसलमान देशभक्त ने दो मिनट का सुंदर भाषण दिया और कहा कि हिंदू तथा मुसलमान की जो भूमि है, वह हिंदुस्थान की भूमि त्वरित उन्नत और शक्तिशाली होनी चाहिए।

उसे पूरे मन से साथ देने के लिए देशभक्त वीरेंद्रनाथ चट्टोपाध्याय जब उठे, तब लोगों ने उनका सम्मान किया। उनका भाषण तीन-चार मिनट तक हुआ। उसके बाद सबने मातृभूमि को पुष्पांजलि अर्पित की। अध्यक्ष देशभक्त गांधी ने श्रीरामचंद्र को पुष्पांजलि-अर्पण करने का निवेदन देशभक्त सावरकर से किया और कहा कि कुछ मतभिन्नता होते हुए भी देशभक्त सावरकर के साथ बैठने का अवसर मुझे मिला, इसका मुझे अभिमान है। उनके स्वार्थ-त्याग एवं देशभक्ति के मधुर फल अपने देश को चिरकाल तक मिलें, यह मेरी इच्छा है। अध्यक्ष के कहे अनुसार श्री रामचंद्र के चरणों पर पुष्पांजलि-अर्पण करने के लिए उठते हुए देशभक्त सावरकर ने कहा—भाषण करने के लिए उठते-उठते आपने पाँच मिनट तक जो तालियों की गूँज की, उसके लिए मैं आपका आभारी हूँ। कर्तव्य स्वयं सुखदायी होता है—परंतु जिनके लिए वह किया गया, उनके द्वारा जब उसकी प्रशंसा की जाती है, तब वह अधिक ही सुखदायी होता है। आज मैं एक और कारण से भी आभार व्यक्त करना चाहता हूँ; और वह यह कि आपने मुझे अन्य किसी विषय पर बोलने के लिए न कहकर श्रीराम के उज्ज्वल काल पर बोलने का अवसर दिया। वर्तमान समय की

प्लेग और अकाल शृंखला पर क्या बोलना! अत: एक घंटा ही सही, पर भारतभूमि के वैभव-काल में संचार करना मेरे लिए सौभाग्य की बात है। जब कालिदास कविता करते थे, गौतम आदर्श उपदेश देते थे, विक्रम सीथियनों को और चंद्रगुप्त ग्रीक लोगों को जीतते, राज करते एवं वाल्मीकि वीरकाव्य गाते, उस काल में मुझे जाने की अनुमति आपने दी, यह मुझपर आपका दूसरा उपकार है।

बाद में रामायण के अलग-अलग भाग वाल्मीकि की सरस वाणी में पढ़कर और वर्णन कर देशभक्त सावरकर ने कहा—जब श्रीराम अपने पिता के वचनों के लिए वन जाने का दिखावा कर वास्तव में राक्षस-दमन के लिए मुख्यत: राज्य-त्याग करके वन गए, तब उनका वह कार्य महत् था। जब श्रीरामचंद्र ने लंका पर चढ़ाई की और अपरिहार्य एवं धर्मयुद्ध के लिए सज्ज होकर रावण का वध किया, तब वह कृत्य महत्तर था। परंतु जब शुद्धि के बाद भी सीता को उपवन में—'आराधनाय लोकस्य मुंचतो नास्ति मे व्यथा' कहकर छोड़ दिया, तब उनका वह अवतार कार्य 'महत्तम' था। राम ने व्यक्ति-संबंधित या कुल-विषयक कर्तव्य अपने लोकनायक रूपी राजा के कर्तव्य के लिए बलिदान किए! राम का अवतार-कार्य एवं श्रीरामचंद्र की मूर्ति जब-जब आप दृढ़ता से हृदय में धारण करेंगे, तब तब हिंदुओ, आपकी अवनति जल्द नष्ट होने की आशा है। वह दशरथ का पुत्र, वह लक्ष्मण का भाई, वह हनुमान का स्वामी, वह सीता का पति, वह रावण का निहंता श्रीराम जब तक हिंदुस्थान में है, तब तक हिंदुस्थान की उन्नति सहज लब्ध रहनेवाली है। श्रीराम को भूलते ही हिंदुस्थान से राम निकल जाएगा। हिंदू हिंदुस्थान का हृदय है, फिर भी जैसे इंद्रधनुष की वास्तविक सुंदरता रंगों की अनेकता से नष्ट न होकर अधिक ही खिलती है, वैसे ही मुसलमान, पारसी, यहूदी आदि विश्व के उत्तमांश मिलाकर हिंदुस्थान भी काल के आकाश में अधिक ही खिलेगा—आदि आशय का भाषण कोई पौने घंटे देकर उन्होंने श्रीराम को पुष्पांजलि अर्पित की। इसके बाद सभा के अध्यक्ष गांधी ने कहा कि सावरकर के भाषण पर ध्यान दें और इनके निवेदन को सब लोग आत्मसात् करें। कार्यक्रम का समापन राष्ट्रगीत-गायन के उपरांत हुआ।

२६ नवंबर, १९०९

सांत्वना

(भाभी को पत्र)

इस पुस्तक का अंतिम समाचारपत्र ५ नवंबर, १९०९ का है। इसके बाद सावरकर ने लंदन से समाचार भेजना बंद कर दिया या उनका प्रकाशित होना बंद हो

गया, क्योंकि 'काल' के संपादक देशभक्त परांजपे कारावास में बंद कर दिए गए। इसके पूर्व २८ फरवरी, १९०९ को सावरकर के बड़े भाई गणेश (उपनाम बाबाराव) भी बंबई आते ही परांजपे पर चले अभियोग के संबंध में पकड़ लिये गए थे। ८ जून, १९०९ को उन्हें आजन्म कैद, काला पानी एवं सारी संपत्ति राजसात् (जप्त) करने का दंड दिया गया था। १३ नवंबर, १९०९ को कर्णावती (अहमदाबाद) में लॉर्ड मिंटो पर प्राणघातक हमला हुआ। इस प्रकरण में बड़ौदा के उत्साही युवक मोहनलाल पंड्या को और उनके मित्र के नाते नारायण दामोदर सावरकर (वीर सावरकर के छोटे भाई) को भी बंदी बना लिया गया।

२१ दिसंबर, १९०९ को बाबाराव की भी अपील अस्वीकृत कर दी गई। उसका बदला लेने के लिए उसी रात अनंत कान्हेरे ने कलेक्टर जैक्सन की हत्या गोलियों से कर दी।

ऐसी परिस्थिति में बाबाराव की पत्नी सौ. येसूबाई ने अपने देवर विनायकराव को नासिक में उनपर आए संकट का खुलासा करता हुआ एक पत्र लिखकर पूछा कि अब क्या करना चाहिए। उस पत्र के उत्तर में सावरकर ने लंदन से भाभी को धीरज बँधाते हुए काव्य में सांत्वना-पत्र लिखा। वह पत्र यों है—

जिनका तुमने प्रतिपालन किया
माता का स्मरण न होने दिया।
श्रीमती भाभी वत्सला
बंधु तेरा तुझे नमन करे॥
आशीर्वाद-पत्र पाया
जो लिखा वह ध्यान में आया
मानस प्रमुदित हुआ
धन्य हो गए बहुत॥
धन्य-धन्य अपना वंश
सुनिश्चित ईश्वरीय अंश
राम-सेवा पुण्य—किंचित्
अपने भाग्य आया॥
अनेक फूल खिलते हैं
खिलकर सूख जाते हैं
किसने उनकी महत्ता
गिनी होगी?

पर जो गजेंद्र सूँड से उखड़ा
श्रीहरि को अर्पित हुआ
कमल फूल वह अमर हुआ
मोक्षदाता पावन
उस पुण्य गजेंद्र जैसी ही
मुमुक्षुस्थिति भारती की
करुण स्वर से वह याचना करती
इंदीवर श्यामा श्रीराम॥
स्वयं वह वहाँ आए
अपना फूल उसे भाए
तोड़कर अर्पण करे वो
श्रीराम चरण में उसे॥
धन्य-धन्य अपना वंश
सुनिश्चित ईश्वरीय अंश
श्रीराम-सेवा पुण्य किंचित्
अपने भाग्य में आया॥
ऐसे ही सारे फूल तोड़े जाएँ
श्रीराम चरण में अर्पण हों
कुछ सार्थकता घटित हो
इस नश्वर देह की॥
अमर होगी वह वंशलता
ईश्वरी सेवा में निर्वंश जिसका
दिगंत में फैले सुगंधता
लोकहित परिमल की॥
सुकुमार अपना अनंत फूल
गूँथ उसकी करो माला
नवरात्रि का नव काल
मातृभूमि वत्सला॥
एक बार नवरात्र बीत जाए
नवमाला पूरी हो जाए
कुलदेवी (काली) प्रकट होगी उस समय
विजयलक्ष्मी पावन॥

तुम धैर्य की हो मूर्ति
मेरी भाभी मेरी स्फूर्ति
राम-सेवा व्रतों की पूर्ति
ध्येय तेरा पूर्ववत्॥
महत्कार्य का कंकण बाँध
अब महत्तम भाव ही दिखाना चाहिए
ऐसा व्यवहार होगा करना
कि जो पसंद आए संतों को॥
अनेक पूर्वज ऋषीश्वर
अजात वंशज़ों के संभार
साधु-साधु गरजेंगे
ऐसा आचरण करना है॥

मेरा मृत्यु-पत्र

(मार्च १९१०)

इस तरह भाभी को धीरज देनेवाला पत्र सावरकर ने भेजा। परंतु जैक्सन-वध की डोर सावरकर तक भी पहुँची। वे भी ज्वर से पीड़ित हो गए। उस स्थिति में सावरकर का लंदन में रहना ठीक नहीं था। इसलिए उनके मित्र उन्हें जनवरी १९१० में पेरिस ले आए। वहाँ के वातावरण में सावरकर का मन नहीं लगता था। अपने सहयोगी के संकट में होते हुए वे स्वयं सुरक्षित परदेस में रहें, यह उन्हें भाता नहीं था।

हिंदुस्थान में जैक्सन-वध की छानबीन में अनंत कान्हेरे का बनाया हुआ पिस्तौल परदेस से सावरकर ने भेजा था, यह संदेह हुआ। इस कारण बंबई के गवर्नर जॉर्ज क्लार्क (लॉर्ड सिडन्हम) ने दंडाधिकारी मांटगुमरी को सावरकर के विरुद्ध आरोप-पत्र लिखने को कहा। यह सूचना १७ जनवरी, १९१० को दी गई। २२ फरवरी को सावरकर के विरुद्ध आरोप-पत्र बना और उसे इंग्लैंड भेजा गया।

सावरकर को पेरिस में रहना अच्छा नहीं लगता था और उसमें यह भी कि लंदन की 'अभिनव भारत' शाखा में घुसे हुए ब्रिटिश जासूसों ने सावरकर के प्रियतम मित्रों के नाम तार करके आवश्यक कार्य के लिए तत्काल सावरकर को लंदन बुला लिया। इतने दिनों से ब्रिटिश जासूसों को चकमा दे रहे सावरकर उनके जाल में फँस ही गए। १३ मार्च, १९१० को वे जब लंदन पहुँचे, तब वहीं उनको बंदी बना लिया गया और जाँच-पड़ताल के लिए बंदीवास में रखा गया। उस बंदीगृह से उन्होंने

अपना भाभा के पास एक पत्र भेजा। उस पत्र में उनके आत्मविश्वास एवं बलिदानी वृत्ति का सुंदर दर्शन होता है। वह पत्र 'मेरा मृत्यु-पत्र' के नाम से प्रसिद्ध है, जिसे उन्होंने मार्च १९१० में लिखा—

वैशाख का कुमुदनाथ नभ में मुसकराए
यश चंद्रिका धवल सौध के नीचे शोभे
डालता स्वयं जल जिसे प्रिय बाल स्नेह से
जाई के फूल, परिमल के फूलों में शोभित॥ १॥
आए घर सकल स्नेही कुटंबी प्यारे
आनंदमगन कुल गोकुल है वह साँचा
आदर्श दीप्ति शुचिता धृति यौवन
देखकर वह तरुण मंडल कीर्ति नाचे॥ २॥
हृदय प्रेम से विकसित नव यौवन के
गंधित सुवासित उदात्त सुसंस्कृति के
दिव्य लता तरु के कारण जो घर बगिया हुआ
जिसे पौर हर्षित कहे जन-धर्मशाला॥ ३॥
रसोई तू निज हाथों करे कौशल से
प्रेम से अधिक ही सुरस होती तेरे
संवाद सब मिलकर करते नितांत
जीमने बैठे जैसे चाँदनी में॥ ४॥
श्रीरामत्रंद्र-वनवास कथा रसीली
या कैसे देश इटली रिपुमुक्त हुआ
तानाजी समरधीर का वैसा पोवाडा
गाते चित्तौड़ गढ़ या शनिवार वाडा॥ ५॥
हुई कैसे प्रियकर अपनी अनाथ
दुर्दास्य खिन्न शरभिन्न विपन्न माता
शोक से चिंतित उसकी मुक्तता के
अनंत युवकों को उपदेश दिए॥ ६॥
वह काल रम्य मधुरा प्रिय संगति में
वह चाँदनी नवकथा रमणीय रातें
वह ध्येय दिव्य निजमातु विमोचन का
वह उग्र संकल्प और वे उपदेश साँचे॥ ७॥

ली फिर प्रियकर साथ सौगंध प्रतिज्ञा
वह सब देवि भाभी तुम्हें स्मरण है क्या?
'बाजी प्रभु कहलाएँगे' युवसंघ सारा बोला
'हम चित्तौड़ युवती' युवती सगर्व॥८॥
नहीं लिया व्रत यह हमने अंधता से
उपलब्ध इतिहास प्रकाश निसर्ग माने
जो दिव्य दाहक ही होगा
जान-बूझ के संकल्प लिया सती का॥९॥
जो ली प्रियजनों के सह सौगंध प्रतिज्ञा
उसका स्मरण करते वर्तमान में देखते
अभी नहीं बीते पूरे आठ वर्ष
तो कार्यसिद्धि इतनी मन क्यों न हर्षे॥१०॥
आसेतु-पर्वत उबल उठा प्रदेश
वीराकृति होकर और उतार दीन वेश
भक्तों के झुंड रघुपद उमड़ पड़े हैं
जाज्वल्य हो रहा हुताशन यज्ञ-कुंड॥११॥
वह यज्ञ सिद्ध करने उग्र दीक्षा
जो लेता, होती उसकी परीक्षा
विश्व की अखिल मंगल धारणा को
कहें है कौन भक्ष्य हुताशन को॥१२॥
आमंत्रण प्रभु रघुत्तम का आते ही
दिव्यार्थ देव—हमारा कुल सज्ज है
हे साध्वं गरजकर कहे पहले हवि को
ईश्वर से प्राप्त हुआ यह सम्मान साँचा॥१३॥
धर्मार्थ देह दे दीया निश्चित नितांत
वे शब्द नहीं पोले न कहे महिलाओं में
न भंग हुई धृति भय से यातना को
निष्काम कर्मरति योग भी खंडित न हुआ॥१४॥
जो ली प्रियजनों के सह सौगंध प्रतिज्ञा
सत्य कृति से आज उन्हें देख लें
दीप्तानल में निज मातृ विमोचनार्थ
यह स्वार्थ जलाकर हम हुए कृतार्थ॥१५॥

हे मातृभूमि, तुम्हें मन अर्पण किया है
वक्तृत्व वाग्विभव भी तुझे अर्पित है
तुम्हें ही अर्पण कर दी नई कविता रसाला
लेख के लिए विषय भी तू हो हो गई॥ १६॥
तेरे यज्ञ स्थंडिल में धकेले प्रिय मित्र संघ
किया स्वयं दहन यौवन देह भोगा
त्वत्कार्य नैतिक सुसम्मत सर्व देवा
त्वत्सेवन में ही प्राप्त हुई रघुवीर सेवा॥ १७॥
तेरी यज्ञ-वेदी में धकेली गृह वित्तमत्ता
दावानल में भाभी नवपुत्र[1]—कांता
तेरी यज्ञ-वेदी में अतुल धैर्य वरिष्ठ बंधु[2]
किया हवि परम करुण सिंधु॥ १८॥
तेरी यज्ञ वेदी पर बलि दिया प्रिय बाल[3]
तेरी यज्ञ-वेदी पर देख मेरी देह भी रखा
यही क्या, यदि होते हम सात भाई
तेरी यज्ञ-वेदी पर दिए होते बलि मैंने॥ १९॥
संतान हैं इस भरतभूमि की तीस करोड़
जो मातृभक्तिरत सज्जित धन्य है
है अपना कुल भी उसमें ईश्वरांश
निर्वंश होकर भी अखंड वंश जो रहेगा॥ २०॥
या वैसा हो या न हो परंतु
हे मातृभू हम हैं परिपूर्ण हेतु
दीप्त आकाश में निज मातृ विमोचनार्थ
यह स्वार्थ जला हम हुए कृतार्थ॥ २१॥
ऐसा सोचकर, हे भाभी, व्रत को
पालकर वर्धन करो कुल दिव्यता से
श्री पार्वती तप करें हिम पर्वतों में
या अग्नि ज्वाला पर मुसकाई बहु राजपूती॥ २२॥

---

१. चि. प्रभाकर—सावरकर का पुत्र। जब वह अपने ननिहाल में चेचक निकलने के कारण दिवंगत हुआ, तब सावरकर लंदन में ही थे।

२. श्री गणेश दामोदर सावरकर—बड़े भाई।

३. डॉ. नारायण दामोदर सावरकर—छोटा भाई।

वह भारतीय अबला बलतेज है कुछ
अभी भी इस भरत-भू से हुआ नहीं लुप्त
यह सिद्ध होगा यह सोच उदार उग्र
वीरांगना तब सुवर्तन होवे समग्र॥ २३॥
मेरा संदेश है तुझे यहाँ से यही यह देवी
यह वत्सल तेरे चरणों में सिर नवाए
सप्रेम अर्पण रहो प्रणती आपसे
आलिंगन प्रियकर मेरी अँगना को[१]॥ २४॥
नहीं लिया यह व्रत हमने अंधता से
उपलब्ध इतिहास प्रकाश निसर्ग माने
जो दिव्य, दाहक ही होता है
जानते वह संकल्प लिया है सति का॥ २५॥

मित्र हो, राम-राम

सावरकर को भारत भेजने का निर्णय ब्रिटिश न्यायालय में एक के विरुद्ध दो मतों से दिया गया। उसके अनुसार, सावरकर को भारत भेजने का निश्चय हुआ। उसी रात सावरकर ने पेरिस और लंदन के अपने मित्रों को चिरंतन महत्त्व का जो (अंतिम) संदेश भेजा, वह निम्नोद्धृत है—

दिव्य मातृ-सेवा व्रत की ईश्वरीय दीक्षा में सहभागी होने से मधुरतर हुए मधुमय मित्रता के रेशमी धागे से जिनके हृदय बँधे हुए हैं, ऐसे मित्रो, तुम्हें मेरा यह अंतिम प्रणाम! कली की सुगंध को धीरे से जाग्रत करनेवाले प्रातःकाल के ओस-जल जैसे तरोताजा और वैसा ही मृदुल विदाई का प्रणाम स्वीकार करो। आता हूँ!! जय-जय!!

विधाता द्वारा सौंपे हुए कार्य करने के लिए हम दूर जा रहे हैं। वह कार्य करते हुए कभी हम सुलगते पाषाण से बाँधे या बंद किए जाएँगे या कीर्ति की उछलती लहर पर हिचकोले खाएँगे। क्षण में दिखें, तो क्षण में छिपें। कभी शिखर पर तो कभी तल में गड़ें। उस उत्कृष्ट सेनानायक ने अपने को कहीं भी कार्य पर नियुक्त किया हो, पर वहीं सर्वोत्तम करेंगे, मानो उस स्थान पर वैसा काम करना ही अपना जीवनकार्य है।

किसी प्रतिभापूर्ण पौरस्त्य कवि के महानाटक में भरतवाक्य के समय मृत या

---

१. सौ. यमुना (माई) विनायक सावरकर—पत्नी।

जीवित सारे पात्र इतिहास के विस्तृत रंगमंच पर संतुष्ट हुए समग्र मनुष्य जाति के प्रेक्षकों के कृतज्ञ यशोगर्जन से और तालियों से घाटी-पर्वत गूँजते समय हम सब फिर इकट्ठा होंगे।

तब तक मेंरं प्राणप्रिय मित्रो, जय-जय!

मुझ दीन की अस्थियाँ कहीं भी गिरी रहें, जिसका आक्रोश करनेवाला प्रवाह चारों ओर की भयानकता का बेसुरा राग गाता हो, ऐसे अंदमान के किसी उदास पोखर में वे फेंकी हुई हों या जिसमें तारा सुंदरी मध्य रात्रि में नृत्य करती है, ऐसी श्रीगंगा की स्फटिक शिला पर बहते पावन प्रवाह ने उनको अपने हृदय के पास जतन से संजो रखा हो, जब विजय की तुरही की विश्वकंप ध्वनि उच्चरव से गर्जना कर उठेगी कि श्री रामचंद्र ने उनके प्रिय लोगों के मस्तक पर कभी भी म्लान न होनेवाले फूलों का सुवर्ण यश:किरीट रखा है। आज तक धूम मचाए हुए उस भूत को जहाँ से वह पहले बाहर आया, उस समुद्र तक फिर से पीटते हुए ले जाकर डुबो दिया है और देखो, वह अपनी माता हिंद देवी संपूर्ण मनुष्य जाति को रास्ता दिखाते दीप-स्तंभ की तरह ऐश्वर्य के साथ खड़ी है। तब उस कार्य में आत्म-हवन करनेवाले तलवारधारियो और मालाधारियो, उठो! जिस युद्ध में तुम लड़े और मर गए, वह युद्ध जब जीत लिया जाएगा, तब मेरी अस्थियाँ पुन: चैतन्य से सुलगकर प्रदीप्त होंगी!

तब तक मेरे प्राणप्रिय मित्रो, राम-राम!

आँखें न झपकते हुए अपनी मातृभूमि की प्रगति पर नजर रखो और यह प्रगति, इतना काम हुआ, इतना प्रयास हुआ, इससे तय न करते हुए अपने लोगों ने कितना आत्मयज्ञ किया, कितना क्लेश सहन करने का साहस उन्होंने दिखाया, इससे निश्चित करना हम सीखें, क्योंकि कार्य सफल होना योगायोग है। आत्मदान करना मात्र एक निश्चित नियम है। ऐसी आत्मदानी शहीद हुतात्माओं की राख में जिसकी जड़ें गहरी गई हैं, गोपुर खड़े होंगे, ऐसी मजबूत नींव हम रखें। इस तरह ईश्वर के दिए हुए प्राण उन्हें फिर लौटाने तक, विजेताओं के किरीट हस्तगत होने तक मातृभूमि के वैभव के लिए निरंतर काम करते चलो। अच्छा, राम-राम!

वंदे मातरम्!

□□□

प्रथम राजनेता जिन्होंने विदेशी वस्त्रों की होली जलाई। (पुणे में ७ जुलाई, १९०५ को)

★

प्रथम भारतीय नागरिक जिन पर हेग के अंतरराष्ट्रीय न्यायालय में मुकदमा चलाया गया।

★

प्रथम छात्र जिनकी बैरिस्टर की उपाधि राजनिष्ठा की शपथ लेने से इनकार करने के कारण रोक ली गई।

★

प्रथम राजनीतिक बंदी जिन्हें दो जन्मों का कारावास मिला।

★

प्रथम साहित्यकार जिन्होंने, लेखनी और कागज से वंचित होने पर भी, अंदमान जेल की दीवारों पर कीलों, काँटों और यहाँ तक कि नाखूनों से विपुल साहित्य का सृजन किया और ऐसी सहस्रों पंक्तियों को वर्षों तक कंठस्थ कराकर अपने सहबंदियों द्वारा देशवासियों तक पहुँचाया।

★

प्रथम भारतीय लेखक जिनकी पुस्तकें, मुद्रित व प्रकाशित होने से पूर्व ही, दो-दो सरकारों ने जब्त कीं।

जिस देश में जन्म लिया और जिसका अन्न खाया, उसके ऋण से मुक्त हुए बिना अपने लिए स्वर्ग के द्वार कदापि नहीं खुल सकते।

स्वतंत्रता हमें मिली नहीं, स्वतंत्रता को बड़े-से-बड़ा बलिदान देकर प्राप्त किया गया है। 'स्वतंत्रता मिली' कहना सर्वथा मिथ्या है !

काल स्वयं मुझसे डरा है, मैं नहीं। फाँसी का फंदा चूमकर, कराल काल के स्तंभों को झकझोरकर मैं अनेक बार लौट आया हूँ। फिर भी जीवित रहा, यह शायद काल की ही भूल थी।

देवकार्य हेतु निर्वंश होनेवाली वंशलता अमर हो जाती है और उसकी लोकहित-परिमल की सुगंधि समस्त दिशाओं में व्याप्त हो जाती है।

देशद्रोहियों की प्रथम पंक्ति में खड़े रहने से कहीं अच्छा है देशभक्तों की अंतिम पंक्ति में खड़ा होना ।

अपनी कुलदेवी माँ अष्टभुजा के चरणों में बैठकर शपथ लेता हूँ कि मातृभूमि को विदेशियों से मुक्त कराने के लिए आजीवन सशस्त्र क्रांति का ध्वज लेकर जूझता रहूँगा, चाहे इस प्रयास में हम तीनों भाइयों की भी वही नियति क्यों न हो जो चापेकर बंधुओं की हुई।

प्रभात प्रकाशन, दिल्ली
www.indianabooks.com
ISO 9001 : 2000 प्रकाशक